卐 श्री शंखेश्वरपार्श्वनाथाय नमः 卐

सकलागमरहस्यवेदिपरमज्योतिर्विच्छ्रीमद्विजयदानसूरीश्वरसद्गुरुभ्यो नमः ।

भारतीय प्राच्य-तत्त्व प्रकाशन-समिति-पिण्डवाडा-संचालितायां

आचार्यदेवश्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वरकर्मसाहित्यजैनग्रन्थमालायाः चतुर्दशो (१४) ग्रन्थः

[illegible]

तत्थ

उत्तरपयडिबंधो

तइयंसो

(उत्तरप्रकृतिबन्धः)

(तृतीयांशः)

'प्रेमप्रभा' टीकासमलङ्कृतः

प्रेरका मार्गदर्शकाश्च :-

सिद्धान्तमहोदधि-कर्मशास्त्रनिष्णाता आचार्यदेवाः

श्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वराः

प्रकाशिका—भारतीय-प्राच्य-तत्त्व-प्रकाशन-समिति, पिण्डवाडा ।

प्रथम आवृत्तिः- प्रति- ५५०

राजाधिराज संस्करण-४५) रु०
राजसंस्करण-४०) रु०

वीर सम्वत् २५०४
विक्रम सम्वत् २०३४

* प्राप्तिस्थान *

भारतीय-प्राच्यतत्त्व प्रकाशन समिति
C/o रमणलाल लालचन्द शाह
१३५/१३७ झवेरी बाजार, बम्बई २

•

भारतीय-प्राच्यतत्त्व-प्रकाशन-समिति
C/o शा. समरथमल रायचन्दजी
पिंडवाड़ा, (राज०)
स्टे० सिरोही रोड (W. R.)

•

भारतीय-प्राच्यतत्त्व-प्रकाशन-समिति
शा. रमणलाल वजेचन्द,
C/o दिलीपकुमार रमणलाल
मस्कती मार्केट,
अहमदाबाद २.

•

मुद्रक—
ज्ञानोदय प्रिंटिंग प्रेस, पिंडवाड़ा
स्टे.-सिरोहीरोड (W. R)

Acharyadeva-Shrimad Vijaya-Premasurishwara-Karma-Sahitya-Granthmala
GRANTH NO. 14

A A VI ANAM
UTTA A-PAYA - A H

Third Part
[Along with "PREMA PRABHA" commentary]
By
A GROUP OF DISCPPIES

Inspired and Guided by
His Holiness Acharya Phrimad Vijaya
PREMASURISHWARJI MAHARAJA
the leading authority of the day
on Karma philosophy.
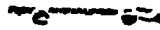
Published by–
haratiya rachya Tattva rakasana a iti, in wara

First Edition
Copies 550

DELUXE EDITION RS. 40
SUPER-DELUXE ,, ,, 45

A. D. 1977

AVAILABLE FROM :

1. Bharatiya Prachya Tattva Prakashan Samiti
C/o. Shah Ramanlal Lalchand,
135/137 Zaveri Bazzar
BOMBAY-2.
(INDIA)

2. Bharatiya Prachya Tattva Prakashan Samiti
C/o Shah Samarathmal Raychandji,
PINDWARA, (Rajasthan)
St. Sirohi Road (W. R.)
(INDIA)

3. Bharatiya Prachya Tattva Prakashan Samiti
Shah Ramanlal Vajechand,
C/o Dilipkumar Ramanlal,
Maskati Market,
AHMEDABAD- 2.
(INDIA)

Printed by :
Gyanodaya Printing Press
PINDWARA. (Raj.)
St. Sirohi Road, (W.R)
(INDIA)

-: पदार्थसंग्रहकाराः :-

कर्मशास्त्रज्ञधुरीण-गच्छाधिपा-ऽऽचार्यदेव-श्रीमद्-विजयप्रेमसूरीश्वर-पट्टालंकार-प्रभावकप्रवचन-कारा-ऽऽचार्यदेवश्रीमद्विजयभुवनभानुसूरीश्वर-विनेयमुनिवर्यश्री-धर्मघोषविजयान्तिपदोचिद्वद्वर्य-गीतार्थमुनिश्री-जयघोषविजयगणिवराः, आचार्यदेव-श्रीमद्विजयभुवनभानुसूरीश्वर-विनेया मुनिश्री-धर्मानन्दविजयाः(धर्मजित् विजयगणिवराः), गच्छाधिपतिविनीत-विनेयगीतार्थमूर्धन्य-आचार्यदेव श्रीमद्विजयहीरसूरीश्वरविनेय-मुनिराजश्री-ललितशेखरविजय-शिष्यरत्न-मुनिवर्यश्री-राजशेखरविजय-शिष्याणवो मुनिश्रीवीरशेखरविजयाश्च

— मूलगाथाकारा. —

प्राकृतविशारदा मुनिश्रीवीरशेखरविजयाः।

—' टीकाकारः सम्पादकश्च —

सिद्धान्तमहोदधि कर्मसाहित्यनिष्णात सच्चारित्रचूडामणि स्वर्गस्था-ऽऽचार्यदेव श्रीमद्विजय-प्रेमसूरीश्वर--पट्टधर--वर्धमानतपोनिधि--प्रभावकप्रवचनकार--आचार्यदेवश्रीमद्विजय-भुवनभानुसूरीश्वर-विनेयमुनिवर्य-धर्मघोषविजय-विनेय-मुनि--श्रीजयघोषविजयः

सह संपादका--

मुनिराजश्रीधर्मजित्विजयगणिवर--मुनिराजश्रीजितेन्द्रविजयौ
मुनिराजश्रीजगच्चन्द्रविजय--वीरशेखरविजयौ

First Edition Copies 550 | DELUXE EDITION RS. 40
SUPER-DELUXE " " 45 | A. D. 1977

AVAILABLE FROM :

1. Bharatiya Prachya Tattva Prakashan Samiti
C/o. Shah Ramanlal Lalchand,
135/137 Zaveri Bazzar
BOMBAY-2.
(INDIA)

2. Bharatiya Prachya Tattva Prakashan Samiti
C/o Shah Samarathmal Raychandji,
PINDWARA, (Rajasthan)
St. Sirohi Road (W. R.)
(INDIA)

3. Bharatiya Prachya Tattva Prakashan Samiti
Shah Ramanlal Vajechand,
C/o Dilipkumar Ramanlal,
Maskati Market,
AHMEDABAD-2.
(INDIA)

Printed by :
Gyanodaya Printing Press
PINDWARA. (Raj.)
St. Sirohi Road, (W.R.)
(INDIA)

-: पदार्थसंग्रहकाराः :-

कर्मशास्त्रधुरीण–गच्छाधिपा–ऽऽचार्यदेव-श्रीमद्-विजयप्रेमसूरीश्वर-पट्टालंकार-प्रभावकप्रवचन-कारा-ऽऽचार्यदेवश्रीमद्विजयभुवनभानुसूरीश्वर-विनेयमुनिवर्यश्री-धर्मघोषविजयान्तिपदोचितद्वर्य-गीतार्थमुनिश्री–जयघोषवि यगणिवराः, आचार्यदेव-श्रीमद्विजयभुवनभानुसूरीश्वर-विनेया मुनिश्री-धर्मानन्दविजयाः(धर्मजित् विजयगणिवराः), गच्छाधिपतिविनीत-विनेयगीतार्थमूर्धन्य-आचार्यदेव श्रीमद्विजयहीरसूरीश्वरविनेय-मुनिराजश्री-ललितशेखरविजय-शिष्यरत्न-मुनिवर्यश्री-राजशेखरविजय-शिष्याणवो मुनिश्रीवीरशेखरविजयाश्च

— मूलगाथाकाराः —

प्राकृतविशारदा मुनिश्रीवीरशेखरविजयाः।

—: टीकाकारः सम्पादकश्च —

सिद्धान्तमहोदधि कर्मसाहित्यनिष्णात सच्चारित्रचूडामणि स्वर्गस्था-ऽऽचार्यदेव श्रीमद्विजय-प्रेमसूरीश्वर–पट्टधर—वर्धमानतपोनिधि–प्रभावकप्रवचनकार—आचार्यदेवश्रीमद्विजय-भुवनभानुसूरीश्वर-विनेयमुनिवर्य-धर्मघोषविजय-विनेय-मुनि–श्रीजयघोषविजयः

सह संपादकाः–

मुनिराजश्रीधर्मजित्विजयगणिवर–मुनिराजश्रीजितेन्द्रविजयौ

मुनिराजश्रीजगच्चन्द्रविजय–वीरशेखरविजयौ

प्रस्तावना

परम पूज्य सुविशालगच्छाधिपति सिद्धांतमहोदधि जिनशासनशीरच्छत्र आचार्यदेव श्रीमद्विजय प्रेमसूरीश्वरजी महाराजनी परमप्रेरणा अने आशीर्वादथी घणा महात्माओए आ ग्रंथ रत्नोनां प्राण पूरीने सर्जन कर्या छे. ते ते कृतिओ यद्यपि ते ते महात्मानी विरचित होवा छतां वस्तुस्थितिए पावरहाऊस समान स्व. आचार्यदेवना महान् पुरुषार्थनुं फल छे ए वातने याद राखवा-अने कृतज्ञता माटे आ ग्रंथोनी वृत्तिनुं नाम "प्रेमप्रभा" राखवामां आव्युं छे.

संस्था द्वारा प्रगट थता नवा लखाएला ग्रंथोनी श्रेणिमां प्रगट थतो आ ग्रंथ "बन्ध-विहाणं तत्थ उत्तरपयडिबन्धो तइयंशो" श्रेणिनुं १४ मुं पुष्प छे. आ सीवाय बीजा नाना ग्रंथो नवा लखेला पण आ संस्था तरफथी बहार पडया छे, दशेक प्राचीन ग्रंथो पण संस्था तरफथी बहार प्रगट थया छे, तेमाना केटलाक सौ प्रथम वार मुद्रित थया छे.

आ बधुं कार्य आचार्यदेवश्रीनी प्रेरणाथी अने एमना पट्टविभूषक आचार्यदेव श्रीमद्विजय हीरसूरीश्वरजी महाराज तथा सूर्यसमान सदा जगतने सन्मार्ग बतावनारा, आपनारा अने मोक्षमार्गनी साधना करावनारा होवाथी भुवनलोकने सदा प्रकाशित राखनारा आचार्यदेव श्रीमद्विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराजानी वात्सल्यमयी प्रेरणा अने मार्गदर्शनथी महात्माओना शास्त्ररचना अने प्राचीन शास्त्र संपादनना प्रयत्नरूपे जिनागमनी अमूल्य सेवा रूपे थइ रह्युं छे.

आ प्रस्तुत ग्रंथना संपादनमां मुनिराजश्री जितुविजयजी गणिवर, मुनिराजश्री जितेन्द्रविजयजी, मुनिराजश्री जगच्चन्द्रविज [illegible] तथा मूल ग्रंथकार मुनिराजश्री वीरशेखरविजयजीनो सहकार खरेखर प्रशंसा पात्र छे, साथेज महेसाणाना मास्तर पुखराजजी पंडीत अने वसंतलाल मास्तरनो प्रयत्न पण श्लाघ्य छे. पींडवाडामां संस्थाना प्रुफ तपासनार मास्तर चंपकलाल सी. शाहे पण आना संपादनमां सारो सहकार आपेल छे. आ सीवाय बीजा जे कोइनो सीधो के परोक्ष सहकार मल्यो छे ते सर्वेनी अनुमोदना [illegible] छु.

छद्मस्थताना दोषथी जे कोइ क्षति रही जवा पामी होय ते वाचकवर्ग सूक्ष्मताथी वस्तुनो निर्णय करी जणावे एवी आशा राखुं छु. अने ए क्षति बदल अमारा "मिच्छामि दुक्कडं" जाणवा.

—जयघोषविजय गणि

प्रस्तावना

परम पूज्य सुविशालगच्छाधिपति सिद्धांतमहोदधि जिनशासनशीरच्छत्र आचार्यदेव श्रीमद्विजय प्रेमसूरीश्वरजी महाराजनी परमप्रेरणा अने आशीर्वादथी घणा महात्माओऐ आ ग्रंथ रत्नोनां प्राण पूरीने सर्जन कर्या छे. ते ते कृतिओ यद्यपि ते ते महात्मानी विरचित होवा छतां वस्तुस्थितिऐ पावरहाऊस समान स्व. आचार्यदेवना महान् पुरुषार्थनुं फल छे ऐ वातने याद राखवा-अने कृतज्ञता माटे आ ग्रंथोनी श्रेणिनुं नाम "प्रेमप्रभा" राखवामां आव्युं छे.

संस्था द्वारा प्रगट थता नवा लखाऐला ग्रंथोनी श्रेणिमां प्रगट थतो आ ग्रंथ "बन्ध-विहाणं तत्थ उत्तरपयडिबन्धो तइयंशो" श्रेणिनुं १४ मुं पुष्प छे. आ सीवाय बीजा नाना ग्रंथो नवा लखेला पण आ संस्था तरफथी बहार पडया छे, दशेक प्राचीन ग्रंथो पण संस्था तरफथी बहार प्रगट थया छे तेमाना केटलाक सौ प्रथम वार मुद्रित थया छे.

आ बधुं कार्य आचार्यदेवश्रीनी प्रेरणाथी अने ऐमना पट्टविभूषक आचार्यदेव श्रीमद्विजय हीरसूरीश्वरजी महाराज तथा सूर्यसमान सदा जगतने सन्मार्ग बतावनारा, आपनारा अने मोक्षमार्गनी साधना करावनारा होवाथी भुवनलोकने सदा प्रकाशित राखनारा आचार्यदेव श्रीमद्विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराजानी वात्सल्यमयी प्रेरणा अने मार्गदर्शनथी महात्माओना शास्त्ररचना अने प्राचीन शास्त्र संपादनना प्रयत्नरूपे जिनागमनी अमूल्य सेवा रूपे थइ रह्युं छे.

आ प्रस्तुत ग्रंथना संपादनमां मुनिराजश्री जितविजयजी गणिवर, मुनिराजश्री जितेन्द्रविजयजी, मुनिराजश्री जगच्चन्द्रविज तथा मूल ग्रंथकार मुनिराजश्री वीरशेखरविजयजीनो सहकार खरेखर प्रशंसा पात्र छे, साथेज महेसाणाना मास्तर पुखराजजी पंडीत अने वसंतलाल मास्तरनो प्रयत्न पण श्लाघ्य छे. पींडवाडामां संस्थाना प्रुफ तपासनार मास्तर चंपकलाल सी. शाहे पण आना संपादनमां सारो सहकार आपेल छे. आ सीवाय बीजा जे कोइनो सीधो के परोक्ष सहकार मल्यो छे ते सर्वेनी अनुमोदना छु.

छद्मस्थताना दोषथी जे कोइ क्षति रही जवा पामी होय ते वाचकवर्ग सूक्ष्मताथी वस्तुनो निर्णय करी जणावे ऐवी आशा राखुं छु. अने ऐ क्षति बदल अमारा "मिच्छामि दुक" जाणवा.

—जयघोषविजय गणि

सकलागमरहस्यवेदि–सुरिपुरन्दर–बहुश्रुतगीतार्थ–परमज्योतिर्विद–परमगुरुदेव

स्व. परम पूज्य आचार्यदेवेश श्रीमद्विजयदानसूरीश्वरजी महाराजा

❖❖❖❖ काशकीय ❖❖❖❖

सुज्ञ महाशयो ! आज तमारा अने अमारा आनंदमां वधारो थइ रह्यो छे कारण के श्री जिनशासनना अनुपम प्रभावथी आजे जगतमां श्रीजिनशासन अने अेना आराधको ज्ञान अने संयम द्वारा शुद्ध तेजस्वीता ने धारण करे छे जगतने पण प्रकाश आपे छे. आनु मूळनो वीतराग परमात्मा अने गणधर देवोज छे छता. तेमनी पछी परंपरामां थअेला आचार्यदेवो वगेरेअे जे श्रुतोपासनानी नीक द्वारा ज्ञाननु' पाणी आगळ वहेवराव्यु' भव्यजीवोने आपवा द्वारा अने संयममां प्रेरणा करवा द्वारा संयम व्रत पच्चक्खाण आपवा द्वारा ते आज सुधी अखंड चाल्यु' आव्यु' छे. अे महापुरुषो अे आ रीते घणो उपकार करता आव्या छे. अेवीज रीते परम पूज्य शासन शिरच्छत्र आचार्यदेव श्रीमद्विजय प्रेमसूरीश्वरजी महाराजा अे पण श्रुतोपासना ना अेक प्रतीक रूपे ग्रंथ सर्जनादि करावनानु कार्य हाथमां लीधु अने अेने प्रकाशित करवा रूपे श्रमणोपासकनी जे सहाय जोइअे ते सहाय माटे अमने प्रेरणा करी अमने पण शासननी सेवानो लाभ आप्यो ते बदल अमे अेओश्रीना घणा ऋणी छीअे.

आ संस्था तरफथी नवा रचाअेला अने अनेक महात्माओना हाथे संशोधित थयेला अनेक ग्रंथो बहार पडया छे, साथे साथे प्राचीन महापुरुषोना ग्रंथोनु' संपादन करावी प्रकाशन करवा संस्था भाग्यशाली बनी छे. आज सुधी अप्रसिद्ध प्राचीन ग्रंथो पण केटलाक प्रगट थया छे.

आजे आ कर्मसाहित्यनो ग्रन्थरत्न नंबर १४ मो "बन्धविहाणं तत्थ उत्तरपयडिबंधो तइयंशो" आ नामथी प्रगट थइ रह्यो छे आ ग्रंथना मूलगाथाकार वृत्तिकार तथा संपादक मुनिमंडलनो पण उपकार चिरस्मरणीय छे.

चंपकलाल मास्तरे पण प्रुफ संशोधनादि द्वारा सारी सहाय करी छे.

आ ग्रंथना प्रकाशनमां आर्थिक व्यय रूपे श्रुतभक्ति करनार राजस्थान निवासी चडवाल गामना वतनी कोल्हापुर मां रहेता स्व. चेलाजी वनाजीना सुपुत्रो बाबुभाइ, भैयाजी, नवलमल, अशोककुमार, वगेरे छे जेओ अे रु. १००००) दशहजार नी रकमनु' समर्पण कर्यु' छे. संवत् २०१४ मां परमतारक आचार्यदेव श्रीप्रेमसूरीश्वरजी महाराजनी निश्रामां चडवालथी पालीताणा नो संघ मोटा प्रमाणमां काढी स्व. चेलाजी वनाजीनी (पोताना पिताजीनी) छेल्ली इच्छाने पूर्ण करवा माटे आपेली कबुलातना वचनने सु'दर रीते पूर्ण करी अने श्री चतुर्विध संघनी सारी भक्ति करेल. आ कार्य पण खुब अनुमोदनीय छे. ग्रंथना मुद्रण कार्य ने संभाळनार फतेहचंदजी जैन (हाला वाले) हाल ब्यावर ना वासी वगेरे पण आ कार्यमां सहायक छे.

नवा नवा अनेक ग्रंथो श्रीसंघ समक्ष धरीअे अेवी शासनदेवने प्रार्थना साथे—

– भवदीय –

शा. समरथमल रायचंदजी (मंत्री) शा. लालचंद छगनलालजी (मंत्री) शा. रमणलाल वजेचंदजी (मंत्री)

भारतीय-प्राच्य-तत्त्व प्रकाशन समिति

समर्पण

जेओनो आत्मा सम्यक् ज्ञान दर्शन चारित्रनी निर्मळताथी घणो वृद्धि पामेलो हतो, जेओनी मन वचन कायानी प्रवृत्ति स्व-परने ज्ञानदर्शनचारित्रनी प्राप्ति-वृद्धिमां सतत कारण बनती हती, जेओनी अमृत प्रेरणा अने दृष्टि अनेक आत्माओनी तारक बनी. अने मारा उपर पण जेमनो उपकार अद्वितीय कोटीनो छे ते

पूज्य पुरुष सिद्धान्तमहोदधि शास्त्रवारिधि
आचार्यदेव—

श्रीमद्विजय प्रेमसूरीश्वरजी महाराजनी

पुण्यस्मृतिमां—

निर्मलरत्नत्रयेप्सु
—जयघोषविजयगणि

❀ समिति का ट्रस्टी मंडल ❀

(१) शेठ रमणलाल दलसुखभाई (प्रमुख) खंभात
(२) शेठ माणेकलाल चुनीलाल बम्बई
(३) शेठ जीवतलाल प्रतापशी बम्बई
(४) शा. खूबचंद अचलदासजी पिंडवाडा
(५) शा. समरथमल रायचंदजी (मंत्री) पिंडवाड़ा
(६) शा. लालचंद छगनलालजी (मंत्री) पिंडवाड़ा
(७) शेठ रमणलाल वजेचन्द (मंत्री) अहमदाबाद
(८) शा. हिम्मतमल रुगनाथजी बेडा
(९) शेठ जेठालाल चुनीलाल घीवाले बम्बई
(१०) शा. इंद्रमल हीराचंदजी पिंडवाड़ा

—

કર્મસાહિત્ય ગ્રંથોના પ્રેરક, માર્ગદર્શક અને સંશોધક

સિદ્ધાન્તમહોદધિ સુવિશાલ-ગચ્છાધિપતિ કર્મશાસ્ત્રરહસ્યવેદી શાસન શિરછત્ર સ્વ. પરમપૂજ્ય

આચાર્યદેવ શ્રીમદ્ વિજયપ્રેમસૂરીશ્વરજી મહારાજ

उत्तरप्रकृतिबन्धद्वितीयस्थानाधिकारसत्कपरस्थाननिरूपणाया नवमादिचतुर्दशद्वाराणां विषयानुक्रमणिका

उत्तरप्रकृतिबन्धे तृतीयभूयस्काराधिकारस्य विषयानुक्रमणिका

* श्रीमत्प्रेमसूरीश्वरस्तुत्यष्टकम् *

यो महात्मा महाज्ञानी महाप्रेमी महागुरुः ।
स एव महनीयोऽस्ति प्रेमसूरिर्मुमुक्षुभिः ॥ १ ॥
यं रागादिमहाशत्रुः प्रातिकूल्यं न सेवते ।
तं शरणं न गन्तारं सन्तापयत्यरेर्भयः ॥ २ ॥
येनाऽखिलं स्वसर्वस्वं शासनाय समर्पितम् ।
तेनात्यन्तं जगज्जैनं प्रपूरितं सुसाधुभिः ॥ ३ ॥
यस्मै स्पृहति चारित्रस्वाध्यायादिगुणाकरः ।
तस्मै नमः शुभैर्योगैर्नो वात्सल्यैकमूर्त्तये ॥ ४ ॥
यतो विवेचनं जातं श्लोकलक्षं कुकर्मणः ।
ततो बलं जिघृक्षामो जेतुं कर्मद्विषो बलम् ॥ ५ ॥
यस्य दृष्टिः कृपावृष्टिर्गिरः शमसुधाकिरः ।
तस्य पूतं क्रमाम्भोजं भजेम मुक्तिकांक्षया ॥ ६ ॥
यस्मिन्नात्मनि जीवानामासीच्चिन्ता हितैषिकी ।
तस्मिन्नेव स्तुतिं कृत्वा पोपूयेमहि वाङ्मती ॥ ७ ॥
हे प्रेमाब्धे प्रभो प्रेम ! पाहि नः पतनाद्भवे ।
प्रवतु हृदये प्रेम शासनस्य जिनस्य नः ॥ ८ ॥

बंधविहाणे
प्रेमप्रभावृत्त्याऽलङ्कृतः
✻ उत्तरपयडिबंधो ✻
तइयंशो

[प्रेमप्रभावृत्तिमङ्गलाचरणम्]

राज्यं येन वितन्वता प्रथमतः सन्दर्शिता भूतले
लोकाय व्यवहारपद्धतिरलं दानं च दीक्षाक्षयो ।
ज्ञाने मुक्तिपथश्च नाभिवसुधाधीशोरुवंशाम्बर-
त्वष्टा श्रीवृषभप्रभुः प्रथयतु श्रेयांसि भूयांसि नः ॥१॥

माद्यद्दन्ति-समीरजित्वरहय-प्रोद्यन्मणी-काञ्चन-
स्वर्नारीसमरूपभूरिवनिता-प्रोल्लासिचक्रिश्रियम् ।
त्यक्त्वा यस्तृणवल्ललौ व्रतरमां तीर्थङ्करः षोडशः,
स श्री शान्तिजिनस्तनोतु भविनां शान्तिं नताखण्डलः ॥२॥

आनम्रानेकदेवाधिप-नृपतिशिरःस्फारकोटीरकोटिः,
कल्याणाङ्कुरकन्दो यदुकुलतिलकः कज्जलाभाङ्गदीप्तिः ।
लोकालोकावलोकी मधुमधुरवचाः प्रोज्झितोदारदारः,
श्रीमान् श्रीउज्जयन्ताचलशिखरमणिर्नेमिनाथोऽवताद्वः ॥३॥

कस्तूरीकृष्णकायच्छविरतनुफणारत्नरोचिष्णुमौलिः,
विद्युन्माली गभीरानघवचनमहागर्जिविस्फूर्जितश्रीः ।
वर्षन् तत्त्वाम्बुपूरैर्भविजन-हृदयोर्व्यां लसद्बोधिबीजा-
ङ्कुरं श्री पार्श्वमेघः प्रकटयतु शिवानर्घ्यसस्याय शश्वत् ॥४॥

बाल्ये निर्जरनाथसंशयभिदा गीर्वाणशैलः 'पदा-
ङ्गुष्ठस्पर्शनमात्रतो जनिमहे येनार्हता चालितः ।
व्योमव्यापितनुः सुरः शठमतिः कुब्जीकृतो मुष्टिना;
स श्रीवीरजिनस्तनोतु सततं कैवल्यशर्माङ्गिनाम् ॥५॥
शेषसर्वजिनान् नौमि सर्वाभीष्टप्रदायकान् ;
यत्प्रतापानले भस्मीभवति विपदां ततिः ॥६॥
समस्तवस्तुविस्तारे व्यासर्पत्तैलवज्जले
जीयात् श्रीशासनं जैनं धीदीपोद्दीप्तिवर्धनम् ॥७॥
गणधरैः युताः सर्वे अनुयोगधराः सदा ।
जयन्तु ते जगत्यस्मिन् जिनेन्द्रागमधारकाः ॥८॥
श्रीवर्धमानजिनमूलकदिव्यधर्म;
साम्राज्यकल्पतरुपुष्पसमाय तस्मै ।
सूरीन्द्रदानविजयाय नमोऽस्तु शस्त-
श्रीमत्तपाग्रिमगणे गुरुपुङ्गवाय ॥९॥
यस्य प्रसादवशतो व्रतमभ्यगच्छम्
यस्यान्तिके च वसता स्थिरताऽप्यवाप्ता ।
यस्य ध्रुवं समयशिक्षणतो विबुद्धः,
स प्रेमसूरिगुरुराड् जयतात् सदैव ॥१०॥
कर्मग्रन्थविचारणे सुनिपुणः सिद्धान्तपाथोनिधिः,
विश्वैकाहितमोहमल्लविजयी कारुण्यवारांनिधिः ।
सूरीशस्सततोदयी च गणभृद् विश्वे गुणाधीश्वरः,
यावच्चन्द्रदिवाकरौ जयतु सः श्री प्रेमसूरीश्वरः ॥११॥
सद्व्याख्याने वचनविभवो न्यायविद् यस्तपस्वी,
योगे शूराः सुभटसदृशाः साधवो यं श्रिताश्च ।
येनापास्तं भुवजनतमो ज्ञानदानप्रवृत्त्या,
नः सूरीशो जयति भुवनादिः स भानुर्गणीशः ॥१२॥
यो बाल्येऽपि भवोदधेर्ममपिता मे चाशुनिस्तारक,
श्चारित्रप्रतिपालने मयि सदा यस्याभिलप्रेरणा ।
संसारार्तिनिवारणाभिजपदं चक्रे कृतार्थं च यो,

बंधविहाणे
प्रेमप्रभावृत्त्याऽलङ्कृतः
❀ उत्तरपयडिबंधो ❀
तइयंशो

[प्रेमप्रभावृत्तिमङ्गलाचरणम्]

राज्यं येन वितन्वता प्रथमतः सन्दर्शिता भूतले
लोकाय व्यवहारपद्धतिरलं दानं च दीक्षाक्षणे ।
ज्ञाने मुक्तिपथश्च नाभिवसुधाधीशोरुवंशाम्बर-
त्वष्टा श्रीवृषभप्रभुः प्रथयतु श्रेयांसि भूयांसि नः ॥१॥

माद्यद्दन्ति-समीरजित्वरहय--प्रोद्यन्मणी--काञ्चन-
स्वर्नारीसमरूपभूरिवनिता-प्रोल्लासिचक्रिश्रियम् ।
त्यक्त्वा यस्तृणवल्ललौ व्रतरमां तीर्थङ्करः षोडशः,
स श्री शान्तिजिनस्तनोतु भविनां शान्तिं नताखण्डलः ॥२॥

आनम्रानेकदेवाधिप--नृपतिशिरःस्फारकोटीरकोटिः,
कल्याणाङ्कुरकन्दो यदुकुलतिलकः कज्जलाभाङ्गदीप्तिः ।
लोकालोकावलोकी मधुमधुरवचाः प्रोज्झितोदारदारः,
श्रीमान् श्रीउज्जयन्ताचलशिखरमणिर्नेमिनाथोऽवताद्वः ॥३॥

कस्तूरीकृष्णकायच्छविरतनुफणारत्नरोचिष्णुमौलिः,
विद्युज्ज्वाली गभीरानघवचनमहागर्जिविस्फूर्जितश्रीः ।
वर्षन् तत्त्वाम्बुपूरैर्भविजन-हृदयोर्व्यां लसद्बोधिबीजा-
ङ्कूरं श्री पार्श्वमेघः प्रकटयतु शिवानर्घ्यसस्याय शश्वत् ॥४॥

बाल्ये निर्जरनाथसंशयभिदा गीर्वाणशैलः 'पदा-
ङ्गुष्ठस्पर्शनमात्रतो जनिमहे येनार्हता चालितः ।
व्योमव्यापितनुः सुरः शठमतिः कुब्जीकृतो मुष्टिना;
स श्रीवीरजिनस्तनोतु सततं कैवल्यशर्माङ्गिनाम् ॥५॥
शेषसर्वजिनान् नौमि सर्वाभीष्टप्रदायकान् ;
यत्प्रतापानले भस्मीभवति विपदां ततिः ॥६॥
समस्तवस्तुविस्तारे व्यासर्पत्तैलवज्जले
जीयात् श्रीशासनं जैनं धीदीपोद्दीप्तिवर्धनम् ॥७॥
गणधरैः युताः सर्वे अनुयोगधराः सदा ।
जयन्तु ते जगत्यस्मिन् जिनेन्द्रागमधारकाः ॥८॥
श्रीवर्धमानजिनमूलकदिव्यधर्म;
साम्राज्यकल्पतरुपुष्पसमाय तस्मै ।
सूरीन्द्रदानविजयाय नमोऽस्तु शस्त-
श्रीमत्तपाग्रिमगणे गुरुपुङ्गवाय ॥९॥
यस्य प्रसादवशतो व्रतमभ्यगच्छम्
यस्यान्तिके च वसता स्थिरताऽप्यवाप्ता ।
यस्य ध्रुवं समयशिक्षणतो विबुद्धः,
स प्रेमसूरिगुरुराड् जयतात् सदैव ॥१०॥
कर्मग्रन्थविचारणे सुनिपुणः सिद्धान्तपाथोनिधिः,
विश्वैकाहितमोहमल्लविजयी कारुण्यवारांनिधिः ।
सूरीशस्सततोदयी च गणभृद् विश्वे गुणाधीश्वरः,
यावच्चन्द्रदिवाकरो जयतु सः श्री प्रेमसूरीश्वरः ॥११॥
सद्व्याख्याने वचनविभवो न्यायविद् यस्तपस्वी,
योगे शूराः सुभटसदृशाः साधवो यं श्रिताश्च ।
येनापास्तं युवजनतमो ज्ञानदानप्रवृत्त्या,
नः सूरीशो जयति भुवनादिः स भानुर्गणीशः ॥१२॥
यो बाल्येऽपि भवोदधेर्मम पिता मे चाशुनिस्तारक,
श्चारित्रप्रतिपालने मयि सदा यस्याभितप्रेरणा ।
संसारार्तिनिवारणाभिजपदं चक्रे कृतार्थं च यो,

बंधविहाणे

प्रेमप्रभावृत्त्याऽलङ्कृतः

❀ उत्तरपयडिबंधो ❀

तइयंशो

[प्रेमप्रभावृत्तिमङ्गलाचरणम्]

राज्यं येन वितन्वता प्रथमतः सन्दर्शिता भूतले
लोकाय व्यवहारपद्धतिरलं दानं च दीक्षाक्षये ।
ज्ञाने मुक्तिपथश्च नाभिवसुधाधीशोरुवंशाम्बर-
त्वष्टा श्रीवृषभप्रभुः प्रथयतु श्रेयांसि भूयांसि नः ॥१॥

माद्यद्दन्ति-समीरजित्वरहय--प्रोद्यन्मणी--काञ्चन-
स्वर्नारीसमरूपभूरिवनिता-प्रोल्लासिचक्रिश्रियम् ।
त्यक्त्वा यस्तृणवल्ललौ व्रतरमां तीर्थङ्करः षोडशः,
स श्री शान्तिजिनस्तनोतु भविनां शान्तिं नताखण्डलः ॥२॥

आनम्रानेकदेवाधिप--नृपतिशिरःस्फारकोटीरकोटिः,
कल्याणाङ्कुरकन्दो यदुकुलतिलकः कज्जलाभाङ्गदीप्तिः ।
लोकालोकावलोकी मधुमधुरवचाः प्रोज्झितोदारदारः,
श्रीमान् श्रीउज्जयन्ताचलशिखरमणिर्नेमिनाथोऽवताद्वः ॥३॥

कस्तूरीकृष्णकायच्छविरतनुफणारत्नरोचिष्णुमौलिः,
विद्युज्ज्वाली गभीरानघवचनमहागर्जिविस्फूर्जितश्रीः ।
वर्षन् तत्त्वाम्बुपूरैर्भविजन-हृदयोर्व्यां लसद्बोधिबीजा-
ङ्कूरं श्री पार्श्वमेघः प्रकटयतु शिवानर्घ्यसस्याय शश्वत् ॥४॥

बाल्ये निर्जरनाथसंशयभिदा गीर्वाणशैलः पदा-
ङ्गुष्ठस्पर्शनमात्रतो जनिमहे येनार्हता चालितः ।
व्योमव्यापितनुः सुरः शठमतिः कुब्जीकृतो मुष्टिना;
स श्रीवीरजिनस्तनोतु सततं कैवल्यशर्माङ्गिनाम् ॥५॥
शेषसर्वजिनान् नौमि सर्वाभीष्टप्रदायकान्;
यत्प्रतापानले भस्मीभवति विपदां ततिः ॥६॥
समस्तवस्तुविस्तारे व्यासर्पत्तैलवज्जले
जीयात् श्रीशासनं जैनं धीदीपोद्दीप्तिवर्धनम् ॥७॥
गणधरैः युताः सर्वे अनुयोगधराः सदा ।
जयन्तु ते जगत्यस्मिन् जिनेन्द्रागमधारकाः ॥८॥
श्रीवर्धमानजिनमूलकदिव्यधर्म;
साम्राज्यकल्पतरुपुष्पसमाय तस्मै ।
सूरीन्द्रदानविजयाय नमोऽस्तु शस्त-
श्रीमत्तपाग्रिमगणे गुरुपुङ्गवाय ॥९॥
यस्य प्रसादवशतो व्रतमभ्यगच्छम्
यस्यान्तिके च वसता स्थिरताऽप्यवाप्ता ।
यस्य ध्रुवं समयशिक्षणतो विबुद्धः,
स प्रेमसूरिगुरुराड् जयतात् सदैव ॥१०॥
कर्मग्रन्थविचारणे सुनिपुणः सिद्धान्तपाथोनिधिः,
विश्वैकाहितमोहमल्लविजयी कारुण्यवारांनिधिः ।
सूरीशस्सततोदयी च गणभृद् विश्वे गुणाधीश्वरः,
यावच्चन्द्रदिवाकरौ जयतु सः श्री प्रेमसूरीश्वरः ॥११॥
सद्व्याख्याने वचनविभवो न्यायविद् यस्तपस्वी,
योगे शूराः सुभटसदृशाः साधवो यं श्रिताश्च ।
येनापास्तं युवजनतमो ज्ञानदानप्रसूत्या,
नः सूरीशो जयति भुवनादिः स भानुर्गणीशः ॥१२॥
यो बाल्येऽपि भवोदधेर्मम पिता मे चाशुनिस्तारक,
श्चारित्रप्रतिपालने मयि सदा यस्याभिसप्रेरणा ।
संसारार्तिनिवारणाभिजपदं चक्रे कृतार्थं च यो,

भूयान्मुक्तिपथे मदीयगुरुराट् श्रीधर्मघोषाभिधः ॥१३॥
विवरणेऽतिदुर्गेऽस्मिन् दिग्दर्शनपरायणान् ।
यतिवृन्दारकानत्र स्मरणपथमानये ॥१४॥
निःशेषास्ते जयन्त्वत्र मेधासौजन्यशालिनः ।
यत्साहाय्यं समासाद्य ग्रन्थोऽयं ग्रथ्यते मया ॥१५॥
भारती भारती पुष्याद् वीणापुस्तकधारिणी ।
यस्याः कृपास्पदं भूत्वा जडोऽपि प्रबुधायते ॥१६॥

इह खलु पदपदघटमानननवाघटितघटनाक्रमेऽकल्पितभ्रमविभ्रमसम्भ्रमेऽत्यन्त-विकटसङ्कटकूटसङ्कुले योनिलक्षसमाकुले निखिलजगतीतलेऽतीवदुर्लभलम्भनं सकलकुशलकमला-कुलकेलिमूलनिबन्धनं श्रीमज्जैनप्रवचनं प्राप्य प्राज्यविवेकवताऽसुमता नितरां विचारणीयं मेधसा,—यदुत महार्थमिदं मनोरथानामप्यपथभूतं भूरिभवान्तरोपचितप्रचुरपुण्यपरिपाकतोऽ-मूल्यविपुलातुलमणिकुलाकुलाक्षयमहानिधानमिव मयाऽधिगतम् । तथाहि--महति संसारमण्ड-लेऽस्मिन् बहुलसंक्लेशक्लेशकल्मषकलुषितान्तःकरणप्रमुखकुक्कुटलल्लुण्टाककूटैः कूटयमाना विकलीभूतसकलाङ्गोपाङ्गाः कष्टेनेष्टविशिष्टार्थप्रकृष्टां महापुरीमिव मनुजगतिमनुप्रविशन्ति जन्तवः । अनुप्रविश्यापि चास्यामौर्ध्वरथ्यिका इवाकृतसुकृतसम्भारा निरीक्षितुमपि नैनं क्षमन्ते किमङ्ग पुनरवाप्तुमिति । एतदवाप्तौ चाद्य सर्वथा कृतार्थो वरीवर्ते, सम्भवति चास्यां स्वोपकार-वत्परोपकारेऽपि सामर्थ्यमिति नेदानीं समुचिताऽसुकृतिलोककदर्थिता कदर्यता, किन्तु भवित-व्यमुदारसुस्फाराशयशालिना । परोपकारपुरस्सरैव स्वोपकृतिप्रवृत्तिः सदाशयवत्तां ख्यापयतीति प्राप्तभूमिकानां परोपकार एव प्रवर्तितुमुचितम् ।

वर्तन्ते यस्मिन् महनीयमहिम्नि श्रीमति जैनवाङ्मये सकलसत्त्वहितसमीहितसंपादकाः सुरमणय इव चरणकरणादिगोचराश्चत्वारोऽनुयोगाः विपुलश्रुतशास्त्राऽऽभोगाः । तत्र द्रव्यानु-योगेऽन्तर्भवति कर्मग्रन्थपदार्थसार्थसूक्ष्मविचारचातुर्यवर्यधामा प्रस्तुतो बन्धविधाननामा महा-ग्रन्थः, श्रीशिवशर्मसूरिप्रमुखमहापुरुषैर्द्वितीयादिपूर्वगतश्रुतात् संदृब्धकर्मप्रकृतिप्राभृतकषायप्राभृत-प्रमुखमहाग्रन्थेभ्योऽस्य समुद्धृतत्वात् । सान्वर्थनाम्नोऽस्य बन्धविधानस्य चत्वारो विभागाः प्रकृति-स्थितिरसप्रदेशबन्धभेदात् , प्रत्येकं मूलप्रकृत्युत्तरप्रकृतिभेदाद् द्विधा । तत्र मूलप्रकृतिबन्धः, उत्तर-प्रकृतिबन्धे प्रथमाधिकारः, द्वितीयस्थानाधिकारे स्वस्थानस्थानाधिकारः, परस्थानस्थानाधिकारश्च परिमाणद्वारान्तो नानावृत्तिकृद्भिः व्याख्यातः । तदनु क्रमप्राप्तपरस्थानस्थानाधिकारे क्षेत्रद्वारादीना मल्पबहुत्वावसानानां तथा उत्तरप्रकृतिबन्धस्यैव तृतीयाद्यधिकारत्रयस्य विवरणेनास्मिन् ग्रन्थवि-भागे उत्तरप्रकृतिबन्धस्य पञ्चाधिकाररूपस्यानुयोगः प्रेमप्रभावृत्तौ समाप्तिं यास्यतीत्यवधेयम् ।

॥ अथ नवमं क्षेत्रद्वारम् ॥

अथ उत्तरप्रकृतिबन्धसत्कपरस्थाने क्षेत्रद्वारस्य प्ररूपणावसरः, तत्रादौ तावदोघत एव परस्थानबन्धकानां क्षेत्रं निरूपयन्नाह—

उत्तरपयडीणं खलु छसगअडणवजुअसट्ठिगणाणं ।
दुतिजुत्तसत्तरीणं सव्वजगे बंधगा णेया ॥१॥
एगस्स अत्थि केवलिखेत्ते सेसाण बंधठाणाणं ।
लोगासंखियभागो होज्जेवं कायभवियेसु ॥२॥

(प्रे०) "उत्तरे"त्यादि, बन्धस्थाने परस्थाननिरूपणायां परिमाणद्वारनिरूपणानन्तरम्, "उत्तरप्रकृतीनां" समुदितसर्वोत्तरप्रकृतिविषयकसम्भवद्बन्धस्थानानामित्यर्थः । षट्षष्टिसप्तषष्ट्यष्टषष्ट्येकोनसप्ततिद्वासप्ततित्रिसप्ततिरूपाणां षण्णां बन्धस्थानानां प्रत्येकं बन्धकाः सर्वदैव सर्वलोके भवन्ति, सूक्ष्मजीवानामेतद्बन्धकत्वात् । यानि बन्धस्थानान्यायुष्कविरहितानि सूक्ष्मजीवानां बन्धप्रायोग्याणि च तेषां बन्धकाः सूक्ष्मजीवापेक्षया सर्वलोकप्रमाणक्षेत्रे प्राप्यन्ते । आयुष्कबन्धयुक्तस्थानेभ्यः सप्तषष्टेरेकोनसप्ततेश्च बन्धस्थानयोर्यत्र सूक्ष्मप्रायोग्यत्वं वर्तते, तयोर्यदि सूक्ष्मजीवा बन्धकाः स्युः, तर्हि तयोरपि बन्धकानां क्षेत्रं सर्वलोकप्रमाणं भवति ।

एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकानां क्षेत्रं केवलिक्षेत्रवद् भवति, केवलज्ञानवर्तासयोगिनां यावत् क्षेत्रं सम्भवेत् तावत् क्षेत्रं प्रस्तुते ज्ञेयम्, यत एकस्या बन्ध एकादशादिगुणस्थानत्रयस्था भवन्ति, अत्र एकादशद्वादशगुणस्थानगतानां तु क्षेत्रं लोकाऽसंख्यभागमात्रमेव । त्रयोदशगुणस्थानगतानां सयोगिकेवलिनां स्वस्थाने केवलिसमुद्घातेऽपि तृतीयादिसमयत्रयवर्जशेषपञ्चसमयस्थानां लोकाऽसंख्यभाग एव क्षेत्रम्, केवलिसमुद्घाते तृतीयपञ्चमसमये वर्तमानानां क्षेत्रं देशोनलोकप्रमाणम्, असंख्येयभागोनसर्वलोकप्रमाणमित्यर्थः । चतुर्थसमये वर्तमानानां तु सर्वलोकः, इति विकल्पत्रयगतं केवलिनां क्षेत्रं प्राप्यते ।

सप्तदशादीनां पञ्चषष्टिपर्यन्तानामेकोनविंशतिबन्धस्थानानां सप्ततेरेकसप्ततेश्चतुःसप्ततेश्च बन्धकक्षेत्रं लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणं भवति, तद्बन्धकानामसंख्यलोकखप्रदेशतोऽल्पसंख्याकत्वात् सयोगिकेवलिनस्तद्बन्धकत्वेनाऽलाभाच्च ।

अयं भावः-(१) यत्र यद्यद्बन्धस्थानस्य बन्धकाः सूक्ष्मजीवाः स्वस्थानगता भवन्ति, यदि वा यत्र सूक्ष्मेषूत्पद्यमाना असंख्यलोकप्रमिता अनन्ता वा मरणसमुद्घातगता जीवा भवन्ति, तत्र तत्तद्बन्धस्थानस्य निर्वर्तकाः सर्वलोके भवन्ति ।

(२) यत्र च कार्मणकाययोगगतकेवलिनां प्रवेशः, तत्र एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकाः सर्वलोकप्रमाणे देशोनलोकप्रमाणे च क्षेत्रे भवन्ति ।

(३) उक्तविकल्पद्वयव्यतिरिक्तस्थले यत्र यत्र यद्यद्बन्धस्थानस्य ये बन्धकास्तेषां क्षेत्रं लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणं भवति, विहाय बादरवायुकायमार्गणात्रयमिति । गतमोघतः परस्थानबन्धकानां क्षेत्रनिरूपणम् । अथ मार्गणासु निरूपयन्नाह "एवं कायभवियेसु" मिति, ओघतः सर्वबन्धस्थाननिर्वर्तकानां क्षेत्रं यथा भवति तथैव काययोगौघे भव्यमार्गणायां च विज्ञेयम्, ओघोक्तसर्वविधबन्धकजीवानामत्रापि प्रवेशात् ॥१-२॥

अथ तिर्यग्गत्योघादिषट्चत्वारिंशद्मार्गणासु बन्धप्रायोग्यस्थाननिर्वर्तकानां क्षेत्रमाह—

तिरिये तह एगिंदियपणकायणिगोअसव्वसुहमेसुं ।
ओरालदुगे कम्मे णपुंसगे चउकसायेसुं ॥३॥
दुअणाणाजयअणयणतिअसुहलेसाअभवियामिच्छेसुं ।
असण्णाहारियरेसुं सप्पाउग्गाण ओघव्व ॥ ४ ॥
परमखिलजगे तद्संखंसेसु व कम्मणे अणाहारे ।
एगस्स उरालदुगअणयणाहारेसु जगअसंखंसे ॥ ५ ॥ (गीतिः)

(प्रे०) "तिरिये" इत्यादि, तिर्यग्गत्योघै-केन्द्रियौघ-पृथिव्यादिपञ्चकायौघ-निगोदौघ-सूक्ष्मैकेन्द्रियपृथ्व्यप्तेजोवायुसाधारणवनस्पतिकायसत्काष्टदशभेदौदारिक—तन्मिश्र—कार्मणयोग-नपुंसकवेद-कषायचतुष्काऽज्ञानद्वयाऽसयमाचक्षुर्दर्शनकृष्णनीलकापोतलेश्याऽभव्यमिथ्यात्वाऽसंज्ञ्याहारकानाहारकलक्षणासु षट्चत्वारिंशद्मार्गणासु तत्तन्मार्गणाप्रायोग्यबन्धस्थानानां निर्वर्तकानां क्षेत्रमोघवद् भवति । केवलमेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानमधिकृत्य अपवादद्वयं दर्शयति "णवर" मित्यादिना, कार्मणानाहारकमार्गणाद्वये एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्य बन्धकानां केवलिसमुद्घाते चतुर्थसमये वर्तमानानधिकृत्य सर्वलोकप्रमाणक्षेत्रस्य, तृतीये पञ्चमे च समयद्वये वर्तमानानधिकृत्य देशोनलोकक्षेत्रस्य भावेन लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणं क्षेत्रं अत्र मार्गणाद्वये न प्राप्यते, ओघे तु एकादशद्वादशगुणगतान् तृतीयादिसमयत्रयसत्कसमुद्घातरहितसयोगिकेवलिनश्चाधिकृत्य लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणमपि क्षेत्रं प्राप्यते इत्यपवादप्रयोजनम् । औदारिक—तन्मिश्राऽचक्षुर्दर्शनाहारकमार्गणाचतुष्टये एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकानां क्षेत्रं लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणं भवति, एतासु केवलिसमुद्घातगततृतीयचतुर्थपञ्चमसमयगतानां प्रवेशाऽभावात्, शेषभावना तु सुगमा स्वयं कार्या । उक्तषट्चत्वारिंशद्मार्गणासु सूक्ष्माणां प्रवेशाद् ओघवद्

षण्णां बन्धस्थानानां सर्वलोकप्रमाणं क्षेत्रं भवति । शेषबन्धप्रायोग्यस्थानबन्धकानां क्षेत्रं लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणं विज्ञेयमिति । बन्धप्रायोग्यस्थानानि तु सुगमत्वात् प्राग्व्याख्यातत्वाच्च तत एवावधारणीयानीति ॥३-५॥

अथ मनुष्यत्रिकादिषोडशमार्गणासु संभवद्बन्धस्थानानां निर्वर्तकानां क्षेत्रं निरूपयन्नाह–

तिणरदुपंचिंदियतसअवेअअकसायकेवलदुगेसुं ।
संजमअहखायेसुं सुकाए सम्मखइएसुं ॥ ६ ॥
एगस्स जाणियव्वा केवलिखेत्तम्मि बंधगा अत्थि ।
लोगासंखियभागे सप्पाउग्गाण सेसाणं ॥ ७ ॥

(प्रे०) 'तिणरे''त्यादि, त्रिमनुष्यादिषोडशमार्गणाः, एतासु प्रत्येकमेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थाननिर्वर्तकानां क्षेत्रमोघवद् विकल्पत्रयगतम्, सयोगिकेवलिनो यावत् क्षेत्रं भवति तावदेवाऽत्र क्षेत्रं प्राप्यते, भावनाऽपि तद्वत् कार्या सुगमा च । अकषायकेवलद्विकयथाख्यातेषु शेषबन्धस्थानानामभावात् ता विहाय शेषद्वादशमार्गणासु एकप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं विहाय शेषाणां तत्तन्मार्गणाप्रायोग्यबन्धस्थानानां बन्धकानां क्षेत्रं लोकस्यासंख्येयभागप्रमाणं भवति । यत एतासु प्रत्येकं बन्धकजीवा असंख्येयलोकखप्रदेशसंख्यातोऽत्यल्पाः, बादरवायुकायिकानां प्रवेशाभावश्च । अत एवैतासु जीवानां केवलिसमुद्घातं विहाय क्षेत्रं लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणमेव । एतासु बन्धप्रायोग्यस्थानानि तु पूर्वग्रन्थतोऽधिगन्तव्यानीति ॥ ६-७ ॥

अथ बादरैकेन्द्रियादिमार्गणासु प्राह–

बायरएगक्खतिगे बायरवाउम्मि तयसमत्तम्मि ।
सगसट्ठिऊणसयरिदुसयरितिसयरीण ऊणजगे ॥ ८ ॥
बायरपुहविदगागणिपत्तेअदुगतिणिगोअकायेसु ।
लोगासंखियभागे सेसाणोघव्व सोलसु वि ॥ ९ ॥

(प्रे०) ''बायरे''त्यादि, बादरैकेन्द्रियत्रिके बादरौघ-तत्पर्याप्ताऽपर्याप्तरूपे बादरवायुकायौघ-तदऽपर्याप्तयोश्चे ति पञ्चमार्गणासु सप्तषष्ट्येकोनसप्तति-द्वासप्तति-त्रिसप्ततिरूपाणां चतुर्णां बन्धस्थानाना प्रत्येकं बन्धकानां क्षेत्रं देशोनलोकप्रमाणं भवति, उक्तपञ्चमार्गणागतजीवानां स्वस्थानस्य देशोनलोकप्रमाणत्वेन स्वस्थानप्रयुक्तमेतत् क्षेत्रं प्राप्यते, मरणसमुद्घातप्रयुक्तं त्वेकोनसप्तत्यादीनां त्रयाणां लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणं भवति, सप्तषष्टेर्बन्धस्थाने वर्तमानानां मरणसमुद्घातमेव न

भवति । बादरपृथ्व्यप्तेजःप्रत्येकवनस्पतिकायेषु बादराऽपर्याप्तपृथ्व्यप्तेजःप्रत्येकवनस्पतिकायेषु बादरनिगोदभेदत्रये चैवमेकादशमार्गणासु सप्तषष्ट्यादि-चतुर्बन्धस्थानेषु प्रत्येकं बन्धकानां क्षेत्रं लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणं भवति, यत उक्तमार्गणागतानां स्वस्थानक्षेत्रं तु लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणमेव, मरणसमुद्घातेन सूक्ष्मेषु बादराऽपर्याप्तेषु बादरनिगोदेषु बादरवायुकायेषु वा उत्पित्सूनामेतद्बन्धस्थानानां बन्धाभावात्, शेषस्थानेषूत्पित्सूनां मरणसमुद्घाते व्याप्तं सामयिकं क्षेत्रं दर्शितमार्गणैकादशसु लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणं भवति, अत एकादशसु मार्गणासु बन्धस्थानचतुष्के लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणं क्षेत्रं दर्शितम् ।

उक्तषोडशमार्गणासु सप्तषष्ट्यादिदर्शितबन्धस्थानचतुष्कं विहाय चतुर्णां शेषबन्धप्रायोग्यस्थानानां बन्धकानां क्षेत्रमोघवद् भवति, तद्यथा-षट्षष्टेरष्टषष्टेश्च बन्धकानां क्षेत्रं सर्वलोकप्रमाणं भवति, सप्ततेश्चतुःसप्ततेश्च बन्धकानां क्षेत्रं लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणं प्राप्यते । बन्धस्थानद्वयस्य सर्वलोकप्रमाणं क्षेत्रं एतासु सूक्ष्माणां प्रवेशाभावेऽपि सूक्ष्मेषूत्पद्यमानानां मरणसमुद्घाते वर्तमानानामसंख्येयलोकप्रमितानामनन्तानां वा प्रतिसमयमुक्तबन्धस्थानयोर्बन्धकतया लाभाद् विज्ञेयम् । सप्ततेश्चतुःसप्ततेश्च बन्धकानां क्षेत्रस्य भावना त्वोघवत् कार्या इति ॥८९॥

अथ बादरपर्याप्तवायुकाये शेषमार्गणासु च बन्धकानां क्षेत्रं निरूपयन्नाह—

ओघव्व पज्जबायरअणिले सयरिचउसत्तरीणऽत्थि ।
सेसाणं ऊणजगे अण्णाइ सव्वाण जगअसंखंसे ॥१०॥ (गीतिः)

(प्रे०) "ओघव्वे"त्यादि, बादरपर्याप्तवायुकायमार्गणायां सप्ततेश्चतुःसप्ततेश्च बन्धकानां क्षेत्रमोघवद् विज्ञेयम्, तच्च लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणम्, उक्तबन्धस्थानद्वयस्य वायुकायभिन्नबादरपर्याप्तप्रत्येकप्रायोग्यत्वात् आयुर्बन्धसहितत्वाच्च प्रतरासंख्येयभागप्रमाणानामेव तद्बन्धकानामेकस्मिन् समये प्रकृष्टतया लाभात् । विशेषभावना स्वयं कार्या सुगमा च । शेषाणां षट्षष्ट्यादीनामेकसप्ततिवर्जानां षण्णां बन्धप्रायोग्यस्थानानां बन्धकानां क्षेत्रं देशोनलोकप्रमाणं भवति, मार्गणागतजीवानां स्वस्थानक्षेत्रस्य तावत्प्रमाणत्वात् । अत्र सप्तषष्टेर्बन्धकानां क्षेत्रमुत्कृष्टपदे विज्ञेयम्, एवं यथासम्भवमन्यत्रापि ।

"अण्णाइ" त्यादि, क्षेत्रद्वारस्य द्वितीयगाथायाश्चरमपादादारभ्य प्रस्तुतगाथायाः पादत्रयं यावत्, एकाशीतौ मार्गणासु बन्धकानां क्षेत्रं निरूपितम्, शेषमार्गणास्त्रिनवतिः, एतासु प्रत्येकं जीवा असंख्येयलोकतोऽत्यल्पाः, अतः स्वस्थानेन मरणसमुद्घातेन च जीवानां क्षेत्रं लोकाऽसंख्येयभागतोऽधिकं न प्राप्यते, तथा एतासु केवलिसमुद्घातमपि नास्ति, अतस्तत्प्रयुक्तं देशोनलोकप्रमाणं सर्वलोकप्रमाणं वा क्षेत्रं न प्राप्यते, एवं बादरपर्याप्तवायुकायिकानामेतास्वनन्तर्भावात् न देशोनलोकप्रमाणं क्षेत्रं प्राप्यते । अत एतासु प्रत्येकं उपपाद-समुद्घात स्वस्थानरूपं त्रिविधं क्षेत्रं लोका-

ऽसंख्येयभागप्रमाणं भवति। अतो बन्धकानां क्षेत्रमपि तथैव प्राप्यते, विशेषभावना तूपयुज्य स्वयं वाच्या सुगमा च । शेषमार्गणा नामत इमाः--सर्वनरकभेद--पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदचतुष्काऽपर्याप्त-मनुष्य-सर्वदेवभेद-नवविकलाक्षाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-बादरपर्याप्तपृथ्व्यप्तेजः-प्रत्येकवनस्पतिकायाऽ-पर्याप्तत्रसकाय-मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क वचनयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वैक्रिय-तन्मिश्राऽऽ-हारक-तन्मिश्र-पुरुषवेदस्त्रीवेद -ज्ञानचतुष्क विभङ्गज्ञान-सामायिकच्छेदोपस्थापनीय-परिहारवि-शुद्धि- सूक्ष्मसंपराय देशविरति--चक्षुरवधिदर्शन--तेजःपद्मलेश्यो- पशमसम्यक्त्व--क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व- सम्यग्मिथ्यात्व-सास्वादन-संज्ञिमार्गणा इति ॥१०॥

श्री प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिबन्धे बन्धस्थाननिरूपणाया
परस्थाने नवमं क्षेत्रद्वारं समाप्तम् ।

॥ अथ दशमं स्पर्शनाद्वारम् ॥

गतं क्षेत्रद्वारम्, अथ क्रमप्राप्तस्पर्शनाद्वारस्यावसरः । तत्रादावोघतः परस्थानबन्धस्थानेषु बन्धकानां स्पर्शना निरूपयन्नाह--

उत्तरपयडीणं खलु एगस्स तहा छसट्ठिआईणं ।
पुट्ठं विणेगसयरिं सव्वजगं बंधगेहिं भवे ॥११॥
गुणसट्ठितिसट्ठीणं पण भागाऽट्ठ चउपंचसयरीणं ।
एगसयरीण बारह सेसाणं जगअसंखंसो ॥१२॥

(प्रे०)"उत्तरे"त्यादि एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य निर्वर्तकानां सर्वलोकप्रमाणा स्पर्शना केवलिसमुद्घातमाश्रित्य प्राप्यते; सा च क्षेत्रवत् केवलिसमुद्घातसत्कचतुर्थसमयमधिकृत्य भाव-नीया। एवं औदारिकतन्मिश्रमार्गणे विहाय यासु मनुष्यौघादिषु मार्गणासु केवलिसमुद्घातं प्राप्यते तासु एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थाननिर्वर्तकाना स्पर्शना सर्वलोकप्रमाणा भवतीति । षट्षष्टेः सप्तषष्टेर-ष्टषष्टेर्नवषष्टेः सप्ततेः द्वासप्ततेस्त्रिसप्ततेश्चतुःसप्ततेश्च स्यष्टबन्धस्थाननिर्वर्तकानां स्पर्शना सर्वलोक-प्रमाणा भवति, सूक्ष्मैरप्येतद्बन्धस्थानानां बध्यमानत्वात् । अत्र सप्ततेश्चतुःसप्ततेश्च बन्धकानां क्षेत्रस्य लोकाऽसंख्यभागप्रमाणत्वेऽपि तयोर्बन्धकानां स्पर्शनायाः सर्वलोकप्रमाणत्वं तु अतीतकालस्यान-न्त्येनोक्तबन्धस्थाननिर्वर्तकानामानन्त्यात् सर्वलोके लाभात् । शेषाणां षण्णां तु क्षेत्रस्यापि सर्व-लोकप्रमाणत्वात्, स्पर्शनायाः सर्वलोकप्रमाणत्वं तु सुगमम् । एवं यत्र सूक्ष्माणां प्रवेशः, तत्रो-क्ताष्टबन्धस्थानबन्धकानां स्पर्शना सर्वलोकप्रमाणा द्रष्टव्या ।

एकोनपष्टेर्देशविरततिर्यगपेक्षया तथा त्रिपष्टेरविरतसम्यग्दृष्टितिर्यगपेक्षया पञ्चरज्जुप्रमाणा स्पर्शना भवति, तिर्यग्लोकतः सहस्रारान्तं यावत् स्पर्शनाया लाभात्, मनुष्यानपेक्ष्य तु लोका-संख्यभागप्रमाणा एव स्पर्शना प्राप्यते इति ।

चतुःपष्टेः पञ्चपष्टेश्चेति बन्धस्थानद्वयस्य स्पर्शना अष्टरज्जुप्रमाणा भवति, सा च सम्य-ग्दृष्टिदेवानां गमनागमनक्षेत्रापेक्षया भावनीया । शेषगतित्रयापेक्षया चतुःपष्टेः मनुष्यनारकाँ-श्चापेक्ष्य पञ्चपष्टेः स्पर्शना लोकाऽसंख्यभागप्रमाणा भवति ।

एकसप्ततेर्बन्धकानां स्पर्शना द्वादशभागाः प्राप्यते, तत्राधोलोकसत्काः पट् तिर्य-ग्भ्यो नरकेषूत्पित्सून् मरणसमुद्घातगतानधिकृत्य विज्ञेयाः, तथा ऊर्ध्वलोकसत्काः षड् देवानाम-च्युतान्तं गमनागमनं कुर्वतां सास्वादनगतानामपेक्षया विज्ञेयाः । तिर्यगपेक्षया तु पञ्च भागाः, सास्वादनापेक्षया यद्यपि ऊर्ध्वलोकसत्का सप्तरज्जुस्पर्शना एकेन्द्रियेषूत्पित्सूनां मरणसमुद्घातापे-क्षया प्राप्यते तथाऽपि एकेन्द्रियपूत्पित्सूनां मरणसमुद्घातगतसास्वादनिनां बाहुल्यतः प्रस्तुते-ऽविवक्षितत्वात् देवानपेक्ष्य भावना कृता इति ।

उक्तशेषाणां सप्तदशादीनामष्टपञ्चाशत्पर्यन्तानां त्रयोदशानां पष्टेरेकपष्टेश्चेति पञ्चदशानां बन्धकानां स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा भवति, चतुर्दशबन्धस्थानानां तु यथासम्भवं पञ्च-मादिदशमान्तगुणस्थानगतमनुष्या एव बन्धकास्तेषां गुणप्राप्तानां लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणैव स्पर्शना प्राप्यते । पष्टेर्बन्धका यद्यपि तिरञ्चो देशविरता भवन्ति, तथापि तेषां तद्बन्ध-स्थानस्यायुष्कबन्धसहितत्वात् स्वस्थान एव लाभेन मरणसमुद्घातप्रयुक्तं क्षेत्रं न प्राप्यते, अतो लोकाऽसंख्येयप्रमाणं पष्टेर्बन्धकानां क्षेत्रं भवति । एवमुक्तपञ्चदशबन्धस्थानानां बन्ध-कानां स्पर्शना यासु यासु मार्गणासु सम्भवति तासु तासु तासां स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभागप्रमा-णैव विज्ञेयेति । पञ्चदशबन्धस्थानानि पुनरिमानि—सप्तदशाष्टादशै-कोनविंशति विंशत्ये-कविंशति—द्वाविंशति-पड्विंशति त्रिपञ्चाश—च्चतुःपञ्चाशत्-पञ्चपञ्चाशत्—पट्पञ्चाशत्-सप्तपञ्चाशद-ऽष्टपञ्चा-शत् पष्ट्ये-कषष्टिबन्ध थानानि ॥११-१२॥

अथ मार्गणासु बन्धस्थाननिर्वर्तकानां स्पर्शनामाह—

णिरये पुट्ठा भागा पण इगसयरीअ छ दुतिसयरीणं ।
लोगासंखियभागो परिपुट्ठो अत्थि सेसाणं ॥१३॥

(प्रे०) "णिरये" इत्यादि, नरकौघमार्गणायामेकसप्ततेर्बन्धकानां पञ्चघनरज्जवः स्पर्शना भवति, एतद्बन्धस्थानस्य सास्वादनगतानामेव लाभात् , सप्तमनारकाणां सास्वादनावस्थाया मरणस्य मरणसमुद्घातस्य चाभावात् , षष्ठनारकाणां तिर्यक्षूत्पित्सूनां मरणसमुद्घातमधिकृत्यैतावती स्पर्शना

प्राप्यते । द्वासप्ततेस्त्रिसप्ततेश्च बन्धकानां स्पर्शना षड्रज्जुप्रमाणा भवति, सप्तमनारकानपेक्ष्य एषा भावनीया । उक्तशेषाणां चतुःषष्टिपञ्चषष्टिषट्षष्टिरूपाणां त्रयाणां चतुःसप्ततेश्च बन्धकानां स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा भवति । सम्यग्दृष्टिनारकाणां पारभविकोत्पत्तिस्थानस्य मनुष्य-क्षेत्ररूपत्वेन तिर्यक्प्रतररज्ज्वसंख्येयभागप्रमाणत्वात् स्वस्थानक्षेत्रस्यापि तिर्यक्प्रतररज्ज्वसंख्येय-भागप्रमाणत्वाच्च लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणैव स्पर्शना प्राप्यते, अतस्तेषां बन्धप्रायोग्यस्था-नानामपि स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणैव । षट्षष्टेश्चतुःसप्ततेश्च बन्धस्थानद्वयस्यायुर्बन्ध-सहितत्वादायुर्बन्धकाले च कस्यापि जीवस्य मरणसमुद्घातस्याभवनात्; स्वस्थानकृतैव स्पर्शना प्रस्तुते प्राप्यते, सा च लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा इति ॥१३॥ अथ द्वितीयादिनरकेषु तां दर्शयन्नाह-

> बीआइणिरयपणगे हुन्ति कमा इगदुतिचउपणभागा ।
> एगदुतिसत्तरीणं सेसाणं जगअसंखंसो ॥१४॥

(प्रे०) "बीआई"त्यादि द्वितीयनरके एकसप्ततेर्द्वासप्ततेस्त्रिसप्ततेश्चेति त्रयाणां बन्धस्थानानां निर्वर्तकानां स्पर्शना एकरज्जुप्रमाणा भवति, स्वस्थानतस्तिर्यग्लोकस्यैकरज्जुप्रमाणान्तरिकत्वात्, तृतीयनरक एषां रज्जुद्वयं स्पर्शना भवति, चतुर्थनरके रज्जुत्रयं स्पर्शना भवति, पञ्चमनरके रज्जुचतुष्कम्, षष्ठनरके पञ्चरज्जुस्पर्शना प्राप्यते; स्वस्थानतस्तिर्यग्लोकस्योक्तान्तरत्वात् । शेष-बन्धस्थाननिर्वर्तकानां लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा स्पर्शना भवति, भावना तु नरकौघवत् कार्या । शेषबन्धस्थानानि द्वितीयतृतीयनरकयोर्नरकौघवच्चत्वारि चतुःषष्ट्यादीनि त्रीणि चतुःसप्ततिश्च । चतुर्थादिनरकत्रये षट्षष्टेर्बन्धस्थानस्याभावात् शेषाणि त्रीणि बन्धस्थानानि भवन्ति ॥१४॥

अथ सप्तमनरके बन्धस्थानानां स्पर्शनां प्राह-

> सत्तमणिरये छब्भागा दुतिसत्तरीण छ फरिसिआ ।
> लोगासंखियभागो पुट्ठो सेसाण विण्णेयो ॥१५॥

(प्रे०) "सत्तमे"त्यादि, सप्तमनारकाणां द्वासप्ततेस्त्रिसप्ततेश्च बन्धकानां स्पर्शना षड् रज्जुप्रमाणा भवति, भावना नरकौघवत् कार्या । चतुःषष्टेरेकसप्ततेश्चतुःसप्ततेश्च बन्धकानां स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा भवति, मरणसमुद्घातप्रयुक्तस्पर्शनाया अभावेन स्वस्थानप्रयुक्त-स्पर्शनाया एव लाभात् । अत्र "सेसाणे"ति पदेन त्रीणि बन्धस्थानानि विज्ञेयानि ॥१५॥

एतर्हि तिर्यग्गत्योघे पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणात्रिके च प्राह—

> गुणसट्ठितिसट्ठीणं तिरिये पुट्ठा हवेज्ज पणभागा ।
> लोगासंखियभागो पुट्ठो सट्ठिचउसट्ठीणं ॥१६॥

एगारिगसयरीए भागा सेसाण पुट्ठमखिलजगं ।
एमेव जाणियव्वा फुसणा तिपणिंदितिरियेसु ॥१७॥
णवरि जगासंखंसो छसट्ठिदुतिचउसत्तरीएऽत्थि ।
भागा सत्त फरिसिआ णेया एगूणसयरीए ॥१८॥
जाणेयव्वा भागा परिपुट्ठा पंच सत्तरीए तु ।
तिरिजोणिणीअ पुट्ठा दस भागा एगसयरीए ॥१९॥

(प्रे०) "गुणसट्ठी" त्यादि, तिर्यग्गत्योघे एकोनषष्टेः, त्रिषष्टेश्चेति बन्धस्थानद्वयस्य बन्धकानां स्पर्शना पञ्चरज्जुप्रमाणा भवति, भावना त्वोघवत् कार्या, ओघेऽपि तिर्यगपेक्षयैव तयोर्बन्धस्थानयोर्बन्धकानां स्पर्शना एतावत्येव प्राप्यते । षष्टेश्चतुःषष्टेश्चेति बन्धस्थानयोर्बन्धकानां स्पर्शना लोकाऽसंख्यभागप्रमाणा भवति, प्रस्तुत एतद्बन्धस्थानयोरायुष्कबन्धसहितत्वेन चतुर्थपञ्चमगुणस्थानगतानामेव भावेन च पञ्चेन्द्रियतिरश्चां स्वस्थानकृतस्पर्शनाया एव लाभात्, पञ्चेन्द्रियतिरश्चां स्वस्थानस्पर्शनायास्तावत्प्रमाणत्वात् ।

एकसप्ततेर्बन्धकानां स्पर्शनैकादशरज्जुप्रमाणा भवति, तच्चैवम्-अधोलोकसत्काः षड् रज्जवः, सप्तमनरकेषूत्पित्सुभिर्मरणसमुद्घातगतैः स्पृष्टाः, एवमूर्ध्वलोकसत्काः पञ्चरज्जवः सहस्रारमुत्पित्सुभिः स्पृष्टाः, इत्येवमेकादशरज्जवः स्पर्शना प्राप्यते । सास्वादनगुणस्थानगतानपेक्ष्योर्ध्वलोकसत्का या चरमरज्जुद्वयस्पर्शना सा नाऽत्र विवक्षिता इत्यवधेयम् ।

शेषाणां बन्धप्रायोग्यस्थानानां षट्षष्ट्यादिपञ्चानां द्वासप्तत्यादित्रयाणां चेत्यष्टानां स्थानानां बन्धकानां स्पर्शना सर्वलोकप्रमाणा भवति, सूक्ष्मैकेन्द्रियाणां मार्गणायां प्रवेशात्; तेषां चोक्तबन्धस्थानबन्धकत्वात् । भावना त्वोघवत् कार्येति ।

पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिरश्चीमार्गणात्रये तिर्यग्गत्योघवद् बन्धप्रायोग्यस्थानानां स्पर्शना वक्ष्यमाणापवादपदानि विहाय बोद्धव्या ।

तद्यथा-एकोनषष्टेः षष्टेस्त्रिषष्टेश्चतुःषष्टेश्चेति चतुर्णां बन्धस्थानानां स्पर्शना तिर्यग्गत्योघवत् सभावना विज्ञेयेति ।

सप्तषष्टेर्बन्धस्थानस्यायुर्बन्धयुक्तत्वात् स्वस्थानप्रयुक्ता एव स्पर्शना प्राप्यते, न मरणसमुद्घातप्रयुक्ता, स्वस्थानस्पर्शना चोक्तमार्गणात्रये लोकाऽसंख्येयभागमात्रा, अतिदेशस्थले तु स्पर्शना सर्वलोकप्रमाणा इत्यतोऽपवादभणनम् ।

षट्षष्टेरष्टषष्टेश्च बन्धकानां सर्वलोकप्रमाणा स्पर्शनाऽतिदेशानुसारेण प्राप्यते, भावना तु मरणसमुद्घातप्रयुक्ता विज्ञेया, न पुनः स्वस्थानकृतेति ।

एकोनसप्ततेर्बन्धकानां स्पर्शना सप्तरज्जुप्रमाणा भवति, तिर्यग्लोकतः सिद्धशिलाया-मुत्पित्सूनामुद्योतनाम्ना सहैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धे प्रवर्तमाने मरणसमुद्घातप्रयुक्ता सा उक्त-प्रमाणा प्राप्यते, स्वस्थानकृता तु सा लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणेति।

सप्ततेर्बन्धकानां स्पर्शना पञ्चभागाः भवति, सास्वादनतिरश्चां सहस्रारे उत्पित्सूनां मरण-समुद्घातापेक्षया पञ्चरज्जुप्रमाणा स्पर्शना प्राप्यते, आयुष्कबन्धसहितस्यैकेन्द्रियप्रायोग्यसप्तते-र्बन्धस्थानस्य बन्धकानां स्पर्शना स्वस्थानप्रयुक्ता लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणेति ।

एकोनसप्ततेः सप्ततेश्चातिदेशेन सर्वलोकप्रमाणा स्पर्शना प्राप्यते इत्यतस्तयोरपवादविषयता ।

एकसप्ततेर्बन्धकानां स्पर्शना पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणाद्वयेऽतिदे-शानुसारेणैकादशभागप्रमाणा प्राप्यते, भावना तु तिर्यग्गत्योघवद्विज्ञेया, तिरश्चीमार्गणायां पुनः सप्तमनरके स्त्रीणामुत्पादाऽभावात् षष्ठनरकेषूत्पित्सूनधिकृत्याधोलोकसत्का पञ्चरज्जुप्रमाणा स्पर्शना प्राप्यते, ऊर्ध्वलोकसत्का सा पञ्चरज्जुप्रमाणा त्वोघवद् विज्ञेया, इत्येकसप्ततेर्दशरज्जुप्रमाणा स्पर्शना तिरश्चीमार्गणायां भवतीत्यन्योऽपवादः ।

त्रिसप्ततेश्चतुःसप्ततेश्चेति बन्धस्थानयोर्बन्धकानां स्पर्शनाऽऽतिदेशस्थले सर्वलोकप्रमाणा स्वस्थानकृता, त्रिसप्ततेर्मरणसमुद्घातकृता च भवति, प्रस्तुते तु तयोर्बन्धस्थानयोः स्पर्शना एषा–त्रिसप्ततेः स्वस्थानमरणसमुद्घातोभयकृता, चतुःसप्ततेः स्वस्थानकृता लोकाऽसंख्येय-भागप्रमाणा विज्ञेया, यतः प्रस्तुतमार्गणा तिर्यग्लोके तत्प्रत्यासन्न एव वा, उक्त-बन्धस्थाननिर्वर्तकानां मरणसमुद्घातेन पारभविकोत्पत्तिक्षेत्रमपि इदमेव, अतो लोकाऽसंख्य-भागतोऽधिका स्पर्शना न प्राप्यते, एवं चोक्तबन्धस्थानद्वयेऽपवादरूपेण सा दर्शिता ।

उक्तमार्गणात्रये द्वासप्ततेर्बन्धकानां स्वस्थानकृता मरणसमुद्घातकृता च स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभागमात्रा एव, यतो मरणसमुद्घातेन उक्तस्थानस्य बन्धकास्तिर्यग्लोके तत्प्रत्या-सन्न एव वा वर्तन्ते । यद्यपि सास्वादनापेक्षया द्वासप्ततेर्बन्धकानां स्पर्शना सप्तरज्जुप्रमाणा प्राप्यते, तथाऽपि सा नात्राधिकृतेति ॥१८-१९॥

अथाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु स्पर्शनां प्राह-

असमत्तपणिदितिरियमणुयपणिदितससव्वविगलेसु ।
सव्वेसु बायरपुढविदगतेउणिगोअकायेसु ॥२०॥
पत्तेअवणातिगम्मि य छड्डजुअसट्ठीणा पुट्ठमखिलजगं ।
लोगाऽसंखंसोऽणाणुज्जोअव्व गुणसयरीए ॥२१॥

बायरसव्वपुहविदगणिगोअपत्तेअहरिएसुं ।
फुसणा सयं च उज्झा दुसत्तरितिसत्तरीण पुणो ॥२२॥

(प्रे०) "अ से"त्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तमनुष्या- ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसकाय-नवविकलाक्षेषु बादरपृथ्वीकायभेदत्रये बादराप्कायभेदत्रये बादरतेजस्कायभेदत्रये बादरनिगोदभेदत्रये प्रत्येकवनस्पतिकायभेदत्रये चेत्येवमष्टाविंशतौ षट्षष्टेरष्टषष्टेश्चेति स्थानद्वय-बन्धकानां स्पर्शना सर्वलोकप्रमाणा भवति, सूक्ष्मेषूत्पित्सूनां मरणसमुद्घाते उक्तस्थानयोर्बन्ध-प्रायोग्यत्वात् सूक्ष्माणां सर्वलोकव्यापित्वेन मरणसमुद्घातेनोक्तमार्गणासु सर्वलोकस्य स्पर्शनाच्च। एकोनसप्ततेर्बन्धकानां स्पर्शनाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक् पञ्चेन्द्रिय-त्रसकायमार्गणात्रये नवविकला-क्षभेदेषु चेति द्वादशसु सप्तरज्जुप्रमाणा भवति, भावना पञ्चेन्द्रियतिर्यग्वत्कार्या । अपर्याप्त-मनुष्ये बादरतेजस्कायत्रये चैकोनसप्ततेर्बन्धकानां लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणां स्पर्शनां संभाव-यामः । शेषद्वादशमार्गणास्वेकोनसप्ततेर्बन्धकानां स्पर्शना स्वयमागमानुसारेण विज्ञेया, एतासु मार्गणासु यावती उद्योतनाम्नः स्पर्शना निरूपिता तावत्येव प्रस्तुते सा प्राप्यते । उक्तशेषाणां सप्तषष्टेः सप्ततेर्द्विसप्ततेस्त्रिसप्ततेश्चतुःसप्ततेश्चेति पञ्चानां बन्धकानां स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभाग-प्रमाणा भवति, भावना तु पञ्चेन्द्रियतिर्यग्वत् कार्या, केवलं बादरपृथ्व्यब्निगोदप्रत्येकवनस्पति-कायानां द्वादशभेदेषु द्वासप्ततेस्त्रिसप्ततेश्च बन्धकानां स्पर्शना स्वयं परिभावनीया । शेषबन्धस्था-नानां त्रयाणां त्वायुष्कबन्धसहितत्वात् तद्बन्धकानामेतास्वपि मार्गणासु लोकाऽसंख्येयभाग-प्रमाणा एव स्पर्शना प्राप्यते इति ॥२०-२२॥

अथ मनुष्यौघादिमार्गणासु बन्धस्थानानां स्पर्शनां प्राह—

तिणरेसुं पुट्ठमखिलजगमेगस्स तह छअडसट्ठीणं ।
लोगासंखंसोऽणणाणुज्जोअव्व गुणमयरीए ॥ २३ ॥

(प्रे०) "तिणरे"त्यादि, मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणात्रय एकप्रकृत्यात्मक-बन्धस्थानस्य तथा षट्षष्टेरष्टषष्टेश्च बन्धस्थानयोः स्पर्शना सर्वलोकप्रमाणा भवति, एकप्रकृ-त्यात्मकबन्धस्थानस्य सयोगिकेवलिनमधिकृत्यौघवद् भावना कार्या, शेषबन्धस्थानद्वयस्य सूक्ष्म-प्रायोग्यत्वात् मरणसमुद्घातेन सर्वलोकस्य स्पर्शनात् । शेषाणां बन्धस्थानानां निर्वर्तकानां स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा भवति, स्वस्थानस्य लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणत्वे सति पार-भविकोत्पत्तिस्थानस्य तदन्तरालस्य वा लोकाऽसंख्यभागप्रमाणत्वात् । एकोनसप्ततेर्बन्धकानां स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा एवेत्यस्माभिर्ज्ञायते, केचित् पुनः सप्तरज्जुप्रमाणा प्रतिपाद-

यन्ति तन्न सम्यक्, तद्बन्धकानां पारभविकोत्पत्तिस्थानस्य तिर्यग्लोकं तदासन्नं वा विहाय तिर्यक्प्रतररज्ज्वसंख्येयभागमात्रत्वात् ॥२३॥ अथ देवौघादिमार्गणासु बन्धस्थानानां स्पर्शनां निरूपयन्नाह—

देवीसाणंतेसुं णेया अट्ठणवजुत्तसट्ठीणं ।

णव भागा फुसिआ अडबंधट्ठाणाण सेसाणं ॥२४॥

(प्रे०) "देवे"त्यादि, देवौघ-भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशानमार्गणासु षट्सु अष्टषष्ट्येकोनसप्ततिबन्धस्थानयोर्बन्धकानां स्पर्शना नवरज्जुप्रमाणा भवति, देवानां गमनागमनेन मरणसमुद्घातेन चाष्टरज्जुस्पर्शना प्राप्यते, अधिका मरणसमुद्घातेनैवोर्ध्वलोकसत्कचरमरज्जुस्पर्शना ज्ञेया, एवमधोलोकसत्के द्वे रज्जू ऊर्ध्वलोकसत्काः सप्त रज्जवः । शेषाणां बन्धप्रायोग्यस्थानानामष्टरज्जुप्रमाणा स्पर्शना प्राप्यते, देवानां गमनागमनक्षेत्रस्य तावत्प्रमाणत्वात्, केषुचिद्बन्धस्थानेषु मरणसमुद्घातस्यासंभवात्, केषुचित् मरणसमुद्घातस्य सम्भवेऽपि तद्बन्धस्थानबन्धकानामुत्पादस्थानस्य गमनागमनक्षेत्राऽन्तर्वर्तित्वात् न ततोऽधिका स्पर्शना प्राप्यत इति । शेषबन्धस्थानानि पुनरिमानि-चतुःषष्टिः पञ्चषष्टिः षट्षष्टिः सप्तत्यादीनि चतुःसप्तत्यन्तानि पञ्च चेत्यष्ट । भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्केषु षट्षष्टिं विहाय सप्त बन्धस्थानानि । अत्र मार्गणाषट्के सास्वादनापेक्षया मरणसमुद्घातेन सिद्धशिलां यावत् कृतमारणान्तिकसमुद्घातवतामेकसप्ततेर्द्वासप्ततेश्च बन्धकानां स्पर्शनायामूर्ध्वलोकसत्कचरमरज्जोर्लाभेऽपि, सामान्यत एकेन्द्रियेषूत्पित्सूनां मरणसमुद्घातगतसास्वादनजीवानां विवक्षाया अभावाद् अष्टरज्जुस्पर्शना प्रोक्ता बोद्धव्या । तद्विवक्षायामुक्तबन्धस्थानद्वयस्य नवरज्जुस्पर्शना वाच्या । तदविवक्षायामयं हेतुः-सामान्यतो मरणसमुद्घाते वर्तमाना जीवा यत्र उत्पत्तियोग्यास्तत्प्रायोग्यमेव बध्नन्ति, यदि गुणप्रत्ययेन तद्बन्धाभावो न स्यादिति ॥२४॥

अथ सनत्कुमारादिषु षण्मार्गणासु आनतादिषु चतसृषु च प्राह—

तइअसुराईसुं छसु सप्पाउग्गाण बंधठाणाणं ।

फुसिआ भागाऽट्ठ छ उण अत्थि चउसु आणताईसुं ॥२५॥

(प्रे०) "तइअ" इत्यादि, सनत्कुमारादिसहस्रारान्तासु षण्मार्गणासु बन्धप्रायोग्यस्थानानां बन्धकानां स्पर्शना अष्टरज्जुप्रमाणा भवति, उक्तमार्गणासु देवानां स्पर्शनाया एव तावत्प्रमाणत्वात् । बन्धस्थानानि चतुःषष्ट्यादीनि त्रीणि, एकसप्तत्यादीनि चत्वारि चेति सप्त । आनतादिमार्गणाचतुष्के बन्धप्रायोग्यस्थानानां बन्धकानां स्पर्शना षड्रज्जुप्रमाणा भवति, आनतादिदेवानां नरकपृथ्व्यादिषु बाहुल्यतो गमनाभावेन षड्रज्जुप्रमाणा एव स्पर्शना शास्त्रे प्रतिपादिता, अतः प्रस्तुतेऽपि तथैव । चतुःषष्ट्यादीनि त्रीणि, एकसप्तत्यादीनि त्रीणि चेति षड् बन्धस्थानानि नवमादिकल्पचतुष्के भवन्ति ॥२५॥

नवग्रैवेयकपञ्चानुत्तरदेवप्रथमनरकरूपपञ्चदशमार्गणासु तद्गतजीवानामेव लोकाऽसंख्येय-भागप्रमाणस्पर्शनाया भावात् प्रान्ते शेषमार्गणात्वेन संगृह्य वक्ष्यति, अतस्ता विमुच्यैकेन्द्रियादि-मार्गणासु बन्धप्रायोग्यबन्धस्थानानां स्पर्शना निरूपयन्नाह—

सव्वजगं एगिंदियपणकायणिगोअसव्वसुहमेसु ।
सप्पाउग्गाण सयलबंधट्ठाणाण परिपुट्ठं ॥२६॥

(प्रे०) "सव्वजग"मित्यादि, एकेन्द्रियौघ-पृथ्व्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायौघ-निगोदौघमार्गणाः, सूक्ष्मैकेन्द्रियसूक्ष्मपृथ्व्यप्तेजोवायुसाधारणवनस्पतिकायानामोघपर्याप्ताऽपर्याप्तभेदैरष्टादश-सूक्ष्ममार्गणाः, तासु समुदितासु पञ्चविंशतौ सर्वलोकव्यापिनां सूक्ष्माणां प्रवेशात् मार्गणाप्रायोग्य-सर्वबन्धस्थानानां सूक्ष्मेष्वपि बन्धप्रायोग्यत्वाच्च तत्तन्मार्गणायां बन्धप्रायोग्यसर्वबन्धस्थानानां सर्वलोकप्रमाणा स्पर्शना प्राप्यते इति । पञ्चविंशतौ अपि मार्गणासु बन्धस्थानानि पट्षष्ट्यादीनि पञ्च द्वासप्तत्यादीनि त्रीणि चेत्यष्ट विज्ञेयानि ॥२६॥ अथ बादरैकेन्द्रियादिमार्गणासु प्राह—

सव्वजगमत्थि बायरएगिंदियवाउसव्वभेएसु ।
छऽडजुअमट्ठीण फुसिअमणोसि होइ ऊणजगं ॥२७॥

(प्रे०) "सव्वजगमत्थि" इत्यादि, बादरैकेन्द्रियभेदत्रये बादरवायुकायभेदत्रये च पट्षष्टे-रष्टषष्टेश्च बन्धकानां स्पर्शना सर्वलोकप्रमाणा भवति, उक्तस्थानद्वयस्य सूक्ष्मैकेन्द्रियप्रायोग्यत्वेन मरणसमुद्घातेन सर्वलोकस्पर्शनाया अतीतकाले लाभात् । मार्गणापट्के शेषबन्धप्रायोग्यस्थानानां स्पर्शना देशोनलोकप्रमाणा भवति, स्वस्थानक्षेत्रस्य तावत्प्रमाणत्वात् । सूक्ष्मेषूत्पित्सूनां मरणसमुद्-घातकाले उक्तस्थानानां बन्धाभावात् । शेषबन्धस्थानानीमानि-सप्तषष्ट्येकोनसप्तति-सप्तति-द्वा-सप्तति-त्रिसप्तति-चतुःसप्ततयः ॥२७॥ अथ पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणासु बन्धस्थानानां स्पर्शनामाह—

सव्वजगं दुपणिंदियतसेसु एगस्स छअडसट्ठीणं ।
गुणसट्ठिनिसट्ठीण पण भागाऽत्थि णव ऊणसयरीए ॥२८॥
चउपचसट्ठिसत्तरिचउसयरीण फुसिआऽत्थि अडभागा ।
इगदुतिजुअसयरीणं बारस संसाण जगअसंखंसो ॥२९॥ (गीतिद्वयम्)

(प्रे०) "सव्वे"त्यादि, पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकायमार्गणा-चतुष्के एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य पट्षष्टेरष्टषष्टेश्च बन्धकानां स्पर्शना सर्वलोकप्रमाणा भवति । आद्यस्य केवलिसमुद्घातमपेक्ष्यौघवद्भावना कार्या । इतरद्वयोर्मरणसमुद्घातेन सूक्ष्मेषूत्पि-त्सूनपेक्ष्य भावना विधेया । एकोनषष्टेः त्रिषष्टेश्च बन्धकानां स्पर्शना पञ्चरज्जुप्रमाणा ओघवद्धि-

ज्ञेया। चतुःषष्टेः पञ्चषष्टेश्च बन्धकानां स्पर्शना अष्टरज्जुप्रमाणा ओघवदेव विभावनीया।

सप्ततेश्चतुःसप्ततेश्च बन्धकानां स्पर्शना देवानां गमनागमनक्षेत्रापेक्षया अष्टरज्जुप्रमाणा विज्ञेया। एकोनसप्ततेः स्पर्शना नव रज्जुप्रमाणैव देवगत्योघवद् भवति, भावनाऽपि तद्वत् कार्या। नारकान् मनुष्यांश्चाधिकृत्य यथासंभवमेकस्य त्रयाणां च बन्धस्य लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणैव स्पर्शना प्राप्यते, तिरश्चोऽधिकृत्य एकोनसप्ततेर्बन्धकानां सप्तरज्जुप्रमाणा, सप्ततेर्बन्धकानां पञ्चरज्जुप्रमाणा, चतुःसप्ततेर्बन्धकानां लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणैव स्पर्शना प्राप्यते।

एकसप्ततेर्बन्धकानां स्पर्शना द्वादशरज्जुप्रमाणा भवति, तत्रैकसप्ततेः पञ्चेन्द्रियतिर्यगपेक्षयाऽधोलोकसत्काः षड्रज्जुप्रमाणा स्पर्शना प्राप्यते, एवमूर्ध्वलोकसत्काः पञ्चेति तिर्यगपेक्षया एकादशरज्जुप्रमाणा स्पर्शना प्राप्यते, देवनारकाणां त्वेकसप्ततेर्बन्धस्थानं सास्वादनापेक्षया एव प्राप्यते, तत्र देवानपेक्ष्य गमनागमनप्रयुक्तमूर्ध्वलोकसत्कमष्टरज्जुप्रमाणा स्पर्शना विज्ञेया, सास्वादनसत्कतद्बन्धस्थानस्य मरणसमुद्घातेन एकेन्द्रियेषूत्पद्यमानस्य विवक्षणायां तु त्रयोदश, ऊर्ध्वलोकसत्कसप्तरज्जुस्पर्शनाया लाभात्।

द्वासप्ततेस्त्रिसप्ततेश्च बन्धकानां स्पर्शना द्वादशरज्जुप्रमाणा भवति, अधोलोकसत्काः षड्रज्जवो नारकानाश्रित्य स्पृष्टा ज्ञेया, ऊर्ध्वलोकसत्काः षड् देवानाश्रित्येति। सास्वादनसत्कदर्शितविवक्षया द्वासप्ततेस्त्रयोदशेति।

शेषाणां बन्धस्थानानां सप्तदशाद्यष्टपञ्चाशत्पर्यन्तानां षष्टेरेकषष्टेश्च बन्धकानां स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा ओघवद् भावनीया। सप्तषष्टेर्बन्धकानां स्प° । लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा भवति, प्रस्तुतमार्गणाचतुष्के पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणामेवायुर्बन्धकाले तद्बन्धस्थानस्य लाभेन मरणसमुद्घातस्पर्शनाया अलाभात्, स्वस्थानपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणां स्पर्शनाया एव लाभ इति भावः। अत्र शेषबन्धस्थानत्वेन षोडशबन्धस्थानानि भवन्ति ॥२८-२९॥

अथ योगमार्गणाभेदेषु प्राह–

> पणमणवयेसु णयणे सण्णिम्मि पणिंदियव्व अत्थि परं।
> लोगस्स असंखयमो भागो एगस्स परिपुट्ठो ॥३०॥

(प्रे०) "पणं"त्यादि, मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगौघ तदुत्तरभेदचतुष्क-चक्षुर्दर्शनसंज्ञिमार्गणासु द्वादशसु सर्वाणि बन्धस्थानानि भवन्ति, तद्बन्धस्थाननिर्वर्तकानां स्पर्शना अनन्तरदर्शितपञ्चेन्द्रियमार्गणावद् विज्ञेया, भावनाऽपि तद्वत् कार्या, मरणसमुद्घातेऽपि उक्तमार्गणानां भावात्। केवलमेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य निर्वर्तकानां स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा भवति, उक्तमार्गणासु केवलिसमुद्घातगतानामप्रवेशात्; यतोऽसत्य-सत्यासत्य

मनोवचनयोगचक्षुर्दर्शनसंज्ञिलक्षणषण्मार्गणासु च द्वादशैव गुणस्थानानि; शेषमार्गणाषट्के तु सयोगिकेवलिनां प्रवेशेऽपि केवलिसमुद्घातगतानामौदारिकादिकाययोगानामेव भावेन उक्तषण्मार्गणानामनवकाशः, शेऽपवादभणनं विज्ञेयमिति ॥३०॥ अथ काययोगौघादिमार्गणासु तां प्राह–

काय चउकसायेसुं दुअणाणाऽजयभवेसु फुसणाऽत्थि ।
सप्पाउग्गाण सयलबंधट्ठाणाण ओघव्व ॥३१॥

(प्रे०) "काये"त्यादि, काययोगौघादिमार्गणानवके तत्तन्मार्गणायां बन्धप्रायोग्यस्थाननिर्वर्तकानां स्पर्शनौघवद्विज्ञेया, भावनाऽपि तद्वत्कार्या । बन्धस्थानानि काययोगे भव्ये च सर्वाणि, लोभे सप्तदशादीनि चतुःसप्तत्यन्तानि अष्टाविंशतिः, मायायामेकोनविंशत्यादीनि षड्विंशतिबन्धस्थानानि, माने विंशत्यादीनि पञ्चविंशतिः, क्रोध एकविंशत्यादीनि चतुर्विंशतिः, अज्ञानद्वये षट्षष्टयादीनि नव, असंयमे त्रिषष्टयादीनि द्वादश भवन्ति ॥३१॥ एतदौदारिककाययोगे प्राह–

गुणसट्ठितिसट्ठीणं उरले भागाऽत्थि फासिआ पंच ।
पुट्ठं विगोगसयरिं सट्ठिआईण सव्वजगं ॥३२॥
एगसयरीअ छिविआ भागेगारस हवेज्ज सेसाणं ।
अट्ठारसण्ह पुट्ठो लोगस्स असं गोऽत्थि ॥३३॥

(प्रे०) "गुणे"त्यादि, औदारिककाययोग एकोनषष्टेस्त्रिषष्टेश्च बन्धकानां स्पर्शना पञ्च प्रमाणा भवति । भावना त्वोघवत्कार्या । षट्षष्टयादीनां प नां द्वासप्तत्यादीनां त्रय न्धेत्यष्टानां बन्धकैः सर्वजगत्स्पृष्टम्, सूक्ष्माणामपि तद्बन्धकत्वात्, भावना त्वोघवदेव कार्येति । एकसप्ततेर्बन्धकास्त्रसनाड्या एकादश भागान् स्पृशन्ति स्म, भावना तु पञ्चेन्द्रियतिरश्चोऽधिकृत्य कार्येति । शेषाणामष्टादशबन्धस्थानानां निर्वर्तकानां स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा भवति । तत्रैकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानं चतुःषष्टिः पञ्चषष्टिश्चेति बन्धस्थानत्रयं विहाय पञ्चदशानामोघवदेव लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा स्पर्शना भवति, एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थाननिर्वर्तकानां केवलिसमुद्घातगतृतीयचतुर्थपञ्चमसमयगतानां प्रस्तुतमार्गणाया अभावाच्छेषसमयगतानां सयोगिकेवलिनां लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणाया एव स्पर्शनाया लाभात्प्रस्तुत औदारिकयोग एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थाननिर्वर्तकानां लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणैव स्पर्शना भवति । चतुःषष्टिपञ्चषष्टयोरोघे देवानपेक्ष्याऽष्टरज्जुस्पर्शनाया लाभेऽपि प्रस्तुते देवानामौदारिकयोगस्याऽभावेन यथा मनुष्यगतिमार्गणायां यथोक्तबन्धस्थानद्वयस्य लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा स्पर्शना भवति तथैव प्रस्तुतेऽपि सा विभावनीया । केवलं चतुःषष्टेः स्वस्थानस्थदेवायुर्बन्धकतिरश्चोऽऽश्रित्यापि भावना कार्या ॥३२-३३॥

अथौदारिकमिश्रयोगे बन्धकानां स्पर्शनां निरूपयन्नाह—

पुट्ठं उरालमीसे विगोगसयरिं छसट्ठिआईणं ।
सव्वजगं सेसाणं लोगस्स असंखभागोऽत्थि ॥ ३४ ॥

(प्रे०) "पुट्ठ"मित्यादि, औदारिकमिश्रे पट्षष्ट्यादीनां पञ्चानां द्वासप्तत्यादीनां त्रयाणां चेत्यष्टानां बन्धकानां स्पर्शना सर्वलोकप्रमाणा भवति, सूक्ष्माणां मार्गणायां प्रवेशात् तेषां च सर्वलोकव्यापित्वात् । शेषाणां मार्गणायां बन्धप्रायोग्यस्थानानां स्पर्शना लोकस्याऽसंख्येयभागप्रमाणा भवति, संज्ञितिर्यग्मनुष्याणां स्वस्थान एव शेषबन्धस्थानानां लाभात् तेषां शेषबन्धस्थानबन्धकानां मरणसमुद्घातस्याऽभावाच्च । शेषाणि बन्धस्थानानीमानि--त्रिषष्टिचतुःषष्ट्येकसप्ततिरूपाणि त्रीणि, एकप्रकृत्यात्मकं च । अत्रैकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य सयोगिकेवलिनः समुद्घाताऽवस्थायां प्राप्यमाणत्वेऽपि तृतीयादिसमयत्रयगतानां प्रस्तुतेऽभावेन नैकस्या सर्वलोकप्रमाणा स्पर्शना भवतीति ॥३४॥ अथ वैक्रियकाययोगमार्गणायां प्राह—

वेउव्वे णव भागा पुट्ठाऽत्थि अडणवजुत्तसट्ठीणं ।
एगसयरीअ भागा एगारस फोसिआ णेया ॥३५॥
दुतिसत्तरीण छिविआ बारह भागा हवेज्ज सेसाणं ।
पञ्चण्हं ठाणाणं अड भागा फोसिआ णेया ॥३६॥

(प्रे०) "वेउव्वे"त्यादि वैक्रियकाययोगेऽष्टषष्टेरेकोनसप्ततेश्च बन्धका नवघनरज्जूः स्पृशन्ति, अधोलोकसत्के द्वे रज्जू , ऊर्ध्वलोकसत्काः सप्त, भवनपत्यादिदेवाऽपेक्षया भावना कार्या । एकसप्ततेर्बन्धकैरेकादश भागाः स्पृष्टाः सास्वादनगुणस्थानगतषष्टनारकापेक्षया अधोलोकसत्काः पञ्च भागाः, सास्वादनिदेवापेक्षया ऊर्ध्वलोकसत्का अच्युतान्ताः षड्भागा विज्ञेयाः । द्वासप्ततेस्त्रिसप्ततेश्च बन्धका द्वादशरज्जूः स्पृशन्ति स्म, ऊर्ध्वाऽधोलोकसत्काः षट् षट् चेति । सास्वादनिभुवनपत्यादिदेवापेक्षयेषत्प्राग्भारायामुत्पित्सुनाधिकृत्य पुनरेवसप्ततेर्द्वादश रज्जवः द्विसप्ततेस्त्रयोदशरज्जवः स्पर्शना भवति । किन्तु साऽत्र न विवक्षिता । चतुःषष्टे, पञ्चषष्टेः, षट्षष्टेः, सप्ततेश्चतुःसप्ततेश्चेति पञ्चानां बन्धका अष्टौ रज्जूः स्पृष्टवन्तः देवानां गमनागमनक्षेत्रापेक्षया एतावती स्पर्शना प्राप्यते, शेषभावना तु सुगमा ॥३५-३६॥

अथ कार्मणानाहारकमार्गणयोर्बन्धस्थाननिर्वर्तकानां स्पर्शनां प्राह—

कम्माणाहारेसुं परिपुट्ठो णिपणजुत्तसट्ठीणं ।
लोगाऽसंखियभागो भागा पंच चउसट्ठीए ॥ ३७ ॥
एगसयरीअ भागा एगारस फोसिआ मुणेयव्वा ।

पुट्ठोऽत्थि सव्वलोगो बंधट्ठाणाण सेसाणं ॥ ३८ ॥

(प्रे०) "कम्मे" त्यादि, त्रिषष्टेः पञ्चषष्टेश्च बन्धकैर्लोकस्याऽसंख्येयतमभागः स्पृष्टः, देवनैरयिकेभ्यो मनुष्येषूत्पद्यमानानां त्रिषष्टेर्लाभेन उत्पादक्षेत्रप्रधानस्पर्शनालाभात् । मनुष्येभ्यो युगलिकतिर्यग्मनुष्येषूत्पद्यमानस्यापि तदुत्पादक्षेत्रस्य तावत्प्रमाणत्वात् । पञ्चषष्टेः पुनर्मनुष्येभ्यो देवनैरयिकेषूत्पद्यमानापेक्षया भावना कार्या । चतुःषष्टेर्बन्धकानां स्पर्शना पञ्चरज्जुप्रमाणा भवति, तिर्यग्भ्यो देवेषूत्पद्यमानापेक्षया भावना विधेया । एकसप्ततेर्बन्धकानां स्पर्शना एकादश-रज्जवः प्राप्यते, सास्वादनगतापेक्षया अधोलोकसत्काः पञ्च रज्जवः, ऊर्ध्वलोकसत्काः षड् रज्जवः; यथाक्रमं नारकेभ्यो देवेभ्यश्च्युतानधिकृत्य भावना कार्येति । शेषाणां बन्धप्रायोग्याणां स्पर्शना सर्वलोकप्रमाणा भवति, सूक्ष्माणां सर्वलोकव्यापित्वात् केवलिसमुद्घाते चतुर्थसमये सर्व-लोकस्पर्शनाया लाभाच्च । शेषषड्बन्धस्थानानीमानि-षट्षष्टिरष्टषष्टये कोनसप्ततिद्वासप्ततित्रिसप्तति-रूपाणि, एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानं च ॥३७-३८॥ अथ स्त्रीपुरुषवेदयोस्तां प्राह—

पुमथीसु गुणसट्ठितिसट्ठीणं पंच फरिसिआ भागा ।
चउपणजुअसट्ठिसयरिदुतिचउसयरीण अड भागा ॥ ३९ ॥
सव्वजगं अत्थि छअडसट्ठीण गुणसयरीअ णव भागा ।
इगसयरीअ कमा बारिगारसियराण जगअसंखंसो ॥ ४० ॥ (गीतिः)

(प्रे०) "पुमे"त्यादि, पुरुषवेदे स्त्रीवेदे च एकोनषष्टेस्त्रिषष्टेश्च बन्धकैः पञ्च भागाः स्पृष्टाः, चतुर्थपञ्चमगुणस्थानगततिर्यगपेक्षया भावना कार्या । चतुःषष्टिपञ्चषष्टिसप्ततिद्वासप्तति-त्रिसप्ततिचतुःसप्ततिरूपाणां षण्णां स्थानानां बन्धकैरष्टभागाः स्पृष्टाः, देवानां गमनागमनक्षेत्र-प्रयुक्ता एषा भावनीया । षट्षष्टेरष्टषष्टेश्च बन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्टः, सूक्ष्मेषूत्पित्सूनां तिर्य-ग्मनुष्याणां मारणान्तिकसमुद्घाते वर्तमानानां उक्तबन्धस्थानद्वयनिर्वर्तकतया लाभेन सर्व-लोकः स्पर्शना प्राप्यते । एकोनसप्ततेर्बन्धकैर्नव रज्जवः स्पृष्टाः, भावना तु देवमार्गणावत् कार्या । एकसप्ततेर्बन्धकैर्द्वादशभागाः पुरुषवेदमार्गणायां स्पृष्टाः, स्त्रीवेदमार्गणाया पुनरेकादश-भागाः स्पृष्टाः, सप्तमनरके स्त्रीणामुत्पादाभावात् । शेषाणां बन्धस्थानानां बन्धकैर्लोकाऽसख्येय-भागः स्पृष्ट', शेषाणि बन्धस्थानानि इमानि-द्वाविंशत्यादीन्यष्टपञ्चाशत्पर्यन्तानि अष्टौ, षष्टिरेक-षष्टिः सप्तषष्टिश्चेत्येकादश. नवानां सम्यग्दृष्टिमनुष्याणामेव बन्धकत्वात् , द्वयोरायुर्बन्धसहित-त्वात् पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यस्वामिकत्वाच्च ॥३९-४०॥ अथ नपुंसकवेदे प्राह—

णपुमे इगुणसट्ठितिसट्ठीण तहा छसट्ठिआईणं ।
तिरियव्व असंखंसो पुट्ठो लोगस्स सेसाणं ॥४१॥

(प्रे०) "णपुमे" इत्यादि, नपुंसकवेदमार्गणायामेकोनषष्टेस्त्रिषष्टेश्च बन्धकैः पञ्च रज्जवः स्पृष्टाः। षट्षष्टेः सप्तषष्टेरष्टषष्टेरेकोनसप्ततेः सप्ततेर्द्वासप्ततेस्त्रिसप्ततेश्चतुःसप्ततेश्चेत्यष्टस्थानबन्धकानां सर्वलोकप्रमाणा स्पर्शना कृता भवति। एतत्स्पर्शनाया अप्योघवदेव लाभात्। एकसप्ततेर्बन्धकानामोघे द्वादशरज्जुप्रमाणस्पर्शनाया भावेऽपि प्रस्तुते देवानामप्रवेशेन तिर्यग्गत्योघवदेकादशरज्जुप्रमाणा स्पर्शना प्राप्यते। शेषाणां द्वाविंशत्याद्यष्टापञ्चाशत् पर्यन्तानां षष्टेरेकषष्टेश्चेति दशानां बन्धकैर्लोकासंख्येयभागः स्पृष्टः, भावना त्वोघवत् कार्या, ओघेऽपि तत्स्पर्शनायास्तावत्प्रमाणत्वात्। चतुःषष्टेः पञ्चषष्टेश्च बन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, ओघे तु देवानपेक्ष्य उक्तस्थानद्वयसत्कस्पर्शनाया अष्टरज्जुप्रमाणस्य लाभेऽपि प्रस्तुते देवानां प्रवेशाभावात् लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा एव स्पर्शना प्राप्यत इति ॥४१॥ अथ अपगतवेदे तां प्राह—

गयवेए सव्वजगं पुट्ठं एगस्स बंधगेहिं भवे ।
लोगाऽसंखियभागो पुट्ठो सेसाण पंचण्हं ॥४२॥

(प्रे०) "गयवेए" इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायामेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्टः, शेषाणां सप्तदशाद्येकविंशतिपर्यन्तानां पञ्चानां बन्धस्थानानां बन्धकैर्लोकस्याऽसंख्येयभागः स्पृष्टः। भावना त्वोघवत् कार्या इति ॥४२॥ अथ अकषायादिषु प्राह—

सव्वजगं अकसाये केवलदुगसंजमाहखायेसुं ।
एगस्स संजमे उण सेसाणं जगअसंखंसो ॥४३॥

(प्रे०) "सव्वजग"मित्यादि, अकषायकेवलज्ञानदर्शनयथाख्यातसंयमेषु एकस्यैकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्यैव सद्भावः, तस्य बन्धकाः सर्वलोकं स्पृशन्ति स्म। संयमौघे एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकानां स्पर्शना एवं चैव विज्ञेया। तथा तस्यां मार्गणायां सप्तदशाद्येकोनषष्टिपर्यन्तानां चतुर्दशानां प्रत्येकं बन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, भावना तु सर्वाऽप्योघवद्विभावनीया, केवलमेकोनषष्टिबन्धस्य प्रस्तुते संयतानामेव भावेन ओघोक्ताष्टपञ्चाशद्बन्धकस्पर्शनावत् भावना कार्येति ॥४३॥ अथ ज्ञानत्रिकावधिदर्शनसम्यक्त्वौघक्षयोपशमसम्यक्त्वलक्षणमार्गणाषट्के तां प्राह—

गुणसट्ठितिसट्ठीणं तिणाणओहिसम्मवेअगेसु भवे ।
पणभागा छुद्दिआ अड तिण्हं चउसट्ठिआईणं ॥४४॥
लोगासंखियभागो सेसट्ठाणाण णवरि सव्वजगं ।
सम्मे एगस्सऽत्थि सजोगाण पणिंदियव्व विब्भंगे ॥४५॥ (गीतिः)

पुट्ठोऽत्थि सव्वलोगो बंधट्ठाणाण सेसाणं ॥ ३८ ॥

(प्रे०) "कम्मे" त्यादि, त्रिषष्टेः पञ्चषष्टेश्च बन्धकैर्लोकस्याऽसंख्येयतमभागः स्पृष्टः, देवनैरयिकेभ्यो मनुष्येषूत्पद्यमानानां त्रिषष्टेर्लाभेन उत्पादक्षेत्रप्रधानस्पर्शनालाभात् । मनुष्येभ्यो युगलिकतिर्यग्मनुष्येषूत्पद्यमानस्यापि तदुत्पादक्षेत्रस्य तावत्प्रमाणत्वात् । पञ्चषष्टेः पुनर्मनुष्येभ्यो देवनैरयिकेषूत्पद्यमानापेक्षया भावना कार्या । चतुःषष्टेर्बन्धकानां स्पर्शना पञ्चरज्जुप्रमाणा भवति, तिर्यग्भ्यो देवेषूत्पद्यमानापेक्षया भावना विधेया । एकसप्ततेर्बन्धकानां स्पर्शना एकादश-रज्जवः प्राप्यते, सास्वादनगतापेक्षया अधोलोकसत्काः पञ्च रज्जवः, ऊर्ध्वलोकसत्काः षड् रज्जवः; यथाक्रमं नारकेभ्यो देवेभ्यश्च्युतानधिकृत्य भावना कार्येति । शेषाणां बन्धप्रायोग्याणां स्पर्शना सर्वलोकप्रमाणा भवति, सूक्ष्माणां सर्वलोकव्यापित्वात् केवलिसमुद्घाते चतुर्थसमये सर्व-लोकस्पर्शनाया लाभाच्च । शेषषड्बन्धस्थानानीमानि-षट्षष्टिरष्टषष्ट्येकोनसप्ततिद्वासप्ततित्रिसप्तति-रूपाणि, एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानं च ॥३७–३८॥ अथ स्त्रीपुरुषवेदयोस्तां प्राह—

पुमथीसुं गुणसट्ठितिसट्ठीणं पंच फरिसिआ भागा ।
चउपणछअसट्ठिसयरिदुतिचउसयरीण अड भागा ॥ ३९ ॥
सव्वजगं अत्थि छअडसट्ठीण गुणसयरीअ णव भागा ।
इगसयरीअ कमा बारिगारसियराण जगअसंखंसो ॥ ४० ॥ (गीतिः)

(प्रे०) "पुमे"त्यादि, पुरुषवेदे स्त्रीवेदे च एकोनषष्टेस्त्रिषष्टेश्च बन्धकैः पञ्च भागाः स्पृष्टाः, चतुर्थपञ्चमगुणस्थानगततिर्यगपेक्षया भावना कार्या । चतुःषष्टिपञ्चषष्टिसप्ततिद्वासप्तति-त्रिसप्ततिचतुःसप्ततिरूपाणां षण्णां स्थानानां बन्धकैरष्टभागाः स्पृष्टाः, देवानां गमनागमनक्षेत्र-प्रयुक्ता एषा भावनीया । षट्षष्टेरष्टषष्टेश्च बन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्टः, सूक्ष्मेषूत्पित्सूनां तिर्य-ग्मनुष्याणां मारणान्तिकसमुद्घाते वर्तमानानां उक्तबन्धस्थानद्वयनिर्वर्तकतया लाभेन सर्व-लोकः स्पर्शना प्राप्यते । एकोनसप्ततेर्बन्धकैर्नव रज्जवः स्पृष्टाः, भावना तु देवमार्गणावत् कार्या । एकसप्ततेर्बन्धकैर्द्वादशभागाः पुरुषवेदमार्गणायां स्पृष्टाः, स्त्रीवेदमार्गणायां पुनरेकादश-भागाः स्पृष्टाः, सप्तमनरके स्त्रीणामुत्पादाभावात् । शेषाणां बन्धस्थानानां बन्धकैर्लोकाऽसंख्येय-भागः स्पृष्टः, शेषाणि बन्धस्थानानि इमानि-द्वाविंशत्यादीन्यष्टपञ्चाशत्पर्यन्तानि अष्टौ, षष्टिरेक-षष्टिः सप्तषष्टिश्चेत्येकादश, नवानां सम्यग्दृष्टिमनुष्याणामेव बन्धकत्वात् , द्वयोरायुर्बन्धसहित-त्वात् पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यस्वामिकत्वाच्च ॥३९–४०॥ अथ नपुंसकवेदे प्राह—

णपुमे इगुणसट्ठिनिसट्ठीण तहा छसट्ठिआईणं ।
तिरियव्व असंखंसो पुट्ठो लोगस्स सेसाणं ॥४१॥

(प्रे०) "णपुमे" इत्यादि, नपुंसकवेदमार्गणायामेकोनपष्टेस्त्रिपष्टेश्च बन्धकैः पञ्च-रज्जवः स्पृष्टाः । षट्पष्टेः सप्तपष्टेरष्टपष्टेरेकोनसप्ततेः सप्ततेर्द्वासप्ततेस्त्रिसप्ततेश्चतुःसप्ततेश्च त्र्यष्ट-स्थानबन्धकानां सर्वलोकप्रमाणा स्पर्शना कृता भवति । एतत्स्पर्शनाया अप्योघवदेव लाभात् । एकसप्ततेर्बन्धकानामोघे द्वादशरज्जुप्रमाणस्पर्शनाया भावेऽपि प्रस्तुते देवानामप्रवेशेन तिर्यग्ग-त्योघवदेकादशरज्जुप्रमाणा स्पर्शना प्राप्यते । शेषाणां द्वाविंशत्याद्यष्टापञ्चाशत् पर्यन्तानां पष्टे-रेकषष्टेश्चेति दशानां बन्धकैर्लोकासंख्येयभागः स्पृष्टः, भावना त्वोघवत् कार्या, ओघेऽपि तत्-स्पर्शनायास्तावत्प्रमाणत्वात् । चतुःपष्टेः पञ्चपष्टेश्च बन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, ओघे तु देवानपेक्ष्य उक्तस्थानद्वयसत्कस्पर्शनाया अष्टरज्जुप्रमाणस्य लाभेऽपि प्रस्तुते देवानां प्रवेशा-भावात् लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा एव स्पर्शना प्राप्यत इति ॥४१॥ अथ अपगतवेदे तां प्राह—

गयवेए सव्वजगं पुट्ठं एगस्स बंधगेहि भवे ।
लोगाऽसंखियभागो पुट्ठो सेसाण पंचण्हं ॥४२॥

(प्रे०) "गयवेए" इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायामेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्टः, शेषाणां सप्तदशाद्येकविंशतिपर्यन्तानां पञ्चानां बन्धस्थानानां बन्धकैर्लोकस्या-संख्येयभागः स्पृष्टः । भावना त्वोघवत् कार्या इति ॥४२॥ अथ अकषायादिषु प्राह—

सव्वजगं अकसाये केवलदुगसंजमाहखायेसु ।
एगस्स संजमे उण सेसाणं जगअसंखंसो ॥४३॥

(प्रे०) "सव्वजग"मित्यादि, अकषायकेवलज्ञानदर्शनयथाख्यातसंयमेषु एकस्यैकप्रकृ-त्यात्मकबन्धस्थानस्यैव सद्भावः, तस्य बन्धकाः सर्वलोकं स्पृशन्ति स्म । संयमौघे एकप्रकृत्या-त्मकबन्धस्थानस्य बन्धकानां स्पर्शना एवं चैव विज्ञेया । तथा तस्यां मार्गणायां सप्तदशाद्येकोन-षष्टिपर्यन्तानां चतुर्दशानां प्रत्येकं बन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, भावना तु सर्वाऽप्योघवद्वि-भावनीया, केवलमेकोनषष्टिबन्धस्य प्रस्तुते संयतानामेव भावेन ओघोक्ताष्टपञ्चाशद्बन्धकस्पर्शना-वत् भावना कार्येति ॥४३॥ अथ ज्ञानत्रिकावधिदर्शनसम्यक्त्वौघक्षयोपशमसम्यक्त्वलक्षण-मार्गणाषट्के तां प्राह—

गुणसट्ठितिसट्ठीणं तिणाणवहिसम्मवेअगेसु भवे ।
पणभागा छुहिआ अड तिण्हं चउसट्ठिआईणं ॥४४॥
लोगासंखियभागो सेसट्ठाणाण णवरि सव्वजगं ।
सम्मे एगस्सऽत्थि सजोगाण परिणिदियव्व विब्भंगे ॥४५॥ (गीतिः)

(प्रे०) "गुणसट्ठी"त्यादि, मतिश्रुतावधिज्ञानाऽवधिदर्शनसम्यक्त्वौघक्षयोपशमरूपासु षट्सु एकोनषष्टेस्त्रिषष्टेश्च बन्धकैः पञ्चरज्जवः स्पृष्टाः, भावना त्वोघवत् तिर्यगपेक्षया कार्या। चतुःषष्टिपञ्चषष्टिषट्षष्टिबन्धस्थानानां बन्धकैरष्ट भागाः स्पृष्टाः, देवानां गमनागमनक्षेत्रापेक्षया भावना कार्या। उक्तशेषाणामेकाद्यष्टपञ्चाशत्पर्यन्तानां षष्टेरेकषष्टेश्चेति षोडशानां बन्धस्थानानां बन्धकैर्लोकस्यासंख्येयभागः स्पृष्टः, केवलिसमुद्घातविरहितसंयतानां देशविरतिमनुष्याणामायुष्कबन्धसहितदेशविरततिरश्चां च यथासंभवं तल्लाभात्, भावना त्वोघवदेव कार्या, केवलमेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य निर्वर्तकानां स्पर्शना मार्गणाचतुष्के केवलिसमुद्घातस्याभावात् लोकासंख्यभागप्रमाणा विज्ञेया। सम्यक्त्वौघे पुनरेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकानां स्पर्शना ओघवत् केवलिसमुद्घातमधिकृत्य सर्वलोकप्रमाणा प्राप्यते। क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां शेषबन्धस्थानतया पञ्चपञ्चाशदादीनि षड्बन्धस्थानानि भवन्तीति। अथ विभङ्गज्ञानमार्गणायां स्पर्शनां प्राह—

"सजोगाणे"त्यादि, विभङ्गज्ञानमार्गणायां स्वप्रायोग्याणां सर्वेषां बन्धस्थानानां स्पर्शना पञ्चेन्द्रियमार्गणावत् प्राप्यते। तद्यथा—षट्षष्टेरष्टषष्टेश्च बन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्टः, उक्तबन्धस्थानद्वयस्य सूक्ष्मैकेन्द्रियप्रायोग्यत्वेन मरणसमुद्घातेन प्रस्तुते सर्वलोकस्पर्शनाया लाभात्। सप्तषष्टेर्बन्धकैः लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, सूक्ष्मैकेन्द्रियप्रायोग्यत्वेऽपि तत्स्थानस्यायुर्बन्धसहितत्वात्; संज्ञितिर्यग्मनुष्याणामेव स्वस्थानेन तद्बन्धकत्वाच्च। एकोनसप्ततेर्बन्धकैर्नवरज्जवः स्पृष्टाः, देवानपेक्ष्य भावना कार्येति। सप्ततेश्चतुःसप्ततेश्च बन्धकैरष्टौ रज्जवः स्पृष्टाः, देवानां गमनागमनक्षेत्रमपेक्ष्य भावना कार्या सुगमा च। एकसप्ततेर्बन्धकैर्द्वादशरज्जवः स्पर्शना प्राप्यते, तिर्यगपेक्षया अधोलोकसत्काः षड्रज्जवः, देवानपेक्ष्य ऊर्ध्वलोकसत्काः षडित्येवं द्वादशरज्जवः स्पर्शना प्राप्यते। भावना तु पञ्चेन्द्रियौघमार्गणावत्कार्या। द्वासप्ततेस्त्रिसप्ततेश्च बन्धकैर्द्वादशरज्जवः स्पृष्टाः, तत्राधोलोकसत्काः षट् सप्तमनारकानपेक्ष्य ऊर्ध्वलोकसत्काः षड् देवानपेक्ष्य स्पर्शना भावनीया। ॥४४-४५॥ अथ देशविरतिमार्गणायां प्रस्तुतं प्रदर्शयन्नाह—

देसे गुणसट्ठीए पण भागा फोसिआ मुणेयव्वा।
लोगासंखियभागो सेसाणं दोण्ह ठाणाणं ॥४६॥

(प्रे०) "देसे" इत्यादि. देशविरतिमार्गणायामेकोनषष्टेर्बन्धकैः पञ्चरज्जवः स्पृष्टाः, देशविरतितिर्यगपेक्षया भावना कार्या। षष्टेरेकषष्टेश्चेति शेषबन्धस्थानद्वयस्य बन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, भावना त्वोघवद् विज्ञेया। त्रयाणामपि स्पर्शना ओघवदेव, तथापि स्मरणार्थं स्पष्टतया सा दर्शिता ॥४६॥ अथाऽचक्षुर्दर्शनाहारकमार्गणयोः प्रस्तुतां स्पर्शनां निरूपयन्नाह—

अणयणआहारेसुं सव्वाणोघव्व फोसणा णवरं।
लोगासंखियभागो पुट्ठो एगस्स विणणेयो ॥४७॥

(प्रे०) "अणयणे"त्यादि अचक्षुर्दर्शने आहारके च सर्वेषां बन्धस्थानानां स्पर्शना ओघवद्विज्ञेया। ओघोक्तसर्वबन्धकानामत्र प्रवेशात्, केवलं प्रस्तुतेऽचक्षुर्दर्शने सयोगिकेवलिनाम्, आहारके समुद्घातसत्कतृतीयचतुर्थपञ्चमसमयगतसयोगिकेवलिनां प्रवेशाभावात् एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकानां स्पर्शना सर्वलोकप्रमाणा ओघे प्राप्यमाणाऽपि उक्तमार्गणाद्वये न प्राप्यते, इत्योघतो विशेषः ॥४७॥ अथ अशुभलेश्यात्रये बन्धस्थाननिर्वर्तकानां स्पर्शनाया भागान्निरूपयन्नाह–

लोगाऽसंखियभागो तेवट्ठीएऽत्थि असुहलेसासुं ।
अड भागा परिपुट्ठा हवन्ति चउपंचसट्ठीणं ॥४८॥
एगसयरीअ छुहिआ बारह दस अड कमा भागा ।
पुट्ठोऽत्थि सव्वलोगो बंधट्ठाणाण सेसाणं ॥४९॥ (उपगीतिः)

(प्रे०) "लोगा" इत्यादि, कृष्णनीलकापोतलेश्यात्रये त्रिषष्टेर्बन्धकानां स्पर्शना लोकाऽसंख्यभागप्रमाणा भवति, सम्यग्दृष्टितिरश्चां वैमानिकेभ्योऽन्यत्रोत्पादाभावेन तेषां सम्यग्दृष्टितिरश्चामशुभलेश्यायां मरणवद् मरणसमुद्घातोऽपि न प्राप्यते· अतस्तेषां स्वस्थानापेक्षया लोकाऽसंख्येयभागः स्पर्शना प्राप्यते, मनुष्यानपेक्ष्य तु त्रिविधापि स्पर्शना अविरतसम्यग्दृष्टेर्लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा, अतः प्रस्तुतबन्धस्थानेऽपि तथैव। देवनारकाणामुक्तबन्धस्थानमेव न प्राप्यते।

चतुःषष्टेः पञ्चषष्टेश्चेति बन्धस्थानद्वयस्य बन्धकैरष्टौ रज्जवः स्पृष्टाः, देवानां गमनागमनक्षेत्रस्याष्टरज्जुप्रमाणत्वात्, भावना त्वोघवत् कार्या। अत्र पञ्चषष्टेर्बन्धस्थानस्यायुष्कसहितस्योक्तप्रमाणा स्पर्शना अवधार्या। एकसप्ततेर्बन्धकैः कृष्णलेश्यायां द्वादशरज्जवः स्पृष्टाः, भावना त्वोघवत्कार्या। नीललेश्यायां दशरज्जवः, कापोतलेश्यायामष्टौ रज्जवः स्पृष्टाः, अत्र मार्गणात्रयेऽपि ऊर्ध्वलोकसत्काः षड्रज्जवः सास्वादनगुणस्थदेवानां गमनागमनमपेक्ष्य विज्ञेया, अधोलोकसत्काः कृष्णलेश्यायां षड् रज्जवः, नीलायां रज्जुचतुष्कं कापोतायां रज्जुद्वयं स्पर्शना भवति, तत् तिर्यगपेक्षया विभावनीयम्। उक्तशेषाणामष्टानां बन्धस्थानानां बन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्टः, भावना त्वोघवत् कार्या, ओघेऽपि तेषां बन्धस्थानानां स्पर्शनायास्तथात्वात्। शेषबन्धस्थानानीमानि-षट्षष्ट्यादीनि पञ्च द्वासप्तत्यादीनि त्रीणि चेति अष्ट ॥४८ ४९॥ अथ तेजोलेश्यायां प्राह–

तेऊअ असंखयमो भागो लोगस्स होअइ चउराहं ।
पणवीसाईणं तह सट्ठीए एगसट्ठीए ॥५०॥

गुणसट्ठितिसट्ठीणं फुसिआ भागा हवेज्ज उ दिवड्ढा ।
अडनवचुअसट्ठीणं णव भागा अट्ठ सेसाणं ॥५१॥

(प्रे०) "तेऊअ" इत्यादि, तेजोलेश्यामार्गणायां पञ्चपञ्चाशदादीनां चतुर्णां षष्टेरेकषष्टेश्चेति षण्णां बन्धस्थानानां बन्धका लोकाऽसंख्येयभागं स्पृशन्ति, भावना त्वोघवत्कार्या, ओघेऽप्येतेषामेतावत्या एव स्पर्शनाया लाभात् । एकोनषष्टेस्त्रिषष्टेश्च बन्धकाः सार्धरज्जुं स्पृशन्ति, ईशानकल्पस्य समाप्तिः तिर्यग्लोकतः सार्धरज्जुं व्यतिक्रम्य भवति, सामान्यत ईशानान्तानामेव तेजोलेश्यायाः सद्भावः, ऊर्ध्वं तु पद्माया इत्यत ओघे पञ्चरज्जुस्पर्शनाया उक्तबन्धस्थानद्वये लाभेऽपि प्रस्तुते तु तावती न प्राप्यते । अष्टषष्टेर्नवषष्टेश्च बन्धकैर्नवरज्जवः स्पृष्टाः, देवानामेव प्रस्तुते उक्तबन्धस्थानद्वयस्य भावेन तद्वदेव प्रस्तुते स्पर्शना विज्ञेया इति । चतुःषष्ट्यादित्रयाणां सप्ततेस्त्रिसप्ततेश्चतुःसप्ततेश्च बन्धका अष्टौ रज्जूः स्पृशन्ति, देवानां गमनागमनक्षेत्रापेक्षया एषा भावनीया, नवरज्जवस्त्वत्र स्पर्शना न प्राप्यते; उक्तबन्धस्थानानामायुर्बन्धसहितत्वेन संज्ञिप्रायोग्यत्वेन वा एकेन्द्रियेषूत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घाते वर्तमानानां बन्धाभावात् । एकसप्ततेर्द्वासप्ततेश्च बन्धकानां स्पर्शना देवानां गमनागमनक्षेत्रप्रयुक्ता अष्टरज्जुप्रमाणा प्राप्यते, सास्वादनभावे देवानामेकेन्द्रियेषु कृतमारणान्तिकानां नवरज्जुस्पर्शना यद्यपि प्राप्यते, तथापि प्रस्तुतद्वारे सास्वादनमार्गणां विहाय तस्या अविवक्षितत्वेनाष्टरज्जुस्पर्शना दर्शिता, ॥५०-५१॥

अथ सास्वादनीनां मारणान्तिकसमुद्घातेनैकेन्द्रियेषूत्पित्सूनामूर्ध्वलोकसत्कायाश्चरमरज्जोः स्पर्शना अधिका भवति तस्याः सास्वादनेतरमार्गणास्वविवक्षितेऽपि तद् विवक्षायां तेषां यावति स्पर्शना भवति तां प्रमाणतो निरूपयिषया तेजोलेश्यायामेकसप्ततेर्द्वासप्ततेश्च बन्धस्थानद्वये सास्वादनगतजीवापेक्षया तां निरूपयन् शेषासु तामतिदिशन्नाह—

सासणभावेण पुणो पुट्ठा भागा णविगदुसयरीए ।
अणणाइ वि एगरज्जुविसेसो एवं जहारिहं णेयो ॥५२॥ (गीतिः)

(प्रे०) "सासणे"त्यादि, तेजोलेश्यायामिति प्रकरणगम्यम्, एकसप्ततेर्द्वासप्ततेश्च बन्धकैः गमनागमनाभ्यां देवैरष्टौ रज्जवः स्पृष्टाः । मिथ्यात्वावस्थायां भवचरमान्तर्मुहूर्ते मरणसमुद्घाते च वर्तमानो यो यत्रोत्पित्सुः स तत्प्रायोग्या एव प्रकृतीर्बध्नाति, अतो द्वासप्ततिबन्धकमिथ्यादृष्टिदेवानामूर्ध्वलोकसत्कचरमरज्जुस्पर्शना नैव प्राप्यते । मिथ्यादृष्टिदेवानां एकसप्ततेस्तु बन्धस्थानमेव नास्ति, अतः सास्वादनिनोऽपेक्ष्यायुष्कबन्धरहितोक्तबन्धस्थानद्वयबन्धकदेवानां सिद्धशिलायामुत्पित्सूनां मरणसमुद्घातगतानामूर्ध्वलोकसत्कचरमरज्जोरपि स्पर्शनाया लाभात् नव रज्जुप्रमाणा स्पर्शना उक्तबन्धस्थानद्वये प्राप्यते इति । एवं च यासु यासु मार्ग-

णासु पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो देवा वा तासु तासु पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यं बध्नतो भवनपत्या-दिदेवान् पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिरश्चः सास्वादनगतानधिकृत्य चरमरज्जोः स्पर्शना विज्ञेया । मनुष्यप्रायोग्यं देवप्रायोग्यं वा बध्नतां सास्वादनिनां तु प्रायः चरमरज्जोः स्पर्शना नास्ति । एकेन्द्रियतयोत्पित्सूनां तत्समुद्घातगतानां वा एकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धाऽसम्भवेन तिर्यक्प्रायोग्य-स्यैव बन्धसम्भवात् । प्रागुक्तमार्गणासु एतदनुसारेण भावनीयं सुधिया इति ॥५२॥

अथ पद्मलेश्यायां प्राह—

पउमाए परिछुहिओ पंचछसत्तअडजुत्तवरणाणं ।
तह सट्ठिगमट्ठीणं असंखभागो जगस्स भवे ॥५३॥
छुहिआऽत्थि पच भागा गुणसट्ठितिसट्ठिसत्तरीणं च ।
सेसाणं सत्तरहं अड भागा फोमिआ णेया ॥५४॥

(प्रे०) "पउमाए" इत्यादि, पद्मलेश्यायां पञ्चपञ्चाशदादीनां चतुर्णां षष्टेरेकषष्टेश्चेति षण्णां बन्धस्थानानां बन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा स्पर्शना प्राप्यते, भावना त्वोघवत् कार्या । एकोनषष्टेस्त्रिषष्टेः सप्ततेश्च बन्धकैः पञ्च रज्जवः स्पृष्टाः, देवेषूत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घात-गतानां तिरश्चोऽधिकृत्य भावना कार्या, यथा चैकोनषष्टेस्त्रिषष्टेश्चौघे भावना विहिता तथा त्रयाणां बन्धस्थानानां भावना ज्ञेया । सप्ततेः सास्वादनगुणस्थानगततिर्यगपेक्षया इति । शेषाणां सप्तबन्ध-स्थानानां बन्धकैरष्टौ रज्जवः स्पृष्टाः, देवानां गमनागमनक्षेत्रापेक्षया सा विभावनीया, शेषबन्ध-स्थानानीमानि-चतुःषष्ट्यादीनि त्रीणि, एकसप्तत्यादीनि च चत्वारि, एवं सप्तेति ॥५३-५४॥

अथ शुक्ललेश्यायां प्राह—

सुक्काअ सव्वलोगो एगस्सऽत्थि चउपणछसट्ठीणं ।
भागिगदुतिसयरीण छ अणोसि जगअसंखंसो ॥५५॥

(प्रे०) "सुक्काअ" इत्यादि, शुक्ललेश्यायामेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थाननिर्वर्तकानां स्पर्शना सर्वलोको भवति, भावना ओघवत् कार्या । चतुःषष्टेः पञ्चषष्टेः षट्षष्टेरेकसप्ततेर्द्वासप्ततेस्त्रि-सप्ततेश्चेति षण्णां स्थानानां प्रत्येकं बन्धकानां स्पर्शना षड्रज्जुप्रमाणा भवति, आनतादिदेवानां गमनागमनक्षेत्रापेक्षया भावना कार्या। मार्गणायां शेषाणां बन्धप्रायोग्यस्थानानां बन्धकैर्लोकाऽ-संख्येयभागः स्पृष्टः, सप्तदशाद्यष्टपञ्चाशत्पर्यन्तबन्धस्थानानां भावना त्वोघवत् कार्या, एकोन-षष्टेस्त्रिषष्टेश्च बन्धकानां स्पर्शना मनुष्यापेक्षया लोकाऽसंख्येयभागमात्रा प्राप्यते । तिर्यगपेक्षया तु तेषामानतादिदेवेषूत्पादाऽभावेन प्रस्तुतमार्गणायां मरणसमुद्घाताभावात् लोकाऽसंख्येयभाग-

गुणसट्ठितिसट्ठीणं फुसिश्रा भागा हवेज्ज उ दिवड्ढा ।
अडनवजुअसट्ठीणं णव भागा अट्ठ सेसाणं ॥५१॥

(प्रे०) "तेऊअ" इत्यादि, तेजोलेश्यामार्गणायां पञ्चपञ्चाशदादीनां चतुर्णां षष्टेरेकषष्टेश्चेति षण्णां बन्धस्थानानां बन्धका लोकाऽसंख्येयभागं स्पृशन्ति, भावना त्वोघवत्कार्या, ओघेऽप्येतेषामेतावत्या एव स्पर्शनाया लाभात् । एकोनषष्टेस्त्रिषष्टेश्च बन्धकाः सार्धरज्जुं स्पृशन्ति, ईशानकल्पस्य समाप्तिः तिर्यग्लोकतः सार्धरज्जुं व्यतिक्रम्य भवति, सामान्यत ईशानान्तानामेव तेजोलेश्यायाः सद्भावः, ऊर्ध्वं तु पद्मायाः इत्यत ओघे पञ्चरज्जुस्पर्शनाया उक्तबन्धस्थानद्वये लाभेऽपि प्रस्तुते तु तावती न प्राप्यते । अष्टषष्टेर्नवषष्टेश्च बन्धकैर्नवरज्जवः स्पृष्टाः, देवानामेव प्रस्तुते उक्तबन्धस्थानद्वयस्य भावेन तद्वदेव प्रस्तुते स्पर्शना विज्ञेया इति। चतुःषष्ट्यादित्रयाणां सप्ततेस्त्रिसप्ततेश्चतुःसप्ततेश्च बन्धका अष्टौ रज्जूः स्पृशन्ति, देवानां गमनागमनक्षेत्रापेक्षया एषा भावनीया, नवरज्जवस्त्वत्र स्पर्शना न प्राप्यते; उक्तबन्धस्थानानामायुर्बन्धसहितत्वेन संज्ञिप्रायोग्यत्वेन वा एकेन्द्रियेषूत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घाते वर्तमानानां बन्धाभावात् । एकसप्ततेर्द्वासप्ततेश्च बन्धकानां स्पर्शना देवानां गमनागमनक्षेत्रप्रयुक्ता अष्टरज्जुप्रमाणा प्राप्यते, सास्वादनभावे देवानामेकेन्द्रियेषु कृतमारणान्तिकानां नवरज्जुस्पर्शना यद्यपि प्राप्यते, तथापि प्रस्तुतद्वारे सास्वादनमार्गणां विहाय तस्या अविवक्षितत्वेनाष्टरज्जुस्पर्शना दर्शिता, ॥५०-५१॥

- अथ सास्वादनीनां मारणान्तिकसमुद्घातेनैकेन्द्रियेषूत्पित्सूनामूर्ध्वलोकसत्कायाश्चरमरज्जोः स्पर्शना अधिका भवति तस्याः सास्वादनेतरमार्गणास्वविवक्षितेऽपि तद् विवक्षायां तेषां यावति स्पर्शना भवति ता प्रमाणतो निरूपयिषया तेजोलेश्यायामेकसप्ततेर्द्वासप्ततेश्च बन्धस्थानद्वये सास्वादनगतजीवापेक्षया तां निरूपयन् शेषासु तामतिदिशन्नाह—

सासणभावेण पुणो पुट्ठा भागा णवेिगदुसयरीए ।
अराणाइ वि एगरज्जुविसेसो एव जहारिहं णेयो ॥५२॥ (गीतिः)

(प्रे०) "सासणे"त्यादि, तेजोलेश्यायामिति प्रकरणगम्यम्, एकसप्ततेर्द्वासप्ततेश्च बन्धकैः गमनागमनाभ्यां देवैरष्टौ रज्जवः स्पृष्टाः । मिथ्यात्वावस्थायां भवचरमान्तर्मुहूर्ते मरणसमुद्घाते च वर्तमानो यो यत्रोत्पित्सुः स तत्प्रायोग्या एव प्रकृतीर्बध्नाति, अतो द्वासप्ततिबन्धकमिथ्यादृष्टिदेवानामूर्ध्वलोकसत्कचरमरज्जुस्पर्शना नैव प्राप्यते । मिथ्यादृष्टिदेवानां एकसप्ततेस्तु बन्धस्थानमेव नास्ति, अतः सास्वादनिनोऽपेक्ष्यायुष्कबन्धरहितोक्तबन्धस्थानद्वयबन्धकदेवानां सिद्धशिलायामुत्पित्सूनां मरणसमुद्घातगतानामूर्ध्वलोकसत्कचरमरज्जोरपि स्पर्शनाया लाभात् नव रज्जुप्रमाणा स्पर्शना उक्तबन्धस्थानद्वये प्राप्यते इति । एवं च यासु यासु मार्ग-

णासु पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो देवा वा तासु तासु पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्य बध्नतो भवनपत्या-दिदेवान् पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिरश्चः सास्वादनगतानधिकृत्य चरमरज्जोः स्पर्शना विज्ञेया । मनुष्यप्रायोग्यं देवप्रायोग्यं वा बध्नतां सास्वादनिनां तु प्रायः चरमरज्जोः स्पर्शना नास्ति । एकेन्द्रियतयोत्पित्सूनां तत्समुद्घातगतानां वा एकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धाऽसम्भवेन तिर्यक्प्रायोग्य-स्यैव बन्धसम्भवात् । प्रागुक्तमार्गणासु एतदनुसारेण भावनीयं सुधिया इति ॥५२॥

अथ पद्मलेश्यायां प्राह–

पउमाए परिछुहिओ पंचछसत्तअडजुत्तवरणाणं ।
तह सट्ठिगसट्ठीणं असंखभागो जगस्स भवे ॥५३॥
छुहिआऽत्थि पच भागा गुणसट्ठितिसट्ठिसत्तरीणं च ।
सेसाणं सत्तरहं अड भागा फोसिआ णेया ॥५४॥

(प्रे०) "पउमाए" इत्यादि, पद्मलेश्यायां पञ्चपञ्चाशदादीनां चतुर्णां षष्टेरेकषष्टेश्चेति षण्णां बन्धस्थानानां बन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा स्पर्शना प्राप्यते, भावना त्वोघवत् कार्या। एकोनषष्टेस्त्रिषष्टेः सप्ततेश्च बन्धकैः पञ्च रज्जवः स्पृष्टाः, देवेषूत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घात-गतानां तिरश्चोऽधिकृत्य भावना कार्या, यथा चैकोनषष्टे स्त्रिषष्टेश्चौघे भावना विहिता तथा त्रयाणां बन्धस्थानानां भावना ज्ञेया । सप्ततेः सास्वादनगुणस्थानगततिर्यगपेक्षया इति । शेषाणां सप्तबन्ध-स्थानानां बन्धकैरष्टौ रज्जवः स्पृष्टाः, देवानां गमनागमनक्षेत्रापेक्षया सा विभावनीया, शेषबन्ध-स्थानानीमानि-चतुःषष्ट्यादीनि त्रीणि, एकसप्तत्यादीनि च चत्वारि, एवं सप्तेति ॥५३-५४॥

अथ शुक्ललेश्यायां प्राह—

सुक्काअ सव्वलोगो एगस्सऽत्थि चउपणछसट्ठीणं ।
भागिगदुतिसयरीण छ अणेसि जगअसंखंसो ॥५५॥

(प्रे०) "सुक्काअ" इत्यादि, शुक्ललेश्यायामेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थाननिर्वर्तकानां स्पर्शना सर्वलोको भवति, भावना ओघवत् कार्या । चतुःषष्टेः पञ्चषष्टेः षट्षष्टेरेकसप्ततेर्द्विसप्ततेस्त्रि-सप्ततेश्चेति षण्णां स्थानाना प्रत्येकं बन्धकानां स्पर्शना षड्रज्जुप्रमाणा भवति, आनतादिदेवानां गमनागमनक्षेत्रापेक्षया भावना कार्या। मार्गणायां शेषाणां बन्धप्रायोग्यस्थानानां बन्धकैर्लोकाऽ-संख्येयभागः स्पृष्टः, सप्तदशाद्यष्टपञ्चाशत्पर्यन्तबन्धस्थानानां भावना त्वोघवत् कार्या, एकोन-षष्टेस्त्रिषष्टेश्च बन्धकानां स्पर्शना मनुष्यापेक्षया लोकाऽसंख्येयभागमात्रा प्राप्यते । तिर्यगपेक्षया तु तेषामानतादिदेवेषूत्पादाऽभावेन प्रस्तुतमार्गणायां मरणसमुद्घाताभावात् लोकाऽसंख्येयभाग-

प्रमाणा सा विज्ञेया । षष्टेरेकषष्टेश्चौघवल्लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा स्पर्शना विज्ञेया । सप्ततेर्बन्धकानां स्पर्शना एकोनषष्टिबन्धस्थानस्पर्शनावद्विज्ञेया । भावना तु स्वयं कार्या सुगमा च । यतः शुक्ललेश्यायां तिरश्चां लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा स्पर्शना प्राप्यते, मनुष्येषु केवलिनां सर्वलोकप्रमाणा, शेषमनुष्याणां लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा स्पर्शना ज्ञेया, आनतादिकल्पचतुष्कदेवानां षड्रज्जुप्रमिता, ग्रैवेयकादिसुराणां तु लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा स्पर्शना प्राप्यते, इत्येवं मार्गणागतजीवानां स्पर्शनामवधार्य बन्धस्थानगतानां स्पर्शना विभावनीया ॥५५॥

एतर्हि अभव्यमिथ्यात्वमार्गणयोः प्रस्तुतस्पर्शनां प्राह—

अभवियमिच्छत्तेसुं भागा एगारसेगसयरीए ।
पुट्ठोऽत्थि सव्वलोगो सेसट्ठाणाण अट्ठण्हं ॥५६॥

(प्रे०) "अभविये"त्यादि, अभव्ये मिथ्यात्वे च एकसप्ततेर्बन्धकैरेकादश रज्जवः स्पृष्टाः, भावना तु पञ्चेन्द्रियतिरश्चोऽपेक्ष्य अधोलोकसत्कषड्रज्जवो नरकप्रायोग्यं बध्नद्भिः तथा ऊर्ध्वलोकसत्कपञ्चरज्जवो देवप्रायोग्यं बध्नद्भिस्तिर्यग्भिः प्राप्यते, अत तिर्यग्वद् भावना कार्या इति । शेषाणां मार्गणाप्रायोग्याणामष्टानां बन्धस्थानानां बन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्टः, सूक्ष्मैकेन्द्रियाणां तद्बन्धकत्वात्, भावना त्वोघवद्विभावनीया इति ॥५६॥

अथ क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां प्राह—

एगस्स सव्वलोगो खइए तिण्ह चउसट्ठिआईणं ।
अडभागा सेसाणं असंखभागो जगस्स भवे ॥५७॥

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि, क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायामेकस्य बन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्टः, भावना त्वोघवत् कार्या । चतुःषष्ट्यादीनां त्रयाणां बन्धकैरष्टभागाः स्पृष्टाः, देवानां गमनागमनक्षेत्रस्य तावन्मात्रत्वात्, भावना त्वोघे यथा चतुःषष्टेः कृता तथा कार्या । शेषाणां बन्धस्थानानां बन्धकैर्लोकस्याऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, सप्तदशाद्यष्टपञ्चाशत्पर्यन्तानां त्रयोदशानां षष्टेरेकषष्टेश्च भावना ओघवत् कार्या । अत्र षष्टेर्बन्धकाः केवलं मनुष्या एव विज्ञेयाः । एकोनषष्टेरपि बन्धकाः, केवलं देशविरतमनुष्या एव, अतस्तस्य अपि स्पर्शना तथैव लोकाऽसंख्येयभागः । त्रिषष्टेर्बन्धकास्तिर्यग्मनुष्याः, तत्र मनुष्याऽपेक्षया लोकाऽसंख्येयभाग एव स्पर्शना प्राप्यते । तिर्यगपेक्षया तु प्रस्तुते युगलिकतिरश्चामेव प्रवेशः, तेषां चेशानान्तेष्वेवोत्पादः, तेषां स्वस्थानस्य लोकाऽसंख्येयभागत्वे लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा स्पर्शना प्राप्यते, स्वस्थानस्य तिर्यक्प्रतररज्जुसंख्येयबहुभागादिप्रमाणत्वे सति ऊर्ध्वं च त्रयोदशप्रस्तटं यावदुत्पादे च सार्धरज्जुप्रमाणा रज्जुसंख्येय-

भागमिता वा सा स्यात् । प्रथमप्रस्तटे एवोत्पादे तु लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा स्यात् । अत्र प्रधानमतेन लोकाऽसंख्येयभाग एव सा प्राप्यते इति तथा मूले भणितम्, गौणमतं पुनः प्रागुत्तरप्रकृतिबन्धे दर्शितमिति ॥५७॥

अथ उपशमे मिश्रे च प्रस्तुतं प्राह—

चउसट्ठीअ उवसमे मीसे भागाऽट्ठ फोसिआऽणेया ।
लोगासंखियभागो बंधट्ठाणाण सेसाणं ॥५८॥

(प्रे०) "चउसट्ठीअ" इत्यादि, उपशमसम्यक्त्वे चतुःषष्टेर्बन्धकैरष्टौ भागाः स्पृष्टाः, देवानां गमनागमनक्षेत्रस्यैतावन्मात्रत्वात् प्रस्तुतमार्गणायामुक्तबन्धस्थानं विहायान्यबन्धस्थानानां पर्याप्तावस्थागतदेवानामभावात्, यद्यप्युपशमश्रेणितो मरणमासाद्य देवेषूत्पन्नस्य भवाद्यान्तर्मुहूर्ते उपशमसम्यक्त्वस्य लाभेन तत्र च प्राग्बद्धजिननामसत्कर्मणां पञ्चषष्टेर्बन्धस्थानमन्तर्मुहूर्तं यावत्प्राप्यते, तथापि तद्बन्धकानमपर्याप्तत्वेन तेषां स्पर्शना तु लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा एव भवतीत्यवधेयम् । शेषाणामष्टादशबन्धस्थानानां स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा भवति । एकाद्यष्टपञ्चाशन्पर्यन्तबन्धस्थानानां षष्टेश्च मनुष्येष्वेव लाभात् सयोगिकेवलिनामप्रवेशाच्च, शेषभावना त्वोघवत् कार्या । एकोनषष्टेस्त्रिषष्टेर्बन्धकतया तिर्यग्मनुष्याणां लाभेऽपि तिरश्चां मरणस्य मरणसमुद्घातस्य चाऽभावात् लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा एव स्पर्शना प्राप्यते । मनुष्याणां तु लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा स्पर्शना सुगमेति । पञ्चषष्टिबन्धकानां स्पर्शना तु भाविता एवेति । सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायां त्रिषष्टेर्बन्धकैर्लोकस्यासंख्येयभागः स्पृष्टः, तिर्यग्मनुष्याणां तद्बन्धकत्वेऽपि प्रस्तुतमार्गणायां मारणान्तिकसमुद्घाताभावेन स्वस्थानस्पर्शनाया एव लाभात् । चतुःषष्टेर्बन्धकैरष्टभागाः स्पृष्टाः, देवानां गमनागमनक्षेत्रस्य तावत्प्रमाणत्वात् । उक्तबन्धस्थानद्वयादन्यबन्धस्थानमेव न भवति, अतो न तत्स्पर्शनाया निरूपणावकाशः ॥५८॥

अथ सास्वादनमार्गणायां प्राह—

सासाणे सयरीए पणभागा फोसिआ तिसयरीए ।
भागाऽट्ठ बार दोण्हं बंधट्ठाणाण सेसाणं ॥५९॥

(प्रे०) "सासाणे" इत्यादि, सास्वादनमार्गणायां सप्ततेर्बन्धकैः पञ्चरज्जवः स्पृष्टाः, एषा संज्ञितिरश्चां सहस्रारदेवलोके उत्पत्स्नूनां मारणान्तिकसमुद्घातप्रयुक्ता द्रष्टव्या । त्रिसप्ततेर्बन्धकैरष्टौ भागाः स्पृष्टाः, देवानां गमनागमनप्रयुक्ता एषा स्पर्शना विज्ञेया, आयुष्कबन्धसहितत्वेन शेषगतित्रयापेक्षया लोकासंख्येयभागप्रमाणा स्पर्शना प्राप्यते इत्यवधेयम् । शेषयोर्द्वयोर्बन्धस्थानयोर्बन्धकानां स्पर्शना द्वादशरज्जवः प्राप्यते, अधोलोकसत्कपञ्चरज्जूनां नारकानपेक्ष्य

तथा ऊर्ध्वलोकसत्कसप्तरज्जूनां देवानधिकृत्य तिरश्चोऽपेक्ष्य वा सा विज्ञेया इति । अत्रोर्ध्व-लोकसत्कचरमा रज्जुः मरणसमुद्घातापेक्षया प्राप्यते, सा चोक्तबन्धस्थानयोः सास्वादन मार्गणामधिकृत्यैव भावनीया, न पुनरन्यमार्गणासु तथैव प्रस्तुते विवक्षितत्वात् ॥५९॥

अथ असंज्ञिमार्गणायां बन्धस्थानानां स्पर्शनां प्राह–

लोगासंखियभागो होइ असण्णिम्मि एगसयरीए ।
पुट्ठोऽत्थि सव्वलोगो सेसट्ठाणाण अट्ठण्हं ॥६०॥

(प्रे०) "लोगासंखियभागो" इत्यादि, असंज्ञिमार्गणायामेकसप्ततेर्लोकस्यासंख्येयभागः स्पृष्टः, असंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्ततिरश्चां प्रथमनरके भवनपतिव्यन्तरमध्ये एव नरके देवे चोत्पादात् तेषां स्थानस्य च तिर्यग्लोके तदासन्ने एव चा भावात् लोकाऽसंख्येयभागतोऽधिका स्पर्शना नैव प्राप्यते इति । मार्गणायां शेषाणां बन्धप्रायोग्याणामष्टानां बन्धस्थानानां बन्धकैः सर्व-लोकः स्पृष्टः । भावना त्वोघवदेव कार्या, सूक्ष्मैकेन्द्रियाणां मार्गणान्तर्गतत्वात् तेषामष्टानामपि बन्धस्थानानां बन्धकत्वेन स्वस्थानादपि सर्वलोकप्रमाणस्पर्शनाया लाभाच्च ॥६०॥ अथ उक्त-शेषमार्गणासु प्रस्तुतां स्पर्शनां प्रदर्शयन्नाह—

सेसासु मग्गणासुं असंखभागो जगस्स परिपुट्ठो ।
सप्पाउग्गाण सयलबंधट्ठाणाण विण्णेयो ॥६१॥

(प्रे०) "सेसासु" इत्यादि, उक्तशेषा मार्गणा इमाः–प्रथमनरक नवग्रैवेयकसुरा-ऽनुत्तरपञ्चक–वैक्रियमिश्रा-हारका-हारकमिश्र--मनःपर्यवज्ञान-सामायिक -च्छेदोपस्थापनीय-परि-हारविशुद्धि-सूक्ष्मसंपरायमार्गणा एतासु त्रयोविंशतौ मार्गणागतजीवानां स्पर्शनाया एव लोका-ऽसंख्येयभागप्रमाणत्वात् एतासु बन्धप्रायोग्याणां सर्वबन्धस्थानानां बन्धकानां स्पर्शना लोका-ऽसंख्येयभागप्रमाणा भवति । एतासु बन्धप्रायोग्यस्थानानि सत्पदद्वारतोऽवधेयानि सुग-मानि च ॥६१॥

॥ श्रीप्रेमप्रभाटीकाविभूषिते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिबन्धे द्वितीये प्रकृतिबन्धस्थानाधिकारे परस्थाननिरूपणाया दशमं स्पर्शनाद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ एकादशं नानाजीवाश्रयं कालद्वारम् ॥

अथ परस्थाननिरूपणायां नानाजीवाश्रयं कालद्वारं निरूरूपयिषुरोघतः प्राह-

उत्तरपयडीण लहू थावराह सत्तरहआइगाण खणो ।
जेट्ठो अंतमुहुत्तं दुविहो होइ इगसट्ठीए ॥६२॥
सयरीअ लहू समयो चउमयरीए भवे मुहुत्तंतो ।
पल्लासंखंसोऽणाणो दोराह वि सेसाण सव्वद्धा ॥६३॥

(प्रे०) "उत्तरपयडीणे"त्यादि, ओघतो मार्गणासु च ये बन्धस्थानानि ध्रुवाणि तेषां बन्धकालः सर्वाद्धा प्राप्यते, तत्र प्रथम-चतुर्थ-पञ्चम-षष्ठ-सप्तम-त्रयोदशेषु षट्सु ध्रुवगुणस्थानकेषु यानि बन्धस्थानानि आयुष्कबन्धरहितानि तानि ध्रुवाणि, तेषां बन्धकालः सर्वाद्धा, तानि चेमानि-एक पञ्चपञ्चाशत्-षट्पञ्चाशत्-सप्तपञ्चाशद-ष्टपञ्चाशदे-कोनषष्टि-षष्टि-त्रिषष्टि-चतुःषष्टि-पञ्चषष्टि-षट्षष्टि-सप्तषष्ट्य-ष्टषष्ट्य -कोनसप्तत्ये-कसप्तति-द्वासप्तति-त्रिसप्ततिरूपाणि सप्तदशबन्धस्थानानि बन्धतया ध्रुवाणि, तद्बन्धकाः सदैव प्राप्यन्त इति भावः, अत्र केवलं सप्तषष्टे र्बन्धस्यायुर्बन्धसहितत्वेऽपि तद्बन्धकानामानन्त्याद्ध्रुवत्वमवसेयमिति । एवं ध्रुवमार्गणास्वप्युक्तगुणस्थानकषट्केभ्यो यावन्ति गुणस्थानानि सम्भवन्ति तासु आयुर्बन्धरहितानि बन्धप्रायोग्याणि बन्धस्थानानि ध्रुवाणि = बन्धतया सर्वदैव प्राप्यन्ते, विहाय औदारिकमिश्रकार्मणानाहारकमार्गणात्रये चतुर्थ-त्रयोदशगुणस्थानबन्धप्रायोग्याणि स्थानानि. कुतः ? उक्तमार्गणात्रयस्य ध्रुवत्वेऽपि तत्र दर्शितगुणस्थानद्वयस्य नानाजीवानपेक्ष्याप्यध्रुवत्वात्, तथा च तत्र सम्भवद्बन्धस्थानानामप्यध्रुवत्वं विज्ञेयम्, तद्बन्धकालस्तूपरिष्टाद् वक्ष्यामः ।

अथौघतोऽध्रुवबन्धस्थानानां बन्धकाल दर्शयामः, तत्र सप्तदशाष्टादशैकोनविंशतिविंशत्येकविंशतिद्वाविंशतिषड्विंशतित्रिपञ्चाशच्चतुःपञ्चाशद्रूपाणां नवबन्धस्थानानां श्रेणावेव अष्टमादिदशमान्तगुणस्थानेषु लाभेन तेषां बन्धस्य जघन्यकालः समयः, एकादिजीवस्य बन्धकतया लाभे सति तत्तद्बन्धप्रारम्भाद्द्वितीयसमये तस्य मरणस्यापि सम्भवात् । ज्येष्ठकालस्त्वन्तर्मुहूर्तम्, नानाजीवानपेक्ष्यापि उक्तगुणस्थानत्रयकालस्योत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् । एवं मार्गणास्वपि उक्तनवस्थानेभ्यः सम्भवद्बन्धस्थानानां द्विविधकालो दर्शितरूपो विज्ञेयः ।

एकषष्टेर्बन्धकालो जघन्यत उत्कृष्टतश्चान्तर्मुहूर्तम्, उक्तबन्धस्थानस्य बन्धका देशविरतिमनुष्या जिननामदेवायुर्बन्धसहितदेवप्रायोग्यबन्धका एव, संख्येयाश्च ते, संख्येयत्वेनायुष्कबन्धयुक्तत्वेन च नानाजीवापेक्षया जघन्योत्कृष्टबन्धकालस्य तथात्वात् । अयं भावः–आयुर्बन्धकाले

देशविरतेरपरावर्तनात् आयुर्बन्धकालस्य जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वाच्च उक्तबन्धस्थानजघन्यकालस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् । उत्कृष्टकालस्तु यत्रायुर्बन्धकाः संख्येयास्तत्रायुर्बन्धकालस्योत्कृष्टतोऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वेन प्रस्तुत उत्कृष्टकालस्य तथा निर्देशः ।

सप्ततेर्बन्धकालो जघन्यतः समयः, सास्वादनजघन्यकालस्य समयप्रमाणत्वेन तिर्यग्मनुष्यानपेक्ष्य स विज्ञेयः । उत्कृष्टकालस्तु पल्योपमस्यासंख्येयभागः, सास्वादनतिरश्चां कालस्य तथात्वात् । किञ्च आयुर्बन्धसहितं नाम्नः षड्विंशतिं बध्नतां मिथ्यादृष्टीनां कालस्यापि प्रकृष्टतः पल्यासंख्येयभागप्रमाणत्वात्, यतो यत्र यद्बन्धस्थानमायुर्बन्धसहितं तद्बन्धकाश्चासंख्येयलोकतो न्यूना असंख्येयास्तत्र तद्बन्धस्थानप्रकृष्टकालस्य पल्योपमस्यासंख्येयभागप्रमाणत्वमवसेयमिति ।

चतुःसप्ततेर्बन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम्, तद्बन्धस्थानस्यायुर्बन्धयुक्तत्वे सति बन्धकानामसंख्येयलोकतो न्यूनत्वात् । उत्कृष्टतस्तु पल्योपमस्यासंख्येयभागः, भावना तु सप्ततिबन्धस्थानवदायुर्बन्धकानपेक्ष्य कार्या इति । तदेवमोघतोऽनेकजीवाश्रयो बन्धस्थानानां कालो निरूपितः ॥६२-६३॥ अथ मार्गणासु बन्धकानां नानाजीवाश्रितं कालं निरूपयन्नाह—

णिरयपढमाइतिणिरयतइआइगअट्ठमंतदेवेसु ।
अंतमुहुत्तं दुविहो छासट्ठीए मुणेयव्वो ॥६४॥
पगसयरीअ समयो ज्जउसयरीए लहू मुहुत्तंतो ।
पल्लासंखंसोऽणो दोण्ह वि सेसाण सव्वद्धा ॥६५॥
तुरिआइतिणिरयेसुं पणसट्ठीअ दुविहो मुहुत्तंतो ।
एसु तह चरमणिरये सेससठाणाण णिरयव्व ॥६६॥

(प्रे०) "णिरये"त्यादि, नरकगत्योघ-प्रथमादिनरकत्रिक तृतीयाद्यष्टमान्तषड्देवमार्गणास्वनेकजीवानाश्रित्य षट्षष्टेर्बन्धस्य जघन्यत उत्कृष्टतश्च कालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति, सम्यग्दृष्टीनां जिननाममनुष्यायुर्बन्धेन सहैवोक्तबन्धस्थानस्य भावेन तद्बन्धकानां संख्येयत्वात् तद्बन्धस्थानसान्तरत्वाच्च, भावना त्वोघोक्तैकषष्टिबन्धस्थानकालवत् कार्या ।

एकसप्ततेर्बन्धस्य जघन्यकालः समयः, उत्कृष्टकालस्तु पल्योपमस्यासंख्येयभागः, उक्तमार्गणासु सास्वादनकालस्य तथात्वात् सास्वादनिन एवोक्तबन्धस्थानस्य लाभाच्च । चतुःसप्ततेर्बन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम्, ज्येष्ठस्तु पल्योपमस्यासंख्येयभागः, भावना त्वोघवत् कार्या ।

उक्तदशमार्गणासु शेषाणां बन्धस्थानानां चतुःषष्टिपञ्चषष्टिद्वासप्ततित्रिसप्ततिबन्धस्थानानां चतुर्णां बन्धकालः सर्वाद्धा भवति ।

एवं चतुर्थादिनरकत्रये बन्धस्थानानां कालो विज्ञेयः, केवलं प्रस्तुते जिननाम्नो बन्धाभावात् षट्षष्टिबन्धस्थानवत् पञ्चषष्टेर्बन्धकालो विज्ञेयः । अत्र पञ्चषष्टौ पर्याप्तमनुष्यप्रायोग्यस्यैवायुर्बन्धभावेन तद्बन्धकानां संख्येयत्वात् । शेषबन्धस्थानानि त्रीणि, तेषां बन्धकालः सर्वाद्धा भवति । एकसप्ततेश्चतुःसप्ततेश्च नरकौघदर्शितप्रमितो द्विविधबन्धकालो विज्ञेय इति । सप्तमनरकेऽप्येवमेव, केवलं प्रस्तुते मनुष्यायुषो बन्धाऽभावात् पञ्चषष्टेरपि बन्धस्थानं नास्ति, अत एकसप्ततिश्चतुःसप्ततिश्चे त्यध्रुवबन्धस्थानद्वयम्, चतुःषष्टिद्वासप्ततित्रिसप्ततिश्चेति बन्धस्थानत्रयं ध्रुवम् । भावना तु नरकौघवत् कार्या सुगमा च ॥६४-६६॥ अथ तिर्यग्गत्योघमार्गणायां प्राह—

तिरिये सट्ठीअ तहा चउसट्ठिचउसयरीण विसेसोयो ।
अंतमुहुत्तं हस्सो सयरीए होअए समयो ॥६७॥
पल्लासंखियभागो ताण चउण्ह वि गुरू मुणेयव्वो ।
सव्वद्धाऽत्थि णवण्हं सेसाणं बंधठाणाणं ॥६८॥

(प्रे०) "तिरिये" इत्यादि, तिर्यग्गत्योघे षष्टेश्चतुःषष्टेश्चतुःसप्ततेश्चेति बन्धस्थानत्रयस्य प्रस्तुते आयुर्बन्धरहितत्वात् तद्बन्धकानां चाद्यद्वयस्य पल्यासंख्येयभागप्रमाणत्वेन तृतीयस्य प्रतरासंख्येयभागप्रमाणत्वेन चासंख्येयलोकतो न्यूनत्वाच्च जघन्यबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणः, ज्येष्ठकालस्तु पल्योपमस्यासंख्येयभागो विज्ञेयः । सप्ततेर्बन्धस्य जघन्यकालः समयः, ज्येष्ठकालस्तु पल्योपमस्यासंख्येयभागः, भावना त्वोघवत् कार्या सुगमा च । शेषाणां नवपञ्चाशतस्त्रिषष्टेः षट्षष्ट्यादिचतुर्णामेकसप्तत्यादित्रयाणां चेति नवानां बन्धस्थानानां नानाजीवापेक्षया ध्रुवत्वात् तद्बन्धकानामन्तरं नास्ति, यथासंभवं प्रथम-चतुर्थ-पञ्चमगुणस्थानेषु ध्रुवरूपेषु तद्बन्धभावात् आयुष्कबन्धरहितत्वाच्च, केवलं सप्तषष्टेरायुर्बन्धसहितत्वेऽपि तद्बन्धकानामनन्तत्वेन ध्रुवत्वात्, भावना त्वोघवत् कार्या सुगमा च ॥६७-६८॥ एतर्हि पञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु प्राह—

तिपणिंदियतिरियेसुं तिरियव्व णवरि लहु मुहुत्तंतो ।
सडसट्ठीए जेट्ठो असंखभागोऽत्थि पल्लस्स ॥६९॥

(प्रे०) "तिपणिंदिय" इत्यादि, पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-तत्पर्याप्त-तिरश्चीमार्गणात्रये तिर्यग्गत्योघवत् सर्वबन्धस्थानानां बन्धकालो विज्ञेयः, उभयत्र बन्धस्थानानां समानत्वात्, भावनापि सर्वा तद्वदेव कार्या । केवलं प्रस्तुतमार्गणात्रये सप्तषष्टेर्बन्धकानामायुर्बन्धसहितत्वेनाऽध्रुवत्वं भवति;

प्रस्तुतमार्गणागतजीवानामेव प्रतरासंख्येयभागप्रमाणत्वात् । सप्तषष्टेर्बन्धकालस्तु यथा चतुःसप्ततेः प्राप्यते तथा द्रष्टव्यः, स च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम्, ज्येष्ठकालस्तु पल्योपमस्यासंख्येयभागः ॥६९॥ अथ अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु बन्धकालं निरूपयन्नाह–

असमत्तपणिंदितिरियपणिंदियतसेसु सव्वविगलेसु ।
पज्जत्तबायरपुढविचउक्कपत्ते अकायेसुं ॥७०॥
ह्रस्सो सडसट्ठिसयरिचउसयरीणं भवे मुहुत्तंतो ।
पल्लासंखियभागो जेट्ठो सेसाण सव्वद्धा ॥७१॥

(प्रे०) "असमत्ते"त्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ् अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियः, अपर्याप्तत्रसकायः, नवविकलेन्द्रियभेदाः, पर्याप्तबादरपृथ्व्यप्तेजःवायुप्रत्येकवनस्पतिकायाः समुदिताः सप्तदश, तासु सर्वासु षट्षष्ट्यादीनि पञ्च द्वासप्तत्यादीनि त्रीणि चेत्यष्टौ बन्धस्थानानि, मार्गणासु जीवा असंख्येयलोकतो न्यूनाः, अत्र षट्षष्ट्यष्टषष्ट्येकोनसप्ततिद्वासप्ततित्रिसप्ततिरूपाणि पञ्चबन्धस्थानानि ध्रुवाणि, तद्बन्धकानां कालः सर्वाद्धा भवति । सप्तषष्टिसप्ततिचतुःसप्ततिरूपाणां त्रयाणां बन्धस्थानानामायुर्बन्धसहितत्वेनाध्रुवत्वात् तज्जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम्, ज्येष्ठकालस्तु पल्योपमस्यासंख्येयभागः, मार्गणागतजीवानामसंख्येयलोकतो न्यूनत्वे सत्यसंख्येयपरिमाणत्वादिति । ॥७० ७१॥ अथ मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणासु परस्थानबन्धस्थानानां बन्धकालमाह-

ओघव्व तिमणुएसुं सप्पाउग्गाण णवरि दुविहोऽत्थि ।
पणसट्ठीए तह सडसट्ठीअ लहू मुहुत्तंतो ॥७२॥
पल्लासंखियभागो सडसट्ठीए भवे णरम्मि गुरू ।
दोसु उ सडसट्ठिसयरिचउसयरीणं मुहुत्तंतो ॥७३॥

(प्रे०) "ओघव्वे"त्यादि, मनुष्यौघादिमार्गणात्रय एकाद्यष्टपञ्चाशदन्तानामेकषष्टेश्च ति पञ्चदशबन्धस्थानानां बन्धस्यौघेऽपि केवलं मनुष्येष्वेव भावेन तद्वदतिदेशः । एकोनषष्टेः, षष्टेः, त्रिषष्टे, चतुःषष्टेः, षट्षष्टेरष्टषष्टेरेकोनसप्ततेरेकसप्तत्यादित्रयाणां च बन्धस्यायुर्बन्धरहितत्वेन ध्रुवत्वात् सर्वदा तद्बन्धः प्राप्यते, ओघेऽपि तथेति तद्वदतिदेशः । अत्र षट्षष्ट्यादीनां षण्णां मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया भावना कार्या इति ।

पञ्चषष्टेर्बन्धस्य ओघे चतुर्थगुणस्थानगतजिननामबन्धकदेवनारकानपेक्ष्य ध्रुवत्वेऽपि प्रस्तुते मार्गणात्रयेऽपि देवनारकयोरेवाप्रवेशेन चतुर्थगुणस्थानगतजिननामदेवायुर्बन्धकानां मनुष्याणामेव तल्लाभेन तेषां च संख्येयत्वात् आयुर्बन्धसहितत्वाच्च तस्य पञ्चषष्टेर्बन्धस्य जघन्यकालो ज्येष्ठ-

कालश्चान्तर्मुहूर्तं भवति । पर्याप्तमनुष्यमानुषीमार्गणाद्वये सप्तषष्टेः चतुःसप्ततेश्च बन्धस्थानद्वयस्य जघन्यत उत्कृष्टतश्च बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तम् , सप्ततेर्जघन्यकालः समयः, सास्वादनकालस्य तथात्वात् , उत्कृष्टकालस्त्वन्तर्मुहूर्तम् । यत उक्तबन्धस्थानद्वयस्यौघे पल्योपमस्यासंख्येयभागप्रमाणज्येष्ठकालस्य लाभेऽपि सप्तषष्टेर्बन्धस्य सार्वकालीनत्वेऽपि च प्रस्तुते बन्धकजीवानामेव संख्येयत्वेनान्तर्मुहूर्तप्रमाणमेवोत्कृष्टकालो विज्ञेयः । मनुष्यौघे तु सप्तषष्टेः सप्ततेश्चतुःसप्ततेश्चेति त्रयाणां ज्येष्ठबन्धकालः पल्योपमस्यासंख्येयभागः प्राप्यते, तत्र स्थानद्वयस्य भावना ओघवत् , सप्तषष्टेश्चौघोक्तचतुःसप्ततिवद् भावना कार्या ।

जघन्यकालः पर्याप्तमनुष्यवत् सप्तषष्टेश्चतुःसप्ततेश्चान्तर्मुहूर्तम् , सप्ततेस्त्वेकसमयः । भावना त्वोघवत् कार्या, केवलं सप्तषष्टेर्बन्धस्यात्रासंख्येयलोकतो न्यूनबन्धकत्वेन सान्तरत्वात् तज्जघन्यकालः चतुःसप्ततिवद् विज्ञेय इति ॥७२-७३॥ अथ अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां प्राह—

आउजुअतिठाणाणं भिन्नमुहुत्तं लहू अपज्जणरे ।
समयोऽणोसि पल्लासंखंसोऽट्ठगइ अपि जेट्ठो ॥७४॥

(प्रे०) "आउजुअ" इत्यादि, अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां तस्या अध्रुवत्वेन षट्षष्ट्यष्टषष्टिनवषष्टिद्वासप्ततित्रिसप्ततिरूपाणां पञ्चानां बन्धस्थानानामायुर्बन्धं विनाऽपि लाभेन तेषां परावर्तमानत्वेन जघन्यबन्धकाल एकसमयः प्राप्यते, एकादिजीवस्य मार्गणायां लाभात् तस्य चोक्तबन्धस्थानानां समयान्तरे=बन्धद्वितीयसमये, परावर्तनात् । सप्तषष्टि-सप्तति-चतुःसप्तति-रूपाणां त्रयाणां बन्धस्थानानामत्रायुर्बन्धकाल एव लाभेन तेषां बन्धकालो जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम् । अत्र सास्वादनगुणस्थानाभावेन सप्ततेर्बन्धस्य नैकसमयो जघन्यकालः प्राप्यते । ज्येष्ठकालस्तु मार्गणायां बन्धप्रायोग्यसर्वबन्धस्थानानां पल्योपमस्यासंख्येयभागो विज्ञेयः, मार्गणाकायस्थितेर्नानाजीवापेक्षया पल्योपमस्यासंख्येयभागप्रमाणत्वात् ॥७४॥

अथ देवौघादिमार्गणासु बन्धप्रायोग्याणां बन्धकालं प्राह—

भिन्नमुहुत्तं दुविहो सुरईसाणंतदेवविउवे ।
छासट्ठीए समयो होइ लहू एगसयरीए ॥७५॥
अंतमुहुत्तं सत्तरिचउसयरीणऽत्थि तिगइ वि य जेट्ठो ।
पल्लासंखियभागो सेसाणं छगइ सव्वद्धा ॥७६॥
सगजोगाणोवमियरसुरेसु णवरि दुविहो मुहुत्तंतो ।
पणसट्ठितिसयरीणं कमसोऽत्थि भवणातिगाणयाईसु ॥७७॥ (गीतिः)

(प्रे०) "भिन्नमुहुत्त" मित्यादि, देवौघ-सौधर्मेशानमार्गणासु वैक्रिययोगे च चतुःषष्टि-पञ्चषष्टयष्टषष्टयेकोनसप्ततिद्वासप्ततित्रिसप्ततिबन्धस्थानानां षण्णां बन्धकालः सर्वाद्धा भवति । षट्षष्टेर्जघन्यत उत्कृष्टतश्च बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तम् , आयुर्बन्धकाले सम्यग्दृष्टीनामेव तल्लाभात् तादृशानां मनुष्यायुर्बन्धकानां संख्येयत्वाच्च । एकसप्ततेर्जघन्यकालः समयः, ज्येष्ठकालस्तु पल्योपमस्यासंख्येयभागः, सास्वादनगुणस्थान उक्तबन्धस्थानस्य लाभात् सास्वादनकालस्य तथात्वाच्च । सप्ततेश्चतुःसप्ततेश्च जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम् , आयुर्बन्धेन सहैवोक्तबन्धस्थानद्वयस्य लाभात् , ज्येष्ठकालस्तु पल्योपमस्यासंख्येयभागः, प्रस्तुते आयुर्बन्धकानां सान्तरत्वेनासंख्येयत्वेन च तत्कालस्य पल्योपमस्यासंख्येयभागप्रमाणत्वात् ।

भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कमार्गणात्रय एवमेव बन्धकालो विज्ञेयः, केवलं जिननाम्नो बन्धाभावेन षट्षष्टेर्बन्धस्थानस्यात्राभावात् पञ्चषष्टेर्बन्धस्थानस्यायुष्कबन्धयुक्तत्वेन तद्बन्धकानां संख्येयत्वेन च जघन्यत उत्कृष्टतश्च बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तं विज्ञेयः । सनत्कुमारादिसहस्रारान्तदेवेषु नरकौघादिना सममुक्त एव । तद्यथा-एतेषु षड्देवभेदेषु देवौघवदेव बन्धप्रायोग्यस्थानानां बन्धकालो भवति, अत्राऽष्टषष्टेर्नवषष्टेः सप्ततेश्च बन्धाभावात् तद्वर्जनं कार्यम् ।

आनतादिनवमग्रैवेयकान्तदेवेषु देवौघवत् स्वबन्धप्रायोग्यस्थानानां बन्धकालो विज्ञेयः । अत्राऽष्टषष्टेर्नवषष्टेः सप्ततेश्चतुःसप्ततेश्च बन्धस्थानानामभावः, तथाऽत्र त्रिसप्ततेरायुर्बन्धसहितत्वेन आयुर्बन्धकानामत्र संख्येयत्वाच्च तस्य बन्धकालो जघन्यत उत्कृष्टतश्चान्तर्मुहूर्तम् । अनुत्तरसुरमार्गणापञ्चके चतुःषष्टयादीनां त्रयाणामेव बन्धस्थानानां सद्भावः, तेषां बन्धकालो देवौघवद्विज्ञेय इति ॥७५-७७॥

अथ पञ्चेन्द्रियमार्गणाद्वये त्रसकायमार्गणाद्वयेऽन्यासु च प्राह–

दुपणिंदितसेसु भवे ओघव्व परं पणिंदितिरियव्व ।
सव्वसट्ठीए दुविहो एव तिमणवयजोगेसु परं ॥७८॥
इगसगजुअसट्ठीणं चउसयरीए लहू खणो एवं ।
दुमणवयेसुं णवरि सत्तरठाणव्व एगस्स ॥७९॥

(प्रे०) "दुपणिंदि" इत्यादि, पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्त-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकायमार्गणाचतुष्के एकोनत्रिंशतः सर्वबन्धस्थानानां बन्धस्य कालो ओघवद्विज्ञेयः, भावनाऽपि सर्वा तद्वत् कार्या सुगमा च । केवलमोघे सप्तषष्टेर्बन्धस्थानस्यायुर्बन्धसहितत्वेऽपि तद्बन्धकानामानन्त्यात् सर्वदा तद्बन्धः प्राप्यते, प्रस्तुते तु तद्बन्धस्य सान्तरत्वेनैकादिबन्धकस्यापि लाभेन तज्जघन्य-

कालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो भवति, ज्येष्ठकालस्तु पल्योपमस्यासंख्येयभागः, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणायामपि तथैव तद्बन्धकालस्य लाभात् तद्वदतिदेशः ।

एवं मनोयोगौघ-सत्यमनोयोग-व्यवहारमनोयोगेष्वेवं वचनयोगत्रये चेति षण्मार्गणासु एकोनत्रिंशतः सर्वबन्धस्थानानां बन्धकालः पञ्चेन्द्रियौघवद् विज्ञेयः, केवलमुक्तमार्गणागतानां स्वस्थानेऽपि मरणाद्यवस्थां विनाऽपि मनोवचोयोगानामन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमनवस्थात्, एकजीवमपेक्ष्य मार्गणाजघन्यकालस्य समयप्रमाणत्वात्, किञ्चोक्तमार्गणा यदा अन्तर्मुहूर्तप्रमाणा भवति, तदाऽपि तत्प्रथमसमय आयुष्कबन्धं समाप्य तद्बन्धस्थानविरमात् मार्गणाचरमसमये वा आयुष्कबन्धप्रारम्भात् उक्तमार्गणाषट्क आयुष्कबन्धप्रायोग्यस्थानानां जघन्यकालः समयः प्राप्यते, तादृशानि च त्रीणि बन्धस्थानानि-एकषष्टि-सप्तषष्टि-चतुःसप्ततिरूपाणि । सप्तदशादिचतुष्पञ्चाशदन्तानां नवानामोघे मरणव्याघातेन समयः प्राप्यते, प्रस्तुते तु तथैव मार्गणापरावृत्त्या वा समयः कालो विज्ञेयः । प्रस्तुता मार्गणा ध्रुवा, अत ओघे येषां स्थानानां ध्रुवबन्धः तेषु प्रस्तुतेऽपि ध्रुवो बन्धः । अत्र ध्रुवबन्धस्थानानि षोडश । शेषाणामेकषष्ट्यादिचतुर्णां बन्धस्थानानां जघन्यबन्धकालः समयः, उत्कृष्टतस्त्वेकषष्टेरन्तर्मुहूर्तम्, सप्तषष्टेः सप्ततेः चतुःसप्ततेश्च पल्योपमस्यासंख्येयभाग इति ।

असत्य-मिश्रमनोयोगद्वये एवं वचनयोगद्वये च मनोयोगौघवदेव सर्वबन्धस्थानानां बन्धस्य नानाजीवानपेक्ष्य कालो विज्ञेयः । केवलमत्र मार्गणाचतुष्के त्रयोदशगुणस्थानस्याभावेनैकस्यात्मकबन्धस्थानस्य ध्रुवत्वं नास्ति, अतस्तद्बन्धकाः सर्वदा न लभ्यन्ते, तेन तस्य जघन्यकालः समयः, उत्कृष्टतस्त्वन्तर्मुहूर्तम् । एष कालः सप्तदशबन्धस्थानवत् भवतीति तद्वदतिदिष्टः ॥७८-७९॥ अथ उक्तशेषास्विन्द्रियकायमार्गणाभेदेषु प्राह—

ओघव्विगवत्ताए संसिंदियकायसकमेएसुं ।
सप्पाउभाग णवरि सयरीअ लहू मुहुत्तंतो ॥८०॥

(प्रे०) "ओघव्वे"त्यादि, शेषेन्द्रियकायमार्गणाः पुनरिमाः-सप्तैकेन्द्रियभेदाः, बादरपर्याप्तवर्जपृथ्वीकायभेदषट्कमेवमप्कायभेदषट्कमेवं तेजस्कायभेदषट्कमेवं वायुकायभेदषट्क सप्तसाधारणवनस्पतिभेदाः, वनस्पतिकायौघः, प्रत्येकवनस्पतिकायौघः, अपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायः, एवं सङ्कलिता एकचत्वारिंशन्मार्गणाः, एतासु प्रत्येकं जीवा असंख्येयलोकमिता अनन्ता वा, गुणस्थानं प्रथमम्, बन्धस्थानानि षट्पष्ट्यादीनि पञ्च द्वासप्तत्यादीनि त्रीणि चैवमष्टौ, अत्र सप्ततिचतुःसप्तती अध्रुवरूपे बन्धस्थाने, शेषाणि षड् ध्रुवाणि । ध्रुवबन्धस्थानानां बन्धकालः सर्वदा भवति । अत्र सप्ततेर्बन्धस्थानस्यायुर्बन्धसहितत्वेन तज्जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम्, ओघे तु सास्वादनापेक्षयैकसमयः । चतुःसप्ततेर्बन्धस्य जघन्यकाल ओघवदन्तर्मुहू-

र्तम् , उत्कृष्टकालो बन्धस्थानद्वयस्यापि पल्योपमस्यासंख्येयभाग ओघवत् प्राप्यते इति । अत्र सप्तषष्टेर्बन्धकानामसंख्येयलोकप्रमाणत्वेन अनन्तप्रमाणत्वेन वा ध्रुवत्वमवसेयम् ॥८०॥

एतर्हि काययोगौघ औदारिककाययोगे च प्राह—

काये ओघव्व रणवरि परमिगसट्ठिचउसत्तरीण लहू ।
एवमुरले णवरि पणसट्ठीअ समओ गुरू मुहुत्तंतो ॥८१॥ (गीतिः)

(प्रे०) "काये" इत्यादि, काययोगौघमार्गणायां वक्ष्यमाणमपवादं विहाय सर्वबन्धस्थानानां काल ओघवद् भवति, भावनाप्योघवत् कार्या । केवल प्रस्तुतमार्गणाया जघन्यकालस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वेऽपि स्वस्थाने मनोयोगवद्मार्गणायाः परावर्तनप्रायोग्यत्वेन तत्तद्बन्धस्थानप्रारम्भद्वितीयसमये मार्गणायाः परावर्तनात् तद्बन्धस्थानाद्धायाश्चरमसमये मार्गणायाः प्रारम्भाद्वा येषामोघे सर्वाद्धा कालो नास्ति, तेषां जघन्यकालः समयो भवति, तत्रैकषष्टेश्चतुःसप्ततेश्च जघन्यबन्धकालस्यौघेऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वेऽपि प्रस्तुते समयप्रमाणत्वादपवादरूपेण तयोर्जघन्यकालो दर्शितः ।

औदारिककाययोगमार्गणायां सर्वबन्धस्थानानां बन्धस्य कालः काययोगौघवद्विज्ञेयः, केवलं तत्र पञ्चषष्टेर्बन्धकानां देवनैरयिकाणां सर्वदा लाभेऽपि प्रस्तुते देवनैरयिकाणामप्रवेशात् पञ्चषष्टेर्बन्धेऽत्र जिननामदेवायुर्बन्धद्वयस्यैव भावेन तद्बन्धका मनुष्याः, अतस्तद्बन्धकालो जघन्यतः समयः, बन्धस्थानजघन्यकालस्याऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वेऽपि योगपरावर्तनात् , उत्कृष्टतश्चाऽन्तर्मुहूर्तमेवेति । शेषभावना त्वोघवत् काययोगौघवच्च यथासम्भवं कार्येति ॥८१॥

अथ औदारिकमिश्रे बन्धकालं प्राह—

एगस्स उरलमीसे समयो ह्रस्सोऽत्थि संखसमयाऽणणो ।
सेसो भिन्नमुहुत्तं दुविहो तिचउजुअसट्ठीणं ॥८२॥
एगसयरीअ समयो होइ जहण्णो गुरू मुणेयव्वो ।
पल्लासंखियभागो सेसाणेगिंदियव्व भवे ॥८३॥

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि, औदारिकमिश्रे एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य सयोगिकेवलिनां केवलिसमुद्घाते एव भावेन तज्जघन्यकालः समयो भवति, केवलिसमुद्घातस्य सान्तरत्वात् तत्रैकादिजीवसद्भावेन तद्द्वितीयसमये समयमात्र प्रस्तुतमार्गणाया लाभात् , उत्कृष्टकालस्तु संख्येयाः समयाः, नानाजीवापेक्षया केवलिसमुद्घातप्रायोग्यजीवानां संख्येयत्वेन केवलिसमुद्घातकालस्य संख्येयसमयप्रमाणत्वात् । सप्तदशाद्येकषष्टिपर्यन्तानि पञ्चषष्टिश्चेत्येतानि बन्धस्थानान्येवात्र न भवन्ति । त्रिषष्टेश्चतुःषष्टेश्च जघन्यत उत्कृष्टतश्च बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तम् , एकजीवमपेक्ष्य चतुर्थगुणस्थाने प्रस्तुतमार्गणाकालस्य जघन्यत उत्कृष्टतश्चान्तर्मुहूर्तप्रमाण-

त्वात् तस्मिंश्च बन्धस्थानपरावृत्तेरभावात्, मार्गणागतानामविरतसम्यग्दृष्टिजीवानां संख्येयत्वात् नानाजीवानपेक्ष्याविरतसम्यक्त्वगुणस्थानसत्कप्रस्तुतमार्गणाकालस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वाच्च। एकसप्ततेर्जघन्यबन्धकालः समयः, प्रस्तुते उक्तबन्धस्थानस्य सास्वादन एव भावेन तज्जघन्यकालस्य समयप्रमाणत्वात्; उत्कृष्टकालस्तु पल्योपमस्यासंख्येयभागः, सास्वादनसम्यग्दृष्टीनामुत्कृष्टकालस्य प्रस्तुते तावत्प्रमाणत्वात्। पट्षष्ट्याद्येकोनसप्तत्यन्तानां चतुर्णां द्वासप्ततेस्त्रिसप्ततेश्चेति षण्णां बन्धस्थानानां बन्धस्य कालः सर्वाद्धा भवति। सप्ततेश्चतुःसप्ततेश्च जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम्, उत्कृष्टकालस्तु पल्योपमस्यासंख्येयभागः। भावना त्वष्टानामपि बन्धस्थानानां कालस्यैकेन्द्रियमार्गणावत् कार्या सुगमा चेति ॥८२-८३॥

अथ वैक्रियमिश्रे आहारकतन्मिश्रयोगद्वये च बन्धकालमाह—

चउपणछअसट्ठीणं विउव्वमीसे लहू मुहुत्तंतो ।
समयो सेसाण गुरू पणसट्ठीए मुहुत्तंतो ॥८४॥
पल्लासंखियभागो छण्हं सेसाण बंधठाणाणं ।
आहारदुगे तिण्ह वि लहू खणोऽणो मुहुत्तंतो ॥८५॥

(प्रे०) "चउपण" त्यादि, वैक्रियमिश्रे चतुःषष्टेः पञ्चषष्टेश्च बन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम्, मार्गणाजघन्यकालस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वे सत्युक्तबन्धस्थानद्वयस्य सम्यग्दृष्टेर्भावेन मार्गणाकालमध्ये बन्धस्थानपरावृत्तेरभावात्। शेषाणामष्टषष्टेरेकोनसप्ततेरेकसप्ततेर्द्विसप्ततेस्त्रिसप्ततेश्चेति पञ्चानां ह्रस्वबन्धकालः समयो भवति, तद्बन्धकजीवानामनेकबन्धस्थानानां प्रायोग्यत्वेन समयान्तरेऽपि तत्तद्बन्धस्थानस्य परावर्तनात् नानाजीवानपेक्ष्य मार्गणायाः सान्तरत्वाच्च। उत्कृष्टकालस्तु पञ्चषष्टेरन्तर्मुहूर्तम्, अस्य बन्धस्थानस्य जिननामबन्धसहितत्वेन मनुष्येभ्य एवोक्तबन्धस्थानबन्धकानामुत्पादात् तेषां संख्येयत्वाच्च। शेषाणां षण्णां बन्धस्य ज्येष्ठकालः पल्योपमस्यासंख्येयभागः, मार्गणाज्येष्ठकालस्य तावत्प्रमाणत्वात्, तिर्यग्भ्य उत्पद्यमानानां सम्यग्दृष्टीनां सास्वादनिनां चासंख्येयत्वेन पल्योपमस्यासंख्येयभागं यावत् यथासम्भवं सान्तरमुत्पद्यमानत्वेऽपि तावत्कालं मार्गणायास्तत्तद्बन्धस्थानस्य च नैरन्तर्येण लाभात्।

आहारकयोगे तन्मिश्रे च पञ्चपञ्चाशदादीनां त्रयाणां बन्धस्थानानां जघन्यकालः समयः, मार्गणाप्रथमसमये मार्गणाचरमसमये वा देवायुषो जिननामबन्धस्य वा प्रारम्भेण देवायुर्बन्धविरामेण वा समयःप्रमाणः कालो भावनीयः। उत्कृष्टकालस्त्वन्तर्मुहूर्तम्, नानाजीवसत्कमार्गणाकायस्थितेरेव प्रकृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् ॥८४-८५॥

सम्प्रति कार्मणयोगानाहारकमार्गणयोर्बन्धकालं दर्शयति—

कम्माणाहारेसुं एगस्स समयतिगं लहू समयो ।
तिपणसहिअमट्ठीणं तिरह त्ति संखसमया जेट्ठो ॥८६॥
कालो अत्थि जहरणो समयो चउसट्ठिएगसयरीणं ।
आवलिआऽसंखसो जेट्ठो सेसाण सव्वद्धा ॥८७॥

(प्रे०) "कम्मे"त्यादि, कार्मणयोगे अनाहारके चैकस्या जघन्यबन्धकालः समयत्रयम्, समुद्घाते वर्तमानस्य सयोगिकेवलिनस्तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयत्रये एवः प्रस्तुतमार्गणाद्वयसद्भावात् जघन्यकालः तथा दर्शितः। प्रस्तुतबन्धस्थानबन्धकानां सयोगिकेवलिनां सङ्ख्येयत्वेन क्रमशो यथासम्भवं केवलिसमुद्घातस्य संख्येयसमयान् यावदेव प्रवर्तनेन ज्येष्ठकालः संख्येयाः समया भवति।

त्रिपष्टेः बन्धकाश्चतुर्थगुणस्थानगतास्तिर्यग्मनुष्यास्तेन तद्बन्धस्य जघन्यकालः समयः, प्रस्तुतमार्गणाद्वये चतुर्थगुणस्थानगतानां सान्तरत्वेन एकादिजीवानामपि लाभात्, एकजीवमपेक्ष्य प्रस्तुतमार्गणाद्वयजघन्यकालस्य समयप्रमाणत्वाच्च। उत्कृष्टकालस्तु त्रिषष्टेर्बन्धस्य संख्येयाः समयाः, पर्याप्तमनुष्येषु पर्याप्तमनुष्येभ्यो युगलिकतिर्यक्षु वोत्पद्यमानानां प्रस्तुतमार्गणाद्वये त्रिषष्टेर्बन्धस्य लाभेन तेषां संख्येयत्वेन युगपत् क्रमशश्च संख्येयानां लाभात् संख्येयसमयान् यावत् प्रकृष्टतः त्रिषष्टेर्बन्धः प्राप्यते।

पञ्चषष्टेर्बन्धस्य जघन्यकालः समयः, उत्कृष्टकालः संख्येयाः समयाः, एकजीवमपेक्ष्य मार्गणाकालः समयः समयौ वा, जिननामबन्धकानां पर्याप्तमनुष्येभ्यः ससम्यक्त्वं देवेषु नैरयिकेषु वोत्पद्यमानानामेव तल्लाभात् नैरन्तर्येण संख्येयसमया एव तद्बन्धकालः प्राप्यत इति। चतुःषष्टेर्जघन्यकालः समयः, भावना तु त्रिषष्टिबन्धस्थानजघन्यबन्धकालवत् कार्या। उत्कृष्टकालस्त्वावलिकाया असंख्येयभागः, तिर्यग्भ्यो देवेषूत्पद्यमाना निरन्तरमुक्तकालं यावत् प्राप्यन्ते, यतो यस्य भावस्यैकजीवमपेक्ष्य समयादिसंख्येयसमयान् यावत् प्रकृष्टकालः, तद्भावयुक्तास्तत्प्रायोग्याश्च जीवा असंख्यलोकतो न्यूना असंख्येयाः स्युः, तर्हि स भाव आवलिकाऽसंख्येयभागं यावद् भवति, विहाय क्वचित् किञ्चिदपवादम्।

एकसप्ततेर्जघन्यकालः समयः, सास्वादनकालस्य तथात्वात्। उत्कृष्टकालस्त्वावलिकाऽसंख्येयभागः, भावना तु चतुःषष्टिबन्धकालवत् कार्या। शेषाणां षट्षष्टेरष्टषष्टेर्नवषष्टेर्द्वासप्ततेस्त्रिसप्ततेश्चेति पञ्चानां बन्धकालः सर्वाद्धा भवति, भावना त्वेकेन्द्रियौघवत् कार्या सुगमा च। अत्रायुष्कस्य बन्धाभावात् आयुर्बन्धप्रायोग्याणि स्थानानि न प्राप्यन्त इति ॥८६-८७॥

अथ स्त्रीवेदपुरुषवेदमार्गणयोर्बन्धकालं प्राह–

पुमथीसु पणिदिव्व उ सप्पाउग्गाण बंधठाणाणं ।
णवरं थीए दुविहो पणसट्ठीए मुहुत्तंतो ॥८८॥

(प्रे०) "पुमे"त्यादि, पुरुषवेदमार्गणायां स्त्रीवेदमार्गणायां च द्वाविंशत्यादित्रयोविंशति-बन्धस्थानानां सद्भावः, तेषां जघन्यत उत्कृष्टतश्च बन्धकालः पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणावद्वि-ज्ञेयः, प्रस्तुतमार्गणयोः पर्याप्तपञ्चेन्द्रियेष्वेव भावात्, भावना तु तद्वत् तदनुसारेणौघवद्वा कार्या। केवलं स्त्रीवेदे पञ्चषष्टेर्बन्धो मनुष्यायुष्कबन्धेन सह बध्नन्तीनां देवीनां प्राप्यते, ताश्च संख्येयाः, यद्वा मानुष्यो जिननामसहितां देवप्रायोग्यां देवायुष्कसहितां बध्नन्ति पञ्चषष्टिम्, ता अपि संख्येयाः, एवं विकल्पद्वयेन पञ्चषष्टेर्बन्धः स्त्रीवेदमार्गणायां प्राप्यते, अत्र बन्धे आयुष्क-बन्धस्य भावेन बन्धकजीवानां संख्येयत्वेन तद्बन्धस्थानस्य सान्तरत्वेन च तद्बन्धकालो जघ-न्यत उत्कृष्टतश्चान्तर्मुहूर्तमेव प्राप्यत इति ॥८८॥ एतर्हि नपुंसकवेदे कषायचतुष्के च प्राह—

णपुमचउकसायेसुं सप्पाउग्गाण होइ ओघव्व ।
णवरि कसायेसु लहू इगसट्ठिचउसयरीण समयोऽत्थि ॥८९॥ (गीतिः)

(प्रे०) "णपुमे"त्यादि, नपुंसकवेदे द्वाविंशत्यादीनि त्रयोविंशतिः, क्रोधे एकविंशत्या-दीनि चतुर्विंशतिः, माने विंशत्यादीनि पञ्चविंशतिः मायायामेकोनविंशत्यादीनि षड्विंशतिः लोभे सप्तदशादीन्यष्टाविंशतिः, बन्धस्थानानि भवन्ति, एतासु तत्तद्बन्धस्थानानां बन्धस्य जघ-न्यत उत्कृष्टतश्च काल ओघवद् भवति, भावना तु यथासम्भवमोघवत् कार्या। केवलं कषायचतुष्के एकषष्टेश्चतुःसप्ततेश्च समयरूपजघन्यबन्धकालस्यापवादः काययोगमार्गणावद् भवति, भावनाऽपि तत एवावधार्या, तत्रैवोक्तमार्गणाचतुष्कस्यासंग्रहस्तु तत्र बन्धप्रायोग्यतया सर्वाणि स्थानानि, अत्र तु ततो न्यूनानीति ॥८९॥ अथाऽपगतवेदे प्राह—

गयवेए सव्वद्धा एगस्स हवेज्ज सेसठाणाणं ।
पंचण्ह लहू समयो णेयो जेट्ठो मुहुत्तंतो ॥९०॥

(प्रे०) "गयवेए" इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायामेकादीन्येकविंशतिपर्यन्तानि षड्बन्ध-स्थानानि सन्ति, तेषां षण्णामपि बन्धकालो जघन्यत उत्कृष्टतश्चौघवदेव विज्ञेयः, भावनाऽपि तद्वदेव कार्या, केवलं मूलकृता स्पष्टतया स दर्शित इति ॥९०॥ अकषायादिमार्गणासु प्राह—

सव्वद्धा एगस्स अकसायकेवलदुगाहखायेसुं ।

(प्रे०) "सव्वद्धा" इत्यादि, अकषाय-केवलज्ञान-केवलदर्शन-यथाख्यातमार्गणाचतुष्के केवलमेकस्या एव सातवेदनीयप्रकृतेर्बन्धः, तस्याः सयोगिकेवलिनोऽधिकृत्य सर्वाद्धा बन्धकालः प्राप्यते, अत एकबन्धस्थानस्य सर्वाद्धा कालो दर्शितः॥ एतर्हि मतिज्ञानादिमार्गणासु प्रस्तुतं प्राह-

ससठाणाणोघव्व तिणाणावहिसम्मखइएसुं ॥९१॥

णवरि छसट्ठीअ दुहा अंतमुहुत्तं तिणाणओहिसु ।
एगस्स लहू समयो गेयो जेट्ठो मुहुत्तंतो ॥९२॥

(प्रे०) "ससे"त्यादि, मतिश्रुतावधिज्ञानावधिदर्शनसम्यक्त्वौघ--क्षायिकसम्यक्त्व-मार्गणासु षट्सु स्वप्रायोग्यबन्धस्थानानां बन्धकाल ओघवद् भवति, मार्गणाषट्के एकादि-षट्षष्ट्यन्तबन्धस्थानानां लाभात्, मार्गणाचतुष्के चतुर्थादिद्वादशगुणस्थानान्तानां लाभात् मार्गणाद्वये तु चतुर्थादिचतुर्दशान्तगुणस्थानानां लाभात् । अत्र षट्षष्टेर्बन्धकालस्यौघे मिथ्यादृ-ष्ट्यपेक्षया सर्वाद्धाया लाभेऽपि प्रस्तुतमार्गणाषट्के देवनैरयिकाणां जिननाममनुष्यायुष्कबन्धकाल एव षट्षष्टेर्बन्धस्य भावेन तद्बन्धकानां संख्येयत्वात् षट्षष्टेर्बन्धस्य जघन्यत उत्कृष्टतश्च कालो-ऽन्तर्मुहूर्तम् । तथा मतिश्रुतावधिज्ञानावधिदर्शनमार्गणाचतुष्के सयोगिकेवलिनामभावेनैकबन्ध-स्थानस्य कालः सर्वाद्धा न प्राप्यते, किन्तु तज्जघन्यकालः समयः, उपशान्तमोहगुणस्थानम-पेक्ष्यैतत्कालो भावनीयः, उत्कृष्टकालस्त्वन्तर्मुहूर्तम्, उपशान्तक्षीणमोहगुणस्थानद्वयगतापेक्षया भावना कार्या । शेषसर्वबन्धस्थानानां कालस्य भावना त्वोघानुसारेण कार्या सुगमा च । तथा क्षायिके देशविरततिरश्चामभावेऽपि देशविरतमनुष्यानधिकृत्यैकोनषष्टेः षष्टेश्च बन्धकालो भावनीयः ॥९१-९२॥

अथ मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां प्रस्तुतं प्राह—

मणणाणे ठाणाणं सप्पाउग्गाण होइ ओहिव्व ।
णवरं अंतमुहुत्तं दुविहो एगूणसट्ठीए ॥९३॥

(प्रे०) "मणणाणे" इत्यादि, मनःपर्यवज्ञानमार्गणायामेकाद्येकोनषष्टिबन्धस्थानपर्य-न्तानां पञ्चदशानां बन्धकालोऽवधिज्ञानमार्गणावद् विज्ञेयः, अत्रैकमेकोनषष्टिं च विहाय त्रयो-दशानामोघेऽवधिज्ञाने प्रस्तुते च तुल्यैव बन्धकालप्ररूपणा, भावना त्वोघवत् कार्या सुगमा च । एकबन्धस्थानस्य काल ओघतोऽवधिज्ञानमार्गणायां भिन्नः, अत ओघवदनतिदिश्यावधि-ज्ञानमार्गणावद्दर्शितः । भावना त्वतिदेशवत् सयोगिकेवलिनामत्राप्रवेशात् कार्या । अत्र प्रमत्तसंय-तादीनामेव प्रस्तुतमार्गणाया भावेन देशविरतिगुणस्थानकस्याभावात् एकोनषष्टेर्बन्धस्थानस्य बन्धे ध्रुवत्वं नास्ति, ओघेऽवधिज्ञाने च तस्य ध्रुवत्वात् सर्वाद्धा कालः प्राप्यते । प्रस्तुतेऽप्रमत्त-संयतानामेवायुष्कबन्धकाल एवोक्तबन्धस्थानस्य लाभेन तस्यैकोनषष्टेर्जघन्यकाल उत्कृष्टकाल-श्चान्तर्मुहूर्तप्रमाणो भवति, भावना त्वोघोक्तैकषष्टेर्बन्धस्थानवत् कार्या सुगमा च ॥९३॥

अथ मत्यज्ञानादिमार्गणासु प्रस्तुतं प्राह—

अरणाणतिगे अजए सप्पाउग्गाण होइ ओघव्व ।
णवरं सडसट्ठीए पणिंदितिरियव्व विब्भंगे ॥ ९४ ॥

(प्रे०) "अण्णाणे" त्यादि अज्ञानत्रिके षट्पष्ट्यादीनि चतुःसप्तत्यन्तानि नवबन्धस्थानानि, असंयमे च त्रिषष्ट्यादीनि चतुःसप्तत्यन्तानि द्वादश, एतासु बन्धकाल ओघवद् भवति, अत्राऽज्ञानत्रिकेऽसंयमे चोक्तबन्धस्थानबन्धकजीवानां बाहुल्यतोऽन्तर्भावात् न ओघत उक्तमार्गणात्रये स्वप्रायोग्यबन्धस्थानानां बन्धस्य कालप्ररूपणा अतिरिच्यते । विभङ्गज्ञानमार्गणायां षट्पष्टेरष्टषष्टेरेकोनसप्ततेरेकसप्ततेर्द्वासप्ततेस्त्रिसप्ततेश्च बन्धस्थानानां षण्णां बन्धस्य काल सर्वाद्धा, सप्ततेर्जघन्यकालः समयः, सास्वादनजघन्यकालस्य तथात्वात्, सप्तषष्टेर्बन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम्, उत्कृष्टकालस्तु द्वयोरपि पल्योपमस्यासंख्येयभागः, विभङ्गज्ञाने मार्गणागतजीवानामसंख्येयलोकतोऽतीवन्यूनत्वात् सप्तषष्टिबन्धस्थानस्यायुष्कबन्धसहितत्वाच्च तद्बन्धस्य सर्वाद्धा कालो न लभ्यते, ओघे यथा चतुःसप्ततेर्बन्धकालो भावितः तथा प्रस्तुतेऽपि तस्य तथा भावनीयः, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणायामपि जीवानामसंख्यलोकतो न्यूनत्वात् सप्तषष्टेर्बन्धस्याध्रुवत्वात् उक्तप्रकारेण बन्धकालस्य तत्र प्रतिपादितत्वात् तद्वदतिदेशः । चतुःसप्ततेस्तु जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम्, ज्येष्ठस्तु पल्योपमस्यासंख्येयभागः, ओघवद् भावनीयः ॥९४॥ सम्प्रति संयमौघे सामायिकसंयमे च बन्धस्थानानां बन्धस्य कालं प्राह—

संजमसामइएसुं सप्पाउग्गाण होइ ओघव्व ।
णवरं अंतमुहुत्तं दुहावि एगूणसट्ठीए ॥९५॥

(प्रे०) "संजमे" त्यादि, संयमौघे एकाद्येकोनषष्टिपर्यन्तपञ्चदशबन्धस्थानानां बन्धकाल ओघवत् प्राप्यते । एकोनषष्टिरूपं विहायोक्तबन्धस्थानसत्कसर्वबन्धकानां प्रस्तुतमार्गणायां प्रवेशात् । केवलमेकोनषष्टेर्जघन्य उत्कृष्टश्च बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तम्, स च मनःपर्यवज्ञानमार्गणावद् भावनीयः । सामायिकसंयमेऽष्टादशाद्येकोनषष्टिपर्यन्तानि त्रयोदशबन्धस्थानानि प्राप्यन्ते, तत्र प्रस्तुतमार्गणाया ध्रुवत्वात् प्रस्तुते षष्ठादिनवमान्तगुणस्थानकसद्भावाच्च अष्टादशाद्यष्टपञ्चाशदन्तानां द्वादशबन्धस्थानानां बन्धस्य जघन्य उत्कृष्टश्च काल ओघवद् भावनीयः, एकोनषष्टेर्बन्धस्य जघन्य उत्कृष्टश्च कालोऽन्तर्मुहूर्तम्, भावना तु मनःपर्यवज्ञानमार्गणावत् कार्येति ॥९५॥

अथ छेदोपस्थापनीयमार्गणायां बन्धकालं प्राह—

छेए छऽडवराणं दुहा लहू य पणसत्तवराणं ।
सयमुज्झो जेट्ठोऽद्धा पणणासा लक्खकोडीओ ॥९६॥

गुणसट्ठीए कालो अंतमुहुत्तं दुहावि णायव्वो ।
सेसाण लहू समयो णेयो जेट्ठो मुहुत्तंतो ॥१७॥

(प्रे०) "छेए" इत्यादि, छेदोपस्थापनीयमार्गणाया अध्रुवत्वात् पञ्चपञ्चाशदादीनां चतुर्णां बन्धस्थानानां जघन्यकालः स्वयं भावनीयः, तद्यथा--पञ्चपञ्चाशतः सप्तपञ्चाशतश्च बन्धकालः सार्धशतद्वयवर्षप्रमाणः संभवति, नानाजीवापेक्षया मार्गणाजघन्यकालस्य तावत्प्रमाणत्वात्। पट्पञ्चाशतोऽष्टपञ्चाशतश्च बन्धकालो न सम्यग्ज्ञायते, यतो मार्गणायाः सान्तरत्वेन प्रस्तुतबन्धस्थानयोर्जिननामबन्धसहितत्वेन च तद्बन्धका मार्गणाजघन्यकालं यावत् सर्वदा प्राप्यन्ते न वा इति । ज्येष्ठकालस्तु पञ्चपञ्चाशतः सप्तपञ्चाशतश्च पञ्चाशल्लक्षकोटिप्रमाणानि सागरोपमाणि । पट्पञ्चाशदष्टपञ्चाशतोर्बन्धकालस्तु स्वयं परिभावनीयः, यतो जिननामबन्धकानां नैरन्तर्यं स्यात् न वा इति तु बहुश्रुतात् स्वयं विभावनीयम् । उत्तरप्रकृतिबन्धे प्रस्तुतमार्गणायां जिननाम्नो बन्धस्य ज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणकालो दर्शितः, स तु मतान्तरमाश्रित्यावधेय इति एकोनपष्टेर्बन्धकालो जघन्य उत्कृष्टश्चान्तर्मुहूर्तम् , भावना तु मनःपर्यायज्ञानमार्गणावत् कार्या। शेषाणामष्टादशादीनां चतुःपञ्चाशत्पर्यन्तानामष्टानां जघन्यकालः समयः, ज्येष्ठस्त्वन्तर्मुहूर्तम् । भावनौघवत् कार्या सुगमा च ॥१६-१७॥ अथ परिहारविशुद्धिमार्गणायां प्राह--

परिहारविसुद्धीए गुणसट्ठीअ दुविहो मुहुत्तंतो ।
सयमुज्झोऽणणाण लहू जेट्ठो देसूणपुव्वकोडी दो ॥१८॥ (गीतिः)

(प्रे०) "परिहारे"त्यादि, परिहारविशुद्धिमार्गणायां पञ्चपञ्चाशदादीनां चतुर्णां जघन्यकालः स्वयं विज्ञेयः, मार्गणाजघन्यकालस्य द्विपञ्चाशदुत्तरशतवर्षप्रमाणत्वेऽपि प्रस्तुतबन्धकालस्य सम्यगनवगमात् । एकादिजीवसद्भाव उक्तचतुर्णां युगपद् बन्धस्यानवकाशात् । उत्कृष्टकालो देशोनपूर्वकोटिद्वयं मार्गणा ज्येष्ठकालस्य तथात्वात् । एकोनषष्टेर्बन्धस्य जघन्यज्येष्ठकालोऽन्तर्मुहूर्तम् । भावना तु मनःपर्यवज्ञानमार्गणावत् कार्या सुगमा च ।।१८।।

अथ देशविरतिमार्गणायां सूक्ष्मसंपराये च प्राह—

देसे अंतमुहुत्तं दुहेगसट्ठीअ दोण्ह सव्वद्धा ।
सुहमे सत्तदसण्हं लहू खणोऽणणो मुहुत्तंतो ॥१९॥

(प्रे०) "देसे" इत्यादि, देशविरतौ त्रीणि बन्धस्थानानि एकोनषष्ट्यादीनि, त्रयाणामपि बन्धकाल ओघवद् भवति । तद्यथा-एकोनषष्टेः षष्टेश्च सर्वाद्धा, एकषष्टेर्जघन्यत उत्कृष्टतश्चान्तर्मुहूर्तम्, भावना त्वोघवदेव कार्येति । सूक्ष्मसंपराये दशमगुणस्थानके सप्तदशस्

भवति तस्य कालस्त्वोघवद् विज्ञेयः, भावनाऽपि तद्वद् कार्या । स च जघन्यतः समयः, उत्कृष्टतस्त्वन्तर्मुहूर्तम् ॥९९॥

अथ अचक्षुर्दर्शनादिमार्गणात्रये प्राह—

ओघव्व खलु अणयरो भवियाहारेसु होइ सव्वेसिं ।
परमेगस्स अणयरो समयो हस्सो गुरू मुहुत्तंतो ॥१००॥ (गीतिः)

(प्रे०) "ओघव्वे"त्यादि, अचक्षुर्दर्शनभव्याहारकमार्गणासु तिसृषु सर्वबन्धस्थानानां सद्भावः, तेषां सर्वेषां कालस्त्वोघवद्विज्ञेयः, भावनापि तद्वदेव कार्या सुगमा च । केवलमचक्षुर्दर्शनमार्गणायां सयोगिकेवलिनोऽप्रवेशादेकस्य बन्धस्थानस्य बन्धकालः जघन्यतः समयः, उत्कृष्टतस्त्वन्तर्मुहूर्तम्, भावना त्वेकादशद्वादशगुणस्थानकापेक्षया मतिज्ञानवत् कार्येति ॥१००॥

अथ चक्षुर्दर्शनसंज्ञिमार्गणयोः बन्धकालं प्राह—

सव्वाण भवे कालो पणिंदियव्व खलु चक्खुसण्णीसुं ।
णवरं एगस्स लहू समयो जेट्ठो मुहुत्तंतो ॥१०१॥

(प्रे०) "सव्वाणे"त्यादि, चक्षुर्दर्शने संज्ञिमार्गणायां च पञ्चेन्द्रियमार्गणावत् सर्वबन्धस्थानानां सद्भावः, जीवाश्चासंख्यलोकतो न्यूनतमाः, गुणस्थानानि पुनस्तत्र सर्वाणि, प्रस्तुते तु प्रथमादीनि द्वादशान्तानि भवन्ति, अतो भावना सर्वाऽपि पञ्चेन्द्रियौघवत्कार्या । केवलं प्रस्तुतमार्गणाद्वये सयोगिकेवलिनोऽभावात् एकस्य बन्धस्थानस्य जघन्यकालः समयः, उत्कृष्टकालस्त्वन्तर्मुहूर्तम्, भावना तूपशान्तमोहक्षीणमोहगुणस्थानगतापेक्षया कार्या इति ॥१०१॥

अथ अशुभलेश्यात्रये प्राह—

सगठाणाणोघव्व असुहलेसासुं परं मुहुत्तंतो ।
पणसट्ठीए दुविहो विणेयो किण्हणीलासुं ॥१०२॥

(प्रे०) "सगठाणाणो"त्यादि, अशुभलेश्यात्रये त्रिषष्ट्यादीनि द्वादशबन्धस्थानानि भवन्ति, तद्बन्धस्य काल ओघवदेव भवति, ओघोक्तप्रकारेण दर्शितबन्धस्थानानां लाभात् । केवलं नीलकृष्णलेश्ययोः पट्षष्टेर्बन्धस्थानं सम्यग्दृष्टेर्नास्ति तयोर्देवनैरयिकाणां जिननाम्नो बन्धाभावात् । तथा पञ्चषष्टेर्बन्धस्थानं तु देवनारकानधिकृत्य मनुष्यायुर्बन्धकाले प्राप्यते, अतस्तयोर्मार्गणयोः तस्य बन्धकालो जघन्यत उत्कृष्टतश्चान्तर्मुहूर्तप्रमाणो भवति । मनुष्यानपेक्ष्य तु पञ्चषष्टेर्बन्धस्थानमशुभलेश्यात्रये न प्राप्यत, यद्वा तानपेक्ष्यापि तस्य कालोऽन्तर्मुहूर्तमेवेति ।

गुणसट्ठीए कालो अंतमुहुत्तं दुहावि णायव्वो ।
सेसाण लहू समयो णेयो जेट्ठो मुहुत्तंतो ॥१७॥

(प्रे०) "छेए" इत्यादि, छेदोपस्थापनीयमार्गणाया अध्रुवत्वात् पञ्चपञ्चाशदादीनां चतुर्णां बन्धस्थानानां जघन्यकालः स्वयं भावनीयः, तद्यथा–पञ्चपञ्चाशतः सप्तपञ्चाशतश्च बन्धकालः सार्धशतद्वयवर्षप्रमाणः संभवति, नानाजीवापेक्षया मार्गणाजघन्यकालस्य तावत्प्रमाणत्वात् । षट्पञ्चाशतोऽष्टपञ्चाशतश्च बन्धकालो न सम्यग्ज्ञायते, यतो मार्गणायाः सान्तरत्वेन प्रस्तुतबन्धस्थानयोर्जिननामबन्धसहितत्वेन च तद्बन्धका मार्गणाजघन्यकालं यावत् सर्वदा प्राप्यन्ते न वा इति । ज्येष्ठकालस्तु पञ्चपञ्चाशतः सप्तपञ्चाशतश्च पञ्चाशल्लक्षकोटिप्रमाणानि सागरोपमाणि । षट्पञ्चाशदष्टपञ्चाशतोर्बन्धकालस्तु स्वयं परिभावनीयः, यतो जिननामबन्धकानां नैरन्तर्यं स्यात् न वा इति तु बहुश्रुतात् स्वयं विभावनीयम् । उत्तरप्रकृतिबन्धे प्रस्तुतमार्गणायां जिननाम्नो बन्धस्य ज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणकालो दर्शितः, स तु मतान्तरमाश्रित्यावधेय इति एकोनषष्टेर्बन्धकालो जघन्य उत्कृष्टश्चान्तर्मुहूर्तम् , भावना तु मनःपर्यायज्ञानमार्गणावत् कार्या । शेषाणामष्टादशादीनां चतुःपञ्चाशत्पर्यन्तानामष्टानां जघन्यकालः समयः, ज्येष्ठस्त्वन्तर्मुहूर्तम् । भावनौघवत् कार्या सुगमा च ॥१६-१७॥ अथ परिहारविशुद्धिमार्गणायां प्राह–

परिहारविसुद्धीए गुणसट्ठीअ दुविहो मुहुत्तंतो ।
सयमुज्झोऽणाणा लहू जेट्ठो देसूणपुव्वकोडी दो ॥१८॥ (गीतिः)

(प्रे०) "परिहारे"त्यादि, परिहारविशुद्धिमार्गणायां पञ्चपञ्चाशदादीनां चतुर्णां जघन्यकालः स्वयं विज्ञेयः, मार्गणाजघन्यकालस्य द्विपञ्चाशदुत्तरशतवर्षप्रमाणत्वेऽपि प्रस्तुतबन्धकालस्य सम्यगनवगमात् । एकादिजीवसद्भाव उक्तचतुर्णां युगपद् बन्धस्यानवकाशात् । उत्कृष्टकालो देशोनपूर्वकोटिद्वयं मार्गणा ज्येष्ठकालस्य तथात्वात् । एकोनषष्टेर्बन्धस्य जघन्यज्येष्ठकालोऽन्तर्मुहूर्तम् । भावना तु मनःपर्यवज्ञानमार्गणावत् कार्या सुगमा च ।।१८॥

अथ देशविरतिमार्गणायां सूक्ष्मसंपराये च प्राह—

देसे अंतमुहुत्तं दुहेगसट्ठीअ दोण्ह सव्वद्धा ।
सुहमे सत्तदसण्हं लहू खणोऽणो मुहुत्तंतो ॥१९॥

(प्रे०) "देसे" इत्यादि, देशविरतौ त्रीणि बन्धस्थानानि एकोनषष्ट्यादीनि, त्रयाणामपि बन्धकाल ओघवद् भवति । तद्यथा-एकोनषष्टेः षष्टेश्च सर्वाद्धा, एकषष्टेर्जघन्यत उत्कृष्टतश्चान्तर्मुहूर्तम्, भावना त्वोघवदेव कार्येति । सूक्ष्मसंपराये दशमगुणस्थानके सप्तदशरूपस्यैकमेव बन्धस्थानं

भवति तस्य कालस्त्वोघवद् विज्ञेयः, भावनाऽपि तद्वत् कार्या । स च जघन्यतः समयः, उत्कृष्टतस्त्वन्तर्मुहूर्तम् ।।६६।।

अथ अचक्षुर्दर्शनादिमार्गणात्रये प्राह—

ओघव्व खलु अणयरो भवियाहारेसु होइ सव्वेसि ।
परमेगस्स अणयरो समयो हस्सो गुरू मुहुत्तंतो ।।१००।। (गीतिः)

(प्रे०) "ओघव्वे"त्यादि, अचक्षुर्दर्शनभव्याहारकमार्गणासु तिसृषु सर्वबन्धस्थानानां सद्भावः, तेषां सर्वेषां कालस्त्वोघवद्विज्ञेयः, भावनापि तद्वदेव कार्या सुगमा च । केवलमचक्षुर्दर्शनमार्गणायां सयोगिकेवलिनोऽप्रवेशादेकस्य बन्धस्थानस्य बन्धकालः जघन्यतः समयः, उत्कृष्टतस्त्वन्तर्मुहूर्तम्, भावना त्वेकादशद्वादशगुणस्थानकापेक्षया मतिज्ञानवत् कार्येति ।।१००।।

अथ चक्षुर्दर्शनसंज्ञिमार्गणयोः बन्धकालं प्राह—

सव्वाण भवे कालो पणिदियव्व खलु चक्खुसण्णीसुं ।
णवरं एगस्स लहू समयो जेट्ठो मुहुत्तंतो ।।१०१।।

(प्रे०) "सव्वाणे"त्यादि, चक्षुर्दर्शने संज्ञिमार्गणायां च पञ्चेन्द्रियमार्गणावत् सर्वबन्धस्थानानां सद्भावः, जीवाश्चासंख्यलोकतो न्यूनतमाः, गुणस्थानानि पुनस्तत्र सर्वाणि, प्रस्तुते तु प्रथमादीनि द्वादशान्तानि भवन्ति, अतो भावना सर्वाऽपि पञ्चेन्द्रियौघवत्कार्या । केवलं प्रस्तुतमार्गणाद्वये सयोगिकेवलिनोऽभावात् एकस्य बन्धस्थानस्य जघन्यकालः समयः, उत्कृष्टकालस्त्वन्तर्मुहूर्तम्, भावना तूपशान्तमोहक्षीणमोहगुणस्थानगतापेक्षया कार्या इति ।।१०१।।

अथ अशुभलेश्यात्रये प्राह—

सगठाणाणोघव्व असुहलेसासुं परं मुहुत्तंतो ।
पणसट्ठीए दुविहो विणणेयो किण्हणीलासुं ।।१०२।।

(प्रे०) "सगठाणाणो"त्यादि, अशुभलेश्यात्रये त्रिषष्ट्यादीनि द्वादशबन्धस्थानानि भवन्ति, तद्बन्धस्य काल ओघवदेव भवति, ओघोक्तप्रकारेण दर्शितबन्धस्थानानां लाभात् । केवलं नीलकृष्णलेश्ययोः पट्पष्टेर्बन्धस्थानं सम्यग्दृष्टेर्नास्ति तयोर्देवनैरयिकाणां जिननाम्नो बन्धाभावात् । तथा पञ्चषष्टेर्बन्धस्थानं तु देवनारकानधिकृत्य मनुष्यायुर्बन्धकाले प्राप्यते, अतस्तयोर्मार्गणयोः तस्य बन्धकालो जघन्यत उत्कृष्टतश्चान्तर्मुहूर्तप्रमाणो भवति । मनुष्यानपेक्ष्य तु पञ्चषष्टेर्बन्धस्थानमशुभलेश्यात्रये न प्राप्यते, यद्वा तानपेक्ष्यापि तस्य कालोऽन्तर्मुहूर्तमेवेति ।

कापोतलेश्यायां पञ्चषष्टेर्बन्धस्थानस्यौघवद् सर्वाद्धा कालः, आद्यनारकत्रयापेक्षयैव भावनीयः । न तु देवानपेक्ष्य सर्वाद्धा कालः प्राप्यते, तेषां प्रस्तुतमार्गणायां जिननाम्नो बन्धाभावात् ॥१०२॥

अथ तेजःपद्मयोः प्रस्तुतं प्राह—

सप्पाउग्गाणं खलु सव्वट्ठाणाण तेउपम्हासुं ।
ओघव्व णवरि दुविहो छासट्ठीए मुहुत्तंतो ॥१०३॥

(प्रे०) "सप्पाउग्गाणे" त्यादि, तेजोलेश्यायां पद्मलेश्यायां च तत्तन्मार्गणाप्रायोग्यबन्धस्थानानां बन्धकाल ओघवद्विज्ञेयः । तद्यथा-पञ्चपञ्चाशदादिपष्टिपर्यन्तानां त्रिषष्ट्यादीनां त्रयाणामेकसप्तत्यादीनां त्रयाणामिति द्वादशानां पद्माथाम्, तेजोलेश्यायामष्टषष्टेरेकोनसप्ततेश्चेति चतुर्दशानां बन्धकालः सर्वाद्धा भवति, एकषष्टेः षट्षष्टेश्च बन्धकालो जघन्य उत्कृष्टश्चान्तर्मुहूर्तम्, भावना त्वोघोक्तैकपष्टिबन्धस्थानवत् कार्या । सप्ततेर्बन्धस्थानस्य जघन्यकालः समयः, सास्वादनापेक्षया प्राप्यते, चतुःसप्ततेश्च जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम्, आयुर्बन्धसत्कजघन्यकालस्य तथात्वात्, आयुर्बन्धकालमध्य उद्योतनामबन्धपरावृत्तेरभावात् समयकालो न प्राप्यते । उत्कृष्टकालस्तु द्वयोरपि बन्धस्थानयोः पल्योपमस्यासंख्येयभागो विज्ञेयः । गाथार्थस्तु सुगमः, अपवादोऽपि सुगम इति ॥१०३॥

अथ शुक्ललेश्यायां प्राह—

दुविहो भिन्नमुहुत्तं छासट्ठितिसत्तरीण सुक्काए ।
सेसट्ठाणाण भवे सप्पाउग्गाण ओघव्व ॥१०४॥

(प्रे०) "दुविहो" इत्यादि, शुक्ललेश्यायामेकादिपञ्चषष्ट्यन्तानां विंशतेर्बन्धस्थानानां सप्ततेरेकसप्ततेर्द्विसप्ततेश्च बन्धकाल ओघवद्भवति, भावनाऽप्योघवत् कार्या सुगमा च । षट्षष्टेस्त्रिसप्ततेश्च जघन्य उत्कृष्टश्च बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तम्, तद्बन्धस्यायुर्बन्धसहितत्वेन तद्बन्धकानां संख्येयत्वेन च तत्कालस्य तथात्वात् । सप्ततेर्ज्येष्ठकालोऽपि सास्वादनापेक्षयैव भावनीयः, आयुष्कबन्धयुक्तसप्ततेरत्र बन्धाभावादिति ॥१०४॥

अथाऽभव्यादिमार्गणात्रये बन्धकालमाह—

सप्पाउग्गाण भवे अभवियमिच्छाअसण्णीसु ओघव्व ।
णवरं अंतमुहुत्तं विरामोयो सत्तरीअ लहू ॥१०५॥

(प्रे०) "सप्पाउग्गाणे"त्यादि, अभव्ये मिथ्यात्वेऽसंज्ञिनि चेति मार्गणात्रये प्रथमं गुणस्थानकम्, बन्धस्थानानि च षट्षष्ट्यादीनि नव । तत्र षट्षष्ट्यादीनां चतुर्णामेकसप्तत्यादीनां

त्रयाणां च बन्धः सर्वदा प्राप्यते । सप्ततेर्बन्धस्य जघन्यकाल ओघे सास्वादनापेक्षया समय-प्रमाणः प्राप्यते, किन्तु प्रस्तुते सास्वादनस्याभावात् सप्ततेर्बन्ध आयुष्कसहित एव प्राप्यते, अतस्तस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम् , चतुःसप्ततेर्जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तमेव, स चौघवदायुष्क-बन्धकालापेक्षया प्राप्यते, द्वयोरपि बन्धस्थानयोर्ज्येष्ठकालस्तु पल्योपमस्यासंख्येयभागः, स चायुर्बन्धकालमपेक्ष्यौघवद्भावनीय इति ॥१०५॥ एतदुपशमसम्यक्त्वे बन्धकालं प्राह—

अंतमुहुत्तमुवसमे होइ दुहा सट्ठिपंचसट्ठीणं ।
थोयो गुणसट्ठितिचउसट्ठीण लहू मुहुत्तंतो ॥ १०६ ॥
पल्लासंखियभागो जेट्ठो सेसाण बंधठाणाणं ।
समयो अत्थि जहण्णो अंतमुहुत्तं भवे जेट्ठो ॥ १०७ ॥

(प्रे०) "अंतमुहुत्त"मित्यादि, उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां षष्टेर्बन्धका देशविरत-मनुष्या जिननामबन्धयुक्ताः, ते च संख्येयाः, अतस्तयोर्जघन्यकाल उत्कृष्टकालश्चान्तर्मुहूर्त-प्रमाणो भवति, प्रस्तुतमार्गणायां चतुर्थपञ्चमगुणस्थानद्वयकालस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाण-त्वात् । प्रस्तुत आयुष्कबन्धाभावेन मनुष्याणामेव तत्स्वामित्वात् तेषां च संख्येयत्वेनैकजीवमपेक्ष्य प्रस्तुतमार्गणाकालस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वाच्च नानाजीवानपेक्ष्यापि मनुष्याणां प्रस्तुतमार्गणा-गतानां कालः प्रकृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाण इति, भावना तु सुगमा स्वयं कार्या । पञ्चषष्टेर्बन्ध-कास्तु प्रस्तुते श्रेणिसत्कोपशमसम्यक्त्वे वर्तमाना मनुष्या निधनं प्राप्य देवेषूत्पन्ना भवाद्यन्त-र्मुहूर्तगता एव भवन्ति, अतस्तेषां पञ्चषष्टेर्जघन्य उत्कृष्टश्च बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तम् । एकोनषष्टे-स्त्रिषष्टेश्चतुःषष्टेश्च बन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम्, चतुर्थपञ्चमगुणस्थानजघन्यकालस्य प्रस्तुत-मार्गणायां तथात्वात् । उत्कृष्टकालस्तु बन्धस्थानत्रयस्यापि पल्योपमस्यासंख्येयभागः देश-विरताऽविरततिर्यग्देवनारकौघापेक्ष्य चोक्तमार्गणाकालस्य तथात्वात् । एकादीनामष्टपञ्चाशत्प-र्यन्तानां चतुर्दशानां बन्धस्थानानां बन्धस्य जघन्यकालः समयः, उत्कृष्टकालस्त्वन्तर्मुहूर्तम् , मार्गणाया अध्रुवत्वेन एकादिजीवसद्भावेन बन्धस्थानपरावृत्त्या मरणव्याघातेन च जघन्यकालो विभावनीयः । ज्येष्ठकालस्तूक्तबन्धस्थानानां बन्धकतया संयतानामेव लाभेन तेषां सर्वेषां प्रस्तुतमार्गणायां प्रकृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तमात्रमेवावस्थानाद् बन्धकालः तथा दर्शितः ॥१०६-१०७॥

अथ क्षयोपशमसम्यक्त्वे बन्धकालं निरूपयति—

भिन्नमुहुत्तं एगछउअसट्ठीणऽत्थि वेअगे दुविहो ।
सव्वद्धाऽत्थि णवण्हं बंधट्ठाणाण सेसाणं ॥ १०८ ॥

(प्रे०) "भिन्नमुहुत्त"मित्यादि, क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणायामेकषष्टेः षट्षष्टेश्च बन्धकालो जघन्यत उत्कृष्टतश्चान्तर्मुहूर्तप्रमाणो भवति, उक्तबन्धस्थानयोर्जिननामायुष्कबन्धाभ्यां युक्तत्वेन तद्बन्धकानां संख्येयत्वात् द्विधा दर्शितकालः प्राप्यते । शेषाणां पञ्चपञ्चाशदादीनां षष्टिपर्यन्तानां त्रिषष्ट्यादीनां त्रयाणां चेति नवबन्धस्थानानां बन्धकालः सर्वाद्धा भवति, भावना त्वोघवत् कार्या इति ॥ १०८ ॥ अथ सम्यग्मिथ्यात्वे बन्धकालं प्राह—

मीसे अंतमुहुत्तं बंधट्ठाणाण दोण्ह वि जहण्णो ।
जेट्ठो असंखिययमो भागो पलिओवमस्स भवे ॥ १०९ ॥

(प्रे०) "मीसे" इत्यादि, सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायां द्वे बन्धस्थाने त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिश्च, एकजीवमाश्रित्य मार्गणाकालो जघन्यत उत्कृष्टतश्चान्तर्मुहूर्तम्, नानाजीवानाश्रित्य मार्गणायां जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम्, ज्येष्ठस्तु पल्योपमस्याऽसंख्येयभागः । मार्गणाकालमध्ये न च कस्यचिदपि बन्धस्थानपरावृत्तिर्भवति । अतस्त्रिषष्टेश्चतुःषष्टेश्च बन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम्, ज्येष्ठकालस्तु पल्योपमस्यासंख्येयभाग इति ॥ १०९ ॥ अथ सास्वादनमार्गणायां प्राह—

हस्सो भिन्नमुहुत्तं सासाणे तिसयरीअ सेसाणं ।
समयो चउण्ह वि गुरू पल्लस्स असंखभागोऽत्थि ॥११०॥

(प्रे०) "हस्स"इत्यादि, सास्वादनमार्गणायां सप्तत्यादीनि चत्वारि बन्धस्थानानि भवन्ति, तत्र त्रिसप्ततेर्बन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम्, तद्बन्धस्थानस्यात्रायुष्कबन्धसहितस्यैव लाभात् आयुर्बन्धकाले च प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानद्वयं विहाय गुणपरावृत्तेरभावाच्च । शेषत्रयाणां बन्धस्य जघन्यकालः समयः, समयान्तरे तत्तद्बन्धस्थानस्य परावर्तनात् मार्गणाया जघन्यकालस्य समयप्रमाणत्वाच्च । चतुर्णामपि बन्धस्थानानां ज्येष्ठकालः पल्योपमस्यासंख्येयभागः, मार्गणाया ज्येष्ठकालस्य तावत्प्रमाणत्वादिति ॥११०॥

॥ श्रीप्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिबन्धे
द्वितीयाऽधिकारे परस्थाननिरूपणायामेकावशं
नानाजीवाश्रित कालद्वार समाप्तम् ॥

॥ अथ द्वादशं नानाजीवाश्रयमन्तरद्वारम् ॥

गतं परस्थाने नानाजीवाश्रयं कालद्वारम् । अथ परस्थान एव नानाजीवानाश्रित्य बन्धस्थानानामन्तरस्य निरूपणाया अवसरः, तत्रादावोघतस्तत्प्ररूपयन्नाह—

उत्तरपयडीण खगो सत्तरहाइणवगेगसट्ठीणं ।
सयरिचउसत्तरीणं लहुमंतरमत्थि जेट्ठं तु ॥१११॥
सग सत्तरहाईण छमासा अहियवरिसो तिवण्णाए ।
बिति छमासाऽणो चउवरिणागसट्ठीण हायणपुहुत्तं ॥११२॥(गीतिः)
सयरिचउसत्तरीणं भिन्नमुहुत्तमियराण णो एवं ।
दुपणिंदितसतिमणवयकायभवाहारगेसु भवे ॥११३॥
णवरिजहण्णं समयो दुपणिंदियतसतिमणवयेसु भवे ।
सगसट्ठीए जेट्ठं णेयं तिरियाउकम्मंव ॥११३॥B

(प्रे०) "उत्तरे"त्यादि, परस्थाने नानाजीवविषयकबन्धान्तरनिरूपणायामोघतः सप्तदशाष्टादशैकोनविंशतिविंशत्येकविंशतिद्वाविंशतिषड्विंशतिरूपसप्तबन्धस्थानानि क्षपकश्रेणिगतैः सर्वैरपि प्राप्यन्ते, किञ्च क्षपकश्रेण्यन्तरं जघन्यतः समयप्रमाणम्, उत्कृष्टतः षण्मासप्रमाणमिति प्रोक्तबन्धस्थानानामपि जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं षण्मासाः । उपशामकापेक्षया तु ज्येष्ठान्तरं वर्षपृथक्त्वं भवति ।

त्रिपञ्चाशद्बन्धस्थानस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं सातिरेकवर्षप्रमाणं भवति, क्षपकश्रेणिप्रकृष्टान्तरस्य सामान्येन षण्मासप्रमाणत्वेऽपि जिनव्यतिरिक्तानां तदन्तरस्य सातिरेकवर्षप्रमाणत्वेन सिद्धप्राभृते भणनात्, त्रिपञ्चाशद्बन्धे तु जिननामबन्धो न प्राप्यते इति यथोक्तमेवान्तरं स्यात् । अपरे तु अजिनसिद्धानां प्रकृष्टान्तरं षण्मासप्रमाणं प्रतिपादयन्ति इत्यवधेयम् । चतुःपञ्चाशतो जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं तु वर्षपृथक्त्वं जिननामबन्धकानां क्षपकश्रेण्य-तरं सिद्धप्राभृतानुसारेण पूर्वसहस्राणि प्राप्यते, उपशा पेक्षया तु ततो न्यूनान्तरमपि स्यात् । यद्वा पृथक्त्वशब्दोऽत्र बहुत्ववाची द्रष्टव्य इति । एकषष्टेर्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः ज्येष्ठा.न्तरं तु वर्षपृथक्त्वम्, देशविरतानां जिनना न्धकानामायुर्बन्धान्तरस्य तथात्वात् ।

सप्ततेश्चतुःसप्ततेश्च बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, एकोऽनेके वा जीवाः प्रस्तुतबन्धस्थानं निर्वर्त्य बन्धस्थानान्तरं प्राप्ताः, समयमन्तरयित्वाऽन्ये जीवाः प्रस्तुतबन्धस्थानं प्राप्नुवन्ति तदा प्रस्तुतान्तरं प्राप्यते, सप्ततेर्बन्धस्थानस्य सास्वादनस्थजीवापेक्षया तु बन्धस्थानपरावृत्त्याऽप्यन्तरं

समयः प्राप्यते । ज्येष्ठान्तरं बन्धस्थानद्वयस्यान्तर्मुहूर्तम् , उद्योतनामवेदकेषु पृथ्वीकायिकादिषु त्रस-कायिकेषु चोत्पत्त्यन्तरस्य प्रकृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वेन तत्प्रायोग्यायुष्कबन्धकानामन्तरस्य तथा-त्वात् । सप्ततेर्बन्धस्थानस्य ज्येष्ठान्तरमायुष्कबन्धमपेक्ष्यान्तर्मुहूर्तं भवति, सास्वादनगुणस्थानसत्क सप्ततेर्बन्धस्य ज्येष्ठान्तरं तु पल्योपमस्यासंख्येयभागः प्राप्यत इति न तदपेक्षया अत्रान्तरं विज्ञेयमिति ।

एक-पञ्चपञ्चाशत् षट्पञ्चाशत्-सप्तपञ्चाशद्--ष्टपञ्चाश--न्नवपञ्चाशत्-षष्टि-त्रिषष्टि-चतुःषष्टि-पञ्चषष्टि-षट्षष्टि-सप्तषष्ट्य-ष्टषष्ट्येकोनसप्तत्येकसप्ततिद्वासप्ततित्रिसप्ततिरूपाणां सप्तदशानां बन्धस्था-नानां नानाजीवानपेक्ष्य बन्धकालस्य सर्वाद्धाया लाभात् तदन्तरं नास्ति । प्रथमचतुर्थपञ्चम-षष्ठसप्तमत्रयोदशगुणस्थानेषु जीवानामवस्थानस्य ध्रुवत्वेन तेषु बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जानां बन्धस्थानानामपि सदैव लाभात् तेषामन्तरं नास्ति, आयुष्कबन्धस्थानेषु केवलं सप्तषष्टेर्बन्धो ध्रुवत्वेन प्राप्यते, तद्बन्धकानामोघे आनन्त्यात् , अतस्तद्बन्धान्तरं नास्तीति ।

मार्गणासु बन्धान्तरं निरूपयन्नाह—'दुपणिंदि" इत्यादि, पञ्चेन्द्रियौघ पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-मनोयोगौघ-सत्या-ऽसत्यामृषाभेदद्वय-वचनयोगौघ-सत्या-ऽसत्यामृ-षावचनयोगद्वय-काययोगौघ-भव्या-हारिरूपासु त्रयोदशमार्गणासु सर्वेषां बन्धस्थानानां सम्भवः, तद्बन्धकानामन्तरमोघवद् विज्ञेयम् , भावनाऽप्योघवदेव कार्या । केवलमत्रैकोऽपवादः-काययो-गौघ-भव्या-हारिमार्गणात्रयं विहाय दशमार्गणासु जीवा असंख्यलोकतोऽतीवाल्पाः, अतो न तेषा-मायुर्बन्धसत्कैकमपि स्थानं ध्रुवतया प्राप्यते, अत एव सप्तषष्टेर्बन्धस्यौघे सर्वदैव लाभेन तदन्तरं नास्ति, प्रस्तुते पञ्चेन्द्रियौघादिदशमार्गणासु तस्याध्रुवत्वादन्तरं प्राप्यते, तच्च जघ-न्यतः समयः, ज्येष्ठान्तरं द्विपञ्चेन्द्रियद्वित्रसकायमार्गणास्वन्तर्मुहूर्तम् , असंख्यन्तानां त्रसानां प्रत्यन्तर्मुहूर्तं पर्याप्ताऽपर्याप्तैकेन्द्रियेषूत्पादात् तेभ्यस्त्रसेषूत्पादाच्च । मनोयोगादिमार्गणाषट्के तु सप्तषष्टे ज्येष्ठान्तरं द्वादशमुहूर्तानि सम्भवति एतावत्कालं यावत् मनोयोगवतां मरणाभावेन तत्रोत्पादाभावेन च तत्प्रायोग्यायुष्कबन्धाभावात् । विशेषं तु बहुश्रुता विदन्ति ॥१११-११३॥

अथ नरकगत्योघादिमार्गणासु स्थानानां बन्धान्तरं निरूपयन्नाह—

णिरयपढमाइतिणिरयतइआइगअट्ठमंतदेवेसुं ।
छासट्ठीए समयो लहुं गुरुं हायणपुहुत्तं ॥ ११४ ॥
अहवा भवंतरेणं उक्कोसं दुइअतइअणिरयेसुं ।
पलिओवमस्स भागो असंखियतमो मुणेयव्वं ॥ ११५ ॥
लहुमिगसयरीअ खणो पल्लस्स गुरुं भवे असंखंसो ।
चउसयरीए आणगपयडिव्व ण होइ सेसाणं ॥ ११६ ॥

(प्रे०) "णिरये"त्यादि, नरकगत्योघे प्रथम द्वितीय तृतीयनरकभेदेषु सनत्कुमारादिसहस्रारान्तेषु षड्देवमार्गणाभेदेषु च षट्षष्टेर्बन्धकानां जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं वर्षपृथक्त्वम्, एतासु मिथ्यादृष्टीनां षट्षष्टेर्बन्धस्थानाभावात् सम्यग्दृष्टीनामुक्तबन्धस्थानस्य जिननाम' नुष्यायुष्कबन्धसहितत्वाच्च तस्यान्तरं जघन्यतः समयः, समयान्तरेऽन्यजीवेन तद्बन्धप्रारम्भात् । उत्कृष्टतस्तु वर्षपृथक्त्वप्रमाणं प्रस्तुतान्तरं प्राप्यते, वर्षपृथक्त्वे गते एतेभ्यः प्रत्येकं जिनतया मनुष्येष्ववश्यमुत्पादात् । अत्र पृथक्त्वशब्दो बहुत्ववाची द्रष्टव्यः, तेन संख्येयानि वर्षाणि प्रस्तुतेऽन्तरतया ज्ञातव्यानि, । मतान्तरेण द्वितीयतृतीयनरकमार्गणाभ्यां पल्योपमासंख्येयभागेन जिनतया उत्पादस्याभिमतत्वेन तावत्प्रमाणमन्तरं तन्मते प्रस्तुतबन्धस्थानबन्धस्य ज्ञातव्यम् ।

एकसप्ततेर्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं पल्योपमस्यासंख्येयभागः, उक्तमार्गणासु एतद्बन्धस्थानस्य सास्वादनजीवापेक्षयैव लाभेन सास्वादनान्तरस्य प्रस्तुतमार्गणासु दर्शितप्रमाणत्वात् प्रस्तुतान्तरं तथोक्तम् । चतुःसप्ततेर्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं तूक्तमार्गणासु यावत्तिर्यगायुष्कप्रकृतिबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं प्राप्यते तावद्विज्ञेयम् । तत्रापि तत्स्वयं बहुश्रुतेभ्यो द्रष्टव्यमिति दर्शितत्वात् प्रस्तुतेऽपि तथा द्रष्टव्यम् । शेषाणां चतुःषष्टिपञ्चषष्टिद्वासप्ततित्रिसप्ततिरूपबन्धस्थानचतुष्कबन्धस्य सर्वदैव भावेन तेषामन्तरमेव नास्तीति ॥११४-११६॥

एतर्हि चतुर्थादिनरकमार्गणासु बन्धान्तरं प्राह—

तुरिआइणारगेसुं तीसु लहुं अंतरं भवे समयो ।
पणसट्ठीए जेट्ठं सुयाणुसारेण सयमुज्झं ॥११७॥
लहुमिगसयरीअ खणो पल्लस्स गुरुं भवे असंखंसो ।
चउसयरीए आउगपयडिव्व ण होइ सेसाणं ॥११८॥

(प्रे०) "तुरिआई"त्यादि, चतुर्थपञ्चमषष्ठनरकमार्गणात्रये षट्षष्टेर्बन्धस्थानमेव न भवति । पञ्चषष्टेर्बन्धस्य च मनुष्यायुष्कबन्धसहितत्वेन तस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं तूक्तनारकेभ्यः सम्यक्त्वेन सह मनुष्येषूत्पद्यमानानां यावदन्तरं स्यात् तावदन्तरं विज्ञेयम्, तच्च बहुश्रुतेभ्यः स्वयं विज्ञेयमिति, संख्येयवर्षाणि प्रस्तुतान्तरं सम्भवतीति । एकसप्ततेर्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तर पल्योपमस्यासंख्येयभाग', भावना नरकौघवत् कार्या । चतुःसप्ततेश्च बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं तु तत्तन्मार्गणायां यावत् तिर्यगायुष्कबन्धान्तरं प्राप्यते तावद्विज्ञेयम् । विशेषभावना तु नरकौघवत् कार्या सुगमा च । शेषाणां चतुःषष्टेर्द्विसप्ततेस्त्रिसप्ततेश्च बन्धानामन्तरं नास्ति, नानाजीवानधिकृत्य तेषा निरन्तर बन्धस्य प्राप्यमाणत्वात् ॥११७-११८॥

अथ सप्तमनरकमार्गणायां प्राह—

सत्तमणिरये हस्सं समयो एगसयरीअ उक्कोसं ।
पलिओवमस्स भागो असंखियमो मुणेयव्वं ॥११९॥
चउसत्तरीअ समयो लहुं गुरुं होइ आउपयडिव्व ।
णो चेव भवे तिण्हं बंधट्ठाणाण सेसाणं ॥१२०॥

(प्रे०) "सत्तमणिरये" इत्यादि, सप्तमनरकमार्गणायामेकसप्ततेर्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं पल्योपमस्यासंख्येयभागः, भावना नरकौघवत् कार्या । चतुःसप्ततेर्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं तु यावदायुष्कप्रकृतेर्बन्धान्तरं प्राप्यते तावद्विज्ञेयम्, भावना नरकौघवत् कार्या । शेषाणां चतुःषष्टेर्द्वासप्ततेस्त्रिसप्ततेश्च बन्धस्यान्तरं नास्ति, सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां च प्रस्तुतमार्गणायां सदैव लाभेनोक्तबन्धस्थानत्रयस्य सर्वदैव बन्धलाभात् । ॥११९-२०॥ अथ तिर्यग्गत्योघादिमार्गणासु प्राह—

समयो सट्ठीए चउसट्ठीअ तिरितिपणिंदितिरियेसुं ।
होइ लहुं उक्कोसं मासपुहुत्तं णेयव्वं ॥ १२१ ॥
सयरिचउसत्तरीणं आउगकम्मव्व णत्थि सेसाणं ।
णवरं सडसट्ठीए आउव्व पणिदितिरियतिगे ॥ १२२ ॥

(प्रे०) "समयो" इत्यादि, तिर्यग्गत्योघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिरश्चीमार्गणाचतुष्के षष्टेश्चतुःषष्टेश्चेति बन्धस्थानयोर्जघन्यान्तरं समयः, उक्तबन्धस्थानद्वयस्य देशविरताऽविरतसम्यग्दृष्टीनामायुष्कबन्धसहितत्वेन बन्धे सान्तरत्वात् । ज्येष्ठान्तरं तु मासपृथक्त्वम्, देशविरताविरतसम्यग्दृशामायुर्बन्धान्तरस्य तथात्वात् । सप्ततेश्चतुःसप्ततेश्च जघन्यान्तरं समयः, भावना त्वोघवत् कार्या, ज्येष्ठान्तरं त्वायुष्कबन्धान्तरवद् विज्ञेयम्, तच्च तिरश्चीमार्गणां विहाय प्रस्तुतमार्गणासु प्रकृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तम् । पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणात्रिके सप्तषष्टेर्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं तु तिर्यगायुष्कबन्धान्तरवद् विज्ञेयम्, तच्च मार्गणाद्वयेऽन्तर्मुहूर्तम् । तिर्यग्गत्योघे तु सप्तषष्टेर्बन्धस्यान्तरं नास्ति, तद्बन्धकालस्य सर्वाद्धाया लाभात् । शेषाणामेकोनषष्टि-त्रिषष्टि-षट्षष्ट्य-ष्टषष्ट्येकोनसप्तत्ये-कसप्तति-द्वासप्तति-त्रिसप्ततिरूपाणामष्टानां बन्धकालः सर्वाद्धा भवति, अतस्तेषां बन्धस्य नानाजीवाश्रितमन्तरं नास्ति ॥१२१-२२॥ अथ अपर्याप्त-पञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु प्राह—

असमत्तपणिंदितिरियपणिंदियतसेसु सव्वविगलेसुं ।
पज्जत्तबायरपुढविआइचउगपज्जपत्तेए ॥ १२३ ॥

दुविहं सहमट्ठिमयरिचउसयरीणऽत्थि आउकम्मव्व ।
सेसाणं पंचण्हं बंधट्ठाणाण णेव भवे ॥ १२४ ॥

(प्रे०) "असमत्ते"त्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियः, अपर्याप्तत्रसकायः, नवविकलाक्षभेदाः, बादरपर्याप्तपृथ्व्यप्तेजोवायुकायाः, पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायश्चेति, तासु सप्तदशमार्गणासु मार्गणाया ध्रुवत्वेन प्रथमगुणस्थाने प्रस्तुतमार्गणानां भावेनायुष्करहितस्वप्रायोग्यसर्वस्थानानां बन्धस्य सर्वदा भावेन तदन्तरं नास्ति, नानि च षट्पष्टय एपष्टये-कोनसप्तति-द्वासप्तति-त्रिसप्ततिरूपाणि पञ्च । सप्तषष्टिमप्ततिचतुःसप्ततिरूपाणां त्रयाणां बन्धस्थानानामायुष्कान्येनैव प्राप्यमाणत्वेन सान्तरत्वात् तेषां प्रत्येकं बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं त्वायुष्कबन्धान्तरवत् भवति, तच्चान्तर्मुहूर्तं द्रष्टव्यमिति ॥ १२३-१२४ ॥

अथ मनुष्यौघादिमार्गणात्रये बन्धान्तरं निरूरूपयिषु प्राह—

तिण्णेसु लहुं समयो सत्तरसाईण होइ अट्ठण्हं ।
ओघव्व गुरुं णवरं वासपुहुत्तं मणुस्सीए ॥ १२५ ॥
चउपण्णासाए तह इगसट्ठीअ तह पंचसट्ठीए ।
समयो अत्थि जहण्णं उक्कोसं हायणपुहुत्तं ॥१२६॥
दुविहं सहसट्ठिसयरिचउसयरीणऽत्थि आउकम्मव्व ।
ण भवे पंचदसण्हं बंधट्ठाणाण सेसाणं ॥१२७॥

(प्रे०) "तिण्णे" इत्यादि, मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणात्रये सप्तदशादिषड्विंशतिपर्यन्तानां सप्तानां बन्धस्थानानां जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं मनुष्यौघे पर्याप्तमनुष्ये षण्मासाः, भावना ओघवत् कार्या, मानुषी मार्गणायां सप्तानां बन्धस्थानानां ज्येष्ठान्तरं वर्षपृथक्त्वम्, श्रेणिद्वयान्तरस्य तथात्वात् । त्रिपञ्चाशद्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं तु मार्गणाद्वये सातिरेकवर्षम्, अन्ये तु षण्मासाः । मानुष्यां वर्षपृथक्त्वम्, पृथक्त्वशब्दोऽत्र प्राक् च बहुत्ववाची द्रष्टव्यः । चतुःपञ्चाशत एकषष्टेः पञ्चषष्टेश्च बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं तु वर्षपृथक्त्वम्, आद्यस्थानद्वयस्य भावनौघवत् कार्या, पञ्चषष्टेर्बन्धस्य भावना त्वोघोक्तैकषष्टेर्बन्धान्तरवत् कार्या, मानुष्यां चतुःपञ्चाशतोऽन्तरभावनोपशमश्रेण्यपेक्षया ज्ञेया, क्षपकश्रेण्यपेक्षया तु तस्यां तदन्तरस्यानन्तकालप्रमाणत्वात् । सप्तषष्टेः सप्ततेश्चतुःसप्ततेश्च बन्धान्तरं जघन्यतः समयः, ज्येष्ठान्तरं तूक्तमार्गणात्रये यावत् तिर्यगायुष्कबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं भवति तावत्

प्रस्तुते तद् विज्ञेयम्, तदन्तरं च बहुश्रुतेभ्यो ज्ञात्वा विभावनीयमिति। शेषाणां एक-पञ्चपञ्चाशत्षट्पञ्चाशत्सप्तपञ्चाशदष्टपञ्चाशदेकोनषष्टिषष्टित्रिषष्टिचतुःषष्टिषट्षष्ट्य-ष्टषष्ट्ये-कोनसप्तत्ये-कसप्तति-द्वासप्तति-त्रिसप्ततिरूपाणां पञ्चदशानां बन्धान्तरं नास्ति, तद्बन्धकानां सदैव लाभात् तद्बन्धप्रायोग्यगुणस्थानानां नानाजीवापेक्षया ध्रुवत्वात्, आयुष्कबन्धं विनापि तद्बन्धस्य प्रवर्तनाच्च ॥१२५-१२७॥ अथ अपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणात्रये बन्धान्तरं प्राह—

समयो सव्वाण ल अपज्जणरमीससासणेसु भवे।
सप्पाउग्गाण गुरुं पल्लस्स भवे असंखंसो ॥१२८॥

(प्रे०) "समयो" इत्यादि, अपर्याप्तमनुष्य-सम्यग्मिथ्यात्व-सास्वादनमार्गणासु तत्तन्मार्गणायां बन्धप्रायोग्याणां स्थानानां बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, नानाजीवानधिकृत्यापि दर्शितमार्गणानां सान्तरत्वात्, तासु जीवानां सद्भावान्तरस्य जघन्यतः समयप्रमाणत्वाच्च। बन्धस्य ज्येष्ठान्तरं तु पल्योपमस्यासंख्येयभागः, नानाजीवापेक्षया मार्गणानां प्रकृष्टत एतावत्-कालं यावत् शून्यत्वात्। बन्धस्थानानि पुनरपर्याप्तमनुष्ये षट्षष्ट्यादीनि पञ्च, द्वासप्तत्यादीनि त्रीणि चेत्यष्टौ। सम्यग्मिथ्यात्वे त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिश्चेति द्वे। सास्वादने सप्तत्यादीनि चत्वारि। ॥१२८॥ एतर्हि देवौघादिमार्गणासु बन्धान्तरं निरूपयन्नाह—

छासट्ठीए समयो सुरकप्पदुगविउवेसु लहुमियरं।
वासपुहुत्तं सत्तरिचउसयरीण तिरियाउव्व ॥१२९॥
एगसयरीअ समयो अत्थि जहण्णं हवेज्ज उक्कोसं।
पल्लासंखियभागो सेसाणं छण्ह णेव भवे ॥१३०॥

(प्रे०) "छासट्ठीए" इत्यादि, देवौघ-सौधर्मेशानकल्पद्वय-वैक्रियमार्गणासु षट्षष्टेर्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं वर्षपृथक्त्वं भवति, उक्तमार्गणासु सम्यग्दृष्टीनां जिननामनुष्यायुष्कबन्धसहितानामेव षट्षष्टेर्बन्धस्थानस्य लाभेन तेभ्यो मनुष्येषु जिनतया उत्पादान्तरस्य वर्षपृथक्त्वेन च प्रस्तुतान्तरस्य तथात्वात्। पृथक्त्वशब्दो बहुत्ववाची ज्ञेयः।

सप्ततेश्चतुःसप्ततेश्च बन्धान्तरं जघन्यतः समयः, ज्येष्ठान्तरं तु तिर्यगायुष्कबन्धस्योक्तमार्गणासु यावदन्तरं प्राप्यते तावद् विज्ञेयम्। तच्च तत एवावधार्यमिति।

एकसप्ततेर्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं तु पल्योपमस्यासंख्येयभागः, उक्तबन्धस्थानस्य प्रस्तुते सास्वादनसम्यग्दृष्टीनामेव लाभेन सास्वादनगुणान्तरस्य प्रस्तुते तथात्वादुक्त-कालप्रमाणमन्तरं प्राप्यत इति। मार्गणाचतुष्के शेषाणां बन्धप्रायोग्याणां चतुःषष्टिपञ्चषष्ट्य ष्टषष्ट्ये-

कोनसप्ततिद्वासप्ततित्रिसप्ततिरूपाणां षण्णां बन्धस्य सर्वदैव भावेन तेषामन्तरं नास्ति, तद्बन्ध-प्रायोग्यगुणस्थानानां ध्रुवत्वादायुष्कबन्धं विनाऽपि तेषां बध्यमानत्वाच्च ॥१२९-३०॥

अथ भवनपत्यादिमार्गणासु प्राह—

भवणातिगम्मि जहरणं पणसट्ठीअ समयो भवे जेट्ठं ।
मासपुहुत्तं सत्तरिचउसयरीणाउकम्मव्व ॥१३१॥
एगसयरीअ समयो अत्थि जहरणं हवेज्ज उक्कोसं ।
पल्लासंखियभागो ण भवे पंचरह सेसाणं ॥१३२॥

(प्रे०) "भवणे"त्यादि, भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कमार्गणात्रये पट्पष्टेर्बन्धस्थानाभावः । पञ्चषष्टेर्बन्धस्थानं सम्यग्दृष्टीनां मनुष्यायुष्कबन्धसहितं भवति, तद्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं तु मासपृथक्त्वम्, देवगतिभेदेषु सहस्रारान्तेष्वायुष्कबन्धान्तरस्य सम्यग्दृष्टीनां जिन-नामबन्धरहितानां मासपृथक्त्वप्रमाणत्वात् । देवेषु मनुष्येषु च सम्यग्दृष्ट्युत्पादान्तरस्य मासपृथ-क्त्वप्रमाणत्वाच्च, पृथक्त्वशब्दो बहुत्ववाची द्रष्टव्यः । सप्ततेश्चतुःसप्ततेरेकसप्ततेश्च बन्धान्तरं देवौघदर्शितान्तरवद् विज्ञेयम् । शेषाणां चतुःषष्टिषट्पष्टयेकोनसप्ततिद्वासप्ततित्रिसप्ततिरूपाणां पञ्चानां बन्धस्थानानामन्तरं नास्ति, तद्बन्धस्य सर्वदैव लाभात्, भावना तु देवौघवत् कार्या इति ॥१३१-३२॥

सनत्कुमारादितानतादिनवमग्रैवेयकान्तत्रयोदशमार्गणासु बन्धान्तरं प्राह—

तेरससु देवेसुं गेविज्जंतेसु आणताईसुं ।
छासट्ठितिसयरीणं आउगकम्मव्व विरणेयं ॥१३३॥
एगसयरीअ समयो अत्थि जहरणं हवेज्ज उक्कोसं ।
पल्लासंखियभागो सेसाणं तिरह णेव भवे ॥१३४॥

(प्रे०) "तेरससु"मित्यादि, आनतादित्रयोदशमार्गणासु नवमग्रैवेयकपर्यन्तासु पट्षष्टे-स्त्रिसप्ततेश्च बन्धान्तरं जघन्यतः समयः, ज्येष्ठान्तरं त्वायुष्कबन्धस्य यावदन्तरं भवति तावद् विज्ञेयम्, तदन्तरं तु स्वयमूह्यत्वेन मूलप्रकृतौ भणितम्; तथैवेहापि द्रष्टव्यम्, उक्तबन्धस्थानद्व-यमायुष्कबन्धसहितमेवेति तथा दर्शितम् । तद्यथा—उक्तबन्धस्थानद्वयस्य सामान्यतो ज्येष्ठान्तरं वर्षपृथक्त्वप्रमाणं भवति, पृथक्त्वशब्दस्य बहुत्वार्थेऽपि दृश्यमाणत्वात् । षट्षष्टेर्बन्धस्य ज्येष्ठा-न्तरं संख्येयपूर्वसहस्राणि भवति, त्रिसप्ततेस्तु ज्येष्ठान्तरमानतप्राणतकल्पद्वये मासपृथक्त्वं विज्ञेयं शेषैकादशभेदेषु तु संख्येयानि वर्षाणि ज्येष्ठान्तरं संभवति । विशेषतस्तु बहुश्रुता तदन्तरं

जानन्तीति । एकसप्ततेर्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं पल्योपमस्यासंख्येयभागः, भावना तु देवौघवत् कार्या । शेषाणां चतुःषष्टेः पञ्चषष्टेर्द्वासप्ततेश्च बन्धस्यान्तरं नास्ति, तद्बन्धकानां सर्वदैव लाभात् । अत्र चतुर्थगुणस्थाने बन्धस्थानद्वयं प्रथमगुणस्थाने चैकमेव ध्रुवबन्धस्थानं भवतीति ॥१३३-१३४॥ अथाऽनुत्तरमार्गणापञ्चके प्राह—

पंचसु अणुत्तरेसुं होइ छसट्ठीअ आउकम्मव्व ।
णो चेव भवे दोण्हं बंधट्ठाणाण सेसाणं ॥ १३५ ॥

(प्रे०) "पंच" इत्यादि, अनुत्तरमार्गणापञ्चके षट्षष्टेर्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं तु तत्तन्मार्गणायां यावदायुष्कबन्धस्थानानामन्तरं भवति तावद्विज्ञेयम् , तत्र प्रकृतिबन्धान्तरं मार्गणापञ्चकेऽपि स्वयमूह्यमित्युक्तमस्ति । तच्चानुत्तरचतुष्के पल्योपमस्यासंख्येयभागमसंख्येयवर्षरूपम् , अन्ये तु वर्षपृथक्त्वं प्रतिपादयन्तिः सर्वार्थसिद्धे तु पल्योपमस्य संख्येयभागम् । अत्र आयुष्कर्मबन्धान्तरतः संख्येयगुणान्तरस्य भावेऽपि मुकुलितभणनेन व्याख्यानतः षट्षष्टेर्बन्धस्यान्तरमायुष्कबन्धान्तरतः संख्येयगुणमवसातव्यम् , जिननामबन्धकानां जिननामाऽबन्धकेभ्यः संख्येयभागमात्रत्वादिति । भावना तु सुगमा । शेषयोर्बन्धस्थानयोश्चतुःषष्टेः पञ्चषष्टेश्च बन्धस्यान्तरं नास्ति, तद्बन्धकानां सदैव लाभात् , जिननामबन्धकानां च सदैव लाभादित्यर्थः ॥ १३५ ॥

अथेन्द्रियकायमार्गणासत्कशेषभेदेषु प्राह—

सव्वेसुं एगिंदियणिगोअभेएसु पुढविआईसुं ।
चउसुं सि सव्वसुहमबायरबायरअपज्जेसुं ॥१३६॥
वणकाये पत्तेए तस्स अपज्जत्तगम्मि ओघव्व ।
सयरिचउसत्तरीणं सेसाणं छण्ह णेव भवे ॥१३७॥

(प्रे०)"सव्वेसु"मित्यादि, सप्तैकेन्द्रियमार्गणा-सप्तनिगोदमार्गणा-बादरपर्याप्तरहितपृथ्वीकायभेदषट्काप्कायभेदषट्कतेजस्कायभेदषट्कवायुकायभेदषट्क-प्रत्येकवनस्पतिकायौघतदपर्याप्तमार्गणा-वनस्पतिकायौघरूपा एकचत्वारिंशद्मार्गणाः, तासु जीवानामनन्तत्वादसंख्यलोकप्रमाणत्वाद्वा सप्तषष्टेर्बन्धस्यायुष्कबन्धसहितत्वेऽपि तस्यापर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यत्वेन ध्रुवत्वात्तद्बन्धस्यान्तरं नास्ति। तथा षट्षष्ट्य-ष्टषष्ट्येकोनसप्तति-द्वासप्तति-त्रिसप्ततिरूपाणां पञ्चानां बन्धस्याप्यन्तरं नास्ति, आयुष्कबन्धरहितानां तेषां बन्धस्य सर्वदा लाभात् । सप्ततेश्चतुःसप्ततेश्च बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं तु तिर्यगायुष्कबन्धान्तरवत् प्रस्तुतान्तरमिति न वक्तव्यम् , यत एतासु तिर्यगायुष्कबन्धान्तरस्यैवाभावात् , अत एतास्वोघवत् सप्ततेश्चतुःसप्ततेश्च बन्धस्य ज्येष्ठा-

न्तरमन्तर्मुहूर्तप्रमाणं भवति, उक्तबन्धस्थानद्वयस्य बन्धप्रायोग्यजीवानामानन्त्यादसंख्येयलोक-प्रमाणत्वाद्वा तद्ध्रुवबन्धस्य संभवेऽपि तद्वेदकजीवानाममंख्येयलोकतोऽतीवन्यूनत्वात्, उक्त-बन्धस्थानयोरायुष्कबन्धसाहितत्वादन्तर्मुहूर्तप्रमाणमन्तरमोघवत् प्राप्यत इति ॥१३६ १३७॥

सम्प्रति मनोयोगवचनयोगमत्कोक्तशेषभेदादिषु प्रस्तुतं बन्धान्तरं प्राह—

सव्वपयडीण णेयं मणव्व दुमणवयचक्खुसण्णीसुं

णवरं एगस्स लहुं खणो गुरुं होइ छम्मासा ॥१३८॥

(प्रे०) "सव्वे"त्यादि, असत्य-सत्यासत्य-मनोयोगद्वये; एवं वचनयोगद्वये; चक्षुर्दर्शने संज्ञिमार्गणायां च षट्सु सर्वबन्धस्थानानि भवन्ति; जीवाश्चासंख्यलोकतोऽतीव न्यूनाः, सयोगिकेवलिनां चालाभः, एवं एतासु एकस्य बन्धान्तरं यथौघे सप्तदशबन्धस्यान्तरं दर्शितं तथा प्राप्यते, तद्यथा-जघन्यतः समयः, उत्कृष्टान्तरं तु षण्मासाः, भावना तु सप्तदशबन्धान्तरवत् कार्या । शेषाणामष्टाविंशतेर्बन्धस्थानानां प्रस्तुतान्तरप्ररूपणा मनोयोगौघवत् कार्या, सा चौघवदेव, विहाय सप्तषष्टेर्बन्धान्तरप्ररूपणाम् । अन्तरस्य भावनाप्योघानुसारेण मनोयोगौघानुसारेण च कार्या । सप्तषष्टेर्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं तु तत्तन्मार्गणासु यावत्तिर्यगायुष्कबन्धान्तरं प्राप्यते तावद् विज्ञेयम्, तच्च कासुचिदन्तर्मुहूर्तम्, इत्यादि बहुश्रुतेभ्यो भावनीयम् ॥ १३८ ॥ अथौदारिकयोगे बन्धान्तरं प्राह—

ओघव्व अत्थि उरले सव्वेसिं णवरि पंचसट्ठीए ।

समयो अत्थि जहण्णं वासपुहुत्तं भवे जेट्ठं ॥ १३९ ॥

(प्रे०) "ओघव्वे"त्यादि, औदारिककाययोगे सर्वेषां बन्धस्थानानां बन्धान्तरप्ररूपणौघवद् विज्ञेया, मनुष्यतिर्यगपेक्षया सर्वस्थानानां लाभात्, तदपेक्षयैवान्तरस्य लाभाच्च । केवलं पञ्चषष्टेर्बन्धस्य देवनारकानपेक्ष्यैव ध्रुवतया लाभेन प्रस्तुते तद्बन्धस्य सर्वदाऽलाभात् तिरश्चां तद्बन्धस्थानस्यैवाभावाच्च मनुष्याणां चतुर्थगुणस्थानगतानां जिननामदेवायुष्कबन्धकानामेव तद्बन्धलाभेन तस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं तु वर्षपृथक्त्वम्, भावना त्वोघोक्तैकषष्टेर्बन्धस्थानवदविरतसम्यग्दृष्टिमनुष्यानपेक्ष्य कार्या सुगमा चेति । शेषा सर्वा अपि भावना ओघवद् विभावनीया ॥ १३९ ॥ अथ औदारिकमिश्रे प्रस्तुतान्तरं प्राह—

समयो एगस्स त चउसट्ठीए उरालमीसम्मि ।

अत्थि जहण्णं जेट्ठं वासपुहुत्तं णेयव्वं ॥१४०॥

तेवट्ठीए समयो अत्थि जहण्णं हवेज्ज उक्कोसं ।

मासपुहुत्तं सत्तरिचउसयरीणं दुहोघव्व ॥१४१॥

आनन्तीति । एक तेर्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं पल्योपमस्यासंख्येयभागः, भावना तु देवौघवत् कार्या । शेषाणां चतुःषष्टेः पञ्चषष्टेर्द्वासप्ततेश्च बन्धस्यान्तरं नास्ति, तद्बन्धकानां सर्वदैव लाभात् । अत्र चतुर्थगुणस्थाने बन्धस्थानद्वयं प्रथमगुणस्थाने चै व ध्रुवबन्धस्थानं भवतीति ॥१३३-१३४॥ अथाऽनुत्तरमार्गणापञ्चके प्राह—

पंचसु अणुत्तरेसुं होइ छसट्ठीअ आउकम्मव्व ।
णो चेव भवे दोराहं बंधट्ठाणाण सेसाणं ॥ १३५ ॥

(प्रे०) "पंच " इत्यादि, अनुत्तरमार्गणापञ्चके षट्षष्टेर्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं तु तत्तन्मार्गणायां यावदायुष्कबन्धस्थानानामन्तरं भवति तावद्विज्ञेयम् , तत्र प्रकृतिबन्धान्तरं मार्गणापञ्चकेऽपि स्वयमूह्यमित्युक्तमस्ति । तथाऽनुत्तरचतुष्के पल्योपमस्यासंख्येयभागमसंख्येयवर्षरूपम् , अन्ये तु वर्षपृथक्त्वं प्रतिपादयन्ति; सर्वार्थसिद्धे तु पल्योपमस्य संख्येयभागम् । अत्र आयुष्कर्मबन्धान्तरतः संख्येयगुणान्तरस्य भावेऽपि मुकुलितभणनेन व्याख्यानतः षट्षष्टेर्बन्धस्यान्तरमायुष्कबन्धान्तरतः संख्येयगुणमवसातव्यम् , जिननामबन्धकानां जिननामाऽबन्धकेभ्यः संख्येयभागमात्रत्वादिति । भावना तु सुगमा । शेषयोर्बन्धस्थानयोश्चतुःषष्टेः पञ्चषष्टेश्च बन्धस्यान्तरं नास्ति, तद्बन्धकानां सदैव लाभात् , जिननामबन्धकानां च सदैव लाभादित्यर्थः ॥ १३५ ॥

अथेन्द्रियकायमार्गणासत्कशेषभेदेषु प्राह—

सव्वेसुं एगिंदियणिगोअभेएसु पुढविआईसुं ।
चउसुं सिं सव्वसुहुमबायरबायरअपज्जेसुं ॥१३६॥
वणकाये पत्तेए तस्स अपज्जत्तगम्मि ओघव्व ।
सयरिचउसत्तरीणं सेसाणं छराह णेव भवे ॥१३७॥

(प्रे०)"सव्वेसु"मित्यादि, सप्तैकेन्द्रियमार्गणा-सप्तनिगोदमार्गणा-बादरपर्याप्तरहितपृथ्वीकायभेदषट्काप्कायभेदषट्कतेजस्कायभेदषट्कवायुकायभेदषट्क-प्रत्येकवनस्पतिकायौघतदपर्याप्तमार्गणा-वनस्पतिकायौघरूपा एकचत्वारिंशद्मार्गणाः, तासु जीवानामनन्तत्वादसंख्यलोकप्रमाणत्वाद्वा सप्तषष्टेर्बन्धस्यायुष्कबन्धसहितत्वेऽपि तस्यापर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यत्वेन ध्रुवत्वात्तद्बन्धस्यान्तरं नास्ति। तथा षट्पटथ-ष्टषष्टथे कोनसप्तति-द्वासप्तति-त्रिसप्ततिरूपाणां पञ्चानां बन्धस्याप्यन्तरं नास्ति, आयुष्कबन्धरहितानां तेषां बन्धस्य सर्वदा लाभात् । सप्ततेश्चतुःसप्ततेश्च बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं तु तिर्यगायुष्कबन्धान्तरवत् प्रस्तुतान्तरमिति न वक्तव्यम् , यत एतासु तिर्यगायुष्कबन्धान्तरस्यैवाभावात् , अत एतास्वोघवद् सप्ततेश्चतुःसप्ततेश्च बन्धस्य ज्येष्ठा-

न्तरमन्तर्मुहूर्तप्रमाणं भवति, उक्तबन्धस्थानद्वयस्य बन्धप्रायोग्यजीवानामानन्त्यादसंख्येयलोक-प्रमाणत्वाद्वा तद्ध्रुवबन्धस्य संभवेऽपि तद्वेदकजीवानाममंख्येयलोकतोऽतीवन्यूनत्वात्, उक्त-बन्धस्थानयोरायुष्कबन्धसहितत्वादन्तर्मुहूर्तप्रमाणमन्तरमोघवत् प्राप्यत इति ॥१३६ १३७॥

सम्प्रति मनोयोगवचनयोगमत्कोक्तशेषमेदादिषु प्रस्तुतं बन्धान्तरं प्राह—

सव्वपयडीण णेयं मणव्व दुमणवयचक्खुसरणीसुं

णवरं एगस्स लहुं खणो गुरुं होइ छम्मासा ॥१३८॥

(प्रे०) "सव्वे"त्यादि, असत्य-सत्यासत्य-मनोयोगद्वये; एवं वचनयोगद्वये; चक्षुर्दर्शने संज्ञिमार्गणायां च षट्सु सर्वबन्धस्थानानि भवन्ति; जीवाश्चासंख्यलोकतोऽतीव न्यूनाः, सयोगि-केवलिनां चालाभः, एवं एतासु एकस्य बन्धान्तरं यथौघे सप्तदशबन्धस्यान्तरं दर्शितं तथा प्राप्यते, तद्यथा-जघन्यतः समयः, उत्कृष्टान्तरं तु षण्मासाः, भावना तु सप्तदशबन्धान्तरवत् कार्या । शेषाणामष्टाविंशतेर्बन्धस्थानानां प्रस्तुतान्तरप्ररूपणा मनोयोगौघवत् कार्या, सा चौघवदेव, विहाय सप्तषष्टेर्बन्धान्तरप्ररूपणाम् । अन्तरस्य भावनाप्योघानुसारेण मनोयोगौ-घानुसारेण च कार्या । सप्तषष्टेर्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं तु तत्तन्मार्गणासु यावत्तिर्यगायुष्कबन्धान्तरं प्राप्यते तावद् विज्ञेयम्, तच्च कासुचिदन्तर्मुहूर्तम्, इत्यादि बहु-श्रुतेभ्यो भावनीयम् ॥ १३८ ॥ अथौदारिकयोगे बन्धान्तरं प्राह—

ओघव्व अत्थि उरले सव्वेसिं णवरि पंचसट्ठीए ।

समयो अत्थि जहण्णं वासपुहुत्तं भवे जेट्ठं ॥ १३९ ॥

(प्रे०) "ओघव्वे"त्यादि, औदारिककाययोगे सर्वेषां बन्धस्थानानां बन्धान्तरप्ररूपणौ-घवद् विज्ञेया, मनुष्यतिर्यगपेक्षया सर्वस्थानानां लाभात्, तदपेक्षयैवान्तरस्य लाभाच्च । केवलं पञ्चषष्टेर्बन्धस्य देवनारकानपेक्ष्यैव ध्रुवतया लाभेन प्रस्तुते तद्बन्धस्य सर्वदाऽलाभात् तिरश्चां तद्बन्धस्थानस्यैवाभावाच्च मनुष्याणां चतुर्थगुणस्थानगतानां जिननामदेवायुष्कबन्धकानामेव तद्बन्धलाभेन तस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं तु वर्षपृथक्त्वम्, भावना त्वोघोक्तैकषष्टे-र्बन्धस्थानवदविरतसम्यग्दृष्टिमनुष्यानपेक्ष्य कार्या सुगमा चेति । शेषा सर्वा अपि भावना ओघवद् विभावनीया ॥ १३९ ॥ अथ औदारिकमिश्रे प्रस्तुतान्तरं प्राह—

समयो एगस्स तहा चउसट्ठीए उरालमीसम्मि ।

अत्थि जहण्णं जेट्ठं वासपुहुत्तं णेयव्वं ॥१४०॥

तेवट्ठीए समयो अत्थि जहण्णं हवेज्ज उक्कोसं ।

मासपुहुत्तं सत्तरिचउसयरीणं दुहोघव्व ॥१४१॥

एगसयरीअ समयो अत्थि जहएणं हवेज्ज उक्कोसं ।
पल्लासंखियभागो सेसाणं छराह णेत्र भवे ॥१४२॥

(प्रे०) "समयो" इत्यादि, औदारिकमिश्र एकस्य चतुःषष्टेश्च बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं वर्षपृथक्त्वं भवति, एकविधबन्धकानां प्रस्तुतमार्गणायाः केवलिसमुद्घातावस्थायामेव भावेन केवलिसमुद्घातस्य नानाजीवानपेक्ष्यान्तरस्य प्रकृष्टतो वर्षपृथक्त्वप्रमाणत्वेन च प्रस्तुतान्तरमपि तथैव । चतुःषष्टेरन्तरं तु जघन्यतः समयः, प्रस्तुतमार्गणायां सम्यग्दृष्टीनामेव सान्तरत्वात् , ज्येष्ठान्तरं तु देवनैरयिकेभ्यो मनुष्येषु जिनतयोत्पद्यमानस्यैवौदारिकमिश्रे चतुःषष्टेर्बन्धस्थानस्य लाभात् मनुष्येषु जिनतयोत्पद्यमानानां यावदन्तरं प्रकृष्टतः स्यात् तावत् प्रस्तुतेऽन्तरं प्राप्यते, तच्च वर्षपृथक्त्वम् , पृथक्त्वशब्दोऽत्र बहुत्ववाची द्रष्टव्यः।

त्रिषष्टेर्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं तु मासपृथक्त्वम् , देवनैरयिकेभ्यो मास पृथक्त्वेन ससम्यक्त्वं मनुष्येषूत्पादात् , तेषां जिननामबन्धाभावे त्रिषष्टेरेव बन्ध इति । सप्ततेश्चतुःसप्ततेश्च बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, सुगमम् , ज्येष्ठान्तरं त्वोघवद् भवति, तच्चान्तर्मुहूर्तम् । एकसप्ततेर्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं तु पल्योपमस्यासंख्येयभागः, सास्वादन एव प्रस्तुतस्थानस्य लाभात् सास्वादनान्तरस्य तथात्वाच्च । शेषाणां बन्धप्रायोग्याणां षट्षष्टिसप्तषष्टयष्टषष्टयेकोनसप्तति-द्वासप्तति-त्रिसप्ततिरूपाणां षण्णां बन्धस्य सर्वदैव लाभेन तद्बन्धस्यान्तरं नास्ति । मार्गणायामनन्तजीवानां लाभात् परावर्तमानेन पञ्चानां बन्धस्थानानां बन्धस्य प्रवर्तनात् , सर्वदैवानन्तजीवानां सप्तषष्टेर्बन्धकतया लाभाच्च ॥१४०-४२॥

एतर्हि वैक्रियमिश्रे बन्धान्तरं दर्शयति—

विक्कियमीसे समयो सव्वाउग्गाण होअइ जहराणं ।
जेट्ठं चउसट्ठीए मासपुहुत्तं मुणेयव्वं ॥१४३॥
पणसट्ठीए णेयं वासपुहुत्तं तु एगसयरीए ।
पल्लासंखियभागो सेसाणं बार मुहुत्ता ॥१४४॥

(प्रे०) "विक्कियमीसे"इत्यादि, वैक्रियमिश्रमार्गणा नानाजीवैरपि सान्तरा भवति, अतस्तस्यां कदाचिदेकोऽपि जीवो नोपलभ्यते, अतो मार्गणाप्रायोग्यसर्वबन्धस्थानानामन्तरं भवति, तच्च जघन्यतः समयः, ज्येष्ठं तु चतुःषष्टेर्बन्धस्यान्तरं मासपृथक्त्वं भवति, सम्यग्दृष्टीनां देवेषूत्पादान्तरस्य प्रकृष्टत उक्तप्रमाणत्वात् । पञ्चषष्टेर्बन्धस्यान्तरं तु वर्षपृथक्त्वम् , बद्धजिननाम्नां मनुष्येभ्यो देवेषूत्पादान्तरस्य वर्षपृथक्त्वप्रमाणत्वात् तेषां देवेषूत्पन्नानां पञ्चषष्टेर्बन्धस्थानस्य लाभात् । एकसप्ततेर्बन्धस्थानस्य ज्येष्ठान्तरं तु पल्योपमस्यासंख्येयभागः, सास्वादनसम्यग्दृष्टे-

रन्तरस्य प्रकृष्टतः पल्यासंख्येयभागप्रमाणत्वेन प्रस्तुत एकसप्ततेर्बन्धस्थानस्य तस्यैव लाभेन च तदन्तरस्यापि तथात्वात् । शेषाणामष्टषष्टेरेकोनसप्ततेर्द्वासप्ततेस्त्रिसप्ततेश्चेति चतुर्णां बन्धस्थानानां बन्धस्यान्तरं द्वादशमुहूर्तानि सातिरेकाणि, मार्गणान्तरस्य द्वादशमुहूर्तप्रमाणत्वात् प्राक्प्रान्तयोश्चान्तर्मुहूर्तमध्ये तद्बन्धप्रवर्तनाच्च ॥१४३-४४॥ अथ आहारकद्विके बन्धान्तरं प्राह—

आहारदुगे समयो सप्पाउग्गाण सव्वठाणाणं ।
होइ जहण्णं जेट्ठं वासपुहुत्तं मुणेयव्वं ॥१४५॥

(प्रे०) "आहारदुगे"त्यादि, आहारकयोगे तन्मिश्रयोगे च पञ्चपञ्चाशदादीनि त्रीणि बन्धस्थानानि भवन्ति, तद्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, उक्तमार्गणाद्वयस्यैव नानाजीवापेक्षया सान्तरत्वेन तदन्तरस्य जघन्यतः समयप्रमाणत्वात् । ज्येष्ठान्तरं तु वर्षपृथक्त्वम्, मार्गणयोरेव प्रकृष्टान्तरस्य वर्षपृथक्त्वप्रमाणत्वात्, मार्गणान्तरतः प्रस्तुतबन्धस्थानानां ज्येष्ठान्तरं यथासम्भवमधिकमवसेयमिति । मतान्तरेण तु मार्गणान्तरं षण्मासा विज्ञेयमिति ॥१४५॥

अथ कार्मणानाहारकमार्गणयोर्बन्धान्तरं प्ररूपयति—

कम्मणाहारेसुं अंतरमेगस्स पंचसट्ठीए ।
समयो अत्थि जहण्णं उक्कोसं हायणपुहुत्तं ॥१४६॥
समयो तेवट्ठीए चउसट्ठीए लहुं भवे जेट्ठं ।
मासपुहुत्तं समयो होइ लहुं एगसयरीए ॥१४७॥
पलिओवमस्स भागो असंखिययमो हवेज्ज उक्कोसं ।
सेसाणं पंचण्हं बंध ठाणाण णेव भवे ॥१४८॥

(प्रे०) "कम्मे"त्यादि, कार्मणयोगेऽनाहारके चैकस्य बन्धान्तरं जघन्यतः समयः, ज्येष्ठान्तरं वर्षपृथक्त्वम्, भावना त्वौदारिकमिश्रयोगवत् कार्या । त्रिषष्टेर्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं मासपृथक्त्वम्, औदारिकमिश्रयोगवद् भावना कार्या । चतुःषष्टेर्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं मासपृथक्त्वम्, भावना तु वैक्रियमिश्रयोगवत्कार्या । पञ्चषष्टेर्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं वर्षपृथक्त्वम्, भावना वैक्रियमिश्रयोगवत् कार्या । एकसप्ततेर्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं पल्योपमस्यासंख्येयभागः, भावना तु मिश्रयोगद्वयवत् कार्या । शेषाणां षट्षष्ट्यष्टषष्ट्येकोनसप्ततिद्वासप्ततित्रिसप्ततिरूपाणां पञ्चानां बन्धस्थानानां सर्वदैव तद्बन्धलाभेनान्तरं नास्ति । औदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रमार्गणावद् भावनाया-

मतिदेशस्तूक्तमार्गणाप्राप्तेः प्राग् विग्रहगतौ तद्बन्धस्य लाभात् । केवलिसमुद्घात औदारिकमिश्रवत् कार्मणयोगस्याप्यवश्यं लाभादिति ॥१४७-१४८॥

अथ स्त्रीवेदमार्गणायां बन्धान्तरं निरूपयन्नाह—

थीए तेवीसाए सप्पाउग्गाण बंधठाणाणं ।
मणुसिव्व णवरि जे ' सय ज्झं पंचस ीए ॥१४९॥

(प्रे०) "थीए" इत्यादि, स्त्रीवेदमार्गणायां मार्गणायोग्यबन्धस्थानानां बन्धान्तरं मानुषीमार्गणावद्विज्ञेयम् , तच्च मूलकृता सापवादमतिदेशेन दर्शितम् । तद्यथा—एकाद्येकविंशत्यन्तानां षण्णां बन्धस्थानानामत्र स्त्रीवेदेऽभावः, पञ्चपञ्चाशदादिषष्टिपर्यन्तानां षण्णां त्रिषष्टिचतुःषष्टिषट्षष्टयष्टषष्टयेकोनसप्तत्येकसप्ततिद्वासप्ततित्रिसप्ततिरूपाणामष्टानां चेति चतुर्दशानां बन्धकालस्य सर्वाद्धाया भावेनान्तरं नास्ति । द्वाविंशतिषड्विंशतित्रिपञ्चाशच्चतुःपञ्चाशल्लक्षणानां चतुर्णां बन्धस्य जघन्यान्तर समयः, ज्येष्ठान्तरं वर्षपृथक्त्वं स्त्रीवेदिनामुपशमश्रेण्यन्तरस्योत्कृष्टतो वर्षपृथक्त्वप्रमाणत्वात् , अत्र पृथक्त्वशब्दो बहुत्ववाची ज्ञेयः । एकषष्टेर्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं वर्षपृथक्त्वम् , ओघेऽप्युक्तबन्धस्थानान्तरस्य तथात्वात् । देवीनां जिननामबन्धाभावेन पञ्चषष्टेर्बन्धस्य सान्तरत्वात् तज्जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं तु सम्यग्दृष्टिदेवीनां मनुष्यायुष्कबन्धान्तरं स्वयं बहुश्रुतेभ्यो ज्ञेयः, यावत्सम्यग्दृष्टिदेवीनां मनुष्यायुष्कबन्धान्तरं तावद् प्रस्तुते तद् विज्ञेयम् , तच्च मासपृथक्त्वं सम्भवतीति । मानुषीमार्गणायां तु वर्षपृथक्त्वम् , इति मानुषीमार्गणातो विशेषः । सप्तषष्टेः सप्ततेश्चतुःसप्ततेश्च बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं तु प्रस्तुतमार्गणायां तिर्यगायुष्कबन्धस्य यावदन्तरं स्यात् तावत् संभवति, तदन्तरं तु बहुश्रुतेभ्य आगमानुसारेण विज्ञेयमिति ॥१४९॥

अथ पुरुषवेदमार्गणायां बन्धान्तरं निरूपयन्नाह—

पुरिसे बावीसाए छव्वीसाए तहा तिवण्णाए ।
समयो अत्थि जहण्णं साहियवासो भवे जेट्ठं ॥१५०॥
समयो अत्थि जहण्णं चउवण्णाअ तह एगसट्ठीए ।
उक्कोसमंतरं खलु वासपुहुत्तं मुणेयव्वं ॥१५१॥

णेयं सडसट्ठिसयरिचउसयरीणं च आउकम्मव्व ।
ण भवे पंचदसण्हं बंधट्ठाणाण सेसाणं ॥१५२॥

(प्रे०) "पुरिसे" इत्यादि, पुरुषवेदमार्गणायां स्वप्रायोग्यबन्धस्थानानां बन्धस्यान्तरमोघवद् विज्ञेयम्, केवलमोघे (१) द्वाविंशतेः षड्विंशतेश्च बन्धसत्कज्येष्ठान्तरस्य षण्मासप्रमाणत्वेऽपि पुरुषवेदक्षपकाणां ज्येष्ठान्तरस्य सातिरेकवर्षप्रमाणत्वेन प्रस्तुते बन्धस्थानद्वयस्य ज्येष्ठान्तरं सातिरेकवर्षप्रमाणं भवति । (२) सप्तषष्टेर्बन्धकालस्य सर्वाद्धा लाभादोघे तदन्तरं नास्ति प्रस्तुते तु तस्य जघन्यान्तरं समयः । (३) तथा सप्तषष्टेः सप्ततेश्चतुःसप्ततेश्च ज्येष्ठं बन्धान्तरं प्रस्तुतमार्गणायां तिर्यगायुष्कबन्धस्य यावज्ज्येष्ठान्तरं स्यात् तावद्विज्ञेयमिति । (४) एकाद्येकविंशत्यन्तानां षड्बन्धस्थानानां प्रस्तुते बन्धाभावात् तदन्तरं न वाच्यम् ।

बन्धप्रायोग्यस्थानानामन्तरप्ररूपणा पुनरेषा-पञ्चपञ्चाशदादिषष्टिपर्यन्तानां षण्णां त्रिषष्ट्यादिचतुर्णामष्टषष्ट्येकोनसप्तत्येकसप्ततिद्वासप्ततित्रिसप्ततिरूपाणां पञ्चानां समुदितपञ्चदशबन्धस्थानानां बन्धस्य सर्वदैव लाभादन्तरं नास्ति । द्वाविंशति-षड्विंशति-त्रिपञ्चाशद्बन्धस्थानत्रयस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं सातिरेकवर्षम् । चतुष्पञ्चाशतो बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं वर्षपृथक्त्वम्, क्षपकापेक्षया संख्येयानि पूर्वाणीत्यर्थः । एकषष्टेर्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं वर्षपृथक्त्वं भवति । सप्तषष्टिसप्ततिचतुःसप्ततिबन्धस्थानानां त्रयाणां जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं पुरुषवेदमार्गणायामेव तिर्यगायुष्कप्रकृतिबन्धान्तरवद् भवतीति विज्ञेयम् ॥१५०-५२॥

एतर्हि नपुंसकवेदे कषायमार्गणाचतुष्के च बन्धान्तरं निरूपयन्नाह—

णपुमचउकसायेसुं सव्वद्धा जाण होअए कालो ।
सि ठाणाणं ण भवे सेसाण भवे लहुं समयो ॥१५३॥
जेट्ठं इगसट्ठिसयरिचउसयरीणं हवेज्ज ओघव्व ।
णपुमे वासपुहुत्तं सप्पाउग्गाण सेसाणं ॥१५४॥
होइ चउकसायेसुं छम्मासा उअ भवे अहियवासो ।
लोहे छम्मासा चिअ सत्तट्ठदसण्हठाणाणं ॥१५५॥

(प्रे०) "णपुमे"त्यादि, नपुंसकवेदे कषायचतुष्के चेति मार्गणापञ्चके येषां बन्धस्थानानां बन्धकालः सर्वाद्धा भणितः तेषां बन्धान्तरं नास्ति । ओघे येषां सप्तदशबन्धस्थानानामन्तर निषिद्धं तेभ्य एकप्रकृतिरूपं बन्धस्थानं विहाय शेषाणां षोडशानां प्रस्तुतेऽपि बन्धेऽन्तरं नास्ति।

मतिदेशस्तूक्तमार्गणाप्राप्तेः प्राग् विग्रहगतौ तद्बन्धस्य लाभात् । केवलिसमुद्घात औदारिकमिश्रवत् कार्मणयोगस्याप्यवश्यं लाभादिति ॥१४७-१४८॥

अथ स्त्रीवेदमार्गणायां बन्धान्तरं निरूपयन्नाह—

थीए तेवीसाए सप्पाउग्गाण बंधठाणाणं ।
मणुसिव्व णवरि जेट्ठं सयमुज्झं पंचसट्ठीए ॥१४९॥

(प्रे०) "थीए" इत्यादि, स्त्रीवेदमार्गणायां मार्गणायोग्यबन्धस्थानानां बन्धान्तरं मानुषीमार्गणावद्विज्ञेयम् , तच्च मूलकृता सापवादमतिदेशेन दर्शितम् । तद्यथा–एकाद्येकविंशत्यन्तानां षण्णां बन्धस्थानानामत्र स्त्रीवेदेऽभावः, पञ्चपञ्चाशदादिषष्टिपर्यन्तानां षण्णां त्रिषष्टिचतुःषष्टिषट्षष्टयष्टषष्टयेकोनसप्तत्येकसप्ततिद्विसप्ततित्रिसप्ततिरूपाणामष्टानां चेति चतुर्दशानां बन्धकालस्य सर्वाद्धाया भावेनान्तरं नास्ति । द्वाविंशतिषड्विंशतित्रिपञ्चाशच्चतुःपञ्चाशल्लक्षणानां चतुर्णां बन्धस्य जघन्यान्तर समयः, ज्येष्ठान्तरं वर्षपृथक्त्वं स्त्रीवेदिनामुपशमश्रेण्यन्तरस्योत्कृष्टतो वर्षपृथक्त्वप्रमाणत्वात् , अत्र पृथक्त्वशब्दो बहुत्ववाची ज्ञेयः । एकषष्टेर्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं वर्षपृथक्त्वम् , ओघेऽप्युक्तबन्धस्थानान्तरस्य तथात्वात् । देवीनां जिननामबन्धाभावेन पञ्चषष्टेर्बन्धस्य सान्तरत्वात् तज्जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं तु सम्यग्दृष्टिदेवीनां मनुष्यायुष्कबन्धान्तरं स्वयं बहुश्रुतेभ्यो ज्ञेयः, यावत्सम्यग्दृष्टिदेवीनां मनुष्यायुष्कबन्धान्तरं तावद् प्रस्तुते तद् विज्ञेयम् , तच्च मासपृथक्त्वं सम्भवतीति । मानुषीमार्गणायां तु वर्षपृथक्त्वम् , इति मानुषीमार्गणातो विशेषः । सप्तषष्टेः सप्ततेश्चतुःसप्ततेश्च बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं तु प्रस्तुतमार्गणायां तिर्यगायुष्कबन्धस्य यावदन्तरं स्यात् तावत् संभवति, तदन्तरं तु बहुश्रुतेभ्य आगमानुसारेण विज्ञेयमिति ॥१४९॥

अथ पुरुषवेदमार्गणायां बन्धान्तरं निरूपयन्नाह—

पुरिसे बावीसाए छव्वीसाए तहा तिवण्णाए ।
समयो अत्थि जहण्णं साहियवासो भवे जेट्ठं ॥१५०॥
समयो अत्थि जहण्णं चउवण्णाअ तह एगसट्ठीए ।
उक्कोसमंतरं खलु वासपुहुत्तं मुणेयव्वं ॥१५१॥

णेयं सडसट्ठिसयरिचउसयरीणं च आउकम्मव्व ।
ण भवे पंचदसण्हं बंधट्ठाणाण सेसाणं ॥१५२॥

(प्रे०) "पुरिसे" इत्यादि, पुरुषवेदमार्गणायां स्वप्रायोग्यबन्धस्थानानां बन्धस्यान्तरमोघवद् विज्ञेयम्, केवलमोघे (१) द्वाविंशतेः षड्विंशतेश्च बन्धसत्कज्येष्ठान्तरस्य षण्मासप्रमाणत्वेऽपि पुरुषवेदक्षपकाणां ज्येष्ठान्तरस्य सातिरेकवर्षप्रमाणत्वेन प्रस्तुते बन्धस्थानद्वयस्य ज्येष्ठान्तरं सातिरेकवर्षप्रमाणं भवति । (२) सप्तषष्टेर्बन्धकालस्य सर्वाद्धा लाभादोघे तदन्तरं नास्ति प्रस्तुते तु तस्य जघन्यान्तरं समयः । (३) तथा सप्तषष्टेः सप्ततेश्चतुःसप्ततेश्च ज्येष्ठं बन्धान्तरं प्रस्तुतमार्गणायां तिर्यगायुष्कबन्धस्य यावज्ज्येष्ठान्तरं स्यात् तावद्विज्ञेयमिति । (४) एकाद्येकविंशत्यन्तानां षड्बन्धस्थानानां प्रस्तुते बन्धाभावात् तदन्तरं न वाच्यम् ।

बन्धप्रायोग्यस्थानानामन्तरप्ररूपणा पुनरेषा-पञ्चपञ्चाशदादिषष्टिपर्यन्तानां षण्णां त्रिषष्ट्यादिचतुर्णामष्टषष्ट्येकोनसप्तत्येकसप्ततिद्वासप्ततित्रिसप्ततिरूपाणां पञ्चानां समुदितपञ्चदशबन्धस्थानानां बन्धस्य सर्वदैव लाभादन्तरं नास्ति । द्वाविंशति-षड्विंशति-त्रिपञ्चाशद्बन्धस्थानत्रयस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं सातिरेकवर्षम् । चतुष्पञ्चाशतो बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं वर्षपृथक्त्वम्, क्षपकापेक्षया संख्येयानि पूर्वाणीत्यर्थः । एकषष्टेर्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं वर्षपृथक्त्वं भवति । सप्तषष्टिसप्ततिचतुःसप्ततिबन्धस्थानानां त्रयाणां जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं पुरुषवेदमार्गणायामेव तिर्यगायुष्कप्रकृतिबन्धान्तरवद् भवतीति विज्ञेयम् ॥१५०-५२॥

एतर्हि नपुंसकवेदे कषायमार्गणाचतुष्के च बन्धान्तरं निरूपयन्नाह—

णपुमचउकसायेसुं सव्वद्धा जाण होअए कालो ।
सि ठाणाणं ण भवे सेसाण भवे लहुं समयो ॥१५३॥
जेट्ठं इगसट्ठिसयरिचउसयरीणं हवेज्ज ओघव्व ।
णपुमे वासपुहुत्तं सप्पाउग्गाण सेसाणं ॥१५४॥
होइ चउकसायेसुं छम्मासा उअ भवे अहियवासो ।
लोहे छम्मासा चिअ सत्तट्ठदसण्हठाणाणं ॥१५५॥

(प्रे०) "णपुमे"त्यादि, नपुंसकवेदे कषायचतुष्के चेति मार्गणापञ्चके येषां बन्धस्थानानां बन्धकालः सर्वाद्धा भणितः; तेषां बन्धान्तरं नास्ति । ओघे येषां सप्तदशबन्धस्थानानामन्तरं निषिद्धं तेभ्य एकप्रकृतिरूपं बन्धस्थानं विहाय शेषाणां षोडशानां प्रस्तुतेऽपि बन्धेऽन्तरं नास्ति।

तानि स्थानानि पुनरिमानि-पञ्चपञ्चाशदादीनि षष्टिपर्यन्तानि षट्, त्रिषष्ट्यादीनि नवषष्टिपर्यन्तानि सप्त, एकसप्तत्यादीनि त्रिसप्ततिपर्यन्तानि त्रीणि, समुदितानि षोडश। पञ्चस्वपि मार्गणास्वेतेषां बन्धस्यान्तरं नास्ति। सप्ततेश्चतुःसप्ततेश्च पञ्चस्वपि मार्गणास्वोघवद् बन्धान्तरं विज्ञेयम्, तच्च जघन्यतः समयः, ज्येष्ठं पुनरन्तर्मुहूर्तम्, भावना त्वोघवत् कार्या।

एकषष्टिबन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं तु वर्षपृथक्त्वम्, भावना त्वोघवत् कार्या इति।

नपुंसकवेदे द्वाविंशतिषड्विंशतित्रिपञ्चाशच्चतुःपञ्चाशतां चतुर्णां बन्धस्थानानां बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं वर्षपृथक्त्वम्, उक्तमार्गणासु श्रेणिद्वयान्तरस्य वर्षपृथक्त्वप्रमाणत्वात्। अत्र चतुःपञ्चाशद्बन्धस्य उपशमश्रेणावेव लाभेन तदपेक्षया बन्धान्तरं भावनीयम्, जिनानां नपुंसकवेदितया कर्हिचिदप्यभवनेन क्षपकश्रेणौ तद्बन्धाभावात्।

कषायचतुष्के पुनः श्रेणिसत्कबन्धस्थानानामन्तरमेवम्-क्रोधे एकविंशत्यादित्रयाणां माने विंशत्यादिचतुर्णां मायायामेकोनविंशत्यादिपञ्चानां लोभेऽप्येकोनविंशत्यादिपञ्चानां बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं तु षण्मासाः, मतान्तरेण पुनः सातिरेकवर्षम्, अन्यतरकषायोदयेन श्रेण्यारम्भकजीवानामन्तरस्य तथात्वात्। लोभे सप्तदशाष्टादशबन्धयोरन्तरं जघन्यतः समयः, ज्येष्ठान्तरं षण्मासा एव। क्रोधादिमार्गणारूढानामपि अष्टादशबन्धारम्भकाले लोभमार्गणातया मायातः साक्षात् क्रोधमानाभ्यां परम्परया परिणमनात्।

मार्गणाचतुष्के त्रिपञ्चाशद्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं तु सातिरेकवर्षम्, भावना त्वोघवत् कार्या। चतुःपञ्चाशत एकषष्टेश्च बन्धान्तरं जघन्यतः समयः, ज्येष्ठान्तरं वर्षपृथक्त्वम्, भावना त्वोघवत् कार्या सुगमा चेति। नपुंसकवेदे एकादिषण्णां क्रोध एकादिपञ्चानां माने एकादिचतुर्णां मायायामेकादित्रयाणां लोभ एकस्य बन्धस्थानाभावेन नान्तरप्ररूपणाया अवकाश इति ॥१५३-१५५॥ अथ अपगतवेदादिमार्गणासु बन्धान्तरं प्राह—

ओघव्व जाणियव्वं अवेअअकसायकेवलदुगेसु।
अण्णाणदुगम्मि तहा देससुहुमसंपरायेसु ॥१५६॥
अहखायचरित्ते तह असंजमम्मि तह काउ-अभवेसु।
मिच्छत्तासण्णीसुं सप्पाउग्गाण ठाणाणं ॥१५७॥

(प्रे०) "ओघव्वे"त्यादि, अपगतवेदादिचतुर्दशमार्गणाः, तासु प्रत्येकं बन्धप्रायोग्यस्थानानां बन्धस्यान्तरमोघवद् भवति, तद्यथा—अपगतवेद एकस्य बन्धान्तरं नास्ति, सप्तदशाद्येक-

विंशतिपर्यन्तानां पञ्चानां बन्धान्तरं जघन्यतः समयः, ज्येष्ठान्तरं षण्मासाः, शेषाणि बन्धस्थानान्येवात्र न सन्ति। अकषायकेवलज्ञानकेवलदर्शनयथाख्यातमार्गणाचतुष्क एकप्रकृत्यात्मकस्यैव बन्धस्थानस्य सद्भावः, तद्बन्धकानां सर्वदैव लाभेनान्तरं नास्ति। देशविरतौ एकोनषष्टेः षष्टेश्च बन्धान्तरं नास्ति, एकषष्टेर्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं वर्षपृथक्त्वं भवति। सूक्ष्मसंपरायमार्गणायां सप्तदशबन्धस्य जघन्यतः समयः, ज्येष्ठान्तरं तु षण्मासाः। मत्यज्ञानश्रुताज्ञानमिथ्यात्वासंज्ञ्यभव्यमार्गणासु पञ्चसु सप्ततेश्चतुःसप्ततेश्च बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं त्वन्तर्मुहूर्तम्। शेषाणां षट्षष्ट्यादीनां त्रिसप्ततिपर्यन्तानां सप्ततिवर्जानां सप्तानां बन्धस्यान्तरं नास्ति। असंयममार्गणायां कापोतलेश्यायां च त्रिषष्ट्यादीनां त्रिसप्ततिपर्यन्तानां सप्ततिवर्जानां दशानां बन्धस्यान्तरं नास्ति, तद्बन्धकालस्य सर्वाद्धात्वात्। सप्ततेश्चतुःसप्ततेश्च बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं त्वन्तर्मुहूर्तम्, भावना त्वोघवदेव कार्या इति ॥१५६-१५७॥ अथ मतिज्ञानादिमार्गणासु प्रस्तुतबन्धान्तरं प्राह—

समयो लहुमट्ठराहं एगाईयां तिणाणओहीसुं ।
उक्कोसं छम्मासा अहवोहिदुगे अहियवासो ॥१५८॥
होइ तिचउजुअवणिगसट्ठीणोघव्व अंतरं दुविहं ।
देवव्व छसट्ठीए सेसाण णवराह णेव भवे ॥१५९॥

(प्रे०) "समयो" इत्यादि, मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानावधिदर्शनमार्गणाचतुष्के सप्तदशादिपञ्चषष्टिपर्यन्तानामेकोनविंशतिबन्धस्थानानामन्तरमोघवद् भवति, भावनाऽप्योघवत् कार्या। केवलं (१) सप्तदशादिषड्विंशत्यन्तानामोघे ज्येष्ठान्तरस्य षण्मासप्रमाणत्वेऽप्यवधिज्ञानदर्शनमार्गणयोः सप्तस्थानानां बन्धान्तरं मतान्तरेण सिद्धप्राभृताभिप्रायेण इत्यर्थः सातिरेकवर्षप्रमाणं भवति, उक्तमार्गणाद्वये क्षपकश्रेण्यन्तरस्य तथात्वात्।

(२) एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्यान्तरं सप्तदशबन्धस्थानान्तरवद् विज्ञेयम्, सयोगिकेवलिनां प्रस्तुतमार्गणाचतुष्केऽभावात्, श्रेणिद्वय एव सप्तदशबन्धवदेकबन्धस्थानस्य लाभाच्च। भावना तु सप्तदशबन्धस्थानान्तरवत् कार्या।

(३) षट्षष्टेर्बन्धस्यान्तरं जघन्यतः समयः, ज्येष्ठान्तरं वर्षपृथक्त्वं भवति, प्रस्तुते सम्यग्दृष्टीनामेव प्रवेशेन षट्षष्टेर्बन्धस्य देवनैरयिकाणां जिननाममनुष्यायुष्कबन्धयुक्तानामेव भावेन देवौघे यथा षट्षष्टेर्बन्धस्यान्तरं प्राप्यते, तथा प्रस्तुतेऽपि भावनीयम्।

बन्धप्रायोग्याणां बन्धस्यान्तरं पुनरेवम्—एकादिषड्विंशतिपर्यन्तानामष्टानां बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं षण्मासाः, मतान्तरेणाऽवधिद्विके सातिरेकवर्षम्। त्रिपञ्चा-

शतो बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं षण्मासा यद्वा सातिरेकवर्षम् । चतुःपञ्चा एकषष्टेः षट्षष्टेश्च बन्धानां प्रत्येकं जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं वर्षपृथक्त्वम् । पञ्चपञ्चाशदादीनां पञ्चषष्टिपर्यन्तानामेकषष्टिरहितानां नवानां बन्धस्यान्तरं नास्तीति ॥१५८-५९॥

अथ मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां बन्धान्तरं निरूपयन्नाह—

मणणाणम्मि चउण्हं पणवरणाईण अंतरं णत्थि ।
सेसाण लहुं समयो उक्कोसं हायणपुहुत्तं ॥१६०॥

(प्रे०) "मणणाणम्मि" इत्यादि, मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां पञ्चपञ्चाशदाद्यष्टपञ्चाशत्पर्यन्तानां चतुर्णां बन्धस्थानानां बन्धस्यान्तरं नास्ति, तद्बन्धकालस्य सर्वाद्धात्वात् । एकादि- चतुष्पञ्चाशत्पर्यन्तानां दशानामेकोनषष्टेश्च बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं तु वर्षपृथक्त्वं संख्येयानि वर्षसहस्राणीत्यर्थः । उक्तमार्गणायां क्षपकोपशमश्रेणिद्वयान्तरस्य तथा- त्वात् । एकोनषष्टेस्तु यथासम्भवं भावनीयम् ॥१६०॥

अथ विभङ्गज्ञानमार्गणायां प्रस्तुतबन्धान्तरं निरूपयन्नाह—

णेयं सङसट्ठिसयरिचउसयरीणं विभंगणाणम्मि ।
आउगकम्मव्व भवे सेसाणं छण्ह णेव भवे ॥१६१॥

(प्रे०) "णेय" मित्यादि, विभङ्गज्ञानमार्गणायां षट्षष्ट्यष्टषष्ट्येकोनसप्तत्येकसप्तति- द्वासप्ततित्रिसप्ततिरूपाणां षण्णां बन्धस्थानानां बन्धस्य सर्वदैव लाभेन तद्बन्धान्तरं नास्ति । सप्तषष्टेः सप्ततेश्चतुःसप्ततेश्च बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं प्रस्तुतमार्गणायां तिर्य- गायुष्ककर्मसत्कबन्धान्तरवद् विज्ञेयम्, यतः प्रस्तुतमार्गणागतजीवानामसंख्येयलोकतो न्यून- त्वात् सप्तषष्टेर्बन्धकालस्य सर्वाद्धाया अभावात् तदन्तरं प्राप्यते । शेषस्थानद्वयस्यौघेऽपि सान्तरत्वात् प्रस्तुतेऽपि सान्तरत्वम् । जघन्यान्तरप्ररूपणा तु सुगमा, ज्येष्ठान्तरं उक्तबन्ध- स्थानानामायुष्कबन्धप्रयुक्तत्वेनाऽऽयुष्कबन्धान्तरप्रयुक्तं प्रस्तुतान्तरं प्राप्यत इति तथा दर्शितम् ॥१६१॥ अथ संयमौघे सामायिकसंयमे च बन्धान्तरं निरूपयति—

एगस्स तह चउण्हं पणवरणाईण संयमे णत्थि ।
समयो सेसाण लहुं तेवरणाअ गुरुमोघव्व ॥१६२॥
चउणवजुअवरणाणं वासपुहुत्तं गुरुं छमासाऽत्थि ।
सेसाणेमेव भवे सप्पाउग्गाण सामइए ॥१६३॥

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि, संयमौघ एकाद्यष्टपञ्चाशत्पर्यन्तबन्धस्थानानां बन्धान्तरमोघवद्भवति, भावनाप्योघवत् कार्या, उक्तबन्धस्थानगतानां सर्वेषां प्रस्तुतमार्गणान्तर्गतत्वात् ।

अन्तरं पुनरेवम्—एकस्य पञ्चपञ्चाशदादिचतुर्णां च बन्धस्यान्तरं नास्ति । सप्तदशादिषड्विंशतिपर्यन्तानां सप्तानां बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं षण्मासाः । त्रिपञ्चाशद्बन्धान्तरस्य जघन्यतः समयः, ज्येष्ठान्तरं सातिरेकवर्षम् । चतुःपञ्चाशद्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं वर्षपृथक्त्वम्, अत्र पृथक्त्वशब्दो बहुत्ववाची द्रष्टव्यः । एकोनषष्टेर्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं वर्षपृथक्त्वम्, भावना त्वोघोक्तैकषष्टिबन्धस्थानवत् सप्तमगुणस्थानगतानधिकृत्य कार्या ।

सामायिकसंयमेऽष्टादशाद्येकोनषष्टिपर्यन्तानां त्रयोदशबन्धस्थानानां बन्धस्यान्तरं संयमौघवद् विज्ञेयम् । संयमिषु संख्येयबहुभागगताः प्रस्तुतमार्गणान्तर्गताः सन्ति, अतोऽन्तराभावोऽन्तरं वा तद्वद्विधेयम्, केवलं प्रस्तुत एकस्य सप्तदशबन्धस्य च बन्धाभावात् तदन्तरप्ररूपणा न कार्या । शेषबन्धान्तरभावनौघवत् संयमौघवद्वा विज्ञेयेति ॥१६२-६३॥

अथ च्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिसंयमयोर्बन्धान्तरं निगदति—

छेए परिहारे पणावरणाइचउराह लहु सयं णेयं ।
समयोऽराणाणऽखिलाणं गुरुमयराऽट्ठारकोडिकोडीओ ॥१६४॥

(प्रे०) "छेए" इत्यादि, च्छेदोपस्थापनीये परिहारविशुद्धौ च बन्धप्रायोग्याणां सर्वबन्धस्थानानां बन्धस्यान्तरं प्राप्यते, मार्गणाद्वयस्य सान्तरत्वात् । तत्र पञ्चपञ्चाशदादिबन्धस्थानचतुष्कस्य जघन्यान्तरं स्वयं बहुश्रुतादागमानुसारेण विज्ञेयमत्र पूरणीयं च, यतः प्रस्तुतमार्गणयोर्यदि जघन्यपदे जीवा बहव एव प्राप्येरन् तदा च्छेदोपस्थापनीये साधिकत्रिषष्टिवर्षसहस्राणि परिहारे च सातिरेकचतुरशीतिवर्षसहस्राणि बन्धस्थानचतुष्कस्य बन्धे जघन्यान्तरं स्यात् । यदा त्वेकादयोपि प्राप्येरन् तदा पञ्चपञ्चाशदादिबन्धस्थानचतुष्कस्य समयोऽन्तरं प्राप्तुमर्हतीति । च्छेदोपस्थापनीयेऽष्टादशादिचतुःपञ्चाशत्पर्यन्तबन्धस्थानानामेकोनषष्टेश्च जघन्यान्तरं समयः । परिहारविशुद्धौ एकोनषष्टेर्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः । मार्गणाद्वयेऽपि बन्धप्रायोग्यबन्धस्थानानां छेदोपस्थापनीयेऽष्टादशाद्येकोनषष्टिपर्यन्तानां त्रयोदशानां परिहारे पञ्चपञ्चाशदाद्येकोनषष्टिपर्यन्तानां पञ्चानां ज्येष्ठान्तरं देशोनान्यष्टादशकोटाकोटिसागरोपमाणि । मार्गणाद्वयस्य नानाजीवापेक्षया ज्येष्ठान्तरस्यैतावत्प्रमाणत्वात्, जिननामयुक्तबन्धस्थानानामष्टादशकोटिकोटिसागरोपमाणि देशोनानि सातिरेकाणि वा यथासमयं परिभावनीयानि ॥१६४॥

अथाऽचक्षुर्दर्शनमार्गणायां बन्धान्तरं दर्शयन्नाह—

शतो बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं षण्मासा यद्वा सातिरेकवर्षम् । चतुःपञ्चा एकषष्टेः षट्षष्टेश्च बन्धानां प्रत्येकं जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं वर्षपृथक्त्वम् । पञ्चपञ्चाशदादीनां पञ्चषष्टिपर्यन्तानामेकषष्टिरहितानां नवानां बन्धस्यान्तरं नास्तीति ॥१५८-५९॥

अथ मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां बन्धान्तरं निरूपयन्नाह—

मणणाणम्मि चउण्हं पणावरणाईण अंतरं णत्थि ।
सेसाण लहुं समयो उक्कोसं हायणपुहुत्तं ॥१६०॥

(प्रे०) "मणणाणम्मि"इत्यादि, मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां पञ्चपञ्चाशदाद्यष्टपञ्चाशत्पर्यन्तानां चतुर्णां बन्धस्थानानां बन्धस्यान्तरं नास्ति, तद्बन्धकालस्य सर्वाद्धात्वात् । एकादिचतुष्पञ्चाशत्पर्यन्तानां दशानामेकोनषष्टेश्च बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं तु वर्षपृथक्त्वं संख्येयानि वर्षसहस्राणीत्यर्थः । उक्तमार्गणायां क्षपकोपशमश्रेणिद्वयान्तरस्य तथात्वात् । एकोनषष्टेस्तु यथासम्भवं भावनीयम् ॥१६०॥

अथ विभङ्गज्ञानमार्गणायां प्रस्तुतबन्धान्तरं निरूपयन्नाह—

णेयं सडसट्ठिसयरिचउसयरीणं विभंगणाणम्मि ।
आउगकम्मव्व भवे सेसाणं छण्ह णेव भवे ॥१६१॥

(प्रे०) "णेय"मित्यादि, विभङ्गज्ञानमार्गणायां षट्षष्ट्यष्टषष्ट्येकोनसप्तत्येकसप्ततिद्वासप्ततित्रिसप्ततिरूपाणां षण्णां बन्धस्थानानां बन्धस्य सर्वदैव लाभेन तद्बन्धान्तरं नास्ति । सप्तषष्टेः सप्ततेश्चतुःसप्ततेश्च बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं प्रस्तुतमार्गणायां तिर्यगायुष्ककर्मसत्कबन्धान्तरवद् विज्ञेयम् , यतः प्रस्तुतमार्गणागतजीवानामसंख्येयलोकतो न्यूनत्वात् सप्तषष्टेर्बन्धकालस्य सर्वाद्धाया अभावात् तदन्तरं प्राप्यते । शेषस्थानद्वयस्यौघेऽपि सान्तरत्वात् प्रस्तुतेऽपि सान्तरत्वम् । जघन्यान्तरप्ररूपणा तु सुगमा, ज्येष्ठान्तरं उक्तबन्धस्थानानामायुष्कबन्धप्रयुक्तत्वेनाऽऽयुष्कबन्धान्तरप्रयुक्तं प्रस्तुतान्तरं प्राप्यत इति तथा दर्शितम् ॥१६१॥ अथ संयमौघे सामायिकसंयमे च बन्धान्तरं निरूपयति—

एगस्स तह चउण्हं पणावरणाईण संयमे णत्थि ।
समयो सेसाण लहुं तेवण्णाअ गुरुमोघव्व ॥१६२॥
चउणवजुअवण्णाणं वासपुहुत्तं गुरुं छमासाऽत्थि ।
सेसाणोमेव भवे सप्पाउग्गाण सामइए ॥१६३॥

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि, संयमौघ एकाद्यष्टपञ्चाशत्पर्यन्तबन्धस्थानानां बन्धान्तरमोघवद्भवति, भावनाप्योघवत् कार्या, उक्तबन्धस्थानगतानां सर्वेषां प्रस्तुतमार्गणान्तर्गतत्वात् ।

अन्तरं पुनरेवम्—एकस्य पञ्चपञ्चाशदादिचतुर्णां च बन्धस्यान्तरं नास्ति । सप्तदशादिपड्विंशतिपर्यन्तानां सप्तानां बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं षण्मासाः । त्रिपञ्चाशद्बन्धान्तरस्य जघन्यतः समयः, ज्येष्ठान्तरं सातिरेकवर्षम् । चतुःपञ्चाशद्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं वर्षपृथक्त्वम् , अत्र पृथक्त्वशब्दो बहुत्ववाची द्रष्टव्यः । एकोनषष्टेर्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं वर्षपृथक्त्वम् , भावना त्वोघोक्तैकषष्टिबन्धस्थानवत् सप्तमगुणस्थानगतानधिकृत्य कार्या ।

सामायिकसंयमेऽष्टादशाद्येकोनषष्टिपर्यन्तानां त्रयोदशबन्धस्थानानां बन्धस्यान्तरं संयमौघवद् विज्ञेयम् । संयमिषु संख्येयबहुभागगताः प्रस्तुतमार्गणान्तर्गताः सन्ति, अतोऽन्तराभावोऽन्तरं वा तद्वद्विधेयम् , केवलं प्रस्तुत एकस्य सप्तदशबन्धस्य च बन्धाभावात् तदन्तरप्ररूपणा न कार्या । शेषबन्धान्तरभावनौघवत् संयमौघवद्वा विज्ञेयेति ॥१६२-६३॥

अथ च्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिसंयमयोर्बन्धान्तरं निगदति—

छेए परिहारे पणावरयाइचउराह लहु सयं णेयं ।
समयोऽणाणऽखिलाणं गुरुमयराऽट्ठारकोडिकोडीओ ॥१६४॥

(प्रे०) "छेए" इत्यादि, च्छेदोपस्थापनीये परिहारविशुद्धौ च बन्धप्रायोग्याणां सर्वबन्धस्थानानां बन्धस्यान्तरं प्राप्यते, मार्गणाद्वयस्य सान्तरत्वात् । तत्र पञ्चपञ्चाशदादिबन्धस्थानचतुष्कस्य जघन्यान्तरं स्वयं बहुश्रुतादागमानुसारेण विज्ञेयमत्र पूरणीयं च, यतः प्रस्तुतमार्गणयोर्यदि जघन्यपदे जीवा बहव एव प्राप्येरन् तदा च्छेदोपस्थापनीये साधिकत्रिषष्टिवर्षसहस्राणि परिहारे च सातिरेकचतुरशीतिवर्षसहस्राणि बन्धस्थानचतुष्कस्य बन्धे जघन्यान्तरं स्यात् । यदा त्वेकादयोपि प्राप्येरन् तदा पञ्चपञ्चाशदादिबन्धस्थानचतुष्कस्य समयोऽन्तरं प्राप्तुमर्हतीति । च्छेदोपस्थापनीयेऽष्टादशादिचतुःपञ्चाशत्पर्यन्तबन्धस्थानानामेकोनषष्टेश्च जघन्यान्तरं समयः । परिहारविशुद्धौ एकोनषष्टेर्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः । मार्गणाद्वयेऽपि बन्धप्रायोग्यबन्धस्थानानां छेदोपस्थापनीयेऽष्टादशाद्येकोनषष्टिपर्यन्तानां त्रयोदशानां परिहारे पञ्चपञ्चाशदाद्येकोनषष्टिपर्यन्तानां पञ्चानां ज्येष्ठान्तरं देशोनान्यष्टादशकोटाकोटिसागरोपमाणि । मार्गणाद्वयस्य नानाजीवापेक्षया ज्येष्ठान्तरस्यैतावत्प्रमाणत्वात् , जिननामयुक्तबन्धस्थानानामष्टादशकोटिकोटिसागरोपमाणि देशोनानि सातिरेकाणि वा यथासमयं परिभावनीयानि ॥१६४॥

अथाऽचक्षुर्दर्शनमार्गणायां बन्धान्तरं दर्शयन्नाह—

सव्वेसिं ठाणाणं ओघव्व अचक्खुदंसणे णवरं ।
एगस्स ल समयो छम्मासा होइ उक्कोसं ॥१६५॥

(प्रे०) "सव्वेसि"मित्यादि, अचक्षुर्दर्शनमार्गणायां बन्धप्रायोग्याणि णि बन्धस्थानानि भवन्ति, जीवाश्चानन्ताः, अतः सर्वेषां बन्धान्तरप्ररूपणा ओघवद्विज्ञेया, भावनाऽपि सर्वा तद्वदेव कार्या, द्वादशान्तगुणस्थानगतसर्वजीवानां प्रस्तुतमार्गणान्तर्गतत्वात् । केवलं सयोगिकेवलिनः प्रस्तुते प्रवेशाभावेनैकस्य बन्धस्थानस्य ध्रुवत्वाभावेन तज्जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं षण्मासाः, भावना त्वोघोक्तसप्तदशबन्धस्थानान्तरवत् कार्येति ॥ १६५ ॥

एतर्हि कृष्णनीललेश्ययोः प्रस्तुतबन्धान्तरं निरूपयन्नाह--

किण्हाए ीलाए सगठाणाण अजयव्व णवरि लहुं ।
पणसट्ठीए समयो मासपुहुत्तं गुरुं णेयं ॥१६६॥

(प्रे०) "किण्हाए" इत्यादि, कृष्णनीललेश्याद्वयेऽसंयममार्गणावद् बन्धप्रायोग्यस्थानानि तदन्तरं च भवन्ति । केवलं पञ्चषष्टेर्बन्धस्य प्रस्तुतमार्गणाद्वये नारकाणां जिननामबन्धाऽभावेन ध्रुवत्वाऽभावाज्जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं तु मासपृथक्त्वम् ; ततोऽधिकं वा । प्रस्तुतमार्गणाद्वये पञ्चषष्टेर्बन्धस्थानस्य तिरश्चामभावः, मनुष्यानधिकृत्य त्वायुष्कजिननामबन्धयुक्तानामेव तल्लाभेनैकषष्टेर्बन्धान्तरवत् पञ्चषष्टेर्बन्धान्तरं सामान्येन वर्षपृथक्त्वप्रमाणं भवति; न पुनः कृष्णनीलयोः पञ्चषष्टेर्बन्धस्थानं मनुष्याणां भवति, येन तदपेक्षयाऽन्तरं स्यात् । भवनपतिव्यन्तरदेवानधिकृत्य मनुष्यायुष्कबन्धयुक्तानां सम्यग्दृष्टीनां प्रस्तुतबन्धस्थानस्य लाभेन तानपेक्ष्य प्रस्तुतज्येष्ठान्तरं मासपृथक्त्वं भवति । भवनपतिमार्गणायां पञ्चषष्टेर्बन्धान्तरस्य मासपृथक्त्वस्यैव कथनात् । शेषबन्धस्थानानामन्तरमेवम्--त्रिषष्टेश्चतुःषष्टेः षट्षष्ट्यादिचतुष्कैकसप्ततिद्वासप्ततित्रिसप्ततिरूपाणां नवानां बन्धस्थान्तरं नास्ति, तद्बन्धस्य सर्वदैव लाभात् । पञ्चषष्टेर्बन्धान्तरं सप्ततेश्चतुःसप्ततेश्च बन्धस्थानद्वयस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं त्वन्तर्मुहूर्तमोघवद् विशेषदर्शितम् । मिति । कापोते तु प्रागेव तद्दर्शितत्वात् नात्र तद्ग्रहणमिति ॥१६६॥

अथ तेजःपद्मलेश्ययोर्बन्धान्तरं प्राह--

तेउपउमलेसासुं इगसट्ठीए तहा छसट्ठीए ।
समयो अत्थि जहण्णं उक्कोसं हायणपुहुत्तं ॥१६७॥
सयरिचउसत्तरीणं आउगकम्मव्व णवरि पउमाए ।
पल्लासंखियभागो सयरीअ गुरुं ण संसाणं ॥१६८॥

(प्रे०) "तेउपउमे"त्यादि, तेजःपद्मलेश्ययोरेकषष्टेः षट्षष्टेश्च बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं तु वर्षपृथक्त्वम्, तत्रैकषष्टेर्बन्धान्तरस्य भावनौघवत् कार्या । षट्षष्टेर्बन्धस्य प्रस्तुते मिथ्यादृष्टीनां बन्धाभावेन सम्यग्दृष्टिदेवानां जिननाममनुष्यायुष्कबन्धसहितस्यैव बन्धकत्वेन देवौघवदन्तरं जघन्यतः समयः, उत्कृष्टतो वर्षपृथक्त्वं भवति, भावना देवौघवत् कार्या । सप्ततेश्चतुःसप्ततेश्च बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं त्वायुष्कबन्धान्तरवत् यथा देवौघे तत् प्राप्यते तथा तेजोलेश्यायां सप्ततेश्चतुःसप्ततेश्च प्राप्यते । पद्मलेश्यायां चतुःसप्ततेर्बन्धान्तरं सनत्कुमारमार्गणायामायुष्कबन्धान्तरवद् विज्ञेयम् । पद्मलेश्यायां सप्ततेर्बन्धस्यान्तरं जघन्यतः समयः, ज्येष्ठान्तरं पल्योपमस्यासंख्येयभागो भवति, पद्मलेश्यायामेकेन्द्रियप्रायोग्यस्य बन्धाभावेन सप्ततेर्बन्धस्थानं सास्वादनगुणस्थानगतानपेक्ष्यैव प्राप्यते, सास्वादनगुणस्थानगतानां प्रकृष्टान्तरस्य तथात्वेन प्रस्तुते सप्ततेर्बन्धान्तरं पल्योपमस्यासंख्येयभागः प्राप्यत इति । तेजोलेश्यायां पञ्चपञ्चाशदादिषष्टिपर्यन्तानां षण्णां त्रिषष्टिचतुःषष्टिपञ्चषष्ट्यष्टषष्ट्येकोनसप्तत्येकसप्ततिद्वासप्ततित्रिसप्ततिरूपाणामष्टानां चेति चतुर्दशानां बन्धस्य ध्रुवत्वात् तेषां बन्धेऽन्तरं नास्ति । पद्मलेश्यायां त्वष्टषष्ट्येकोनसप्ततिहीनानां द्वादशानां तेजोलेश्योक्तानां बन्धस्य सर्वदा लाभात् तदन्तरं नास्ति । मार्गणाद्वयेऽप्येकादिचतुःपञ्चाशदन्तानि दश सप्तषष्टेश्चेत्येकादशानां तथा पद्मलेश्यायामष्टषष्टेकोनसप्ततेश्चेति त्रयोदशानां बन्धाभावात् न तदन्तरगवेषणावकाशः ॥१६७-१६८॥

अथ शुक्ललेश्यायां प्रस्तुतबन्धान्तरं निरूपयन्नाह—

सुक्काअ लहुं समयो सत्तरहाईण अट्ठठाणाणं ।
सत्तराह छमासा गुरु तेवराणाअ उण ओघव्व ॥१६९॥
चउपरणासाए तह इगसट्ठीए तहा छसट्ठीए ।
समयो अत्थि जहरणं उक्कोसं हायणपुहुत्तं ॥ १७० ॥
सयरीअ लहुं समयो पल्लस्स भवे गुरुं असंखंसो ।
आउव्व तिसयरीए सेसट्ठाणाण णेव भवे ॥१७१॥

(प्रे०) "सुक्काअ" इत्यादि, शुक्ललेश्यायां सप्तषष्ट्यादीनां त्रयाणां चतुःसप्ततेश्च बन्ध एव नास्ति । षट्षष्टेः सप्ततेश्च बन्धान्तरं पद्मलेश्यावद् भवति, तद्यथा-षट्षष्टेर्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं वर्षपृथक्त्वम्, भावना पद्मलेश्यावत् कार्या । सप्ततेर्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं पल्योपमस्यासंख्येयभागः, पद्मलेश्यावदत्रापि सास्वादनगुणान्तरस्य तथात्वात् । त्रिसप्ततेर्बन्धान्तरं जघन्यतः समयः, ज्येष्ठान्तरं त्वानतादिमार्गणासु यावदायुष्कबन्धा-

न्तरं यावच्चोत्पत्तिच्यवनान्तरं तावत्=संख्येया मासा विज्ञेयाः, प्रस्तुतमार्गणायामानतादिदेवाना-मेव तद्बन्धकत्वात् तदपेक्षयैवान्तरं भावनीयमिति । एकादिपञ्चषष्टिपर्यन्तानामेकसप्तते-र्द्वासप्ततेश्चेति द्वाविंशतिबन्धस्थानानां बन्धस्यान्तरमोघवद्विज्ञेयम् , तद्यथा—एक-पञ्चपञ्चाशत् षट्पञ्चाशत्--सप्तपञ्चाशद--ष्टपञ्चाशदे-कोनषष्टि षष्टि त्रिषष्टि चतुःषष्टि--पञ्चषष्ट्ये-कसप्तति-द्वासप्ततिरूपाणि द्वादश बन्धस्थानानि बन्धे सर्वदैव प्राप्यन्ते, अतस्तेषां बन्धेऽन्तरं नास्ति । सप्तदशादिषड्विंशत्यन्तानां सप्तानां बन्धान्तरं जघन्यतः समयः, ज्येष्ठान्तरं षण्मासाः । त्रिपञ्चाशद्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं सातिरेकवर्षम् । चतुःपञ्चाशदेकषष्टेश्च बन्धान्तरं जघन्यतः समयः, उत्कृष्टतो वर्षपृथक्त्वमिति ॥१६९-१७१॥

अथ सम्यक्त्वौघक्षायिकसम्यक्त्वे च प्रस्तुतबन्धान्तरं निगदन्नाह—

सम्मखइएसु समयो लहुमट्ठारहऽत्थि सत्तराईणं ।
सत्तरह छमासा गुरुमोघव्व भवे तिवरणाए ॥१७२॥
चउपरणासाए तह इगसट्ठीए तहा छसट्ठीए ।
समयो लहुमत्थि गुरुं वासपुहुत्तं ण सेसाणं ॥१७३॥

(प्रे०) "सम्म०" इत्यादि, सम्यक्त्वसामान्ये क्षायिकसम्यक्त्वे एकादिषट्षष्टिपर्यन्तान्येक-विंशतिबन्धस्थानानि भवन्ति, तत्र षट्षष्टेर्बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तर तु वर्षपृथ-क्त्वम् , भावना तु देवनारकानाश्रित्य मतिज्ञानमार्गणावत् कार्या सुगमा च । शेषाणां विंशते-र्बन्धस्थानानां बन्धान्तरप्ररूपणौघवद् विज्ञेया, तद्यथा-एक-पञ्चपञ्चाशत् षट्पञ्चाशत् सप्तपञ्चाशद-ष्टपञ्चाशदे-कोनषष्टि षष्टि-त्रिषष्टि-चतुःषष्टि-पञ्चषष्टिरूपाणां दशानां बन्धस्य निरन्तरं लाभात् तेषां बन्धस्यान्तरं नास्ति । सप्तदशादिषड्विंशतिपर्यन्तानां सप्तानां बन्धान्तरं जघन्यतः समयः, ज्येष्ठा-न्तरं तु षण्मासाः । त्रिपञ्चाशतो बन्धान्तरं जघन्यतः समयः, ज्येष्ठान्तरं तु सातिरेकवर्षम् । चतुःपञ्चाशत एकषष्टेश्च बन्धान्तरं जघन्यतः समयः, ज्येष्ठान्तरं वर्षपृथक्त्वमिति, भावना त्वो-घानुसारेण तद्वदेव कार्या इति ॥१७२-१७३॥ अथोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां बन्धान्तरं प्राह—

समयो लहुं उवसमे सप्पाउग्गाण होइ सव्वेसिं ।
जेट्ठं पणवण्णाए विण्णेयं पंचदसदिवसा ॥ १७४ ॥
गुणसट्ठीए चउदसदिणा भवे सत्त तिचउसट्ठीणं ।
वासपुहुत्तं णेयं बंधट्ठाणाण सेसाणं ॥ १७५ ॥

(प्रे०) "समयो" इत्यादि, उपशमसम्यक्त्वमार्गणाया नानाजीवापेक्षया सान्तरत्वेन मार्गणान्तरस्य जघन्यतः समयप्रमाणत्वेन बन्धप्रायोग्याणां सर्वेषां बन्धस्थानानां जघन्यान्तरं समयः, विवक्षितबन्धस्थानादेकस्य निवृत्तौ समयं केनापि तन्निवर्तनमप्राप्य पुनरन्यजीवेन तद्बन्धस्य प्रारम्भात् । उत्कृष्टान्तरं तु पञ्चपञ्चाशतो बन्धस्य पञ्चदशाहोरात्राणि, यत उपशमसम्यक्त्वेन सह सर्वविरतिप्राप्तेर्ज्येष्ठान्तरस्य पञ्चदशाहोरात्राणि भवन्ति । एकोनषष्टेर्बन्धान्तरं तु चतुर्दशाऽहोरात्राणि, देशविरतिप्राप्तेरन्तरस्य तथात्वात् । त्रिषष्टेश्चतुःषष्टेश्च बन्धान्तरं सप्ताहोरात्राणि, देवनैरयिकाणां तिर्यग्मनुष्याणां चोपशमसम्यक्त्वेन सह चतुर्थगुणस्थानकप्राप्त्यन्तरस्य सप्ताहोरात्राणि भवन्ति । एकादिचतुःपञ्चाशदन्तानां दशानां षट्पञ्चाशदादित्रयाणां षष्टेः पञ्चषष्टेश्चेति समुदितानां पञ्चदशानां बन्धस्थानानां ज्येष्ठान्तरं वर्षपृथक्त्वं भवति उपशमश्रेण्यन्तरस्य तथात्वात्, प्रायो द्वितीयोपशमसम्यक्त्वतामेव जिननामादिबन्धसम्भवेन दर्शितबन्धस्थानलाभात् द्वितीयोपशमसम्यक्त्वाऽन्तरस्य वर्षपृथक्त्वप्रमाणत्वाच्च ॥१७४-१७५॥

अथ क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां नानाजीवाश्रितं परस्थानबन्धस्थानानां बन्धस्यान्तरं प्राह—

इगसट्ठिक्कसट्ठीणं जहण्णगं वेअगे भवे समयो ।
जेट्ठं वासपुहुत्तं सेसट्ठाणाण णेव भवे ॥ १७६ ॥

(प्रे०) "इगसट्ठि" इत्यादि, क्षयोपशमसम्यक्त्वे पञ्चपञ्चाशदादिषट्षष्टिबन्धस्थानपर्यन्तान्येकादशबन्धस्थानानि भवन्ति, तत्र एकषष्टेः षट्षष्टेश्च बन्धान्तरं जघन्यतः समयः, ज्येष्ठान्तरं तु वर्षपृथक्त्वम्, भावना त्ववधिज्ञानमार्गणावत् कार्या । शेषाणां नवानां बन्धस्थानानां ध्रुवत्वेन सदैव लाभात् तेषां बन्धान्तरं नास्तीति ॥१७६॥

॥ श्रीप्रेमप्रभाटीकाविभूषिते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिबन्धे
द्वितीये स्थानाधिकारे परस्थाननिरूपणाया द्वादश
नानाजीवाश्रितमन्तरद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ त्रयोदशं भावद्वारम् ॥

अथ भावद्वारं वक्तुकाम बन्धस्थानबन्धकानां बन्धे हेतुभूतं भावं निदर्शयन्नाह—

भावेणोदइएणं उत्तरपयडीण सव्वठाणाणं ।
बंधो एमेव भवे सप्पाउग्गाण सेसासुं ॥ १७७ ॥

(प्रे०) "भावेणे"त्यादि, उत्तरप्रकृतिसत्कपरस्थाने सर्वबन्धस्थानानामेकोनत्रिंशद्रूपाणां बन्ध औदयिकभावेन एव भवति, कर्मबन्धेषु हेतुभूतयोगकषायभेदानां कर्मणामुदयजन्यत्वेन औदयिकभावरूपत्वात्, योगानामौदयिकभावस्तु तेषां वीर्यान्तरायकर्मक्षयक्षयोपशमजन्यत्वेऽपि शरीरनामकर्मोदयादेव तेषां प्रवृत्तिहेतुत्वादिति । एवं सर्वमार्गणास्वपि संभवत्सर्वबन्धस्थानानामपि भावनीयमिति । इति परस्थाननिरूपणायां भावद्वारम् ॥१७७॥

अथ चतुर्दशं अल्पबहुत्वद्वारम्

गतं भावद्वारम् । अथ क्रमप्राप्तं बन्धस्थानेषु बन्धकाल्पबहुत्वद्वारम्, तत्रौघतः प्राह—

थोवाऽत्थि बंधगा खलु चउपरणासाअ ताउ संखगुणा ।
सत्तरसाइसग-तिवरिण-गसट्ठीण सयमरणोरणं ॥१७८॥
तो संखगुणोगस्स उ तो सयमुज्झा-ऽट्ठसत्तवरणाणं ।
णवरं अडवरणाओ संखगुणा सत्तवरणाए ॥१७९॥
ताउ कमा संखगुणा छ पंचवरणाण तो असंखगुणा ।
पणसट्ठीए तत्तो सट्ठीए उ सयमरणोरणं ॥१८०॥
तत्तो गुणसट्ठीए असंखियगुणा व संखियगुणा वा ।
ताउ असंखेज्जगुणा कमा तिसट्ठिचउसट्ठीणं ॥१८१॥
ताओ चउसयरीए तत्तो संखियगुणोगसयरीए ।
ताउ असंखेज्जगुणा विरणेया सत्तरीए उ ॥१८२॥
ताउ अणंतगुणा सडसट्ठीए अत्थि ताउ संखगुणा ।
तिदुसयरीण कमा तो कमा णवऽडछज्जुअसट्ठीणं ॥१८३॥

(प्रे०) "थोवा" इत्यादि, ओघतश्चतुष्पञ्चाशद्बन्धकाः स्तोकाः, जिननामसहितत्वाद् श्रेणिगतत्वाच्च ततः सप्तदशाष्टादशैकोनविंशतिविंशत्येकविंशतिद्वाविंशतिषड्विंशतित्रिपञ्चाशतां

प्रत्येकं बन्धकाः संख्येयगुणा भवन्ति, परस्परं तेषां विशेषस्तु यथासम्भवं स्वयं विज्ञेयः। अयं भावः- यथा दशम नवमा-ष्टमगुणस्थानानां कालस्योत्तरोत्तरं संख्येयगुणत्वेऽपि तद्गता जीवास्तुल्याः प्रतिपादिताः षडशीत्यादिषु तथा प्रस्तुतबन्धस्थानानां बन्धकालस्य न्यूनाधिकत्वेऽपि बन्धकानां तुल्यत्व प्रायः संभवति, तथापि मतान्तरमवलम्ब्य अष्टादशादिषड्विंशत्यन्तबन्धस्थानेषु केवलं मोहनीयकृतविशेषत्वात् स्वस्थानाल्पबहुत्वे यथा दर्शितं तथा अत्रापि द्रष्टव्यम्, भावनाऽपि तद्वदवधार्य यथासम्भवं कार्या।'

एवं मार्गणास्वपि यथार्हमुक्तनवानामेकषष्टेश्च बन्धस्थानस्य बन्धकानामल्पबहुत्वमोघानुसारेण स्वयं परिभावनीयम्, सुगमत्वात्, केषांचित् स्थानानां बन्धकपरिमाणस्यानिर्णयाच्च। एकषष्टेर्बन्धकानां पदमत्राल्पबहुत्वक्रमेऽत्रैवोक्तम्; यतः तस्यापि बन्धकानामस्यल्पसंख्याकत्वेन चतुष्पञ्चाशद्बन्धकेभ्यः सख्येयगुणत्वेऽपि सप्तदशादिबन्धकेभ्यस्तस्य न्यूनाधिकत्वस्यास्माभिरनिर्णयात्। केवलमेकषष्टेर्बन्धकानामेकस्या बन्धकेभ्यस्तु संख्येयगुणहीनत्वं विज्ञेयम्, यत एकस्य बन्धकाः कोटिपृथक्त्वप्रमाणाः, एकषष्टेर्बन्धकास्तु शतपृथक्त्वेभ्यः सहस्रपृथक्त्वेभ्यो वा नातिरिच्यन्त इति। तत एकस्य बन्धकाः संख्येयगुणाः, सयोगिकेवलिनां कोटिपृथक्त्वप्रमाणत्वात्।

अत्र सप्तपञ्चाशतोऽष्टपञ्चाशतश्च बन्धकानां सयोगिभ्यो न्यूनत्वस्याधिकत्वस्य वाऽनिर्णयात् तत्पदद्वयस्याल्पबहुत्वं तत्साधनावसौ यथासंभवं स्वयं विज्ञेयम्।

तत एकसप्तपञ्चाशदष्टपञ्चाशद्बन्धकेभ्यः षट्पञ्चाशद्बन्धकाः संख्येयगुणाः, सयोगिभ्यो देवायुर्बन्धकानां संयतानां संख्येयगुणत्वात्। ततः पञ्चपञ्चाशतो बन्धकाः संख्येयगुणाः, आयुर्बन्धकेभ्य आयुष्काऽबन्धकसंयतानां संख्येयगुणत्वात् कोटिसहस्रपृथक्त्वप्रमाणत्वाच्च तेषाम्। ततः षष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, देशविरततिरश्चामायुर्बन्धकानामसंख्येयत्वात् पल्योपमस्यासंख्यभागप्रमिताश्च ते भवन्ति।

पञ्चषष्टेर्बन्धकास्तु अद्धापल्योपमस्यासंख्येयभागप्रमाणत्वात् षष्टेर्बन्धकेभ्योऽप्यसंख्येयगुणहीना एव संभवन्ति, यतो देशविरतानां क्षेत्रपल्योपमस्यासख्येयभागप्रमाणत्वेन तदसंख्येयभागप्रमाणानां संख्येयभागप्रमाणानां वायुष्कबन्धकत्वेन तस्यापि क्षेत्रपल्योपमस्यासंख्ययेभागप्रमाणत्वात्। आशाम्बरैस्तु सास्वादनादिगुणस्थानचतुष्कगता जीवा अद्धापल्योपमस्यासंख्येयभागप्रमाणाः प्रतिपाद्यन्ते, तदनुसारेण तु प्रस्तुतपदस्य बन्धकाः षष्टेर्बन्धकेभ्यो न्यूना अधिका वा तज्ज्ञ विदः।

तत एकोनषष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणाः संख्येयगुणा वा, देशविरतानां संख्येयभागमितानां असंख्येयभागमितानां वाऽऽयुर्बन्धकत्वात्। अत्रासंख्येयभागमितानामायुर्बन्धकानां प्राधान्यमव-

यते, यतस्तेषां निरन्तरं गुणस्थानावस्थानं त्वल्पतमानामेव स्यात् , तत्त्वं पुनर्बहुश्रुता विदन्ति ।

तत एकोनषष्टेर्बन्धकेभ्यस्त्रिषष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणाः । देशविरततिर्यग्भ्योऽविरतसम्यग्दृष्टितिरश्चामसंख्येयगुणत्वात् । ततश्चतुःषष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, अविरतसम्यग्दृष्टितिर्यग्भ्योऽविरतसम्यग्दृष्टिसौधर्मेशानदेवानामसंख्येयगुणत्वात् । तत चतुःसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, पूर्वपदबन्धकानां पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणत्वात् , प्रस्तुतपदस्य तु प्रतरासंख्येयभागप्रमाणत्वात् । तत एकसप्ततेर्बन्धका जीवाः संख्येयगुणाः, प्राक् पदसत्कवेदकजीवा द्वीन्द्रियादिपञ्चेन्द्रियान्ता उद्योतनामोदयवन्तस्तिर्यञ्चः, ते च पर्याप्तद्वीन्द्रियादितिरश्चामल्पतमसंख्येयभागप्रमाणत्वात् , चतुःसप्ततेर्बन्धस्थानस्यायुष्कबन्धसहितत्वेन तद्बन्धकसंख्याऽपि ततो नातिरिच्यते. एकसप्ततेर्बन्धकास्तु पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिरश्चां संख्येयबहुभागप्रमाणत्वेन पर्याप्तद्वीन्द्रियादितिरश्चां देशोनचतुर्थांशप्रमाणत्वात् संख्येयगुणत्वमेव, गुणकारस्तु तत्प्रायोग्यसंख्येयरूपो ज्ञेयः । असंख्येयगुणत्वं त्वत्र नैव भवति । ततः सप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, उक्तपदवेदकानां बादरपर्याप्तप्रत्येकजीवानामेव भावेन तेषां च पर्याप्तत्रसकायेभ्योऽसंख्येयगुणत्वात् , तत्संख्येयभागप्रमितानामसंख्येयभागप्रमितानां वा प्रस्तुतपदबन्धकतया लाभात् । चतुःसप्ततेरेकसप्ततेः सप्ततेश्च बन्धकाः प्रत्येकं प्रतरासंख्यभागमिता एव, अत्र चतुःसप्ततेः सप्ततेश्चायुर्बन्धयुक्तत्वेन बन्धप्रायोग्यजीवानामानन्त्येऽपि तद्वेदनप्रायोग्यजीवानामेवाल्पतमत्वेन उक्तप्रमाणता तद्बन्धकानां भवति । एकसप्ततेर्बन्धप्रायोग्यजीवानामेव उक्तप्रमाणत्वात् न ततोऽधिकानामवकाशः ।

ततः सप्तषष्टेर्बन्धका अनन्तगुणाः, उक्तबन्धस्थानस्यायुष्कबन्धसहितत्वेऽपि अपर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यत्वेन तद्बन्धकजीवानां वेदकजीवानां चानन्त्यात् , पूर्वपदगतानां त्वसंख्येयत्वात् प्रस्तुतबन्धकानां तु सर्वजीवसंख्येयभागगतत्वाच्च ।

ततः त्रिसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, प्राधान्येन प्रस्तुतपदबन्धस्थानस्यायुष्कबन्धरहितत्वात् निगोदजीवानामपि परावर्तमानेन तद्बन्धकत्वाच्च । ततः द्वासप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, तत एकोनसप्ततेः, ततोऽष्टषष्टेः, ततश्च षट्षष्टेर्बन्धका यथोत्तरं संख्येयगुणा भवन्ति, उत्तरोत्तरबन्धकालस्य संख्येयगुणत्वात् । भावना तु स्वस्थाननामवत् कार्या, यत उक्तबन्धस्थानानां संख्येयगुणत्वं नामकर्मसत्कबन्धस्थानानुसारित्वमेवेति ।। १७८--१८३ ।।

अथ यासु बन्धप्रायोग्यस्थानबन्धकानामल्पबहुत्वमोघवद् भवति तासु तदतिदेशेन प्राह—

अप्पबहू कायउरलभवियाहारेसु होइ ओघव्व ।
णपुमचउकसायेसुं सप्पाउग्गाण ठाणाणं ।। १८४ ।।

णवरं इगसट्ठित्तो पणसट्ठीए विसेसअहियुरले ।
गुणचउजुअसट्ठीण असंखगुणुरलणपुमेसु सट्ठित्तो ॥१८५॥ (गीति.)
अणणोरणं सयमुज्झा गुणसट्ठित्तो असंखियगुणाऽत्थि ।
तेवट्ठीए संखियगुणा वि वाऽत्थि चउसट्ठित्तो ॥१८६॥
समुइअठणोहिंतो णपुमे संखियगुणा मुणेयव्वा ।
तेवणणाईहिन्तो कमा-ऽट्ठसत्तजुअवरणाणं ॥१८७॥

(प्रे०) "अप्पबहू" इत्यादि, काययोगौघादिमार्गणाचतुष्के सर्वाणि एकोनत्रिंशद्रूपाणि बन्धस्थानानि भवन्ति, तद्बन्धकानामल्पबहुत्वमोघवद् विज्ञेयम्, भावनाप्योघवदेव कार्या, केवल-मौदारिकयोगमार्गणायां पञ्चषष्टेर्बन्धकतया जिननामदेवायुर्बन्धकमनुष्याणामेव लाभेन तत्पदमेक-षष्टेर्बन्धकपदेन सह वाच्यम्, एवं सत्यपि एकषष्टेर्बन्धकतः पञ्चषष्टेर्बन्धका अधिका द्रष्टव्या इति। किञ्च अत्रैवौदारिकयोगे षष्टेर्बन्धकेभ्यश्चतुःषष्टेर्बन्धकानामसंख्येयगुणत्वेऽपि एकोनषष्टेर्बन्धकेभ्यो न्यूनाधिकत्वं स्वयं परिभावनीयम्। त्रिषष्टिबन्धकेभ्यस्तु चतुःषष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणहीनाः संख्ये-यगुणहीना वा भवन्ति, एकोनषष्टिबन्धकास्त्वसङ्ख्येयगुणहीना एवेति। एवं चतुःषष्टेः पञ्चषष्टेश्चा-पवादौ। नपुंसकवेदकषायचतुष्करूपमार्गणापञ्चके बन्धप्रायोग्याणि यानि बन्धस्थानानि तद्बन्ध-कानामल्पबहुत्वमोघवद्विज्ञेयम्, भावनाऽपि तद्वत् कार्या। केवलं नपुंसकवेदे चतुःपञ्चाशद्बन्धका उपशामकापेक्षया विज्ञेयाः, क्षपकश्रेणौ तद्बन्धस्थानाभावात्। बन्धप्रायोग्यस्थानानि नपुंसकवेदे द्वाविंशत्यादीनि, क्रोधे एकविंशत्यादीनि, माने विंशत्यादीनि, मायायामेकोनविंशत्यादीनि, लोभे सप्तदशादीनि। केवलमेकस्यात्र बन्धाभावात् त्रिपञ्चाशदादिबन्धकतोऽष्टपञ्चाशतः ततः सप्तपञ्चा-शतो बन्धकाः क्रमशः संख्येयगुणा अभिधातव्याः। ततः षट्पञ्चाशदादिपदानि वाच्यानि। किञ्च नपुंसकवेदे चतुःषष्टेर्बन्धकेभ्यस्त्रिषष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणाः संख्येयगुणा वा वाच्याः, यतो नपुंसकवेदे सम्यग्दृष्टिनारकाणां देशविरततिर्यग्भ्योऽप्यसंख्येयभागप्रमाणत्वेनात्यल्पत्वात् आयु-र्बन्धकाऽविरतसम्यग्दृष्टितिर्यग्भ्य आयुष्काबन्धकाविरतसम्यग्दृष्टितिरश्चां संख्येयगुणत्वमसंख्येय-गुणत्वं वा लभ्यते, ओघोक्तैकोनषष्टिषष्टिस्थानद्वयबन्धकाल्पबहुत्ववदिति भावः। एकोनषष्टेर्बन्ध-केभ्यश्चतुःषष्टेर्बन्धकानां न्यूनाधिकत्वमौदारिककाययोगवत् स्वयं भावनीयमिति ॥१८४-१८७॥

अथ नरकौघादिमार्गणासु प्रस्तुताल्पबहुत्वं निरूपयन्नाह—

णिरयेऽज्जे णिरये छासट्ठीओ बंधगा असंखगुणा ।
पणसट्ठेगसयरिचउसट्ठिचउस्सत्तरीण कमा ॥१८८॥

तो तिदुसयरीणा कमा संखगुणोमेव दुइयणिरयदुगे ।
तइआइछकप्पेसुं णवरि असंखियगुणा तिसयरीए ॥१८९ ॥ (गीतिः)

(प्रे०) "णिरये" इत्यादि, नरकगत्योघे प्रथमनरके च षट्सप्ततेर्बन्धकाः स्तोकाः, जिननाममनुष्यायुष्कबन्धकानामेवोक्तस्थानलाभात् संख्येयत्वेऽप्यत्यल्पतमसंख्यातत्वात् । ततः पञ्चसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, नैरयिकाणामप्यसंख्येयानां जिननामबन्धकत्वात् । तत एकसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, सास्वादनिनामेव तद्बन्धस्य लाभात् । जिननामबन्धकेभ्यस्तेषामसंख्येयगुणत्वाच्च । ततश्चतुःसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, सास्वादनतोऽविरतसम्यग्दृशामसंख्येयगुणत्वात् । ततश्चतुःसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, मार्गणागतजीवानां संख्येयभागप्रमाणानामायुर्बन्धकत्वात्, तेषां संख्येयभागप्रमाणानामुद्योतसहितायुष्कबन्धकत्वात् । ततः त्रिसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः । आयुर्बन्धकेषु संख्येयबहुभागप्रमितानामुद्योतबन्धरहितत्वेन त्रिसप्ततेरेव बन्धकत्वात् । ततोऽपि संख्येयगुणा जीवा आयुष्कबन्धरहितामुद्योतयुक्तां त्रिसप्ततिं बध्नन्ति । ततो द्वासप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, उद्योतनामाबन्धकानां संख्येयगुणत्वात् । अत्र नरकौघे प्रथमनरके च संख्येयवर्षायुष्काणां जीवानां बहुभागप्रमाणत्वेनायुष्कबन्धकाः संख्येयभागप्रमाणा अवधेयाः । द्वितीयनरके तृतीयनरके च प्रस्तुताल्पबहुत्वमेवमेवावधेयम् । केवलमत्र मार्गणावर्तिसर्वजीवानामसंख्येयवर्षप्रमितायुष्कत्वेन स्वजीवितषण्मासाऽनवशेषे आयुष्कस्याबध्यमानत्वेन च चतुःसप्ततेर्बन्धकेभ्यस्त्रिसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणा भवन्ति, मार्गणागतजीवानामसंख्येयभागमितानामेवायुष्कबन्धकत्वात् चतुःसप्ततेर्बन्धस्थानमायुष्कसहितमेव भवति, त्रिसप्ततेर्बन्धस्थानं त्वायुष्कबन्धविरहितमपि लभ्यत इति । द्वितीयनरकमार्गणावदेव सनत्कुमारादिसहस्रारान्तदेवमार्गणास्वप्यल्पबहुत्वं निरवशेषं विज्ञेयम्, तत्राप्यसंख्येयवर्षायुष्कवतामेव लाभात् ; बन्धस्थानानां समानत्वाच्च भावनाऽपि नरकौघानुसारेण यथासम्भवं कार्येति ॥१८८-८९॥

अथ पङ्कप्रभादिमार्गणात्रये प्राह—

तुरिआइणारगतिगेऽप्पा पणमट्ठीअ तो असंखगुणा ।
ताउ कमेगसयरिचउसट्ठिचउतिजुत्तसयरीणं ॥१९०॥
ताओ दुसत्तरीए संखगुणा बंधगा तमतमाए ।
इगसयरीए थोवा उड्ढमओ तुरिअणिरयव्व ॥१९१॥

(प्रे०) "तुरिआई" त्यादि, चतुर्थादिनरकत्रये जिननाम्नो बन्धाभावात् षट्सप्ततेर्बन्धस्थानाभाव', अत एव च पञ्चसप्ततेर्बन्धस्थानस्य मनुष्यायुष्कबन्धसहगतत्वेन तस्य बन्धकाः

स्तोकाः, संख्येयाः। ततः एकसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, ततश्चतुष्षष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणाः ततश्चतुःसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः। भावना नरकौघवत् कार्या। केवलं चतुःसप्ततेर्बन्धका मार्गणागतजीवानामसंख्येयभागप्रमिता द्वितीयनरकमार्गणावत् विज्ञेयाः। ततः त्रिसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, ततः द्विसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, भावना द्वितीयनरकवत् कार्या इति।

सप्तमनरकमार्गणायां मनुष्यायुष्कस्य बन्धाभावेन पञ्चषष्टेः पदस्यैवाभावात् आद्यपदं विहाय द्वितीयपदादारभ्य सर्वाल्पबहुत्वं चतुर्थनरकमार्गणावद् भवति। अल्पबहुत्वं पुनरेवम्—एकसप्ततेर्बन्धकाः स्तोकाः, ततः चतुःषष्टेः, ततश्चतुःसप्ततेः, ततस्त्रिसप्ततेर्बन्धकाः क्रमेणाऽसंख्येयगुणाः, ततो द्वासप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, भावना तु नरकौघानुसारेणातिदेशानुसारेण च कार्येति ॥१६०-६१॥ अथ तिर्यग्गत्योघे प्राह—

तिरियेऽप्पबहू उरलव्व सपाउग्गाण बंधठाणाणं।
एवं पणिंदितिरिये सडसट्ठीअ पुण संखगुणा ॥१६२॥
तह पज्जजोणिणीसु वि परं कमा सयरिसत्तसट्ठीणं।
चउसयरित्तो संखियगुणा छसट्ठीउ एगसयरीए ॥१६३॥ (गीतिः)

(प्रे०) "तिरिये" इत्यादि, तिर्यग्गत्योघे प्रस्तुतबन्धकानां मार्गणायां सम्भवत्सर्वपदानामल्पबहुत्वमौदारिककाययोगवद् भवति, तद्यथा—षष्टेर्बन्धका अल्पाः, देशविरतानामायुष्कबन्धसहितत्वात्। तत एकोनषष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणाः संख्येयगुणा वा, चतुःषष्टेर्बन्धकानां तु षष्टेर्बन्धकेभ्योऽसंख्येयगुणत्वेऽपि एकोनषष्टेर्बन्धकेभ्यो न्यूनत्वमधिकत्वं वा तत्तु स्वयं विज्ञेयम्। तत एकोनषष्टेर्बन्धकेभ्यस्त्रिषष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणाः। चतुष्षष्टेर्बन्धकेभ्यस्तु संख्येयगुणा असंख्येयगुणा वा। देशविरतितोऽविरतसम्यग्दृशामसंख्येयगुणत्वात्, देशविरतौ आयुष्कबन्धकेभ्योऽविरतसम्यग्दृशां तिरश्चामायुर्बन्धकानामसंख्येयगुणत्वात्। स्वस्थाने तु देशविरतौ आयुर्बन्धकेभ्य आयुष्काबन्धकानां संख्येयगुणत्वम्, असंख्येयगुणत्वं वा ज्ञेयम्, एवमविरतसम्यग्दृष्टितिरश्चामायुष्कबन्धकेभ्य आयुष्काबन्धकानां संख्येयगुणत्वमसंख्येयगुणत्वं वा विज्ञेयम्,। ततश्चतुःसप्तत्यादिबन्धकसत्कनवानां पदानामल्पबहुत्वमोघवद्विज्ञेयम्, भावनाऽप्योघवत् कार्या; ओघेऽपि उक्तबन्धस्थानानां बन्धकतया प्राधान्यतः तिरश्चामेव भावात्। ओघवदल्पबहुत्वं पुनरेवम्--त्रिषष्टेर्बन्धकेभ्यश्चतुःसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणा, तत एकसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततः सप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, ततः सप्तषष्टेर्बन्धका अनन्तगुणाः, ततस्त्रिसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततो द्वासप्ततेर्बन्धकाः संख्येय-

तो तिदुसयरीणा कमा संखगुणोमेव दुइयणिरयदुगे ।
तइआइछकप्पेसुं णवरि असंखियगुणा तिसयरीए ॥१८९॥ (गीतिः)

(प्रे०) "णिरये" इत्यादि, नरकगत्योघे प्रथमनरके च षट्षष्टेर्बन्धकाः स्तोकाः, जिननाममनुष्यायुष्कबन्धकानामेवोक्तस्थानलाभात् संख्येयत्वेऽप्यत्यल्पतमसंख्यातत्वात् । ततः पञ्चषष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, नैरयिकाणामप्यसंख्येयानां जिननामबन्धकत्वात् । तत एकसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, सास्वादनिनामेव तद्बन्धस्य लाभात् । जिननामबन्धकेभ्यस्त्वेषामसंख्येयगुणत्वाच्च । ततश्चतुःषष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, सास्वादनतोऽविरतसम्यग्दृशामसंख्येयगुणत्वात् । ततश्चतुःसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, मार्गणागतजीवानां संख्येयभागप्रमाणानामायुर्बन्धकत्वात्, तेषां संख्येयभागप्रमाणानामुद्योतसहितायुष्कबन्धकत्वात् । ततः त्रिसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः । आयुर्बन्धकेषु संख्येयबहुभागप्रमितानामुद्योतबन्धरहितत्वेन त्रिसप्ततेरेव बन्धकत्वात् । ततोऽपि संख्येयगुणा जीवा आयुष्कबन्धरहितामुद्योतयुक्तां त्रिसप्ततिं बध्नन्ति । ततो द्वासप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, उद्योतनामाबन्धकानां संख्येयगुणत्वात् । अत्र नरकौघे प्रथमनरके च संख्येयवर्षायुष्काणां जीवानां बहुभागप्रमाणत्वेनायुष्कबन्धकाः संख्येयभागप्रमाणा अवधेयाः । द्वितीयनरके तृतीयनरके च प्रस्तुताल्पबहुत्वमेवमेवावधेयम् । केवलमत्र मार्गणावर्तिसर्वजीवानामसंख्येयवर्षप्रमितायुष्कत्वेन स्वजीवितषण्मासाऽनवशेषे आयुष्कस्याबध्यमानत्वेन च चतुःसप्ततेर्बन्धकेभ्यस्त्रिसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणा भवन्ति, मार्गणागतजीवानामसंख्येयभागमितानामेवायुष्कबन्धकत्वात् चतुःसप्ततेर्बन्धस्थानमायुष्कसहितमेव भवति, त्रिसप्ततेर्बन्धस्थानं त्वायुष्कबन्धविरहितमपि लभ्यत इति । द्वितीयनरकमार्गणावदेव सनत्कुमारादिसहस्रारान्तदेवमार्गणास्वप्यल्पबहुत्वं निरवशेषं विज्ञेयम्, तत्राप्यसंख्येयवर्षायुष्कवतामेव लाभात् ; बन्धस्थानानां समानत्वाच्च भावनाऽपि नरकौघानुसारेण यथासम्भवं कार्येति ॥१८८-८९॥

अथ पङ्कप्रभादिमार्गणात्रये प्राह—

तुरिआइणारगतिगेऽप्पा पणसट्ठीअ तो असंखगुणा ।
ताउ कमेगसयरिचउसट्ठिचउतिजुत्तसयरीणां ॥१९०॥
ताओ दुसत्तरीए संखगुणा बंधगा तमतमाए ।
इगसयरीए थोवा उड्ढमओ तुरिअणिरयव्व ॥१९१॥

(प्रे०) "तुरिआई" त्यादि, चतुर्थादिनरकत्रये जिननाम्नो बन्धाभावात् षट्षष्टेर्बन्धस्थानाभाव', अत एव च पञ्चषष्टेर्बन्धस्थानस्य मनुष्यायुष्कबन्धसहगतत्वेन तस्य बन्धकाः

स्तोकाः, संख्येयाः । ततः एकसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, ततश्चतुष्षष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणाः ततश्चतुःसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः । भावना नरकौघवत् कार्या । केवलं चतुःसप्ततेर्बन्धका मार्गणागतजीवानामसंख्येयभागप्रमिता द्वितीयनरकमार्गणावद् विज्ञेयाः । ततः त्रिसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, ततः द्विसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, भावना द्वितीयनरकवत् कार्या इति ।

सप्तमनरकमार्गणायां मनुष्यायुष्कस्य बन्धाभावेन पञ्चषष्टेः पदस्यैवाभावात् आद्यपदं विहाय द्वितीयपदादारभ्य सर्वाल्पबहुत्वं चतुर्थनरकमार्गणावद् भवति । अल्पबहुत्वं पुनरेवम्—एकसप्ततेर्बन्धकाः स्तोकाः, ततः चतुःषष्टेः, ततश्चतुःसप्ततेः, ततस्त्रिसप्ततेर्बन्धकाः क्रमेणाऽसंख्येयगुणाः, ततो द्वासप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, भावना तु नरकौघानुसारेणातिदेशानुसारेण च कार्येति ॥१६०-६१॥ अथ तिर्यग्गत्योघे प्राह—

तिरिये ऽप्पबहू उरलव्व सपाउग्गाण बंधठाणाणं ।
एवं पणिंदितिरिये सडसट्ठीअ पुण संखगुणा ॥१६२॥
तह पज्जजोणिणीसु वि परं कमा सयरिसत्तसट्ठीणं ।
चउसयरित्तो संखियगुणा छसट्ठीउ एगसयरीए ॥१६३॥ (गीतिः)

(प्रे०) "तिरिये" इत्यादि, तिर्यग्गत्योघे प्रस्तुतबन्धकानां मार्गणायां सम्भवत्सर्वपदानामल्पबहुत्वमौदारिककाययोगवद् भवति, तद्यथा—षष्टेर्बन्धका अल्पाः, देशविरतानामायुष्कबन्धसहितत्वात् । तत एकोनषष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणाः संख्येयगुणा वा, चतुःषष्टेर्बन्धकानां तु षष्टेर्बन्धकेभ्योऽसंख्येयगुणत्वेऽपि एकोनषष्टेर्बन्धकेभ्यो न्यूनत्वमधिकत्वं वा तत्तु स्वयं विज्ञेयम् । तत एकोनषष्टेर्बन्धकेभ्यस्त्रिषष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणाः । चतुष्षष्टेर्बन्धकेभ्यस्तु संख्येयगुणा असंख्येयगुणा वा । देशविरतितोऽविरतसम्यग्दृशामसंख्येयगुणत्वात्, देशविरतौ आयुष्कबन्धकेभ्योऽविरतसम्यग्दृशां तिरश्चामायुर्बन्धकानामसंख्येयगुणत्वात् । स्वस्थाने तु देशविरतौ आयुर्बन्धकेभ्य आयुष्काबन्धकानां संख्येयगुणत्वम्, असंख्येयगुणत्वं वा ज्ञेयम्, एवमविरतसम्यग्दृष्टितिरश्चामायुष्कबन्धकेभ्य आयुष्काबन्धकानां संख्येयगुणत्वमसंख्येयगुणत्वं वा विज्ञेयम्, । ततश्चतुःसप्तत्यादिबन्धकसत्कनवानां पदानामल्पबहुत्वमोघवद्विज्ञेयम्, भावनाऽप्योघवत् कार्याः ओघेऽपि उक्तबन्धस्थानानां बन्धकतया प्राधान्यतः तिरश्चामेव भावात् । ओघवदल्पबहुत्वं पुनरेवम्--त्रिषष्टेर्बन्धकेभ्यश्चतुःसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणा, तत एकसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततः सप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, ततः सप्तषष्टेर्बन्धका अनन्तगुणाः, ततस्त्रिसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततो द्वासप्ततेर्बन्धकाः संख्येय-

गुणाः, तत एकोनसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततोऽष्टषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततः षट्-षष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणा इति ।

अथ पञ्चेन्द्रियतिर्यग्गत्योघे पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक् तिरश्चीमार्गणाद्वये च प्राह प्रस्तुतबन्ध-कालपबहुत्वम्–"एव"मित्यादि, अत्राऽऽद्यगाथार्धेन पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघेऽल्पबहुत्व दर्शितम् । द्वितीयगाथया पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिरश्चीमार्गणाद्वयेऽल्पबहुत्वं कथितम् । तत्र पञ्चेन्द्रिय-तिर्यगोघे तिर्यगोघवदल्पबहुत्वं भवति, केवलं प्रस्तुते जीवानामसंख्येयत्वात् असंख्येयबहुभाग-प्रमाणानां चाऽपर्याप्ततिर्यग्रूपत्वाच्च सप्ततेर्बन्धकेभ्यः सप्तषष्टेर्बन्धकानामोघे तिर्यग्गत्योघे चानन्त-गुणत्वस्य कथनेऽपि प्रस्तुतमार्गणायां ते संख्येयगुणा एव वक्तव्याः, अनन्तगुणत्वस्यासंभवात् मार्गणागतजीवानां संख्येयभागप्रमितानां सप्ततेर्बन्धकत्वाच्च । अल्पबहुत्वं पुनरेवम्-षष्टेर्बन्धकाः स्तोकाः, ततः एकोनषष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, संख्येयगुणाः वा, ततः त्रिषष्टेर्बन्धका असंख्ये-यगुणाः, चतुःषष्टेर्बन्धकास्तु तिर्यगोघवद्विज्ञेयाः । ततश्चतुःसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः तत एकसप्ततेर्बन्धका संख्येयगुणाः, ततः सप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, ततः सप्तषष्टेर्बन्धका संख्येयगुणाः, ततस्त्रिसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततो द्वासप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, तत एकोनसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततोऽष्टषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततः षट्षष्टे-र्बन्धकाः संख्येयगुणा इति । पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्तिरश्चीमार्गणयोः, षष्टेर्बन्धकाः स्तोकाः, तत एकोनषष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणाः संख्येयगुणा वा, ततः त्रिषष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, चतुःषष्टेर्बन्धकास्तिर्यगोघवद्विज्ञेयाः, तिर्यग्गत्योघेऽपि उक्तबन्धस्थानचतुष्कस्योक्तमार्गणा-द्वयगतानामेव बन्धकत्वात् तद्वदतिदेशः संगच्छते, ततः चतुःसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, मार्गणागतानां संख्येयभागप्रमितानां तद्बन्धकत्वात् । उक्तमार्गणाद्वये लब्ध्यपर्याप्तजीवा-नामभावात् मार्गणागतपर्याप्तजीवानां संख्येयबहुभागप्रमाणानां नरकप्रायोग्यस्यैव बन्धक-त्वात् एकसप्ततेर्बन्धकाः सर्वाधिका भवन्ति, अतस्तत्पदं विहायाग्रेऽल्पबहुत्वं भणनीयम् । तच्चैवम्-चतुःसप्ततेर्बन्धकेभ्यः सप्ततेर्बन्धकाः सख्येयगुणाः, ततः सप्तषष्टेर्बन्धकाः संख्येय-गुणाः, ततः त्रिसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, पदद्वये आयुष्कबन्धभावेन त्रिसप्तत्यादिभ्योऽल्पत्वम्, ततो द्वासप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, तत एकोनसप्ततेः संख्येयगुणाः, ततोऽष्टषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततः षट्षष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, तत एकसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, त्रिसप्तत्यादिषट्पदानामुत्तरोत्तरं संख्येयगुणत्वं तु नाम्नः त्रिंशदेकोनत्रिंशत्-षड्विंशति-पञ्च-विंशतित्रयोविंशत्यष्टाविंशतिबन्धस्थानानामुत्तरोत्तरबन्धकालस्य संख्येयगुणत्वात् । सप्तत्या-दिबन्धस्थानद्वयस्य संख्येयगुणत्वं तु मार्गणगतजीवानां संख्येयभागप्रमितानां तद्बन्ध-कत्वे सति तत्पूर्वस्थानबन्धकजीवानां मार्गणागतजीवसंख्यासत्कसंख्येयभागप्रमाणत्वात्,

विशेषभावना तु स्वयमुपयुज्य कार्या सुगमा चेति ॥१९२-१९३॥

अथ अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमसप्तदशमार्गणासु प्राह—

असमत्तपणिंदितिरियमणुयपणिंदितसस्सव्वविगलेसुं ।
पज्जत्तबायरपुहविदगऽग्गिपत्तेअकायेसु ॥१९४॥
चउसयरीए-ऽप्पा तो सयरीए बंधगा असंखगुणा ।
तत्तो सडसट्ठीए संखगुणोघव्व उद्धमओ ॥१९५॥

(प्रे०) "असमत्ते'त्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगऽपर्याप्तमनुष्याऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसकायमार्गणाचतुष्के नवविकलाक्षभेदेषु बादरपर्याप्तपृथ्व्यप्तेजस्कायप्रत्येकवनस्पति-कायमार्गणासु चतसृष्विति समुदितासु सप्तदशसु एकसप्ततिवर्जानां षट्षष्ट्यादीनामष्टानां बन्धस्था-नानां सम्भवः, तेषु बन्धकजीवानामल्पबहुत्वमोघवद् विज्ञेयम्, भावनाऽप्योघानुसारेण यथा-सम्भवं कार्या । केवलं प्रस्तुते जीवानामानन्त्याभावेन सप्तषष्टेर्बन्धका अनन्तगुणा न वक्तव्या किन्तु पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघवत् संख्येयगुणा, अत्र चतुःसप्ततेर्बन्धकेभ्यः सप्ततेः ततः सप्तषष्टेश्च बन्धकानामल्पबहुत्वे असंख्येयगुणत्वं संख्येयगुणत्वं च क्रमशः पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघवद् वक्तव्यम् । अल्पबहुत्वं पुनरेवम्—चतुःसप्ततेर्बन्धकाः स्तोकाः, ततः सप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, ततः सप्तषष्टेर्बन्धका संख्येयगुणाः ततः त्रिसप्ततेः, ततो द्वासप्ततेः, तत एकोनसप्ततेः, ततोऽष्ट-षष्टेः ततः षट्षष्टेर्बन्धका यथोत्तरं संख्येयगुणाः संख्येयगुणा भवन्ति अत्र पर्याप्ततेजस्काये चतुःसप्ततेर्बन्धकेभ्यस्सप्ततेर्बन्धका विशेषः अनन्तरवक्ष्यमाणमनुष्यौघवत् संख्येयगुणा विज्ञेया इति । ॥१९४-९५॥ अथ मनुष्यौघादिमार्गणासु बन्धकाल्पबहुत्वं दर्शयन्नाह—

ओघव्वऽप्पबहू जा छप्पराणं अत्थि णरतिगे णवरं ।
संखगुणाऽब्भहिया वा पणसट्ठीअ इगसट्ठित्तो ॥१९६॥
तो संखगुणाऽणणोराणं सयमुज्झा पंचवरणसट्ठीणं ।
दोओ संखगुणा गुणाचउसट्ठीया सयमरणोराणं ॥१९७॥
दोउ तिवट्ठीअ णरे तत्तो संखियगुणोगसयरोए ।
ताओ कमा चउसयरिसयरीणा असंखसंखगुणा ॥१९८॥
एत्तो पणिदितिरियव्वुवरि तिवट्ठीउ दोसु संखगुणा ।
चउसयरीए एत्तो पज्जपणिंदितिरियव्वुद्दं ॥१९९॥

(प्रे०) "ओघव्वे"त्यादि, मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य मानुषीमार्गणात्रये प्रथमपदादारभ्यः पञ्चपञ्चाशद्बन्धकान्तपदानामल्पबहुत्वमोघवद् विज्ञेयम्, ओघेऽपि मनुष्याणामेवोक्तचतुर्दशबन्धस्थानानां बन्धकत्वात् । तथाऽत्र पञ्चषष्टेर्बन्धकानां केवलं जिननामदेवायुष्कबन्धयुक्तानामेव मनुष्याणां लाभेन एकषष्टेर्बन्धकवत् तेषामपि संख्यायाः स्पष्टतया अनिर्णयात्, केवलमेकषष्टेर्बन्धकेभ्यः संख्येयगुणा विशेषाधिका वा ज्ञातव्याः ।

पञ्चपञ्चाशद्बन्धकेभ्य एकोनषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, संयतेभ्यो देशविरतानां संख्येयगुणत्वात् ततः त्रिषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, देशविरतमनुष्येभ्योऽविरतसम्यग्दृष्टिमनुष्याणां संख्येयगुणत्वात् ।

अत्र षष्टेर्बन्धकानामेकोनषष्टेर्बन्धकेभ्यः संख्येयगुणहीनत्वेऽपि पञ्चपञ्चाशद्बन्धकेभ्यस्तु न्यूनमधिकत्वं वा बहुश्रुताद्विज्ञेयम् । एवं चतुःषष्टेर्बन्धकानामपि त्रिषष्टेर्बन्धकेभ्यः संख्येयगुणहीनत्वेऽपि षष्टेर्बन्धकेभ्यः संख्येयगुणाधिक्येऽपि पञ्चपञ्चाशद्बन्धकेभ्य एकोनषष्टेर्बन्धकेभ्यश्च न्यूनत्वमधिकत्वं वा तत्तु श्रुतानुसारेण बोद्धव्यमिति ।

त्रिषष्टेर्बन्धकाल्पबहुत्वादूर्ध्वं तु मनुष्यौघे एकसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणा अभिधातव्याः, पर्याप्तानामेवोक्तस्थानबन्धकत्वात् नासंख्येयगुणत्वम्, मिथ्यादृशामुक्तस्थानबन्धकत्वात् संख्येयगुणत्वम् । ततश्चतुःसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, अपर्याप्तजीवानामपि तद्बन्धकत्वात्, अत्र मार्गणागतजीवानां संख्येयभागप्रमाणा जीवाश्चतुःसप्ततेर्बन्धका ज्ञातव्याः, अत एव इत ऊर्ध्वं न केषुचिदपि पदेष्वसंख्येयगुणत्वमिति । अयं भावः—यत्र चतुःसप्ततेर्बन्धप्रायोग्या जीवा उद्योतवेदकत्रसजीवेभ्यो हीना स्यात् तुल्या वा स्यात् यदि वा संख्येयगुणं यावद्वा अधिका भवन्ति, तत्र चतुःसप्ततेर्बन्धका मार्गणागतजीवानां संख्येयभागप्रमाणा अवसेया, यथा पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणायां प्रस्तुते च । यत्र पुनश्चतुःसप्ततेर्बन्धप्रायोग्या जीवा तद्वेदकजीवेभ्योऽसंख्येयगुणा अनन्तगुणा वा भवन्ति, तत्र चतुःसप्ततेर्बन्धकजीवा मार्गणागतजीवानामसंख्येयत्वेऽसंख्येयभागप्रमाणा भवन्ति, अनन्तजीवत्वे त्वनन्तभागप्रमाणा इति । अत एव हेतुना चतुःसप्ततिबन्धकेभ्यः सप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणा भवन्ति, ततः सप्तषष्टेः संख्येयगुणाः, ततस्त्रिसप्ततेः संख्येयगुणाः, ततो द्वासप्ततेः संख्येयगुणाः, तत एकोनसप्ततेः संख्येयगुणाः, ततोऽष्टषष्टेः संख्येयगुणाः, ततः षट्षष्टेः संख्येयगुणा इति । पर्याप्तमनुष्यमानुषीमार्गणाद्वये तु जीवानामेव संख्येयत्वेन न कस्यापि पदस्यासंख्येयगुणत्वं भवति, तथा पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्वत् प्रस्तुतेऽपि नरकप्रायोग्यबन्धकानामेव संख्येयबहुभागप्रमाणत्वेन एकसप्ततेर्बन्धस्थानं सर्वान्तिमं भवति, तेन त्रिषष्टिबन्धकेभ्यश्चतुःसप्ततेर्बन्धकाः, ततः सप्ततेः, ततः सप्तषष्टेः, ततस्त्रिसप्ततेः,

ततो द्वासप्ततेः, तत एकोनसप्ततेः, ततोऽष्टषष्टेः, ततः षट्षष्टेः, तत एकसप्ततेर्बन्धका क्रमशः संख्येयगुणा भवन्ति, भावना तु पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणानुसारेण यथासम्भवं कार्येति ॥१९६-१९९॥ अथ देवौघादिमार्गणासु प्रस्तुतं प्राह—

णिरयव्वऽत्थि सुराइमदुकप्पविउवेसु जाव चउसट्ठि ।
ताउ असंखगुणा चउसयरीए ताउ संखगुणा ॥२००॥
सयरितिसयरीण कमा तत्तो दुसयरिगुणवअट्ठसट्ठीणं ।
कममो णवरि असंखियगुणा तिसयरीअ कप्पदुगे ॥२०१॥ (गीतिः)

(प्रे०) "णिरयव्वे"त्यादि, देवौघ-सौधर्मेशानकल्पद्वय-वैक्रियकाययोगमार्गणासु चतसृषु प्रत्येकं षट्षष्टेर्बन्धकाः स्तोकाः, संख्येया एव । ततः पञ्चषष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, जिननामबन्धकानामद्धापल्योपमस्यासंख्येयभागप्रमाणत्वात् । तत एकसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, जिननामबन्धकेभ्यः सास्वादनसम्यग्दृशामसंख्येयगुणत्वात् । ततश्चतुःषष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणाः सास्वादनतोऽविरतसम्यग्दृष्टीनामसंख्येयगुणत्वात् । उक्तस्थानचतुष्कबन्धकानामल्पबहुत्वं नरकौघवत् प्रस्तुते प्राप्यते, अतस्तद्वदतिदिष्टम् । ततश्चतुःसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, प्रागुक्तबन्धस्थानबन्धकतया पल्यासंख्येयभागप्रमाणा जीवा लभ्यन्ते, चतुःसप्ततेस्तु बन्धका असंख्यश्रेणिप्रमाणा भवन्ति ।

ततः सप्ततेर्बन्धका देवौघे वैक्रिययोगे च संख्येयगुणाः, मार्गणागतजीवानां संख्येयभागमात्राणामायुष्कबन्धकत्वात्, तेषां च संख्येयभागप्रमितानां चतुःसप्ततेर्बन्धकत्वात्, अतश्चतुःसप्ततितः संख्येयगुणानां मार्गणागतजीवसत्कसंख्येयभागमितानां सप्ततेर्बन्धकत्वाच्च । सौधर्मेशानयोरपि चतुःसप्ततिबन्धकेभ्यः सप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणा भवन्ति । ततः त्रिसप्ततेर्बन्धका देवौघे वैक्रिययोगे च संख्येयगुणाः । कुतः ? देवौघे वैक्रिययोगे च संख्येयवर्षायुष्काणां मार्गणागतजीवानां संख्येयभागप्रमाणत्वेन तत्संख्येयभागप्रमाणानामायुष्कबन्धकत्वेन मार्गणागतानां संख्येयभागप्रमाणानामेवायुष्कबन्धकत्वात् संख्येयबहुभागानां तदबन्धकत्वाच्च । सौधर्मेशानयोस्तु त्रिसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणा एव भवन्ति, आयुष्कबन्धकानां मार्गणागतजीवानामसंख्येयभागप्रमाणत्वात्, प्रस्तुतपदबन्धकानां मार्गणागतजीवानां संख्येयभागप्रमाणत्वाच्च । ततो द्वासप्ततेर्बन्धका मार्गणाचतुष्केऽपि संख्येयगुणाः, तत एकोनसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततोऽष्टषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, पदत्रयेऽपि क्रमश उत्तरोत्तरबन्धकालस्य संख्येयगुणत्वात् । शेषभावना तु सुगमा स्वयं कार्या इति ॥ २००-२०१ ॥

अथ भवनपत्यादित्रिके बन्धकाल्पबहुत्वं प्राह—

पणसट्ठीए थोवा भवणतिगे बंधगा अओ उड्ढं ।
होअन्ति सुरव्व भवणदुगेऽज्जकप्पव्व जोइसिये ॥२०२॥

(प्रे०) "पणसट्ठीए" इत्यादि, भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कमार्गणात्रये जिननाम्नो बन्धाभावेन षट्षष्टेर्बन्धस्थानं नास्ति, अत एव च पञ्चषष्टेर्बन्धस्थानं मनुष्यायुष्कबन्धयुक्तं भवति, अतस्तस्य बन्धकाः स्तोका भवन्ति, शेषाल्पबहुत्वं तु भवनपतिव्यन्तरमार्गणयोर्देवौघमार्गणावद् विज्ञेयम्, देवौघवत् मार्गणाद्वयेऽप्यायुष्कबन्धकानां मार्गणागतजीवानां सङ्ख्येयभागप्रमाणत्वात् षट्षष्टिं विहायातिदेशवत् बन्धस्थानानां समानत्वाच्च । ज्योतिष्कमार्गणायां सौधर्मदेववत् शेषाल्पबहुत्वं विज्ञेयम् , मार्गणागतानां सर्वेषामसंख्येयवर्षायुष्कत्वेन तदसंख्येयभागप्रमाणानामेवायुष्कबन्धकत्वात् । भावना त्वतिदेशवत् कार्या सुगमा चेति ॥२०२॥

अथ आनतादिमार्गणासु प्राह—

थोवा छासट्ठीए गेविज्जंतेसु आणयाईसुं ।
तो बंधगाऽत्थि संखियगुणा तिसयरीअ तो असंखगुणा ॥२०३॥(गीतिः)
एगसयरीअ ताओ होअन्ति दुसयरिपंचसट्ठीणं ।
सयमुज्झा-ऽऽणोराणं तो संखगुणाऽत्थि चउसट्ठीए ॥२०४॥

(प्रे०) "थोवा" इत्यादि, आनतादिनवमग्रैवेयकान्तमार्गणासु षट्षष्टेर्बन्धकाः स्तोकाः, जिननाममनुष्यायुष्कबन्धोपेतत्वेन प्रकृष्टतोऽपि विंशतिपृथक्त्वप्रमाणत्वात् । तनस्त्रिसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, मनुष्यायुष्कबन्धयुक्तत्वेन संख्येयत्वात् । त्रिसप्ततिबन्धकेभ्य एकसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, सास्वादनानामसंख्येयत्वात् । आनतादिनवमग्रैवेयकान्तमार्गणासु सास्वादनगतजीवेभ्योऽसंख्येयगुणा जीवा अविरतसम्यग्दृष्टयो भवन्ति, तथा एतासु सम्यग्दृष्टिजीवानां संख्येयभागप्रमाणानां जिननाम्नो बन्धसद्भावात् एकसप्ततेर्बन्धकेभ्य ःपञ्चषष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणा भवन्ति, तथाऽपि ते द्वासप्ततिबन्धकेभ्यो न्यूना अधिका वा कियद्गुणा वा तन्न सम्यग् ज्ञायते; अतो बहुश्रुताद् विज्ञेयः । ततश्चतुःषष्टेर्बन्धकाः सङ्ख्येयगुणाः, मिथ्यादृष्टितो जिननामबन्धकसम्यग्दृष्टितश्च सामान्यसम्यग्दृष्टेः प्रस्तुते संख्येयगुणत्वात् ॥२०३-२०४॥

अथ अनुत्तरसुरमार्गणाचतुष्के प्राह—

छासट्ठीअ अणुत्तरचउगेऽप्पा बंधगा तओ णेया ।
पणचउज्जुअसट्ठीणं कमा असंखगुणसंखगुणा ॥२०५॥

(प्रे०) "छासट्ठीअ" इत्यादि, अनुत्तरसुरमार्गणाचतुष्के जीवा असङ्ख्येयाः सम्यग्दृष्टय एव च भवन्ति । तत्र षट्षष्टेर्बन्धका अल्पाः, आयुष्कबन्धसहितत्वेन सङ्ख्येया एव ।

ततः पञ्चषष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, जिननामबन्धकानामसंख्येयानां मार्गणागतजीवानां संख्येयभागप्रमितानां लाभात् । ततश्चतुःषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, संख्येयबहुभागमितानां जिननाम्नोऽबन्धकतया भावात् ॥२०५॥ अथ सर्वार्थसिद्धे बन्धकाल्पबहुत्वं प्राह—

छासट्ठीए थोवा सव्वत्थे बंधगा मुणेयव्वा ।
ताउ कमा पणचउजुअसट्ठीणा हवेज्ज संखगुणा ॥२०६॥

(प्रे०) "छासट्ठीए" इत्यादि, सर्वार्थसिद्धे बन्धकाल्पबहुत्वमनुत्तरसुरमार्गणावद् भवति । केवलं मार्गणागतजीवानां संख्येयत्वेन पदद्वये संख्येयगुणता वाच्येति ॥२०६॥

सम्प्रति बन्धकाल्पबहुत्वमेकेन्द्रियौघादिपञ्चदशमार्गणासु प्राह—

थोवा चउसयरीए सव्वेगिंदियणिगोअहरिएसुं ।
ताउ असंखेज्जगुणा सयरीए उड्ढमोघव्व ॥२०७॥

(प्रे०) "थोवा" इत्यादि, सप्तैकेन्द्रियभेदेषु सप्तनिगोदभेदेषु वनस्पतिकायौघे च स्वप्रायोग्यबन्धस्थानबन्धकानामल्पबहुत्वमोघवद् भवति, मार्गणागतजीवानामानन्त्यात्, भावनाप्योघवत् कार्या, अल्पबहुत्वं पुनरेवम्-चतुःसप्ततेर्बन्धकाः स्तोकाः, प्रतराऽसंख्येयभागप्रमाणाः । ततः सप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, ततः सप्तषष्टेर्बन्धका अनन्तगुणाः, ततस्त्रिसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततो द्वासप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, तत एकोनसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततोऽष्टषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततः षट्षष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणा इति ॥२०७॥

एतर्हि पञ्चेन्द्रियौघे पर्याप्तपञ्चेन्द्रिये त्रसकायौघे च प्रस्तुताल्पबहुत्वं निरूपयन्नाह—

चउसट्ठि जोघव्व दुपणिंदियेसुं तसे य उड्ढमओ ।
दोसु पणिंदितिरिव्व उ पज्जपणिंदिम्मि पज्जतिरियव्व ॥२०८॥(गीतिः)

(प्रे०) "चउसट्ठि"मित्यादि, चतुःपञ्चाशद्बन्धकरूपाद्यपदादारभ्य चतुःषष्टेर्बन्धकान्तपदं यावत् तत्तत्पदसत्कसर्वबन्धकानां प्रस्तुतमार्गणात्रयाऽन्तर्गतत्वात् तेषां पदानां बन्धकाल्पबहुत्वमोघवद् विज्ञेयम्, भावनाऽप्योघवदेव सर्वा कार्या । तत ऊर्ध्वं मार्गणाद्वये जीवानामसंख्येयत्वे सति लब्ध्यपर्याप्तजीवानामसंख्येयबहुभागप्रमाणानां भावेन पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघवत् प्रस्तुताल्पबहुत्वं विज्ञेयम् । पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणायां लब्ध्यपर्याप्तजीवानामभावेन मार्गणागतसंख्येयबहुभागगतानां पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्त्वेन शेषपदानामल्पबहुत्वं पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणावद् विज्ञेयम्, मार्गणात्रयेऽपि भावना अतिदेशस्थानवत् कार्या सुगमा च । चतुःषष्टेर्बन्धकपदत ऊर्ध्वमल्पबहुत्वं पुनरेवम्—पञ्चेन्द्रियौघे त्रसकायौघे च चतुःषष्टेर्बन्धकेभ्यश्चतुः-

सप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, तत एकसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततः सप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, ततः सप्तषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः । ततस्त्रिसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततो द्वासप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, तत एकोनसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततोऽष्टषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततः षट्षष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः । पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणायां चतुःषष्टेबन्धकेभ्यश्चतुःसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः ततः सप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततः सप्तषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततस्त्रिसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततो द्वासप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, तत एकोनसप्ततेः संख्येयगुणाः, ततोऽष्टषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततः षट्षष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, तत एकसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः । भावना त्वतिदेशानुसारेण कार्या इति ॥२०८॥

अथ पर्याप्तत्रसकाये वचनयोगौघे व्यवहारवचनयोगे चेति तिसृषु बन्धकाल्पबहुत्वं निरूपयन्नाह—

चउसट्ठिं जोवव्व उ हवेज्ज पज्जतसदुवयगोसु तत्तो ।
चउसयरीअ असंखियगुणा तओ सत्तरीअ संखगुणा ॥२०९॥ (गीतिः)
ताउ सडसट्ठितिसयरिदुसयरिगुणसत्तरीण अत्थि कमा ।
तो अडसट्ठिइगसयरिछासट्ठीणं कमा णेया ॥२१०॥

(प्रे०) "चउसट्ठि" मित्यादि, पर्याप्तत्रसकायादिमार्गणात्रये चतुःपञ्चाशदादिपदानां चतुःषष्टयन्तानां बन्धकसत्काल्पबहुत्वमोघवद् विज्ञेयम्, ओघोक्तप्रस्तुतबन्धस्थानसत्कसर्वबन्धकानां पर्याप्तत्रसकायमार्गणायां लाभात्, वचनयोगद्वये तु ओघोक्तप्रस्तुतबन्धस्थानसत्कबहुभागबन्धकानां प्रस्तुतमार्गणयोः प्रायोग्यत्वात्, भावना त्वोघवदेव विधेया । ततश्चतुःसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः । प्रस्तुतबन्धस्थानस्य बन्धका मार्गणागतजीवसंख्येयभागप्रमाणत्वात् सम्यग्दृष्टिदेवानां मार्गणागतजीवाऽसंख्येयभागमात्रत्वाच्च । ततः सप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततः सप्तषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततस्त्रिसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततो द्वासप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, तत एकोनसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततोऽष्टषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, एतेषां पदानां बन्धकाल्पबहुत्वभावना पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणामनुसृत्य कार्या । तत एकसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, पर्याप्तपञ्चेन्द्रियसत्कसंख्येयबहुभागगतजीवा एकसप्ततेर्बन्धका भवन्ति इति कृत्वा । ततः षट्षष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, मार्गणागतजीवेभ्यः सातिरेकत्रिचतुर्थभागप्रमाणाः पर्याप्तविकलरूपाः; तेषां संख्येयबहुभागप्रमाणा जीवाः षट्षष्टेर्बन्धका भवन्तीति । त्रिसप्तत्यादिपदषट्कभावना तु नाम्नः स्वस्थानाल्पबहुत्वाधीना इति ततः सा ज्ञेया ॥२०९-१०॥

अथ उक्तशेषेषु कायमार्गणाभेदेषु बन्धकाल्पबहुत्वं प्राह—

एगिंदियव्व णेयं सगवीसाएऽणकायभेएसुं ।
णवरि असंखेज्जगुणा सडसट्ठीए मुणेयव्वा ॥२११॥

(प्रे०) "एगिंदियव्वे" त्यादि, बादरपर्याप्तवर्जासु पृथ्व्यप्तेजस्कायसत्काष्टादशभेदेषु सप्तवायुकायमार्गणाभेदेषु प्रत्येकवनस्पतिकायौघे तदपर्याप्तभेदे चेति समुदितासु सप्तविंशतिमार्गणाभेदेषु एकेन्द्रियमार्गणावद् बन्धस्थानानां बन्धकाल्पबहुत्वं विज्ञेयम्, केवलं प्रस्तुतमार्गणासु जीवानामसंख्येयत्वेन सप्तषष्टेर्बन्धकानां तत्रानन्तगुणत्वेऽपि प्रस्तुतेऽसंख्येयगुणत्वमेव भवति । इत्येकमपवादपदं विहायौघवद् भावना कार्या । अल्पबहुत्वं पुनरेवम्-चतुःसप्ततेर्बन्धकाः स्तोकाः, ततः सप्ततेरसंख्येयगुणाः, ततः सप्तषष्टेरसंख्येयगुणाः, ततस्त्रिसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततो द्वासप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, तत एकोनसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततोऽष्टषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततः षट्षष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणा इति ॥२११॥

अथ सर्वमनोयोगेषु शेषवचनयोगभेदेषु संज्ञिमार्गणायां च बन्धकाल्पबहुत्वं प्राह—

चउसट्ठि जा णेया ओघव्व पणमणतिवयसण्णीसुं ।
परमेगस्स दुमणवयसण्णीसु सयं तओ असंखगुणा ॥२१२॥
सडसट्ठीए ताओ छासट्ठीएऽत्थि संखियगुणा तो ।
कमसो चउसयरिसयरिइगतिदुसयरिनवअट्ठसट्ठीणं ॥२१३॥ (गीतिद्वयम्)
अणणो उ भणन्ते सडसट्ठित्तो बंधगा छसट्ठीए ।
संखेज्जगुणा तत्तो चउसयरीए असंखगुणा ॥२१४॥

(प्रे०) "चउसट्ठि"मित्यादि, मनोयोगौघे तदुत्तरभेदचतुष्के सत्या-ऽसत्य-मिश्रवचनयोगत्रये संज्ञिमार्गणायां च चतुःपञ्चाशद्रूपादिबन्धस्थानाच्चतुःषष्टिबन्धस्थानं यावद्बन्धकानामल्पबहुत्वमोघवद् भवति, भावनाऽप्योघवत् कार्या । केवलमसत्य-मिश्रमनोयोगद्वये वचनयोगद्वये च सयोगिकेवलिनां प्रवेशाभावेन एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकानां शतपृथक्त्वमात्रत्वेन ते सप्तदशादिबन्धस्थानबन्धकैः सह समुदिता वाच्याः, विभक्ततया अस्माभिर्वक्तुमशक्यत्वात् तज्ज्ञातृभिस्तु ते पृथगपि निरूपणीया इति । चतुःषष्टेर्बन्धकादूर्ध्वं बन्धस्थानबन्धकानां न्यूनाधिकत्वस्य ज्ञानाय इदमवधारणीयम्--प्रस्तुतमार्गणासु संज्ञिपर्याप्ता एव जीवाः प्राप्यन्ते, यद्यपि संज्ञिमार्गणायां लब्ध्यपर्याप्तजीवा प्राप्यन्ते तथापि न तेषां प्राधान्यम्, तत्रापि देवानां प्राधान्यं भवति, प्रस्तुतमार्गणासु देवाः संख्येयबहुभागप्रमाणाः, तिर्यञ्चः संख्येयैकभागमिताः, नारका मनुष्याश्चासंख्येयभागमिताः । तिर्यञ्चोऽपि स्वमते संख्येयैकभागसत्कस्यापि संख्येयबहुभागमिता असंख्येयबहुभागमिता वा संख्येयवर्षायुष्काः, परमते त्वसंख्येयबहुभागप्रमाणा युगलधर्मिणः । अत्र स्वमत-

सप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, तत एकसप्ततेर्बन्धकाः सख्येयगुणाः, ततः सप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, ततः सप्तषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः । ततस्त्रिसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततो द्वासप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, तत एकोनसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततोऽष्टषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततः षट्षष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः । पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणायां चतुःषष्टेर्बन्धकेभ्यश्चतुःसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः ततः सप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततः सप्तषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततस्त्रिसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततो द्वासप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, तत एकोनसप्ततेः संख्येयगुणाः, ततोऽष्टषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततः षट्षष्टेर्बन्धकाः सख्येय गुणाः, तत एकसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः । भावना त्वतिदेशानुसारेण कार्या इति ॥२०८॥

अथ पर्याप्तत्रसकाये वचनयोगौघे व्यवहारवचनयोगे चेति तिसृषु बन्धकाल्पबहुत्वं निरूपयन्नाह—

चउसट्ठि जोव्व उ हवेज्ज पज्जतसदुवयणेसु तत्तो ।
चउसयरीअ असंखियगुणा तत्तो सत्तरीअ संखगुणा ॥२०९॥ (गीतिः)
ताउ सडसट्ठितिसयरिदुसयरिगुणसत्तरीण अत्थि कमा ।
तो अडसट्ठिइगसयरिछसट्ठीणं कमा णेया ॥२१०॥

(प्रे०)"चउसट्ठि"मित्यादि, पर्याप्तत्रसकायादिमार्गणात्रये चतुःपञ्चाशदादिपदानां चतुःषष्ट्यन्तानां बन्धकसत्काल्पबहुत्वमोघवद् विज्ञेयम्, ओघोक्तप्रस्तुतबन्धस्थानसत्कसर्वबन्धकानां पर्याप्तत्रसकायमार्गणायां लाभात्, वचनयोगद्वये तु ओघोक्तप्रस्तुतबन्धस्थानसत्कबहुभागबन्धकानां प्रस्तुतमार्गणयोः प्रायोग्यत्वात्, भावना त्वोघवदेव विधेया । ततश्चतुःसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः । प्रस्तुतबन्धस्थानस्य बन्धका मार्गणागतजीवसंख्येयभागप्रमाणत्वात् सम्यग्दृष्टिदेवानां मार्गणागतजीवाऽसंख्येयभागमात्रत्वाच्च । ततः सप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततः सप्तषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततस्त्रिसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततो द्वासप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, तत एकोनसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततोऽष्टषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, एतेषां पदानां बन्धकाल्पबहुत्वभावना पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणामनुसृत्य कार्या । तत एकसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, पर्याप्तपञ्चेन्द्रियसत्कसंख्येयबहुभागगतजीवा एकसप्ततेर्बन्धका भवन्ति इति कृत्वा । ततः षट्षष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, मार्गणागतजीवेभ्यः सातिरेकत्रिचतुर्थभागप्रमाणाः पर्याप्तविकलरूपाः; तेषां संख्येयबहुभागप्रमाणा जीवाः षट्षष्टेर्बन्धका भवन्तीति । त्रिसप्तत्यादिपदषट्कभावना तु नाम्नः स्वस्थानाल्पबहुत्वाधीना इति ततः सा ज्ञेया ॥२०९-१०॥

अथ उक्तशेषेषु कायमार्गणाभेदेषु बन्धकाल्पबहुत्वं प्राह—

एगिंदियव्व ग्गेयं सगवीसाएऽणकायभेएसुं ।
णवरि असंखेज्जगुणा सडसट्ठीए मुणेयव्वा ॥२११॥

(प्रे०) "एगिंदियव्वे" त्यादि, बादरपर्याप्तवर्जासु पृथ्व्यप्तेजस्कायसत्काष्टादशभेदेषु सप्तवायुकायमार्गणाभेदेषु प्रत्येकवनस्पतिकायौघे तदपर्याप्तभेदे चेति समुदितासु सप्तविंशतिमार्गणाभेदेषु एकेन्द्रियमार्गणावद् बन्धस्थानानां बन्धकाल्पबहुत्वं विज्ञेयम्, केवलं प्रस्तुतमार्गणासु जीवानामसंख्येयत्वेन सप्तषष्टेर्बन्धकानां तत्रानन्तगुणत्वेऽपि प्रस्तुतेऽसंख्येयगुणत्वमेव भवति । इत्येकमपवादपदं विहायौघवद् भावना कार्या । अल्पबहुत्वं पुनरेवम्-चतुःसप्ततेर्बन्धकाः स्तोकाः, ततः सप्ततेरसंख्येयगुणाः, ततः सप्तषष्टेरसंख्येयगुणाः, ततस्त्रिसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः. ततो द्वासप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, तत एकोनसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततोऽष्टषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततः षट्षष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणा इति ॥२११॥

अथ सर्वमनोयोगेषु शेषवचनयोगभेदेषु संज्ञिमार्गणायां च बन्धकाल्पबहुत्वं प्राह—

चउसट्ठि जा ग्गेया ओघव्व पणमणतिवयसण्णीसुं ।
परमेगसम दुमणवयसण्णीसु सयं तओ असंखगुणा ॥२१२॥
सडसट्ठीए ताओ छासट्ठीएऽत्थि संखियगुणा तो ।
कमसो चउसयरिसयरिइगतिदुसयरिनवअट्ठसट्ठीणं ॥२१३॥ (गीतिद्वयम्)
अणो उ भणन्ते सडसट्ठित्तो बंधगा छसट्ठीए ।
संखेज्जगुणा तत्तो चउसयरीए असंखगुणा ॥२१४॥

(प्रे०) "चउसट्ठि" मित्यादि, मनोयोगौघे तदुत्तरभेदचतुष्के सत्या-ऽसत्य-मिश्रवचनयोगत्रये संज्ञिमार्गणायां च चतुःपञ्चाशद्रूपादिबन्धस्थानाच्चतुःषष्टिबन्धस्थानं यावद्बन्धकानामल्पबहुत्वमोघवद् भवति, भावनाऽप्योघवत् कार्या । केवलमसत्य-मिश्रमनोयोगद्वये वचनयोगद्वये च सयोगिकेवलिनां प्रवेशाभावेन एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकानां शतपृथक्त्वमात्रत्वेन ते सप्तदशादिबन्धस्थानबन्धकैः सह समुदिता वाच्याः, विभक्ततया अस्माभिर्वक्तुमशक्यत्वात् तज्ज्ञातृभिस्तु ते पृथगपि निरूपणीया इति । चतुःषष्टेर्बन्धकादूर्ध्वं बन्धस्थानबन्धकानां न्यूनाधिकत्वस्य ज्ञानाय इदमवधारणीयम्--प्रस्तुतमार्गणासु संज्ञिपर्याप्ता एव जीवाः प्राप्यन्ते, यद्यपि संज्ञिमार्गणायां लब्ध्यपर्याप्तजीवा प्राप्यन्ते तथापि न तेषां प्राधान्यम्. तत्रापि देवानां प्राधान्यं भवति, प्रस्तुतमार्गणासु देवाः संख्येयबहुभागप्रमाणाः, तिर्यञ्चः संख्येयैकभागमिताः, नारका मनुष्याश्चासंख्येयभागमिताः । तिर्यञ्चोऽपि स्वमते संख्येयैकभागसत्कस्यापि संख्येयबहुभागमिता असंख्येयबहुभागमिता वा संख्येयवर्षायुष्काः, परमते त्वसंख्येयबहुभागप्रमाणा युगलधर्मिणः । अत्र स्वमत-

सप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, तत एकसप्ततेर्बन्धकाः सख्येयगुणाः, ततः सप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, ततः सप्तषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः । ततस्त्रिसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततो द्वासप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, तत एकोनसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततोऽष्टषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततः षट्षष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः । पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणायां चतुःषष्टेर्बन्धकेभ्यश्चतुःसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः ततः सप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततः सप्तषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततस्त्रिसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततो द्वासप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, तत एकोनसप्ततेः संख्येयगुणाः, ततोऽष्टषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततः षट्षष्टेर्बन्धकाः सख्येयगुणाः, तत एकसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः । भावना त्वतिदेशानुसारेण कार्या इति ॥२०८॥

अथ पर्याप्तत्रसकाये वचनयोगौघे व्यवहारवचनयोगे चेति तिसृषु बन्धकाल्पबहुत्वं निरूपयन्नाह—

चउसट्ठिं जोव्व उ हवेज्ज पज्जत्तसदुवयगोसु तओ ।
चउसयरीअ असंखियगुणा तओ सत्तरीअ संखगुणा ॥२०९॥ (गीतिः)
ताउ सडसट्ठितिसयरिदुसयरिगुणसत्तरीण अत्थि कमा ।
तो अडसट्ठिइगसयरिछासट्ठीणं कमा णेया ॥२१०॥

(प्रे०)"चउसट्ठि"मित्यादि, पर्याप्तत्रसकायादिमार्गणात्रये चतुःपञ्चाशदादिपदानां चतुःषष्ट्यन्तानां बन्धकसत्काल्पबहुत्वमोघवद् विज्ञेयम् , ओघोक्तप्रस्तुतबन्धस्थानसत्कसर्वबन्धकानां पर्याप्तत्रसकायमार्गणायां लाभात् , वचनयोगद्वये तु ओघोक्तप्रस्तुतबन्धस्थानसत्कबहुभागबन्धकानां प्रस्तुतमार्गणयोः प्रायोग्यत्वात् , भावना त्वोघवदेव विधेया । ततश्चतुःसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः । प्रस्तुतबन्धस्थानस्य बन्धका मार्गणागतजीवसंख्येयभागप्रमाणत्वात् सम्यग्दृष्टिदेवानां मार्गणागतजीवाऽसंख्येयभागमात्रत्वाच्च । ततः सप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततः सप्तषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततस्त्रिसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततो द्वासप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, तत एकोनसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततोऽष्टषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, एतेषां पदानां बन्धकाल्पबहुत्वभावना पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणामनुसृत्य कार्या । तत एकसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, पर्याप्तपञ्चेन्द्रियसत्कसंख्येयबहुभागगतजीवा एकसप्ततेर्बन्धका भवन्ति इति कृत्वा । ततः षट्षष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, मार्गणागतजीवेभ्यः सातिरेकत्रिचतुर्थभागप्रमाणाः पर्याप्तविकलरूपाः; तेषां संख्येयबहुभागप्रमाणा जीवाः षट्षष्टेर्बन्धका भवन्तीति । त्रिसप्तत्यादिपदषट्कभावना तु नाम्नः स्वस्थानाल्पबहुत्वाधीना इति ततः सा ज्ञेया ॥२०९-१०॥

अथ उक्तशेषेषु कायमार्गणाभेदेषु बन्धकाल्पबहुत्वं प्राह—

एगिंदियव्व णेयं सगवीसाएऽणकायभेएसुं ।
णवरि असंखेज्जगुणा सडसट्ठीए मुणेयव्वा ॥२११॥

(प्रे०) "एगिंदियव्वे" त्यादि, बादरपर्याप्तवर्जासु पृथ्व्यप्तेजस्कायसत्काष्टादशभेदेषु सप्तवायुकायमार्गणाभेदेषु प्रत्येकवनस्पतिकायौघे तदपर्याप्तभेदे चेति समुदितासु सप्तविंशतिमार्गणाभेदेषु एकेन्द्रियमार्गणावद् बन्धस्थानानां बन्धकाल्पबहुत्वं विज्ञेयम् , केवलं प्रस्तुतमार्गणासु जीवानामसंख्येयत्वेन सप्तषष्टेर्बन्धकानां तत्रानन्तगुणत्वेऽपि प्रस्तुतेऽसंख्येयगुणत्वमेव भवति । इत्येकमपवादपदं विहायौघवद् भावना कार्या । अल्पबहुत्वं पुनरेवम्-चतुःसप्ततेर्बन्धकाः स्तोकाः, ततः सप्ततेरसंख्येयगुणाः, ततः सप्तषष्टेरसंख्येयगुणाः, ततस्त्रिसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततो द्वासप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, तत एकोनसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततोऽष्टषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततः षट्षष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणा इति ॥२११॥

अथ सर्वमनोयोगेषु शेषवचनयोगभेदेषु संज्ञिमार्गणायां च बन्धकाल्पबहुत्वं प्राह—

चउसट्ठि जा णेया ओघव्व पणमणतिवयसण्णीसुं ।
परमेगस्स दुमणवयसण्णीसु सयं तओ असंखगुणा ॥२१२॥
सडसट्ठीए ताओ छासट्ठीएऽत्थि संखियगुणा तो ।
कमसो चउसयरिसयरिइगतिदुसयरिनवअट्ठसट्ठीणं ॥२१३॥ (गीतिद्वयम्)
अणणे उ भणन्ते सडसट्ठित्तो बंधगा छसट्ठीए ।
संखेज्जगुणा तत्तो चउसयरीए असंखगुणा ॥२१४॥

(प्रे०) "चउसट्ठि"मित्यादि, मनोयोगौघे तदुत्तरभेदचतुष्के सत्याऽसत्य-मिश्रवचनयोगत्रये संज्ञिमार्गणायां च चतुःपञ्चाशद्रूपादिबन्धस्थानाच्चतुःषष्टिबन्धस्थानं यावद्बन्धकानामल्पबहुत्वमोघवद् भवति, भावनाऽप्योघवत् कार्या । केवलमसत्य-मिश्रमनोयोगद्वये वचनयोगद्वये च सयोगिकेवलिनां प्रवेशाभावेन एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकानां शतपृथक्त्वमात्रत्वेन ते सप्तदशादिबन्धस्थानबन्धकैः सह समुदिता वाच्याः, विभक्ततया अस्माभिर्वक्तुमशक्यत्वात् तज्ज्ञातृभिस्तु ते पृथगपि निरूपणीया इति । चतुःषष्टेर्बन्धकादूर्ध्वं बन्धस्थानबन्धकानां न्यूनाधिकत्वस्य ज्ञानाय इदमवधारणीयम्--प्रस्तुतमार्गणासु संज्ञिपर्याप्ता एव जीवाः प्राप्यन्ते, यद्यपि संज्ञिमार्गणायां लब्ध्यपर्याप्तजीवा प्राप्यन्ते तथापि न तेषां प्राधान्यम् , तत्रापि देवानां प्राधान्यं भवति, प्रस्तुतमार्गणासु देवाः संख्येयबहुभागप्रमाणाः, तिर्यञ्चः संख्येयैकभागमिताः, नारका मनुष्याश्चासंख्येयभागमिताः । तिर्यञ्चोऽपि स्वमते संख्येयैकभागसत्कस्यापि संख्येयबहुभागमिता असंख्येयबहुभागमिता वा संख्येयवर्षायुष्काः, परमते त्वसंख्येयबहुभागप्रमाणा युगलधर्मिणः । अत्र स्वमत-

मपेक्ष्याऽल्पबहुत्वमेवम्-चतुःषष्टिबन्धकेभ्यः सप्तषष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, चतुःषष्टेर्बन्धकाः पल्योपमासंख्यभागप्रमाणाः, सप्तषष्टेस्त्वसंख्येयश्रेणिप्रमाणाः। ततः षट्षष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, सामान्यतो बन्धप्रायोग्यजीवानां समानत्वेऽपि प्रस्तुतस्थानस्यायुष्कबन्धवियुक्तत्वात्। ततश्चतुःसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, देवानामपि तद्बन्धप्रायोग्यत्वेन बन्धप्रायोग्यजीवानां संख्येयगुणत्वात्। ततः सप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यायुर्बन्धकेभ्य एकेन्द्रियप्रायोग्यायुर्बन्धकदेवानां संख्येयगुणत्वात्। तत एकसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः तिरश्चां संख्येयबहुभागप्रमाणानां तद्बन्धकत्वात्। ततस्त्रिसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, देवानामपि तद्बन्धकत्वात्। ततो द्वासप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, तत एकोनसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततोऽष्टषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः। उत्तरोत्तरबन्धकालस्य संख्येयगुणत्वात्। अन्यमते पुनः षट्षष्टेर्बन्धकेभ्यश्चतुःसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, तन्मते प्रस्तुतमार्गणागतसंख्येयवर्षायुष्कतिर्यग्भ्यो देवानामसंख्येयगुणत्वात्। शेषं सर्वमप्यल्पबहुत्वं दर्शितप्रकारेणैव विज्ञेयम्। स्वमते पुनः केचित् देवेभ्योऽपि प्रस्तुतमार्गणागतानां संख्येयवर्षायुष्कनपुंसकसंज्ञितिरश्चां संख्येयगुणत्वं व्याहरन्ति-तन्मते तु प्रस्तुतमर्वाल्पबहुत्वं पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणादर्शितप्रकारेण विभावनीयमिति। तन्मतस्य प्रस्तुतेऽग्रहणं तु श्रीप्रज्ञापनानामचतुर्थोपाङ्गे लेश्यापदे तद्वृत्तौ च गर्भजतिर्यक्षु नपुंसकवेदिनामस्यल्पत्वप्रतिपादनात्, एवं संज्ञिषु लब्ध्यपर्याप्तानामल्पत्वस्य, तत एव ज्ञायमानत्वाच्च ॥२१२-१४॥

अथ औदारिकमिश्रयोगे बन्धकानामल्पबहुत्वं प्राह—

> थोवा चउसट्ठीए उरालमीसम्मि बंधगा तत्तो ।
> एग-तिवट्ठीण कमा संखगुणा तो असंखगुणा ॥२१५॥
> कम्मिगसयरिचउसत्तरिसयरीणोघव्व अत्थि उक्कमओ ।

(प्रे०) "थोवा" इत्यादि, औदारिकमिश्रयोगमार्गणायां चतुःषष्टेर्बन्धकाः स्तोकाः, विंशतेः सम्भवात्। तत एकस्य बन्धकाः संख्येयगुणाः, शतपृथक्त्वप्रमाणत्वात्। ततस्त्रिषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, जिननामबन्धकेभ्योऽबन्धकास्तिर्यग्मनुष्येषूत्पद्यमाना अविरतसम्यग्दृष्टयः संख्येयगुणप्रमाणा भवन्ति। तत एकसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, प्रस्तुतमार्गणायां सास्वादनसम्यग्दृष्टीनामसंख्येयत्वात् तेषामेवैकसप्ततेर्बन्धकत्वाच्च, बन्धकपरिमाणं तु पल्योपमस्यासंख्येयभागः। ततश्चतुःसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, लब्ध्यपर्याप्तमिथ्यादृष्टीनां तद्बन्धकत्वात्। बन्धकपरिमाणं तु असंख्यश्रेणिप्रमाणः। इत ऊर्ध्वं तु प्रस्तुताल्पबहुत्वमोघवद् विज्ञेयम्। तच्चैवम्-ततः सप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, ततःसप्तषष्टेर्बन्धका अनन्तगुणाः, ततः त्रिसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततो द्वासप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, तत एकोनसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततोऽष्टषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततः षट्षष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः। भावना

स्त्वोघानुसारेण कार्या, केवलं प्रस्तुते केवलिसमुद्घातं विहायाऽपर्याप्तावस्थागतजीवानामेव सद्भाव इत्यवधारणीयम् ॥२१५॥ अथ वैक्रियमिश्रे बन्धकाल्पबहुत्वं प्राह—

पणसट्टीए थोवा विउव्वमीसे तओ असंखगुणा ॥२१६॥ गीतिः)
विगणीया एगसयरिंचउसट्टीणं तओ तिसयरीए ।
ताउ कमा संखगुणा दुसयरिणव-ऽडजुअसट्टीणं ॥२१७॥

(प्रे०) "पणसट्टीए" इत्यादि, वैक्रियमिश्रे पञ्चषष्टेर्बन्धकाः स्तोकाः, जिननामबन्धकानां देवनैरयिकतया उत्पन्नानां भवप्रथमान्तर्मुहूर्ते वर्तमानानां संख्येयत्वात् । ततश्चतुःषष्टेरेकसप्ततेश्च बन्धका असंख्येयगुणाः, तिर्यग्भ्यो देवेषु सम्यक्त्वेन सहोत्पद्यमानानामसंख्येयत्वात् , तेषां च सर्वेषां चतुःषष्टेरेव बन्धात् । एकसप्ततेर्बन्धकाः पुनः प्रस्तुते सास्वादनिन एव, तेऽपि प्राधान्येन तिर्यग्भ्यो देवेषूत्पद्यमाना एव विज्ञेयाः, यतः प्रस्तुतबन्धे तिर्यग्भ्यो देवेषूत्पद्यमाना अविरतसम्यग्दृष्टयः सास्वादनिनश्च प्रधानतया प्राप्यन्ते, यतःस्थानादुत्पद्यन्ते तत्र सास्वादनिभ्यः सम्यग्दृष्टीनामसंख्येयगुणत्वात् तेभ्य उत्पद्यमानानामपि प्रस्तुते सास्वादनिभ्यः सम्यग्दृष्टीनामसंख्येयगुणत्वं स्यात् । अतः एकसप्ततेर्बन्धकेभ्यश्चतुःषष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, पञ्चषष्टिबन्धकेभ्यस्त्वेकसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः । यदि पुनः पतद्ग्रहराश्यपेक्षया विचार्यते तर्हि सम्यग्दृष्टीनां वैमानिकेष्वेवोत्पादः, सास्वादनसम्यग्दृशां तु भवनपत्यादिचतुर्विधदेवेषु, वैमानिकदेवेभ्यो भवनपत्यादिदेवानामसंख्येगुणत्वेन उत्पद्यमानवैमानिकदेवेभ्य उत्पद्यमानभवनपत्यादिदेवानामसंख्येयगुणत्वात्, स्वस्थाने सम्यग्दृष्टिभ्यः सास्वादनिनामसंख्येयगुणहीनत्वेऽपि देवेषूत्पद्यमानापेक्षया तु स्यादपि तेषां सम्यग्दृष्टिभ्योऽसंख्येयगुणत्वम् । तत्त्वं पुनरत्र बहुश्रुता विदन्ति । अतः पदद्वयं मुकुलितमभिहितम् ।

ततस्त्रिसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, प्रतरासंख्येयभागप्रमाणत्वात् । ततो द्वासप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, तत एकोनसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततोऽष्टषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, उत्तरोत्तरबन्धकालस्य संख्येयगुणत्वात् । सर्वाऽपि भावना देवानधिकृत्य कार्या । देवगतिमार्गणानुसारेण प्रस्तुताल्पबहुत्वम् , केवलमायुष्कबन्धाभावात् तत्स्थानत्रयस्य वर्जनम् , एकसप्ततेर्विशेषभावना कृता एवेति ॥२१६-१७॥ अथ आहारकयोगे तन्मिश्रे च प्राह—

संखगुणाहारदुगे सगवरणत्तो छपंचवरणाए ।
कमसो · · ······ ··· ·· · ··· ·· ·· ·· · ··· ॥२१८॥

(प्रे०) "सखे" त्यादि, आहारकद्विके सप्तपञ्चाशतो बन्धकाः स्तोकाः, ततः षट्पञ्चाशद्बन्धकाः संख्येयगुणाः, जिननामदेवायुष्कबन्धकेभ्यः केवलं देवायुर्बन्धकानां संख्येय-

गुणत्वात् , ततः पञ्चपञ्चाशद्बन्धकाः संख्येयगुणाः, आयुर्बन्धकेभ्योऽबन्धकानां संख्येयगुणत्वात् । अत्राहारकद्विकस्य बन्धाभावात् नाष्टपञ्चाशदादिबन्धस्थानद्वयं भवतीति ।

अथ कार्मणानाहारकमार्गणयोः प्राह–

....पणसट्ठित्तो कम्मेऽणाहारगे तिवट्ठीए ॥२१८॥ (गीतिः)
संखगुणा ताउ असंखगुणा चउसट्ठिएगसयरीणं ।
कमसो तोऽणंतगुणा तिसत्तरीएऽत्थि उड्ढमोघव्व ॥२१९॥ (गीतिः)

(प्रे०) "पणसट्ठीए" इत्यादि, कार्मणानाहारकमार्गणयोः पञ्चषष्टेर्बन्धकाः स्तोकाः, जिननामबन्धकानां देवनैरयिकेषूत्पद्यमानानां स्तोकत्वात् । तत एकस्य बन्धका सख्येयगुणाः । ततः त्रिषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, तिर्यग्मनुष्येषु सम्यक्त्वेन सहोत्पद्यमानानां संख्येयत्वात् ; नासंख्येयगुणत्वमिति । ततश्चतुःषष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणास्तिर्यग्भ्यो देवेषूत्पद्यमानानां सम्यग्दृष्टीनामसंख्येयत्वात् तेषां च चतुःषष्टेर्बन्धकत्वात् । त्रिषष्टिबन्धकेभ्य एकसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, तिर्यग्भ्यो देवेषु देवेभ्यस्तिर्यक्षु चोत्पद्यमानानां प्रस्तुतमार्गणागतानां सास्वादनगुणस्थाने उक्तबन्धस्थानस्य लाभात् , चतुःषष्ट्येकसप्तत्योर्मुकुलितमणनं तु वैक्रियमिश्रमार्गणावद्विज्ञेयम् । इत ऊर्ध्वमौदारिकमिश्रयोगमार्गणावत् प्रस्तुताल्पबहुत्वं विज्ञेयम् , तद्वत् प्रस्तुतमार्गणाद्वयस्याऽप्यपर्याप्तावस्थायां केवलिसमुद्घाते च बन्धकजीवानधिकृत्य लाभात् । भावनाऽपि तद्वद् यथासम्भवं कार्येति । केवलमायुषोऽत्र बन्धाभावेन चतुःसप्तते' सप्ततेः सप्तषष्टेश्च बन्धस्थानाभावात् एकसप्ततेर्बन्धकेभ्यस्त्रिसप्ततेर्बन्धका अनन्तगुणा भवन्ति, ततो द्वासप्ततेरेकोनसप्ततेरष्टषष्टेः षट्षष्टेश्च बन्धकाः क्रमशः तद्बन्धकालस्य संख्येयगुणत्वादुत्तरोत्तरपदे संख्येयगुणाः संख्येयगुणा अतिदेशानुसारेण विज्ञेया इति ॥२१८-२१९॥ एतर्हि पुरुषवेदे स्त्रीवेदे च बन्धकाल्पबहुत्वं प्राह–

सप्पाउग्गाणं पुरिसत्थीसु मणव्वऽत्थि णवरि इत्थीए ।
पणवरणत्तो णेया सयमहिऊणा व पंचसट्ठीए ॥२२०॥ (गीतिः)

(प्रे०) "सप्पाउग्गाणे" त्यादि, पुरुषवेदे स्त्रीवेदे च द्वाविंशत्यादीनि त्रयोविंशतिर्बन्धस्थानानि भवन्ति, मार्गणाद्वये देवाः संख्येयबहुभागप्रमाणाः, एकसंख्येयभागप्रमाणाः तिर्यञ्चः । अल्पबहुत्वं तु मनोयोगमार्गणावद् भवति । तद्यथा–चतुःपञ्चाशद्बन्धकाः स्तोकाः, ततो द्वाविंशतिषड्विंशतित्रिपञ्चाशदेकषष्टीनां बन्धकाः संख्येयगुणाः, परस्परं विशेषस्तु स्वयं विभावनीयः । ततोऽष्टपञ्चाशतः, ततः सप्तपञ्चाशतः, ततः षट्पञ्चाशतः, ततः पञ्चपञ्चाशतः बन्धकाः क्रमशः संख्येयगुणा भवन्ति, ततः पञ्चषष्टेः षष्टेश्च बन्धका असंख्येयगुणाः, परस्परं विशेषस्त्वोघवद्-

विज्ञेयः । तत एकोनषष्टेः संख्येयगुणा असंख्येयगुणा वा ओघवद्विज्ञेयाः । ततस्त्रिषष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणाः । ततश्चतुःषष्टेः, ततः सप्तषष्टेश्च बन्धकाः क्रमशोऽसंख्येयगुणा असंख्येयगुणा अभिधातव्याः । ततः षट्षष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः । ततः चतुःसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततः सप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, तत एकसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततस्त्रिसप्ततेर्बन्धकास्ततो द्वासप्ततेर्बन्धकाः, तत एकोनसप्ततेर्बन्धकाः, ततोऽष्टषष्टेर्बन्धकाः क्रमशः संख्येयगुणा उत्तरोत्तरस्थाने भवन्ति । भावना त्वोघानुसारेण मनोयोगानुसारेण च यथासंभवं कार्या । स्त्रीवेदमार्गणायां पुरुषवेदमार्गणावत् सर्वमल्पबहुत्वं भवति । केवलं पञ्चषष्टेर्बन्धकाः स्त्रीवेदे संख्येया एव, देवीषु जिननाम्नो बन्धाभावेनाऽसंख्येयत्वाभावात् , ततः पञ्चषष्टेर्बन्धकपदं पञ्चपञ्चाशद्बन्धकात् पूर्वमुत्तरं वा यथासम्भवं समयानुसारेण वक्तव्यं षष्टेर्बन्धकपदान्न्यूनमेवेति स्त्रीवेदेऽपवादभणनमिति ॥२२०॥

अथाऽपगतवेदमार्गणायामकषायमार्गणाचतुष्के सूक्ष्मसंपराये च प्राह–

गयवेए संखगुणा एगस्स हवेज्ज सेसठाणाओ ।
णत्थि अकसायकेवलदुगेसु सुहमे अहक्खाये ॥२२१॥

(प्रे०) "गयवेए" इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायां सप्तदशादिपञ्चबन्धस्थानबन्धकाः स्तोकाः, परस्परं त्वल्पबहुत्वमोघवद्विज्ञेयम् । तत एकस्य बन्धकाः संख्येयगुणाः, प्रागुक्तपञ्चपदेषु बन्धकानां शतपृथक्त्वप्रमाणत्वात्, प्रस्तुतपदे तु कोटिपृथक्त्वप्रमाणानां बन्धकानां लाभात् । षट्पदान्येवात्र बन्धप्रायोग्याणि, तेन न शेषपदानामत्राऽल्पबहुत्वं भवतीत्यवधारणीयम् । अकषायकेवलज्ञानकेवलदर्शनयथाख्यातसंयमरूपासु चतसृषु मार्गणासु एकप्रकृत्यात्मकस्य, सूक्ष्मसंपराये सप्तदशरूपस्यैकैकस्यैव बन्धस्थानस्य भावेन मार्गणापञ्चके प्रस्तुतबन्धकानामल्पबहुत्वं नास्ति ॥२२१॥

नपुंसकवेदे कषायचतुष्के चौघवदल्पबहुत्वस्य प्रागतिदेशेन दर्शितत्वात् क्रमप्राप्तमतिज्ञानादिमार्गणासु बन्धकाल्पबहुत्वं प्राह–

चउवरणाओ संखियगुणा हवन्ते तिणाणओहीसुं ।
इगसत्तराइछक्कछवीसतिवरणोगछत्तुअसट्ठीणं ॥२२२॥ (गीतिः)
सयमुज्झा-ऽणाोराणमओ परमोघव्व उ············ ।

(प्रे०) "चउवण्णाओ" इत्यादि, मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानावधिदर्शनमार्गणासु चतसृषु एकादिषट्षष्टिपर्यन्तानामेकविंशतिबन्धस्थानबन्धकानामल्पबहुत्वमोघवद्विज्ञेयम् । इमे द्वे तत्रापवादपदे (१) ज्ञानत्रिकावधिदर्शनमार्गणासु सयोगिकेवलिनां प्रवेशाभावेन एकस्य

बन्धकाः सप्तदशादिपदबन्धकैः सह मुकुलिता एवाभिधातव्याः । (२) षट्षष्टेर्बन्धकाः प्रस्तुते देवा नारका वा जिननाममनुष्यायुष्कबन्धयुक्ता एव, अतस्ते संख्येयाः, तेषां स्थानमेकषष्टेर्बन्धकवत् सप्तदशादिपदैः सह वक्तव्यम् , अत्रापि मुकुलितमेवाभिधानं तु प्राग्विव । शेषं त्वोघवदेव प्रस्तुताल्पबहुत्वं ज्ञेयम् ॥२२२॥

अथ मनःपर्यवज्ञाने बन्धकाल्पबहुत्वं प्राह—

.... तहेव मणणाणे ।

सप्पाउग्गाण णवरि गुणसट्ठीअ सह सत्तराईहि ॥२२३॥ (गीतिः)

(प्रे०) "तहेवे"त्यादि, यथाऽवधिज्ञानमार्गणायां बन्धकाल्पबहुत्वं प्राप्यते तथैव मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां स्वप्रायोग्यबन्धस्थानानां तत् प्राप्यते इति ग्रन्थकृदतिदेशः, केवलं तत्र एकषष्टेः षट्षष्टेश्च सप्तदशादिबन्धपदैः सह निर्देशेऽपि प्रस्तुते तयोर्बन्धाभावात् न तदल्पबहुत्वं वाच्यम् । तथा एकोनषष्टेर्बन्धकानां तत्र पञ्चपञ्चाशतोऽसंख्येयगुणत्वेऽपि प्रस्तुते एकोनषष्टेः पदं सप्तदशादिपदैः सहैव वाच्यम् , तत्संख्याया विशेषरूपतया बहुश्रुतगम्यत्वात् । अयं भावः— मनःपर्यवज्ञाने ओघवदल्पबहुत्वं वक्तव्यम् . केवलमेकस्य एकोनषष्टेश्च बन्धकाः सप्तदशादिपद-बन्धकैः सह वक्तव्याः; सयोगिकेवलिनामभावात् , एकोनषष्टेश्च बन्धस्य त्वाहारकद्विकजिन-नामदेवायुर्बन्धसहितत्वाच्चेति । शेषभावना त्वोघानुसारेणैव कार्या सुगमा च ॥२२३॥

अथ मत्यज्ञानादिमार्गणासु प्रस्तुताल्पबहुत्वं प्राह—

थोवाऽत्थि बंधगा खलु दुअणाणाभवियमिच्छअमणेसुं ।

चउसयरीए एत्तो उड्ढं ओघव्व विणणेयं ॥२२४॥

(प्रे०) "थोवा" इत्यादि मत्यज्ञानश्रुताज्ञाना-ऽभव्य-मिथ्यात्वा--ऽसंज्ञिमार्गणासु पञ्चसु एकादिपञ्चषष्ट्यन्तबन्धस्थानाभावात् तानि विहाय शेषाणां नवपदानामेव सद्भावः, तेषां नवानां पदानां बन्धकाल्पबहुत्वमोघवद् भवति. भावनाऽप्योघवदेव यथासमवं कार्या, अत्र प्रथमपदस्य चतुःसप्ततेर्बन्धकाः स्तोका वाच्याः, एतत्सुगमत्वेऽपि ग्रन्थकृता स्पष्टतया दर्शितमिति ॥२२४॥

अथ विभङ्गज्ञानमार्गणायां प्राह—

सडसट्ठिओ विभंगे छसट्ठिएगसयरीण संखगुणा ।

कमिओ असंखियगुणा चउसयरीए सुरव्व तेण परं ॥२२५॥ (गीतिः)

(प्रे०) "सडसट्ठिओ"इत्यादि, विभङ्गज्ञानमार्गणायां देवा एवासंख्येयबहुभागप्रमाणाः, शेषगतित्रयस्था असंख्येयभागप्रमाणा एव । ततः सप्तषष्टेर्बन्धकाः स्तोकाः, तद्बन्धप्रायोग्यजीवानां

केवलं तिर्यग्मनुष्यत्वेन मार्गणागतजीवानामसंख्येयभागप्रमाणत्वात् आयुष्कबन्धसहितत्वाच्च । ततः षट्षष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, आयुर्बन्धराहित्यात्, बन्धप्रायोग्यजीवानां समानत्वेऽपि आयुर्बन्धकेभ्योऽबन्धकानां संख्येयगुणत्वाच्च । तत एकसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, बन्धप्रायोग्यजीवानां समानप्रायस्त्वेऽपि प्रस्तुते तेषां नाम्नस्त्रयोविंशतिबन्धस्थानेभ्योऽष्टाविंशतेर्बन्धकालस्य संख्येयगुणत्वात् । आशाम्बरास्त्वसंख्येयगुणान् प्रतिपादयन्ति तन्मते युगलिकतिरश्चां विभङ्गज्ञानस्य भावात् तेषां च तन्मते संख्येयवर्षायुष्केभ्योऽसंख्येयगुणत्वात् । ततश्चतुःसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, देवानामपि तद्बन्धकत्वेन बन्धप्रायोग्यजीवानामसंख्येयगुणत्वात् । ततः सप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, भावना देवौघवत् कार्या । ततस्त्रिसप्ततेः, ततो द्वासप्ततेः, तत एकोनसप्ततेः, ततोऽष्टषष्टेर्बन्धकाः क्रमशः संख्येयगुणाः संख्येयगुणा भवन्ति, आयुष्कबन्धविरहात् उत्तरोत्तरबन्धकालस्य संख्येयगुणत्वाच्च । पञ्चषष्टिपर्यन्तानि बन्धस्थानान्यत्र न संभवन्ति, ततस्तदल्पबहुत्वस्यावकाशो नास्ति ॥२२५॥

अथ संयमौघे सामायिकच्छेदोपस्थापनीययोः प्राह बन्धकाल्पबहुत्वम्—

ओघव्व संजमे पणवरणां जा णवरि सत्तराईहिं ।
सह गुणसट्ठीए णत्थि सजोग्गाणोमेव समइए छेए ॥२२६॥ (गीतिः)

(प्रे०) "ओघव्वे" त्यादि, संयमौघे एकादीन्येकोनषष्टयन्तानि बन्धस्थानानि, बन्धकाल्पबहुत्वं त्वोघवत् पञ्चपञ्चाशद्बन्धस्थानान्तानां भवति, भावनाऽप्योघवदेव कार्या, उक्तसर्वबन्धस्थानसत्कसर्वबन्धकानां प्रस्तुते प्रवेशात् । एकोनषष्टेर्बन्धकानां त्वोघे देशविरत्यपेक्षया असंख्येयानां लाभेऽपि प्रस्तुते तस्य प्रवेशाभावेन मनःपर्यवज्ञानवत् मुकुलिततया सप्तदशादिबन्धस्थानपदैः सह एकोनषष्टेर्बन्धकानामल्पबहुत्वमभिधातव्यम्, भावनाऽपि मनःपर्यवज्ञानवत् कार्या । "सजोग्गाणे"त्यादि, सामायिके छेदे च अष्टादशादीन्येकोनषष्टयन्तानि त्रयोदश बन्धस्थानानि, तेषां पदानां बन्धकाल्पबहुत्वं संयममार्गणावद्विभावनीयम्, तद्वदेव प्रस्तुताल्पबहुत्वस्य प्राप्तेः । तच्चौघवदेव एकोनषष्टिं विहाय । एकोनषष्टेर्बन्धकपदमष्टादशादिपदैः सह वक्तव्यम्, अत ओघवदनतिदिश्य संयममार्गणावदुक्तम् । अत्र एकस्य सप्तदशकस्य चेति पदयोर्बन्धाऽभाव इति संयममार्गणातो विशेषः, अत एव 'सजोग्गाण' इति ॥२२६॥

एतर्हि परिहारविशुद्धौ बन्धकाल्पबहुत्वं प्राह—

गुणसट्ठित्तो कमसो संखगुणा वाऽहिया व परिहारे ।
अडसगवरणाणा तओ कमा छपणवरणगाण संखगुणा ॥२२७॥(गीतिः)

(प्रे०) "गुणे" त्यादि, परिहारविशुद्धौ षष्ठसप्तमगुणस्थानद्वयं भवति । बन्धस्थानानि पञ्चपञ्चाशदादीनि पञ्च, तत्र एकोनषष्टेर्बन्धकाः स्तोकाः, जिननामदेवायुष्काहारकद्विकानां बन्धस्य सहगतत्वात्, ततोऽष्टपञ्चाशतो बन्धकाः संख्येयगुणाः, विशेषाधिका वा, जिननाम-देवायुष्कान्यतरबन्धयुताहारकद्विकबन्धसहितत्वात् । ततः सप्तपञ्चाशतो बन्धकाः संख्येयगुणा विशेषाधिका वा, जिननामदेवायुष्काणां बन्धसहगतत्वात् यद्वा तयोर्बन्धराहित्ये सत्याहारक-द्विकबन्धसहगतत्वात् । ततः षट्पञ्चाशद्बन्धकाः संख्येयगुणाः, आहारकद्विकबन्धाभावे सति जिननामदेवायुष्कान्यतरबन्धयुक्तत्वात् । ततः पञ्चपञ्चाशतो बन्धकाः संख्येयगुणाः, चतुर्णामपि बन्धासहगतत्वात् । भावना त्वोघानुसारेण यथासंभवं कार्येति ।।२२७।।

अथ देशविरतौ प्राह—

देसम्मि बंधगा खलु सव्वप्पा हुन्ति एगसट्टीए ।
ताउ असंखेज्जगुणा कमसो सट्ठिगुणसट्ठीणं ।।२२८।।

(प्रे०)"देसम्मि" इत्यादि, देशविरतौ त्रीणि बन्धस्थानानि, तत्र एकषष्टेर्बन्धकाः स्तोकाः ते च संख्येयाः, ततः षष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणाः आयुष्कबन्धयुक्तत्वात् असंख्येयाश्च ते । तत एकोनषष्टेश्च बन्धका असंख्येयगुणाः आयुष्काबन्धकत्वात्, भावना तु यथासम्भवमोघवत् कार्या सुगमा चेति ।।२२९।।

अथ असंयमे कापोतलेश्यायां च प्राह—

अजयासुहलेसासुं पणसट्ठीए हवज्ज थोवा तो ।
तेवट्ठीअ असंखियगुणाऽत्थि ओघव्व तेण परं ।।२२१।।

(प्रे०) "अजय०" इत्यादि, असंयमे कापोतलेश्यायां च पञ्चषष्टेर्बन्धकाः स्तोकाः, असंयमे देवनैरयिकाणामसंख्येयानां कापोतेऽसंख्येयानां नैरयिकाणां संख्येयानां देवानां च तथा कृष्णनीललेश्यामार्गणाद्वये देवनारकाणां जिननाम्नो बन्धाभावात् संख्येयानामेव उक्तस्थानबन्धकत्वात् । ततस्त्रिषष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, जिननामबन्धकेभ्यः सम्यग्दृष्टि-तिरश्चामसंख्येयगुणत्वात् । इत ऊर्ध्वं प्रस्तुताल्पबहुत्वमोघवद् विज्ञेयम्-तद्यथा—त्रिषष्टेर्बन्ध-केभ्यश्चतुःषष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, सम्यग्दृष्टितिर्यग्भ्यः प्रस्तुतमार्गणागतसम्यग्दृष्टिदेवानाम-संख्येयगुणत्वात् । ततश्चतुःसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, तत एकसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततः सप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, ततः सप्तषष्टेर्बन्धका अनन्तगुणाः, ततस्त्रिसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततो द्वासप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः । तत एकोनसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः,

ततोऽष्टषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततः षट्षष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः । भावना त्वोघवत् कार्या सुगमा चेति ॥२२९॥

अथ चक्षुर्दर्शनेऽचक्षुर्दर्शने च बन्धकाल्पबहुत्वं प्राह—

पज्जत्तसोघव्व कमा णयणाअणयणेसु णवरि एगस्स ।
सह सत्तरहाईहिं सयं च णयणे छसट्ठीए ॥२३०॥

(प्रे०) "पज्जे"त्यादि, चक्षुरचक्षुर्दर्शनमार्गणाद्वये एकादीनि चतुःषष्टिपर्यन्तानि यानि बन्धस्थानानि तद्बन्धकाल्पबहुत्वमोघवद्भवन्ति, ओघोक्तानां दर्शितस्थानसत्कसर्वबन्धकानां प्रस्तुतमार्गणाद्वयान्तर्गतत्वात् । केवलमेकस्य बन्धकतया उक्तमार्गणाद्वये सयोगिकेवलिनां प्रवेशाभावेन प्रस्तुते एकस्य बन्धकाः सप्तदशादिपदबन्धकैः सह वाच्याः, न तु तेभ्यः संख्येयगुणा इति । चतुःषष्टेर्बन्धकेभ्य ऊर्ध्वं तु अचक्षुर्दर्शने ओघवन्नवपदसत्काल्पबहुत्वं भवति । उक्तनवपदसत्कसर्वबन्धकानामचक्षुर्दर्शनमार्गणायां प्रवेशात् । भावनाप्योघवत् कार्या सुगमा च ।

चक्षुर्दर्शनमार्गणायां षट्षष्ट्यादिचतुःसप्तत्यन्तानां नवानां पदानामल्पबहुत्वमेवम्-चतुःषष्टेर्बन्धकेभ्यश्चतुःसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, ततः सप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततः सप्तषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततस्त्रिसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततो द्वासप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, तत एकोनसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततोऽष्टषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, तत एकसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततः षट्षष्टेर्बन्धका विशेषाधिका तुल्याः किंचित् न्यूना वा भवन्ति, भावना त्वन्त्यस्थानद्वयं विहाय पर्याप्तत्रसवत् कार्या, उपान्त्यस्थानस्याष्टषष्टेर्बन्धकेभ्यः संख्येयगुणत्व तु मार्गणागतजीवानां संख्येयतमभागप्रमिता अष्टषष्टेर्बन्धका भवन्ति, देशोनार्धभागप्रमिता एकसप्ततेः षट्षष्टेश्च बन्धका भवन्ति, अतः संख्येयगुणत्वम् । षट्षष्टेर्बन्धकानां विशेषाधिकत्वादिनिर्णयस्तु पूर्वापरं श्रुतमुपयुज्य कार्यः पूरणीयश्चात्र स्थाने इति । स्वस्थानाल्पबहुत्वानुसारेण वा विमर्शनीयम् ॥२३०॥

अथ तेजोलेश्यायां प्रस्तुतं बन्धकाल्पबहुत्वं प्राह—

तेऊअ सजोगणायां मइणाणव्वऽत्थि जाव चउसट्ठि ।
उड्ढं देवव्व णवरि सयमुज्झेगसयरीअ सयरित्तो ॥२३१॥ (गीतिः)

(प्रे०) "तेऊए" इत्यादि, तेजोलेश्यायां षट्षष्टेरेकषष्टेर्बन्धस्थानद्वयस्य बन्धकाः स्तोकाः संख्येयाः, जिननामायुष्कबन्धाभ्यां युक्तत्वात् । ततोऽष्टपञ्चाशतः, ततः सप्तपञ्चाशतः, ततः षट्पञ्चाशतः, ततः पञ्चपञ्चाशतो बन्धकाः क्रमशः संख्येयगुणा भवन्ति । ततः पञ्चषष्टेः षष्टेश्च बन्धका

आनतादिदेवानां संख्येयभागप्रमाणत्वात् असंख्येयत्वाच्च । ततो द्वासप्ततेर्बन्धकास्तुल्या न्यूना अधिका वा: आनतादिदेवमार्गणावद् भावनीयाः । ततश्चतुःषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, सम्यग्दृष्टिदेवानां मिथ्यादृष्टिदेवेभ्यः संख्येयगुणत्वात् । तत एकोनषष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, आनतादिदेवेभ्यो देशविरततिरश्चामसंख्येयगुणत्वात् । ततः सप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, ततस्त्रिषष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, तत एकसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, असंख्यबहुभागप्रमिततिर्यक्षु पञ्चम-द्वितीय चतुर्थ-प्रथमगुणस्थानगताः क्रमशोऽसंख्येयगुणा भवन्ति इति, त उत्तरोत्तरमसंख्यगुणत्वम् । एतदल्पबहुत्वं तृतीय- ˚ न्थाभिप्रायेण विज्ञेयम् । सिद्धान्ताभिप्रायेण पुनः लान्तकादिषु शुक्ललेश्याया अभ्युपगमे पञ्चपञ्चाशद्बन्धकपद यावत् पूर्ववदल्पबहुत्वं निरूप्य अग्रे पुनरेवमल्पबहुत्वं पद्मलेश्यावत्प्राप्यते, तच्चैवम्—पञ्चपञ्चाशद्बन्धकेभ्यः पञ्चषष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, ततः षष्टेर्बन्धकास्तुल्या न्यूना अधिका वा तत्तु मतद्वयेन स्वयमोघवद् भावनीयम् । उक्तपदद्वयत एकोनषष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणाः संख्येयगुणा वा, ततः सप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, देशविरतिभ्यः सास्वादनसम्यग्दृष्टितिरश्चामसंख्येयगुणत्वात् , ततस्त्रिषष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, सास्वादनसम्यग्दृष्टितिर्यग्भ्योऽविरतसम्यग्दृष्टितिरश्चामसंख्येयगुणत्वात् , ततश्चतुःषष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, सम्यग्दृष्टितिर्यग्भ्यः सम्यग्दृष्टिदेवानामसंख्येयगुणत्वात् । ततः चतुःसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, प्राक्पदे पल्यासंख्येयभागमात्रा जीवाः, प्रस्तुतपदे तु श्रेणेः प्रथमवर्गमूलतोऽसंख्येयगुणाः जीवाः प्राप्यन्ते । ततः त्रिसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, लान्तकादिदेवेष्वायुर्बन्धकानां तद्देवानामसंख्येयभागमात्रत्वात् , ततो द्वासप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, उद्योतनामाऽबन्धकानां संख्येयगुणत्वात् । तत एकसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, उक्तमार्गणासु देवेभ्यस्तिरश्चामसंख्येयगुणत्वात् ॥२३२-२३५॥

अथ गाथार्धेन सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायां बन्धकाल्पबहुत्वं प्राह—

मीसे तेवट्ठित्तो चउसट्ठीए असंखगुणा ॥२३६॥

(प्रे०) "मीसे" इत्यादि, सम्यग्मिथ्यात्वे द्वे एव बन्धस्थाने, तत्र त्रिषष्टेर्बन्धकाः स्तोकाः, तिर्यग्मनुष्याणामेव तद्बन्धात् । ततश्चतुःषष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, मार्गणागततिर्यग्भ्यो देवानामसंख्येयगुणत्वात् ॥२३६॥ अथ सम्यक्त्वौघे प्राह—

चउसट्ठिं जोघव्व उ सम्मे णवरि सह सत्तराईहि ।
छासट्ठीए .... ॥२३७॥

(प्रे०) "चउसट्ठि" मित्यादि, सम्यक्त्वौघे एकादिषट्सप्तत्यन्तानि बन्धस्थानानि । तत्र

षट्षष्टिं विहाय सर्वेषामल्पबहुत्वमोघवद् विज्ञेयम्, अत्र त्रिषष्टिं चतुःषष्टिं च विहाय पञ्चषष्टिं यावत् सर्वबन्धस्थानगतसर्वबन्धकानां सम्यग्दृष्टित्वात्, त्रिषष्टेश्चतुःषष्टेश्च बन्धकानामसंख्येयतम-भागस्य सम्यग्मिथ्यादृष्टित्वेनासंख्येयबहुभागप्रमाणबन्धकाः सम्यग्दृष्टय एव, अतोऽल्पबहुत्व-मोघवत् प्राप्यते । षट्षष्टेर्बन्धकाः प्रस्तुते जिननाममनुष्यायुष्कबन्धाभ्यां सहैव प्राप्यते, अत-स्तद्बन्धकाः संख्येयाः शतपृथक्त्वतोऽपि हीनाः, तत्स्थानं त्वल्पबहुत्वे सप्तदशादिपदैः सह एकषष्टेरिव भावनीयमिति । अथ क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां प्राह—

................खइए पणावराणं जाव सम्मव्व ॥२३७॥

ताओ स ट्ठीअ सयं छावरणाओ उ अत्थि संखगुणा ।
तो गुणस ट्ठीअ तओ तेव ट्ठीए असंखगुणा ॥२३८॥
संखगुणा वा ताओ कमा सयं चिअ असंखगुणा ।
पणस ट्ठीए ताओ संखगुणाऽत्थि चउस ट्ठीए ॥२३९॥ (उपगीतिः)

(प्रे०) "खइए" इत्यादि, क्षायिकसम्यक्त्वे पञ्चपञ्चाशद्बन्धकपदं यावत् सम्यक्त्वौघ-वदल्पबहुत्वं भवति । ततः षट्पञ्चाशद्बन्धकेभ्यः षष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, देशविरतमनुष्या-णामेव तत्स्वामित्वात्, पञ्चपञ्चाशद्बन्धकेभ्यः षष्टेर्बन्धकानां न्यूनाधिकत्वं तु स्वयं बहुश्रुताद्वि-ज्ञेयम् । तत एकोनषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, देशविरतमनुष्याणामेव तत्स्वामित्वात् । ततस्त्रि-षष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, संख्येयगुणा वा । ः पञ्चषष्टेर्बन्धकाः प्रथममते यथा-सम्भवं न्यूना अधिकास्तुल्या वा । द्वितीयमते त्वसंख्येयगुणा एव, एकोनषष्टेर्बन्धकेभ्योऽ-संख्येयगुणाश्च वाच्याः, जिननामबन्धकदेवानां प्रस्तुतेऽप्यसंख्येयत्वात् । ततश्चतुःषष्टेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, देवेषु क्षायिकसम्यक्त्ववतां जिननामबन्धकानां तदबन्धकेभ्यः संख्येयभाग-मात्रत्वनियमात् । भावना तु सुगमा स्वयं कार्या चेति ॥२३७-३९॥

अथ उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां बन्धकाल्पबहुत्वं प्राह—

पणरहठाणाओ पणावरणाए उवसमम्मि संखगुणा ।
तो गुणसट्ठितिचउअसट्ठीणा कमा असंखगुणा ॥२४०॥

(प्रे०) "पणरहे"त्यादि, उपशमसम्यक्त्वे एकसप्तदशाष्टादशनवदशविंशत्येकविंशति-द्वाविंशतिषड्विंशतित्रिपञ्चाशत्चतुःपञ्चाशत्षट्पञ्चाशत्सप्तपञ्चाशदष्टपञ्चाशत्षष्टिपञ्चषष्टिरूपाणां पञ्चदशानां पदानां बन्धका उत्तरत्र वक्ष्यमाणपदबन्धकेभ्यः स्तोकाः, परस्परं विशेषभेदस्तु नास्माभिः सम्यग्बोद्धुं पार्यते । संभाव्यते पुनरेवं किञ्चित्-पञ्चषष्टेः बन्धकाः स्तोकाः, श्रेणि-सत्कोपशमसम्यक्त्वे कालं कृत्वा जिननामबन्धकानां तल्लाभात् । ततश्चतुःप ञ्चाशद्बन्धका अधि ः,

ततः शेषबन्धका यथासंभवं अधिकाः, एतानि सर्वाणि बन्धस्थानानि प्रायः श्रेणिसत्कसम्यक्त्व-सापेक्षाणि इति । तत्त्वं पुनर्बहुश्रुता विदन्ति । ततः पञ्चपञ्चाशतो बन्धकाः संख्येयगुणाः, तत एकोनषष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, देशविरतानामसंख्येयत्वात् । ततस्त्रिषष्टेर्बन्धका असंख्येय-गुणाः, देशविरतितोऽविरतसम्यग्दृष्टितिरश्चां प्रस्तुतमार्गणायामप्यसंख्येयगुणत्वात् । ततश्चतुःषष्टे-र्बन्धका असंख्येयगुणास्तिर्यग्भ्यो देवानां सम्यग्दृष्टीनामिवोपशमसम्यग्दृष्टीनामप्यसंख्येयगुण-त्वादिति ॥२४०॥ अथ क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां प्राह—

थोवाऽत्थि वेअगे छिगजुअसट्ठीणं तओऽत्थि संखगुणा ।
अडतराणाए तत्तो परमोघव्व चउसट्ठि जा ॥२४१॥

(प्रे०) "थोवा" इत्यादि, क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां षट्षष्टेर्बन्धकाः स्तोकाः, आयुष्कजिननामबन्धयुक्तत्वात् । एकषष्टेर्बन्धका अपि षट्षष्टेर्बन्धकपदेन सह वाच्याः । ततो-ऽष्टपञ्चाशतो बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततः सप्तपञ्चाशद्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततः षट्पञ्चाश-द्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततः पञ्चपञ्चाशद्बन्धकाः संख्येयगुणाः, ततः पञ्चषष्टेः षष्टेश्च बन्धका असंख्येयगुणाः, तत एकोनषष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणाः संख्येयगुणा वा, ततस्त्रिषष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, ततश्चतुःषष्टेर्बन्धका असंख्येयगुणाः । भावना तु मतिज्ञानमार्गणानुसारेण पञ्चपञ्चाशदादिषट्षष्ट्यन्तानां बन्धस्थानानां बन्धकाल्पबहुत्वे कार्या सुगमा च । तत्रापि प्रस्तुत-स्थानाल्पबहुत्वस्य बाहुल्यत ओघवद् भावादोघवदतिदेशः ॥२४१॥

अथ सास्वादनसम्यक्त्वमार्गणायां बन्धकाल्पबहुत्वं निरूपयन्नाह—

सासाणे सयरीए णेया थोवा तओ असंखगुणा ।
तिदुजुअसयरीणा तओ संखगुणा एगसयरीए ॥२४२॥

(प्रे०) " णे" इत्यादि, सास्वादने सप्तत्यादीनि चत्वारि बन्धस्थानानि, तत्र सप्तते-र्बन्धकाः स्तोकाः, तिर्यग्मनुष्याणामेव तल्लाभात् । ततस्त्रिसप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, देवानां प्रस्तुतमार्गणायां तिर्यग्भ्योऽसंख्येयगुणत्वात् । ततो द्वासप्ततेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, आयुष्कबन्ध-विरहात् । प्रस्तुते सौधर्मेशानदेवानामेवासंख्यबहुभागप्रमाणत्वेन आयुष्कबन्धप्रायोग्यजीवेभ्योऽबन्ध-प्रायोग्यजीवानामेवासंख्येयगुणत्वात् । तत एकसप्ततेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, नाम्नस्त्रिंशद्बन्ध-कालेभ्य एकोनत्रिंशद्बन्धकालस्य संख्येयगुणत्वात् । भावना तु देवानाश्रित्य कार्या इति ॥२४२॥

॥ श्रीप्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधान उत्तरप्रकृतिबन्धे द्वितीये स्थानाधिकारे परस्थान-निरूपणायामल्पबहुत्वद्वारं समाप्तं तत्समाप्तौ च समर्थितं परस्थाननिरूपणाद्वारम्, समर्थिते च तस्मिन् निष्ठा आप्तो द्वितीयबन्धस्थानाधिकारः ॥

समाप्त उत्तरप्रकृतिबन्धे द्वितीयाधिकारः

अथ उत्तरप्रकृतिबन्धे भूयस्काराद्यधिकारत्रयम्

॥ ऐँ नमः ॥

॥ अनन्तलब्धिनिधानश्रीगौतमगणधरेभ्यो नमो नमः ॥

॥ सर्वानुयोगधरेभ्यो नमो नमः ॥

॥ अथ भूयस्काराधिकारः ॥

अथ उत्तरप्रकृतिषु स्थानप्ररूपणासत्कभूयस्काराधिकारं निरूरूपयिषुरादौ तावद् द्वार-नामान्याह—

तइए भूओगारे अहिगारम्मि हविरे दुआराइं ।
तेरस संतपयं तह सामी कालंतराइं च ॥१॥
भंगविचयो य भागो परिमाणं खेत्तफोसणाउ तहा ।
कालो अंतरभावा अप्पाबहुगं जहाक्कमसो ॥२॥

(प्रे०) "तइए" इत्यादि, उत्तरप्रकृतिबन्धनिरूपणे प्रथमाधिकारमुत्तरप्रकृतीनां प्रत्येकं सत्पदादिपञ्चदशभिर्द्वारैः प्रदर्श्य तदनु द्वितीयं स्थानप्ररूपणासंज्ञकं मूलप्रकृत्यभिन्नोत्तरप्रकृतीनां बन्धे संभवत्स्थानानां स्वस्थानलक्षणानां तथा सर्वोत्तरप्रकृतिषु समुदितेषु तत्र येषां बन्धस्थानानां संभवस्तेषां परस्थानानां च प्ररूपणां सत्पदादिद्वारसमूहैः पञ्चदशभिश्च कृत्वा-ऽधुना क्रमप्राप्तस्तृतीयो भूयस्काराधिकारः प्ररूपयितव्यः । अत्र मूल आदिपदमनुक्तमपि द्रष्टव्यम् , तेन भूयस्कारपदेन भूयस्कारा-ऽल्पतरा-ऽवस्थिता-ऽवक्तव्यरूपाश्चत्वारोऽपि बन्धा वर्ण्यमाना न विरोत्स्यन्ते । उत्तरप्रकृतिषु स्थानाधिकारवद् भूयस्काराधिकारोऽपि स्वस्थानपरस्थानभेदेन द्विविधः, उभयोरपि प्रत्येकं त्रयोदश त्रयोदश द्वाराणि भवन्ति, तेषां नामानि पुनरेवम्—सत्पदद्वारम् , स्वामित्वद्वारम् , कालद्वारम् , अन्तरद्वारम् , भङ्गविचयद्वारम् , भागद्वारम् , परिमाणद्वारम् , क्षेत्रद्वारम् , स्पर्शनाद्वारम् , कालद्वारम् , अन्तरद्वारम् , भावद्वारम् , अल्पबहुत्वद्वारञ्चेति । अत्र भङ्गविचयादिद्वाराणि नानाजीवाश्रितान्येवातः कालान्तरद्वारयोर्द्विरूपन्यासो न दोषाय । एषां द्वाराणां शब्दार्थस्तु प्राग्मूलप्रकृतिबन्धादौ भावितत्वान्न पुनर्भाव्यते, तत एवावधारणीयश्चेति । गाथार्थस्तु सुगम इति न विव्रियते, एवमुत्तरत्राऽपि क्वचिद् विषमार्थत्वे विषमान्वये च स दर्शयिष्यते न सर्वत्र इति ॥१-२॥

अथ भूयस्काराधिकारमादौ स्वस्थानेन निरूरूपयिषुः प्रथमं सत्पदद्वारं विवृण्वन्नाह ओघतः—

अथ उत्तरप्रकृतिबन्धे भूयस्काराद्यधिकारत्रयम्

बन्धे सत्यवश्यमवस्थितबन्ध एवेति त्रयाणामवस्थितावक्तव्यबन्धौ भवतः । आयुष्कस्य तु कदाचिदेव बन्धभावाद् बन्धभावे चैकस्मिन्भवे एकस्यैवान्यतमस्यायुष बन्धार्हत्वादेकप्रकृतिरूपमेवैकं बन्धस्थानमतो न तस्मिन् भूयस्काराल्पतरौ, तस्य बन्धप्रारम्भसमयेऽवक्तव्यबन्धो भवति, द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्ध इत्यायुष्कबन्धेऽवक्तव्यावस्थितौ स्त इति ॥४॥

एवं गाथाद्वयेनौघतो भूयस्कारादीनां सत्पदं निरूप्याथ मार्गणासु तद् दर्शयन्नाह—

अट्ठण्हं कम्माणं सव्वे वि पया हवेज्ज ओघव्व ।
तिमणुसदुपणिंदियतसपणमणवयकायउरलेसुं ॥५॥
चउणाणसंजमेसुं णयणेयरओहिदंसणेसु तहा ।
सुक्कभवियसम्मखइअउवसमसण्णीसु आहारे ॥६॥

(प्रे०) "अट्ठण्ह" मित्यादि, यासु मार्गणासूपशान्तमोहादीनां संभवे सत्यधस्तनगुणस्थानानां संभवस्तथा दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां द्व्याद्यनेकबन्धस्थानानां सद्भावस्तासु मार्गणासु बन्धप्रायोग्याणामष्टानां सप्तानां वा मूलकर्मणां या उत्तरप्रकृतयस्तासां बन्धस्थानसंबन्धिभूयस्कारादयः सर्वथौघवद् भवन्ति, भावना त्वनन्तरदर्शिता इति तत एवावधार्या, केवलं दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां बन्धस्थानानां यासु मार्गणास्वोघतो न्यूनत्वं तासु तद्दर्शयामः- मतिश्रुतावधिज्ञानावधिदर्शनसम्यक्त्वौघक्षायिकौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणासु सप्तसु दर्शनावरणस्य द्वे बन्धस्थाने-चत्वारि षट् च, मोहनीयस्याष्ट-सप्तदश त्रयोदश नव पञ्च चत्वारि त्रीणि-द्वे एकं चेतिः नाम्नः पञ्च-अष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशदेकत्रिंशदेकमिति । मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां संयमौघे च दर्शनावरणस्य प्रागुक्ते द्वे, मोहनीयस्यैकादीनि नवान्तानि षट्, नाम्नः प्रागुक्तानि पञ्चेति । शुक्ललेश्यायां दर्शनावरणस्यौघोक्तानि त्रीणि, मोहनीयस्य दशौघोक्तान्येव, नाम्नस्त्वष्टाविंशत्यादीनि पञ्चेति । मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी पञ्चेन्द्रियौघ पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-मनोयोगौघ तदुत्तरभेदचतुष्क वचनयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क काययोगौघौदारिककाययोग-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन भव्य-संज्ञ्याहारकमार्गणासु चतुर्विंशतौ त्रयाणामपि प्रत्येकमोघोक्तानि सर्वाणि बन्धस्थानानि भवन्तीत्यवधार्यमिति । उक्तेतरासु मार्गणासु नोपशान्तमोहादीनां सम्भवे सत्यधस्तनगुणस्थानकानां सम्भवः, यदि वा तादृक्सम्भवे सत्यपि न दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां त्रयाणां तदन्यतमस्य वा द्व्यादिबन्धस्थानानां सद्भावः, अतस्तासु नौघवदतिदेशः संगच्छेतेति न तथा दर्शितमिति ॥५-६॥

अथ नरकौघादिमार्गणासु सम्भवद्बन्धस्थानानां भूयस्कारादिबन्धानां सत्पदं प्राह—

दुइअतुरिअछट्ठाणं कम्माणं होइ चउविहो बंधो ।
भूगारो अप्पयरो अवट्ठिओ तह अवत्तव्वो ॥३॥
हवए अवट्ठिओ चिअ बंधो तइअस्स सेसचउगस्स ।
दुविहो हवेज्ज बंधो अवट्ठिओ तह अवत्तव्वो ॥४॥

(प्रे०) "दुइअ०" इत्यादि, ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुष्कनामगोत्रान्तरायाणां शास्त्रेषु व्युत्पादितक्रमाणां मध्याद् द्वितीयस्य दर्शनावरणस्य तुर्यस्य मोहनीयस्य षष्ठस्य नामकर्मणः, एवं यानि त्रीणि मूलकर्माणि, तेषां प्रत्येकमुत्तरप्रकृतिषु बन्धस्थानानामनेकत्वात् तत्तन्मूलकर्मणोऽबन्धोत्तरबन्धस्य च लाभात् सम्भवति भूयस्कारादिबन्धस्य चातुर्विध्यम् । तथाहि–दर्शनावरणस्य त्रीणि बन्धस्थानानि नव षट् चत्वारि, मोहनीयस्य दश बन्धस्थानानि द्वाविंशतिरेकविंशतिः सप्तदश त्रयोदश नव पञ्च चत्वारि त्रीणि द्वे एक इति, नाम्नः पुनरष्टौ–त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशदेकत्रिंशदेकमिति, मोहनीयस्याबन्धो दशमादिगुणस्थानेषु भवति, दर्शनावरणस्य नाम्नश्चाबन्ध उपशान्तमोहादिषु प्राप्यते, तथोक्तत्रयाणां कर्मणां दर्शितानि बन्धस्थानान्यनेकसमयावस्थानयोग्यानीति भवत्येवैषामवस्थानबन्धोऽपि ॥३॥

तृतीयस्य वेदनीयकर्मण एकमेव बन्धस्थानमेकप्रकृतिरूपम्, तच्च सयोगिकेवलिगुणस्थानं यावन्निरन्तरं प्राप्यते, तद्बन्धविच्छेदं प्राप्तानामयोगिकेवलिनां ततः प्रतिपाताभावेन वेदनीयस्यावक्तव्यबन्धो नास्ति, एकस्यैव बन्धस्थानस्य भावेन भूयस्काराल्पतरौ न स्तः, अवस्थितबन्ध एव वेदनीयबन्धकानां केवलं भवतीति ।

ननु सातासातवेदनीययोः परावृत्त्या बन्धभावेन सातासातयोरन्यतरस्य बन्धप्रारम्भसमये तस्याबन्धोत्तरबन्धभावेनावक्तव्यबन्धो वक्तुमुचितः, तत्कथं तस्य निषेध इति चेद्, उच्यते; इह बन्धस्थानमेवाधिकृतम्; तेन प्रकृतीनां सत्यामपि परावृत्तौ यावत्कालमेकप्रकृत्यादिरूपं तदेव बन्धस्थानं भवति तावान् तस्यावस्थानकाल एव गण्यते, न पुनः प्रकृतिपरावर्तनादवक्तव्यबन्धोऽपि ।

"सेसचउगसे"त्यादि, ज्ञानावरणायुष्कगोत्रान्तरायाणां चतुर्णां कर्मणां प्रत्येकमेकैकस्यैव बन्धस्थानस्य भावेन भूयस्काराल्पतरबन्धौ न स्तः, ज्ञानावरणगोत्रान्तरायाणां निरन्तरं बध्यमानत्वेऽपि दशमगुणस्थानकादूर्ध्वं तद्बन्धाभावादुपशान्तमोहगुणात् प्रतिपततस्तद्बन्धप्रारम्भसमये समयमेकमवक्तव्यबन्धो भवतीत्येवं त्रयाणामवक्तव्यबन्धः प्राप्यते, शेषकालं तु तस्य

बन्धे सत्यवश्यमवस्थितबन्ध एवेति त्रयाणामवस्थितावक्तव्यबन्धौ भवतः । आयुष्कस्य तु कदाचिदेव बन्धभावाद् बन्धभावे चैकस्मिन्भवे एकस्यैवान्यतमस्यायुष बन्धार्हत्वादेकप्रकृतिरूपमेवैकं बन्धस्थानमतो न तस्मिन् भूयस्काराल्पतरौ,तस्य बन्धप्रारम्भसमयेऽवक्तव्यबन्धो भवति, द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्ध इत्यायुष्कबन्धेऽवक्तव्यावस्थितौ स्त इति ॥४॥

एवं गाथाद्वयेनौघतो भूयस्कारादीनां सत्पदं निरूप्याथ मार्गणासु तद् दर्शयन्नाह—

अट्ठण्हं कम्माणं सव्वे वि पया हवेज्ज ओघव्व ।
तिमणुसदुपणिदियतसपणमणवयकायउरलेसु ॥५॥
चउणाणसंजमेसुं णयणेयरओहिदंसणेसु तहा ।
सुक्कभवियसम्मखइअउवसमसण्णीसु आहारे ॥६॥

(प्रे०) "अट्ठण्ह" मित्यादि, यासु मार्गणासूपशान्तमोहादीनां संभवे सत्यधस्तनगुणस्थानानां संभवस्तथा दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां द्व्याद्यनेकबन्धस्थानानां सद्भावस्तासु मार्गणासु बन्धप्रायोग्याणामष्टानां सप्तानां वा मूलकर्मणां या उत्तरप्रकृतयस्तासां बन्धस्थानसंबन्धिभूयस्कारादयः सर्वेऽप्योघवद् भवन्ति, भावना त्वनन्तरदर्शिता इति तत एवावधार्या, केवलं दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां बन्धस्थानानां यासु मार्गणास्वोघतो न्यूनत्वं तासु तद्दर्शयामः- मतिश्रुतावधिज्ञानावधिदर्शनसम्यक्त्वौघक्षायिकौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणासु सप्तसु दर्शनावरणस्य द्वे बन्धस्थाने-चत्वारि षट् च, मोहनीयस्याष्ट-सप्तदश त्रयोदश नव पञ्च चत्वारि त्रीणि- द्वे एकं चेति; नाम्नः पञ्च-अष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशदेकत्रिंशदेकमिति । मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां संयमौघे च दर्शनावरणस्य प्रागुक्ते द्वे, मोहनीयस्यैकादीनि नवान्तानि षट्, नाम्नः प्रागुक्तानि पञ्चेति । शुक्ललेश्यायां दर्शनावरणस्यौघोक्तानि त्रीणि, मोहनीयस्य दशौघोक्तान्येव, नाम्नस्त्वष्टाविंशत्यादीनि पञ्चेति । मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी पञ्चेन्द्रियौघ पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-मनोयोगौघ तदुत्तरभेदचतुष्क वचनयोगौघतदुत्तरभेदचतुष्क काययोगौघौदारिककाययोग-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन भव्य-संज्ञ्याहारकमार्गणासु चतुर्विंशतौ त्रयाणामपि प्रत्येकमोघोक्तानि सर्वाणि बन्धस्थानानि भवन्तीत्यवधार्यमिति । उक्तेतरासु मार्गणासु नोपशान्तमोहादीनां सम्भवे सत्यधस्तनगुणस्थानकानां सम्भवः, यदि वा तादृक्सम्भवे सत्यपि न दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां त्रयाणां तदन्यतमस्य वा द्व्यादिबन्धस्थानानां सद्भावः, अतस्तासु नौघवदतिदेशः संगच्छेतेति न तथा दर्शितमिति ॥५-६॥

अथ नरकौघादिमार्गणासु सम्भवद्बन्धस्थानानां भूयस्कारादिबन्धानां सत्पदं प्राह—

सव्वणिरयभेएसु तिरिये तिपणिंदितिरियदेवेसु ।
सहसारंतसुरविउव्ववेअतिगकसायचउगेसु ॥७॥
समइअछेअजयपणलेसासु दुइअतुरिअछट्ठाणं ।
तिविहोऽत्थि भूअगारो अप्पयरोऽवट्ठिओ बंधो ॥८॥
आउस्सऽत्थि अवठिओ तहऽवत्तव्वो अवट्ठिओ चेव ।
सेसाण णवरि लोहे मोहस्स चउव्विहो बंधो ॥९॥

(प्रे०) "सव्वणिरये" त्यादि, नरकौघाद्यष्टनरकमार्गणाः, तिर्यग्गत्योघ-पञ्चेन्द्रिय-तिर्यक्-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्तिरश्चीमार्गणाचतुष्कम् , देवौघः, भवनपत्यादिसहस्रारान्ता एकादश देवगत्यवान्तरमार्गणाः, वैक्रियकाययोगः, वेदत्रयम्, क्रोधादिकषायचतुष्कम्, सामायिकच्छेदोपस्थापनीयसंयमद्वयम्, असंयमः, अशुभलेश्यात्रयम् , तेजःपद्मे चेति चत्वारिंशन्मार्गणास्तासु दर्शनावरण-मोहनीय-नाम्नां स्वस्वमार्गणाप्रायोग्यबन्धस्थानेष्ववक्तव्यबन्धं विहाय भूयस्काराल्पतरावस्थितरूपास्त्रयो बन्धा भवन्ति, एतास्वेषां त्रयाणामवक्तव्यबन्धाभावस्त्वासु उपशान्तमोहादिगुणस्थानाभावेन बन्धविच्छेदस्य पुनर्बन्धस्य चासम्भवात्, केवलं लोभमार्गणायां मोहनीयस्य बन्धविच्छेदो नवमगुणस्थानस्य चरमसमये भवति तदनु दशमगुणस्थानकेऽपि लोभमार्गणायाः सत्त्वात् तत आरोहकस्योपशान्तमोहगुणस्थानकमप्राप्य प्रत्यावर्तनस्याभावेन दशमगुणस्थानके एव मृत्वा दिवि समुत्पन्नस्यापि प्रस्तुतमार्गणायाः सद्भावस्तत्र च देवभवप्रथमसमयतो मोहनीयस्य सप्तदशप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य प्रारम्भो भवति, तत्प्रथमसमये मोहनीयस्यावक्तव्यबन्धो भवति, किञ्च श्रेणितोऽवतरन्तमधिकृत्यापि मोहनीयस्यावक्तव्यबन्धः प्राप्यते, अतो लोभमार्गणायां मोहनीयस्य भूयस्कारादिचतुर्विधोऽपि बन्धो भवति। एतासु चत्वारिंशन्मार्गणासु दर्शनावरणादीनां त्रयाणां कर्मणां संभवद् बन्धस्थानानि पुनरेतानि—अष्टौ नरकमार्गणासु सनत्कुमारादिसहस्रारपर्यन्तासु षड्देवमार्गणासु चेति चतुर्दशसु दर्शनावरणस्य द्वे बन्धस्थाने नव षडिति, मोहनीयस्य त्रीणि-द्वाविंशतिः, एकविंशतिः, सप्तदश चेति, नाम्नो द्वे-एकोनत्रिंशत् त्रिंशच्चेति। देवौघ-भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क-सौधर्मेशानेषु वैक्रियकाययोगे च सप्तसु दर्शनावरणमोहनीयबन्धस्थानानि नरकवद् भवन्ति, नाम्नः पुनश्चत्वारि-पञ्चविंशतिः, षड्विंशतिः, एकोनत्रिंशत् , त्रिंशच्चेति। तिर्यग्गत्योघे पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणात्रये च दर्शनावरणस्य द्वे बन्धस्थाने नव षडिति, मोहनीयस्य चत्वारि द्वाविंशतिः, एकविंशतिः, सप्तदश, त्रयोदश चेति। नाम्नः षड् बन्धस्थानानि-त्रयोविंशतिः, पञ्चविंशतिः, षड्विंशतिः, अष्टाविंशतिः, एकोनत्रिंशत् , त्रिंशच्चेति। वेदमार्गणात्रये-दर्शनावरण-

नाम्नोः सर्वाणि बन्धस्थानानि भवन्ति, तानि च क्रमात् त्रीण्यष्टौ चेति । मोहनीयस्य षड् बन्धस्थानानि, तद्यथा—द्वाविंशतिरेकविंशतिः सप्तदश त्रयोदश नव पञ्च चेति । क्रोधमार्गणायामप्येवमेव, केवलं मोहनीयस्य सप्तबन्धस्थानान्यधिकतया चतुष्प्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानमप्यत्र प्राप्यत इति । मानमार्गणायामप्येवम् , केवलं मोहनीयस्याष्टबन्धस्थानानि प्रकृतित्रयात्मकं बन्धस्थानमत्र क्रोधमार्गणातोऽधिकं भवति । मायामार्गणाऽप्येवमनुसर्तव्या, केवलं मोहनीयस्य नव बन्धस्थानान्येकप्रकृत्यात्मकं मुक्त्वा शेषाणि सर्वाणि बन्धस्थानान्यत्रौघवद् भवन्ति लोभे मोहस्य सर्वाणि बन्धस्थानानि भवन्ति । सामायिक-च्छेदोपस्थापनीयसंयममार्गणयोर्दर्शनावरणस्य द्वे बन्धस्थाने-षट् चत्वारि च, मोहनीयस्य षड् बन्धस्थानानि, नव पञ्च चत्वारि त्रीणि द्वे एकं चेति । नाम्नः पञ्च बन्धस्थानानि—अष्टाविंशतिः, एकोनत्रिंशत् , त्रिंशत् , एकत्रिंशत् , एकं चेति । असंयममार्गणायामशुभलेश्यात्रये च दर्शनावरणस्य द्वे बन्धस्थाने-नव षडिति, मोहनीयस्य त्रीणि-द्वाविंशतिः, एकविंशतिः, सप्तदश चेति, नाम्नः पुनः षड् बन्धस्थानानि, त्रयोविंशत्यादीनि त्रिंशत्पर्यवसानानि । तेजःपद्मलेश्याद्वये दर्शनावरणस्य द्वे बन्धस्थाने, नव षडिति । मोहनीयस्य पञ्च-द्वाविंशतिः, एकविंशतिः, सप्तदश, त्रयोदश, नवेति । नाम्नस्तेजोलेश्यायां षड् बन्धस्थानानि-पञ्चविंशतिः, षड्विंशतिः, अष्टाविंशतिः, एकोनत्रिंशत् , त्रिंशत् , एकत्रिंशदिति । पद्मलेश्यायां चत्वारि बन्धस्थानानि नाम्नो भवन्ति, तद्यथा—अष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत्त्रिंशदेकत्रिंशच्चेति । उक्तचत्वारिंशद्मार्गणासु ज्ञानावरण-वेदनीय-गोत्राऽन्तरायाणां चतुर्णामबन्धस्यैवाभावेनात्रावक्तव्यबन्धाभावात् तासां भूयस्काराल्पतरयोरोघत एवासत्त्वाच्च केवलोऽवस्थितबन्धः प्राप्यत इति ।

आयुष्कस्य तु सर्वास्वायुर्बन्धप्रायोग्यासु त्रिषष्ट्युत्तरशतमार्गणास्वोघवदवक्तव्यावस्थितबन्धौ प्राप्येते, तत्रायुर्बन्धप्रारम्भप्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धः शेषकालमन्तर्मुहूर्तं यावदायुर्बन्धस्य प्रवर्तमानेऽवस्थितबन्धो भवति, एवं प्रस्तुतचत्वारिंशद्मार्गणास्वपि भावनीयमिति ॥७-९॥

अथ ग्रैवेयकादिमार्गणासु भूयस्कारादीनां सत्पदं प्राह—

तिविहो विणाऽवत्तव्वं गेविज्जंतेसु आणाताईं ।
दुइअचउरिआणा ओघव्वाउस्स अवट्ठिओ च्च सेसाणं ॥१०॥(गीतिः)
पणाऽणुत्तरमीसेसुं सत्तण्ह भवे अवट्ठिओ चेव ।
पणाणुत्तरेसु हवए दुविहो आउस्स ओघव्व ॥११॥

(प्रे०) "तिविहो" इत्यादि, अ ादिषु नवमग्रैवेयकपर्यवसानासु त्रयोदशसु देवमार्गणासु दर्शनावरणमोहनीयकर्मणोरवक्तव्यबन्धं विहाय भूयस्कारादिबन्धत्रयं भवति, एतयोर-

बन्धकावस्थाया अत्रालाभादवक्तव्यबन्धाभावः, एकजीवापेक्षयापि द्वयादिबन्धस्थानानां लाभाद् भूयस्काराल्पतरबन्धयोः सद्भावः, यासु मार्गणासु यद्यद्बन्धस्थानानां सम्भवस्तासु तत्तद्बन्धस्थानानामवस्थानबन्धस्यावश्यं सद्भावः, इति प्रस्तुतेऽपि तथैव । अत्र दर्शनावरणस्य द्वे बन्धस्थाने-नव षट् चेति, मोहनीयस्य त्रीणि बन्धस्थानानि, द्वाविंशतिरेकविंशतिः सप्तदश चेति । आयुष्कस्यौघवदवस्थितावक्तव्यबन्धौ भवतः । ज्ञानावरण-वेदनीय-गोत्र-नामा-ऽन्तरायाणां पञ्चानां कर्मणां केवलमवस्थितबन्ध एव भवति, आसां प्रस्तुतेऽबन्धाभावाच्चदुत्तरभाव्यवक्तव्यबन्धाभावः, एकैकस्यैव बन्धस्थानस्य भावेन भूयस्काराल्पतरबन्धाभावौ भवतः । अत्र नाम्न्येकोनत्रिंशत् त्रिंशच्चेति बन्धस्थानद्वयस्य भावेऽपि नैकोनत्रिंशद्बन्धकस्त्रिंशद्बन्धार्हः, त्रिंशद्बन्नन्नेकोनत्रिंशद्बन्धयोग्यः, यतः सामान्यतो मनुष्यप्रायोग्यमेकोनत्रिंशतमेवात्रस्था जीवा बध्नन्ति, ये तु प्राग्भवबद्धजिननामकर्मवन्तस्ते देवभवप्रथमसमयादारभ्य चरमसमयं यावज्जिननामसहितं मनुष्यप्रायोग्यं त्रिंशतमेव बध्नन्ति, न पुनः कदाचिदप्येकोनत्रिंशदिति । एतासु मार्गणासु नाम्नो बन्धस्थानद्वयभावेऽपि तयोः परावृत्यभावान्न कस्यापि भूयस्काराल्पतरबन्धसम्भव इत्यवस्थितबन्ध एव दर्शित इति । अनुत्तरमार्गणापञ्चक आयुर्वर्जसप्तकर्मणां प्रत्येकं केवलमेकैकबन्धस्थानस्यैव बन्धप्रायोग्यत्वादबन्धकोत्तरबन्धकत्वाभावाच्चैकोऽवस्थितबन्ध एव भवति । यद्यप्यत्र नामकर्मणि बन्धस्थानद्वयस्यैकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्रूपस्य भावेऽप्येकजीवस्याऽऽभवं यावदेकस्यैव बन्धस्थानस्य प्रायोग्यत्वात् तथा निर्देश इति । आयुषि त्वोघवदत्राप्यवक्तव्यावस्थितौ बन्धौ भवतः । अत्र सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणा अपि प्रसङ्गतस्तुल्यवक्तव्यत्वाद् गृहीता, तस्मिन्नायुषो बन्धप्रायोग्यत्वाभावात् सप्तकर्मसत्क एकोऽवस्थितबन्ध एव भवति, भावना त्वनुत्तरसुरमार्गणावद्विधेया, केवलं नाम्नो देवनरकापेक्षयैकोनत्रिंशद्बन्धस्थानस्य मनुष्यगतितिर्यगपेक्षयाष्टाविंशतेरेव भावेनैकैकस्यैव बन्धस्थानस्यैकजीवमधिकृत्य लाभात् तथा निर्देश इति ॥१० ११॥

अथ औदारिकमिश्रेऽज्ञानत्रये वैक्रियमिश्रकार्मणानाहारकमार्गणासु च भूयस्कारादिबन्धानाह—

मोहस्स भूअगारो अवट्ठिओ अत्थि उरलमीसम्मि ।
तीसु य अणाणेसुं आउगणामाण णिरयव्व ॥१२॥
हवए अवट्ठिओ चिअ सेसाणमेव आउवज्जाणं ।
वेउव्वमीसजोगे कम्मणाहारगेसुं च ॥१३॥

(प्रे०) "`हस्से''त्यादि, औदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रकार्मणानाहारकमार्गणास्वज्ञानत्रिकमार्गणासु चेति सप्तसु मोहनीयस्य भूयस्कारावस्थितबन्धौ भवतः । एतास्वबन्धाभावादवक्तव्यबन्धो नास्ति, तथौदारिकमिश्रादिमार्गणाचतुष्के मोहनीयबन्धप्रायोग्यगुणस्थानत्रयं भवति-प्रथमं द्वितीयं चतुर्थं च, अतो मोहनीयस्य त्रीणि बन्धस्थानानि-द्वाविंशतिरेकविंशतिः सप्तदश च, अत्र मार्गणास्था जीवाः प्रथमगुणस्थानकतश्चतुर्थगुणस्थानकतो वा गुणस्थानान्तरं नैव यान्ति, निरुक्तमार्गणागतप्रस्तुतबन्धकानामपर्याप्तावस्थागतत्वेन उक्तगुणाभ्यां गुणान्तरगमनायोग्यत्वात् । द्वितीयगुणस्थानकतः प्रथमगुणस्थानकं गच्छन्तीत्येकविंशतिबन्धस्थानतो द्वाविंशतिबन्धस्थाने गमनादेकं भूयस्कारं प्राप्यते, न पुनरल्पतरबन्धोऽपि यतो द्वितीयगुणस्थानतस्तथास्वभावादूर्ध्वगुणस्थानके गमनं नास्ति, एवं सर्वत्रैव । द्वाविंशतिबन्धस्थानतोऽनन्तरदर्शितेन हेतुनोर्ध्वं गमनं नास्तीति । अवस्थितबन्धस्तु त्रिष्वपि बन्धस्थानेषु भवति, अत उक्तमार्गणाचतुष्के मोहनीयस्य बन्धस्थानत्रयभावेऽप्यल्पतरबन्धो नैव भवति,अवस्थितभूयस्कारबन्धौ भवतः, तत्रापि भूयस्कारबन्धस्तु दर्शितेनैकेन प्रकारेणैव भवति, न पुनःप्रकारान्तरेणेति। अज्ञानत्रयमार्गणासु प्रस्तुते गुणस्थानद्वयमेव विवक्षितम् , तत्र मोहनीयस्य द्वे बन्धस्थाने-द्वाविंशतिरेकविंशतिश्चात्राप्यनन्तरदर्शितरीत्याऽल्पतरबन्धो न प्राप्यत इति भूयस्काराऽवस्थितबन्धौ भवतः । ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयगोत्रान्तरायाणां पञ्चानामेकोऽवस्थितबन्धो भवति अबन्धोत्तरबन्धाभावात्रावक्तव्यबन्धः, एकैकबन्धस्थानभावेन न भूयस्कारात्पतरबन्धाविति परिशेषात् केवल एकोऽवस्थितबन्धोऽवशिष्टः । अत्र दर्शनावरणस्यौदारिकमिश्रादिमार्गणाचतुष्के बन्धस्थानद्वयभावेऽप्यनन्तरदर्शितप्रकारेण प्रथमचतुर्थगुणस्थानसंक्रान्त्यभावेन न भूयस्काराल्पतरौ भवत इति । नामकर्मणस्तु नरकौघवद् भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धत्रयं भवति । अवक्तव्यबन्धाभावस्तु सुगमः । नाम्नो बन्धस्थानानि पुनरेतानि-वैक्रियमिश्रे पञ्चविंशतिः षड्विंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशच्च, औदारिकमिश्रे कार्मणानाहारकयोश्च त्रयोविंशत्यादीनि त्रिंशत्पर्यवसानानि षड्बन्धस्थानानि भवन्ति, अत्राष्टाविंशतिबन्धस्थानापेक्षया भूयस्काराल्पतरबन्धौ न भवत इत्यवधार्यम् । अज्ञानत्रयेऽप्येतान्येव षड् बन्धस्थानानि तत्राष्टाविंशतिबन्धस्थानापेक्षयाऽपि भूयस्काराल्पतरबन्धौ प्राप्येत इति । आयुष्कर्मणस्तु वैक्रियमिश्रकार्मणानाहारकमार्गणासु बन्धाभावाच्छेषमार्गणाचतुष्के बन्धप्रायोग्यायुरधिकृत्यावक्तव्यावस्थितबन्धौ सत्तया नरकमार्गणावद् बोद्धव्याविति । मतान्तरे पुनरज्ञानत्रयमार्गणासु गुणस्थानकत्रयाङ्गीकरणे दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धद्वयभावादवस्थितबन्धेन सह त्रयो बन्धाः कर्मद्वयस्य वाच्या इति ॥१२-१३॥

अथ आहारककाययोगादिमार्गणास्वाह—

आहारदुगे देसे आउस्स अवट्ठिओ अवत्तव्वो ।
णामस्स भूअगारो अवट्ठिओ छग्गहऽवट्ठिओ चेव ॥१४॥(गीतिः)

(प्रे०) "आहारदुगे"इत्यादि, आहारककाययोगे तन्मिश्रे देशविरतौ चेति मार्गणात्रये देवायुषो बन्धो भवति तस्यावक्तव्यावस्थितबन्धद्वयं सत्तया प्राप्यते, भावना त्वोघवत् प्राप्यते । नाम्नस्तु बन्धद्वयं भवति भूयस्कारोऽवस्थितश्च, जिननामबन्धारम्भ एव भूयस्कारबन्धः, अन्यथा त्ववस्थितबन्धः प्रवर्तते इति । अत्र जिननामबन्धकानां तद्बन्धस्योपरमाभावान्नाल्पतरबन्धः । श्रेणेरभावादवक्तव्यबन्धाभाव इति आयुर्वर्जानां सप्तानामपि सुगमः । ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयगोत्रान्तरायाणां षण्णां निरन्तरबन्धभावे सत्येकैकबन्धस्थानस्यैव भावात् केवलमवस्थितबन्ध एव भवति । दर्शनावरणस्य षट्प्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानकम्, मोहनीयस्य त्वाहारकयोगद्वये नवप्रकृत्यात्मकम्, देशविरतौ तु त्रयोदशात्मकमिति ॥१४॥

अथ अपगतवेदे भूयस्कारादिबन्धानभिदधाति—

वेअस्सऽवट्ठिओ च्चिअ गयवेए अत्थि मोहणीयस्स ।
चउहा बंधोऽणेसि अवट्ठिओ तह अवत्तव्वो ॥१५॥

(प्रे०) "वेअस्से"त्यादि, अपगतवेदमार्गणायां वेदनीयस्यावस्थितबन्ध एव केवलो भवति, ओघेऽपि तस्य तथात्वात् । मोहनीयस्य भूयस्कारादिचतुर्विधोऽपि बन्धो भवति, उपशमश्रेणितोऽवरोहकस्य नवमगुणस्थानकप्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धस्य लाभात्, अत्र मोहनीयसत्कानामेकादिचतुरन्तानां चतुर्णां बन्धस्थानानां लाभादारोहकानपेक्ष्याल्पतरबन्धस्यावरोहकानपेक्ष्य च भूयस्कारबन्धस्य सत्त्वं वेदितव्यम् । अवस्थितबन्धस्तु सुगमः । शेषाणां ज्ञानावरणदर्शनावरणनामगोत्रान्तरायाणां पञ्चानामवक्तव्यावस्थितबन्धौ कलनीयौ, अबन्धोत्तरबन्धस्य लाभाद् भवत्यत्रावक्तव्यबन्धः, अवस्थितबन्धस्त्वोघवद् सुगमः, केवलं ज्ञानावरणादिवद्दर्शनावरण नामकर्मणोरप्येकैकबन्धस्थानस्यैवात्र लाभान्न तयोर्भूयस्काराल्पतरबन्धयोः सद्भाव इति बन्धद्विकमेव ॥१५॥ एतर्हि अकषायादिमार्गणापञ्चकमधिकृत्य वक्ति—

अकसायकेवलदुगाहक्खायेसुं अवट्ठिओ चेव ।
वेअस्स अत्थि सुहमे अवट्ठिओ चेव छण्ह भवे ॥१६॥

(प्रे०) "अकसाये"त्यादि, अकषायकेवलज्ञानकेवलदर्शनयथाख्यातमार्गणाचतुष्के सप्तानां ॅर्णां बन्ध एव न भवति । वेदनीयस्य त्वोघवत् केवलमवस्थितबन्ध एव भवति, ओघेऽपि केवलं तस्यैव भावात् ।ओघवक्तव्यतां च नातिक्रामति आदेशवक्तव्यता इति । सूक्ष्मसंप-

रायमार्गणायां मोहनीयायुष्कद्वयं विहाय षण्णां बन्धः, तत्र श्रेणितोऽवरोहतः सूक्ष्मसंपरायप्रथम-समये ज्ञानावरणादिपञ्चानामवक्तव्यबन्धस्य भावेऽपि प्रस्तुते सूक्ष्मसंपरायमार्गणायां तदऽबन्ध-स्यालाभादबन्धोत्तरबन्धस्य प्रस्तुतमार्गणायामभावादावक्तव्यबन्धस्य विवक्षणम्, इति षण्णा-मवस्थितरूप एक एव बन्धो दर्शितोऽत्र । प्रत्येकं कर्मणामेकैकबन्धस्थानस्य भावात् भूयस्काराल्प-तरबन्धाभावस्तु सुगम इति । एवमनुत्तरसुरादिमार्गणासूपशान्तमोहे निधनं प्राप्य तत्रोत्पन्नस्य भवप्रथमसमये ज्ञानावरणादिसप्तानामवक्तव्यबन्धस्य लाभेऽपि तत्तद्देवादिमार्गणासु तदबन्धस्या-लाभात्तदुत्तरबन्धस्य केवलस्य तत्र लाभेऽपि तस्यावक्तव्यबन्धत्वेन न विवक्षणमिति ॥१६॥

अथ क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां भूयस्कारादिबन्धांश्चिन्तयन्नाह—

अत्थि तुरिअछट्ठाणं तिहा विणा वेअगे अवत्तव्वं ।
आउस्सोघव्व दुहा सेसाण अवट्ठिओ चेव ॥१७॥

(प्रे०) "अत्थि" इत्यादि, क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां मोहनीयनाम्नोस्त्रयो भूयस्का-राल्पतरावस्थितबन्धा भवन्ति, अवक्तव्यबन्धस्तु न भवतिः एतयोरबन्धस्यैवालाभात् । अत्र मोहनीयस्य त्रिणि बन्धस्थानानि-सप्तदश त्रयोदश नवेति । नाम्नो बन्धस्थानचतुष्कम्-अष्टाविंशतिः, एकोनत्रिंशत्त्रिंशदेकत्रिंशच्चेति । आयुषि त्ववस्थितावक्तव्यबन्धावोघवद्भवतः । शेषाणां ज्ञाना-वरणदर्शनावरणवेदनीयगोत्रान्तरायाणां पञ्चानां केवलोऽवस्थितबन्धो भवति, अबन्धाभावादव-क्तव्यबन्धाभावः, एकैकस्यैव बन्धस्थानस्य लाभात्, भूयस्काराल्पतरबन्धौ न विद्येते, इत्येवं केवलोऽवस्थितबन्ध एव सत्तया प्राप्यते । अत्र दर्शनावरणस्य षट्प्रकृतिरूपं बन्धस्थानमव-सातव्यमिति ॥१७॥ अथ शेषमार्गणासु सत्पदद्वारं दर्शयति—

सेसासु भूगारो अप्पयरोऽवट्ठिओ य णामस्स ।
आउस्सोघव्व दुहा सेसाण अवट्ठिओ चेव ॥१८॥

(प्रे०) "सेसासु" इत्यादि, अपर्याप्तमनुष्य-अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-सप्तैकेन्द्रिय-नव-विकलाक्षाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियपृथ्व्यादिपञ्चकायसत्कैकोनचत्वारिंशद्भेदाऽपर्याप्तत्रसकायपरिहार--विशुद्धयभव्य--सास्वादन--मिथ्यात्वाऽसंज्ञिरूपासु चतुःषष्टिमार्गणास्वायुष्कर्मण्यवक्तव्यावस्थित-बन्धद्वयं भवति । भावना त्वोघवत् कार्येति । नामकर्मणि भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धा भवन्ति, आसु मार्गणासु नाम्नोऽबन्धाभावादवक्तव्यबन्धो नास्ति, द्व्याद्यनेकबन्धस्थानानां सद्भावाद् भूयस्काराल्पतरबन्धद्वयं भवति, अवस्थितबन्धस्तु सुगम इति । शेषषट्कर्मणि केवल-मेकमेवावस्थानं भवति, न भूयस्काराल्पतरावक्तव्यबन्धत्रयम् । शेषासु चतुःषष्टौ ज्ञानावरणदर्श-

नावरणवेदनीयमोहनीयगोत्रान्तरायाणामबन्धोत्तरबन्धस्य नानाविधबन्धस्थानस्य चाभावाभ शेषबन्धत्रयस्य सम्भव इति । विशेषभावना पुनरेवम्–परिहारविशुद्धौ दर्शनावरणस्य षट्प्र कृत्यात्मकं शेषत्रिषष्टिमार्गणासु नवप्रकृत्यात्मकमेकमेव बन्धस्थानकं भवति । मोहनीय णः परिहारविशुद्धौ नव, सास्वादन एकविंशतिः, शेषासु द्वाषष्टिमार्गणासु प्रत्येकं द्वाविंशतिर्बन्ध- तया प्राप्यते, इत्येकमेव बन्धस्थानं भवति । नामकर्मणस्तु परिहारविशुद्धावष्टाविंशत्याद्येकत्रिं- शत्पर्यवसानानि चत्वारि बन्धस्थानानि, सास्वादनेऽष्टाविंशत्यादीनि त्रीणि, अभव्यमिथ्यात्वा- ऽसंज्ञिमार्गणासु त्रयोविंशत्यादीनि त्रिंशत्पर्यन्तानि षड् बन्धस्थानानि भवन्ति । शेषास्वेकोनष- ष्टिमार्गणास्वष्टाविंशतिं विहाय त्रयोविंशत्यादीनि त्रिंशदवसानानि पञ्च बन्धस्थानानि ज्ञात- व्यानीति ॥१८॥

श्रीप्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे स्वस्थाननिरूपणाया प्रथम सत्पदद्वारं समाप्तम् ॥

स्वस्थाने भूयस्कारादिबन्धपदसत्कसत्पदानां स्थापनायन्त्रम्

		भूयस्कारः	अल्पतर	अवस्थितः	अवक्तव्यः
ओघतः					
ज्ञाना० गोत्र० अन्त०		०	०	१	१
दर्शा० मोह० नाम०		१	१	१	१
आयु०		०	०	१	१
वेदनीय		०	०	१	०,
मार्गणासु					
८ नरक-ति० पचेति० ३	४०				
देव भवनपत्यादि०	दर्शा० मोह० नाम	१	१	१	० लोभे मोह १
सहस्रारान्त० वैक्रिय०					
३ वेद० ४ कषाय० सामा०	आयु०	०	०	१	१
छेद० असयम. कृष्णादिलेश्या ५	शेष ४	०	०	१	०
३ मनु० २ पचे० २ त्रस० ५ मन०	३४				
५ वचन० काय० उरल०४ ज्ञान ०	दर्शा. मो० ना०	१	१	१	१
३ दर्शन .शुक्ल.भव्य.सयमोघ०सम्य.	वेदनीयः	०	०	१	०
क्षायि उपश. सज्ञि, आहा०	शेष ४	०	०	१	१
अप० मनु. अप० ति.	६४				
एके० ७ वि ० ९ अप० पंचे.	आयुः	०	०	१	१
पृथ्व्यादि पञ्चकाय० ३९ अप. त्रस०	नाम०	१	१	१	०
परिहार. अभव्य. सास्वा. मिथ्या.	शेष ६	०	०	१	०
असज्ञि०					

४ आनतादि ९ ग्रैवेयक. १३	दर्शा. मोह०	१	१	१	०
	आयु०	०	०	१	१
	शेष ५	०	०	१	०
औदा मि० ३ अज्ञान०	मोह०	१	०	१	०
	नाम०	१	१	१	०
	आयु०	०	०	१	१
	शेष ५	०	०	१	०
पञ्च अनुत्तरा	आयु	०	०	१	१
—	शेष ७	०	०	१	०
सम्यग्मिथ्या०	७ कर्म०	०	०	१	०
—	मोह०	१	०	१	०
वै० मि० कार्म०	नाम०	१	१	१	०
अना० ३	शेष ५	०	०	१	०
	आयु०	०	०	१	१
आहार० २, वेदमि० ३	नाम०	१	०	१	०
	शेष ६	०	०	१	०
अपगतवेद	वेदनीय०	०	०	१	०
	मोहनीय०	१	१	१	१
	ज्ञा. द गो. ना०अ०=५	०	०	१	१
अकषाय० केवलद्विक० यथाख्यात=४	वेदनीय०	०	०	१	०
सूक्ष्म०	६ कर्म	०	०	१	०
क्षयोपशम०	मोह० नाम०	१	१	१	०
	आयु०	०	०	१	१
	शेष ५	०	०	१	०

दर्शनावरण-मोहनीय-नाम्नां बन्धस्थानसत्कसत्पदानां स्थापना

	दर्शना०	मोह०	नाम०
ओघत	९ ६-४=त्रीणि	२२-२१-१७-१३-९-५ ४-३-२-१=दश	२३-२५-२६ २८ २९-३० ३१-१= अष्टौ
१४ नरक ८ सनत्कुमारतः सहस्रारान्त ६	९-६	२२-२१-१७	२९-३०
४ तिर्य० १ पचे ति० ३	९-६	२२-२१-१७-१३	२३-२५-२६-२८-२९-३०
५९ अप प ति० अप. मनु० एके ७	९	२२	२३-२५-२६-२९-३०

नावरणवेदनीयमोहनीयगोत्रान्तरायाणामबन्धोत्तरबन्धस्य नानाविधबन्धस्थानस्य चाभावाच्च शेषबन्धत्रयस्य सम्भव इति । विशेषभावना पुनरेवम्—परिहारविशुद्धौ दर्शनावरणस्य षट्प्रकृत्यात्मकं शेषत्रिषष्टिमार्गणासु नवप्रकृत्यात्मकमेकमेव बन्धस्थानकं भवति । मोहनीयकर्मणः परिहारविशुद्धौ नव, सास्वादन एकविंशतिः, शेषासु द्वाषष्टिमार्गणासु प्रत्येकं द्वाविंशतिर्बन्धतया प्राप्यते, इत्येकमेव बन्धस्थानं भवति । नामकर्मणस्तु परिहारविशुद्धावष्टाविंशत्याद्येकत्रिंशत्पर्यवसानानि चत्वारि बन्धस्थानानि, सास्वादनेऽष्टाविंशत्यादीनि त्रीणि, अभव्यमिथ्यात्वाऽसंज्ञिमार्गणासु त्रयोविंशत्यादीनि त्रिंशत्पर्यन्तानि षड् बन्धस्थानानि भवन्ति । शेषास्वेकोनषष्टिमार्गणासु विंशतिं विहाय त्रयोविंशत्यादीनि त्रिंशदवसानानि पञ्च बन्धस्थानानि ज्ञातव्यानीति ॥१८॥

श्रीप्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे स्वस्थाननिरूपणाया प्रथमं सत्पदद्वारं समाप्तम् ॥

स्वस्थाने भूयस्कारादिबन्धपदसत्कसत्पदानां स्थापनायन्त्रम्

		भूयस्कारः	अल्पतर	अवस्थितः	अवक्तव्यः
ओघतः					
ज्ञाना० गोत्र० अन्त०		०	०	१	१
दर्शा० मोह० नाम०		१	१	१	१
आयु०		०	०	१	१
वेदनीय		०	०	१	०,
मार्गणासु					
८ नरक-ति० पंचेति० ५	४०				
देव भवनपत्यादि०	दर्शा० मोह०	१	१	१	० लोभे मोह १
सहस्रारान्त० वैक्रिय०	नाम				
३ वेद० ४ कषाय० सामा०	आयु०	०	०	१	१
छेद० असंयम. कृष्णादिलेश्या ५	शेष ४	०	०	१	०
३ मनु० २ पचे० २ त्रस० ५ मन०	३४				
५ वचन० काय० उरल०४ ज्ञान ०	दर्शा. मो० ना०	१	१	१	१
३ दर्शन .शुक्ल.भव्य.संयमौघ०सम्य.	वेदनीयः	०	०	१	०
क्षायि उपश. संज्ञि, आहा०	शेष ४	०	०	१	१
अप० मनु. अप० ति.	२४				
एके० ७ वि ० ९ अप० पंचे.	आयुः	०	०	१	१
पृथ्व्यादि पञ्चकाय० ३९ अप. त्रस०	नाम०	१	१	१	०
परिहार. अभव्य. सास्वा. मिथ्या.	शेष ६	०	०	१	०
असंज्ञि०					

॥ द्वितीयं स्वामित्वद्वारम् ॥

अथ स्वस्थानप्ररूपणायां भूयस्कारादिबन्धानां स्वामित्वस्य निरूपणावसरः, तत्रादौ तावदतिदेशेनैव सापवादमायुषो भूयस्काराधिकारसत्कस्वामित्वादीनि शेषनवद्वाराणि दर्शयन्नाह—

अडबंधट्ठाणव्व अवत्तव्वावट्ठिआण आउस्स ।
सामित्ताईसु णवसु परूवणा अत्थि विणा भागं ॥१९॥
णवरि अवत्तव्वस्स ण अपमत्तो वंधगो, तइअदारे ।
दुविहो समयो कालो, दसमे दारे लहू समयो ॥२०॥
जहि सव्वद्धा कालो णत्थि तहि जया गुरू मुहुत्तंतो ।
तो संखखणा अणणाह आवलिआए असंखंसो ॥२१॥

(प्रे०) "अडबंध०" इत्यादि, आयुष्कर्मणि द्वे पदेऽवक्तव्यावस्थितरूपे । भागद्वारं विहाय स्वामित्वादिनवद्वारेषु नानाजीवानाश्रित्यान्तरद्वारपर्यवसानेष्विति यावत्, आयुष्कपदद्वयस्य निरूपणं यथा मूलप्रकृतिबन्धे द्वितीये स्थानाधिकारेऽष्टमूलप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य विवरणं कृतम् तथैवात्र वक्ष्यमाणाऽपवादत्रयं विहाय विज्ञेयम् । अपवादपदानि पुनरेतानि—१-अष्टविधबन्धस्थानस्य स्वामितयाऽप्रमत्तसंयतस्य लाभेऽपि तस्यायुर्बन्धारम्भकत्वाभावात् सोऽवक्तव्यबन्धस्य स्वामितया नैव प्राप्यते, अवस्थितबन्धस्य स्वामी सोऽपि भवतीति न तत्रापवादविषयता, इत्येकं स्वामित्वद्वारविषयकमपवादपदम् । एतेन यत्र यत्रौघे मार्गणासु चाष्टबन्धस्थानस्य स्वामिनोऽप्रमत्तसंयता दर्शितास्तेऽत्रावक्तव्यस्य स्वामिनो नैव भवन्तीति द्रष्टव्यम् । (२)तृतीये कालद्वारेऽष्टबन्धस्थानस्य जघन्यकालो बहुषु मार्गणास्वन्तर्मुहूर्तं दर्शितः, उत्कृष्टकालस्त्वायुर्बन्धप्रायोग्यसर्वमार्गणास्वष्टबन्धस्थानस्यान्तर्मुहूर्तं भवति, तथाप्यवक्तव्यबन्धस्तु न कस्यापि समयादूर्ध्वं प्रवर्तते इत्यवक्तव्यबन्धस्य जघन्योत्कृष्टकालद्वयं तृतीये कालद्वारे समय एवेति । (३) दशमे कालद्वारे नानाजीवविषयके यत्राष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकाः सर्वाद्धायां न भवन्ति तत्राऽष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानसत्कजघन्यकालस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वेऽप्यऽवक्तव्यबन्धस्य जघन्यकालस्तु समयो भवति, यत्रायुष्कबन्धकाः संख्येया जीवास्तत्राष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानज्येष्ठकालस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वेऽप्यवक्तव्यबन्धस्य संख्येयाः समया विज्ञेयाः, यत्र जीवा असंख्येयलोकतो न्यूना असंख्येयास्तत्राष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानज्येष्ठकालस्य पल्योपमाऽसंख्येयभागप्रमाणत्वेऽप्यवक्तव्यबन्धस्य ज्येष्ठकाल आवलिकाऽसंख्येयभागप्रमाणो भवतीति । एवमपवादपदानि विहायाष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्वाम्यादिवत् प्रस्तुतेऽप्यायुष्कपदद्वये विवरणं विज्ञेयमिति ।

विकल ६. अप.पंचे. पृथ्व्यादि-पञ्चकाय. ३६ अप० त्रस०	९	२२	२३-२५-२६-२६-३०
१५ ३ मनु २ पचे २ त्रस ५ मन, ५ वचन, काय उरल. लोम चक्षु अचक्षु. संज्ञि. भव्य. आहा०	९-६-४ ओघवत्	२२-२१-१७-१३-६ ५-४-३-२-१	२३-२५-२६-२८-२९-३०-३१-१
८ देवोघ-भवन-व्यंतर-ज्योतिष्क-सौधर्मेशान-वैक्रिय-तन्मिश्र०	९-६	२२-२१-१७	२५-२६-२९-३०
१३ आनतादिनवमग्रैवेयकान्ता.	९-६	२२-२१-१७	२९-३०
५ पञ्चानुत्तरसुराः	६	१७	२९-३०
३ औ मि. कार्मण अना.	९-६	२२-२१-१७	२३-२५ २६-२८-२९-३०
२ आहा. आहा. मि.	६	९	२८-२९
३ वेद ३	९-६-४	२२-२१-१७-१३-९-५	२३ २५-२६ २८-२९ ३०
१ अपगतवेदः	४	४-३-२ १	१ [३१-१
१ क्रोध०	९-६-४	२२-२१ १७-१३-९-५ ४	२३-२५-२६-२८-२९-३० ३१-१
१ मान०	,,	२२-२१-१७-१३-९-५ ४-३-	,, =८
१ माया०	,,	२२ २१-१७-१३-९-५ ४-३-२	,, =८
७ ३ ज्ञान-अवधिद. सम्य उपशम क्षायिक.	६-४	१७-१३-९-५-४-३ २-१	२८-२९-३०-३१-१=५
४ मन पर्यव, सयमोघ,सामायिक-च्छेद	६-४	९-५-४-३-२-१	२८-२९ ३०-३१-१
३ अज्ञान० ३	९	२२-२१	२३-२५-२६-२८-२९-३०
१ परिहारः	६	९	२८ २९-३०-३१
१ सूक्ष्मसपरायः	४	०	१
१ देशवि.	६	१३	२८-२९
४ असयम०कृष्णादि०	९-६	२२-२१-१७	२३-२५-२६-२८-२९-३०
१ तेजो ले.	९-६	२२-२१-१७-१३-९	२५-२६-२८-२९ ३०-३१
१ पद्मले.	९-६	,, ,, ,, ,, ,,	२८-२९-३०-३१
शुक्ल ले.	९-६-४	२२-२१-१७ १३-९-५ ४-३-२-१	२८-२९-३०-३१-१-
अभव्य-मिथ्या-असंज्ञि०	९	२२	२३-२५-२६ २८ २९-३०
१ क्षयोपशम०	६	१७-१३-९	२८ २९-३०-३१
१ मिश्र०	६	१७	२८-२९
१ सास्वादन०	९	२१	२८-२९-३०
१७०			
४ अकषाय केवलद्विक यथाख्यात०	०	०	०

॥ द्वितीयं स्वामित्वद्वारम् ॥

अथ स्वस्थानप्ररूपणायां भूयस्कारादिबन्धानां स्वामित्वस्य निरूपणावसरः, तत्रादौ तावदतिदेशेनैव सापवादमायुषो भूयस्काराधिकारसत्कस्वामित्वादीनि शेषनवद्वाराणि दर्शयन्नाह–

अद्धबंधट्ठाणव्व अवत्तव्वावट्ठिआण आउस्स ।
सामित्ताईसु णवसु परूवणा अत्थि विण भागं ॥१९॥
णवरि अवत्तव्वस्स ण अपमत्तो बंधगो, तइअदारे ।
दुविहो समयो कालो, दसमे दारे लहू समयो ॥२०॥
जहि सव्वद्धा कालो णत्थि तहि जया गुरू मुहुत्तंतो ।
तो संखखणा अगणाह आवलिआए असंखंसो ॥२१॥

(प्रे०) "अद्धबंध०" इत्यादि, आयुष्कर्मणि द्वे पदेऽवक्तव्यावस्थितरूपे । भागद्वारं विहाय स्वामित्वादिनवद्वारेषु नानाजीवानाश्रित्यान्तरद्वारपर्यवसानेष्विति यावत्, आयुष्कपदद्वयस्य निरूपणं यथा मूलप्रकृतिबन्धे द्वितीये स्थानाधिकारेऽष्टमूलप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य विवरणं कृतम् तथैवात्र वक्ष्यमाणाऽपवादत्रयं विहाय विज्ञेयम् । अपवादपदानि पुनरेतानि–१-अष्टविधबन्धस्थानस्य स्वामितयाऽप्रमत्तसंयतस्य लाभेऽपि तस्यायुर्बन्धारम्भकत्वाभावात् सोऽवक्तव्यबन्धस्य स्वामितया नैव प्राप्यते, अवस्थितबन्धस्य स्वामी सोऽपि भवतीति न तत्रापवादविषयता, इत्येकं स्वामित्वद्वारविषयकमपवादपदम् । एतेन यत्र यत्रौघे मार्गणासु चाष्टबन्धस्थानस्य स्वामिनोऽप्रमत्तसंयता दर्शितास्तेऽत्रावक्तव्यस्य स्वामिनो नैव भवन्तीति द्रष्टव्यम् । (२)तृतीये कालद्वारेऽष्टबन्धस्थानस्य जघन्यकालो बहुषु मार्गणास्वन्तर्मुहूर्तं दर्शितः, उत्कृष्टकालस्त्वायुर्बन्धप्रायोग्यसर्वमार्गणास्वष्टबन्धस्थानस्यान्तर्मुहूर्तं भवति, तथाप्यवक्तव्यबन्धस्तु न कस्यापि समयादूर्ध्वं प्रवर्तते इत्यवक्तव्यबन्धस्य जघन्योत्कृष्टकालद्वयं तृतीये कालद्वारे समय एवेति । (३) दशमे कालद्वारे नानाजीवविषयके यत्राष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकाः सर्वाद्धायां न भवन्ति तत्राऽष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानसत्कजघन्यकालस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वेऽप्यऽवक्तव्यबन्धस्य जघन्यकालस्तु समयो भवति, यत्रायुष्कबन्धकाः संख्येया जीवास्तत्राष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानज्येष्ठकालस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वेऽप्यवक्तव्यबन्धस्य संख्येयाः समया विज्ञेयाः, यत्र जीवा असंख्येयलोकतो न्यूना असंख्येयास्तत्राष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानज्येष्ठकालस्य पल्योपमाऽसंख्येयभागप्रमाणत्वेऽप्यवक्तव्यबन्धस्य ज्येष्ठकाल आवलिकाऽसंख्येयभागप्रमाणो भवतीति । एवमपवादपदानि विहायाष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्वाम्यादिवत् प्रस्तुतेऽप्यायुष्कपदद्वये विवरणं विज्ञेयमिति ।

अथ संक्षेपत आयुषोऽवक्तव्यावस्थितबन्धयोः स्वामित्वादिद्वाराणि निरूपयामः, तद्यथा-- स्वामित्वद्वारे ओघतः प्रथम द्वितीय-चतुर्थ-पञ्चम-षष्ठगुणस्थानगता आयुर्बन्धकालप्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धस्वामिनो भवन्ति, त एव शेषायुर्बन्धाद्धायां वर्तमानास्त्ववस्थितबन्धस्वामिनो भवन्ति। तथा षष्ठगुणस्थानक आयुर्बन्धं प्रारभ्य सप्तमगुणस्थानकं प्राप्ता अप्रमत्तसंयता अप्यवस्थितबन्धस्वामिनो भवन्ति। आदेशतः पुनरेवम्--नरकौघाद्यषण्नरक-देवौघ-भवनपत्यादिनवमग्रैवेयकान्त-देवेषु वैक्रिययोगाऽसंयमकृष्णनीलकापोतलेश्यासु चेति सप्तत्रिंशद्मार्गणासु तृतीयं गुणस्थानकं विहाय प्रथमद्वितीयचतुर्थगुणस्थानगता बन्धद्वयस्य स्वामिनो भवन्ति। मनरके औदारिकमिश्रे इति मार्गणाद्वये मिथ्यादृष्टय एवायुष्कपदद्वयस्य स्वामिनो भवन्ति। तिर्यग्गत्योघे पञ्चेन्द्रियतिर्यक्त्रिके च तृतीयगुणस्थानं विमुच्य प्रथमद्वितीय चतुर्थ-पञ्चमगुणस्थानस्था आयुष्कपदद्वयस्य स्वामिनो भवन्ति। अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तमनुष्य-सप्तैकेन्द्रिय-नवविकलाक्षाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियपृथ्वीकायादिपञ्चकायसत्कैकोनचत्वारिंशद्भेदाऽपर्याप्तत्रसकायमार्गणासु केवलमेकमाद्यं गुणस्थानं भवति, तत्र चोक्तपदद्वयस्य ते बन्धका भवन्ति। पञ्चानुत्तरसुरमार्गणासु केवलं चतुर्थमेव गुणस्थानकमतस्तत्र ते पदद्वयस्य बन्धका भवन्ति। मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-पञ्चेन्द्रियौघपर्याप्तपञ्चेन्द्रियत्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-मनोयोगौघतदुत्तरभेदचतुष्कवचनयोगौघतदुत्तरभेदचतुष्ककाययोगौघौदारिककाययोगवेदत्रय-कषायचतुष्क-चक्षुर्दर्शन-ऽचक्षुर्दर्शन तेजःपद्मशुक्ललेश्याभव्यसंज्ञ्याहारकमार्गणासु चतुस्त्रिंशद्मार्गणास्वोघवत् पदद्वयस्य स्वामिनो भवन्ति। आहारकतन्मिश्रयोगद्वये षष्ठं गुणस्थानकं भवति तत्र च ते पदद्वयस्य स्वामिनो भवन्ति। मतिश्रुतावधिज्ञानावधिदर्शनसम्यक्त्वौघ-क्षायिक क्षायोपशमिकमार्गणास्वायुषोऽवक्तव्यस्य तुर्यादिगुणस्थानत्रयवर्तिनः, अवस्थितबन्धस्य च तुर्यादिगुणस्थानचतुष्कवर्तिनः स्वामिनो भवन्ति। मनःपर्यवज्ञानसंयमौघसामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिष्वायुषोऽवक्तव्यबन्धस्य स्वामिनः प्रमत्तसंयताः, अवस्थितबन्धस्य तु षष्ठसप्तमगुणस्थानद्वयवर्तिनोऽवगन्तव्याः। अज्ञानत्रिके आद्यगुणस्थानद्वयवर्तिनः पदद्वयस्य स्वामिनो भवन्ति। देशविरतौ पञ्चमगुणस्थानस्थाः, सास्वादने द्वितीयगुणस्थानस्थाः अभव्यमिथ्यात्वाऽसंज्ञिषु प्रथमगुणस्थानवर्तिन आयुष्कस्यावक्तव्यावस्थितपदद्वयस्य स्वामिनो भवन्तीति स्वामित्वम्। अत्राधिकारे साद्यादिद्वारं नाधिकृतम्, यदि पुनर्विचार्यते तदाऽऽयुर्बन्धस्यैव सादिसान्तत्वात् तत्पदद्वयस्यौघतो बन्धप्रायोग्यसर्वमार्गणासु च सादिसान्तत्वमेवावधारणीयमिति।

अथ तृतीयमेकजीवाश्रयं कालद्वारम्-तत्रौघत आदेशतश्च सर्वमार्गणास्वायुषोऽवक्तव्यबन्धस्य जघन्योत्कृष्टकालः समयप्रमाणो भवति। अवस्थानबन्धस्य त्वोघतो जघन्यत उत्कृष्टतश्च कालोऽन्त-

मुहूर्तम्, मार्गणासु मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क काययोगौघौदारिकवैक्रियाहारकतन्मिश्रकाययोगकषायचतुष्केष्वेकोनविंशतावबस्थानबन्धस्य जघन्यकालः समयः, उत्कृष्टतस्त्वन्तर्मुहूर्तम् । शेषासु पञ्चचत्वारिंशदुत्तरशतमार्गणास्ववस्थानबन्धस्य जघन्यत उत्कृष्टतश्च बन्ध कोऽन्तर्मुहूर्तमिति तृतीयं कालद्वारम् ।

अथ चतुर्थमन्तरद्वारम्—तत्रायुषोः पदद्वयस्यौघे मनोयोगसामान्याद्यष्टादशवर्जबन्धप्रायोग्यसर्वमार्गणासु च जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तम्, उत्कृष्टान्तरं पुनरोघे साधिकाणि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि । मार्गणासु पुनरेवम्—सर्वनरकदेवलेश्याभेदेषु चतुश्चत्वारिंशद्भेदेषु पदद्वयस्य बन्धान्तरं प्रकृष्टतो देशाना षण्मासा भवति । मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वैक्रियाहारकाहारकमिश्र-क्रोधादिकषायचतुष्कसास्वादनेष्वष्टादशमार्गणास्वायुषः पदद्वयस्यान्तरं नास्ति । काययोगौघे सातिरेकैकोनत्रिंशद्वर्षसहस्राणि पदद्वयस्यान्तरम्, औदारिककाययोगे साधिकानि सप्तसहस्रवर्षाणि । औदारिकमिश्रकाययोगेऽन्तर्मुहूर्तम् । स्त्रीवेदमार्गणायां साधिकानि पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि । मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धि-देशविरतिषु देशोनपूर्वकोटीतृतीयभागः पदद्वयस्यान्तरम् । विभङ्गज्ञानमार्गणायां देशोनस्वज्येष्ठकायस्थितिः सातिरेकाणि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, अन्ये तु देशोनषण्मासप्रमाणायुष्कस्याबक्तव्यावस्थितपदद्वयस्यान्तरं कथयन्ति । असंज्ञिमार्गणायां प्रस्तुतपदद्वयस्यान्तरं साधिकपूर्वकोटिः । पञ्चेन्द्रियसामान्यतत्पर्याप्त-त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकाय-पुरुषवेदनपुंसकवेदमतिश्रुतावधिज्ञानमत्यज्ञानश्रुताज्ञानासंयमचक्षुरचक्षुरवधिदर्शनभव्याभव्यसम्यक्त्वौघक्षायिकक्षयोपशममिथ्यात्वसंज्ञ्याहारकेषु त्रयोविंशतिमार्गणास्वायुष्कसत्कपदद्वयस्योत्कृष्टान्तरमोघवत् साधिकास्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा भवन्ति । शेषासु षट्षष्टिमार्गणासु पुनरायुष्कसत्कपदद्वयस्योत्कृष्टान्तरं साधिकोत्कृष्टभवस्थितिः, ता मार्गणा नामत इमाः—तिर्यग्गत्योघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यक् पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्तिरश्चीमनुष्यौघपर्याप्तमनुष्यमानुषी अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तमनुष्यसप्तैकेन्द्रिय——भेदनवविकलाक्षभेदाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियपृथ्व्यादिपञ्चकायसत्कैकोनचत्वारिंशद्भेदा अपर्याप्तत्रसकाया चेति । एतासु यावती ज्येष्ठभवस्थितिः स्यात् साधिका सा प्रस्तुतान्तरत्वेन प्राप्यत इति । एतासु भवस्थितिः पुनरियम्—

तिरियस्स पणिंदितिरियणरतप्पज्जत्तजोणिणीणं च । तिण्णि पलिओवमाइं उक्कोसा भवठिई णेया ॥१॥
एगिंदियपुढवीण वरिससहस्साणि होइ बावीसा । सा च्चेव होइ तेसिं बायर-बायरसमत्ताण ॥२॥
बेइंदियाइगाणं कमसो बारह समा अउणवण्णा । दिवसा तह छम्मासा एव तेसिं समत्ताणं ॥३॥
दगवाऊण कमसो वाससहस्साणि सत्त तिण्णि भवे । तिदिणाऽग्गिस्सेव सिं बायरबायरसमत्ताणं ॥४॥
वणस्सऽत्थि दससहस्सा वणपत्तेअवणतरसमत्ताण । भिन्नमुहुत्त णेया सेसाण पणवीसाए ॥५॥

ननु नरकौघादौ षण्मासावशेष एवाऽऽयुषो बन्धस्य प्रज्ञापनादिषु प्रतिपादितत्वात् कथं देशोनषण्मासप्रमाणं दर्शितमन्तरं स्यात् । किञ्च शास्त्रेष्वाकर्षनिरूपणेऽपि तेषां प्रकृष्टान्तरस्यैतावन्मात्रस्य कथमवबोधः स्यात्, कथं वा तेषामन्तर्मुहूर्तमध्य एव नियमतः सर्वेषां समाप्तिर्न स्यात् । उच्यते-श्रीस्थानाङ्गसूत्रवृत्तौ श्रीमदभयदेवसूरिपादैर्मतान्तरेण एवं निरूपितम्—"इदमेवान्यैरित्थमुक्तम्.......... .... देवनैरयिकैरपि यदि षण्मासे शेषे आयुर्न बद्धं तत आत्मीयस्यायुषः षण्मासशेषं तावत् तावत् संक्षिपन्ति यावत् सर्वजघन्याऽऽयुर्बन्धकाल उत्तरकालश्चावशेषोऽवतिष्ठते, इह परभवायुर्देवनैरयिका बध्नन्तीत्ययमसंक्षेपकालः ।" ततोऽस्मिन्नर्थे मतान्तरं बोद्धव्यम्, यदि वा श्रीप्रज्ञापनासूत्रस्य भावार्थो यद्येवं मान्येत-देवनैरयिका न पूर्वकोटयन्तायुष्कतिर्यग्मनुष्यवत् स्वायुषो द्वितीयत्रिभागे व्यतीत आयुर्बन्धयोग्या भवन्ति, किन्तु स्वायुषः षण्मासावशेष एव बन्धयोग्या भवन्ति, न पुनः ततोऽपि प्राक्, तर्हि सर्वं सुस्थं स्यात्, कर्मप्रकृतिष्वनेकशो देवानां नैरयिकाणां च भवचरमान्तर्मुहूर्ते आयुषो बन्धोऽर्थतो दर्शित इत्यतो न स्थानाङ्गवृत्तौ दर्शितमतं "इदमेवान्यैरित्थमुक्तम्" इत्येवं कथनानन्तरमुक्तत्वान्न स प्रधानं न वाऽऽदरणीयमिति वाच्यम्, कर्मप्रकृत्यादिना तु तन्मतस्य सिद्धेः । किञ्च आयुष आकर्षा एकस्मिन् भवे उत्कृष्टतस्त्वष्टौ भवन्ति, न च सर्वेषामेतावन्तो भवन्तीत्यवधारणीयम्, एकाद्यैरप्याकर्षैरायुर्बन्धस्य प्रज्ञापनादिषु प्रतिपादनात्, "आकर्षो नाम कर्मपुद्गलोपादानं" इति श्री समवायाङ्गे व्याख्यातम्, तत्रायुष्कपुद्गलोपादानाद् निवृत्तौ कियत्कालादूर्ध्वं पुनरप्युपादानं भवति, पुनरप्यन्तर्मुहूर्तेन निवृत्तिः पुनरपि कियत्कालादूर्ध्वं तदुपादानमेवमुत्कर्षतोऽष्टौ वारान् यावद्भवति, जघन्यतस्त्वेकस्मिन्नेवाकर्षे आयुर्बन्धः समाप्तिं याति । अत्राष्टानामप्याकर्षाणां समुदितः कालस्त्वन्तर्मुहूर्तमेवेति न ततोऽधिकबन्धकालापत्तिः । आयुर्बन्धं प्रारभ्यान्तर्मुहूर्तेन विरते पुनस्तद्बन्धः शेषायुषस्त्रिभागात् प्राक् कथं भवेत्, आयुर्बन्धप्रारम्भस्य त्रिभागत्रिभागादिनियमात्, अतो द्वितीयाकर्षो दीर्घायुष्काणामन्तर्मुहूर्तमध्ये नैव स्याद् इत्येवं दीर्घतरमाकर्षान्तरमेके व्याकुर्वन्ति। अन्ये तु मुकुलितमेव । तथाहि-"यदा ह्यसुमान् स्वायुषस्त्रिभागे त्रिभागत्रिभागे वा जघन्यत एकेन द्वाभ्यां वोत्कृष्टतः सप्तभिरष्टभिर्वाकर्षैरन्तर्मुहूर्तप्रमाणेन कालेनात्मप्रदेशरचनानाडीकान्तर्वर्तिन आयुष्ककर्मपुद्गलान् प्रयत्नविशेषेण विधत्ते" इत्याद्याचाराङ्गवृत्तौ, अत्र चाऽऽकर्षाष्टकस्य समुदितकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो दर्शितो न पुनर्दीर्घान्तरप्रतिषेधोऽल्पान्तरविधानं वा इति मुकुलितमेव भणितम् । अन्ये पुनः "आयुस्त्वेकत्र भव एकवारमेव बध्यते" इत्येवं दर्शयन्ति, अत्र केवलः शब्दार्थ एव परिगृह्यते तदा शास्त्रोक्ता द्व्यादयोऽष्टपर्यन्ता आकर्षा न संघटेयुः, एकवारमेवाऽऽयुर्बन्धस्याऽऽयुष्कपुद्गलोपादानरूपस्य विधानात्, यदि पुनर्भावार्थो मृग्यते तदैकत्र भव एकवारमेवेत्यनेनैकस्मिन् भवे एकवारमेवेत्यनेनैकभवप्रायोग्यमेवायुर्बध्यते, न च प्रथमाकर्षे देवायुर्बद्ध्वा

द्वितीयाद्याकर्षे मनुष्याद्यायुर्बन्द्धुं योग्यः, नैव तथा बध्नातीत्यर्थस्तत एकवारमेवेति आयुर्बन्ध-प्रथमाकर्षप्रथमसमय एव तन्निर्णयो भवति, उत्तरे तु तदेव बध्नाति, केवलं द्वितीयाद्याकर्ष-प्रथमसमये तदेवायुष्कबन्धे प्रवर्तमानेऽपि स्थितिबन्धस्य वृद्धिर्हानिर्वा स्यात्, न पुनर्द्वितीया-दिसमये तद्वृद्धिहानिसम्भव इति । आकर्षप्रतिपादकग्रन्थेषु न कुत्रचिदप्यन्तर्मुहूर्तमध्य एवाष्टानामाकर्षाणां सान्तराणां परिसमाप्तिः स्यादिति निरूपणं दृश्यते, दृश्यते च ग्रन्थान्तरे-ष्वायुर्बन्धान्तरस्य नरकौघादिमार्गणासु देशोनषण्मासप्रमाणमन्तरमित्याकर्षाणामन्तराले गुर्वन्तर-स्योपलब्धिरविरुद्धेति, तत्त्वं पुनः बहुश्रुता निर्दिशन्तु इति । न चास्माकमत्र पक्षपातता, जिनदृष्ट-भाव एव नः प्रमाणम्, तथाच यदि सर्वनरक-सर्वदेवपद्मलेश्यौदारिकयोगमनःपर्यवज्ञानसंयमौघ-सामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिदेशविरतिमार्गणासु सकृदेवायुर्बन्धः स्याद्; न तूक्तरूपा आकर्षाः, तर्हि एतास्वायुष्कसत्कपदद्वयस्यान्तराभाव अन्तर्मुहूर्तप्रमाणं वाऽन्तरं स्यादिति । अन्तरद्वारं गतम् ।

भङ्गविचयद्वारे—ओघत आयुष्कस्य पदद्वयस्याप्यष्टम एव भङ्गः, अनन्तैर्जीवैर्निरन्तरं तयोर्बध्यमानत्वात्, तत्रापि येऽवक्तव्यस्य बन्धकास्तेऽवस्थितपदस्याबन्धकाः, ये चावस्थित-पदस्य बन्धकास्तेऽवक्तव्यस्याबन्धका इति । मार्गणासु पुनरेवम्—यासु द्वाषष्टिमार्गणासु जीवा असंख्येयलोकप्रमाणा अनन्ता वा, तासु केवलमष्टम एव भङ्गः । भावना त्वोघवत् कार्येति । शेषायुर्बन्धप्रायोग्यास्वेकोत्तरशतमार्गणासु पदद्वयस्य प्रत्येकमष्टौ अष्टौ भङ्गा भवन्ति । भङ्गभावना त्वेवम्—विवक्षितमार्गणायामेकस्यायुषो बन्धकत्वेन सद्भावे स यदाऽऽयुर्बन्धप्रथम-समयवर्ती तदाऽवक्तव्यबन्धपदापेक्षया प्रथमो भङ्गः "एको बन्धक एव" इत्येवंरूपः, तदैवा-ऽवस्थितबन्धापेक्षया "एकोऽबन्धक एव" इत्येवंलक्षणो द्वितीयो भङ्गः । यदा स आयु-र्बन्धद्वितीयादिसमये वर्तते तदा अवक्तव्यबन्धापेक्षया "एकोऽबन्धक एव" इति संज्ञको द्वितीयो भङ्गः, तदैव चावस्थितबन्धापेक्षया "एको बन्धक एव" इति नाम प्रथमो भङ्गः । यदा पुनर्द्वौ बन्धकौ तत्र यद्यायुर्बन्धप्रथमसमय एको वर्तते एकश्चायुर्बन्धद्वितीयादिसमये तद्यवक्त-व्यपदापेक्षयाऽवस्थितपदापेक्षया च पञ्चमभङ्गः प्राप्यते । यस्मिन् काले विवक्षितमार्गणायामनेक आयुर्बन्धका भवन्ति तस्मिन्न यदि च ते सर्वे आयुर्बन्धप्रथमसमयवर्तिनस्तदाऽवक्तव्यपदापेक्षया "सर्वे बन्धका एव" इति तृतीयो भङ्गः, तदैव चावस्थितबन्धापेक्षया "सर्वेऽबन्धका एव" इत्य-भिधानश्चतुर्थो भङ्गः, यदि पुनः ते सर्वेऽपि आयुर्बन्धद्वितीयादिसमयस्थितास्तदाऽवक्तव्या-पेक्षया "सर्वेऽबन्धका एव" इति चतुर्थो भङ्गः, तदैव चावस्थितपदमधिकृत्य "सर्वे बन्धका एव" इति तृतीयो भङ्गः कथ्यते । यदा पुनरनेकेष्वायुर्बन्धकेषु सत्सु तेभ्य एको जीव आयुर्बन्धप्रथमसमयेऽवतिष्ठते, शेषाः सर्वे आयुर्बन्धद्वितीयादिसमयेषु तदाऽवक्तव्यबन्धापेक्षया

"एको बन्धक एवानेकेऽबन्धका एव" इतिरूपः षष्ठभङ्गः, तदैव चावस्थितबन्धमपेक्ष्य "एकोऽबन्धक एवानेके बन्धका एव" इत्येवंलक्षणः सप्तमभङ्गः । यदा पुनरनेकेष्वायुर्बन्धकेषु सत्सु तेभ्य एको जीव आयुर्बन्धद्वितीयाद्यन्यतमसमये वर्तते, शेषाः सर्वे आयुर्बन्धका आयुर्बन्धप्रथमसमये वर्तन्ते तदाऽवक्तव्यपदापेक्षया "अनेके बन्धका एव एकोऽबन्धक एव" इत्येवं सप्तमभङ्गो भवति, तदैव चावस्थितपदबन्धापेक्षया तु "एको बन्धकोऽनेकेऽबन्धका एव" इतिनामकः षष्ठभङ्गः । यदा पुनरनेकेष्वायुर्बन्धकेषु सत्सु तेभ्यो यदा द्व्यादयोऽनेके जीवा आयुर्बन्धप्रथमसमये वर्तन्ते तदैव चायुर्बन्धकेभ्यो द्व्यादयोऽनेके जीवा आयुर्बन्धद्वितीयादिसमयेष्ववतिष्ठन्ते तदाऽवक्तव्यपदबन्धस्य 'अनेके बन्धका अनेके चाबन्धका एव" इत्येवंरूपोऽष्टमो भङ्गो भवति, तस्मिन्नेव च कालेऽवस्थितपदबन्धस्यापि स एव भङ्गो भवति । एवमेकोत्तरशतमार्गणास्वायुर्बन्धस्याध्रुवत्वात् तत्र पदद्वयस्य प्रत्येकमष्टौ अष्टौ भङ्गा भवन्तीति । आयुर्बन्धस्य यासु ध्रुवत्वं ता मार्गणाः पुनरेताः—तिर्यग्गत्योघः, सप्तैकेन्द्रियभेदाः, सप्तसाधारणवनस्पतिकायाः, बादरपर्याप्तवर्जषट्पृथ्वीकायाः, एवं षडप्कायभेदाः, षट् तेजस्कायभेदाः, षड् वायुकायभेदाः, वनस्पतिकायौघ-प्रत्येकवनस्पतिकायौघाऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायाः काययोगौघौदारिकौदारिकमिश्रयोगाः, नपुंसकवेदः कषायचतुष्कं मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानमसंयमोऽचक्षुर्दर्शनं कृष्णनीलकापोतलेश्यात्रयं भव्याभव्यौ मिथ्यात्वमसंज्ञ्याहारकश्चेति । वैक्रियमिश्रकार्मणयोगापगतवेदाकषायकेवलज्ञानकेवलदर्शनयथाख्यातसंयमसूक्ष्मसम्परायसंयमोपशमसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वानाहारकमार्गणास्वेकादशस्वायुर्बन्धाभावः, एवं च चतुःसप्तत्युत्तरशतमार्गणाभ्यो द्वाषष्टिरेकादश च शोध्याः, तथा च शेषा एकोत्तरशतमार्गणा अवशिष्यन्त इति । गतं भङ्गविचयद्वारम् ।

अथ भागद्वारम्, तत्रौघत एवम्-आयुर्बन्धकालो जघन्यत उत्कृष्टतश्चाप्यसंख्येयसामयिकान्तर्मुहूर्तप्रमाणो भवति, तत्राऽवक्तव्यबन्धस्य सामयिकत्वेनावस्थितबन्धस्य चासंख्येयसामयिकत्वेनायुर्बन्धकजीवानामसंख्येयभागप्रमाणा अवक्तव्यबन्धका सर्वदैव भवन्त्यसंख्येयबहुभागास्त्ववस्थितपदबन्धका इति । मार्गणासु पुनर्यासु चतुस्त्रिंशदुत्तरशतमार्गणास्वायुष्कबन्धका जीवा अनन्ता असंख्येया वा तास्ववक्तव्यबन्धका असंख्येयभागप्रमाणाः, अवस्थितबन्धकाः पुनरसंख्येयबहुभागप्रमाणा इति । यासु पुनः पर्याप्तमनुष्यमानुष्यानतादिसर्वार्थसिद्धपर्यन्तदेवमार्गणाऽऽहारकाऽऽहारकमिश्रमनःपर्यवज्ञानसंयमौघसामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धि-संयमशुक्ललेश्याक्षायिकसम्यक्त्वरूपास्वेकोनत्रिंशद्मार्गणास्वायुर्बन्धकाः संख्येयास्तास्ववक्तव्यबन्धकाः संख्येयभागप्रमाणा भवन्त्यवस्थितपदबन्धकास्तु संख्येयबहुभागप्रमाणा इति ।

अत्र भागद्वारप्ररूपणं चूर्णौ प्रासङ्गिकं मूलेऽग्रे वक्ष्यमाणत्वादिति गतं भागद्वारम् ।

अथ परिमाणद्वारम्–ओघत आयुष्कसत्कपदद्वयस्यापि बन्धका अनन्ता भवन्ति, एवं षट्त्रिंशद्मार्गणास्वायुर्बन्धकानामनन्तत्वात्तास्वायुष्कपदद्वयस्य बन्धका अनन्ता भवन्ति । ताश्च मार्गणा नामतः पुनरिमाः–तिर्यग्गत्योघ-सप्तैकेन्द्रिय-सप्तसाधारणवनस्पतिकाय-वनस्पतिकायौघ-काययोगौघौदारिकौदारिकमिश्र-नपुंसकवेद कषायचतुष्क-मत्यज्ञान श्रुताज्ञाना-ऽसंयमाऽचक्षुर्दर्शन-कृष्णनीलकापोतलेश्या भव्याभव्य मिथ्यात्वासंज्ञ्याऽऽहारकमार्गणा इति । पर्याप्तमनुष्याद्येकोनत्रिंशद्मार्गणास्वायुष्कबन्धकानामेव संख्येयत्वात्तास्वायुष्कसत्कपदद्वयस्यापि बन्धकपरिमाणं संख्येयमवसेयमिति । एवं पञ्चषष्टिमार्गणासु दर्शितम् । ता विहाय शेषास्वष्टनवतिमार्गणासु जीवानामसंख्येयत्वादायुर्बन्धकपरिमाणस्य चासंख्येयत्वात्तासूक्तपदद्वयस्यापि बन्धका उत्कृष्टपदेऽसंख्येया एव भवन्ति । ता मार्गणा नामतः पुनरेताः–अष्टौ नरकभेदाः, चत्वारः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, मनुष्यौघाऽपर्याप्तमनुष्यौ देवौघ-भवनपति व्यन्तर-ज्योतिष्काः, सौधर्मादिसहस्रारान्ताष्टवैमानिकदेवभेदाः, नवविकलाक्षभेदाः, पञ्चेन्द्रियभेदत्रयम्, सप्तपृथ्वीकायभेदाः, सप्ताप्कायभेदाः, सप्ततेजस्कायभेदाः, सप्तवायुकायभेदाः, त्रयः प्रत्येकवनस्पतिकायभेदाः, त्रयस्त्रसकायभेदाः, मनोयोगौघस्तदुत्तरभेदचतुष्कं वचनयोगौघस्तदुत्तरभेदचतुष्कं वैक्रियकाययोगः, पुरुषवेदः, स्त्रीवेदः, मत्यादिज्ञानत्रयम्, विभङ्गज्ञानम्, देशविरतिः, चक्षुरवधिदर्शने, तेजःपद्मलेश्ये, सम्यक्त्वौघ-क्षयोपशमसम्यक्त्व-सास्वादनमार्गणात्रयम्, संज्ञिमार्गणा चेति । गतं परिमाणद्वारम् ।

अथ क्षेत्रद्वारम्–ओघत आयुष्कसत्कपदद्वयस्य बन्धकानां क्षेत्रं सर्वलोकप्रमाणं भवति, सूक्ष्मैकेन्द्रियाणां सर्वलोकव्याप्तित्वात्, तेषां चोक्तपदद्वयस्य बन्धकत्वात् । एवं यासु मार्गणासु सूक्ष्मैकेन्द्रियाणां प्रवेशस्तास्वायुष्कसत्कपदद्वयस्य सर्वलोकप्रमाणं क्षेत्रं भवति, ता मार्गणा नामत इमाः–तिर्यग्गत्यौघः, एकेन्द्रियपृथ्वीकायाप्कायतेजस्कायवायुकायवनस्पतिकायसाधारणवनस्पतिकायौघाः, सूक्ष्मैकेन्द्रियभेदत्रयमेवं सूक्ष्मपृथ्वीकायभेदत्रयम्, सूक्ष्माप्कायभेदत्रयम्, सूक्ष्मतेजस्कायभेदत्रयम्, सूक्ष्मवायुकायभेदत्रयम्, सूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकायभेदत्रयम्, काययोगौघौदारिकौदारिकमिश्रमार्गणा नपुंसकवेदकषायचतुष्कमत्यज्ञानश्रुताज्ञानासंयमाचक्षुर्दर्शनाशुभलेश्यात्रयभव्याभव्यमिथ्यात्वाऽसंज्ञ्याहारकमार्गणाश्चेति षट्चत्वारिंशद्मार्गणाः । शेषासु सप्तदशोत्तरशतमार्गणासु सूक्ष्मैकेन्द्रियाणामप्रवेशात् सर्वलोकप्रमाणं क्षेत्रं न भवति, किन्तु यासु बादरवायुकायिकानां प्रवेशस्तासु बादरैकेन्द्रियभेदत्रये बादरवायुकायभेदत्रये चायुष्कसत्कपदद्वयस्य बन्धका देशोनलोके भवन्ति, देशोनलोकप्रमाणं तेषां क्षेत्रं भवतीत्यर्थः, बादरवायुकायानां देशोनलोकेऽवस्थानात् । शेपास्वेकादशोत्तरशतमार्गणास्वायुष्कसत्कपदद्वयस्य बन्धका लोकस्यासंख्येयतमे भागे भवन्ति । सूक्ष्माणां बादरवायुकायिकानां चाप्रवेशाद् विवक्षितकस्मिंश्चिदेकस्मिन् समये

स्वस्थानेन गमनागमनक्षेत्रेण च लोकाऽसंख्येयभाग एव तेषामवस्थानात्, केवलिसमुद्घाते सर्वलोकप्रमाणक्षेत्रस्य लाभेऽपि केवलिनोऽऽयुषोऽबन्धात् न तन्निरूपणावकाश इति। वैक्रियमिश्रादिष्वेकादशमार्गणास्त्वायुर्बन्धस्यैवासम्भवाद् न तदवसर इति। गतं क्षेत्रद्वारम्।

अथ स्पर्शनाद्वारम्—तत्रौघत आयुष्कसत्कावक्तव्यावस्थितपदद्वयस्य बन्धकानां स्पर्शना सर्वलोकप्रमाणा भवति, सूक्ष्माणां सर्वदैव सर्वलोकेऽवस्थानात्तेषां चोक्तपदद्वयस्य लाभात्। मार्गणासु पुनरेवम्—प्रागनन्तरक्षेत्रद्वारे तिर्यगोघादिषट्चत्वारिंशन्मार्गणासु सर्वलोकप्रमाणं क्षेत्र दर्शितं तास्वायुष्कपदद्वयसत्कस्पर्शनाऽपि सर्वलोकप्रमाणा प्राप्यते, क्षेत्रतः स्पर्शनाया न्यूनत्वस्य क्वचित् कदाचिन्नासम्भवात्। एवं बादरैकेन्द्रियभेदत्रये बादरवायुकायभेदत्रये च क्षेत्रवदायुष्कसत्कपदद्वयस्य बन्धकानां स्पर्शनाऽपि देशोनलोकप्रमाणैव विज्ञेया, मरणसमुद्घाततः प्रागेवायुर्बन्धस्य निष्ठापनाद् न तत्प्रयुक्तस्पर्शनायाः कासुचिदपि मार्गणासु लाभः, इत्यतो नाधिका सर्वलोकप्रमाणा स्पर्शना प्राप्यत इति।

अथ शेषैकादशोत्तरशतमार्गणाभ्यो यासु मार्गणासु देवानां प्रवेशस्तासु देवानां गमनागमनप्रयुक्ता यावती स्पर्शना प्राप्यते तावत्स्पर्शनायास्तेषां गमनागमनं कुर्वतामायुर्बन्धकानामपि सम्भवात् सा प्राप्यते।

न च वक्तव्यमेवं गमनागमनक्षेत्रस्याऽपि लाभात् क्षेत्रद्वारे तावतः क्षेत्रस्य कथं न निर्देश इति। यतः क्षेत्रद्वारस्य वर्तमानसमयविषयत्वेन सामयिकत्वाद् देवानां गमनागमनक्षेत्रविषयस्याष्टरज्जुमितत्वेऽपि तेषां सामयिकं तत् क्षेत्रं लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणमेव प्राप्यते, स्पर्शनायाः सर्वातीतकालविषयत्वेनातीतकाले चानन्तदेवैर्गमनागमनेन कृतयास्स्पर्शनाया लाभात् सा अष्टरज्ज्वादिमाना स्यादेवेति क्षेत्रतः स्पर्शनाया भिन्नत्वम्।

देवौघ--भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मादिसहस्रारान्तदेव--पञ्चेन्द्रियौघ-- पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकायमनोयोगौघतदुत्तरभेदचतुष्कवचनयोगौघतदुत्तरभेदचतुष्कवैक्रियकाययोगस्त्रीपुरुषवेदमतिश्रुतावधिज्ञानविभङ्गज्ञानचक्षुरवधिदर्शनतेजोलेश्यापद्मलेश्यासम्यक्त्वौघक्षायिकक्षयोपशमसम्यक्त्वसास्वादनसंज्ञिमार्गणासु द्विचत्वारिंशति यथासम्भवं सहस्रारान्तदेवापेक्षयाऽऽयुष्कसत्कपदद्वयबन्धकानामष्टरज्जुप्रमाणा स्पर्शना भवति, सा च त्रसनाड्यन्तर्गतोर्ध्वत्वच्युतान्ता अधस्तु तृतीयपृथ्वीं यावदिति। आनताद्यच्युतान्तेषु चतुर्षु देवभेदेषु शुक्ललेश्यायां च षड्रज्जुप्रमाणा स्पर्शना विज्ञेया, आनतादिदेवानां रत्नप्रभातोऽधः प्रायो गमनागमनाभावाद् न तत्प्रयुक्तस्पर्शनायाः प्रस्तुते लाभः, कदाचित् कस्यचिद् गमनस्य भावेऽपि तस्याल्पत्वात् कस्माच्चिद्वा-ऽन्यकारणाद्वा नाधिकारः, अतस्तिर्यग्लोकादच्युतान्तं षड्रज्जूनां भावेन तावती स्पर्शना तेषां मार्गणापञ्चकवर्तिनां प्राप्यत इति। शेषासु चतुःषष्टिमार्गणासु तु

सूक्ष्माणां बादरवायुकायिकानां देवानां चाऽप्रवेशेनाऽऽयुष्कसत्कपदद्वयबन्धकानां लोकाऽसंख्येय-भागप्रमाणा स्पर्शना प्राप्यते । शेषमार्गणा नामत इमाः—नरकौघ-रत्नप्रभादिसप्तनरक-पञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्मार्गणाचतुष्कमनुष्यमार्गणाचतुष्कनवग्रैवेयकानुत्तरसुरपञ्चकनवविकलाक्षापर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-बादरपृथ्वीकायभेदत्रिकबादराप्कायभेदत्रिकबादरतेजस्कायभेदत्रिकप्रत्येकवनस्पतिकायभेदत्रिक—बादरनिगोदभेदत्रिकाऽपर्याप्तत्रसकायाऽऽहारककाययोगतन्मिश्रमनःपर्यवज्ञानसंयमौघसामायिक—च्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिदेशविरतिमार्गणाः । एतासु क्षेत्रवल्लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणैव स्पर्शना प्राप्यते, लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणेतिशब्दसाम्येऽपि क्षेत्रतः स्पर्शनायां प्राप्तं मानम-संख्येयगुणं संख्येयगुणं वाऽवधार्यम् । इति स्पर्शनाद्वारम् ।

अथ नानाजीवाश्रितकालद्वारम्—तत्रौघत आयुष्कसत्कपदद्वयस्य बन्धकाः सर्वदा प्राप्यन्ते । मार्गणासु पुनरेवम्—तिर्यग्गत्योघः, सप्तैकेन्द्रियभेदाः, सूक्ष्मपृथ्वीकायभेदत्रयं सूक्ष्माप्कायभेदत्रयं सूक्ष्मतेजस्कायभेदत्रयं सूक्ष्मवायुकायभेदत्रयं सूक्ष्मनिगोदभेदत्रयं पृथ्वीकायाप्कायतेजस्कायवायु-कायवनस्पतिकायसाधारणवनस्पतिकायप्रत्येकवनस्पतिकायौघाः, बादरपृथ्वीकायाप्कायतेजस्काय-वायुकायौघाः, बादराऽपर्याप्तपृथ्वीकायाप्कायतेजस्कायवायुकायप्रत्येकवनस्पतिकायाः;बादरनिगो-दभेदत्रयम् , काययोगौघौदारिकतन्मिश्रनपुंसकवेदकषायचतुष्कमत्यज्ञानश्रुताज्ञानाऽसंयमाऽचक्षु-र्दर्शनकृष्णनीलकापोतलेश्याभव्याभव्यमिथ्यात्वाऽसंज्ञ्याहारकमार्गणाः, एतासु द्वाषष्टिमार्गणासु जीवानामनन्तानामसंख्यातलोकप्रमितानां वा भावेनाऽऽयुष्कसत्कपदद्वयस्य बन्धका निरन्तराः सर्वदैवोपलभ्यन्ते । आहारकतन्मिश्रयोगद्वये आयुष्कसत्कपदद्वयस्य बन्धका जघन्यतः समय-मुत्कृष्टतस्त्ववक्तव्यपदस्य बन्धकाः संख्येयसमयान्यावन्निरन्तरं प्राप्यन्ते, अवस्थितपदबन्धकानां त्वन्तर्मुहूर्तं यावदुपलब्धिर्भवति । पर्याप्तमनुष्यमानुष्यानताद्यष्टादशदेवभेद-मनःपर्यवज्ञानसंय-मौघसामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिसंयमशुक्ललेश्याक्षायिकसम्यक्त्वमार्गणासु सप्त-त्रिंशतावायुषोऽवक्तव्यबन्धकानां जघन्यकालः समयः, ज्येष्ठस्तु संख्येयाः समयाः, अवस्थित-बन्धका जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कृष्टतोऽप्यन्तर्मुहूर्तं यावत् प्राप्यन्ते । मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगौघ तदुत्तरभेदचतुष्क-वैक्रियकाययोगेष्वायुष्कपदद्वयस्य जघन्यकालस्तु समयः, उत्कृष्ट-कालोऽवक्तव्यबन्धकानामावलिकाया असंख्येयभागगतसमयाः, अवस्थितबन्धकानां तु पल्यो-पमस्यासंख्येयभागः प्राप्यते । शेषास्वेकषष्टिमार्गणास्वायुषोऽवक्तव्यबन्धकानां जघन्यकालः समयः, उत्कृष्टस्त्वावलिकाऽसंख्येयभागः, अवस्थितबन्धकानां तु जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कृष्टतस्तु पल्योपमाऽसंख्येयभागः प्राप्यत इति । शेषमार्गणानां नामानि—नरकगत्योघ-सप्ततदुत्तरभेद-पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदचतुष्कमनुष्यौघाऽपर्याप्तमनुष्यदेवौघभवनपत्यादिसहस्रारान्तदेवभेद-नवविक-लाक्ष—त्रिपञ्चेन्द्रियभेदबादरपर्याप्तपृथ्वीकायाप्कायतेजस्कायवायुकायप्रत्येकवनस्पतिकायत्रिस-

स्वस्थानेन गमनागमनक्षेत्रेण च लोकाऽसंख्येयभाग एव तेषामवस्थानात्, केवलिसमुद्घाते सर्वलोकप्रमाणक्षेत्रस्य लाभेऽपि केवलिनोऽऽयुषोऽबन्धात् न तन्निरूपणात्रकाश इति। वैक्रियमिश्रादिष्वेकादशमार्गणास्वायुर्बन्धस्यैवासम्भवाद् न तदवसर इति। गतं क्षेत्रद्वारम्।

अथ स्पर्शनाद्वारम्—तत्रौघत आयुष्कसत्कावक्तव्यावस्थितपदद्वयस्य बन्धकानां स्पर्शना सर्वलोकप्रमाणा भवति, सूक्ष्माणां सर्वदैव सर्वलोकेऽवस्थानात्तेषां चोक्तपदद्वयस्य लाभात्। मार्गणासु पुनरेवम्—प्रागनन्तरक्षेत्रद्वारे तिर्यगोघादिषट्चत्वारिंशन्मार्गणासु सर्वलोकप्रमाणं क्षेत्रं दर्शितं तास्वायुष्कपदद्वयसत्कस्पर्शनाऽपि सर्वलोकप्रमाणा प्राप्यते, क्षेत्रतः स्पर्शनाया न्यूनत्वस्य क्वचित् कदाचिच्चासम्भवात्। एवं बादरैकेन्द्रियभेदत्रये बादरवायुकायभेदत्रये च क्षेत्रवदायुष्कसत्कपदद्वयस्य बन्धकानां स्पर्शनाऽपि देशोनलोकप्रमाणैव विज्ञेया, मरणसमुद्घाततः प्रागेवायुर्बन्धस्य निष्ठापनाद् न तत्प्रयुक्तस्पर्शनायाः कासुचिदपि मार्गणासु लाभः, इत्यतो नाधिका सर्वलोकप्रमाणा स्पर्शना प्राप्यत इति।

अथ शेषैकादशोत्तरशतमार्गणाभ्यो यासु मार्गणासु देवानां प्रवेशस्तासु देवानां गमनागमनप्रयुक्ता यावती स्पर्शना प्राप्यते तावत्स्पर्शनायास्तेषां गमनागमनं कुर्वतामायुर्बन्धकानामपि सम्भवात् सा प्राप्यते।

न च वक्तव्यमेवं गमनागमनक्षेत्रस्याऽपि लाभात् क्षेत्रद्वारे तावतः क्षेत्रस्य कथं न निर्देश इति। यतः क्षेत्रद्वारस्य वर्तमानसमयविषयत्वेन सामयिकत्वाद् देवानां गमनागमनक्षेत्रविषयस्याष्टरज्जुमितत्वेऽपि तेषां सामयिकं तत् क्षेत्रं लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणमेव प्राप्यते, स्पर्शनायाः सर्वातीतकालविषयत्वेनातीतकाले चानन्तदेवैर्गमनागमनेन कृतयास्स्पर्शनाया लाभात् सा अष्टरज्ज्वादिमाना स्यादेवेति क्षेत्रतः स्पर्शनाया भिन्नत्वम्।

देवौघ—भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मादिसहस्रारान्तदेव—पञ्चेन्द्रियौघ—पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकायमनोयोगौघतदुत्तरभेदचतुष्कवचनयोगौघतदुत्तरभेदचतुष्कवैक्रियकाययोगस्त्रीपुरुषवेदमतिश्रुतावधिज्ञानविभङ्गज्ञानचक्षुरवधिदर्शनतेजोलेश्यापद्मलेश्यासम्यक्त्वौघक्षायिकक्षयोपशमसम्यक्त्वसास्वादनसंज्ञिमार्गणासु द्विचत्वारिंशति यथासम्भवं सहस्रारान्तदेवापेक्षयाऽऽयुष्कसत्कपदद्वयबन्धकानामष्टरज्जुप्रमाणा स्पर्शना भवति, सा च त्रसनाड्यन्तर्गतोर्ध्वत्वच्युतान्ता अधस्तु तृतीयपृथ्वीं यावदिति। आनताद्यच्युतान्तेषु चतुर्षु देवभेदेषु शुक्ललेश्यायां च षड्रज्जुप्रमाणा स्पर्शना विज्ञेया, आनतादिदेवानां रत्नप्रभातोऽधः प्रायो गमनागमनाभावाद् न तत्प्रयुक्तस्पर्शनायाः प्रस्तुते लाभः, कदाचित् कस्यचिद् गमनस्य भावेऽपि तस्याल्पत्वात् कस्माच्चिद्वा-ऽन्यकारणाद्वा नाधिकारः, अतस्तिर्यग्लोकादच्युतान्तं षड्रज्जूनां भावेन तावती स्पर्शना तेषां मार्गणापञ्चकवर्तिनां प्राप्यत इति। शेषासु चतुःषष्टिमार्गणासु तु

मार्गणावर्तिसर्वजीवानामवश्यमेव बन्धात् प्रस्तुतस्वामित्वं सुगममेव । केवलं तत्तन्मार्गणासु सम्भवद्गुणस्थानकानि ज्ञातव्यानि येन स्वामित्वावधारणं सुगमं स्यात् । तानि चैवम्—नरकौघे सप्त तदुत्तरभेदेषु पञ्चविंशतिदेवभेदेषु वैक्रियकाययोगेऽसंयममार्गणायां चाद्यानि चत्वारि गुणस्थानकानि । अनुत्तरपञ्चके चतुर्थमेवैकं गुणस्थानकम् । तिर्यग्गत्योघे पञ्चेन्द्रियतिर्यक्-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिरश्चीमार्गणात्रये च प्रथमादीनि पञ्च गुणस्थानकानि । मनुष्योघपर्याप्तमनुष्यमानुषीद्विपञ्चेन्द्रिय-द्वित्रसकाय-भव्यमार्गणासु (८) मिथ्यादृष्ट्यादीन्ययोगिकेवलिपर्यवसानानि चतुर्दशगुणस्थानकानि । अपर्याप्तमनुष्याऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्सप्तैकेन्द्रियनवविकलाक्षाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रि(?)कोनचत्वारिंशत्पृथ्व्यादिपञ्चस्थावरकायभेदा-ऽपर्याप्तत्रसकायाऽभव्यमिथ्यात्वाऽसंज्ञिमार्गणासु द्वाषष्टौ प्रथममेकं गुणस्थानकं भवति, एष जीवसमासाभिप्रायः, अन्याभिप्रायेण लब्धिपर्याप्तेषु बादरैकेन्द्रियबादरपृथ्व्यप्प्रत्येकवनस्पतिकायद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु करणापर्याप्तावस्थायां सास्वादनभावस्याप्यङ्गीकरणाद् आद्यगुणस्थानकद्वयं भवति । मनोयोगसामान्य-सत्यमनोयोग-असत्यामृषामनोयोगत्रयमेवं वचनयोगत्रयं काययोगौदारिककाययोगशुक्ललेश्या आहारकमार्गणा इति दश मार्गणास्तासु मिथ्यादृष्ट्यादीनि सयोगिकेवलिपर्यवसानानि त्रयोदश गुणस्थानकानि भवन्ति । असत्यमनोयोगसत्यासत्यमनोयोगद्वयमेवं वचनयोगद्वयं चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनं संज्ञी चेति सप्तमार्गणासु प्रथमादीनि द्वादशान्तानि द्वादशगुणस्थानकानि भवन्ति । औदारिकमिश्रकार्मणकाययोगद्वये प्रथमं द्वितीयं चतुर्थं त्रयोदशं चेति चत्वारि गुणस्थानकानि भवन्ति । अनाहारके पुनरेतानि चत्वार्ययोगिकेवलिगुणस्थानकं चेति पञ्च । वैक्रियमिश्रे प्रथमं द्वितीयं चतुर्थं चेति त्रीणि । आहारके तन्मिश्रे च प्रमत्तसंयतगुणस्थानकमेकम्, अन्ये त्वाहारके सप्तमगुणस्थानकमपीच्छन्ति ।

वेदत्रये क्रोधमानमायाकषायत्रये च प्रथमादीनि नवमान्तानि नवगुणस्थानकानि । अपगतवेदमार्गणायां नवमगुणस्थानकाद्वायाश्चरमसंख्येयभागादारभ्यायोगिकेवलिपर्यवसानानि षड्गुणस्थानकानि । अकषाये यथाख्याते चैकादशादीनि चत्वारि । लोभमार्गणायामाद्यानि दश । मतिश्रुतावधिज्ञानावधिदर्शनेषु चतुर्थादीनि द्वादशान्तानि नव । मनःपर्यवज्ञाने प्रमत्तसंयतादीनि क्षीणमोहछद्मस्थान्तानि सप्त । मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानत्रये आद्यगुणस्थानद्वयम्, अन्ये त्वाद्यगुणस्थानत्रयमिच्छन्ति । केवलज्ञानकेवलदर्शनयोश्च त्रयोदश चतुर्दश चेत्यन्तिमे द्वे ।

संयमौघे षष्ठादीनि चतुर्दशान्तानि नव । सामायिके छेदोपस्थापनीयसंयमे च प्रमत्तसंयतादीन्यनिवृत्तिपर्यवसानानि चत्वारि । परिहारविशुद्धौ षष्ठं सप्तमं चेति द्वे । सूक्ष्मसम्पराये दशममेकम् । देशविरतौ पञ्चमम् । कृष्णनीलकापोतेष्वाद्यानि चत्वारि, अन्ये त्वाद्यानि षट् । तेजः-

काय-स्त्रीपुरुषवेदमतिश्रुतावधिज्ञानविभङ्गज्ञानदेशविरतिचक्षुरवधिदर्शनतेजःपद्मलेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षयोपशमसम्यक्त्व-सास्वादन-संज्ञिमार्गणाः। गतं नानाजीवानाश्रित्य कालद्वारम् ।

अथ नानाजीवानाश्रित्यान्तरद्वारम्, तत्रौघत आयुषः पदद्वयस्य बन्धकानामन्तरं नास्ति । मार्गणास्वपि यासु द्वाषष्टिमार्गणासु बन्धकालः सार्वदिकः प्रतिपादितस्तास्वपि तदन्तरं नास्ति । शेषास्वेकोत्तरशतमार्गणास्वायुषः पदद्वयस्य जघन्यान्तरं समयः। पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय पञ्चेन्द्रियौघाऽपर्याप्तद्वीन्द्रियत्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियत्रसकायौघाऽपर्याप्तत्रसकायमार्गणाः, एतासु द्वादशमार्गणास्वायुषः पदद्वयस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, शेषासु नवाशीतिमार्गणास्वायुषः पदद्वयबन्धकानां ज्येष्ठान्तरं स्वयं बहुश्रुतेभ्यो विमर्षणीयमिति । गतमन्तरद्वारम् ।

तदेवं मूलकृता आयुष्कसत्कपदद्वयस्य स्वामित्वादिद्वाराणि यान्यतिदेशेनापवादपूर्वकाणि दर्शितानि, तानि लेशतः स्मारितानि ॥१९-२०-२१॥

अथ शेषसप्तकर्मविषयकभूयस्कारादीनां स्वामित्वं निरूरूपयिषुः प्रथममवस्थितबन्धस्य तदतिदिशन्नाह—

सामित्ते सत्तण्हं अवट्ठिअस्सऽत्थि मूलपयडिव्व ।

(प्रे०) "सामित्ते" इत्यादि, सप्तकर्मणामवस्थितबन्धस्य स्वामिनः सामान्यतो भूयस्काराल्पतरावक्तव्यबन्धव्यतिरिक्तबन्धविधायिनो भवन्ति, भूयस्कारादिबन्धास्तु नामकर्म विहाय क्वचित् कदाचिदेव भवन्ति, यद्यपि नाम्नो भूयस्काराल्पतरौ सामान्यत एकेन्द्रियाद्यवस्थायां परावर्तमानेनाऽपि प्राप्येते तथापि तत्र भूयस्काराल्पतरबन्धोत्तरक्षणे बाहुल्यतोऽवस्थितबन्ध एव प्रवर्तत इति । यस्मिन् गुणस्थानके ओघे मार्गणासु वा ये ये सप्तकर्मबन्धका भवन्ति, तस्मिन् गुणस्थाने ओघे तासु मार्गणासु वा ते ते जीवा तत् तत् कर्मणोऽवस्थितबन्धकतया प्राप्यन्त इति कृत्वा मूलप्रकृतौ सप्तानां बन्धकत्वेन ये तत्तद्गुणस्थानकगता मार्गणागता वा दर्शितास्तेऽत्राप्यवस्थितबन्धकतया प्रायसो द्रष्टव्याः ।

ताश्च संक्षेपतो दर्शयामः, तद्यथा—ओघतो मोहनीयस्य प्रथमादिनवमान्तगुणस्थानकस्थाः, ज्ञानावरणदर्शनावरणनामगोत्राऽन्तरायाणां पञ्चानां प्रथमादिदशमान्तगुणस्थानकस्थाः स्वामिनो भवन्ति, वेदनीयस्य तु सयोग्यन्ताः स्वामितया विज्ञेयाः । मार्गणासु पुनर्यासु यासु मार्गणासु यावन्ति गुणस्थानकानि भवन्ति, तासु मार्गणासु तेषु गुणस्थानकेष्वोघानुसारेणैवावस्थानस्वामिनो विज्ञेयाः । सप्तानामपि कर्मणां ध्रुवबन्धित्वेन नवमं दशमं त्रयोदशं गुणस्थानकं यावत् सर्व-

मार्गणावर्तिसर्वजीवानामवश्यमेव बन्धात् प्रस्तुतस्वामित्वं सुगममेव। केवलं तत्तन्मार्गणासु सम्भवद्गुणस्थानकानि ज्ञातव्यानि येन स्वामित्वावधारणं सुगमं स्यात् । तानि चैवम्—नरकौघे सप्ततदुत्तरभेदेषु पञ्चविंशतिदेवभेदेषु वैक्रियकाययोगेऽसंयममार्गणायां चाद्यानि चत्वारि गुणस्थानकानि । अनुत्तरपञ्चके चतुर्थमेवैकं गुणस्थानकम् । तिर्यग्गत्योघे पञ्चेन्द्रियतिर्यक्-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिरश्चीमार्गणात्रये च प्रथमादीनि पञ्च गुणस्थानकानि । मनुष्यौघपर्याप्तमनुष्यमानुषीद्विकेन्द्रिय-द्वित्रसकाय-भव्यमार्गणासु (८) मिथ्यादृष्ट्यादीन्ययोगिकेवलिपर्यवसानानि चतुर्दश गुणस्थानकानि। अपर्याप्तमनुष्याऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्सप्तैकेन्द्रियनवविकलाक्षाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रि...ैकोनचत्वारिंशत्पृथ्व्यादिपञ्चस्थावरकायभेदा-ऽपर्याप्तत्रसकायाऽभव्यमिथ्यात्वाऽसंज्ञिमार्गणासु द्वाषष्टौ प्रथममेकं गुणस्थानकं भवति, एष जीवसमासाभिप्रायः, अन्याभिप्रायेण लब्धिपर्याप्तेषु बादरैकेन्द्रियबादरपृथ्व्यप्प्रत्येकवनस्पतिकायद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु करणापर्याप्तावस्थायां सास्वादनभावस्याप्यङ्गीकरणाद् आद्यगुणस्थानकद्वयं भवति । मनोयोगसामान्य-सत्यमनोयोग-असत्यामृषामनोयोगत्रयमेवं वचनयोगत्रयं काययोगौघौदारिककाययोगशुक्ललेश्या आहारकमार्गणा इति दश मार्गणास्तासु मिथ्यादृष्ट्यादीनि सयोगिकेवलिपर्यवसानानि त्रयोदश गुणस्थानकानि भवन्ति । असत्यमनोयोगसत्यासत्यमनोयोगद्वयमेवं वचनयोगद्वयं चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनं संज्ञी चेति सप्तमार्गणासु प्रथमादीनि द्वादशान्तानि द्वादशगुणस्थानकानि भवन्ति । औदारिकमिश्रकार्मणकाययोगद्वये प्रथमं द्वितीयं चतुर्थं त्रयोदशं चेति चत्वारि गुणस्थानकानि भवन्ति। अनाहारके पुनरेतानि चत्वार्ययोगिकेवलिगुणस्थानकं चेति पञ्च। वैक्रियमिश्रे प्रथमं द्वितीयं चतुर्थं चेति त्रीणि । आहारके तन्मिश्रे च प्रमत्तसंयतगुणस्थानकमेकम् , अन्ये त्वाहारके सप्तमगुणस्थानकमपीच्छन्ति ।

वेदत्रये क्रोधमानमायाकषायत्रये च प्रथमादीनि नवमान्तानि नवगुणस्थानकानि । अपगतवेदमार्गणायां नवमगुणस्थानकद्वितीयाद्यसमसंख्येयभागादारभ्यायोगिकेवलिपर्यवसानानि षड्गुणस्थानकानि। अकषाये यथाख्याते चैकादशादीनि चत्वारि। लोभमार्गणायामाद्यानि दश। मतिश्रुतावधिज्ञानावधिदर्शनेषु चतुर्थादीनि द्वादशान्तानि नव। मनःपर्यवज्ञाने प्रमत्तसंयतादीनि क्षीणमोहछद्मस्थान्तानि सप्त। मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानत्रये आद्यगुणस्थानद्वयम् , अन्ये त्वाद्यगुणस्थानत्रयमिच्छन्ति। केवलज्ञानकेवलदर्शनयोश्च त्रयोदश चतुर्दश चेत्यन्तिमे द्वे ।

संयमौघे षष्ठादीनि चतुर्दशान्तानि नव । सामायिके छेदोपस्थापनीयसंयमे च प्रमत्तसंयतादीन्यनिवृत्तिपर्यवसानानि चत्वारि। परिहारविशुद्धौ षष्ठं सप्तमं चेति द्वे। सूक्ष्मसम्पराये दशममेकम्। देशविरतौ पञ्चमम्। कृष्णनीलकापोतेष्वाद्यानि चत्वारि, अन्ये त्वाद्यानि षट्। तेजः-

काय-स्त्रीपुरुषवेदमतिश्रुतावधिज्ञानविभङ्गज्ञानदेशविरतिचक्षुरवधिदर्शनतेजःपद्मलेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षयोपशमसम्यक्त्व-सास्वादन-संज्ञिमार्गणाः। गतं नानाजीवानाश्रित्य कालद्वारम् ।

अथ नानाजीवानाश्रित्यान्तरद्वारम्, तत्रौघत आयुषः पदद्वयस्य बन्धकानामन्तरं नास्ति । मार्गणास्वपि यासु द्वाषष्टिमार्गणासु बन्धकालः सार्वद्रिकः प्रतिपादितस्तास्वपि तदन्तरं नास्ति । शेषास्वेकोत्तरशतमार्गणास्वायुषः पदद्वयस्य जघन्यान्तरं समयः। पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय पञ्चेन्द्रियौघाऽपर्याप्तद्वीन्द्रियत्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियत्रसकायौघाऽपर्याप्तत्रसकायमार्गणाः, एतासु द्वादशमार्गणास्वायुषः पदद्वयस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, शेषासु नवाशीतिमार्गणास्वायुषः पदद्वयबन्धकानां ज्येष्ठान्तरं स्वयं बहुश्रुतेभ्यो विमर्षणीयमिति । गतमन्तरद्वारम् ।

तदेवं मूलकृता आयुष्कसत्कपदद्वयस्य स्वामित्वादिद्वाराणि यान्यतिदेशेनापवादपूर्वकाणि दर्शितानि, तानि लेशतः स्मारितानि ॥१९-२०-२१॥

अथ शेषसप्तकर्मविषयकभूयस्कारादीनां स्वामित्वं निरूपयिषुः प्रथममवस्थितबन्धस्य तदतिदिशन्नाह—

सामित्ते सत्तण्हं अवट्ठिअस्सऽत्थि मूलपयडिव्व ।

(प्रे०) "सामित्ते" इत्यादि, सप्तकर्मणामवस्थितबन्धस्य स्वामिनः सामान्यतो भूयस्काराल्पतरावक्तव्यबन्धव्यतिरिक्तबन्धविधायिनो भवन्ति, भूयस्कारादिबन्धास्तु नामकर्म विहाय क्वचित् कदाचिदेव भवन्ति, यद्यपि नाम्नो भूयस्काराल्पतरौ सामान्यत एकेन्द्रियाद्यवस्थायां परावर्तमानेनाऽपि प्राप्येते तथापि तत्र भूयस्काराल्पतरबन्धोत्तरक्षणे बाहुल्यतोऽवस्थितबन्ध एव प्रवर्तत इति । यस्मिन् गुणस्थानके ओघे मार्गणासु वा ये ये सप्तकर्मबन्धका भवन्ति, तस्मिन् गुणस्थाने ओघे तासु मार्गणासु वा ते ते जीवा तत् तत् कर्मणोऽवस्थितबन्धकतया प्राप्यन्त इति कृत्वा मूलप्रकृतौ सप्तानां बन्धकत्वेन ये तत्तद्गुणस्थानकगता मार्गणागता वा दर्शितास्तेऽत्राप्यवस्थितबन्धकतया प्रायसो द्रष्टव्याः ।

ताश्च संक्षेपतो दर्शयामः, तद्यथा—ओघतो मोहनीयस्य प्रथमादिनवमान्तगुणस्थानकस्थाः, ज्ञानावरणदर्शनावरणनामगोत्राऽन्तरायाणां पञ्चानां प्रथमादिदशमान्तगुणस्थानकस्थाः स्वामिनो भवन्ति, वेदनीयस्य तु सयोग्यन्ताः स्वामितया विज्ञेयाः । मार्गणासु पुनर्यासु यासु मार्गणासु यावन्ति गुणस्थानकानि भवन्ति, तासु मार्गणासु तेषु गुणस्थानकेष्वोघानुसारेणैवावस्थानस्वामिनो विज्ञेयाः । सप्तानामपि कर्मणां ध्रुवबन्धित्वेन नवमं दशमं त्रयोदशं गुणस्थानकं यावत् सर्व-

यद्वा पञ्चमगुणस्थानकात् त्रयोदशप्रकृतिबन्धात् परिणामह्रासेन कालकरणेन वा चतुर्थगुणस्थानं प्राप्तास्तत्प्रथमसमये सप्तदश बध्नन्तो मोहस्य भूयस्कारबन्धका ज्ञेयाः, तथा सप्तमाऽष्टमनवमगुणस्थानकेषु यथासम्भवमेकादिकं यावद् नवप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं बध्नन्तः कालं कृत्वा दिवि समुत्पद्यन्ते तदा तत्प्रथमसमये-देवभवप्रथमसमये चतुर्थगुणस्थानकमेव लभन्ते तदैव सप्तदशप्रकृत्यात्मकं बन्धं कुर्वन्तस्ते भूयस्कारबन्धस्वामितया विज्ञेयाः। षष्ठपञ्चमगुणस्थानतो यदा परिणामह्रासेन तृतीयगुणं प्राप्नुवन्ति तदा तत्प्रथमसमये नवभ्यस्त्रयोदशभ्यो वा सप्तदश बध्नन्तस्ते तृतीयगुणस्थानगता भूयस्कारबन्ध कुर्वन्ति । चतुर्थगुणस्थानकतस्तृतीयगुणस्थानकं प्राप्तानां नैव भूयस्कारबन्धः, किन्त्ववस्थित एवोभयत्र सप्तदशबन्धात् । चतुर्थादिगुणस्थानकत्रयादुपशमसम्यक्त्वगतात् परिणामह्रासेन द्वितीयगुणस्थानकं प्राप्तास्तत्प्रथमसमये सप्तदशादिबन्धस्थानत्रयादेकविंशतिबन्धं कुर्वन्ति तदा ते द्वितीयगुणस्था जीवा भूयस्कारबन्धस्वामिनो भवन्ति । द्वितीयादिषष्ठान्तगुणस्थानपञ्चकादनन्तरमेव मिथ्यात्वगुणस्थानकं यदा प्राप्तास्तदा तत्प्रथमसमये ते एकविंशत्यादिबन्धाद् द्वाविंशतिबन्धस्थानं निर्वर्तयन्तो भूयस्कारबन्धस्वामिनो भवन्ति । एवं च षष्ठं सप्तमं च गुणस्थानद्वयं विहाय प्रथमादिनवमान्तगुणस्थानगता उक्तप्रकारेण मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धस्वामिनो भवन्ति ।

नामकर्मणि प्रथमद्वितीयगुणस्थानके परावर्तमानभावेन नानाबन्धस्थानानां प्रायोग्यत्वात् बन्धस्थानानां परावर्तनेन यदि ते न्यूनबन्धस्थानेभ्योऽधिकं बन्धस्थानं प्राप्नोति तदा ते भूयस्कारबन्धस्वामिनो भवन्ति । तृतीयगुणस्थाने बन्धस्थानद्वयस्य भावेऽपि एकजीवस्यैकबन्धस्थानस्यैव भावेन न तयोः परावृत्तिरतो न तृतीयगुणस्थानगता नाम्नो भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो भवन्ति ।

तिर्यङ्मनुष्यो वा यथासम्भवं चतुर्थादिदशमान्तगुणस्थानकान्यतमगुणस्थानकस्थितोऽष्टाविंशत्येकोनत्रिंशदेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानत्रयादन्यतमबन्धस्थानं बध्नन् कालं कृत्वा दिवि समुत्पन्नस्तत्र स भवप्रथमसमयेऽष्टाविंशतिबन्धक एकोनत्रिंशतं बध्नाति, एकोनत्रिंशद्बन्धकस्तु त्रिंशतमेकप्रकृतिबन्धकस्त्वेकोनत्रिंशतं त्रिंशतं वा बध्नाति, तत्र च भवति भूयस्कारबन्धः। यः पुनराहारकद्विकस्य बन्धकः स्यात् तस्य तु दिवि समुत्पन्नस्याल्पतरबन्ध एव भवतीति त्रिंशदेकत्रिंशद्बन्धस्थानद्वयस्य वर्जनमिति ।

तथा चतुर्थादिगुणस्थानकत्रये जिननामबन्धप्रारम्भेऽपि भूयस्कारबन्धो भवति । सप्तमगुणस्थाने तु जिननाम्न आहारकद्विकस्य तदुभयस्य वा बन्धे प्रारब्धे भूयस्कारबन्धस्वामी भवति । एवं यावदपूर्वकरणस्य षष्ठभागः । उपशमश्रेणितोऽवरोहन्नेकप्रकृतिबन्धादपूर्वकरणसप्तमभागात् षष्ठभागं प्राप्तोऽष्टाविंशत्यादिचतुर्णामन्यतमं बन्धस्थानं बध्नन् भूयस्कारबन्धं करोति । एवमुक्तप्रकारैरेव

पद्मलेश्याद्वये मिथ्यादृष्ट्यादीनि सप्त। सम्यक्त्वौघे क्षायिकसम्यक्त्वे च चतुर्थादीन्ययोगिपर्यन्तान्येकादश, उपशमसम्यक्त्वे चतुर्थादीन्युपशान्तमोहान्तान्यष्ट। क्षयोपशमे चतुर्थादीनि सप्तमान्तानि चत्वारि। सम्यग्मिथ्यात्वे तृतीयमेकम्। सास्वादने द्वितीयमेकमिति मार्गणासु गुणस्थानकानां निरूपणम्।

अथ ओघतो दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां भूयस्कारबन्धस्वामिनं दर्शयन्नाह—

मिच्छो सासणसम्मअपुव्वा बीअस्स भूगारं ॥२२॥
मोहस्स य मिच्छाई देसजई जा अपुव्वअणियट्टी।
णामस्स मिच्छआई मीसूणा जा अपुव्वसंखंसा ॥२३॥ (गीतिः)

(प्रे०) "मिच्छो" इत्यादि, दर्शनावरणस्य भूयस्कारबन्धस्वामिनस्तृतीयादिचतुर्गुणस्थानकेभ्यः प्रथमगुणस्थानकं प्राप्तास्तत्प्रथमसमये षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानाद् नवप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं बध्नन्तो मिथ्यादृष्टयो भवन्ति, एवं तुर्यादिगुणस्थानकत्रयादुपशमसम्यक्त्वगतात् षड्बन्धाद् द्वितीयं गुणस्थानकं प्राप्ता अपि तत्प्रथमसमये नव बध्नन्तः सास्वादनिनो भूयस्कारस्वामिनो भवन्ति। उपशमश्रेणौ चतुष्कबन्धात् कालं कृत्वा दिवि समुत्पन्नस्य तत्प्रथमसमये देवभवलाभादष्टमादिगुणस्थानकत्रयाच्चतुर्थगुणस्थानकं प्राप्तास्तत्प्रथमसमये चतुष्कात् षट्प्रकृतीर्बध्नन्तोऽविरतसम्यग्दृष्टयो दर्शनावरणसत्कभूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो भवन्ति। तथोपमशश्रेणितोऽवरोहन्तः पश्चानुपूर्व्या अपूर्वकरणषष्ठभागात् सप्तमभागं प्राप्ता निद्राद्विकबन्धप्रारम्भेन चतुष्कबन्धात् षट्प्रकृतीर्बध्नतः तत्प्रथमसमये भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो विज्ञेयाः, एवं दर्शनावरणे प्रकारचतुष्केण भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो लभ्यन्त इति।

मोहनीयभूयस्कारबन्धस्वामिन एवम्—मिथ्यादृष्टयः सास्वादनिनो मिश्रदृष्टयोऽविरतसम्यग्दृष्टयो देशविरताश्चेति पञ्च तथाऽष्टमनवमगुणस्थानद्वयगता भूयस्कारबन्धस्वामिनो भवन्ति। तत्र श्रेणितोऽवरोहन्तो नवमगुणस्थानके एकविधबन्धाद् द्विविधबन्धं प्राप्ताः, द्विविधबन्धात् त्रिविधबन्धं प्राप्ताः, त्रिविधबन्धाच्चतुर्विधबन्धं प्राप्ताः, चतुर्विधबन्धात् पञ्चविधबन्धगता अनिवृत्तिकरणस्थितास्तत्तद्बन्धस्थानप्रारम्भप्रथमसमये वर्तमाना भूयस्कारबन्धस्वामिनो भवन्ति। त एव श्रेणितोऽवरोहन्तः पञ्चबन्धस्थानाद् नवमगुणस्थानकाद् यदाऽष्टमगुणस्थानकं प्राप्तास्तदा नवप्रकृत्यात्मकं स्थानं बध्नन्तोऽष्टमगुणस्थानप्रथमसमयगता भूयस्कारं कुर्वन्ति। षष्ठगुणस्थानकाद् नवप्रकृतिबन्धात् पञ्चमगुणस्थानकं प्राप्य तत्प्रथमसमये त्रयोदश बध्नन्तो देशविरता भूयस्कारबन्धस्वामिनो भवन्ति। षष्ठगुणस्थानकाद् नवप्रकृतिबन्धात्

यद्वा पञ्चमगुणस्थानकात् त्रयोदशप्रकृतिबन्धात् परिणामह्रासेन कालकरणेन वा चतुर्थगुणस्थानं प्राप्तास्तत्प्रथमसमये सप्तदश बध्नन्तो मोहस्य भूयस्कारबन्धका ज्ञेयाः, तथा सप्तमाऽष्टमनवमगुणस्थानकेषु यथासम्भवमेकादिकं यावद् नवप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थान बध्नन्तः कालं कृत्वा दिवि समुत्पद्यन्ते तदा तत्प्रथमसमये-देवभवप्रथमसमये चतुर्थगुणस्थानकमेव लभन्ते तदैव सप्तदशप्रकृत्यात्मकं बन्धं कुर्वन्तस्ते भूयस्कारबन्धस्वामितया विज्ञेयाः। षष्ठपञ्चमगुणस्थानतो यदा परिणामह्रासेन तृतीयगुणं प्राप्नुवन्ति तदा तत्प्रथमसमये नवभ्यस्त्रयोदशभ्यो वा सप्तदश बध्नन्तस्ते तृतीयगुणस्थानगता भूयस्कारबन्धं कुर्वन्ति । चतुर्थगुणस्थानकतस्तृतीयगुणस्थानकं प्राप्तानां नैव भूयस्कारबन्धः, किन्त्ववस्थित एवोभयत्र सप्तदशबन्धात् । चतुर्थादिगुणस्थानकत्रयादुपशमसम्यक्त्वगतात् परिणामह्रासेन द्वितीयगुणस्थानकं प्राप्तास्तत्प्रथमसमये सप्तदशादिबन्धस्थानत्रयादेकविंशतिबन्धं कुर्वन्ति तदा ते द्वितीयगुणस्था जीवा भूयस्कारबन्धस्वामिनो भवन्ति । द्वितीयादिपष्ठान्तगुणस्थानपञ्चकादनन्तरमेव मिथ्यात्वगुणस्थानकं यदा प्राप्तास्तदा तत्प्रथमसमये ते एकविंशत्यादिबन्धाद् द्वाविंशतिबन्धस्थानं निर्वर्तयन्तो भूयस्कारबन्धस्वामिनो भवन्ति । एवं च षष्ठं सप्तमं च गुणस्थानद्वयं विहाय प्रथमादिनवमान्तगुणस्थानगता उक्तप्रकारेण मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धस्वामिनो भवन्ति ।

नामकर्मणि प्रथमद्वितीयगुणस्थानके परावर्तमानभावेन नानाबन्धस्थानानां प्रायोग्यत्वात् बन्धस्थानानां परावर्तनेन यदि ते न्यूनबन्धस्थानेभ्योऽधिकं बन्धस्थानं प्राप्नोति तदा ते भूयस्कारबन्धस्वामिनो भवन्ति । तृतीयगुणस्थाने बन्धस्थानद्वयस्य भावेऽपि एकजीवस्यैकबन्धस्थानस्यैव भावेन न तयोः परावृत्तिरतो न तृतीयगुणस्थानगता नाम्नो भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो भवन्ति ।

तिर्यग्मनुष्यो वा यथासम्भवं चतुर्थादिदशमान्तगुणस्थानकान्यतमगुणस्थानकस्थितोऽष्टाविंशत्येकोनत्रिंशदेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानत्रयादन्यतमबन्धस्थानं बध्नन् कालं कृत्वा दिवि समुत्पन्नस्तत्र स भवप्रथमसमयेऽष्टाविंशतिबन्धक एकोनत्रिंशतं बध्नाति, एकोनत्रिंशद्बन्धकस्तु त्रिंशतमेकप्रकृतिबन्धकस्त्वेकोनत्रिंशतं त्रिंशतं वा बध्नाति, तत्र च भवति भूयस्कारबन्धः । यः पुनराहारकद्विकस्य बन्धकः स्यात् तस्य तु दिवि समुत्पन्नस्याल्पतरबन्ध एव भवतीति त्रिंशदेकत्रिंशद्बन्धस्थानद्वयस्य वर्जनमिति ।

तथा चतुर्थादिगुणस्थानकत्रये जिननामबन्धप्रारम्भेऽपि भूयस्कारबन्धो भवति । सप्तमगुणस्थाने तु जिननाम्न आहारकद्विकस्य तदुभयस्य वा बन्धे प्रारब्धे भूयस्कारबन्धस्वामी भवति। एवं यावदपूर्वकरणस्य षष्ठभागः। उपशमश्रेणितोऽवरोहन्नेकप्रकृतिबन्धादपूर्वकरणसप्तमभागात् षष्ठभागं प्राप्तोऽष्टाविंशत्यादिचतुर्णामन्यतमं बन्धस्थानं बध्नन् भूयस्कारबन्धं करोति । एवमुक्तप्रकारैरेव

तृतीयं गुणस्थानकं विहायापूर्वकरणषष्ठभागान्तस्था नामकर्मभूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो भवन्तीति। एवमोघतो दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां भूयस्कारबन्धस्वामिनो दर्शिताः। शेषपञ्चकर्मणां तु भूयस्कारपदस्यैवाभावाद् न तत् स्वामित्वप्रदर्शनमिति ॥२२-२३॥

अथ त्रयाणामेवाल्पतरबन्धस्य स्वामित्वं निरूपयन्नाह—

अप्पयरस्स हवेज्जा बीआवरणस्स बंधगो मीसो।
सम्मो देसपमत्तअपमत्तविरई अपुव्वो य ॥२४॥
मोहस्स मीससम्मा देसपमत्तापमत्तअणियट्टी।
णामस्स मिच्छसासणसम्मपमत्ता अपुव्वा य ॥२५॥

(प्रे०) "अप्पयरस्से"त्यादि, दर्शनावरणस्याल्पतरबन्धकास्तृतीयादिसप्तमान्तगुणस्थानगता अपूर्वकरणद्वितीयभागप्रथमसमयगताश्च, तत्र मिथ्यात्वगुणस्थानकतस्तृतीयादिसप्तमान्तेष्वन्यतमगुणस्थानप्राप्तौ तत्प्रथमसमये नवविधबन्धात् षड्विधबन्धं प्राप्तस्याल्पतरबन्धो भवति। उक्तगुणस्थानकचतुष्के नान्यप्रकारेण दर्शनावरणस्याल्पतरबन्धः प्राप्यत इति। अत्र केचित् प्रथमगुणस्थानकतः षष्ठं गुणस्थानं नैव गच्छन्तीति मन्यन्ते तन्मते षष्ठगुणस्थानकगतान् विहायोपर्युक्ताः स्वामिनो बोद्धव्या इति। अन्यतरश्रेणिमारोहतोऽष्टमगुणस्थानकप्रथमांशचरमसमयं यावन्निद्राद्विकस्य बन्धं विधाय तदुत्तरसमये तदबन्धकस्याल्पतरबन्धः स्यादिति।

मोहनीयस्याल्पतरबन्धकास्तृतीयादिसप्तमान्तगुणस्थानगता नवमगुणस्थानगताश्च विज्ञेयाः, तत्र प्रथमगुणस्थानतस्तृतीयं चतुर्थं वा गुणस्थानं प्राप्ता द्वाविंशतिबन्धात् सप्तदशबन्धं गता अल्पतरबन्धं कुर्वन्ति। प्रथमाच्चतुर्थाद् वा गुणस्थानकात् ये पञ्चमगुणस्थानप्राप्ताः प्रथमसमये ते त्रयोदशबन्धं कुर्वन्तोऽल्पतरबन्धस्य स्वामिनो विज्ञेयाः। प्रथमाच्चतुर्थात्पञ्चमाद् वा गुणस्थानकात् षष्ठं सप्तमं वा गुणस्थानकं प्राप्तास्तत्प्रथमसमयेऽन्यतरगुणस्थानगतास्तेऽल्पतरबन्धस्य स्वामिनोऽवसेया इति। अन्यतरश्रेण्यारोहका नवमगुणस्थानप्रथमसमये नवविधबन्धात् पञ्चविधबन्धं प्राप्ताः, एवं क्रमेण नवमगुणस्थानके स्वाधिकबन्धात् चत्वारि त्रीणि द्वे एकं वा बध्नन्तस्तत्तद्बन्धप्रथमसमयेऽल्पतरबन्धं कुर्वन्ति। एवं मोहनीयस्य गुणस्थानकषट्के स्थिता अल्पतरबन्धस्वामिनो भवन्ति।

नामकर्मणि प्रथमद्वितीयगुणस्थानगतानां परावर्तमानभावेन नानाबन्धस्थानकानां लाभेन स्वस्थान एव ते भूयस्कारवदल्पतरबन्धस्वामिनो भवन्ति। तृतीयगुणस्थानेऽल्पतरबन्धो भूयस्कारबन्धवन्नास्ति। चतुर्थगुणस्थानके देवनैरयिकेभ्यश्च्युत्वा मनुष्येषूत्पन्नस्य तत्प्रथमसमयेऽल्पतरबन्धो भवति, तथाऽऽहारकद्विकबन्धका अप्रमत्तापूर्वकरणगुणस्थानगताः कालं कृत्वा दिवि समुत्पन्ना

देवभवप्रथमसमयेऽल्पतरबन्धका भवन्ति । पञ्चमगुणस्थानके जिननाम्नो बन्धप्रारम्भादस्ति तत्र भूयस्कारबन्धः, जिननामबन्धकानां तद्बन्धविरमाभावादल्पतरबन्धो देशविरतौ नास्ति । सप्तमगुणस्थानकत आहारकद्विकबन्धका यदा षष्ठं गुणस्थानकमायान्ति तदा तेऽल्पतरबन्धस्वामिनो भवन्ति, नान्यप्रकारेण षष्ठगुणस्थानकेऽल्पतरबन्धोऽस्ति । सप्तमगुणस्थानकेऽष्टमगुणस्थानके तत्-षष्ठभागं यावद् वर्तमानानामल्पतरबन्धो नास्ति, आहारकद्विकस्य जिननाम्नश्च बन्धविरमाभावात् । अष्टमगुणस्थानकषष्ठभागात् सप्तमभागं प्राप्तानां तत्प्रथमसमये देवगतिप्रायोग्याणां बन्धविच्छेदात् केवलाया एकस्या यशःकीर्तेर्बन्धनात् तेऽल्पतरबन्धस्वामिनो भवन्तीति । एवं प्रथमद्वितीयचतुर्थ-षष्ठाष्टमगुणस्थानपञ्चकगता नाम्नोऽल्पतरबन्धस्वामिनो भवन्ति । शेषाणां पञ्चानां कर्मणां त्वल्प-तरबन्ध एव नास्तीति न तत्स्वामित्वनिरूपणाया अवसरः ॥२४-२५॥

अथ ओघतः सप्तानामवक्तव्यबन्धस्य स्वामिनो निरूपयिषुराह—

मोहस्स अवत्तव्वं कुणाए उवसामगो पडंतो उ ।
अणियट्टिपढमसमये उअ मरिअ सुरे समुप्पराणो ॥२६॥
सेसाणं पंचराहं कुणए उवसामगो पडंतो य ।
सुहमस्स पढमसमये उअ कालं किच्च जाअसुरो ॥२७॥

(प्रे०) "मोहस्से"त्यादि, मोहनीयस्यावक्तव्यबन्धं य उपशमश्रेणितोऽवरोहन् सूक्ष्मसम्परायाद् नवमगुणस्थानकं प्राप्तः तत्प्रथमसमये मोहनीयबन्धं प्रारभते स करोति, एवं यो दशमगुणस्थानके एकादशगुणस्थानके वा कालं कृत्वा सुरेषूत्पद्यते तस्य देवभवप्रथमसमये मोहस्यावक्तव्यबन्धो भवति । तथाच नवमगुणस्थानवर्तिनश्चतुर्थगुणस्थानवर्तिनश्च मोहस्यावक्तव्यबन्धस्वामिनो भवन्ति। ज्ञानावरणदर्शनावरणनामगोत्रान्तरायाणां पञ्चानामुपशमश्रेणितोऽवरोहे दशमगुणस्थानकप्रथमसमयस्थस्य तथोपशान्तमोहे कालं कृत्वा दिवि समुत्पन्नस्य देवभवप्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धो भवति, सोऽवक्तव्यबन्धस्य स्वामी भवतीति भावः । वेदनीयस्यावक्तव्यबन्ध एव नास्तीति न तत्स्वामित्वभणनमिति । तदेवमोघतः सप्तानां भूयस्कारादिबन्धपदानां स्वामित्वं दर्शितम् ॥२६-२७॥

अथ आदेशतो मार्गणासु तन्निरूपयिषुर्यासु स्व-स्वसर्वपदानामोघवत् स्वामित्वं भवति तासु तदतिदेशेन दर्शयन्नाह—

सेसमपयाण सत्तराहोघव्वऽत्थि दुपणिंदियतसेसु ।
कायणायजोयरसुइलभविसरणीसु तह आहारे ॥२८॥

णवरं मिच्छादिट्ठी सासाणो णत्थि सुक्कलेसाए ।
अप्पयरस्स पयस्स उ सामी णामस्स कम्मस्स ॥२९॥

(प्रे०) "सेसे"त्यादि, सप्तकर्मसत्कस्यावस्थितपदस्य स्वामिनः सर्वमार्गणास्वप्यतिदेशेनोक्तत्वात् सप्तकर्मणा भूयस्काराल्पतरावक्तव्यपदेभ्यः पञ्चेन्द्रियौघादिषु मार्गणासु येषां कर्मणां यावन्ति पदानि सद्भवन्ति तासु मार्गणासु तेषां कर्मणां तत्तत्पदानां स्वामिन ओघवद् भवन्ति । पञ्चेन्द्रियौघाद्येकादशमार्गणाः पुनरिमाः—पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-काययोगौघ-चक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शन--शुक्ललेश्या-भव्य-संज्ञ्याहारकमार्गणाः, अत्र शुक्ललेश्यां विहाय दशमार्गणासु सप्तानां भूयस्काराल्पतरावक्तव्यपदानां स्वामित्वं सर्वमविशेषेणौघवद् भवति । शुक्ललेश्यायामप्योघवदेव, केवलं नामकर्मणोऽल्पतरस्य मिथ्यादृष्टिसास्वादनिनः स्वामिनो न भवन्ति, यतः शुक्लायां तिर्यग्मनुष्याणामाद्यगुणस्थानकद्वये पर्याप्तावस्थायामेवाऽष्टाविंशतेर्बन्धस्थानम्, देवानां त्वेकोनत्रिंशत्, अतस्तिर्यग्मनुष्येभ्यो देवेषूत्पद्यमानानामाद्यगुणस्थानद्वयगतानां भूयस्कारबन्धो भवति, नत्वेवमन्यथा वा अल्पतरबन्धोऽपि ॥२८ २९॥

अथ नरकगत्योघादिमार्गणासु स्वामित्व प्राह—

भूगारं सव्वणिरयसुरगेविज्जंतदेवविउवेसुं ।
दुइअतुरिआणा सासणमिच्छोऽणा मीसगो सम्मो ॥३०॥
वज्जाणताइगेसुं दुपया णामस्स मिच्छसासाणो ।
णिरयपढमाइतिणिरयविउव्वेसुं सम्मगो वि भूगारं ॥३१॥(गीतिः)

(प्रे०) "भूगार"मित्यादि, नरकौघः, सप्त तदुत्तरभेदाः, देवौघः, भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मादिद्वादशकल्पनवग्रैवेयकाणि वैक्रियकाययोगं चेति चतुस्त्रिंशन्मार्गणाः, एतासु दर्शनावरणस्य मोहनीयस्य च भूयस्कारबन्धस्वामिनो मिथ्यादृष्टयः सास्वादनिनश्च भवन्ति, न पुनस्तृतीयचतुर्थगुणस्थानस्थाः, यत एतासु देशविरत्यादीनि गुणस्थानकानि न भवन्ति, अतो दर्शनावरणस्य द्वे बन्धस्थाने-षड् नव चेति, तत्र तृतीयचतुर्थगुणस्थानकद्वये षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानकस्यैव लाभान्न भूयस्कारस्यावकाशः । एवं मोहनीयस्य प्रस्तुतमार्गणासु बन्धस्थानत्रयस्य सम्भवेऽपि तेषु जघन्यस्य सप्तदशप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य तृतीयचतुर्थगुणस्थानकद्वये बन्धसम्भवेन तत्रस्था भूयस्कारबन्धस्वामिनो न भवन्ति । उक्तमार्गणासु दर्शनावरणमोहनीययोरल्पतरबन्धस्य स्वामिनो मिश्रदृष्टयः सम्यग्दृष्टयश्च भवन्ति, प्रथमगुणस्थानतो द्वितीयगुणस्थाने

गमनाभावान्न प्रथमद्वितीयगुणस्थानेऽल्पतरबन्धः सम्भवति, ओघेऽप्युक्तकर्मद्वयस्याऽल्पतरबन्धे तृतीयादिगुणस्थानगता एव स्वामिन इति ।

नामकर्मण आनतादिदेवमार्गणात्रयोदशके बन्धस्थानद्वयस्य भावेऽपि येषां भवप्रथम-समयाद् यद्बन्धस्थानं प्रवर्तते तदेव भवचरमसमयं यावन्नियमतः स्यात्, तत्र मनुष्येषु निकाचितजिननामवतां देवेषूत्पन्नानां सम्यग्दृष्टीनां त्रिंशद्बन्धस्थानम्, शेषाणामेकोनत्रिंशत् । अतस्तेष्वानतादित्रयोदशमार्गणासु भूयस्काराल्पतरबन्धयोः सत्पदत्वमेव प्राग् निषिद्धम्, अतस्ता विहाय शेषास्वेकविंशतौ नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोः स्वामिनो मिथ्यादृष्टयः सास्वादनसम्यग्दृष्टयश्च भवन्ति, तत्र परावर्तमानभावेन द्व्यादिबन्धस्थानानां भावात् । तथा नरकौघाद्यनरकत्रयवैक्रियकाययोगेषु प्राग्बद्धनरकायुषो निकाचितजिननाम मनुष्यः स्वभव-प्रान्ते मिथ्यात्वं प्राप्य नरके उत्पद्य पर्याप्तो भूत्वाऽन्तर्मुहूर्तेन विशुद्ध्या यः सम्य-क्त्वमासादयति तस्य मिथ्यात्वचरमसमयं यावन्मनुष्यप्रायोग्यैकोनत्रिंशद्बन्धस्थानं प्रवर्तते, तदनु सम्यक्त्वलाभक्षणाद् भवचरमसमयपर्यन्तं मनुष्यप्रायोग्यं त्रिंशद्बन्धस्थानं भवति, अत उक्त-मार्गणापञ्चके उक्तस्वरूपवन्तो जीवाः सम्यक्त्वप्राप्तिप्रथमक्षणे भूयस्कारबन्धस्वामिनो भवन्ति । शेषमार्गणासु तु बद्धजिननाम्न उत्पादाभावात्, सम्यक्त्वेन सहैवोत्पादाद् वा नोक्तरूपेण तत्र सम्यग्दृष्टयो भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो भवन्तीति । अवक्तव्यबन्धस्तु सप्तकर्मणामेतासु न भवति, अतो न तत्स्वामित्वचिन्तनमिति ॥३०-३१॥

अथ तिर्यगोघादिमार्गणासु तद्दर्शयति—

बीअस्स भूअगारं कुणेइ तिरियतिपणिदितिरियेसुं ।
मिच्छत्ती सासाणो अप्पयरं तिरिणि मीसाई ॥३२॥
मोहस्स भूअगारं चउमिच्छाई कुणेइ अप्पयरं ।
तिरिणि कुणइ मीसाई दुपया णामस्स मिच्छसासाणो ॥३३॥(गीतिः)

(प्रे०) "बीअस्से"त्यादि, तिर्यगोघे पञ्चेन्द्रियतिर्यगौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्तिरश्री-मार्गणात्रये च दर्शनावरणस्य भूयस्कारबन्धस्वामिनः प्रथमद्वितीयगुणस्थानगता भवन्ति, भावना त्वनन्तरोक्तनरकमार्गणावत्कार्या । दर्शनावरणस्याल्पतरबन्धस्य स्वामिनस्तृतीयचतुर्थपञ्चमगुण-स्थानस्था भवन्ति, भावना तु नरकमार्गणावदेव; केवलमेतासु पञ्चमगुणस्थानकस्यापि भावेन तेऽपि प्रस्तुतेऽल्पतरबन्धस्य स्वामिनो भवन्ति । आद्यगुणस्थानचतुष्के वर्तमाना मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धस्वामिनो भवन्ति । पञ्चमगुणस्थानगतानां त्रयोदशबन्धस्थानस्यैव भावेन ततो न्यूनस्य बन्धस्थानस्याभावेन न पञ्चमगुणस्थानस्थास्तत्स्वामिन इति । भावना त्वोघानु-

सारेण कार्या, केवलं चतुर्थगुणस्थानगता मोहस्य भूयस्कारबन्धस्वामिनः पञ्चमगुणस्थानत आगता एव भवन्ति, न पुनरन्यप्रकारेणेति । मोहनीयस्याल्पतरबन्धस्य स्वामिनस्तृतीयादिगुणस्थानत्रयवर्तिनो भवन्ति, भावना त्वोघवत्कार्येति । नामकर्मणो भूयस्कारालपतरौ प्रथमद्वितीयगुणस्थानद्वयगता जीवा एव कुर्वन्ति, प्रस्तुतनाम्नोऽनेकबन्धस्थानानामाद्यगुणस्थानद्वय एव भावात् , तृतीयादिगुणस्थानत्रय एकस्यैवाष्टाविंशतेर्बन्धस्थानस्य भावेन न तृतीयादिगुणस्थानत्रयगतानां भूयस्कारालपतरबन्धौ भवत इति ॥३२ ३३॥

अथ मनुष्यादिमार्गणासु भूयस्कारालपतरावक्तव्यबन्धानां स्वामित्वं निरूपयन्नाह--

ओघव्वऽणपयाणं तिण्ह तिमणुयपणमणवउरलेसुं ।
णवरं छण्ह वि सामी णत्थि अवत्तव्वगस्स सुरो ॥३४॥
णो चेव भूअगारं बीआवरणस्स कुणइ सम्मत्ती ।
सम्मादिट्ठी कुणए ण चेव णामस्स अप्पयरं ॥३५॥

(प्रे०) "ओघव्व" इत्यादि, मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणात्रये मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्कमार्गणासु औदारिकयोगे च सप्तकर्मणां भूयस्काराल्पतरावक्तव्यबन्धानां स्वामिन ओघवद् भवन्ति, केवलं तत्र वेदनीयं विहाय शेषाणां षण्णामवक्तव्यबन्धस्य स्वामित्वं श्रेणौ कालं कृत्वा देवेषूत्पन्नस्य भवप्रथमसमये वर्तमानस्यापि दर्शितम् , तदत्र न वक्तव्यम् , भवप्रथमसमयस्थदेवानां प्रस्तुतमार्गणास्वप्रवेशादिति प्रथमोऽपवादः, तथा दर्शनावरणस्य भूयस्कारस्वामिन ओघे चतुर्थगुणस्थानकगता अपि भवन्ति, तेऽत्र न सन्ति यतस्ते श्रेणौ कालं कृत्वा देवतयोत्पद्यमाना भवप्रथमसमयस्था एव भवन्ति, ते च प्रस्तुते न सन्तीति चतुर्थगुणस्थानकस्था दर्शनावरणस्य भूयस्कारबन्धस्वामिनो न भवन्तीति द्वितीयोऽपवादः । तथा चतुर्थगुणस्थानके नाम्नोऽल्पतरबन्धस्तु देवेभ्यश्च्युत्वा मनुष्येषूत्पन्नस्य भवप्रथमसमये भवति । अत्राऽल्पतरबन्धस्य देवभवचरमसमयमनुष्यभवप्रथमसमयोभयसापेक्षत्वम् , प्रस्तुतमार्गणासूक्तरूपेणोभयसापेक्षत्वं नास्ति, अतः प्रस्तुतमार्गणासु चतुर्थगुणस्थानके नाम्नोऽल्पतरबन्धो नास्तीति तृतीयोऽपवादः । उक्तापवादत्रयं विहाय शेषं सर्वं स्वामित्वमोघवद्भवतीति ।

अत्र प्रथमगाथागतेन "अणपयाण" मित्यनेन भूयस्काराऽल्पतराऽवक्तव्यपदानां ग्रहणं कार्यम् । तथा "तिण्ह" मित्यनेन दर्शनावरणमोहनीयनाम्नामुपादानम् ।

अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तमनुष्य-सप्तैकेन्द्रिय-नवविकलाक्षा-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-पञ्चस्थावरकायसत्कैकोनचत्वारिंशद्भेदापर्याप्तत्रसकायमार्गणासु नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धौ शेषपद-

कर्मणामवस्थितबन्धस्य स्वामिनो मार्गणावर्त्यन्यतमजीवा भवन्तीति न तेषां विशेषस्वामित्व-निरूपणम् । एतच्च शेषास्वित्यादिनाऽग्रे वक्ष्यते । पञ्चानुत्तरसुरमार्गणासु सप्तकर्मणां केवलमव-स्थितबन्ध एव भवति, तस्य स्वामिनो मार्गणावर्त्तिनः सर्वे जीवा भवन्ति । इन्द्रियमार्गणासत्क-पञ्चेन्द्रियभेदद्वये कायमार्गणासत्कत्रसकायभेदद्वये च प्रागेवौघवत् स्वामित्वं दर्शितम् , शेषेन्द्रिय-कायमार्गणाभेदेषु तु शेषास्वित्यादिना वक्ष्यति । गतं गतीन्द्रियकायमार्गणासु स्वामित्वम् ॥३४ ३५॥

योगमार्गणासत्कमनोयोगवचोयोगसत्कसर्वभेदेभ्यः काययोगौघ औदारिककाययोगे वैक्रिये च स्वामित्वस्य निरूपितत्वेन शेषयोगमार्गणाभेदेषु तं निरूपयन्नाह—

मोहस्स कुणाइ मीसदुजोगेसुं कम्मणे अणाहारे ।
भूगारं मिच्छत्ती णामस्स दुवे वि मिच्छसासाणो ॥३६॥ (गीतिः)

(प्रे०) "मोहस्से"त्यादि, औदारिकमिश्र-वैक्रियमिश्रयोगद्वये कार्मणकाययोगे अना-हारकमार्गणायां चेति मार्गणाचतुष्के मोहनीयभूयस्कारस्य, नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोश्च सद्भावः, न पुनः सप्तकर्मसत्कशेषपदानामवस्थितव्यतिरिक्तानां सद्भावः । अत्र दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धौ न स्तः । मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो मिथ्यादृष्टय एव, प्रस्तुतमार्गणासु सास्वादनत एव मिथ्यात्वगुणस्थानस्य लाभात् , प्रथमचतुर्थ-गुणस्थानकतो गुणस्थानान्तरगमनाभावाच्च न शेषा भूयस्कारबन्धस्वामिनः, अल्प-तरबन्धस्त्वत्र न सम्भवत्येवेति । नाम्नः पुनराद्यगुणद्वयवर्तिनो भूयस्काराल्पतरबन्धस्वामिनो भवन्ति, तत्रैकजीवापेक्षया नानाबन्धस्थानसम्भवेन परावृत्त्या तद्बन्धभावात् । चतुर्थ-गुणस्थाने नाम्नो बन्धस्थानद्वयस्य त्रयस्य वा भावेऽप्येकजीवस्यैकैकबन्धस्थानस्यैव भावेन न ते भूयस्काराल्पतरबन्धस्वामिनो भवन्ति । एतास्ववक्तव्यबन्धस्तु समानामपि कर्मणां नास्ति, अवस्थितबन्धस्य स्वामित्वं प्रागेव सर्वमार्गणासु दर्शितमिति । आहारक-तन्मिश्रयोगद्वये आयुर्नामवर्जषण्णां केवलमवस्थितबन्ध एव भवति, तेषां च स्वामिनः प्राग्दर्शिताः, नाम्न्यव-स्थितबन्धस्य स्वामिनः प्राग्वत् , भूयस्कारबन्धस्य स्वामी मार्गणावर्त्यन्यतमो जीवो भवति, एतयोः केवलं षष्ठगुणस्थानस्य सम्भवेन जिननाम्नो बन्धारम्भका भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो भवन्ति । अत्राल्पतरबन्धस्तु नास्ति, सप्तमगुणस्थानस्याभावाद् । येषां मते सप्तमगुणस्थानकं विद्यते तन्मतेऽपि सप्तमगुणस्थानतः षष्ठगुणस्थानकं प्राप्तस्याऽऽहारककाययोगमार्गणा स्यान्न वेति स्वयं ज्ञेयम् , अतस्तन्मतेऽप्यल्पतरबन्धसद्भावोऽपि तथैव बहुश्रुताद्विज्ञेयमिति । गतं योगमार्गणाभेदेषु स्वामित्वम् ॥३६॥

अथ वेदमार्गणासु कषायमार्गणासु च निरूपयन्नाह—

तिरह ससेसपयाणं ओघव्व तिवेअचउकसायेसु ।
परमनियट्टी णो भूगारं मोहस्स वेअतिगे ॥३७॥
बीअस्स णपुमथीसुं भूगारस्स णपुमेऽप्पयरगस्स ।
णामस्स ण सम्मो तह थीरादि पडुच्च बाहुल्लं ॥३८॥

(प्रे०) "तिण्हे"त्यादि, स्त्रीपुरुषनपुंसकवेदमार्गणात्रये क्रोधादिकषायमार्गणाचतुष्के च दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां त्रयाणां 'ससेसपयाणं' ति, भूयस्काराल्पतररूपशेषपदयोर्बन्धस्वामिन ओघवदेव भवन्ति । अवस्थितबन्धस्य प्राग्दर्शितत्वादवक्तव्यपदस्य च लोभमार्गणां विहायाभावात्, लोभेऽपि केवलं मोहनीयस्यैवावक्तव्यबन्धस्तस्य स्वामित्वं त्वोघवदेवेति । भूयस्काराल्पतरबन्धस्वामिनस्त्वोघवदेव भवन्ति । अत्रायमपवादः—स्त्रीवेदनपुंसकवेदमार्गणयोर्दर्शनावरणस्य भूयस्कारबन्धस्वामिनश्चतुर्थगुणस्थानगता नैव भवन्ति, श्रेणितः कालगतानामेव तत्स्वामित्वेन तेषां च श्रेणौ कालगतानां देवेषु पुरुषतयैवोत्पादादपवादः । तथा नाम्नोऽल्पतरबन्धस्य स्वामिनोऽविरतसम्यग्दृष्टयो न सन्ति, यतः सम्यग्दृष्टीनां देवेषु तिर्यक्षु च पुरुषवेदितयैवोत्पादात्, मनुष्येषु तु बाहुल्यतया पुरुषवेदिषु, क्वचिदाश्चर्यरूपेण स्त्रीवेदितया समुत्पादेऽपि, नपुंसकवेदित्वेन तु कर्हिचिदप्यनुत्पादादपवादः, स्त्रीवेदे क्वचिद् मानुषीतया मल्लीकुमारीवदुत्पादस्य भावेन तदपेक्षया नाम्नोऽल्पतरबन्धस्य स्वामी चतुर्थगुणस्थानस्थोऽपि भवतीत्यवधेयमिति । किञ्च वेदमार्गणात्रये पञ्चप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानतो न्यूनबन्धस्थानस्याभावाद् नवमगुणस्थाने च तस्यैव ज्येष्ठत्वाद् नवमगुणस्थानकगता मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो न भवन्तीति । शेषं सर्वं त्वोघवदेवेति तदोघत एवावधार्यमिति ॥३७-३८॥

अथ अपगतवेदमार्गणायां प्राह—

अत्थि णरव्व अवेए छराह अवत्तव्वगस्स मोहस्स ।
भूगारं अप्पयरं दोवि पया कुणइ अणियट्टी ॥३९॥

(प्रे०) "अत्थि"इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायां वेदनीयायुर्वर्जानां षण्णामवक्तव्यबन्धस्य स्वामिनो मनुष्यमार्गणावद् भवन्ति, देवानां प्रस्तुते प्रवेशाभावाद् नौघवत्तन्निर्देश इति भावः । अवस्थितबन्ध मोहनीयस्य नवमगुणस्थानकस्था ज्ञानावरणादिपञ्चानां नवमदशमगुणस्थानकस्था वेदनीयस्य तु नवमादिसयोगिकेवलिपर्यवसानाः कुर्वन्तीति । दर्शनावरणनाम्नोरत्र भूयस्कारा-

ल्पतरबन्धौ न स्तः, मोहनीयस्य ते द्वे अपि पदे स्तः, तयोः स्वामिनो नवमगुणस्थानगता भवन्ति ॥३९॥

अथ मतिज्ञानादिमार्गणासु स्वामित्वं निरूपयन्नाह—

बीअस्स भूअगारं तिणाणाऽवहिसम्मखइउवसमेसुं ।
सम्मअपुव्वो कुणए अपुव्वकरणो च्च अप्पयरं ॥४०॥
मोहस्स भूअगारं सम्मो देसो अपुव्वअणियट्टी ।
अप्पयरं देसविरइपमत्तअपमत्तअणियट्टी ॥४१॥
णामस्स भूअगारं सम्माईओ अपुव्वकरणंता ।
सम्मपमत्तअपुव्वाऽप्पयरं ओघव्व छराहऽवत्तव्वं ॥४२॥ (गीतिः)

(प्रे०) "बीअस्से"त्यादि, मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानावधिदर्शनसम्यक्त्वौघक्षायिकसम्यक्त्वोपशमसम्यक्त्वरूपासु सप्तमार्गणासु वेदनीयस्यावक्तव्यबन्धाभावादायुष्कस्य प्राग्दर्शितत्वाच्च तद्वर्जषण्णामवक्तव्यबन्धस्वामिन ओघवद्भवन्ति, भावनाऽप्योघवदेव कार्येति । दर्शनावरणस्य भूयस्कारबन्धस्वामिनश्चतुर्थाष्टमगुणस्थानद्वयगता भवन्तिः भावना ओघवदेव, केवलं प्रथमद्वितीयगुणस्थानगताः स्वामिनो न भवन्तीत्योघतो विशेषः । अल्पतरबन्धस्य स्वामिनोऽष्टमगुणस्थानद्वितीयभागगता भवन्ति, भावनाऽप्योघवत् कार्या । चतुर्थादिसप्तमान्तगुणस्थानगतास्त्वत्राल्पतरबन्धस्य स्वामिनो न भवन्तीत्योघतो विशेषः । मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धस्वामिनोऽधश्चतुर्थगुणस्थानं यावदोघवद् वक्तव्याः तद्यथा-चतुर्थ-पञ्चम-नवमगुणस्थानकगता भूयस्कारबन्धस्वामिनो ज्ञेया । भावनाऽप्योघवदेव कार्येति । अल्पतरबन्धस्वामिनो देशविरतादिनवमगुणस्थानकान्ता चत्वार ओघवद् विज्ञेयाः, तद्यथा—पञ्चम षष्ठ सप्तम-नवमगुणस्थानकगता अल्पतरबन्धस्वामिनो भवन्ति, भावना त्वोघवद् भाव्या । नाम्नो भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनश्चतुर्थाद्यष्टमान्तगुणस्थानगताः, अल्पतरबन्धस्य चतुर्थषष्ठाष्टमगुणस्थानगताः स्वामिनो भवन्ति, अत्रापि भावना ओघवदेव कार्या, केवलमत्राद्यगुणस्थानद्वयाभावाद् न ते स्वामिनो वाच्याः । तथा चतुर्थगुणस्थानगता मनुष्या अल्पतरबन्धस्य स्वामिन उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां नैव भवन्ति चतुर्थगुणस्थानेऽल्पतरबन्धो मनुष्याणां भवप्रथमसमय एव देवनैरयिकेभ्य आगतानां भवति, न चोपशमसम्यक्त्वस्य देवान् विहायापर्याप्तावस्थायामन्यत्र सद्भाव इति तन्निषेधः ॥४०-४२॥

अथ मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणासु स्वामित्वं प्राह—

मणणाणसंजमेसुं छण्ह अवत्तव्वगस्स मणुयव्व ।
कुणए अपुव्वकरणो बीयावरणस्स दो वि पया ॥४३॥
मोहस्स अपुव्वो तह अणियट्टी भूअगारमणियट्टी ।
अप्पयरं भूगारं णामस्स अपुव्वकरणंता ॥४४॥
अप्पयरं उ पमत्तो अपुव्वकरणो य एवमेव भवे ।
सामाइअछेएसुं तिण्हं कम्माण दुपयाणं ॥४५॥

(प्रे०) "मणणाणे"त्यादि, मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां संयमौघे च वेदनीयायुर्वर्जानां षण्णां कर्मणामवक्तव्यबन्धस्य स्वामिनो मनुष्यमार्गणावद् भवन्ति, तद्यथा-उपशमश्रेणितोऽवरोहन् ज्ञानावरणादिपञ्चानां सूक्ष्मसंपरायप्रथमसमये मोहनीयस्य नवमगुणस्थानकप्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धं करोति, भावना त्वोघवत् कार्या । दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धस्वामिनोऽपूर्वकरणस्था भवन्ति,कालकरणेन प्रस्तुतमार्गणयोर्विच्छेदात् श्रेण्यारोहावरोहापेक्षया एतत्स्वामित्वं भावनीयम् । मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनः श्रेणितोऽवरोहन्तो नवमगुणस्थानगतास्तथा नवमगुणतोऽष्टमगुणं प्राप्तास्तत्प्रथमसमयस्था एवावसातव्याः । अल्पतरबन्धस्य स्वामिनस्त्वनिवृत्तिकरणगुणस्थानगता एव भवन्ति, षष्ठादिगुणस्थानत्रय एकस्यैव बन्धस्थानस्य भावेनाल्पतरबन्धासम्भवात् । नाम्नो भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनः षष्ठे सप्तमेऽष्टमगुणस्थानके तु षष्ठभागं यावच्च वर्तमाना भवन्ति । अल्पतरबन्धस्य स्वामिनस्तु सप्तमगुणत आगताः षष्ठगुणस्थानकप्रथमसमयस्थाः, तथाऽपूर्वकरणे श्रेण्यारोहकास्तत्सप्तमभागप्रथमसमयस्था भवन्ति । भावना त्वेतत्सम्बन्धिन्योघवत् कार्येति । सामायिकच्छेदोपस्थापनीयसंयमद्वये षष्ठादिनवमान्तगुणस्थानचतुष्कस्यैव भावेनाऽत्र षण्णां कर्मणामवक्तव्यबन्धो नास्ति, शेषप्ररूपणा तु मनःपर्यवज्ञानमार्गणावद् विज्ञेयेति । अत्र 'तिण्ह' त्ति दर्शनावरणमोहनीयनाम्नामिति । 'दुपयाण' मिति भूयस्काराल्पतरबन्धयोरिति ॥४३-४५॥

अथ अज्ञानत्रिके प्राह—

तीसुं अणाणेसुं मिच्छो मोहस्स णइ भूगारं ।
णामस्स भूअगारं अप्पयरं कुणइ अणायरो ॥४६॥

(प्रे०) "तीसु"मित्यादि, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञानमार्गणात्रये आद्यगुणस्थानकद्वयं भवति, तृतीयगुणस्थानके ज्ञानाज्ञानयोर्मिश्रत्वाद् न ज्ञानमार्गणास्वज्ञानमार्गणासु वा

तद्विवक्षा, इत्यतो नात्र दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धयोः सम्भवः । मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनस्तु द्वितीयगुणस्थानकतः प्रथमगुणस्थानकं प्राप्तास्तत्प्रथमसमये वर्तमाना विज्ञेया इति । मोहस्याल्पतरबन्धस्य सत्पदत्वमेव प्रस्तुते नास्ति, अतो न तत्स्वामित्वस्य चिन्तनमिति । प्रथमद्वितीयगुणस्थानगतानां नाम्नो नानाबन्धस्थानकानां भावेन ते तस्य भूयस्काराल्पतरबन्धयोः परावर्तमानभावेन स्वामिनो भवन्तीति ॥४६॥

अथ संयममार्गणाभेदेषु निजिगदिषुः संयमौघसामायिकच्छेदोपस्थापनीयेषूक्तत्वात् परिहारविशुद्धौ प्राह—

परिहारविसुद्धीए भूओगारस्स णामकम्मस्स ।
अणयरो विणोयो अप्पयरस्स य पमत्तजई ॥४७॥

(प्रे०) "परिहारे"त्यादि, परिहारविशुद्धिमार्गणाया दर्शनावरणमोहनीययोरेकैकस्यैव बन्धस्थानस्य भावेन भूयस्काराल्पतरबन्धाभावान्न तयोः स्वामित्वस्य निरूपणम् । अतो नाम्न एव भूयस्काराल्पतरस्वामित्वस्यैव निरूपणं युक्तमिति तदेवाऽऽह "भूओ" इत्यादिना नामकर्मणो भूयस्कारस्य स्वामिनः षष्ठ-सप्तमगुणस्थानद्वयवर्तिनो भवन्ति, प्रस्तुत उक्तगुणस्थानद्वयस्यैव भावात् । अल्पतरबन्धं तु सप्तमगुणस्थानतः षष्ठगुणस्थानकं प्राप्तः तत्प्रथमसमय एव करोति, भावना त्वोघवत्कार्येति । सूक्ष्मसंपरायमार्गणायां ज्ञानावरणादीनां षण्णामवस्थितबन्धः केवलो भवति, अतस्तदतिरिक्तपदानां स्वामित्वनिरूपणे नावकाशः । देशविरतिमार्गणायां तु "ऽण्णासु अत्थि ससपयाण अण्णयरो" इत्यनेन नाम्नो भूयस्कारबन्धस्य स्वामी मार्गणाचतुर्ष्वन्यतमो जीवो भवतीति प्रान्ते दर्शयिष्यते, जिननामबन्धारम्भको देशविरतिमनुष्यो नाम्नो भूयस्कारबन्धस्य स्वामी भवतीति भावः ॥४७॥

अतः क्रमप्राप्तासंयमादिषु सप्तकर्मसत्कावस्थितवर्जशेषपदत्रयसत्कसम्भवत्पदानां स्वामित्वं चिन्तयन्नाह—

अजयअसुहलेसासुं बीअचउत्थाण मिच्छसासाणो ।
भूओगारं कुणए अप्पयरं मीससमत्तो ॥४८॥
णामस्स दोण्णि वि पया कुणए मिच्छो य सासणो सम्मो ।
णवरं कुणइ ण सम्मो भूगारं किण्हणीलासुं ॥४९॥

(प्रे०) 'अजये'त्यादि, असंयममार्गणायां कृष्णनीलकापोतलेश्यासु चेति मार्गणाचतुष्के दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां भूयस्काराल्पतरबन्धौ भवतः । अवक्तव्यबन्धस्त्वेकस्याप्यायुर्वर्जमूल-

कर्मणो नास्ति, अतः कर्मत्रयसत्कपदद्वयस्यैव स्वामित्वं दर्शनीयम्। अत्र मार्गणाचतुष्क आद्यानि चत्वार्येव गुणस्थानकानि भवन्तीत्यवधार्यम् । तत्र दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो मिथ्यादृष्टयः सास्वादनिनश्च भवन्ति, तृतीयचतुर्थगुणस्थानतो यथासम्भव प्रथमे द्वितीये वा गुणस्थानक आगतास्तत्प्रथमसमये भूयस्कारबन्धस्य स्वामितया प्राप्यन्ते, मोहनीयस्य तु द्वितीयगुणस्थानकतः प्रथमगुणस्थानकं प्राप्ता अपि तत्प्रथमसमये भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो भवन्ति। दर्शनावरणमोहनीययोरल्पतरबन्धं तु प्रथमगुणस्थानात् तृतीयं चतुर्थं वा गुणस्थानकं प्राप्तास्तत्प्रथमसमये निर्वर्तयन्ति ।

नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धौ प्रथमद्वितीयचतुर्थगुणस्थानगताः कुर्वन्ति, तत्र प्रथमे द्वितीये वा गुणस्थानकेऽनेकबन्धस्थानानां भावेन परावर्तमानबन्धेन तौ कुर्वन्ति । चतुर्थगुणस्थाने तु परावर्तमानबन्धो नास्ति, अतस्तत्र भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्विशेषभावना कार्या, तद्यथा—प्रस्तुत-मार्गणाचतुष्के देवनैरयिकेभ्यः सम्यग्दृष्टयो यदा ससम्यक्त्वं मनुष्येषूत्पद्यन्ते तदा मनुष्यभव-प्रथमसमयेऽल्पतरबन्धो भवति, एकोनत्रिंशद्बन्धतोऽष्टाविंशतिबन्धस्थानस्य लाभात्, असंयमे देव-नारकेभ्यः कापोतलेश्यायां च नारकेभ्य आगतापेक्षया जिननामबन्धकानां त्रिंशद्बन्ध-स्थानत एकोनत्रिंशद्बन्धस्थाने गमनाच्च ।

कार्मग्रन्थिकमतेन तिर्यग्मनुष्या देवेषु सम्यक्त्वेन सह वैमानिकेष्वेवोत्पद्यन्ते, तत्र चाशुभ-लेश्याभावाद् मनुष्यतिर्यग्भ्यो देवेषूत्पन्नसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया नाम्नो भूयस्कारबन्धो न प्राप्यते किन्तु क्षायिकसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया कृतकरणक्षयोपशमसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया च मनुष्येभ्य आद्यनरकत्रय उत्पद्यमानानामष्टाविंशतिबन्धादेकोनत्रिंशद्बन्धं प्राप्तानां यद्वा जिननामसहितमेकोनत्रिंशद्बन्ध-कात् त्रिंशद्बन्धं प्राप्ताना भूयस्कारबन्धो भवति, ते भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो भवन्ति, किञ्चा-द्यनरकत्रये ये प्राग्मनुष्यभवे जिननाम बद्ध्वा क्षयोपशमसम्यक्त्वतः प्राग्बद्धनरकायुर्वशतो मिथ्यात्वं प्राप्य आद्यनरकत्रय उत्पन्नास्तत्र च पर्याप्ति समाप्यान्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमवश्यमेव ते सम्यक्त्वमवाप्नुवन्ति तदा तत्प्रथमसमयेऽपि भूयस्कारबन्धं कुर्वन्ति, एतादृशा नारकाः कापोत-लेश्यावन्त एव भवन्ति, न पुनः नीललेश्यावन्तः कृष्णलेश्यावन्तश्चेति कृष्णनीललेश्ययोः कार्मग्रन्थिकाभिप्रायेण सम्यग्दृष्टयो भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो नैव भवन्ति ।

सिद्धान्ताभिप्रायेण तु सम्यक्त्वेन सह भवनपत्यादिषूत्पादादशुभलेश्यात्रयेऽपि सम्यग्दृ-ष्टयो भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो भवन्ति । असंयमे कापोतलेश्यायां चोभयमतेऽपि भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो भवन्ति, अतो मूलकृता नीलकृष्णयोरपवाद उक्त इति ।

अथ तेजःपद्मलेश्याद्वये प्रस्तुतस्वामित्वं दर्शयन्नाह—

सासायणादेसंता कमसो बीअतुरिआया तेउदुगे ।
भूगारं मीसाई कुणए दोराहं वि अप्पयरं ॥५०॥
णामस्स भूयगारं अरणयरो कुणइ मीसवज्जो उ ।
अप्पयरं मिच्छत्ती सासणसम्मो पमत्तजई ॥५१॥

(प्रे०) "सासायणे"त्यादि, तेजोलेश्यापद्मलेश्ययोरवस्थितबन्धस्य स्वामिनो निरूपितत्वादवक्तव्यबन्धस्य चायुष्कवर्जनामत्राभावाद् दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां भूयस्कारात्पतरबन्धयोः स्वामिनो वक्तव्याः । प्रस्तुतमार्गणाद्वयं सप्तमगुणस्थानं यावदेव भवति, एतदवधार्य स्वामित्वं वाच्यम् । तद्यथा—दर्शनावरणे भूयस्कारं सास्वादनान्तगुणस्थानद्वयगताः कुर्वन्ति, नेतरे, अल्पतरबन्धं तु तृतीयादिसप्तमान्तगुणस्थानस्थाः कुर्वन्ति, भावना तु सुगमा, ओघानुसारतो नवप्रकृतिरूपं षट्प्रकृत्यात्मकं चेति बन्धस्थानद्वयमवधार्य कार्येति ।

मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धं देशविरतगुणस्थानान्ता आद्यपञ्चगुणस्थानस्थिताः कुर्वन्ति, एतयोर्जघन्यबन्धस्थानं नवप्रकृत्यात्मकमतस्त्रयोदशादिबन्धस्थानेषु मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धो भवति, तानि त्रयोदशान्तानि बन्धस्थानानि देशविरतान्तेष्वेव भवन्ति, अतो देशविरतान्ता एव भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो भवन्ति । भावना त्वोघानुसारेण यथासम्भवं कार्येति । अल्पतरबन्धस्य स्वामिनस्तृतीयादिसप्तमान्तगुणस्थानगता ओघवद्विज्ञेया इति ।

नाम्नो भूयस्कारबन्धं तृतीयगुणस्थानगतान् विहाय प्रथमादिसप्तमान्तषड्गुणस्थानगताः कुर्वन्ति, भावना त्वोघवदेव कार्या, केवलमेकस्य बन्धस्थानात् श्रेणौ कालं कृत्वा देवेषूत्पन्ना एकोनत्रिंशतं त्रिंशतं वा बध्नन्तोऽत्र भूयस्कारबन्धस्य स्वामित्वेन न भवन्तीति हृदयम् । अल्पतरबन्धस्य स्वामिनः प्रथमद्वितीयचतुर्थषष्ठगुणस्थानगता एव भवन्ति, न पुनः तृतीयपञ्चमसप्तमगुणस्थानगताः, भावना तु मार्गणाप्रायोग्यगुणस्थानकान्यवलम्ब्यौघवत् कार्येति । शुक्ललेश्यायां भव्यमार्गणायां च मनुष्यौघादिना सह प्रस्तुतस्वामित्वं सातिदेशं सापवादं च दर्शितम् । अभव्यमार्गणायां "अण्णाणु" मित्यादिना शेषमार्गणाभिस्समं प्रस्तुतस्वामित्वं प्रान्ते दर्शयिष्यति ग्रन्थकारः, तच्चैवम्—आयुर्वर्जनामवक्तव्यबन्धाभावादवस्थितबन्धस्य स्वामिनो दर्शितत्वाद् दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धद्वयाभावाच्च शेषस्य नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोः स्वामिनोऽन्यतमा मार्गणावर्तिनो बन्धस्थानानां परावर्तमानादिनाऽधिकप्रकृतियुक्तं बध्नन्तो भूयस्कारबन्धं न्यूनप्रकृतियुक्तं बध्नन्तोऽल्पतरबन्धं विदधति, ते तत्तत्पदस्य स्वामिनो भवन्तीतिभावः । सम्यक्त्वौघे उपशमे क्षायिकसम्यक्त्वे च मतिज्ञानादिमार्गणाभिः सह बन्धस्थानसत्कभूयस्कारादिपदानां स्वामित्वं निरूपितम् ॥५०-५१॥

कर्मणो नास्ति, अतः कर्मत्रयसत्कपदद्वयस्यैव स्वामित्वं दर्शनीयम्। अत्र मार्गणाचतुष्क आद्यानि चत्वार्येव गुणस्थानकानि भवन्तीत्यवधार्यम् । तत्र दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो मिथ्यादृष्टयः सास्वादनिनश्च भवन्ति, तृतीयचतुर्थगुणस्थानतो यथासम्भव प्रथमे द्वितीये वा गुणस्थानक आगतास्तत्प्रथमसमये भूयस्कारबन्धस्य स्वामितया प्राप्यन्ते, मोहनीयस्य तु द्वितीयगुणस्थानकतः प्रथमगुणस्थानकं प्राप्ता अपि तत्प्रथमसमये भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो भवन्ति। दर्शनावरणमोहनीययोरल्पतरबन्धं तु प्रथमगुणस्थानात् तृतीयं चतुर्थं वा गुणस्थानकं प्राप्तास्तत्प्रथमसमये निर्वर्तयन्ति ।

नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धौ प्रथमद्वितीयचतुर्थगुणस्थानगताः कुर्वन्ति, तत्र प्रथमे द्वितीये वा गुणस्थानकेऽनेकबन्धस्थानानां भावेन परावर्तमानबन्धेन तौ कुर्वन्ति । चतुर्थगुणस्थाने तु परावर्तमानबन्धो नास्ति, अतस्तत्र भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्विशेषभावना कार्या, तद्यथा-प्रस्तुत-मार्गणाचतुष्के देवनैरयिकेभ्यः सम्यग्दृष्टयो यदा ससम्यक्त्वं मनुष्येषूत्पद्यन्ते तदा मनुष्यभव-प्रथमसमयेऽल्पतरबन्धो भवति, एकोनत्रिंशद्बन्धतोऽष्टाविंशतिबन्धस्थानस्य लाभात्, असंयमे देव-नारकेभ्यः कापोतलेश्यायां च नारकेभ्य आगतापेक्षया जिननामबन्धकानां त्रिंशद्बन्ध-स्थानत एकोनत्रिंशद्बन्धस्थाने गमनाच्च ।

कार्मग्रन्थिकमतेन तिर्यग्मनुष्या देवेषु सम्यक्त्वेन सह वैमानिकेष्वेवोत्पद्यन्ते, तत्र चाशुभ-लेश्याभावाद् मनुष्यतिर्यग्भ्यो देवेषूत्पन्नसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया नाम्नो भूयस्कारबन्धो न प्राप्यते किन्तु क्षायिकसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया कृतकरणक्षयोपशमसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया च मनुष्येभ्य आद्यनरकत्रय उत्पद्यमानानामष्टाविंशतिबन्धादेकोनत्रिंशद्बन्धं प्राप्तानां यद्वा जिननामसहितमेकोनत्रिंशद्बन्ध-कात् त्रिंशद्बन्धं प्राप्तानां भूयस्कारबन्धो भवति, ते भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो भवन्ति, किञ्चा-द्यनरकत्रये ये प्राग्मनुष्यभवे जिननाम बद्ध्वा क्षयोपशमसम्यक्त्वतः प्राग्बद्धनरकायुर्वशतो मिथ्यात्वं प्राप्य आद्यनरकत्रय उत्पन्नास्तत्र च पर्याप्ति समाप्यान्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमवश्यमेव ते सम्यक्त्वमवाप्नुवन्ति तदा तत्प्रथमसमयेऽपि भूयस्कारबन्धं कुर्वन्ति, एतादृशा नारकाः कापोत-लेश्यावन्त एव भवन्ति, न पुनः नीललेश्यावन्तः कृष्णलेश्यावन्तश्चेति कृष्णनीललेश्ययोः कार्मग्रन्थिकाभिप्रायेण सम्यग्दृष्टयो भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो नैव भवन्ति ।

सिद्धान्ताभिप्रायेण तु सम्यक्त्वेन सह भवनपत्यादिषूत्पादादशुभलेश्यात्रयेऽपि सम्यग्दृ-ष्टयो भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो भवन्ति । असंयमे कापोतलेश्यायां चोभयमतेऽपि सम्यग्दृष्टयो भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो भवन्ति, अतो मूलकृता नीलकृष्णयोरपवाद उक्त इति ॥४८-४९॥

अथ तेजःपद्मलेश्याद्वये प्रस्तुतस्वामित्वं दर्शयन्नाह—

सासायणादेसंता कमसो बीअचउरिआण तेउदुगे ।
भूगारं मीसाई कुणए दोरहं वि अप्पयरं ॥५०॥
णामस्स भूयगारं अरणयरो कुणइ मीसवज्जो उ ।
अप्पयरं मिच्छत्ती सासणसम्मो पमत्तजई ॥५१॥

(प्रे०) "सासायणे"त्यादि, तेजोलेश्यापद्मलेश्ययोरवस्थितबन्धस्य स्वामिनो निरूपितत्वादवक्तव्यबन्धस्य चायुष्कवर्जानामत्राभावाद् दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां भूयस्कारात्पतरबन्धयोः स्वामिनो वक्तव्याः । प्रस्तुतमार्गणाद्वयं सप्तमगुणस्थानं यावदेव भवति, एतदवधार्य स्वामित्वं वाच्यम् । तद्यथा—दर्शनावरणे भूयस्कारं सास्वादनान्तगुणस्थानद्वयगताः कुर्वन्ति, नेतरे, अल्पतरबन्धं तु तृतीयादिसप्तमान्तगुणस्थानस्थाः कुर्वन्ति, भावना तु सुगमा, ओघानुसारतो नवप्रकृतिरूपं षट्प्रकृत्यात्मकं चेति बन्धस्थानद्वयमवधार्य कार्येति ।

मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धं देशविरतगुणस्थानान्ता आद्यपञ्चगुणस्थानस्थिताः कुर्वन्ति, एतयोर्जघन्यबन्धस्थानं नवप्रकृत्यात्मकमतस्त्रयोदशादिबन्धस्थानेषु मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धो भवति, तानि त्रयोदशान्तानि बन्धस्थानानि देशविरतान्तेष्वेव भवन्ति, अतो देशविरतान्ता एव भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो भवन्ति । भावना त्वोघानुसारेण यथासम्भवं कार्येति । अल्पतरबन्धस्य स्वामिनस्तृतीयादिसप्तमान्तगुणस्थानगता ओघवद्विज्ञेया इति ।

नाम्नो भूयस्कारबन्धं तृतीयगुणस्थानगतान् विहाय प्रथमादिसप्तमान्तषड्गुणस्थानगताः कुर्वन्ति, भावना त्वोघवदेव कार्या, केवलमेकस्य बन्धस्थानात् श्रेणौ कालं कृत्वा देवेषूत्पन्ना एकोनत्रिंशतं त्रिंशतं वा बध्नन्तोऽत्र भूयस्कारबन्धस्य स्वामित्वेन न भवन्तीति हृदयम् । अल्पतरबन्धस्य स्वामिनः प्रथमद्वितीयचतुर्थषष्ठगुणस्थानगता एव भवन्ति, न पुनः तृतीयपञ्चमसप्तमगुणस्थानगताः, भावना तु मार्गणाप्रायोग्यगुणस्थानकान्यवलम्ब्यौघवत् कार्येति । शुक्ललेश्यायां भव्यमार्गणायां च मनुष्यौघादिना सह प्रस्तुतस्वामित्वं सातिदेशं सापवादं च दर्शितम् । अभव्यमार्गणायां "अण्णासु" मित्यादिना शेषमार्गणाभिस्समं प्रस्तुतस्वामित्वं प्रान्ते दर्शयिष्यति ग्रन्थकारः, तच्चैवम्—आयुर्वर्जानामवक्तव्यबन्धाभावादवस्थितबन्धस्य स्वामिनो दर्शितत्वाद् दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धद्वयाभावाच्च शेषस्य नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोः स्वामिनोऽन्यतमा मार्गणावर्तिनो बन्धस्थानानां परावर्तमानादिनाऽधिकप्रकृतियुक्तं बध्नन्तो भूयस्कारबन्धं न्यूनप्रकृतियुक्तं बध्नन्तोऽल्पतरबन्धं विदधति, ते तत्तत्पदस्य स्वामिनो भवन्तीतिभावः । सम्यक्त्वौघे उपशमे क्षायिकसम्यक्त्वे च मतिज्ञानादिमार्गणाभिः सह बन्धस्थानसत्कभूयस्कारादिपदानां स्वामित्वं निरूपितम् ॥५०-५१॥

अथ क्रमप्राप्तं क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां मोहनीयनाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोः स्वामित्वं दर्शयन्नाह—

मोहस्स णइ सम्मो देसजई वेअगम्मि भूगारं ।
अप्पयरस्स हवेज्जा देसपमत्तअपमत्तजई ॥५२॥
णामस्स भूअगारं अरणयरो कुणइ अप्पयरं ।
सम्मपमत्तो.. ।

(प्रे०) "मोहस्से"त्यादि क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धौ न स्तः; षट्प्रकृत्यात्मकस्यैकस्यैव बन्धस्थानस्य भावात् । मोहनीयस्य चतुर्थपञ्चमगुणस्थानगता भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो भवन्ति, प्रस्तुते चतुर्थादीनि अप्रमत्तसंयतपर्यवसानानि चत्वारि गुणस्थानकानि भवन्ति, तत्र षष्ठसप्तमगुणस्थानके नवप्रकृत्यात्मकमार्गणाप्रायोग्यजघन्यबन्धस्थानस्य भावान्नोक्तगुणस्थानद्वयगता भूयस्कारबन्धस्वामिनः । शेषभावना तु सुगमा । अल्पतरबन्धस्य स्वामिनः पञ्चमादिगुणस्थानत्रयगता भवन्ति, न पुनश्चतुर्थगुणस्थानगताः, तत्र मार्गणाप्रायोग्यज्येष्ठबन्धस्थानस्य सप्तदशप्रकृत्यात्मकस्य भावात् ।

नाम्नो भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनश्चतुर्थादिसप्तमान्तगुणस्थानवर्तिनो भवन्ति, एतच्च मूलकृता 'अण्णयरो कुणइ' इत्यनेन कथितम्, अत्र मार्गणागतगुणस्थानेभ्यो वर्जनीयगुणस्थानाभावेन मार्गणाप्रायोग्यान्यतमगुणस्थानगतः करोतीति भावार्थः । अन्यतमशब्दप्रयोगस्थान अन्यतरशब्दप्रयोगस्तु प्राकृतवशात् । अयम्भावः-यो जिननामबन्धमारभते यो वाऽऽहारकद्विकबन्धम्, अथवा देवप्रायोग्यबन्धाद् भवपरावृत्त्या मनुष्यप्रायोग्यबन्ध विदधाति स प्रस्तुते भूयस्कारबन्धस्वामी भवति । अल्पतरबन्धस्तु चतुर्थषष्ठगुणस्थानद्वयगतानां भवति, तत्र सप्तमगुणस्थानकतः षष्ठगुणस्थानकं प्राप्तो यः तत्प्रथमसमय आहारकद्विकबन्धाद्विरमति स षष्ठगुणस्थानकेऽल्पतरबन्धस्य स्वामी भवति, सप्तमगुणस्थानकतः परिणामह्रासेन पञ्चमादिगुणेष्ववतारो न भवति, अतो न तेऽल्पतरबन्धस्य स्वामिन इति । चतुर्थगुणस्थानगतास्तु ये प्राक्सप्तमगुणस्थानगता आहारकद्विकं बध्नन्तः कालं कृत्वा दिवि समुत्पन्नास्ते मनुष्यप्रायोग्यमेकोनत्रिंशतं त्रिंशतं वा बध्नन्तोऽल्पतरबन्धं विदधति । ये च देवनैरयिकेभ्यो मनुष्येषु प्रस्तुतमार्गणामनुगता उत्पद्यन्ते तेऽपि मनुष्यप्रायोग्यबन्धाद्विरम्य देवप्रायोग्यं बन्धमारभमाणा अल्पतरबन्धं कुर्वन्तीति । सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायां सास्वादने मिथ्यात्वेऽसंज्ञिनि च 'ऽण्णासु' मित्यादिना देशोनगाथार्धेन वक्ष्यति । संज्ञिमार्गणायामाहारकानाहारकमार्गणाद्वये च प्राक् स्वामित्वं निरूपितम् ॥५२॥

अथ मूलकृता यासु मार्गणासु पृथग् स्वामित्वं न दर्शितं तासु तद्दर्श्यते–

......ऽणासु अत्थि सगपयाण अणयरो ॥५३॥ [उपगीतिः]

(प्रे०) "अण्णासु" अत्र स्वामित्वद्वारे मूलग्रन्थेनानुक्तासु–अपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियापर्याप्तमनुष्यपञ्चानुत्तर–सप्तैकेन्द्रिय– नवविकलाक्षा–ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय– पृथ्व्यादिपञ्चकायसत्कैकोनचत्वारिंशद्भेदाऽपर्याप्तत्रसकायाऽऽहारकाऽऽहारकमिश्रा-ऽकषाय-केवलद्विक-यथाख्यात –सूक्ष्मसम्पराय- देशविरतिमार्गणाऽभव्यमिश्रसास्वादन–मिथ्यात्वाऽसंज्ञि-मार्गणाः सप्तसप्ततिः, एताभ्योऽकषाय-केवलद्विक-यथाख्यातमार्गणासु केवलं वेदनीयसत्कावस्थितबन्धस्य भावात्, सूक्ष्मसम्पराये ज्ञानावरणादिषण्णां पञ्चानुत्तरे सम्यग्मिथ्यात्वे च सप्तानां केवलमेकस्यैवावस्थितपदस्य सत्त्वात् तत्स्वामिनः प्रागेव "सामित्ते सत्तण्ह अवट्ठिअस्सऽत्थि मूलपयडिव्व" इत्यनेन निरूपिताः । शेषासु षट्षष्टिमार्गणासु सप्तानां ज्ञानावरणादिकर्मणामवस्थितबन्धस्वामित्वं प्रागेव निरूपितम् । एतासु सप्तानामवक्तव्यबन्धो नास्ति । तथा दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धावपि न स्तः । केवलं नाम्न एव भूयस्काराल्पतरबन्धस्वामिनौ वाच्यौ, तत्राऽप्याहारकाहारकमिश्रदेशविरतिमार्गणासु तिसृषु जिननामबन्धप्रारम्भे नाम्नो भूयस्कारबन्धः प्राप्यते, ते भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो भवन्तीति भावः । अल्पतरबन्धस्तु उक्तमार्गणात्रये नास्ति । शेषासु त्रिषष्टिमार्गणासु नाम्नो नानाबन्धस्थानानामेकजीवापेक्षयाऽपि परावर्तमानेन बन्धप्रायोग्यत्वात् ते न्यूनाधिकं वा बन्धस्थानं बध्नन्तो यथासम्भवमल्पतरबन्धस्य भूयस्कारबन्धस्य च स्वामिनो भवन्ति । नैतासु स्वामित्वनिरूपणे कश्चिद्गुणभेदादिविशिष्टनिरूपणमस्तीति भावः ॥५३॥

॥ श्री प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे स्वस्थाननिरूपणायां द्वितीयं स्वामित्वद्वारं समाप्तम् ॥

प्रकृतिबन्धे स्वस्थाने भूयस्कारादिस्वामिनां यन्त्रम्...

मार्गणाङ्क०	मार्गणानामानि	कर्माणि	भूयस्कारस्वामिनः	अल्पतरस्वामिनः	अवस्थितस्वामिनः	अवक्तव्यस्वामिनः
१०	पञ्चेन्द्रिय-(२)त्रस (२) काययोगौघ-चक्षुरचक्षु-र्भव्यसंज्ञ्या-ऽऽहारकेषु ओघवत्अ	ज्ञाना-गोत्र-अन्तराय०	०	०	दशमान्तगुणस्थाः	(१) अवरोहका दशम-गुणप्रथमसमयस्था॰ (२) उपशान्तमोहे कालं प्राप्य देवभवप्रथम-समयस्था
		दर्शना०	१-२-४ ८ गुणस्थाः	३-४-५-६-७-८ गुणस्थाः	,, ,,	उपरोक्त द्विविधस्वामिनः
		मोह०	१-२-३-४-५-८ ९ गुणस्था	३-४-५-६-७-९ गुणस्थाः	नवमान्तगुणस्था॰	(१) अवरोहका नवमे प्रथमसमयस्थाः (२) अबन्धात् कालं प्राप्य देवभवप्रथमसमयस्थाः
		नाम०	१ २-४-५ ६ ७-८ गुणस्थाः	१-२-४-६-८ गुणस्थाः	दशमान्तगुणस्था	ज्ञानावरणवत्
		आयुष॰	०	०	१-२-४-५-६-७ गुणस्था	१-२-४-५-६-गुणस्था-स्वबन्धप्रथमसमये
		वेदनीयस्य	०	०	प्रथमादित्रयोदशगुण स्थानपर्यन्ता जीवाः	०
५	नरकौघा-ऽऽद्यनरकत्रय-वैक्रियकायेषु	ज्ञानावरणीया-ऽन्तराय-गोत्रवेदनीयानाम्	०	०	चतुर्थगुणान्तवर्तिन	०
		दर्शनावरणस्य	द्वितीयान्तगुणस्था॰	तृतीयचतुर्थगुणस्था॰	,,	०
		मोहनीयस्य	,,	,,	,,	०
		नाम्नः	तृतीयवर्जितचतुर्थान्त-गुणस्था.	प्रथमद्वितीयगुणस्था॰	,,	०
		आयुष.	०	०	तृतीयवर्जितचतुर्थान्त-गुणस्था॰	तृतीयवर्जितचतुर्थान्त-गुणस्था

प्रकृतिबन्धे स्वस्थाने भूयस्कारादिस्वामिनां यन्त्रम्

मार्गणाङ्क.	मार्गणानामानि	कर्माणि	भूयस्कारस्वामिनः	अल्पतरस्वामिन.	अवस्थितस्वामिन	अवक्तव्यस्वामिन.
१५	चतुर्थादिषष्ठान्तनरक-देवौघ-सहस्रारान्तदेव-(११) भेदेषु	ज्ञाना० अंत० गो० वेदनीयानाम्	०	०	चतुर्थान्तगुणस्था	०
		दर्श० मोहनीययो	द्वितीयान्तगुणस्था	तृतीयचतुर्थगुणस्था. द्वितीयान्तगुणस्था.	” ”	० ०
		नाम्न	”	०	तृतीयवर्जितचतुर्थान्त-गुणस्था.	तृतीयवर्जितचतुर्थान्त-गुणस्था'
		आयुष.	०			
१	सप्तमनरके	ज्ञाना० अत० गो० वेदनीयानाम्	०	०	चतुर्थान्तगुणस्था	०
		दर्शना० मोहनीययो.	प्रथमद्वितीयगुणस्थाः	तृतीयचतुर्थगुणस्था। प्रथमद्वितीयगुणस्थाः	” ”	० ०
		नाम्नः	”		प्रथमगुणस्थाः	प्रथमगुणस्थाः
		आयुषः	०			
४	तिर्यंगत्योघत्रिपञ्चे-न्द्रियतिर्यक्षु (३)	ज्ञानावरणादिचतुष्कस्य	०	०	पञ्चमान्तगुणस्था	०
		दर्शनावरणीयस्य	आद्यद्वयगुणस्थाः	तृतीयचतुर्थपञ्चम-गुणस्था.	”	०
		मोहनीयस्य	चतुर्थान्तगुणस्थाः	”	”	०
		नाम्नः	आद्यद्वयगुणस्थाः	आद्यद्वयगुणस्था.	”	०
		आयुषः	०	०	तृतीयवर्जितपञ्चमान्त-गुणस्था'	तृतीयवर्जितपञ्चमान्त-गुणस्थाः

प्रकृतिबन्धे स्वस्थाने भूयस्कारादिस्वामिनां यन्त्रम्...

मार्गणाङ्क०	मार्गणानामानि	कर्माणि	भूयस्कारस्वामिनः	अल्पतरस्वामिनः	अवस्थितस्वामिनः	अवक्तव्यस्वामिनः
१०	पञ्चेन्द्रिय०(२)त्रस (२) काययोगौघ-चक्षुरचक्षु-भव्यसंज्ञ्या-हारकेषु ओघवत्	ज्ञाना-गोत्र-अन्तराय०	०	०	दशमान्तगुणस्थाः	(१) अवरोहका दशमगुणप्रथमसमयस्थाः (२) उपशान्तमोहे कालं प्राप्य देवभवप्रथमसमयस्था.
		दर्शना०	१-२-४ ८ गुणस्थाः	३-४-५-६-७-८ गुणस्थाः	,, ,,	उपरोक्त द्विविधस्वामिनः
		मोह०	१-२-३-४-५-८ ९ गुणस्था	३-४-५-६-७-९ गुणस्थाः	नवमान्तगुणस्थाः	(१) अवरोहका नवमे प्रथमसमयस्थाः (२) अबन्धात् कालं प्राप्य देवभवप्रथमसमयस्थाः
		नाम०	१ २-४-५ ६ ७-८ गुणस्थाः	१-२-४-६-८ गुणस्थाः	दशमान्तगुणस्था	ज्ञानावरणवत्
		आयुष'	०	०	१-२-४-५-६-७ गुणस्थाः	१-२-४-५-६ गुणस्था स्वबन्धप्रथमसमये
		वेदनीयस्य	०	०	प्रथमादित्रयोदशगुणस्थानपर्यन्ता जीवाः	०
५	नरकौघा-ऽऽद्यनरकत्रय-वैक्रियकायेषु	ज्ञानावरणीया-ऽन्तराय-गोत्रवेदनीयानाम्	०	०	चतुर्थगुणान्तवर्तिनः	०
		दर्शनावरणस्य	द्वितीयान्तगुणस्थाः	तृतीयचतुर्थगुणस्थाः	,,	०
		मोहनीयस्य	,,	,,	,,	०
		नाम्नः	तृतीयवर्जितचतुर्थान्तगुणस्था.	प्रथमद्वितीयगुणस्था.	,,	०
		आयुष.	०	०	तृतीयवर्जितचतुर्थान्तगुणस्थाः	तृतीयवर्जितचतुर्थान्तगुणस्था.

प्रकृतिबन्धे स्वस्थाने भूयस्कारादिस्वामिनां यन्त्रम्

मार्गणाङ्क	मार्गणानामानि	कर्माणि	भूयस्कारस्वामिनः	अल्पतरस्वामिनः	अवस्थितस्वामिनः	अवक्तव्यस्वामिनः
१५	चतुर्थादिषष्ठान्तनरक-देवौघ-सहस्रारान्तदेव-(११) भेदेषु	ज्ञाना० अंत० गो० वेदनीयानाम्	०	०	चतुर्थान्तगुणस्था	०
		दर्श० मोहनीययो	द्वितीयान्तगुणस्था	तृतीयचतुर्थगुणस्था	,,	०
		नाम्नः	,,	द्वितीयान्तगुणस्थाः	,,	०
		आयुषः	०	०	तृतीयवर्जितचतुर्थान्तगुणस्था	तृतीयवर्जितचतुर्थान्तगुणस्था
१	सप्तमनरके	ज्ञाना० अत० गो० वेदनीयानाम्	०	०	चतुर्थान्तगुणस्था	०
		दर्शना० मोहनीययो	प्रथमद्वितीयगुणस्थाः	तृतीयचतुर्थगुणस्था	,,	०
		नाम्नः	,,	प्रथमद्वितीयगुणस्थाः	,,	०
		आयुषः	०		प्रथमगुणस्था	प्रथमगुणस्थाः
५	तिर्यंगत्योघत्रिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु (३)	ज्ञानावरणादिचतुष्कस्य	०	०	पञ्चमान्तगुणस्था	०
		दर्शनावरणीयस्य	आद्यद्वयगुणस्थाः	तृतीयचतुर्थपञ्चमगुणस्थाः	,,	०
		मोहनीयस्य	चतुर्थान्तगुणस्थाः	,,	,,	०
		नाम्नः	आद्यद्वयगुणस्थाः	आद्यद्वयगुणस्था.	,,	०
		आयुषः	०	०	तृतीयवर्जितपञ्चमान्तगुणस्थाः	तृतीयवर्जितपञ्चमान्तगुणस्था.

मार्ग-णाङ्क	मार्गणानामानि	कर्माणि	भूयस्कारस्वामिनः	अल्पतरस्वामिनः	अवस्थितस्वामिन	अवक्तव्यस्वामिनः
४	ज्ञानत्रिकेऽवधिदर्शने च	वेदनीयस्य	०	०	चतुर्थादिद्वादशान्त-गुणस्था	०
		ज्ञाना० अन्त० गोत्रा-णाम्	०	०	चतुर्थादिदशमान्त-गुणस्थाः	चतुर्थदशमगुणस्थाः
		दर्शनावरणीयस्य	अष्टमचतुर्थगुणस्थाः	अष्टमगुणस्थाः	,,	चतुर्थदशमगुणस्था
		मोहनीयस्य	चतुर्थपञ्चमाऽष्टम-नवमगुणस्था'	अष्टमवर्जितपञ्चमा-दिनवमान्तगुणस्थाः	चतुर्थादिनवमान्त-गुणस्था	चतुर्थनवमगुणस्था
		नाम्नः	चतुर्थाद्यष्टमान्तगुणस्थाः	चतुर्थषष्ठाऽष्टमगुणस्था.	चतुर्थादिदशमान्तगुण०	चतुर्थदशमगुणस्था
		आयुष	०	०	चतुर्थादिसप्तमान्त-गुणस्था'	चतुर्थादिषष्ठान्तगुण-स्था
२	सम्यक्त्वोघ-क्षायिक-सम्यक्त्वयो'	वेदनीयस्य	०	०	चतुर्थादित्रयोदशान्त-गुणस्था	०
		ज्ञाना० अन्त० गोत्रा-णाम्	०	०	चतुर्थादिदशमान्त-गुणस्था'	चतुर्थदशम-गुणस्थानस्थाः
		दर्शनावरणीयस्य	चतुर्थाऽष्टमगुणस्था	अष्टमगुणस्थाः	चतुर्थादिदशमान्त-गुणस्थाः	,,
		नाम्नः	चतुर्थाद्यष्टमान्तगुणस्था.	चतुर्थषष्ठाऽष्टमगुणस्था	,,	,,
		मोहनीयस्य	चतुर्थपञ्चमाऽष्टमनवम-गुणस्थाः	पञ्चमषष्ठसप्तमनवम-गुणस्था'	चतुर्थादिनवमान्त-गुणस्था'	चतुर्थनवमगुणस्था
		आयुषः	०	०	चतुर्थादिसप्तमान्त-गुणस्थाः	चतुर्थादिषष्ठान्तगुण-स्था

प्रकृतिबन्धे स्वस्थाने भूयस्कारादिस्वामिनां यन्त्रम्

मार्गणाङ्क	मार्गणानामानि	कर्मनामानि	भूयस्कारस्वामिन	अल्पतरस्वामिन	अवस्थितस्वामिनः	अवक्तव्यस्वामिन
१	उपशमसम्यक्त्वे	वेदनीयस्य	०	०	चतुर्थाद्येकादशान्त-गुणस्था	०
		ज्ञाना०अन्त०गोत्राणाम्	०	०	चतुर्थादिदशमान्त-गुणस्थाः	चतुर्थदशमगुणस्था
		दर्शनावरणीयस्य	चतुर्थाऽष्टमगुणस्थाः	अष्टमगुणस्थाः	,,	,,
		मोहनीयस्य	चतुर्थपञ्चमाऽष्टम-नवमगुणस्था	पञ्चमषष्ठसप्तमनवम-गुणस्था	चतुर्थादिनवमान्तगुण-स्था.	चतुर्थनवमगुणस्थाः
		नाम्न	चतुर्थाद्यष्टमान्तगुण-स्थाः	चतुर्थषष्ठाऽष्टमगुण-स्था.	चतुर्थादिदशमान्त-गुणस्थाः	चतुर्थदशमगुणस्थाः
२	मनःपर्यवज्ञाने सव-मौवे च	वेदनीयस्य	०	०	षष्ठादिद्वादशान्त-गुणस्था.	०
		ज्ञाना० अन्त०गोत्राणाम्	०	०	षष्ठादिदशमान्तगुणस्था.	दशमगुणस्था.
		दर्शनावरणीयस्य	अष्टमगुणस्थाः	अष्टमगुणस्थाः	,,	,,
		मोहनीयस्य	अष्टमनवमगुणस्था	नवमगुणस्थाः	षष्ठादिनवमान्त-गुणस्थाः	नवमगुणस्था
		नाम्न.	षष्ठसप्तमाऽष्टम-गुणस्था.	षष्ठाऽष्टमगुणस्था	षष्ठादिदशमान्त-गुणस्था	दशमगुणस्थाः
		आयुषः	०	०	षष्ठसप्तमगुणस्था	षष्ठगुणस्थाः
२	सामायिकच्छेदो-पस्थापनीययो	ज्ञाना.अन्त वेद.गोत्रा०	०	०	षष्ठादिनवमान्तगुणस्थाः	०
		दर्शनावरणीयस्य	अष्टमगुणस्था	अष्टमगुणस्थाः	,,	०
		मोहनीयस्य	अष्टमनवमगुणस्था	नवमगुणस्थाः	,,	०
		नाम्नः	षष्ठसप्तमाऽष्टमगुणस्थाः	षष्ठाऽष्टमगुणस्थाः	,,	०
		आयुषः	०	०	षष्ठसप्तमगुणस्थाः	षष्ठगुणस्थाः

मार्गणाङ्क.	मार्गणानामानि	कर्माणि	भूयस्कारस्वामिन	अल्पतरस्वामिनः	अवस्थितस्वामिन:	अवक्तव्यस्वामिन
३	अज्ञानत्रिके	ज्ञाना० अन्त० दर्श० वेदनीयगोत्राणाम्	०	०	प्रथमद्वितीयगुणस्था.	०
		मोहनीयस्य	प्रथमगुणस्थानस्थाः	०	,,	०
		नाम्न	प्रथमद्वितीयगुणस्था.	प्रथमद्वितीयगुणस्था	,,	०
		आयुष:	०	०	,,	प्रथमद्वितीयगुणस्था.
१	परिहारविशुद्धौ	ज्ञाना० अन्त० वेदनीय-गोत्र-मोहनीय-दर्शनावरणीयानाम्	०	०	षष्ठसप्तमगुणस्थानस्था:	०
		नाम्न.	षष्ठसप्तमगुणस्थाः	षष्ठगुणस्थाः	षष्ठसप्तमगुणस्था	०
		आयुष.	०	०	,,	षष्ठगुणस्थाः
२	असयत कापोतलेश्ययो	ज्ञाना० अन्त० वेदनीय-गोत्राणाम्	०	०	चतुर्थान्तगुणस्थानस्था	०
		दर्शनावरणीयस्य	आद्यद्वयगुणस्था	तृतीयचतुर्थगुणस्था	,,	०
		मोहनीयस्य	,,	,,	,,	०
		नाम्न:	प्रथमद्वितीयचतुर्थगुण.	प्रथमद्वितीयचतुर्थगुण	,,	०
		आयुष	०	०	प्रथमद्वितीयचतुर्थगुण	प्रथमद्वितीयचतुर्थगुण
२	नीलकृष्णलेश्ययो	ज्ञाना० अन्त० वेदनीय-गोत्राणाम्	०	०	चतुर्थान्तगुणस्थानस्थाः	०
		दर्शनावरणीयस्य	आद्यद्वयगुणस्था	तृतीयचतुर्थगुणस्थाः	,,	०
		मोहनीयस्य	,,	,,	,,	०
		नाम्न	,,	प्रथमद्वितीयचतुर्थगुण.	,,	०
		आयुष	०	०	प्रथमद्वितीयचतुर्थगुण	प्रथमद्वितीयचतुर्थगुण

प्रकृतिबन्धे स्वस्थाने भूयस्कारादिस्वामिना यन्त्रम्

मार्गणाङ्क	मार्गणानामानि	कर्माणि	भूयस्कारस्वामिनः	अल्पतरस्वामिन	अवस्थितस्वामिन	अवक्तव्यस्वामिनः
२	तेज पद्मलेश्ययो	ज्ञाना० अंत० वेदनीय-गोत्राणाम्	०	०	सप्तमान्तगुणस्थानस्था	०
		दर्शनावरणीयस्य	आद्यद्वयगुणस्थाः	तृतीयादिसप्तमान्तगुण	„	०
		मोहनीयस्य	पञ्चमान्तगुणस्था	„	„	०
		नाम्न	तृतीयवर्जितसप्तमान्त-गुणस्था	तृतीयपञ्चमवर्जितषष्ठा-न्तगुणस्था.	„	०
		आयुष.	०	०	तृतीयवर्जितसप्तमान्त-गुणस्था	तृतीयवर्जितषष्ठान्त-गुणस्था.
१	शुक्लायाम्	ज्ञाना० अंत० गोत्राणाम्	०	०	दशमान्तगुणस्थाः	चतुर्थदशमगुणस्था.
		वेदनीयस्य	०	०	त्रयोदशान्तगुणस्थान.	०
		दर्शनावरणीयस्य	प्रथमद्वितीयचतुर्थाऽष्टम-गुणस्था	तृतीयाद्यष्टमान्त-गुणस्थानस्थाः	दशमान्तगुणस्थान-स्था.	चतुर्थदशमगुणस्था
		मोहनीयस्य	पञ्चसप्तमवर्जितनव-मान्तगुणस्था	अष्टमवर्जिततृतीयादि-नवमान्तगुणस्थाः	नवमान्तगुणस्था	चतुर्थनवमगुणस्थानस्थाः
		नाम्न	तृतीयवर्जिताऽष्टमान्त-गुणस्था	चतुर्थ-षष्ठा-ऽष्टमगुण-स्था.	दशमान्तगुणस्थाः	चतुर्थदशमगुणस्था.
		आयुषः	०	०	तृतीयवर्जितसप्तमा-न्तगुणस्था	तृतीयवर्जितषष्ठान्त-गुणस्थाः
१	क्षायोपशमिकसम्यक्त्वे	ज्ञाना०अन्त०वेदनीय-दर्शनावरणीयानाम्	०	०	चतुर्थादिसप्तमान्त-गुणस्था	०
		मोहनीयस्य	चतुर्थपञ्चमगुणस्था	पञ्चमषष्ठसप्तमगुणस्था.	„	०
		नाम्नः	चतुर्थादिसप्तमान्तगुण.	चतुर्थषष्ठगुणस्था.	„	०
		आयुष	०	०	„	चतुर्थपञ्चमषष्ठगुणस्था.

मार्गणाङ्क	मार्गणानामानि	कर्माणि	भूयस्कारस्वामिनः	अल्पतरस्वामिनः	अवस्थितस्वामिनः	अवक्तव्यस्वामिनः
५	अनुत्तरपञ्चके	सप्तकर्मणाम्	०	०	चतुर्थगुणस्थाः	०
		आयुषः	०	०	,,	चतुर्थगुणस्थानस्थाः
१	मिश्रमार्गणायाम्	सप्तकर्मणाम्	०	०	तृतीयगुणस्थानस्थाः	०
२	अकषाययथाख्यात-संयमयोः	वेदनीयस्य	०	०	एकादशादित्रयोदशान्त-गुणस्थानस्थाः	०
२	केवलद्विके	वेदनीयस्य	०	०	त्रयोदशगुणस्थाः	०
२	आहारकद्विके	षट्कर्मणाम्	०	०	षष्ठगुणस्थानस्थाः	०
		नाम्नः	षष्ठगुणस्थानस्थाः	०	,,	०
		आयुषः	०	०	,,	षष्ठगुणस्थानस्थाः
१	देशविरतिमार्गणायाम्	षट्कर्मणाम्	०	०	पञ्चमगुणस्थानस्थाः	०
		आयुषः	०	०	,,	पञ्चमगुणस्थानस्थाः
		नाम्नः	पञ्चमगुणस्थानस्थाः	०	,,	०
२	सास्वादनमार्गणायाम्	षट्कर्मणाम्	०	०	द्वितीयगुणस्थानस्थाः	०
		नाम्नः	द्वितीयगुणस्थानस्थाः	द्वितीयगुणस्थानस्थाः	,,	०
		आयुषः	०	०	,,	द्वितीयगुणस्थाः

प्रकृतिबन्धे स्वस्थाने भूयस्कारादिस्वामिनां यन्त्रम्

मार्गणाङ्क०	मार्गणानामानि	कर्माणि	भूयस्कारस्वामिनः	अल्पतरस्वामिन	अवस्थितस्वामिनः	अवक्तव्यस्वामिनः
१३	आनतादिनवमग्रैवेयकान्तेषु	ज्ञाना०अन्त०वेदनीयगोत्राणाम्	०	०	चतुर्थान्तगुणस्थानस्थाः	०
		दर्शनावरणीयस्य मोहनीयस्य	आद्यद्वयगुणस्थानस्था "	तृतीयचतुर्थगुणस्थान० "	" "	० ०
		नाम्न	०	०	"	०
		आयुष	०	०	प्रथमद्वितीयचतुर्थगुणस्था	प्रथमद्वितीयचतुर्थगुणस्था
१	सूक्ष्मसम्पराये	कर्मषट्कस्य	०	०	दशमगुणस्थाः	०
६१	शेषमार्गणासु	कर्मषट्कस्य	०	०	प्रथमगुणस्थानस्थाः	०
		नाम्नः	प्रथमगुणस्थानस्थाः	प्रथमगुणस्थानस्थाः	"	०
		आयुषः	०	०	"	प्रथमगुणस्थानस्थाः

॥ अथ तृतीयं कालद्वारम् ॥

अथ कालद्वारस्यावसरः, तत्रादौ सार्धगाथया ओघतो भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्जघन्यमुत्कृष्टं च कालं दर्शयन्नाह–

भूगारप्पयराणं समयो कालो लहू तिकम्माणं।
बीअस्स दोगह वि गुरू तह अप्पयरस्स मोहस्स ॥५४॥
भूगारस्स दुसमया दोगह वि णामस्स उ समयपुहुत्तं।

(प्रे०) "भूगारे" त्यादि, उत्तरप्रकृतिषु दर्शनावरणमोहनीयनाम्नामेव भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्भावेन तेषां त्रयाणां भूयस्काराल्पतरबन्धयोरेकजीवमाश्रित्य जघन्यकालः समयो भवति, प्रतिपक्षबन्धद्वयान्तराले समयं तयोर्बन्धसद्भावात् । भूयस्काराल्पतरबन्धयोः आगुत्तरत्र च बाहुल्यतोऽवस्थितबन्धस्य भावात् । विशेषचिन्तायां दर्शनावरणमोहनीययोः सामयिकभूयस्कारबन्धस्य प्राक्क्षणेऽवक्तव्याल्पतरावस्थितबन्धा अपि सम्भवन्ति, उत्तरक्षणे त्ववस्थितबन्ध इति, अल्पतरबन्धस्य च प्राक्समयेऽवस्थितबन्ध एव, तदुत्तरसमये तु द्वयोरवस्थितबन्धः, मोहस्य भूयस्कारबन्धो वा प्रवर्तन इति। नामकर्मणः सामयिकभूयस्कारबन्धस्य प्राक्क्षणेऽवक्तव्याल्पतरावस्थितबन्धान्यतमो भवति, उत्तरक्षणे त्वल्पतरोऽवस्थितो वा बन्धो भवतीति। उत्कृष्टकालस्तु दर्शनावरणे भूयस्कारबन्धस्याल्पतरबन्धस्य च समयप्रमित एव, यतः श्रेणितोऽवरोहँश्चतुष्कबन्धात् षड्विधबन्धस्थानं प्राप्नोति तदा भूयस्कारबन्धं करोति, ततोऽष्टमगुणस्थानकतः क्रमेणाऽवरोहन् षष्ठं गुणस्थानकं यावदवस्थितबन्ध एव। यदाऽन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं सास्वादनं मिथ्यात्वं वा गच्छति तदा पुनर्भूयस्कारबन्धः, नान्यथा ततः प्रागिति, इत्थं भूयस्कारबन्धादूर्ध्वमन्तर्मुहूर्तं यावद् भूयस्कारबन्धो नैव भवति, अतो ज्येष्ठकालोऽपि तस्य सामयिकः । दर्शनावरणस्य मोहनीयस्य चाल्पतरबन्धस्य ज्येष्ठकालोऽपि सामयिकः, यतः सास्वादनं विहाय सर्वगुणस्थानकानां मरणं विमुच्य जघन्यकालोऽप्यन्तर्मुहूर्तमेव भवति; मरणे च नैतयोरल्पतरबन्धः, अल्पतरबन्धं विधाय पुनरप्यूर्ध्वतरगुणस्थानगमन एवाल्पतरबन्धः, अत एवाल्पतरबन्धं विधायान्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमेवाल्प न्धो भवति, तस्मादेतयोः कर्मणोरल्पतरबन्धस्य ज्येष्ठकालोऽपि समय एव लभ्यत इति ।

मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धमत्कोत्कृष्टकालो समयद्वयं भवति, तद्यथा–श्रेणितोऽवरोहन् एकादिपञ्चविधबन्धात् स्वस्थाने द्व्यादिबन्धस्थानं प्राप्य भूयस्कारबन्धं कृत्वा तदनन्तरं मरणेन सप्तदशबन्धस्थानं प्राप्तस्यापि भूयस्कारबन्धो भवति, एवं समयद्वयं यावद् भूयस्कारबन्धो भवति, यदि वा चतुर्थादिगुणस्थानकत्रयात् समयं द्वितीयं गुणस्थानं प्राप्य प्रथमगुणस्थानकं यो गच्छति तस्यापि

समयद्वयं यावद् भूयस्कारबन्धो भवति, एकं द्वितीयगुणस्थानकभवं भूयस्कारम्, द्वितीयं च मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकप्राप्तिसमयभवमिति समयद्वयमेव भूयस्कारबन्धज्येष्ठकालः प्राप्यते, एवं प्रकारद्वयादन्यत्र समयद्वयमितः कालो नैव प्राप्यत इति।

नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोः प्रत्येकं ज्येष्ठकालः 'समयपृथक्त्वं' पृथक्त्वशब्देन द्विप्रभृतिनव पर्यवसानाः संख्या सामान्यतो गृह्यते, तत्र प्रस्तुते तु समयद्वयं सम्भवति, यतो बाहुल्यतः प्रति समयं परावर्तमानशीलानि रसबन्धाध्यवसायानि योगस्थानकादीनि विमुच्य सामान्यतोऽन्तर्मुहूर्तकादिकालावस्थानप्रायोग्या ये भावास्ते कारणविशेषं विहाय समयद्वयमुत्कृष्टतः परावृत्तिं विदधते-यथा अनुयोगद्वारसूत्रे कालत आनुपूर्वीद्रव्याणामेकद्रव्यमाश्रित्य समयद्वयमेवोत्कृष्टान्तरं निरूपितम्--तथा च तदक्षराणि--"णेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाणमंतरं कालओ केवच्चिरं होइ? एगं दव्वं पडुच्च जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं दो समया" इत्यादि, वृत्तौ भावना एवम् "एग दव्व पडुच्च जहण्णेणं एक्क समय" इति, अत्र भावना--इह त्र्यादिसमयस्थितिकं विवक्षित किञ्चिदेकमानुपूर्वीद्रव्य तं परिणाम परित्यज्य यदा परिणामान्तरेण समयमेकं स्थित्वा पुनस्तेनैव परिणामेन त्र्यादिसमयस्थितिकं जायते तदा जघन्यतया समयोऽन्तरे लभ्यते, 'उक्कोसेणं दो समय' त्ति, तदेव यदा परिणामान्तरेण द्वौ समयौ स्थित्वा पुनस्तमेव त्र्यादिसमयस्थितिकयुक्त प्राक्तनं परिणामसासादयति तदा द्वौ समयावुत्कृष्टतोऽन्तरे भवत, यदि पुन परिणामान्तरेण क्षेत्रादिभेदत समयद्वयात् परतोऽपि तिष्ठेत् तदा तत्राप्यानुपूर्वीत्वमनुभवेत्, ततोऽन्तरमेव न स्यादिति भाव.।"

उक्तपाठत इदमवगम्यते- यदेतादृशाः परावर्तमाना भावाः समये समये परावृत्ताः सन्तः निरन्तरं परावर्तमाना यदि लभ्यन्ते तर्हि समयद्वयम्, न पुनस्तदूर्ध्वम्, अत एव कालत आनुपूर्वीद्रव्यमानुपूर्वीत्वं विहाय यदि कालत अनानुपूर्वीत्वं प्रतिपद्यते तर्हि क्षेत्रादिपरावृत्त्या नानासमयेष्वनानुपूर्वीत्वं नैव प्रतिपद्यते, किन्तु समयमेकमनानुपूर्वीत्वमनुभूयानुपूर्वीत्वं लभते, न पुनरवक्तव्यम्, यतस्तथाभवने समयत्रयादिकमानुपूर्वीत्वस्यान्तरं भवेत्, परमुक्तं तु समयद्वयमेवेति। आनुपूर्वीत्वपरिणामं हित्वाऽनानुपूर्वीत्वावक्तव्यत्वयोरेकतरं वा परिणाममनुभूय पुनरानुपूर्वीत्वपरिणाममेव प्रतिपद्यते, अतोऽनानुपूर्वीत्वाङ्गीकरणापेक्षया समयद्वयमेव निरन्तरा परावृत्तिः, अवक्तव्यपरिणामापेक्षया तु समयमेकं परावृत्य द्वितीयसमये तत्परिणामस्य तादवस्थ्यमिति।

एवं प्रस्तुतेऽपि प्रकृतीनां बन्धेषु परावृत्तिर्निरन्तरं समयद्वयमेव लभ्यते, न पुनस्त्र्यादिसमयात्मिका; अत एव सातासातयोर्बन्धस्यान्तरं जघन्यतः समयमितत्वेऽपि तत्तत्प्रकृतेरवक्तव्यबन्धस्यान्तरमन्तर्मुहूर्तमेव भवति। यत आन्तर्मुहूर्तिकाद्यवस्थानयोग्यभावाः क्वचित् समयद्वयं निरन्तरं परावृत्ता भवन्ति तर्हि तदूर्ध्वं तु जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तमवस्थायिनो भवन्ति।

॥ अथ तृतीयं कालद्वारम् ॥

अथ कालद्वारस्यावसरः, तत्रादौ सार्धगाथया ओघतो भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्जघन्यमुत्कृष्टं च कालं दर्शयन्नाह–

भूगारप्पयराणं समयो कालो लहू तिकम्माणं ।
बीअस्स दोण्ह वि गुरू तह अप्पयरस्स मोहस्स ॥५४॥
भूगारस्स दुसमया दोण्ह वि णामस्स उ समयपुहुत्तं ।

(प्रे०) "भूगारे" त्यादि, उत्तरप्रकृतिषु दर्शनावरणमोहनीयनाम्नामेव भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्भावेन तेषां त्रयाणां भूयस्काराल्पतरबन्धयोरेकजीवमाश्रित्य जघन्यकालः समयो भवति, प्रतिपक्षबन्धद्वयान्तराले समयं तयोर्बन्धभङ्गाभावात् । भूयस्काराल्पतरबन्धयोः प्रागुत्तरत्र च बाहुल्यतोऽवस्थितबन्धस्य भावात् । विशेषचिन्तायां दर्शनावरणमोहनीययोः सामयिकभूयस्कारबन्धस्य प्राक्क्षणेऽवक्तव्याल्पतरावस्थितबन्धा अपि सम्भवन्ति, उत्तरक्षणे त्ववस्थितबन्ध इति, अल्पतरबन्धस्य च प्राक्समयेऽवस्थितबन्ध एव, तदुत्तरसमये तु द्वयोरवस्थितबन्धः, मोहस्य भूयस्कारबन्धो वा प्रवर्तत इति। नामकर्मणः सामयिकभूयस्कारबन्धस्य प्राक्क्षणेऽवक्तव्याल्पतरावस्थितबन्धान्यतमो भवति, उत्तरक्षणे त्वल्पतरोऽवस्थितो वा बन्धो भवतीति। उत्कृष्टकालस्तु दर्शनावरणे भूयस्कारबन्धस्याल्पतरबन्धस्य च समयप्रमित एव, यतः श्रेणितोऽवरोहंश्चतुष्कबन्धात् षड्विधबन्धस्थानं प्राप्नोति तदा भूयस्कारबन्धं करोति, ततोऽष्टमगुणस्थानकतः क्रमेणाऽवरोहन् षष्ठं गुणस्थानकं यावदवस्थितबन्ध एव। यदाऽन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं सास्वादनं मिथ्यात्वं वा गच्छति तदा पुनर्भूयस्कारबन्धः, नान्यथा ततः प्रागिति, इत्थं भूयस्कारबन्धादूर्ध्वमन्तर्मुहूर्तं यावद् भूयस्कारबन्धो नैव भवति, अतो ज्येष्ठकालोऽपि तस्य सामयिकः । दर्शनावरणस्य मोहनीयस्य चाल्पतरबन्धस्य ज्येष्ठकालोऽपि सामयिकः, यतः सास्वादनं विहाय सर्वगुणस्थानकानां मरणं विमुच्य जघन्यकालोऽप्यन्तर्मुहूर्तमेव भवति; मरणे च नैतयोरल्पतरबन्धः, अल्पतरबन्धं विहाय पुनरप्यूर्ध्वतरगुणस्थानगमन एवाल्पतरबन्धः, अत एवाल्पतरबन्धं विधायान्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमेवाल्पतरबन्धो भवति, तस्मादेतयोः कर्मणोरल्पतरबन्धस्य ज्येष्ठकालोऽपि समय एव लभ्यत इति ।

मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धमत्कोत्कृष्टकालो समयद्वयं भवति, तद्यथा–श्रेणितोऽवरोहन् एकादिपञ्चविधबन्धात् स्वस्थाने द्व्यादिबन्धस्थानं प्राप्य भूयस्कारबन्धं कृत्वा तदनन्तरं मरणेन सप्तदशबन्धस्थानं प्राप्तस्यापि भूयस्कारबन्धो भवति, एवं समयद्वयं यावद् भूयस्कारबन्धो भवति, यदि वा चतुर्थादिगुणस्थानकत्रयात् समयं द्वितीयं गुणस्थानं प्राप्य प्रथमगुणस्थानकं यो गच्छति तस्यापि

समयद्वयं यावद् भूयस्कारबन्धो भवति, एकं द्वितीयगुणस्थानकभवं भूयस्कारम्, द्वितीयं च मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकप्राप्तिसमयभवमिति समयद्वयमेव भूयस्कारबन्धज्येष्ठकालः प्राप्यत, एवं प्रकारद्वयादन्यत्र समयद्वयमितः कालो नैव प्राप्यत इति ।

नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोः प्रत्येकं ज्येष्ठकालः 'समयपृथक्त्वं' पृथक्त्वशब्देन द्विप्रभृतिनव पर्यवसानाः संख्या सामान्यतो गृह्यते, तत्र प्रस्तुते तु समयद्वयं सम्भवति, यतो बाहुल्यतः प्रतिसमयं परावर्तमानशीलानि रसबन्धाध्यवसायानि योगस्थानकादीनि विमुच्य सामान्यतोऽन्तर्मुहूर्तकादिकालावस्थानप्रायोग्या ये भावास्ते कारणविशेषं विहाय समयद्वयमुत्कृष्टतः परावृत्तिं विदधते-यथा अनुयोगद्वारसूत्रे कालत आनुपूर्वीद्रव्याणामेकद्रव्यमाश्रित्य समयद्वयमेवोत्कृष्टान्तरं निरूपितम्-तथा च तदक्षराणि-"णेगमववहाराण आणुपुव्वीदव्वाणमंतरं कालओ केवच्चिरं होइ ? एग दव्व पडुच्च जहण्णेण एग समयं उक्कोसेण दो समया" इत्यादि, वृत्तौ भावना एवम् "एग दव्व पडुच्च जहण्णेणं एक्क समय" इति, अत्र भावना-इह त्र्यादिसमयस्थितिकं विवक्षितं किञ्चिदेकमानुपूर्वीद्रव्य त परिणाम परित्यज्य यदा परिणामान्तरेण समयमेकं स्थित्वा पुनस्तेनैव परिणामेन त्र्यादिसमयस्थितिकं जायते तदा जघन्यतया समयोऽन्तरे लभ्यते, 'उक्कोसेणं दो समय' त्ति, तदेव यदा परिणामान्तरेण द्वौ समयौ स्थित्वा पुनस्तमेव त्र्यादिसमयस्थितिकयुक्त प्राक्तनं परिणाममासादयति तदा द्वौ समयावुत्कृष्टतोऽन्तरे भवत, यदि पुन. परिणामान्तरेण क्षेत्रादिभेदत समयद्वयात् परतोऽपि तिष्ठेत् तदा तत्राप्यानुपूर्वीत्वमनुभवेत, ततोऽन्तरमेव न स्यादिति भाव ।"

उक्तपाठत इदमवगम्यते- यदेतादृशाः परावर्तमाना भावाः समये समये परावृत्ताः सन्तः निरन्तरं परावर्तमाना यदि लभ्यन्ते तर्हि समयद्वयम्, न पुनस्तदूर्ध्वम्, अत एव कालत आनुपूर्वीद्रव्यमानुपूर्वीत्वं विहाय यदि कालत अनानुपूर्वीत्वं प्रतिपद्यते तर्हि क्षेत्रादिपरावृत्त्या नानासमयेष्वनानुपूर्वीत्वं नैव प्रतिपद्यते, किन्तु समयमेकमनानुपूर्वीत्वमनुभूयानुपूर्वीत्वं लभते, न पुनरवक्तव्यम्, यतस्तथाभवने समयत्रयादिकमानुपूर्वीत्वस्यान्तरं भवेत्, परमुक्तं तु समयद्वयमेवेति । आनुपूर्वीत्वपरिणामं हित्वाऽनानुपूर्वीत्वावक्तव्यत्वयोरेकतरं वा परिणाममनुभूय पुनरानुपूर्वीत्वपरिणाममेव प्रतिपद्यते, अतोऽनानुपूर्वीत्वाङ्गीकरणापेक्षया समयद्वयमेव निरन्तरा परावृत्तिः, अवक्तव्यपरिणामापेक्षया तु समयमेकं परावृत्य द्वितीयसमये तत्परिणामस्य तादवस्थ्यमिति ।

एवं प्रस्तुतेऽपि प्रकृतीनां बन्धेषु परावृत्तिर्निरन्तरं समयद्वयमेव लभ्यते, न पुनस्त्र्यादिसमयात्मिका; अत एव सातासातयोर्बन्धस्यान्तरं जघन्यतः समयमितत्वेऽपि तत्तत्प्रकृतेरवक्तव्यबन्धस्यान्तरमन्तर्मुहूर्तमेव भवति । यत आन्तर्मुहूर्तिकाद्यवस्थानयोग्यभावाः क्वचित् समयद्वयं निरन्तरं परावृत्ता भवन्ति तर्हि तदूर्ध्वं तु जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तमवस्थायिनो भवन्ति ।

एतत्सर्वं परोपकारपरैर्बहुश्रुतैर्विमर्षणीयं यथागमं संशोध्यं च, अस्माभिस्त्वेतत् सम्भावनया उक्तमित्यवधेयमिति ।

अथ प्रस्तुतम्—त्रयोविंशत्यादीनि त्रिंशत्पर्यवसानानि षड् बन्धस्थानानि मिथ्यादृष्टौ परावर्तमानानि लभ्यन्ते, तत्र निरन्तरं भूयस्कारबन्धोऽल्पतरबन्धश्च समयपृथक्त्वं यावद् भवति तदूर्ध्वं तु प्रायोऽवस्थितबन्ध एव प्रवर्तत इति । एवमोघतो येषां त्रयाणां भूयस्कारात्पतरबन्धौ स्तः, तेषां तयोर्द्विविधबन्धकालो दर्शितः ॥५४॥

अथ ओघतः सप्तानामवस्थितावक्तव्यबन्धयोरेकजीवविषयकं जघन्यमुत्कृष्टं च कालं निरूपयन्नाह—

मूलपयडिव्व दुविहो सत्तराह अवट्ठिअस्स भवे ॥५५॥
णवरि दुइअतुरिआणं लहू खणोऽणो य जलहितेत्तीसा ।
णामस्स समयहीणाऽवत्तव्वस्स समयो दुहा छराहं ॥५६॥ (गीतिः)

(प्रे०) "पयडिव्वे"त्यादि, सप्तानामायुर्वर्जानामवस्थितबन्धस्य कालो मूलप्रकृतिबन्धसत्को यावान् भवति तावान् विज्ञेयः, तद्यथा—ज्ञानावरणगोत्रान्तरायाणां तु जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम्, ज्येष्ठतस्तु भङ्गत्रयगतः, तद्यथा—अभव्यमाश्रित्यानाद्यनन्तः, श्रेणिमप्राप्तभव्यमाश्रित्य अनादिसान्तः, उपशमश्रेणिमारुह्य पतितस्य तु सादिसान्तः, स च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम्, उत्कृष्टतस्तु देशोनार्धपुद्गलपरावर्तः, वेदनीयस्य त्वाद्यभङ्गद्वयमेव, सादित्वाभावेन न तृतीयो विकल्प इति । दर्शनावरणसत्कावस्थितबन्धस्य जघन्यकालः समयः, अतिदेशानुसारेण तु तदन्तर्मुहूर्तं भवेदतो 'णवरि' इत्यादिनाऽपवादभणनम् । भावना त्वेवम्—उपशमश्रेणिमारोहतः षड्विधबन्धाच्चतुर्बन्धं प्राप्तस्य प्रथमसमयेऽल्पतरबन्धं विधाय द्वितीयसमये तदेव बध्नतोऽवस्थितबन्धं कृत्वा तृतीयसमये कालकरणेन दिवि समुत्पन्नस्य पुनर्भूयस्कारबन्धं कुर्वतोऽवस्थितबन्धस्य जघन्यकालः समयः प्राप्यते, अथवोपशमश्रेणितोऽवरोहन् दशमगुणस्थानप्रथमसमये दर्शनावरणचतुष्कं बध्नाति तच्च दर्शनावरणस्यावक्तव्यबन्धरूपं ततो द्वितीयसमये चतुष्कमेव बद्ध्वा कालकरणेन दिवि समुत्पन्नस्य तृतीयसमये षट् प्रकृतीर्बध्नतो भूयस्कारबन्धो भवति । एवमपि मध्यवर्तिसमयमेकमवस्थितबन्धो भवति, ओघे एतत्प्रकारद्वयं विमुच्य नान्यप्रकारेण दर्शनावरणावस्थितबन्धस्य समयः कालः प्राप्यते । मार्गणासु पुनः सास्वादनापेक्षयापि प्राप्यते इति । दर्शनावरणसत्कावस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालस्तु नवप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानमपेक्ष्य ज्ञानावरणसत्कावस्थितबन्धवत् प्रकारत्रयगतो भवतीति ।

मोहनीयेऽवस्थितबन्धस्य जघन्यकालः समयः, स चोपशमश्रेणिमारोहतोऽवरोहतश्चापेक्ष्यैकद्वित्रिचतुःपञ्चनवानां वा बन्धतो मरणेन सप्तदशबन्धं प्राप्तस्य दर्शनावरणवत्प्रकारद्वयेन भाव-

नीयम्, किञ्च सास्वादन एकविंशतिबन्धे समयद्वयं स्थित्वा मिथ्यात्वं गतस्य द्वाविंशतिं प्राप्तस्यै-कविंशतिबन्धस्य द्वितीयसमये समयमेकमवस्थितबन्धः प्राप्यत इति तृतीयप्रकारः। केचित् पुनः द्वाविंशतिसप्तदश-त्रयोदशबन्धत्रयान्यतमस्मान्नव प्राप्य समयद्वयानन्तरं पुनः सप्तदशं प्राप्तस्यापि संयमे समयद्वयमवस्थितस्य तत्र प्रथमसमये तस्याल्पतरबन्धस्य भावेन द्वितीयसमयेऽवस्थितबन्धो भवति, पुनश्च कालकरणेन भूयस्कारबन्धश्चेति समयोऽवस्थितबन्धस्य जघन्यकाल इति प्रतिपाद-यन्ति। एवं त्रिधा चतुर्धा वा समयप्रमाणः कालः प्राप्यत इति। मोहनीयेऽवस्थितबन्धस्योत्कृष्ट-कालो ज्ञानावरणवद् विकल्पत्रयगतो विज्ञेयः, द्वाविंशतिबन्धस्थानमधिकृत्यैष कालः प्राप्यत इति।

नाम्नोऽवस्थितबन्धस्य जघन्यकाल उत्कृष्टकालश्चापवादविषयको भवति, तत्र जघन्य-कालस्तु समयः, मिथ्यादृशां सास्वादनिनां च बन्धस्थानानां परावर्तमानभावेन बन्धप्रायोग्य-त्वात् समयाद्यन्तरेणापि बन्धस्थानपरावृत्तिर्भवति, अयम्भावः-सामान्यतो बन्धस्थानानामन्त-र्मुहूर्तेन परावृत्तेर्भावेऽपि क्वचित्क्वचित् समयेन समयद्वयादिना च परावृत्तिर्भवति, अतोऽव-स्थितबन्धजघन्यकालस्य समयप्रमाणत्वे न काचित् क्षतिः। अष्टस्वपि बन्धस्थानेष्ववस्थानबन्धस्य जघन्यकालः समयः प्राप्यत इति। अवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालस्तु समयोनानि त्रयस्त्रिंशत्सा-गरोपमाणि भवति, अनुत्तरदेवभवमाश्रित्यैकोनत्रिंशत्त्रिंशद्बन्धस्थानद्वयस्य त्रयस्त्रिंशत्सागरोप-मप्रमाणकालस्य भावेन तत्प्रथमसमये च भूयस्कारबन्धस्याल्पतरबन्धस्य वा लाभात् समयो-नानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि यावदवस्थितबन्धो निरन्तरं प्रवर्तते, तदूर्ध्वं त्वल्पतरबन्धस्या-वश्यं भावेन नाऽधिककाललाभ इति। तदेवमोघतः सप्तानामवस्थितबन्धस्यापवादचतुष्कपूर्वका-तिदेशदर्शितकालो भावितः। अथाऽवक्तव्यबन्धस्य कालो वक्तव्यः, तत्रायुष्कस्य प्राक्स्वामि-त्वद्वारे तच्छेषद्वाराणां भावितत्वाद् वेदनीयस्यावक्तव्यबन्धाभावाच्च शेषाणां षण्णां कर्मणा-मवक्तव्यबन्धस्य जघन्य उत्कृष्टश्च कालः समयो भवति, अवक्तव्यबन्धस्य तु सर्वत्र यत्र यत्र तस्य सद्भावः, तत्र तस्य जघन्य उत्कृष्टश्च कालः समय एव भवतीत्यवधार्यमिति ॥५५-५६॥

अथ मार्गणासु भूयस्कारादित्रयाणां बन्धानामेकजीवमपेक्ष्य जघन्यमुत्कृष्टं च काल-मानं निरूपयन्नाह-

जहि जाण भूअगारो अप्पयरओ अवत्तव्वो ।
सिमवत्तव्वस्स दुहा कालो समयो भवे तत्थ ॥५७॥
भूगाराप्पयराणं लहू भवे तत्थ ताण कम्माणं ।
बीअस्स दोराह वि गुरू तह अप्पयरस्स मोहस्स ॥५८॥

यासु मार्गणासु येषां कर्मणां भूयस्कारबन्धोऽल्पतरबन्धोऽवक्तव्यबन्धो वा भवति, त्रयाणां तदन्यतमैकस्य द्वयस्य वा पदस्य सद्भावस्तासु प्रथमगाथाया उत्तरार्धेनावक्तव्यबन्धस्य कालो दर्शितः, तद्यथा—ओघतो वेदनीयायुर्वर्जानामवक्तव्यबन्धस्य जघन्यत उत्कृ श्च कालः यप्रमाण एव भवति, अतः सर्वत्र मार्गणासु तत्सद्भावे तस्य कालः समय ाण एव भवतीति, कासु मार्गणासु कस्य कर्मणोऽवक्तव्यपदस्य सद्भाव इति तु प्राग्दर्शित एवेति न भूयो दर्शयामः ।

भूयस्काराल्पतरबन्धद्वयमोघतो दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां त्रयाणामेव भावेन मार्गणासु यथासम्भवमुक्तकर्मत्रयसत्कमेव तद्भवति, न पुनः शेषकर्मचतुष्कसत्कम् । यासु मार्गणासु दर्शनावरणादित्रयाणां तदन् मस्य वा कर्मण उक्तबन्धद्वयाद् यस्य सत्त्वं भवति तस्य जघन्यकालः समयप्रमाणः, प्रागुत्तरत्र च तदन्यबन्धस्य प्रवर्तनात् । उत्कृष्टकालः पुनरेवम्—दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टकालोऽपि समयः, ओघतोऽपि तयोस्तथात्वात् । मोहनीयस्याल्पतरबन्धोत्कृष्टकालः समयः, ओघेऽपि तस्य तथात्वात् , भावना त्वोघानुसारेण यथासम्भवं कार्येति ॥५७—५८॥

अथ मोहनीयस्य भूयस्कारसत्कोत्कृष्टकालं मार्गणासु विभावयन्नाह—

जेट्ठो वि होइ समयो मोहस्स दुमीसजोगकम्मेसुं ।
गयवेए मणणाणे अणाणतिगसंजमे च ॥५९॥
सामइयछेअवेअगआहारगेसुं य भूअगारस्स ।
सेसासु मग्गणासुं दोण्णि उ समया णेयव्वो ॥६०॥

(प्रे०) "जेट्ठो" इत्यादि, यासु मार्गणासूपशमश्रेणिस्ततः कालकरणान्तरं च देवेषूत्पत्तिर्भवितुमर्हति, यदि वा चतुर्थादिगुणस्थानकत्रयाद् द्वितीयगुणस्थानकं समयं प्राप्य प्रथमगुणस्थानकं यासु मार्गणासु प्राप्नुयात् , एवमुक्तविकल्पद्वयादन्यतरविकल्पसत्त्वे तत्र मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धोत्कृष्टकालः समयद्वयं भवति । तदन्यासु पुनः समयमेकमिति । अतः प्रथमं यासूक्तविकल्पद्वयाभावाद् मोहनीयस्य समयप्रमाणमेव भूयस्कारबन्धस्योत्कृष्टकालो भवति, ता मार्गणा नामतो दर्शयति—औदारिकमिश्र वैक्रियमिश्र कार्मणकाययोगा-ऽपगतवेद-मनःपर्यवज्ञान-मत्यज्ञान--श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञान-संयमौघ-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय क्षयोपशम-सम्यक्त्वा-नाहारकमार्गणासु त्रयोदशसु मोहनीयसत्कभूयस्कारबन्धस्योत्कृष्टकालः समयो भवति । औदारिकमिश्र-वैक्रियमिश्र-कार्मणानाहार र्गणासु श्रेणेरभावाच्चतुर्थगुणस्थानकगतानां प्रस्तुत-मार्गणासु प्रतिपाताभावाच्च नोक्तप्रकारद्वयसद्भाव इति । अज्ञानत्रिके तृतीय-चतुर्थादिगुण-

स्थानाभावादेवोक्तप्रकारद्वयाभावः। क्षयोपशमे तु श्रेणेराद्यगुणस्थानत्रयाणां चाभावादुक्तप्रकारद्वयाभावः। शेषास्वपगतवेद-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीयमार्गणापञ्चके तु श्रेणेः सद्भावेऽपि ततः कालकरणे मार्गणाया एवोच्छेदात्, प्रथमादिगुणस्थानानामभावाच्च नोक्तप्रकारद्वयावकाश इति। अत्रौदारिकमिश्रादिमार्गणाचतुष्केऽज्ञानत्रिके च द्वितीयगुणस्थानात्प्रथमगुणस्थानं प्राप्तस्यैव सामयिको भूयस्कारबन्धो भवति। अपगतवेदादिमार्गणापञ्चके तु श्रेणावेव श्रेणितोऽवरोहन् सामयिकं भूयस्कारबन्धं करोति। क्षयोपशमिकसम्यक्त्वे तु पञ्चमं चतुर्थं वा गुणस्थानकं प्राप्तः समयमेकं भूयस्कारबन्धं करोति। उक्तत्रयोदशमार्गणा विहाय सर्वनरकभेद-तिर्यगोघ पञ्चेन्द्रियतिर्यक्त्रिक-मनुष्यत्रिका-ऽनुत्तरवर्जपञ्चविंशतिदेवभेद-द्विपञ्चेन्द्रिय-द्वित्रसकाय-मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगौघ--तदुत्तरभेदचतुष्कौ-दारिक-वैक्रिययोग-वेदत्रय- कषायचतुष्क--मत्यादिज्ञानत्रया--ऽसंयम-चक्षुरादिदर्शनत्रयलेश्याषट्क-भव्य-सम्यक्त्वौघोपशमक्षायिकसंज्ञ्याहारकमार्गणा द्व्यशीतिः, एतासु शेषासु मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धप्रायोग्यासु मार्गणासु तस्य प्रकृष्टकालः समयद्वयं भवति, तत्र कासुचित् पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणासूक्तविकल्पद्वयेन, कासुचिन्मतिज्ञानादिमार्गणासु प्रथमविकल्पेन कासुचिच्च नरकौघादिषु द्वितीयविकल्पेन मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धस्य प्रकृष्टकालः समयौ प्राप्यत इति॥

अथ नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टकालं निरूपयन्नाह—

भूगारस्सऽखिलणिरयतइआइगअट्ठमंतदेवेसुं ।
आहारदुगे देसे समयो णामस्स गुरुकालो ॥६१॥
अप्पयरस्सऽखिलणिरयतइआइगअट्ठमंतदेवेसुं ।
चउणाणसंजमेसुं समइअछेअपरिहारेसुं ॥६२॥
ओहिपउमसुक्कासु सम्मखइअवेअगेसु तह्वसमे ।
भूगारप्पयराणं समयपुहुत्तं च सेसा ॥६३॥

(प्रे०) "भूगार" इत्यादि, यासु मार्गणासु श्रयादीनि बन्धस्थानान्येव न भवन्ति, तत्र भूयस्काराल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टकालः समय एव भवति। ता मार्गणा ना : पुनरिमाः—अष्टौ नरकमार्गणाः सनत्कुमारादिसहस्रारान्तदेवमार्गणाः। यासु मार्गणासु श्रेणिप्रयुक्ता यद्वा जिननामबन्धप्रयुक्ता यद्वा आहारकद्विकबन्धतद्विरामप्रयुक्ता यद्वा भवपरावृत्तिहेतुकैव भूयस्काराल्पतरबन्धपरावृत्तिर्भवति, तत्र भूयस्कारबन्धस्योत्कृष्टकालः समयद्वयम्, प्रथमसमये जिननामबन्धेन द्वितीय आहारकद्विकप्रारम्भेन यद्वा प्रथमसमयेऽऽहारकद्विकबन्धेन द्वितीयसमये च जिननामबन्धेन, यद्वा श्रेणितोऽवरोहन्नेकस्या बन्धादष्टाविंशतिमेकोनत्रिंशतं वा

बद्ध्वा निधनं प्राप्य दिवि समुत्पन्नस्याष्टाविंशतिबन्धकस्यैकोनत्रिंशतं बध्नत एकोनत्रिंशद्बन्धकस्य त्रिंशद्बन्धं प्राप्तस्य समयद्वयं भूयस्कारबन्धः प्राप्यते। यत्राल्पतरबन्धस्त्वाहारकद्विकबन्धविराम-प्रयुक्तः, यद्वा श्रेणौ देवगत्यादिबन्धविरामप्रयुक्तः, यद्वा देवनैरयिकेभ्यः सम्यक्त्वेन सह च्युतस्य मनुष्येषूत्पन्नस्य भवपरावृत्तिप्रयुक्तः प्राप्यते। एतत्प्रकारत्रयादन्यतमप्रकारेण प्राप्त-स्याल्पतरबन्धस्य समयो ज्येष्ठकालो भवति, ता मार्गणा नामतः पुनरिमाः-मतिश्रुतावधिमनः-ज्ञान-संयमौघ-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय--परिहारविशुद्ध्यवधिदर्शन--पद्मलेश्या शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षयोपशमोपशमसम्यक्त्वेषु पञ्चदशसु भूयस्कारबन्धस्य गुरुकालः समय-द्वयम्, अल्पतरबन्धस्य गुरुकालस्तु समय इति। शेषमार्गणासु नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्ध-द्वयादन्यतरस्यैकस्य द्वयस्य वा सम्भवे तत्काल उत्कृष्टतः समयद्वयादिक इत्येष च "समय-पुहुत्तं य सेसासु" मित्यनेन दर्शितः। आहारकयोगद्वये देशविरतौ च भूयस्कारबन्धस्यैव सद्भावस्तस्योत्कृ[ष्टका]लस्तु समय एव जिननामबन्धप्रारम्भादिति। अत्र शेषसप्तदशोत्तरशतमार्गणा नामतः पुनरिमाः-पञ्चतिर्यग्भेद-मनुष्यभेदचतुष्क-देवौघ-भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क-सौधर्मेशान-देवभेदैकोनविंशतीन्द्रियभेद-सर्वकायमार्गणाभेद-मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगौघ-तदु-त्तरभेदचतुष्क-काययोगौघौदारिक तन्मिश्र--वैक्रिय-तन्मिश्र--कार्मणयोग-वेदत्रय--कषायचतुष्का-ऽज्ञानत्रया-ऽसंयम-चक्षुरचक्षुर्दर्शनाऽशुभलेश्यात्रिक-तेजोलेश्या-भव्याभव्य-सास्वादन-मिथ्यात्व-संज्ञ्यसंज्ञ्याहारकानाहारकमार्गणा इति ॥६१-६३॥

अथ मार्गणासु ज्ञानावरणवेदनीयगोत्रान्तरायाणामवस्थितबन्धस्य जघन्यमुत्कृष्टं च कालं दर्शनावरणमोहनीययोरवस्थानबन्धस्योत्कृष्टकालमानं च प्रदर्शयन्नाह—

मूलपयडिव्व सव्वह दुहा दुइअमोहणामवज्जाणं।
दुइअतुरिआण जेट्ठो अवट्ठिअस्स उ णेयव्वो ॥६४॥
णवरं अवट्ठिअस्स उ तिणाणवहिसम्मवेअगे गुरू।
मोहस्सुदही अहिया तेत्तीसा वा बियाला वा ॥६५॥

(प्रे०) "मूले"त्यादि, ज्ञानावरणादिचतुर्णामवस्थितबन्धस्य जघन्यकाल उत्कृष्टकालश्च यथा मूलप्रकृतिबन्धे तत्तत्कर्मणां यावान् बन्धकालो जघन्यत उत्कृष्टतश्च दर्शितस्तावान् प्रस्तु-तेऽपि विज्ञेयः। यत एतासां चतुष्प्रकृतीनां भूयस्काराल्पतरबन्धयोरभावेन तत्प्रकृतिबन्धे प्रव-र्तमानेऽवस्थितबन्ध एव प्रवर्तते, केवलमबन्धादुत्तरं प्रवर्तमानं बन्धप्रारम्भप्रथमसमयभाव्य-वक्तव्यबन्धसमयं विहायेत्यवधार्यमिति। यासु मार्गणासूपशमश्रेणेरभावस्तासु निरुक्त-प्रकृतिचतुष्कस्यावस्थितबन्धस्य जघन्यकालो जघन्यकायस्थितिप्रमाणः, उत्कृष्टकालस्तूत्कृष्ट-कायस्थितिप्रमाणः, अनादिकालीनासु मार्गणासु पुनरनाद्यनन्तः अनादिसान्तश्चेति।

यासु पुनरुपशमश्रेणेः सद्भावस्तास्ववस्थितबन्धस्य जघन्यकालः समयोऽन्तर्मुहूर्तं वा । अयम्भावः—कासुचिन्मार्गणासु यासूपशमश्रेणौ कालकरणानन्तरं मार्गणाया एव विच्छेदस्तासु समयः, यासु पुनः श्रेणौ कालकरणेऽपि मार्गणाया अवस्थानं तादवस्थ्यम्, तासु श्रेणितोऽवरुह्य शीघ्रं पुनः श्रेणिमारोहन्तमपेक्ष्यान्तर्मुहूर्तमिति ।

एवमतिदेशेन प्राप्तमवस्थानबन्धस्य जघन्यमुत्कृष्टं च कालं दर्शयामः, तद्यथा—

ज्ञानावरणवेदनीयगोत्रान्तरायाणां प्रत्येकमवस्थितबन्धस्य—

	जघन्यकालः	उत्कृष्टकालः
नरकौघे देवौघे	दश वर्षसहस्राणि	त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि
प्रथमनरके	„	सागरोपमम्
द्वितीयनरके	सागरोपमम्	सागरोपमत्रयम्
तृतीयनरके	सागरोपमत्रयम्	सप्त सागरोपमाणि
चतुर्थनरके	सप्तसागरोपमाणि	दश सागरोपमाणि
पञ्चमनरके	दश „	सप्तदश „
षष्ठनरके	सप्तदश „	द्वाविंशतिः „
सप्तमनरके	द्वाविंशतिः „	त्रयस्त्रिंशत् „
तिर्यग्गत्यौघे एकेन्द्रियौघे वनस्पतिकायौघे असंज्ञिनि च ४	क्षुल्लकभवः	आवलिकाऽसंख्येयभागगतसमयमिताः पुद्गलपरावर्ताः
पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघे	„	पूर्वकोटिपृथक्त्वाधिक पल्योपमत्रयम्
पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्तिरश्च्योः		„
अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक् „ मनुष्य- „ पञ्चेन्द्रिय- „ त्रसकायेषु अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय-अपर्याप्तबादरैकेन्द्रिय-अपर्याप्तद्वीन्द्रिय अपर्याप्तत्रीन्द्रिय-अपर्याप्तचतुरिन्द्रिय-अपर्याप्तसूक्ष्म-बादरपृथ्वीकायाप्कायतेजस्कायवायुकाय-साधारणवनस्पतिकायभेदेषु-अपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाये च १६	अन्तर्मुहूर्तम् क्षुल्लकभवः	अन्तर्मुहूर्तम्
मनुष्यौघे	वेदस्य क्षुल्लकभवः शेषत्रयस्य समय	पूर्वकोटीपृथक्त्वाधिकपल्योपमत्रयम् „ „
पर्याप्तमनुष्य-मानुष्योः	वेदस्य अन्तर्मुहूर्तम् शेषस्य समय	„ „ „ „

भवनपतिषु	दशसहस्रवर्षाणि	सातिरेकसागरोपमम्
व्यन्तरेषु	,, ,, ,	पल्योपमम्
ज्योतिष्के	पल्याष्टमांश	लक्षवर्षाधिकं पल्योपमम्
सौधर्मे	पल्योपमम्	सागरोपमद्वयम्
ईशाने	सातिरेकपल्योपमम्	सातिरेक ,,
सनत्कुमारे	सागरोपमद्वयम्	सागरसप्तकम्
माहेन्द्रे	सातिरेकसाग० द्वयम्	सातिरेक ,,
ब्रह्मदेवलोके	सप्त-सागरोपमाणि	दश सागरोपमाणि
लान्तके	दश ,,	चतुर्दश ,,
महाशुक्रे	चतुर्दश ,,	सप्तदश ,,
सहस्रारे	सप्तदश ,,	अष्टादश ,,
आनते	अष्टादश ,,	एकोनविंशति ,,
प्राणते	एकोनविंशतिः ,,	विंशतिः ,,
आरणे	विंशतिः ,,	एकविंशतिः ,,
अच्युते	एकविंशति ,,	द्वाविंशति ,,
प्रथम-ग्रैवेयके	द्वाविंशति ,,	त्रयोविंशति ,,
द्वितीय ,,	त्रयोविंशति ,,	चतुर्विंशतिः ,,
तृतीय ,,	चतुर्विंशतिः ,,	पञ्चविंशतिः ,,
चतुर्थ ,,	पञ्चविंशति ,,	षड्विंशति ,,
पञ्चम ,,	षड्विंशति ,,	सप्तविंशति ,,
षष्ठ ,,	सप्तविंशतिः ,,	अष्टाविंशतिः ,,
सप्तम ,,	अष्टाविंशति ,,	एकोनत्रिंशत् ,,
अष्टम ,,	एकोनत्रिंशत् ,,	त्रिंशत् ,,
नवम ,,	त्रिंशत्	एकत्रिंशत् ,,
अनुत्तरचतुष्के	एकत्रिंशत् ,,	त्रयस्त्रिंशत् ,,
सर्वार्थसिद्धे	त्रयस्त्रिंशत् ,,	,, ,,
पृथ्वीकायौघ-अप्कायौघ-तैजस्कायौघ-वायुकायौघ-सूक्ष्मैकेन्द्रियौघ-सूक्ष्मपृथ्वीकायाप्कायतेजस्काय-वायुकाय-सूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकायौघेषु १०	क्षुल्लकभवः	असङ्ख्येयलोकाः
पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय-पर्याप्तसूक्ष्म-पृथ्वीकाय-पर्याप्तसूक्ष्माप्काय-पर्याप्तसूक्ष्मतेजस्काय-पर्याप्तसूक्ष्म-वायुकाय-पर्याप्तसूक्ष्मसाधारणवन-स्पतिकाय-पर्याप्तबादरसाधारण-वनस्पतिकायेषु ७	अन्तर्मुहूर्तम्	अन्तर्मुहूर्तम्

बादरपृथ्वीकायौघ-बादराप्कायौघ-बादरतेजस्कायौघ-बादरवायुकायौघ प्रत्येकवनस्पतिकायौघबादर-साधारणवनस्पतिकायौघेषु ६	क्षुल्लकभवः	सप्ततिकोटिकोटिः सागरोपमाणाम्
बादरैकेन्द्रियौघ-बादरवनस्पतिकायौघयोः	क्षुल्लकभवः	अङ्गुलासंख्येयभागगतप्रदेशप्रमिताः समयाः, असंख्योत्सर्पिण्यवसर्पिण्य इत्यर्थः ।
साधारणवनस्पतिकायौघे	"	सार्धपुद्गलपरावर्तद्वयम्
बादरपर्याप्तपृथ्वीकाय- " " आप्काय- " " वायुकाय- " " प्रत्येकवनस्पतिकाय- " " प्तैकेन्द्रियेषु	अन्तर्मुहूर्तम्	संख्येयसहस्रवर्षाणि
बादरपर्याप्ततेजस्काये	"	संख्येयान्यहोरात्राणि मतान्तरे संख्येयवर्षसहस्राणि वा
वैक्रिययोग-आहारकयोगयोः मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगौघ- " " " केषु	समयः	अन्तर्मुहूर्तम्
काययोगौघे	वेदनीयस्य-अन्तर्मुहूर्तम् शेषत्रयस्य समयः	असंख्यपुद्गलपरावर्ताः "
औदारिककाययोगे	समयः	अन्तर्मुहूर्तोनानि द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि
औदारिकमिश्रे	वेद्यस्य समयः शेषत्रयस्य समयद्वयोनक्षुल्लकभवः	अन्तर्मुहूर्तम् "
वैक्रियमिश्राहारकमिश्रयोः	अन्तर्मुहूर्तम्	"
कार्मणानाहारकयोः	समयः	समयद्वयं त्रयं वा, वेद्यस्य त्रयमेव
पुरुषवेदे	अन्तर्मुहूर्तम्	सातिरेकसागरोपमशतपृथक्त्वम्
स्त्रीवेदे	समयः	पल्योपमशतपृथक्त्वम्
नपुंसकवेदे	"	असंख्येयपुद्गलपरावर्ताः
अवेदे	समयः	वेद्यस्य देशोनपूर्वकोटिः शेषत्रयस्य अन्तर्मुहूर्तम् ।
कषायचतुष्के	समयः मतान्तरे-क्रोधमानमायासु अन्तर्मुहूर्तम्	अन्तर्मुहूर्तम् "
मतिज्ञानश्रुतज्ञान-सम्यक्त्वौघ-क्षयोपशमसम्यक्त्वेषु	अन्तर्मुहूर्तम्	साधिकषट्षष्टिसागरोपमाणि

अवधिज्ञानदर्शनयोः	समयः, अन्तर्मुहूर्तं वा	साधिकषट्षष्टिसागरोपमाणि
मनःपर्ययज्ञाने	समयः	देशोनपूर्वकोटि
केवलज्ञान-केवलदर्शनयो	वेद्यस्य-अन्तर्मुहूर्तम्,	,,
मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-असयम- मिथ्यात्वेषु	अन्तर्मुहूर्तम्	अनाद्यनन्तः, अनादिसान्तः,सादि सान्ते देशोनार्धपुद्गलपरावर्तः
विभङ्गे	समयः	सातिरेकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि
संयमौघे	वेद्यस्य समय, अन्तर्मु वा शेषस्य-समय एव	देशोनपूर्वकोटिः ,,
सामायिकच्छेदोपस्थापनीययोः	समयः	,,
परिहारविशुद्धौ	समय, अन्तर्मु वा	,,
सूक्ष्मसम्पराये	समयः	अन्तर्मुहूर्तम्
देशविरतौ	अन्तर्मुहूर्तम्	देशोनपूर्वकोटि
चक्षुर्दर्शने	अन्तर्मुहूर्तम्	सातिरेकसागरोपमसहस्रम् सागरोपमसहस्रद्वय वा
अचक्षुर्दर्शने भव्ये	वेद्यस्य-अनाद्यनन्त, अनादिसान्तः शेषस्य-अन्तर्मुहूर्तम	जघन्यवत् तथा च शेषस्य देशोनार्धपुद्गलपरावर्तश्च.
कृष्णलेश्यायाम्	अन्तर्मुहूर्तम्	साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि
नील ,,	,,	साधिकसप्तदशसागरोपमाणि दश ,, वा
कापोत ,,	,,	साधिकदशसागरोपमाणि सप्त ,, वा
तेजो ,,	,,	सातिरेकसागरोपमद्वयम्
पद्म ,,	,,	सातिरेकाष्टादशसागरोपमाणि ,, दश ,, वा
शुक्ल ,,	,,	सातिरेकाणि त्रयस्त्रिंशत्सागरो- पमाणि
अभव्ये	अनाद्यनन्त एव	०
उपशमसम्यक्त्वे	अन्तर्मुहूर्तम्	अन्तर्मुहूर्तम्
क्षायिकसम्यक्त्वे	,,	साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि.
मिश्र ,,	,,	अन्तर्मुहूर्तम्
सास्वादने	समयः	षडावलिका
संज्ञिनि	क्षुल्लकभवः	साधिकसागरोपमशतपृथक्त्वम्
आहारिणि	वेद्यस्य-समयद्वयोनक्षुल्लकभवः शेषत्रयस्य-समयः	अङ्गुलासङ्ख्येयभागगतप्रदेश- राशिप्रमितसमया = असङ्ख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः

दर्शनावरणमोहनीययोरवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालोऽनन्तरदर्शितज्ञानावरणसत्कोत्कृष्टावस्थित-कालवद् द्रष्टव्यः । केवलं मतिज्ञान-श्रुतज्ञानावधिज्ञानावधिदर्शनसम्यक्त्वौघ-क्षयोपशमसम्य-क्त्वमार्गणासु षट्सु, मोहनीयस्यावस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालः साधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरो-पमाणि पञ्चसंग्रहाभिप्रायेण । सप्ततिकाभाष्यवृत्त्यभिप्रायेण सातिरेकषट्षष्टिसागरोपमाणि । अन्ये तु द्विचत्वारिंशत् सागरोपमाणि प्रतिपादयन्ति यतश्चतुर्थगुणस्थानकालस्य तन्मते ताव-त्प्रमाणत्वात् ॥६४-६५॥

अथ दर्शनावरणसत्कावस्थानबन्धस्य जघन्यकालं निरूपयति—

असमत्तपणिंदितिरियमणुसपणिंदितसऽणुत्तरेसु तहा ।
सव्वेसुं एगिंदिय-विगलिंदिय-पंचकायेसुं ॥६६॥
मीसतिजोगेसु तहा अणाणातिगपरिहारदेसेसुं ।
अजयअसुहलेसासुं अभवे तह वेअगे मीसे ॥६७॥
मिच्छासरणीसु लहू दुइअस्स अवट्ठिअस्स कायठिई ।
सजहरणांतमुहुत्तं अंतिमणिरयेऽणाहि समयो ॥६८॥

(प्रे०) "असमत्तपणिंदि" इत्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-अपर्याप्तमनुष्या-ऽपर्याप्त-पञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसकाय-पञ्चानुत्तरसुरमार्गणा-सप्तैकेन्द्रिय-नवविकलाक्षैकोनचत्वारिंशत्पञ्च-कायसत्कभेदौदारिकमिश्र--वैक्रियमिश्राऽऽहारकमिश्र--मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञान -परिहार-विशुद्धि-देशविरत्यसंयम कृष्ण-नील-कापोतलेश्यात्रयाऽभव्य-क्षयोपशमसम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्व-मिथ्यात्वाऽसंज्ञिमार्गणास्वेकाशीतौ दर्शनावरणसत्कावस्थितबन्धस्य जघन्यकालो मार्गणाजघ-न्यकायस्थितिप्रमाणोऽवसेयः । एतास्वः कासुचिन्मार्गणासु दर्शनावरणस्यैकस्यैव बन्धस्थानस्य सद्भावेन मार्गणाजघन्यकायस्थितिप्रमाणकालस्य लाभात् । औदारिकमिश्रे वैक्रियमिश्रे च बन्धस्थानद्वयस्य सद्भावेऽपि प्रस्तुतमार्गणायां न बन्धस्थानयोर्बन्धे परावृत्तिः, अत एव जघ-न्यकायस्थितिप्रमाणकालस्य लाभ इति । असंयमेऽशुभलेश्यात्रये च जघन्यकायस्थितिरन्त-र्मुहूर्तप्रमाणा, प्रस्तुतमार्गणासु बन्धस्थानद्वयं भवति, तयोः परस्परं संक्रमानन्तरमन्तर्मुहूर्तं यावदवश्यं प्रस्तुतमार्गणानामवस्थानादन्तर्मुहूर्तमवस्थानबन्धस्य जघन्यकालः प्राप्यत इति । भावना तु सुगमा स्वयं च कार्येति । सप्तमनरकमार्गणायां दर्शनावरणस्यावस्थानबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम्, मार्गणाजघन्यकालस्यातिबृहत्तरत्वात्, न तस्यातिदेशः । स च जघन्यकालः सम्यक्त्वद्वयान्तरालस्थितमिथ्यात्वजघन्यकालप्रमाणः, यद्वा मिथ्यात्वद्वयान्त-

राले सम्यक्त्वजघन्यकालप्रमाणः, यदि वा सम्यक्त्वतः पतित्वा मिथ्यात्वं प्राप्य तत्र जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं स्थित्वैव जीवो मार्गणान्तरं व्रजति अतस्तावत्कालप्रमाणः, एवं चोक्तप्रकारत्रयात् यत्र जघन्यकालः प्राप्यते सोऽत्र ग्राह्य इति । उक्तशेषास्वष्टाशीतिमार्गणासु दर्शनावरणस्यावस्थितबन्धस्य जघन्यकालः समयः, (१) काश्चिन्मार्गणा जघन्यतः समयप्रमाणा एव, कासुचिन्मार्गणासु मार्गणाया जघन्यकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तादिप्रमाणत्वेऽपि तास्वनेकबन्धस्थानानां सम्भवेन षड्विधबन्धात् सास्वादनगुणस्थानकं गत्वा नवविधबन्धस्थानं प्राप्य प्रथमसमये भूयस्कारबन्धं निर्वर्त्य द्वितीयसमयेऽवस्थितबन्धं कृत्वा मार्गणान्तरं यः प्राप्नोति तस्यावस्थितबन्धस्य जघन्यकालः समयो भवति ।

मनोयोगवचोयोगभेदकाययोगौघौदारिकयोगकषायचतुष्केषु पुनः बन्धस्थानत्रयेऽपि प्रत्येकं तत्तद्बन्धस्थानं प्राप्य द्वितीयसमयेऽवस्थितबन्धं कृत्वा स्वस्थान एव मार्गणायाः परावृत्त्या समयः कालो भवति

सामान्यतो नवविधबन्धात् षड्विधबन्धस्थानं प्राप्य समयान्तरे मरणादिना मार्गणायाः परावृत्तिर्नैव भवतीत्यवधार्यम् । यतश्चतसृष्वपि गतिषु सम्यक्त्वजघन्यकालस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् ।

२ चतुष्कबन्धात् षड्बन्धस्थानं प्राप्य द्वितीयसमयेऽवस्थितबन्धं कृत्वा तृतीयसमये मरणेन मार्गणापरावृत्त्याऽपि समयप्रमाणकालो लभ्यते ।

३ यद्वा श्रेणितोऽवरोहन् दर्शनावरणचतुष्कबन्धप्रारम्भप्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धं कृत्वा द्वितीयसमयेऽवस्थितबन्धं निर्वर्त्य निधनं प्राप्य दिवि समुत्पन्नस्य षड्बन्धस्थानं प्राप्तस्य तत्र प्रस्तुतमार्गणाया अवस्थानेऽपि चतुर्विधबन्धस्थाने समयमवस्थानबन्धः प्राप्यते ।

४ यद्वोपशमश्रेण्यारोहे षड्विधबन्धाच्चतुर्विधबन्धं प्राप्य द्वितीयसमये चावस्थितबन्धं विधाय मरणं समासाद्य पुनः षड्विधबन्धं प्राप्तस्याऽपि समयोऽवस्थानबन्धस्य जघन्यकालः प्राप्यते ।

येऽसंज्ञिपर्यन्तेषु सास्वादनभावमेव न मन्यन्ते ये चैकेन्द्रियाद्यसंज्ञिपर्यवसानेषु च सास्वादनभावस्याङ्गीकरणेऽपि सम्यक्त्वतश्च्युत्वा सास्वादनभावं प्राप्तास्तत्रावलिकाऽसङ्ख्येयभागकालमननुभूयामंज्ञ्यादिजीवेषु नोत्पद्यन्ते इत्यभिप्रायवन्तस्तन्मते पञ्चेन्द्रियादिमार्गणास्ववस्थितबन्धस्य जघन्यकालस्तृतीय-चतुर्थविकल्पद्वयेन प्राप्यत इति । नरकौघादिमार्गणास्ववस्थितबन्धस्य जघन्यकालः प्रथमविकल्पेन प्राप्यते । अचक्षुर्दर्शनभव्यमार्गणयोस्तु तृतीय चतुर्थविकल्पद्वयेनैवेति ।

शेषाऽष्टाशीतिमार्गणा नामत इमाः—नरकौघाद्यषड्नरक-तिर्यग्गत्योघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यक्त्रिक-मनुष्यत्रिक-देवौघ-भवनपति-व्यन्तर--ज्योतिष्क-द्वादशकल्प--नवग्रैवेयक-द्विपञ्चेन्द्रिय--द्वि-

त्रसकाय-मनोयोग वचोयोगसर्वभेद--काययोगौघौदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारककाययोग-कार्मणयोग-वेदत्रया-ऽपगतवेद-कषायचतुष्क--ज्ञानचतुष्क-संयमौघ-सामायिक--च्छेदोपस्थापनीय -सूक्ष्मसम्पराय-चक्षुरचक्षुरवधिदर्शन-शुभलेश्यात्रय-भव्य सम्यक्त्वौघोपशम-क्षायिक-सास्वादन-संज्ञ्याहारका-नाहारकमार्गणाः । अत्र तेजःपद्मलेश्याद्वये मतद्वयमवसातव्यम्, तद्यथा—येषां मते देवानां या शुभावस्थितलेश्या भवति सा उत्तरत्र भवेऽप्यन्तर्मुहूर्तं यावदवश्यं प्रवर्तते तेषां मते देवेभ्यश्च्युत्वा एकेन्द्रियेषु मिथ्यादृक्तिर्यग्मनुष्येष्वपि शुभलेश्या भवति अतस्तेषां मतेऽवस्थितबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम् एव प्राप्यते, न पुनः समयः । येषां मते तु देवा मिथ्यादृष्टयः शुभलेश्यामधिकृत्य च्यवनानन्तरं नष्टलेश्याका एव भवन्ति तेषां मते देवगतिमार्गणावत् तेजःपद्मलेश्याद्वये नवविधबन्धस्थानस्यावस्थानबन्धस्य जघन्यकालः समयो भवति । अत्र च प्रथम एव मतः प्रधानतयाऽङ्गीकर्तव्यः आगमेन सह संवादात् । न च द्वितीयोऽप्रामाणिकतया विधातव्यः, जीवसमासादिपूर्वधररचितग्रन्थेन सह संवादादिति ॥६६-६७-६८॥

अथ मोहनीयसत्कावस्थितबन्धस्य जघन्यकालं निरूपयन्नाह—

असमत्तपणिंदितिरिअमणुमपणिदितसऽणुत्तरेसु तहा ।
सव्वेसुं एगिंदिय-विगलिंदिय-पंचकायेसुं ॥६९॥
वेअगअमणेसु लहू अवट्ठिअस्सऽत्थि मोहणीयस्स ।
सजहण्णा कायठिई समयो सेसासु विण्णेयो ॥७०॥॥

(प्रे०) "असमत्ते"त्यादि, यासु मार्गणासूपशमश्रेण्योर्यद्वा सास्वादनगुणस्थानस्य सद्भावस्तासु मार्गणासु मोहनीयस्यावस्थानबन्धस्य जघन्यकालः समयः, तत्रोपशमश्रेणौ मोहस्य नूतनबन्धस्थानं प्रारभ्य द्वितीयसमयेऽवस्थितबन्धं कृत्वा कालकरणेन भूयस्कारबन्धं प्राप्तस्याऽवस्थितबन्धजघन्यकालः प्राप्यते; सास्वादनस्य तु कालस्यैव समयादिषडावलिका-प्रमाणत्वेन तत्रागतानां तत्प्रथमसमयेऽवश्यं भूयस्कारबन्धो सर्वेषां भवति, तदनन्तरसमयेऽवस्थितबन्धं कृत्वा मिथ्यात्वगुणं प्राप्तानां पुनरपि भूयस्कारबन्धस्यावश्यं भावादवस्थितबन्धस्य जघन्यकालः समयः प्राप्यत इति । अत्र केवलमुपशमश्रेणिप्रयुक्तोऽवस्थितबन्धजघन्यकालो यासु भवति ता मार्गणा नामत इमाः-अपगतवेदमत्यादिज्ञानचतुष्कावधिदर्शनसंयमौघसामायिकच्छेदोपस्थापनीय-सम्यक्त्वौघोपशमसम्यक्त्व-क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणा द्वादश । उपशमश्रेणिप्रयुक्ता सास्वादनप्रयुक्ताश्चावस्थितबन्धजघन्यकालिका मार्गणा इमाः—मनुष्यभेदत्रयद्विपञ्चेन्द्रिय-द्वित्रसकाय-मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगौघ तदुत्तरभेदचतुष्क-काययोगौघौदारिककाययोग -वेदत्रय-कषायचतुष्क-चक्षुरचक्षुर्दर्शन-शुक्ललेश्या भव्य-संज्ञ्याहारकमार्गणा द्वात्रिंशत् । केवलं

राले सम्यक्त्वजघन्यकालप्रमाणः, यदि वा सम्यक्त्वतः पतित्वा मिथ्यात्वं प्राप्य तत्र जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं स्थित्वैव जीवो मार्गणान्तरं व्रजति अतस्तावत्कालप्रमाणः, एवं चोक्तप्रकारत्रयात् यत्र जघन्यकालः प्राप्यते सोऽत्र ग्राह्य इति । उक्तशेषास्वष्टाशीतिमार्गणासु दर्शनावरणस्यावस्थितबन्धस्य जघन्यकालः समयः, (१) काश्चिन्मार्गणा जघन्यतः समयप्रमाणा एव, कासुचिन्मार्गणासु मार्गणाया जघन्यकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तादिप्रमाणत्वेऽपि तास्वनेकबन्धस्थानानां सम्भवेन षड्विधबन्धात् सास्वादनगुणस्थानकं गत्वा नवविधबन्धस्थानं प्राप्य प्रथमसमये भूयस्कारबन्धं निर्वर्त्य द्वितीयसमयेऽवस्थितबन्धं कृत्वा मार्गणान्तरं यः प्राप्नोति तस्यावस्थितबन्धस्य जघन्यकालः समयो भवति ।

मनोयोगवचोयोगभेदकाययोगौघौदारिकयोगकषायचतुष्केषु पुनः बन्धस्थानत्रयेऽपि प्रत्येकं तत्तद्बन्धस्थानं प्राप्य द्वितीयसमयेऽवस्थितबन्धं कृत्वा स्वस्थान एव मार्गणायाः परावृत्त्या समयः कालो भवति

सामान्यतो नवविधबन्धात् षड्विधबन्धस्थानं प्राप्य समयान्तरे मरणादिना मार्गणायाः परावृत्तिर्नैव भवतीत्यवधार्यम् । यतश्चतसृष्वपि गतिषु सम्यक्त्वजघन्यकालस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् ।

२ चतुष्कबन्धात् षड्बन्धस्थानं प्राप्य द्वितीयसमयेऽवस्थितबन्धं कृत्वा तृतीयसमये मरणेन मार्गणापरावृत्त्याऽपि समयप्रमाणकालो लभ्यते ।

३ यद्वा श्रेणितोऽवरोहन् दर्शनावरणचतुष्कबन्धप्रारम्भप्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धं कृत्वा द्वितीयसमयेऽवस्थितबन्धं निर्वर्त्य निधनं प्राप्य दिवि समुत्पन्नस्य षड्बन्धस्थानं प्राप्तस्य तत्र प्रस्तुतमार्गणाया अवस्थानेऽपि चतुर्विधबन्धस्थाने समयमवस्थानबन्धः प्राप्यते ।

४ यद्वोपशमश्रेण्यारोहे षड्विधबन्धाच्चतुर्विधबन्धं प्राप्य द्वितीयसमये चावस्थितबन्धं विधाय मरणं समासाद्य पुनः षड्विधबन्धं प्राप्तस्याऽपि समयोऽवस्थानबन्धस्य जघन्यकालः प्राप्यते ।

येऽसंज्ञिपर्यन्तेषु सास्वादनभावमेव न मन्यन्ते ये चैकेन्द्रियाद्यसंज्ञिपर्यवसानेषु च सास्वादनभावस्याङ्गीकरणेऽपि सम्यक्त्वतश्च्युत्वा सास्वादनभावं प्राप्तास्तत्रावलिकाऽसङ्ख्येयभागकालमननुभूयासंख्यादिजीवेषु नोत्पद्यन्ते इत्यभिप्रायवन्तस्तन्मते पञ्चेन्द्रियादिमार्गणास्ववस्थितबन्धस्य जघन्यकालस्तृतीय-चतुर्थविकल्पद्वयेन प्राप्यत इति । नरकौघादिमार्गणास्ववस्थितबन्धस्य जघन्यकालः प्रथमविकल्पेन प्राप्यते । अचक्षुर्दर्शनभव्यमार्गणयोस्तु तृतीय चतुर्थविकल्पद्वयेनैवेति ।

शेषाऽष्टाशीतिमार्गणा नामत इमाः—नरकौघाद्यषड्नरक-तिर्यग्गत्योघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यक्त्रिक-मनुष्यत्रिक-देवौघ-भवनपति-व्यन्तर--ज्योतिष्क-द्वादशकल्प--नवग्रैवेयक-द्विपञ्चेन्द्रिय-द्वि-

बन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तं समयं वा भवेदिति स्वयमागमानुसारेण निर्णेयम्; यतो नात्राऽऽहारकद्विकस्य बन्धः, न च सामान्यतो बन्धस्थानयोः परावृत्तिः, केवलं जिननामप्रारम्भादेव तत्परावृत्तिः, यदि मार्गणाद्वितीयसमये मार्गणाद्विचरमसमये वा जिननामबन्धप्रारम्भः स्यात् तर्हि अवस्थानबन्धस्य जघन्यकालः समयः स्यादन्यथा त्वन्तर्मुहूर्तमित्यत्र तत्त्वं बहुश्रुता विदन्ति ॥६९॥

अथ मार्गणासु नाम्नोऽवस्थानबन्धस्योत्कृष्टकालमानं निरूपयन्नाह—

दुपणिंदितसपुमेसुं तिणाणअजएसु दंसणतिगे य ।
सुक्कभवियसम्मखइअ-वेअगसरणीसु आहारे ॥७०॥
ओघव्व गुरू कालो णामस्स अवट्ठिअस्स विरणेयो ।
समणिरयभवणतिगपणलेसासुं ऊणजेट्ठकायठिई ॥७१॥ (गीतिः)
जेट्ठा भवट्ठिई खलु हवेज्ज तिरियदुपणिंदितिरियेसुं ।
साऽब्भहिया दुणरेसुं दुजोणिणीए य देसूणा ॥७२॥
सुरसोहम्माइगसुरकम्मणमणणाणसंजमेसुं च ।
सामाइअछेएसुं परिहारे देसमीसेसुं ॥७३॥
सासणऽणाहारेसुं जेट्ठा कायट्ठिई मुणेयव्वो ।
थीअ पणवरणपल्ला ऊणा णपुमे च जलहितेत्तीसा ॥७४॥ (गीतिः)
अहियेगतीसजलही अणाणदुगे अभवियमिच्छेसुं ।
ऊणा इगतीसुदही विब्भंगेऽणाह मुहुत्तंतो ॥७५॥

(प्रे०) "दुपणिंदि"इत्यादि गाथाषट्कम्, नाम्नोऽवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालो बाहुल्यत एकभवतोऽधिको नैव प्राप्यते, (१) एकस्मिन्न् भवेऽपि भवप्रत्ययेनैव यदि बन्धस्थानानां परावृत्तिर्न स्यात्तदा, (२) तत्सम्भवे तु यावत्कालं तस्मिन् भवे सम्यक्त्वादिगुणप्रत्ययेन बन्धस्थानपरावृत्तिर्न स्यात्, तावत्कालं बन्धाऽपरावृत्तिर्धारणीया, अतस्तत्र तस्य गुणप्रत्ययेनोत्कृष्टावस्थानकालः प्राप्यते । (३) अन्यथा तु बन्धस्थानानामुत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमवश्यं परावृत्त्याऽवस्थानबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तमेव प्राप्यते, नाधिक इति । एतेन बीजभूतार्थपदेन गाथार्थो भावनीयस्तद्यथा—

द्विपञ्चेन्द्रियाद्यकोनविंशतिमार्गणासु पश्चानुत्तरदेवभवापेक्षया समयोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणोऽवस्थानबन्धस्योत्कृष्टकालो भावनीयः । नरकौघ प्रथमादिसप्तमान्तनरकभेद-

सास्वादनप्रयुक्ता अवस्थितबन्धस्य जघन्यकालिका मार्गणा इमाः—नरकौघाद्यषड्नरकाऽपर्याप्त-मेदवर्जतिर्यग्मेदचतुष्कदेवौघ--भवनपति--व्यन्तर-ज्योतिष्क--द्वादशकल्प--नवग्रैवेयकौदारिकमिश्र-वैक्रिय-वैक्रियमिश्र-कार्मणा-ऽज्ञानत्रयाऽसंयम--कृष्णनीलकापोततेजः पद्मलेश्याऽनाहारकमार्गणा इति पञ्चाशत् । काश्चिन्मार्गणा एव जघन्यतः समयप्रमाणकायस्थितिका अतस्तत्र जघन्यकाय-स्थितिमपेक्ष्यैव समयोऽवस्थितबन्धस्य जघन्यकालः प्राप्यते, ता मार्गणा नामत इमाः—आहारक-काययोग-परिहारविशुद्धि-सास्वादनमार्गणा इति तिस्रो मार्गणाः । शेषास्वपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्य-गादिद्वासप्ततिमार्गणास्वेकैकस्यैव बन्धस्थानस्य भावेन मार्गणाजघन्यकायस्थितेश्चान्तर्मुहूर्तादि-प्रमाणत्वाद् मोहनीयस्यावस्थितबन्धस्य जघन्यकालः स्वजघन्यकायस्थितिप्रमाणो भवति, स च प्रागनन्तरदर्शितज्ञानावरणसत्कावस्थानजघन्यकालवद् भावनीय इति । सूक्ष्मसम्परायादिमार्गणा-पञ्चके मोहनीयस्य बन्धाभावान्न तासां निर्देश इति ॥६९-७०॥

मोहनीयसत्कावस्थानबन्धस्योत्कृष्टकालं प्राक् "मूलपयडिव्व दुहा" इत्यादिना(५५-५६) दर्शितत्वात् क्रमप्राप्तं नाम्नोऽवस्थितबन्धस्य जघन्यकालं प्ररूपयन्नाह—

आणतआइसुरेसुं मीसे य अवट्ठिअस्स णामस्स ।
सजहण्णा कायठिई देसे समयमणाहऽत्थि समो ॥७१॥

(प्रे०) "आणते" त्यादि, यासु मार्गणास्वेकजीवापेक्षया द्व्यादीन्यनेकबन्धस्थानानि तत्रा-वस्थानबन्धस्य जघन्यकालः समयः सम्भवेत् । यासां मार्गणानां जघन्या कायस्थितिः समयप्रमाणा तास्वप्यवस्थानबन्धस्य जघन्यकालः समयो भवति । केवलं सम्यग्दृष्टिप्रायोग्यासु मतिज्ञानादि-मार्गणासु सामान्यतो बन्धस्थानानां परावृत्तेरभावेऽपि यद्बन्धस्थानं प्रवर्तते ततो जिननामबन्धं प्रारभ्यान्यद्बन्धं प्राप्य द्वितीयसमये तदेव निर्वर्त्य तृतीयसमय आहारकद्विकस्य बन्धप्रारम्भात् समयप्रमाणोऽवस्थानबन्धस्य जघन्यकालो भवति, यद्वाऽऽहारकद्विकबन्धकः सप्तमगुणस्थानात् षष्ठं गुणस्थानकं प्राप्य तद्विरामाद् बन्धस्थानान्तरमेव व्रजति, ततो द्वितीयसमये तदेव निर्वर्त्य निधनं प्राप्य दिवि समुत्पन्नस्य नियमाद् बन्धस्थानस्य परावर्तनात् समयं प्रमत्तगुणस्थानद्वितीय-समयरूपमवस्थितबन्धस्य जघन्यकालः प्राप्यत इति ।

आनतादिसर्वार्थसिद्धपर्यन्तेष्वष्टादशदेवभेदेषु सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायाञ्चेति एकोन-विंशतिमार्गणासु नानाजीवापेक्षया बन्धस्थानद्वयस्य प्रत्येकं भावेऽप्येकजीवापेक्षयैकस्यैव बन्ध-स्थानस्य मार्गणाप्रारम्भात्तत्पर्यवसानं यावन्निरन्तरं सम्भवेन मार्गणाजघन्यकालस्य चान्त-र्मुहूर्तं ततोऽप्यधिकस्य वा सम्भवेन नाम्नोऽवस्थानबन्धस्य जघन्यकालः समयो न प्राप्यते, किन्तु मार्गणाजघन्यकायस्थितिकालप्रमाण इति । देशविरतिमार्गणायां तु नाम्नोऽवस्थित-

बन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तं समयं वा भवेदिति स्वयमागमानुसारेण निर्णेयम्; यतो नात्राऽऽहारकद्विकस्य बन्धः, न च सामान्यतो बन्धस्थानयोः परावृत्तिः, केवलं जिननामप्रारम्भादेव तत्परावृत्तिः, यदि मार्गणाद्वितीयसमये मार्गणाद्विचरमसमये वा जिननामबन्धप्रारम्भः स्यात् तर्हि अवस्थानबन्धस्य जघन्यकालः समयः स्यादन्यथा त्वन्तर्मुहूर्तमित्यत्र तत्त्वं बहुश्रुता विदन्ति ॥६९॥

अथ मार्गणासु नाम्नोऽवस्थानबन्धस्योत्कृष्टकालमानं निरूपयन्नाह—

दुपणिंदितसपुमेसुं तिणाणअजएसु दंसणतिगे य ।
सुक्कभवियसम्मखइअ-वेअगसरणीसु आहारे ॥७०॥
ओघव्व गुरू कालो णामस्स अवट्ठिअस्स विरणेयो ।
समणिरयभवणतिगपणलेसासुं ऊणजेट्ठकायठिई ॥७१॥ (गीतिः)
जेट्ठा भवट्ठिई खलु हवेज्ज तिरियदुपणिंदितिरियेसुं ।
साऽभहिया दुणरेसुं दुजोणिणीए य देसूणा ॥७२॥
सुरसोहम्माइगसुरकम्मणमणणाणसंजमेसुं च ।
सामाइअछेएसुं परिहारे देममीसेसुं ॥७३॥
सासणऽणाहारेसुं जेट्ठा कायट्ठिई मुणेयव्वो ।
थीअ पणवरणपल्ला ऊणा णपुमे च जलहितेत्तीसा ॥७४॥ (गीतिः)
अहियेगतीसजलही अरणाणदुगे अभवियमिच्छेसुं ।
ऊणा इगतीसुदही विब्भंगेऽणाह मुहुत्तंतो ॥७५॥

(प्रे०) "दुपणिंदि" इत्यादिः गाथाषट्कम्, नाम्नोऽवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालो बाहुल्यत एकभवतोऽधिको नैव प्राप्यते, (१) एकस्मिन्न् भवेऽपि भवप्रत्ययेनैव यदि बन्धस्थानानां परावृत्तिर्न स्यात्तदा, (२) तत्सम्भवे तु यावत्कालं तस्मिन् भवे सम्यक्त्वादिगुणप्रत्ययेन बन्धस्थानपरावृत्तिर्न स्यात्, तावत्कालं बन्धाऽपरावृत्तिर्धारणीया, अतस्तत्र तस्य गुणप्रत्ययेनोत्कृष्टावस्थानकालः प्राप्यते। (३) अन्यथा तु बन्धस्थानानामुत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमवश्यं परावृत्त्याऽवस्थानबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तमेव प्राप्यते, नाधिक इति। एतेन बीजभूतार्थपदेन गाथार्थो भावनीयस्तद्यथा—

द्विपञ्चेन्द्रियाद्यकोनविंशतिमार्गणासु पञ्चानुत्तरदेवभवापेक्षया समयोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणोऽवस्थानबन्धस्योत्कृष्टकालो भावनीयः। नरकौघ प्रथमादिसप्तमान्तनरकभेद-

भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कभेदकृष्णादिपञ्चलेश्यारूपा षोडशमार्गणासु नाम्नोऽवस्थानबन्धस्यो-त्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तोनमार्गणोत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणः प्राप्यते । तत्र नरकभेदेष्वष्टसु भवन-पत्यादिभेदत्रयेऽशुभलेश्यात्रये च नानाबन्धस्थानसम्भवेन परावृत्तिसम्भवेऽपि तासु प्रत्येकं सम्य-क्त्वगुणसत्कोत्कृष्टकालस्यान्तर्मुहूर्तोनकायस्थितिप्रमाणत्वेन तत्प्रयुक्तोऽवस्थानबन्धस्योत्कृष्ट-कालोऽन्तर्मुहूर्तोनमार्गणाकायस्थितिप्रमाणः प्राप्यत इति । देवौघसौधर्मादिसर्वार्थसिद्धदेवान्तसप्त-विंशतिमार्गणासु नाम्नोऽवस्थानबन्धस्योत्कृष्टकालो मार्गणाज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणो भवति । भावना त्वोघवदेव, तत्तद्देवभेदमवलम्ब्य सम्यग्दृष्टिदेवापेक्षया कार्येति । अत्र भवप्रथमसमये भूयस्काराल्प-तरान्यतरबन्धस्य भावेऽपि तस्य भवप्रथमसमये मार्गणाप्रथमसमयरूपे भूयस्काराल्पतरत्वेनाविव-क्षणात् अवस्थितबन्धत्वेन तद्बन्ध उक्तः, भवप्रथमसमयभाविबन्धस्य भूयस्काराल्पतरतया विव-क्षणे तु समयोनकायस्थितिरवस्थानबन्धस्य ज्येष्ठकालो वाच्य इति । तेजःपद्मलेश्याद्वये सम्भवद्-देवसत्कोत्कृष्टकालो यावान् भवति ततः समयोनोऽवस्थानबन्धस्योत्कृष्टकालो भवति । सोऽप्य-न्तर्मुहूर्तोनस्वज्येष्ठकायस्थितिप्रमाण एवेति । तिर्यग्गत्योघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ पर्याप्तपञ्चेन्द्रि-यतिर्यग्मार्गणात्रये ज्येष्ठस्थितिकक्षायिकसम्यग्दृष्टिमधिकृत्यावस्थानबन्धस्योत्कृष्टकालः पल्यो-पमत्रयप्रमाणः प्राप्यते, तस्य भावना त्वष्टाविंशतिबन्धस्थानमधिकृत्य कार्येति । मनुष्यौघे पर्याप्तमनुष्ये च पूर्वकोट्यायुष्को मनुष्यः स्वभवचरमतृतीयभागप्रारम्भे युगलिकमनुष्यसत्कं पल्यो-पमत्रयमितमायुर्बद्ध्वाऽन्तर्मुहूर्तेन सम्यक्त्वं समासादयति, तत्र च स सम्यक्त्वाभिमुखावस्थातो देवद्विकाद्यष्टाविंशतिदेवप्रायोग्यबन्धमारभते; ततः स्वभवचरमतृतीयभागमन्तर्मुहूर्तोनं तदेव बन्धस्थानं निर्वर्त्य स्वभवक्षये मृत्वा पल्यत्रयस्थितिकयुगलिकमनुष्येषूत्पन्नस्तदेव बन्धस्थानं भवप्रथमसमयाच्चरमसमयं यावन्निर्वर्तयति ततो देवेष्वेवोत्पादेन मार्गणाया एवोच्छेदादन्त-र्मुहूर्तोनं पूर्वकोटीतृतीयभागं पल्योपमत्रयं चावस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालः प्राप्यत इति । मानुषी-मार्गणायां तिरश्चीमार्गणायां च देशोनपल्योपमत्रयमवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालो विज्ञेयः, देशोनत्वं चात्राऽन्तर्मुहूर्तोनत्वमिति । सम्यग्दृशां स्त्रीवेदेषूत्पादाभावेन युगलिनीषु तेषामुत्पा-दाभावाद् भवाद्यान्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं युगलिनीनां देवप्रायोग्यस्यैव बन्धकत्वादवस्थितबन्धस्योत्कृष्ट-काल उक्तरूपः सङ्गच्छते इति । सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायामेकजीवापेक्षया एकस्यैव बन्धस्थानस्य सम्भवेन मार्गणाज्येष्ठकालं यावत्तस्यैव बन्धस्य भावादवस्थानबन्धस्योत्कृष्टकालो मार्गणाज्येष्ठ-कायस्थितिप्रमाणो भवति ।

मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीयसंयमेषु श्रेण्यनारोहकानामाहारक-द्विकबन्धाभावे मार्गणामध्ये जिननामबन्धप्रारम्भाभावे चैकस्यैव बन्धस्थानस्य मार्गणा-ज्येष्ठकालं यावद् भावेनैतासु चतसृषु नाम्नोऽवस्थानबन्धस्योत्कृष्टकालो मार्गणोत्कृष्ट-

कायस्थितिप्रमाणो भवति। एवं परिहारविशुद्धौ देशविरतौ च यथासम्भवं भावना कार्येति। कार्मणानाहारकमार्गणाद्वये बन्धस्थानपरावृत्तिसम्भवेऽपि न तत्र सा अवश्यं भाविनी, अतो ये समयत्रयं यावद्बन्धस्थानपरावृत्तिं नैव कुर्वन्तिः ते मार्गणाज्येष्ठकालं यावत्समयत्रयमितमवस्थितबन्धं कुर्वन्ति। सास्वादनसम्यक्त्वमार्गणायां बन्धस्थानत्रयं संभवति, ततस्तेषां सामान्यतस्तावत्कालमध्ये परावर्तनसम्भवेऽपि भवप्रत्ययेन ये सास्वादनगुणस्था जीवा एकमेव बन्धस्थानं निर्वर्तयितुं योग्याः, यथाऽऽनतदेवाः सास्वादनगुणेऽपि केवलं मनुष्यप्रायोग्यैकोनत्रिंशतं बध्नन्ति, यथा च पर्याप्तयुगलिकतिर्यग्मनुष्या वा सास्वादनेऽपि देवगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिमेव बध्नन्ति, अतस्ते सास्वादनमार्गणोत्कृष्टकालं यावदेकस्थानबन्धमेव कुर्वन्तीति तदपेक्षया मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिरवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकाल इति।

स्त्रीवेदमार्गणायां ज्येष्ठा भवस्थितिरैशानाऽपरिगृहीतदेवीसत्का पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमाः, तत्र च सम्यग्दृशामुत्पादाभावेन मिथ्यादृशां च बन्धस्थानत्रयस्य परावृत्त्या बन्धसम्भवेन ताः पर्याप्तीभूय शीघ्रं सम्यक्त्वाभिमुखतां भजन्ति ततः प्रारभ्य भवचरमसमयं यावत्तासां मनुष्यप्रायोग्यैकोनत्रिंशतो बन्धस्थानस्यैव प्रवर्तनादाम्नोऽवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तोना देवीसत्का ज्येष्ठा भवस्थितिर्भवति, सा चान्तर्मुहूर्तोनपञ्चपञ्चाशत्पल्योपमप्रमाणेति। नपुंसकवेदमार्गणायां सप्तमनरके भवाद्यचरमान्तर्मुहूर्तद्वयं विहाय शेषा सप्तमनारकसत्का या ज्येष्ठा भवस्थितिरन्तर्मुहूर्तोना त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणा, तत्र तावत्कालं केषाञ्चित्सम्यक्त्वस्य भावेन मनुष्यप्रायोग्यैकोनत्रिंशद्बन्धस्य निरन्तरं प्रवर्तनादवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणः प्राप्यत इति। मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानमार्गणाद्वये ज्येष्ठभवस्थितेस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणभावेऽपि तस्या नारकसत्कत्वात् तत्र च तेषां नारकाणां तिर्यक्प्रायोग्यबन्धस्थानद्वयस्य भावेन परावृत्त्याऽन्तर्मुहूर्तादधिकोऽवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालो न प्राप्यते। तिर्यग्मनुष्याणां तु युगलधार्मिकमपेक्ष्यान्तर्मुहूर्तोनपल्योपमत्रयप्रमित एवावस्थितज्येष्ठबन्धकालः प्राप्यते। सङ्ख्येयवर्षायुष्कापेक्षया त्वन्तर्मुहूर्तम्। सहस्रारान्तदेवापेक्षयाऽपि तस्य तथात्वादानतादिदेवापेक्षया प्रस्तुतमार्गणागतानामेकस्यैव बन्धस्थानस्य लाभेन तत्रावस्थितबन्धो ज्येष्ठभवस्थितिं यावल्लभ्यते। अत्राऽनुत्तरदेवानां प्रस्तुतमार्गणाद्वयस्याभावेन नवमग्रैवेयकसत्कज्येष्ठभवस्थितिप्रमाणोऽवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालः प्राप्यते, स चैकत्रिंशत्सागरोपमप्रमाणः, स च देवोत्तरमनुष्यभवसत्कान्तर्मुहूर्तेनाभ्यधिको द्रष्टव्य इति। विभङ्गज्ञानमार्गणायामप्येवमेव केवलमुत्तरभवसत्कान्तर्मुहूर्तकालं विहाय शेषं सर्वं निरूपणं निरवशेषं बोध्यम्। केवलं परमतमधिकृत्यान्तर्मुहूर्तोनैकत्रिंशत्सागरोपमप्रमाण उत्कृष्टकालो

विज्ञेय इति । एवमेव सातिरेकैकत्रिंशत्सागरोपमप्रमाण उत्कृष्टकालोऽवस्थितबन्धस्य मिथ्यात्वाभव्यमार्गणयोरवधार्यः, भावनाऽपि तद्वदेवेति ।

शेषासु चतुरशीतिमार्गणासु नाम्नोऽवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो भवति, बाहुल्यतो मार्गणासु सर्वावस्थायां नानाबन्धस्थानसम्भवेन परावृत्त्या च तद्बन्धप्रवर्तनेनान्तर्मुहूर्तादधिकं विवक्षितबन्धस्थानं नैव प्रवर्तते । कासाञ्चिदाहारककाययोगादिमार्गणानां ज्येष्ठकायस्थितेरेवान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् तदधिकबन्धकालस्थानवकाश इति ।

शेषमार्गणा नामत इमाः—अपर्याप्ततिर्यगपर्याप्तमनुष्याऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्तत्रसकाय-सप्तैकेन्द्रिय-नवविकलाक्ष- पृथ्व्यादिपञ्चकायसत्कैकोनचत्वारिंशत्कायभेदकार्मणवर्जसप्तदशयोगभेदाऽपगतवेद--कषायचतुष्क--सूक्ष्मसम्परायसंयमो--पशमसम्यक्त्वाऽसंज्ञिमार्गणा इति । ॥७०-७५॥

श्रीबन्धविधाने उत्तरप्रकृतिबन्धे तृतीयभूयस्काराधिकारे स्वस्थाने
तृतीय कालद्वार समाप्तम् ।

॥ अथ चतुर्थमन्तरद्वारम् ॥

अथ चतुर्थमन्तरद्वारं निरूपयितुकाम आदौ भूयस्कारस्य जघन्यान्तरमोघत आह—

बीआवरणस्स लहुं भूओगारस्स अंतरं णेयं ।
भिन्नमुहुत्तं समयो कम्माणं तुरिअ-छट्ठाणं ॥७६॥

(प्रे०) "बीआवरणस्से"त्यादि, दर्शनावरणस्य भूयस्कारबन्धस्य जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, श्रेणितोऽवरोहंश्चतुर्विधबन्धात् षड् वद्ध्वा क्रमेणाऽधोऽवतीर्य मिथ्यात्वं सास्वादनं वा गच्छति; तत्र च नवविधबन्धं प्रारभते, एवं च सति षड्विधबन्धप्रारम्भकालान्नवविधबन्धस्य प्रारम्भकालं यावदऽन्तर्मुहूर्तमेव कालो जघन्यतो भवति, अतस्तावदन्तरं प्राप्यते । यद्वा सम्यक्त्वगुणतो मिथ्यात्वं प्राप्तस्य तत्प्रथमसमये भूयस्कारबन्धं करोति ततोऽन्तर्मुहूर्ते पुनरपि सम्यक्त्वं प्रतिपद्यान्तर्मुहूर्तं तत्र स्थित्वा मिथ्यात्वं व्रजतो तत्प्रथमसमये पुनर्भूयस्कारबन्धं करोति, एवमन्तर्मुहूर्तद्वयमपि बृहदेकान्तर्मुहूर्तेऽन्तर्भवति । उक्तविकल्पद्वये यत्र जघन्यमन्तरं तदत्र ग्राह्यमिति । जघन्यान्तरं समयं तु नैव प्राप्यते यतः षड्विधबन्धस्य नवविधबन्धस्य च जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तमेव, भूयस्कारबन्धस्तदन्तरं चोक्तबन्धस्थानद्वयप्रयुक्तमेवेति । मोहनीयस्य नाम्नश्च भूयस्कारबन्धस्य जघन्यान्तरं समयो भवति, तच्चावस्थितबन्धप्रयुक्त एव भवति, यतो भूयस्काराल्पतरयोः समुदिताऽपि परावृत्तिः समयत्रयं यावन्नैव स्यादतो भूयस्कारबन्धानन्तरं यदि नामप्रकृतिष्वल्पतरबन्धः प्रवर्तते तदा तृतीयादिसमयेऽवस्थितबन्ध एव प्रवर्तते अतो भूयस्कारबन्धानन्तरं समयमवस्थितबन्धं विधाय पुनर्भूयस्कारबन्धं यदा करोति तदा समयप्रमितमन्तरं प्राप्यत इति । अत्र मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धस्य जघन्यान्तरं यः श्रेणितोऽवरोहन् सकृद् भूयस्कारबन्धं कृत्वा द्वितीयसमयेऽवस्थितबन्धं विधाय तृतीयसमये देवेषूत्पद्य पुनर्भूयस्कारं करोति तमधिकृत्य प्राप्यते, यद्वा सम्यक्त्वतः प्रपततः सास्वादनं समयद्वयमनुभूय मिथ्यात्वं प्राप्तस्य भूयस्कारबन्धस्य जघन्यान्तरं प्राप्यते । नाम्नो भूयस्कारबन्धस्य जघन्यान्तरं मिथ्यादृष्टिसास्वादनाऽप्रमत्ताऽपूर्वकरणगुणस्थानगतजीवापेक्षया प्राप्यत इति ॥७६॥

अथ ओघतोऽल्पतरबन्धस्य जघन्यान्तरं निरूपयन्नाह—

अप्पयरस्स जहण्णं बीअचउत्थाण होइ कम्माणं ।
भिन्नमुहुत्तं समयो विण्णेयं णामकम्मस्स ॥७७॥

(प्रे०) "अप्पयरस्से"त्यादि, दर्शनावरणमोहनीयकर्मणोरल्पतरबन्धस्य जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तमुपर्युपरिगुणस्थानकारोह एवाल्पतरबन्धस्य लाभेन तादृशगुणस्थानकान्तरप्राप्ति-

व्यवधानस्य जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् , एवमेव नवमगुणस्थानेऽपि तदवान्तरभागपञ्चकस्य प्राप्त्यन्तरजघन्यकालस्याऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् । अष्टमान्तगुणस्थानेभ्य एकस्मिन् गुणस्थानके, नवमगुणस्थानभागपञ्चकादेकस्मिन् भागे च यथासम्भवं तयोरल्पतरबन्धस्य द्विरलाभाच्चान्तर्मुहूर्तप्रमाणमन्तरं जघन्यतः प्राप्यत इति । अयम्भावः–दर्शनावरणे नवविधबन्धात् षड्विधबन्धं प्राप्य तत्र चान्तर्मुहूर्तं स्थित्वैव चतुर्विधबन्धस्थानं प्राप्नोति, षड्विधबन्धस्थानजघन्यकालस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् , यासु पुनर्मार्गणासु षड्विधबन्धस्थानस्य जघन्यकालः समयः प्राप्यते, तथापि स मरणव्याघातादिना मार्गणापरावृत्त्या, न पुनस्तत्र बन्धस्थानपरावृत्तिर्भवति चतुर्विधबन्धस्थानं वा प्राप्यते । मोहनीयस्याप्यल्पतरबन्धान्तरं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमेव भवति । एकविंशतिप्रकृतिरूपं बन्धस्थानं विहाय शेषबन्धस्थानानां जघन्यकालस्य मरणव्याघात विहायान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्, मरणव्याघाते सति भूयस्कारबन्धस्यावस्थितबन्धस्य वा भावाच्च । न पुनः कुत्रचिदपि मरणव्याघातेन मोहनीयस्याल्पतरबन्धः प्राप्यते, येन तत्प्रयुक्ताल्पतरबन्धान्तरं समयः स्यात् । एकविंशतिबन्धस्थानं पुनः भूयस्कारेणैव प्राप्यते, तदुत्तरमपि भूयस्कारबन्धोऽवस्थितबन्धो वा । नामकर्मसत्काल्पतरबन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, तदप्यवस्थितबन्धप्रयुक्तमेव भूयस्कारबन्धान्तरवत् प्राप्यते, केवलमाद्यगुणस्थानद्वयगता एवाल्पतरबन्धजघन्यान्तरस्य स्वामिन इति ॥७७॥

अथ ओघतोऽवस्थिताऽवक्तव्यबन्धयोर्जघन्यान्तरं निरूपयन्नाह–

हस्सं आइमसत्तमचरमाण अवट्ठिअस्स दो समया ।
समयो तिण्हं छण्हमवत्तव्वस्स य मुहुत्तंतो ॥७८॥

(प्रे०) "हस्स"मित्यादि, ज्ञानावरणगोत्रान्तरायाणां त्रयाणामवक्तव्यावस्थितबन्धौ एव भवतः, तत्रावस्थितबन्धस्य विरामोऽबन्धेनैव भवति, स चोपशान्तमोहे क्षीणमोहे वा, तत्रोपशान्तमोहे प्रथमसमयेऽबन्धं कृत्वा तत्रैव मरणेन द्वितीयसमये योऽवक्तव्यबन्धं करोति तस्य पुनस्तृतीयसमयेऽवस्थितबन्धो भवति, एवं च समयद्वयमबन्धावक्तव्यबन्धद्वयप्रयुक्तमेव त्रयाणामवस्थितबन्धस्य जघन्यान्तरं प्राप्यते ।

दर्शनावरणमोहनीयनाम्नामवस्थितबन्धस्य जघन्यान्तरं समयो भवति, तच्चान्तरं भूयस्कारबन्धप्रयुक्तमल्पतरबन्धप्रयुक्तं वा भवति । अबन्धप्रयुक्तं तु न ग्राह्यम् ; यतोऽबन्धोत्तरबन्धभवने तत्प्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धस्यावश्यंभावात्समयद्वयमेवान्तरं स्यात् , न तु समयम् , तथा च न जघन्यमिति ।

आयुषोऽवक्तव्यावस्थितबन्धयोः प्रागेव स्वामित्वद्वारे शेषकालादिद्वाराणां प्ररूपणाया दर्शितत्वान्नात्र तदवकाशः । तथा वेदनीयस्यावस्थितबन्धस्यान्तरमेव नास्ति, तद्बन्धस्याऽनाद्यनन्तभङ्गेऽनादिसान्तभङ्गे चैव लाभादिति ।

आयुष्कवेदनीयवर्जानां षण्णामवक्तव्यबन्धस्य जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तम् , उपशमश्रेणितोऽवरोहन्नासां षण्णामवक्तव्यबन्धं विधाय ततः क्रमेण प्रमत्तगुणस्थानकं यावत् प्राप्य पुनः शीघ्रं श्रेणिमारुह्य सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये निधनं प्राप्य देवेषूत्पन्नो मोहनीयस्यावक्तव्यबन्धं करोति, ज्ञानावरणादिपञ्चानां स एवोपशान्तमोहं प्राप्य तत्प्रथमसमये मरणमासाद्य स्वर्गलोकं प्राप्तोऽवक्तव्यबन्धं विदधाति, अतोऽन्तर्मुहूर्ततो न्यूनमन्तरं नैव स्यात् ; श्रेण्यारोहणावरोहणकालस्य श्रेणिद्वयान्तरकालस्य च जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् ॥७८॥

अथ नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टान्तरं प्रदर्शयन्नाह—

जलहीणं संखेज्जा भूओगारस्स णामकम्मस्स ।
गुरुमप्पयरस्स भवे तेत्तीसा सागराऽब्भहिया ॥७९॥

(प्रे०) "जलहीण"मित्यादि, नामकर्मणो भूयस्कारबन्धस्योत्कृष्टान्तरं साधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि संख्येयसागरोपमाणि वा भवति, आहारकद्विकबन्धक उपशान्तमोहगतश्च कालं कृत्वा देवगतौ य उत्पद्यते तं विहाय सर्वस्य देवगतावुत्पत्तिप्रथमसमयेऽवश्यं भूयस्कारबन्धः प्रवर्तते, तत्र च सम्यक्त्वेन सह त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि व्यतीत्य मनुष्येषूत्पद्याल्पतरबन्धं विधाय पुनरवस्थितबन्धं कुर्वन्नाहारकद्विकं जिननाम चाबध्नन् स्वभवप्रान्तं यावदवस्थितबन्धं कृत्वा देवेषूत्पद्यते तर्हि तत्प्रथमसमये भूयस्कारबन्धो भवति । एवं च पूर्वकोट्यभ्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि प्रस्तुतान्तरं सामान्यतया प्रकृष्टं लभ्यते । आहारकद्विकस्य जिननाम्नो वा बन्धभावे तु भूयस्कारबन्धस्य भवनान्न प्रकृष्टान्तरलाभः । यदि पुनर्देवभवानन्तरं पूर्वकोट्यायुष्कभवे प्रान्त उपशमश्रेणिमारुह्य नाम्नोऽबन्धको भूत्वोपशान्तमोहगुणस्थानक एव कालं कृत्वा पुनस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकदेवतयोत्पद्यते तर्हि तत्र भूयस्कारबन्धस्थाने भवप्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धस्यैव भावात् पुनरन्यानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि प्रस्तुतान्तरमध्ये सम्भवात् षट्षष्टिसागरोपमाणि पूर्वकोटी अन्य देशोनपूर्वकोटी च प्रस्तुतान्तरं प्राप्यत इति मूले सङ्ख्येयान्येव सागरोपमाणि प्रस्तुतान्तरं दर्शितम् । न पुनस्त्रयस्त्रिंशदिति । अतः सामान्यतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सातिरेकाणि, विशेषत उक्तघटनया सातिरेकाणि षट्षष्टिसागरोपमाणि प्रस्तुतान्तरं प्राप्यत इति ।

केचित्तु साधिकानि द्विषट्षष्टिसागरोपमाणि प्रस्तुतान्तरतया कल्पयन्ति, तन्मते श्रेणितः कालं कृत्वाऽनुत्तरभिन्नदेवेषूत्पादस्यानिषेधात् , श्रीउत्तराध्ययनबृहद्वृत्त्यादिषु निर्ग्रन्थस्यैकादशगुणस्थानगतस्य सौधर्मादिष्वपि जघन्यतयोत्पादस्य प्रतिपादनात् । तदत्र तत्त्वं बहुश्रुता विदन्ति ।

ओघतो नाम्नोऽल्पतरबन्धस्योत्कृष्टान्तरं साधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि भवति सम्यग्दृष्ट्यपेक्षया देवेभ्य श्च्युतस्य मनुष्यभवप्रथमसमयेऽवश्यमल्पतरबन्धस्य भावात्, समयोन-पूर्वकोटयभ्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि प्रस्तुतान्तरं मनुष्यानुत्तरदेवभवद्वयापेक्षया प्राप्यते। मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया तु नवमग्रैवेयकदेवमधिकृत्यैकत्रिंशत्सागराण्यन्तर्मुहूर्ताभ्यधिकानि प्रकृष्टतः प्रस्तुतान्तरतया प्राप्यत इति न तस्योपादानम्। सप्तमनारकापेक्षया त्वल्पतरबन्धस्य प्रकृष्टान्तर-मन्तर्मुहूर्तोनानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि प्राप्यते अतो न तस्यापि प्रस्तुते ग्रहणमिति ॥७९॥

अथ षण्णामवस्थितबन्धस्य दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धयोश्च प्रकृष्टान्तरं निरूपयन्नाह—

छण्हं वि य कम्माणं अवट्ठिअस्स हवए मुहुत्तंतो ।
सेससपयाण भवे देसूणो अद्धपरिअट्टो ॥८०॥

(प्रे०) "छण्ह"मित्यादि, वेदनीयायुष्कवर्जषण्णामवस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, तद्यथा—ज्ञानावरणदर्शनावरणगोत्रनामान्तरायाणां पञ्चानां यावति उपशान्तमोहस्य ज्येष्ठाद्धा स्यात् सा समयाधिका ज्ञानावरणगोत्रान्तरायाणाम्, द्विसमयाधिका च दर्शनावरण-नाम्नोरवस्थितबन्धस्य ज्येष्ठान्तरतया प्राप्यते। अत्रोपशान्तमोहे ज्ञानावरणादिप्रकृतीनामेवाबन्ध-कत्वात्तदवस्थितबन्धस्याप्यबन्धकत्वं ततोऽवरोहकस्य बन्धप्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धस्यैव भावाद-वस्थितबन्धाभावः; इति आरोहकसूक्ष्मसम्परायचरमसमयं यावत्प्रवृत्तोऽप्यवस्थितबन्ध उपशान्तमो-हेऽवरोहकसूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये च नैव लभ्यते, सूक्ष्मसम्परायद्वितीयादिसमयेषु पुनरपि तत्प्र-वृत्तेः। दर्शनावरणनाम्नोस्त्ववरोहकसूक्ष्मसम्परायप्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धं विधाय मरणमासाद्य देवेषूत्पन्नस्य तयोर्भूयस्कारबन्धस्यैव भावेन देवभवद्वितीयसमयतोऽवस्थितबन्धः प्रवर्तत इत्येवं ज्ञानावरणादिभ्यो दर्शनावरणनाम्नोरवस्थितबन्धान्तरं समयाधिकमिति। मोहस्यावस्थितबन्ध-ज्येष्ठान्तरं दर्शनावरणवद्विज्ञेयम्, केवलमुपशान्तमोहाद्धास्थाने तस्या सूक्ष्मसम्परायद्वयाद्धायाश्चा-न्तरमध्ये ग्रहणादन्तर्मुहूर्तत्रयं समयद्वयाधिकमन्तरं बोद्धव्यम्। तदेवं वेदनीयायुर्वर्जानां षण्णामपि कर्मणामवस्थितबन्धस्य ज्येष्ठान्तरमोघेऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणं भवति, यतो विरुद्धबन्धप्रयुक्तान्तरं समयं समयद्वयं वा भवति। अबन्धप्रयुक्तान्तरं तु प्रकृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाण प्राप्यते, षण्णा-मपि कर्मणामबन्धकालस्य प्रकृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वादिति। वेदनीयस्य केवलमवस्थितबन्ध एव भवति, तस्य चान्तरं नास्ति। आयुषः प्रागेव दर्शितत्वादत्रानधिकार एवेति।

"सेससपयाण" त्ति ज्ञानावरणादिषण्णामवक्तव्यपदस्य दर्शनावरणमोहनीययोर्भूय-स्काराल्पतरबन्धयोश्च ज्येष्ठान्तरं देशोनार्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणं भवति। सकृत् सम्यक्त्वं प्राप्तस्य

तदनुक्षपकश्रेणिप्राप्तेर्ज्येष्ठान्तरस्य तावन्मितत्वेन ततोऽधिकान्तरस्यासम्भवात् , सम्यक्त्वद्वयस्योपशमश्रेणिद्वयस्य च ज्येष्ठान्तरस्य देशोनार्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणत्वादिति । तदेवमोघतो भूयस्कारादिपदानामन्तरं जघन्यत उत्कृष्टतश्च निरूपितम् ॥८०॥

अथ मार्गणासु तद् निरूपयन्नाह षण्णामवक्तव्यबन्धान्तरम्—

जासुऽत्थि अवत्तव्वो जहि तहि दुइअचउबंधठाणव्व ।
सि अंतरमत्थि णवरि अवेअसुक्कुवसमेसु णो ॥८१॥

(प्रे०) "जासु"त्यादि, यासु मार्गणास्वायुर्वर्जानां यासां यासां प्रकृतीनामवक्तव्यबन्धो भवतिः तासु चैव मार्गणासु तासां जघन्यान्तरं ज्येष्ठान्तरं च दर्शनावरणस्य चतुर्विधबन्धस्य यावदन्तरं जघन्यत उत्कृष्टतश्च दर्शितं, तावदत्र प्राप्यते, एतच्च सामान्यत उक्तम् , अर्थात् यत्र तज्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं तत्र प्रस्तुतेऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणं लभ्यते तथाऽपि न तयोरन्तर्मुहूर्तयोस्तुल्यत्वम् , किन्तु चतुर्विधबन्धसत्कजघन्यान्तरतोऽवक्तव्यबन्धजघन्यान्तरस्य सङ्ख्येयगुणत्वमवधेयम् । अतिदिष्टान्तरं संक्षेपतो दर्शयामः, तद्यथा—मनुष्यौघ पर्याप्तमनुष्य-मानुषीषु ज्ञानावरणादिषण्णामवक्तव्यबन्धस्य जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं ज्येष्ठं पूर्वकोटीपृथक्त्वं देशोनम् । पञ्चेन्द्रियौघपर्याप्तपञ्चेन्द्रियद्विके त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकायद्वये मतिज्ञानादिज्ञानत्रिक-चक्षुरवधिदर्शन-क्षायिकसम्यक्त्वसंज्ञ्याहारकमार्गणासु द्वादशसु षण्णामवक्तव्यबन्धस्य जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं ज्येष्ठान्तरं देशोनज्येष्ठकायस्थितिः । मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-काययोगौघौ-दारिककाययोगेषु षण्णां लोभमार्गणायां च मोहनीयस्यावक्तव्यबन्धस्य भावेऽप्येतासु यथा चतुर्विधबन्धस्थानस्यान्तरं नास्ति तथाऽवक्तव्यबन्धस्याप्यन्तरं नास्ति, चतुर्विधबन्धान्तरस्याभावस्तु प्रस्तुते योगानां परावर्तमानत्वेनोपशान्तमोहकालं यावदवस्थितयोगस्याभावात् , लोभमार्गणाया उपशान्तमोहेऽलाभाच्च । अवक्तव्यबन्धान्तराभावस्तु यः सकृद्बन्धं विधाय यावत् षष्ठगुणस्थानमवतीर्य पुनरपि श्रेणिमारुह्य बन्धविच्छेदं करोति तावत्प्रस्तुतमार्गणानामनवस्थानात् । मनःपर्यवज्ञाने संयमौघे च षण्णामवक्तव्यबन्धस्य जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं ज्येष्ठं देशोनपूर्वकोटिः । सम्यक्त्वौघे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं ज्येष्ठं साधिकानि षट्षष्टिसागरोपमाणि ।

अचक्षुर्दर्शन-भव्यमार्गणयोस्त्वोघवत् षण्णामवक्तव्यबन्धस्य जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तमुत्कृष्टान्तरं देशोनार्धपुद्गलपरावर्तगतसमयप्रमितं भवति । अपगतवेदशुक्ललेश्योपशमसम्यक्त्वरूपासु तिसृषु मार्गणासु यासु चतुर्विधबन्धस्थानस्यान्तरमुपशान्तमोहापेक्षया एव प्राप्यते, न पुनः श्रेणिमवरुह्य पुनरारोहणमपेक्ष्य तासु चतुर्विधबन्धान्तरस्य भावेऽपि प्रस्तुतेऽवक्तव्यबन्ध-

ओघतो नाम्नोऽल्पतरबन्धस्योत्कृष्टान्तरं साधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि भवति सम्यग्दृष्ट्यपेक्षया देवस्य श्च्युतस्य मनुष्यभवप्रथमसमयेऽवश्यमल्पतरबन्धस्य भावात्, समयोन-पूर्वकोटयभ्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि प्रस्तुतान्तरं मनुष्यानुत्तरदेवभवद्वयापेक्षया प्राप्यते। मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया तु नवमग्रैवेयकदेवमधिकृत्यैकत्रिंशत्सागराण्यन्तर्मुहूर्ताभ्यधिकानि प्रकृष्टतः प्रस्तुतान्तरतया प्राप्यत इति न तस्योपादानम्। सप्तमनारकापेक्षया त्वल्पतरबन्धस्य प्रकृष्टान्तर-मन्तर्मुहूर्तोनानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि प्राप्यते अतो न तस्यापि प्रस्तुते ग्रहणमिति ॥७९॥

अथ षण्णामवस्थितबन्धस्य दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धयोश्च प्रकृष्टान्तरं निरूपयन्नाह—

छण्हं वि य कम्माणं अवट्ठिअस्स हवए मुहुत्तंतो।
सेससपयाण भवे देसूणो अद्धपरिअट्टो ॥८०॥

(प्रे०) "छण्ह"मित्यादि, वेदनीयायुष्कवर्जषण्णामवस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, तद्यथा—ज्ञानावरणदर्शनावरणगोत्रनामान्तरायाणां पञ्चानां यावति उपशान्तमोहस्य ज्येष्ठाद्धा स्यात् सा समयाधिका ज्ञानावरणगोत्रान्तरायाणाम्, द्विसमयाधिका च दर्शनावरण-नाम्नोरवस्थितबन्धस्य ज्येष्ठान्तरतया प्राप्यते। अत्रोपशान्तमोहे ज्ञानावरणादिप्रकृतीनामेवाबन्ध-कत्वात्तदवस्थितबन्धस्याप्यबन्धकत्वं ततोऽवरोहकस्य बन्धप्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धस्यैव भावाद-वस्थितबन्धाभावः; इति आरोहकसूक्ष्मसम्परायचरमसमयं यावत्प्रवृत्तोऽप्यवस्थितबन्ध उपशान्तमो-हेऽवरोहकसूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये च नैव लभ्यते, सूक्ष्मसम्परायद्वितीयादिसमयेषु पुनरपि तत्प्र-वृत्तेः। दर्शनावरणनाम्नोस्त्ववरोहकसूक्ष्मसम्परायप्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धं विधाय मरणमासाद्य देवेषूत्पन्नस्य तयोर्भूयस्कारबन्धस्यैव भावेन देवभवद्वितीयसमयतोऽवस्थितबन्धः प्रवर्तत इत्येवं ज्ञानावरणादिभ्यो दर्शनावरणनाम्नोरवस्थितबन्धान्तरं समयाधिकमिति। मोहस्यावस्थितबन्ध-ज्येष्ठान्तरं दर्शनावरणवद्विज्ञेयम्, केवलमुपशान्तमोहाद्धास्थाने तस्या सूक्ष्मसम्परायद्वयाद्धायाश्चा-न्तरमध्ये ग्रहणादन्तर्मुहूर्तत्रयं समयद्वयाधिकमन्तरं बोद्धव्यम्। तदेवं वेदनीयायुर्वर्जानां षण्णामपि कर्मणामवस्थितबन्धस्य ज्येष्ठान्तरमोघेऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणं भवति, यतो विरुद्धबन्धप्रयुक्तान्तरं समयं समयद्वयं वा भवति। अबन्धप्रयुक्तान्तरं तु प्रकृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाण प्राप्यते, षण्णा-मपि कर्मणामबन्धकालस्य प्रकृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वादिति। वेदनीयस्य केवलमवस्थितबन्ध एव भवति, तस्य चान्तरं नास्ति। आयुषः प्रागेव दर्शितत्वादत्रानधिकार एवेति।

"सेससपयाण" त्ति ज्ञानावरणादिषण्णामवक्तव्यपदस्य दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धयोश्च ज्येष्ठान्तरं देशोनार्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणं भवति। सकृत् सम्यक्त्वं प्राप्तस्य

तदनुभपकश्रेणिप्राप्तेर्ज्येष्ठान्तरस्य तावन्मितत्वेन ततोऽधिकान्तरस्यासम्भवात्, सम्यक्त्वद्वयस्यो-पशमश्रेणिद्वयस्य च ज्येष्ठान्तरस्य देशोनार्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणत्वादिति। तदेवमोघतो भूय-स्कारादिपदानामन्तरं जघन्यत उत्कृष्टतश्च निरूपितम् ॥८०॥

अथ मार्गणासु तद् निरूपयन्नाह षण्णामवक्तव्यबन्धान्तरम्—

जाणाऽत्थि अवत्तव्वो जहि तहि दुइअचउबंधठाणव्व।
सि अंतरमत्थि णवरि अवेअसुक्कुवसमेसु णो ॥८१॥

(प्रे०) "जाणे"त्यादि, यासु मार्गणास्वायुर्वर्जानां यासां यासां प्रकृतीनामवक्तव्य-बन्धो भवति; तासु चैव मार्गणासु तासां जघन्यान्तरं ज्येष्ठान्तरं च दर्शनावरणस्य चतुर्वि-धबन्धस्य यावदन्तरं जघन्यत उत्कृष्टतश्च दर्शितं, तावदत्र प्राप्यते, एतच्च सामान्यत उक्तम्, अर्थात् यत्र तज्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं तत्र प्रस्तुतेऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणं लभ्यते तथाऽपि न तयोरन्तर्मुहू-र्तयोस्तुल्यत्वम्, किन्तु चतुर्विधबन्धसत्कजघन्यान्तरतोऽवक्तव्यबन्धजघन्यान्तरस्य सङ्ख्येयगुण-त्वमवधेयम्। अतिदिष्टान्तरं संक्षेपतो दर्शयामः, तद्यथा—मनुष्यौघ पर्याप्तमनुष्य-मानुषीषु ज्ञाना-वरणादिषण्णामवक्तव्यबन्धस्य जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं ज्येष्ठं पूर्वकोटीपृथक्त्वं देशोनम्। पञ्चे-न्द्रियौघपर्याप्तपञ्चेन्द्रियद्विके त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकायद्वये मतिज्ञानादिज्ञानत्रिक-चक्षुरवधिदर्शन-क्षायिकसम्यक्त्वसंज्ञ्याहारकमार्गणासु द्वादशसु षण्णामवक्तव्यबन्धस्य जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं ज्येष्ठान्तरं देशोनज्येष्ठकायस्थितिः। मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-काययोगौघौ-दारिककाययोगेषु षण्णां लोभमार्गणायां च मोहनीयस्यावक्तव्यबन्धस्य भावेऽप्येतासु यथा चतुर्विधबन्धस्थानस्यान्तरं नास्ति तथाऽवक्तव्यबन्धस्याप्यन्तरं नास्ति, चतुर्विधबन्धान्तर-स्याभावस्तु प्रस्तुते योगानां परावर्तमानत्वेनोपशान्तमोहकालं यावदवस्थितयोगस्याभावात्, लोभमार्गणाया उपशान्तमोहेऽलाभाच्च। अवक्तव्यबन्धान्तराभावस्तु यः सकृद्बन्धं विधाय यावत् षष्ठगुणस्थानमवतीर्य पुनरपि श्रेणिमारुह्य बन्धविच्छेदं करोति तावत्प्रस्तुतमार्गणानामनव-स्थानात्। मनःपर्यवज्ञाने संयमौघे च षण्णामवक्तव्यबन्धस्य जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं ज्येष्ठं देशो-नपूर्वकोटिः। सम्यक्त्वौघे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं ज्येष्ठं साधिकानि षट्षष्टिसागरोपमाणि।

अचक्षुर्दर्शन-भव्यमार्गणयोस्त्वोघवत् षण्णामवक्तव्यबन्धस्य जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तमुत्कृ-ष्टान्तरं देशोनार्धपुद्गलपरावर्तगतसमयप्रमितं भवति। अपगतवेदशुक्ललेश्योपशमसम्यक्त्व-रूपासु तिसृषु मार्गणासु यासु चतुर्विधबन्धस्थानस्यान्तरमुपशान्तमोहापेक्षया एव प्राप्यते, न पुनः श्रेणिमवरुह्य पुनरारोहणमपेक्ष्य तासु चतुर्विधबन्धान्तरस्य भावेऽपि प्रस्तुतेऽवक्तव्यबन्ध-

स्यान्तरं नास्ति, एतासु द्विरवक्तव्यबन्धस्यैवाभावेन तदन्तरस्य निषेध इति । एवमेकगाथया मार्गणास्ववक्तव्यबन्धस्य जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरं दर्शितम् ॥८१॥

अथ सर्वमार्गणासु ज्ञानावरण-गोत्राऽन्तरायाणामवस्थितबन्धस्य जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरं प्ररूपयन्नाह—

सव्वह अवट्ठिअस्स उ भवे पढमगोअविग्घाणं ।
मूलपयडिव्व णवर लहुं खणो जहि तहि दुसमया ॥८२॥ (उपगीतिः)

(प्रे०) "सव्वहे"त्यादि, ज्ञानावरणगोत्रान्तरायाणां त्रयाणां पदद्वयमेव भवति, तत्रावक्तव्यस्यान्तरं प्राग्गाथया दर्शितम् । प्रस्तुतगाथया चावस्थितपदस्यान्तरम्, तद्यथा—यासु मार्गणासूपशान्तमोहसंज्ञकं गुणस्थानकं तथा तत्र मरणानन्तरमपि या मार्गणा अवतिष्ठते तत्रावस्थितबन्धस्य जघन्यान्तरं समयद्वयं भवति । यासु पुनर्मार्गणासूपशान्तमोहगुणस्थानकस्य भावेऽपि तत्र मरणानन्तरं या मार्गणा विच्छेदं यान्ति तास्ववस्थितबन्धस्य जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, उत्कृष्टान्तरं त्वन्तर्मुहूर्तमेव । मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्कौदारिककाययोगे चाऽवस्थितबन्धस्यान्तरं नास्ति, एतास्वबन्धस्य लाभेऽपि पुनर्बन्धप्रारम्भात् प्रागेव प्रस्तुतमार्गणाया अवश्यमेव परावर्तनाद् मूलप्रकृतिबन्धान्तराभावस्येवावस्थितबन्धान्तरस्याप्यभाव इति । ज्ञानावरणादित्रयाणामवस्थितबन्धस्यान्तरमबन्धप्रयुक्तमवक्तव्यबन्धप्रयुक्तं च भावनीयमिति, नान्यप्रकारेण तत्प्राप्यते अत उक्तम्—'जहि तहि दुसमया' इति ॥८२॥

अथ दर्शनावरणमोहनीयनाम्नामवक्तव्यबन्धान्तरस्योक्तत्वात्तद्वर्जशेषपदत्रयस्य जघन्यान्तरं दर्शयति—

दुइअतुरिअछट्ठाणं जाणऽणपयाण अंतरं अत्थि ।
सिं लहुमोघव्व णवरि भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वं ॥८३॥
णामस्स य सव्वणिरयतइआइगअट्ठमंतदेवेसुं ।
भूगारस्स अवेए अवट्ठिअस्स खलु दुइअछट्ठा ॥८४॥
भूगारस्स अवेए मणणाणे संजमे समइए य ।
छेअम्मि वेअगम्मि य मोहस्सऽप्पयरगस्य पुणो ॥८५॥
चउणाणसंजमेसुं समइअछेअपरिहारओहीसुं ।
पम्हसुइलसम्मखइअवेअगुवसमेसु णामस्स ॥८६॥

(प्रे०) "दुइअ" इत्यादि, दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां प्रत्येकं भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धानामन्तरं यथौघे भवति तथा सर्वमार्गणासु सम्भवत्तत्पदेषु विज्ञेयम् । तद्यथा—दर्शना-

वरणस्य भूयस्कारबन्धस्याल्पतरबन्धस्य च जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तम् । अवस्थितबन्धस्य जघन्यान्तरं समयः । मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, अल्पतरबन्धस्य जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तम् । अवस्थितबन्धस्य जघन्यान्तरं समयः । नाम्नो भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धानां जघन्यान्तरं समयः । इयमत्र भावना—दर्शनावरणस्य नवविधं षड्विधं चेति बन्धस्थानद्वयस्य मरणादिना मार्गणापरावृत्तिं विहाय जघन्यकालस्यान्तर्मुहूर्तत्वाद् भूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तरं जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तम् । मार्गणापरावृत्त्या च मार्गणाया एवाभवान्न तद्विचारः, किञ्चौघे यस्य यावज्जघन्यमन्तर्मुहूर्तमन्तरम्, ततो न्यूनान्तरस्य मार्गणास्वसम्भव इत्यप्यन्तर्मुहूर्तमेवान्तरं प्राप्यत इति । मनोयोगादिमार्गणासु तु दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धयोः सम्भवेऽपि मनोयोगवचनयोगसत्कसर्वभेदेष्वौदारिककाययोगे काययोगौघे वैक्रियययोगे कषायचतुष्के उपशमे च दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तरं नास्ति । अवस्थितबन्धस्य जघन्यान्तरं भूयस्काराल्पतरयोः सम्भवे तद्व्यवधानेन समयप्रमाणं प्राप्यते । अपगतवेदमार्गणायां तयोरसम्भवादबन्धप्रयुक्तं प्रस्तुतान्तरं जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तमेवेति ।

मोहनीये यासु मार्गणासूपशमश्रेणिर्भवति, तत्र च कालं कृत्वा देवेषूत्पन्नस्य या मार्गणा अवतिष्ठन्ते, तासु मार्गणासु भूयस्कारबन्धस्य जघन्यान्तरं समयो भवति, तथा च यासु मार्गणासूपरितनगुणस्थानेभ्योऽवरुह्य सास्वादनं प्राप्य मिथ्यात्वं प्राप्तुमर्हति तास्वपि मोहस्य भूयस्कारबन्धस्य जघन्यान्तरं समयो भवति। औदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रकार्मणानाहारकत्र्यज्ञानमार्गणासु सप्तसु मोहस्य भूयस्कारबन्धस्य भावेऽपि न तस्यान्तरं भवति । तथाऽपगतवेद-मनःपर्यवज्ञान संयमौघ-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीयसंयमक्षयोपशमसम्यक्त्वेषु मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धस्य जघन्यान्तरमुक्तविकल्पद्वयाभावेनान्तर्मुहूर्तप्रमाणं भवति। शेषासु सर्वनरकभेद-तिर्यग्भेदचतुष्क-त्रिमनुष्याऽनुत्तरवर्जपञ्चविंशतिदेवभेद--द्विपञ्चेन्द्रिय--द्वित्रसकाय--मनोवचनयोगसर्वभेद-काययोगौघौ- दारिक-वैक्रिय-वेदत्रयकषायचतुष्क-मत्यादिज्ञानत्रिकाऽसंयमदर्शनत्रिक लेश्याषट्क--भव्य-सम्यक्त्वौघोपशम-क्षायिक संज्ञ्या-हारकमार्गणासु भूयस्कारबन्धस्य जघन्यान्तरं समयः । ओघतोऽपि मोहनीयस्याल्पतरबन्धसत्कजघन्यान्तरस्यान्तर्मुहूर्तत्वेन यास्वल्पतरबन्धसम्भवस्तासु तस्य जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, भावना त्वोघानुसारेण यथासम्भवं कार्या । केवलं मनोयोगवचनयोगसत्कसर्वभेदौदारिककाययोग-काययोगौघरूपासु द्वादशमार्गणासु श्रेणिसत्काल्पतरबन्धापेक्षयैव प्रस्तुतान्तरं विज्ञेयम्, एवं कषायचतुष्केऽपि श्रेण्यपेक्षयाऽल्पतरबन्धान्तरं प्राप्यते । वैक्रियकाययोगेऽल्पतरबन्धसद्भावेऽपि तदन्तरं नास्ति । आद्यलेश्यापञ्चके तु यथासम्भवं देवान् नारकांश्चापेक्ष्य प्रस्तुतान्तरं विज्ञेयम्। तिर्यग्मनुष्यापेक्षया त्वल्पतरबन्धस्याऽशुभलेश्यात्रयेऽभावः । तेजःपद्मलेश्याद्वये त्वल्पतरबन्धपदस्य भावेऽप्यन्तरस्याभावो मार्गणयोः प्रत्यन्तर्मुहूर्तं परावर्तमानत्वादिति। अवस्थितबन्धा-

न्तरं तु यासु भूयस्कारबन्धस्याल्पतरबन्धस्य वा सम्भवस्तासु सर्वासु तज्जघन्यतः समयो भवति, सामयिकेन भूयस्कारेणाऽल्पतरबन्धेन वा व्यवधानात् । शेषासु तदन्तरमेव नास्तीति ।

नाम्नो भूयस्कारबन्धस्य यासु सद्भावस्तासु तज्जघन्यान्तरं समयो भवति, कासुचिन्मार्गणासु मिथ्यादृष्टि-सास्वादनिनां प्रवेशस्तयोश्च त्रयादिबन्धस्थानानां सम्भवे तत्र जघन्यतमबन्धस्थानं निर्वर्त्य ततोऽधिकप्रकृत्यात्मकं निर्वर्तयति, ततः समयमवस्थाय पुनः ततोऽप्यधिकप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं यो रचयति तस्य प्रस्तुतान्तरं समयप्रमाणं प्राप्यते । सम्यग्दृष्टिषु तु जिननामबन्धेनाऽऽहारकद्विकबन्धेन समयोऽन्तरं प्राप्यते यद्वा श्रेणितोऽवरोहन्नेकबन्धादपूर्वकरणषष्ठभागं प्राप्तो देवगतिप्रायोग्यमष्टाविंशतिमेकोनत्रिंशतं वा बद्ध्वा समयं चावस्थितबन्धं कृत्वा दिवि समुत्पन्नः पुनर्भूयस्कारबन्धं करोति, एवमपि समयोऽन्तरतया प्राप्यते । यासु नाम्नो द्वे एव बन्धस्थाने तासु भूयस्कारबन्धस्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, यथा-सर्वनारकमार्गणा-सनत्कुमारादिसहस्रारान्त-देवभेदेषु । तथा आहारकाऽऽहारकमिश्र-देशविरतिमार्गणासु भूयस्कारबन्धस्य भावेऽपि तस्यान्तराभावः । कार्मणानाहारकमार्गणयोस्तु भूयस्कारात्पतरबन्धयोर्भावेऽपि यदि मार्गणाप्रथम-समयभाविबन्धो भूयस्कारबन्धतया अल्पतरबन्धतया वा विवक्ष्यते, तर्हि मध्यसमये तदभावे जघन्यतः समयोऽन्तरं भवति । यदि पुनः प्रथमसमयबन्धस्य भूयस्कारबन्धतया अल्पतरबन्धतया वा न विवक्षा स्यात्तदा प्रोक्तमार्गणाद्वये तयोरन्तराभाव एवेति ।

नाम्नोऽल्पतरबन्धस्य जघन्यान्तरं भूयस्कारबन्धवत् सामान्यतः समयो भवति । विशेषतो यासु मार्गणासु केवलानां सम्यग्दृष्टिजीवानामेव सद्भावस्तास्वल्पतरबन्धस्य जघन्यान्तरकालोऽन्तर्मुहूर्तम् । ता मार्गणा नामत इमाः--मतिज्ञानादिज्ञानचतुष्काऽवधिदर्शन-संयमौघ-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय--परिहारविशुद्धि--सम्यक्त्वौघ--क्षायिकसम्यक्त्व--क्षयोपशमसम्यक्त्वोपशमसम्यक्त्वमार्गणास्त्रयोदश पद्मशुक्ललेश्ये च । एतासु पञ्चदशसु अल्पतरबन्धजघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तप्रमाणं भवति, तच्च प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानद्वये परावृत्तिं कुर्वन्तमधिकृत्याहारकद्विकबन्धविरामेण प्राप्यत इति । लेश्याद्वये मिथ्यादृष्टीनां भावेऽपि न तदपेक्षया अन्तरं प्राप्यत इति । अवस्थितबन्धस्य जघन्यान्तरं तु सर्वत्र यथासम्भवं भूयस्कारबन्धेनाल्पतरबन्धेन समयो भवति । केवलमपगतवेदमार्गणायां नाम्नोऽवस्थितबन्धस्य जघन्यान्तरमबन्धेनैवान्तर्मुहूर्तप्रमाणं प्राप्यत इति । एवं गाथात्रयेण दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धानां जघन्यान्तरं मार्गणासु दर्शितमिति ॥८३-८६॥

अथ एतेषामेव त्रयाणां कर्मणां पदत्रयसत्कोत्कृष्टान्तरं मार्गणासु निरूपयिषुरादाववस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरं प्राह—

दुइअतुरिअछट्ठाणं भिन्नमुहुत्तं अवट्ठिअस्स गुरुं ।
तिणरदुपंचिंदियतसअवेअकायचउणाणेसुं ॥८७॥

संजमतिदंसणेसुं सुक्काभवियेसु सम्मखइएसुं ।
उवसमसरणीसु तहा आहारे अंतरं णेयं ॥८८॥

(प्रे०) "दुइअ"इत्यादि, इहाऽवस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरं प्रकारद्वयेन मार्गणीयम्, तत्र यद्यबन्धप्रयुक्तं तत्प्राप्यते तदोत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति । यदि पुनस्तत्तन्मार्गणासु तेषां कर्मणामबन्ध एव नास्ति, यद्वा यासु मनोयोगादिवत्तेषां कर्मणामबन्धस्य सत्त्वेऽपि पुनर्बन्धात्प्रागेव मार्गणायाः परावर्तनाद् न भवति अबन्धप्रयुक्तमन्तरम्, अतस्तासु भूयस्काराल्पतरबन्धकालप्रयुक्तमन्तरं समयं समयद्वयं वा भवतीत्यवधार्यम् । अत्र मनुष्यौघादित्रयोविंशतिमार्गणासु दर्शनावरणनाम्नोरवस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरमुपशान्तमोहगुणस्थानकज्येष्ठकालः समयाधिको समयद्वयाधिको वा भवति । तथाऽऽरोहकावरोहकसूक्ष्मसम्परायद्वयकाल उपशान्तमोहगुणस्थानकालश्चेति गुणस्थानत्रयज्येष्ठकालः समयाधिको समयद्वयाधिको वा मोहनीयस्यावस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरं प्राप्यते । त्रिमनुष्यमार्गणासु अपगतवेदे मनःपर्यवज्ञाने संयमौघे च श्रेणौ कालकरणेन मार्गणाया विच्छेदादवरोहकस्यावक्तव्यबन्धसत्कसमयाधिक उक्तगुणस्थानकज्येष्ठकालोऽन्तरतया प्राप्यते । द्विपञ्चेन्द्रियादिसप्तदशमार्गणासु तु श्रेणितोऽवरोहकवक्तव्यबन्धं कृत्वा मरणं समासाद्य दिवि समुत्पन्नस्य भूयस्कारबन्धं करोति तदनु अवस्थितबन्धं करोतिः अतः समयद्वयाधिक उक्तगुणस्थानज्येष्ठकालोऽवस्थितबन्धस्य ज्येष्ठान्तरतया प्राप्यत इति । काययोगौघमार्गणायामुपशमश्रेणिमारोहकस्य तत्तत्कर्मणां बन्धचरमसमये योगपरावृत्त्या काययोगस्य प्रारम्भो भवति तस्मिंश्चावस्थितबन्धं विधाय मार्गणाद्वितीयसमयप्रभृति औदारिककाययोगस्य यावान् श्रेणिगतापेक्षया ज्येष्ठकालो भवति तावन्तं कालं व्यतीत्य मरणेन दिवि समुत्पन्नस्य कार्मणस्य वैक्रियमिश्रस्य वा भावेन काययोगस्याऽविच्छिन्नतया विद्यमानत्वात् तत्र देवगतिप्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धं विधाय द्वितीयसमयतोऽवस्थितबन्धस्य प्रारम्भः, इत्येवं काययोगे गुणस्थानकज्येष्ठकालप्रमाणस्यान्तराभावेऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणं ज्येष्ठान्तरं भवतीति, तदन्तरं च पूर्वतः संख्येयगुणहीनं द्रष्टव्यमिति ॥८७-८८॥

असमत्तपणिदितिरियमणुयपणिदियतसेसु सव्वेसिं ।
एगिंदियविगलिंदियपणकायेसु तह परिहारे ॥८९॥
तह अभवियसासायणमिच्छअसणीसु दुइअतुरिआणं ।
ण अवट्ठिअस्स जेट्ठं णामस्सऽत्थि समयपुहुत्तं ॥९०॥

(प्रे०) "असमत्ते"त्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिचतुःषष्टिमार्गणासु दर्शनावरणमोहनीययोरेकैकस्यैव बन्धस्थानस्य भावेन तयोरवस्थितबन्धस्यान्तरं नास्ति । नाम्नोऽवस्थित-

न्तरं तु यासु भूयस्कारबन्धस्याल्पतरबन्धस्य वा सम्भवस्तासु सर्वासु तज्जघन्यतः समयो भवति, सामयिकेन भूयस्कारेणाऽल्पतरबन्धेन वा व्यवधानात् । शेषासु तदन्तरमेव नास्तीति ।

नाम्नो भूयस्कारबन्धस्य यासु सद्भावस्तासु तज्जघन्यान्तरं समयो भवति, कासुचिन्मार्गणासु मिथ्यादृष्टि-सास्वादनिनां प्रवेशस्तयोश्च त्रयादिबन्धस्थानानां सम्भवे तत्र जघन्यतमबन्धस्थानं निर्वर्त्य ततोऽधिकप्रकृत्यात्मकं निर्वर्तयति, ततः समयमवस्थाय पुनः ततोऽप्यधिकप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं यो रचयति तस्य प्रस्तुतान्तरं समयप्रमाणं प्राप्यते । सम्यग्दृष्टिषु तु जिननामबन्धेना-ऽऽहारकद्विकबन्धेन समयोऽन्तरं प्राप्यते यद्वा श्रेणितोऽवरोहन्नेकबन्धादपूर्वकरणषष्ठभागं प्राप्तो देवगतिप्रायोग्यमष्टाविंशतिमेकोनत्रिंशतं वा बद्ध्वा समयं चावस्थितबन्धं कृत्वा दिवि समुत्पन्नः पुनर्भूयस्कारबन्धं करोति, एवमपि समयोऽन्तरतया प्राप्यते । यासु नाम्नो द्वे एव बन्धस्थाने तासु भूयस्कारबन्धस्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, यथा-सर्वनारकमार्गणा-सनत्कुमारादिसहस्रारान्त-देवभेदेषु । तथा आहारकाऽऽहारकमिश्र-देशविरतिमार्गणासु भूयस्कारबन्धस्य भावेऽपि तस्या-न्तराभावः । कार्मणानाहारकमार्गणयोस्तु भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्भावेऽपि यदि मार्गणाप्रथम-समयभाविबन्धो भूयस्कारबन्धतया अल्पतरबन्धतया वा विवक्ष्यते, तर्हि मध्यसमये तदभावे जघ-न्यतः समयोऽन्तरं भवति । यदि पुनः प्रथमसमयबन्धस्य भूयस्कारबन्धतया अल्पतरबन्धतया वा न विवक्षा स्यात्तदा प्रोक्तमार्गणाद्वये तयोरन्तराभाव एवेति ।

नाम्नोऽल्पतरबन्धस्य जघन्यान्तरं भूयस्कारबन्धवत् सामान्यतः समयो भवति । विशे-षतो यासु मार्गणासु केवलानां सम्यग्दृष्टिजीवानामेव सद्भावस्तास्वल्पतरबन्धस्य जघन्या-न्तरकालोऽन्तर्मुहूर्तम् । ता मार्गणा नामत इमाः--मतिज्ञानादिज्ञानचतुष्काऽवधिदर्शन-संयमौघ-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय--परिहारविशुद्धि--सम्यक्त्वौघ--क्षायिकसम्यक्त्व--क्षयोपशमसम्य--क्त्वोपशमसम्यक्त्वमार्गणास्त्रयोदश पद्मशुक्ललेश्ये च । एतासु पञ्चदशसु अल्पतरबन्धबन्धा-न्तरमन्तर्मुहूर्तप्रमाणं भवति, तच्च प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानद्वये परावृत्तिं कुर्वन्तमधिकृत्याहारकद्विक-बन्धविरामेण प्राप्यत इति । लेश्याद्वये मिथ्यादृष्टिनां भावेऽपि न तदपेक्षया अन्तरं प्राप्यत इति । अवस्थितबन्धस्य जघन्यान्तरं तु सर्वत्र यथासम्भवं भूयस्कारबन्धेनाल्पतरबन्धेन समयो भवति । केवलमपगतवेदमार्गणायां नाम्नोऽवस्थितबन्धस्य जघन्यान्तरमबन्धेनैवान्तर्मुहूर्तप्रमाणं प्राप्यत इति । एवं गाथात्रयेण दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धानां जघन्यान्त मार्गणासु दर्शितमिति ॥८३-८६॥

अथ एतेषामेव त्रयाणां कर्मणां पदत्रयसत्कोत्कृष्टान्तरं मार्गणासु निरूपयिषुरादावव-स्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरं प्राह—

दुइअतुरिअछट्ठाणं भिन्नमुहुत्तं अवट्ठिअस्स गुरुं ।
तिणरदुपंचिंदियतसअवेअकायचउणाणेसुं　　　॥८७॥

संजमतिदंसणेसु सुक्काभवियेसु सम्मखइएसु ।
उवसमसरणीसु तहा आहारे अंतरं णेयं ॥८८॥

(प्रे०) "दुइअ" इत्यादि, इहाऽवस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरं प्रकारद्वयेन मार्गणीयम्, तत्र यद्यबन्धप्रयुक्तं तत्प्राप्यते तदोत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति । यदि पुनस्तत्तन्मार्गणासु तेषां कर्मणामबन्ध एव नास्ति, यद्वा यासु मनोयोगादिवत्तेषां कर्मणामबन्धस्य सत्त्वेऽपि पुनर्बन्धात्प्रागेव मार्गणायाः परावर्तनाद् न भवति अबन्धप्रयुक्तमन्तरम्, अतस्तासु भूयस्काराल्पतरबन्धकालप्रयुक्तमन्तरं समयं समयद्वयं वा भवतीत्यवधार्यम् । अत्र मनुष्यौघादित्रयोविंशतिमार्गणासु दर्शनावरणनाम्नोरवस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरमुपशान्तमोहगुणस्थानकज्येष्ठकालः समयाधिको समयद्वयाधिको वा भवति । तथाऽऽरोहकावरोहकसूक्ष्मसम्परायद्वयकाल उपशान्तमोहगुणस्थानकालश्चेति गुणस्थानत्रयज्येष्ठकालः समयाधिको समयद्वयाधिको वा मोहनीयस्यावस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरं प्राप्यते । त्रिमनुष्यमार्गणासु अपगतवेदे मनःपर्यवज्ञाने संयमौघे च श्रेणौ कालकरणेन मार्गणाया विच्छेदादवरोहकस्यावक्तव्यबन्धसत्कसमयाधिक उक्तगुणस्थानकज्येष्ठकालोऽन्तरतया प्राप्यते । द्विपञ्चेन्द्रियादिसप्तदशमार्गणासु तु श्रेणितोऽवरोहमवक्तव्यबन्धं कृत्वा मरणं समासाद्य दिवि समुत्पन्नस्य भूयस्कारबन्धं करोति तदनु अवस्थितबन्धं करोतिः अतः समयद्वयाधिक उक्तगुणस्थानज्येष्ठकालोऽवस्थितबन्धस्य ज्येष्ठान्तरतया प्राप्यत इति । काययोगौघमार्गणायामुपशमश्रेणिमारोहकस्य तत्तत्कर्मणां बन्धचरमसमये योगपरावृत्त्या काययोगस्य प्रारम्भो भवति तस्मिंश्चावस्थितबन्धं विधाय मार्गणाद्वितीयसमयप्रभृति औदारिककाययोगस्य यावान् श्रेणिगतापेक्षया ज्येष्ठकालो भवति तावन्तं कालं व्यतीत्य मरणेन दिवि समुत्पन्नस्य कार्मणस्य वैक्रियमिश्रस्य वा भावेन काययोगस्याऽविच्छिन्नतया विद्यमानत्वात् तत्र देवगतिप्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धं विधाय द्वितीयसमयतोऽवस्थितबन्धस्य प्रारम्भः, इत्येवं काययोगे गुणस्थानकज्येष्ठकालप्रमाणस्यान्तराभावेऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणं ज्येष्ठान्तरं भवतीति, तदन्तरं च पूर्वतः संख्येयगुणहीनं द्रष्टव्यमिति ॥८७-८८॥

असमत्तपणिंदितिरियमणुयपणिंदियतसेसु सव्वेसिं ।
एगिंदियविगलिंदियपणकायेसु तह परिहारे ॥८९॥
तह अभवियसासायणमिच्छअसरणीसु दुइअतुरिआणं ।
ण अवट्ठिअस्स जेट्ठं णामस्सऽत्थि समयमुहुत्तं ॥९०॥

(प्रे०) "असमत्ते" त्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिचतुःषष्टिमार्गणासु दर्शनावरणमोहनीययोरेकैकस्यैव बन्धस्थानस्य भावेन तयोरवस्थितबन्धस्यान्तरं नास्ति । नाम्नोऽवस्थित-

बन्धस्य ज्येष्ठान्तरं समयपृथक्त्वं-समयद्वयं भूयस्कारसत्कोत्कृष्टबन्धकालप्रयुक्तं भावनीयम् । न च भूयस्काराल्पतरबन्धद्वयेनाधिकान्तरं स्यादिति वाच्यम् । स्वभावत एव भूयस्कारबन्धस्य समयतोऽधिकप्रवृत्तौ तदनन्तरमल्पतरबन्धप्रवृत्तेरसम्भवात् । समयद्वयत ऊर्ध्वं बन्धस्थानस्य परावृत्तिर्निरन्तरा प्रायो न स्यादिति भावः ॥८९-९०॥

मार्गणान्तरेषु प्राह—

णामस्स अंतरं णो गेविज्जंतेसु आणताईसुं ।
समयो दुइअस्स भवे दो समया मोहणीयस्स ॥९१॥

(प्रे०) 'णामस्से' त्यादि, आनतादिनवमग्रैवेयकपर्यन्तासु त्रयोदशमार्गणासु नाम्नो बन्धस्थानद्वयस्य नानाजीवापेक्षया भावेऽपि एकजीवमधिकृत्यैकैकस्यैव बन्धस्थानस्याऽऽभवं भावेन नाम्नोऽवस्थितबन्धस्यान्तरं नास्ति, नाम्नोऽबन्धभूयस्काराल्पतरबन्धानामभावात्, तत्प्रयुक्तस्यैव प्रस्तुतान्तरस्य लाभात् । दर्शनावरणसत्कावस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरमपि समयः, भूयस्काराल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टकालस्य तथात्वादबन्धस्यालाभाच्च । मोहनीयस्यावस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरं समयद्वयं भवति, मोहनीयभूयस्कारबन्धज्येष्ठकालस्य तथात्वात्, तत्प्रयुक्तमेव प्रस्तुतान्तरं प्राप्यत इति ॥९१॥

अथ पञ्चानुत्तरसुरादिमार्गणादशके प्राह—

दुइअतुरिअछट्ठाण अणुत्तरमीससुहमेसु णो एवं ।
आहारदुगे देसे परं गुरुं वि समयोऽत्थि णामस्स ॥९२॥ (गीतिः)

(प्रे०) "दुइअ" इत्यादि, पञ्चस्वनुत्तरसुरमार्गणासु सम्यग्मिथ्यात्वे सूक्ष्मसंपराये च दर्शनावरणनाम्नोः, पञ्चसुरेषु सम्यग्मिथ्यात्वे च मोहनीयस्याऽप्येकैकबन्धस्थानस्यैव भावेनाबन्धाभावेन चावस्थितबन्धस्यान्तरं नास्ति । आहारकतन्मिश्रद्वये देशविरतौ चेति मार्गणात्रये दर्शनावरणमोहनीययोरेकैकबन्धस्थानभावेनावस्थितबन्धस्यान्तरं नास्ति । नाम्नो बन्धस्थानद्वयस्य भूयस्कारबन्धस्य च भावेन भूयस्कारबन्धप्रयुक्तमवस्थितबन्धस्य ज्येष्ठान्तरमपि सामयिकं प्राप्यत इति ॥९२॥

अथ मिश्रयोगादिमार्गणासु प्राह—

दुइअस्स णत्थि मीसदुजोगअणाणतिगवेअगेसु भवे ।
समयो मोहस्स भवे णामस्सऽत्थि समयपुहुत्तं ॥९३॥

(प्रे०) "दुइअस्से"त्यादि, औदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रयोगद्वये दर्शनावरणस्य बन्धस्थानद्वयस्य सम्भवेऽप्येकैकजीवमधिकृत्यैकैकस्यैव बन्धस्थानस्य सद्भावात्, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञानक्षयोपशमसम्यक्त्वेषु दर्शनावरणस्यैकैकबन्धस्थानस्य भावाच्चैतासु षट्सु अवस्थितबन्धस्यान्तरं नास्ति । एतासु षट्सु मोहनीयस्यावस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरमपि समयो भवति, तद्यथा-क्षयोपशमसम्यक्त्वं विहाय पञ्चस्वल्पतरबन्धस्याभावो भवति, अत एतासु द्वितीयगुणस्थानकतः प्रथमगुणस्थानं प्राप्तस्य सामयिकं भूयस्कारबन्धप्रयुक्तमवस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरं प्राप्यते, न पुनः प्रकारान्तरेणाऽपि । क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां पुनः भूयस्कारबन्धप्रयुक्तमल्पतरबन्धप्रयुक्तं वा सामयिकं मोहनीयस्यावस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरं प्राप्यते । ये पुनः संयमसामान्यस्य सामयिकीं जघन्यकायस्थितिं मन्यन्ते, तन्मते क्रमेण प्रथमसमयेऽल्पतरबन्धं विधाय कालकरणेन द्वितीयसमये भूयस्कारबन्धस्य भवनाद् मोहनीयस्यावस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरं समयद्वयं भवति । नाम्नोऽवस्थितबन्धस्यान्तरं षट्स्वपि समयपृथक्त्वं समयद्वयरूपं भवति, तच्च भूयस्कारद्वयेनाल्पतरबन्धद्वयेन, यद्वा एकेन भूयस्कारबन्धेनैकेन चाल्पतरबन्धेनावस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तर भवति ॥९३॥

कार्मणानाहारक-सामयिकच्छेदोपस्थापनीयेषु त्रयाणामवस्थितबन्धोत्कृष्टान्तरं निरूपयन्नाह-

कम्माणाहारेसुं दोण्हं णत्थि समयोऽत्थि णामस्स ।
समइअछेएसु खणो दोण्ह दुसमयाऽत्थि णामस्स ॥९४॥

(प्रे०) "कम्मे"त्यादि, कार्मणानाहारकमार्गणाद्वये दर्शनावरणस्यावस्थितबन्धस्यान्तराभावो भूयस्काराल्पतराबन्धानामत्राभावाद्, मोहनीयस्य तु प्रस्तुते भूयस्कारस्य भावेऽपि संज्ञिभ्यः संज्ञिषूत्पद्यमानस्य प्रस्तुतमार्गणाया उत्कृष्टतो द्विसमयप्रमाणत्वादन्तरस्य समयत्रयसापेक्षत्वाद् नास्त्यन्तरम् । येषां जीवानामेकेन्द्रियाणां प्रस्तुतमार्गणा यावत् समयत्रयं समयचतुष्कं वा सम्भवति, तेषां जीवानां मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धस्यैवाभावाद् न सम्भवति तदपेक्षयाऽप्यवस्थितबन्धस्यान्तरमिति । नाम्नोऽवस्थितबन्धस्यान्तरमेकेन्द्रियजीवापेक्षयैव सम्भवति, तच्च जघन्यत उत्कृष्टतश्च समयः । एतच्च समयत्रयज्येष्ठकायस्थित्यपेक्षया, समयचतुष्कमितज्येष्ठस्थित्यपेक्षया तु समयद्वयं गुर्वन्तरं प्राप्यत इत्यवधार्यम् । सामायिकच्छेदोपस्थापनीययोर्दर्शनावरणमोहनीयसत्कावस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरं समयस्तच्च भूयस्कारबन्धकालप्रयुक्तमल्पतरबन्धकालप्रयुक्तं वेति, एतयोरुक्तबन्धद्वयज्येष्ठकालस्यापि तथात्वादिति । नाम्नोऽवस्थितबन्धोत्कृष्टान्तरं समयद्वयं भवति, एतयोर्भूयस्कारबन्धज्येष्ठकालस्य तथात्वात्तत्प्रयुक्तं प्रस्तुतान्तरं विज्ञेयमिति ॥९४॥

बीभ्रस्स गुरुं समयो ग्रणाह मोहस्स दुसमया णवरं।
लोहे ग्रंतमुहुत्तं णामस्सऽत्थि समयपुहुत्तं ॥९५॥

(प्रे०) "बीभस्स" इत्यादि, उक्तशेषमार्गणा नामत इमाः—सर्वनरकाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्वर्जतिर्यग्भेदचतुष्कदेवौघभवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशानसनत्कुमारादिसहस्रारान्त-देव-मनोयोगसामान्य- तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगसामान्य-तदुत्तरभेदचतुष्कौदारिकवैक्रिययोग-वेदत्रय-कषायचतुष्क असंयम-पञ्चलेश्यामार्गणा एकोनपञ्चाशत् । एतासु दर्शनावरणसत्कावस्थितबन्धस्य ज्येष्ठान्तरमपि समयः, तच्च भूयस्कारबन्धकालेनाल्पतरबन्धकालेन वा विज्ञेयम् । मोहनीयस्यावस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरं समयद्वयं भवति, एतच्च बहुमार्गणासु सम्यक्त्वतः समयं सास्वादनं प्राप्य मिथ्यात्वं गतस्य भूयस्कारबन्धद्वयेन प्राप्यते । केवलं कषायचतुष्के पुरुषवेदे च श्रेणिसत्कैकेन भूयस्कारबन्धेन मरणव्याघातेन देवेषूत्पन्नस्य द्वितीयभूयस्कारबन्धेनेति भूयस्कारबन्धद्वयेन यद्वा श्रेणिसत्कैकेनाल्पतरबन्धेन तदनन्तरमेव मरणव्याघातेन देवेषूत्पादे भूयस्कारबन्धेन चेति बन्धद्वयेन समयद्वयमन्तरं प्राप्यते । केवलं लोभमार्गणायां मोहनीयस्याबन्धप्रयुक्तं ज्येष्ठान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति । नाम्नोऽवस्थितबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं समयपृथक्त्वं=समयद्वयं भवति, भूयस्कारबन्धकालेन यद्वाऽल्पतरबन्धकालेन यद्वैकेन भूयस्कारबन्धेनैकेनाऽल्पतरबन्धेन च प्रस्तुतान्तरं भावनीयम् । नरकभेदाष्टके सनत्कुमारादिषट्के च नाम्नोऽवस्थितबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं भूयस्काराल्पतरोभयप्रयुक्तं समयद्वयं विज्ञेयम्, तयोः प्रत्येकं बन्धकालस्य समयप्रमाणत्वात् ॥९५॥

अथ दर्शनावरणमोहनीयकर्मणोर्भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्ज्येष्ठमन्तरं मार्गणासु प्राह—

भूगारप्पयराणं तिरिणपुमाऽजयग्रचक्खुभवियेसुं ।
दुइग्रतुरिग्राण जेट्ठं देसूणो ग्रद्धपरिग्रट्टो ॥९६॥

(प्रे०) "भूआरे"त्यादि, तिर्यगोघ-नपुंवेदा-ऽसंयमा ऽचक्षुर्दर्शनभव्यमार्गणासु दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धौ प्राप्तसम्यक्त्वस्य भवतः, न पुनरनादिमिथ्यादृष्टेः । तथा मिथ्यादृष्टेस्तद्गुणप्राप्तिप्रथमसमयं विहायावश्यमेतयोरवस्थितबन्ध एव । सकृदपि लब्धसम्यक्त्वस्य संसारभ्रमणकालस्य देशोनार्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणत्वेन ततोऽधिकान्तरस्यासम्भवः । एता मार्गणाः पुनरर्धपुद्गलपरावर्ततोऽधिकस्थितिकाः, अतो देशोनकायस्थितिप्रमाणमन्तरमनतिदिश्य स्पष्टमुक्तमिति । उक्तान्यासु देशोनार्धपुद्गलपरावर्तनतोऽधिकस्थितिकासूक्तकर्मद्वयस्यावस्थितबन्धस्य सदैव भावेनान्तरमेव नास्ति एकस्यैव तस्य भावात् । काययोगौघे उक्ताधिककायस्थितिभावेऽपि तद्प्रारम्भे भूयस्कारबन्धस्य सम्भवेऽपि तत्प्रान्ते संज्ञिषूत्पन्नस्यानेकशो

मार्गणापरावर्तनादूर्ध्वमेव सम्यक्त्वप्राप्त्याऽल्पतरबन्धस्य लाभेनान्तरमेव नास्तीति ॥९६॥

अथ मार्गणान्तरेषु प्राह—

पणमणवयकायउरलविउवेसुं ण दुइअस्स दुपयाणं ।
मोहस्सऽप्पयरस्स य इयरस्स भवे मुहुत्तंतो ॥९७॥

(प्रे०) "पणे"त्यादि, मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-काययोगौघौ-दारिक-वैक्रिययोगेषु त्रयोदशसु दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तरं नास्ति। तथा मोहनीयस्याल्पतरबन्धस्यान्तरं नास्ति। ओघे उक्तपदानां यावदन्तरं ततस्तद्विधायकानां योगस्य परावर्तमानत्वेन तद्योगस्य यावान् ज्येष्ठकालः तस्याल्पत्वात् नास्त्यन्तरम् । यद्वा केवलं मोहनीयस्याल्पतरबन्धस्यान्तरं श्रेणिगतजीवापेक्षयाऽन्तर्मुहूर्तं प्राप्यत इति मतान्तरमवसातव्यम्। तच्च गाथार्थोऽन्यथा व्याख्यानेन लभ्यते। मोहनीयभूयस्कारबन्धस्यान्तरमुत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तं तच्च श्रेण्यपेक्षया सास्वादनगुणस्थानापेक्षया वा यथासम्भवं भावनीयमिति ॥९७॥

अथ औदारिकमिश्रादिमार्गणासु दर्शयति—

मीसदुजोगेसु तहा कम्मेऽणाहारगे अणाणतिगे ।
णो चेव अंतरं खलु भूओगारस्स मोहस्स ॥९८॥

(प्रे०) "मीसे"त्यादि, औदारिकमिश्र-वैक्रियमिश्र-कार्मणयोगा-नाहारक-मत्यज्ञान श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञानमार्गणासु सप्तसु दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धावेव न स्तः, अतस्तासु तयोरन्तरस्य चिन्ताया एवानवकाशः। मोहनीयस्य त्वेतास्वल्पतरबन्धाभावेन तदन्तरनिरूपणाया असम्भवेऽपि भूयस्कारबन्धस्य सास्वादनतो मिथ्यात्वगुणस्थानप्राप्तावेव सद्भावेन मिथ्यात्वगुणस्थानतः प्रस्तुतमार्गणाया विच्छेदं विना गुणान्तरगमनस्यासम्भवेन चैतासु द्विर्भूयस्कारबन्धस्यैवासम्भवात् तदन्तरं नास्ति अत्राज्ञानत्रिके आद्यगुणस्थानद्वयापेक्षयैतन्निरूपणम्, गुणस्थानत्रयाङ्गीकरणे तु स्वयं वक्तव्यमिति ॥९८॥

अथाऽन्यासु शेषासु च दर्शनावरणमोहयोः पदद्वयस्योत्कृष्टान्तरं प्राह—

सामाइअछेएसुं बीआवरणस्स अंतरं णत्थि ।
भूगारप्पयराणं मोहस्स भवे मुहुत्तंतो ॥९९॥
देसूणिगतीसुदही देवे सुक्काअ दोण्ह दुपयाणं ।
विणणेयं सेसासुं देसूणा जेट्ठकायठिई ॥१००॥

अहवाऽत्थि तिणाणावहिसम्मखइअवेअगेसु मोहस्स।
भूगारप्पयराणं तेत्तीसा सागराऽब्भहिया ॥१०१॥

(प्रे०) "सामा" इत्यादि, सामायिकच्छेदोपस्थापनीयमार्गणाद्वये दर्शनावरणस्य भूयस्कारान्पतरबन्धयोरन्तर नास्ति, उपशमश्रेणावेव सकृत् तद्भावादारोहकस्य दशमगुणस्थानके मार्गणयोर्विच्छेदाद् मरणव्याघातेनाऽपि मार्गणयोर्विच्छेदादारोहकस्योपशान्तमोहमप्राप्तस्य पुनः प्रत्यावर्तनस्याभावाच्च । अयम्भावः—उक्तमार्गणाद्वये दर्शनावरणस्याल्पतरबन्धोऽष्टमगुणस्थानकद्वितीयभागाद्यसमये आरोहकस्य निद्राद्विकबन्धविच्छेदानन्तरं भवति, तदूर्ध्वं तु क्रमेणारोहतो दशमगुणस्थानप्राप्तौ मार्गणाया विच्छेदो भवति, यदि पुनः कालं करोति, तर्ह्यपि मार्गणाया विच्छेदः, आरोहको मरणव्याघातं विमुच्योपशान्तमोहमप्राप्य नैव निवर्तते, अतो निरन्तरप्रवृत्तोक्तमार्गणाद्वये सकृदेव श्रेणेः प्रारम्भाभाल्पतरबन्धस्यान्तरम् । एवमुक्तमार्गणाद्वये श्रेणितोऽवरोहकस्य नवमगुणस्थानके मार्गणाप्रारम्भो भवति, तदनु क्रमेणावरोहकाष्टमगुणस्थाने निद्राद्विकस्य बन्धो यदा प्रवर्तते तदैव दर्शनावरणस्य भूयस्कारबन्धो भवति, ततः पुनर्भूयस्कारबन्धे पुनः श्रेणिमारुह्यावतरणीयम्, तथा च करणे श्रेणिमारोहत मार्गणाया विच्छेदाद्म भवति प्रस्तुतमार्गणाद्वये दर्शनावरणस्य भूयस्कारबन्धस्याप्यन्तरमिति ।

मोहनीयस्य भूयस्काराल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, श्रेणावेव नानाबन्धस्थानसम्भवेनाऽऽरोहतोऽल्पतरबन्धस्यान्तरं भवति, अवरोहतो भूयस्कारबन्धस्यान्तरं भवति। अत्र द्विविधबन्धत एकस्या बन्धं प्राप्तस्याल्पतरबन्धस्य, एकस्या बन्धतो द्विविधबन्धं प्राप्तस्य भूयस्कारबन्धस्य जघन्यान्तरं प्राप्यते । पञ्चविधबन्धात् चतुष्कबन्ध प्राप्तस्य, पञ्चविधबन्धाच्च नवविधबन्धं प्राप्तस्य, अल्पतरस्य भूयस्कारस्य च ज्येष्ठान्तरं भावनीयम् । तच्चान्तर्मुहूर्तमिति ।

देवौघे शुक्ललेश्यायां च दर्शनावरणमोहनीयसत्कभूयस्काराल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टान्तरं देशोनैकत्रिंशत्सागरोपमाणि, शुक्ललेश्यावत्स्वनुत्तरदेवेषूक्तकर्मद्वयसत्कभूयस्काराल्पतरपदद्वयस्यैवाभावान्नवमग्रैवेयकसुरानपेक्ष्य मार्गणाप्रारम्भे प्रान्ते च यथासम्भवं तद्विधायिनः प्रस्तुतान्तरं प्राप्यते । एवं सार्धगाथाचतुष्केण नवविंशतिमार्गणासु प्रस्तुतान्तरं दर्शितम् । अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तमनुष्याऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्तत्रसकायसप्तैकेन्द्रिय—नवविकलेन्द्रियैकोन — चत्वारिंशत्पृथव्यादिपञ्चकायमार्गणापञ्चानुत्तरसुरा-ऽऽहारकतन्मिश्र-परिहार-देशविरत्यभव्य-सम्यग्मिथ्यात्व सास्वादन -मिथ्यात्वामंज्ञिमार्गणासु त्रिमप्ततौ दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरपदद्वयस्यैवाभावान्न तत्प्ररूपणा । सूक्ष्मसम्पराये मोहनीयस्य बन्धाभावः, दर्शनावरणसत्कोक्तपदद्वयस्याप्यभावः, अतो न तत्रापि प्रस्तुतप्ररूपणेति । अष्टौ नरकमार्गणा अपर्याप्तवर्जपञ्चे-

न्द्रियतिर्यग्गतिभेदत्रयमपर्याप्तवर्जमनुष्यगतिमार्गणात्रयं भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशान-सनत्कुमारादिनवमग्रैवेयकान्तचतुर्विंशतिदेवमार्गणा-द्विपञ्चेन्द्रिय द्वित्रसकाय-स्त्रीपुरुषवेद ज्ञानचतुष्क-संयमौघ-चक्षुरवधिदर्शन-कृष्णादिलेश्यापञ्चकसम्यक्त्वौघ- क्षायिकसम्यक्त्व-संज्ञ्याहारकमार्गणासु षष्टौ दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टान्तरं मार्गणाया ज्येष्ठकायस्थिति-र्देशोना विज्ञेया, यथासम्भवं मार्गणाप्रारम्भे प्रान्ते च तत्प्रवर्तनात् । अपगतवेदे दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धयोरभावात् केवलं मोहनीयस्य भूयस्काराल्पतरबन्धयोरेव सद्भावात्तयोर्जघन्यान्तरमुत्कृष्टान्तरं चान्तर्मुहूर्तमपि या च्छद्मस्थजीवविषयकमार्गणाज्येष्ठकायस्थितिरन्तर्मुहूर्तप्रमाणा भवति तस्याः सङ्ख्येयभागप्रमाणं विज्ञेयमिति । कषायचतुष्के दर्शनावरणभूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तरं नास्ति । मोहनीयसत्कभूयस्काराल्पतरयोरुत्कृष्टान्तरं श्रेणिमपेक्ष्यैव प्राप्यते तच्च मार्गणायाः सङ्ख्येयभागप्रमितमन्तर्मुहूर्तप्रमाणमिति । भूयस्कारबन्धस्यान्तरं सास्वादनमपेक्ष्याप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणं विज्ञेयम् । उपशमसम्यक्त्वे दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तरं नास्ति, मोहनीयसत्कभूयस्काराल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तम् । क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धयोरभावः । मोहनीयस्य भूयस्काराल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टान्तरं साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, साधिकषट्षष्टिसागरोपमप्रमाणानि वा भवति ।

अथ मतिज्ञानादिमार्गणासु मोहनीयस्य भूयस्काराल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टान्तरे मतान्तरं दर्शयन्नाह—"अहवा" इत्यादि, मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघ-क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणासु षट्स्वेकेन मतेन चतुर्थगुणस्थानज्येष्ठकालस्य षट्षष्टिसागरोपमप्रमाणत्वान्मार्गणाप्रारम्भे प्रान्ते चान्यगुणस्थानलाभेन ततश्चतुर्थगुणस्थानस्य च लाभात् प्रस्तुतान्तरं देशोनकायस्थितिप्रमाणम्, एतन्मतं नात्र प्रधानम् । प्राधान्यमतापेक्षया तु चतुर्थगुणस्थानज्येष्ठकालस्य साधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणत्वेनोक्तपदद्वयस्य साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि ज्येष्ठान्तरं प्राप्यते । द्वितीयमत सर्वत्राग्रे गृहीतमिति ॥९९-१०१॥

अथ मार्गणासु नाम्नो भूयस्कारबन्धस्याल्पतरबन्धस्य च ज्येष्ठान्तरं दर्शयति—

णामस्सोघव्व गुरुं दुपयाणऽत्थि दुपणिंदियतसेसुं ।
पुमचक्खुअचक्खुसुं भविये सणिम्मि आहारे ॥१०२॥

(प्रे०) "णामस्से"त्यादि, द्विपञ्चेन्द्रियादिदशमार्गणासु नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्ज्येष्ठान्तरं साधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, अनुत्तरभवे प्रागुत्तरमनुष्यभवे चैतासां मार्गणानां सद्भावात् । भावना चौघवत्कार्या सुगमा च ॥१०२॥

अथ नरकौघादिमार्गणासु प्राह—

ऊणा गुरुकायठिई सव्वणिरयअट्ठमंतदेवेसु ।
मणपज्जवसंजमपणलेसासूणा सुरेऽयराऽट्ठार ॥१०३॥(गीतिः)

(प्रे०) 'ऊणे''त्यादि, नरकौघ-सप्ततदुत्तरभेद-भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मादिसहस्रारान्तदेवभेद मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-कृष्णादिपञ्चलेश्यामार्गणासु षड्त्रिंशतिमार्गणासु नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तरं तत्तन्मार्गणाया देशोनज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणं भवति । अत्र मनःपर्यवज्ञाने संयमौघे च मार्गणाप्रारम्भे तत्प्रान्ते च श्रेण्यपेक्षया प्रस्तुतान्तरं भावनीयम्, यद्वा प्रारम्भे श्रेण्यपेक्षया प्रान्ते नूतनाहारकद्विकबन्धतद्विरामापेक्षया च प्रस्तुतं विज्ञेयम् । शेषचतुर्विंशतिमार्गणासु मिथ्यादृशामेकजीवापेक्षयाऽपि द्व्यादिबन्धस्थानानां सम्भवेन मार्गणाप्रारम्भप्रान्तसत्कमन्तर्मुहूर्तादिकिञ्चित्कालं मिथ्यात्वावस्थायां भूयस्काराल्पतरबन्धौ कुर्वतो मध्ये च सम्यक्त्वप्रभावेन तयोरसम्भवेन नाम्नोरवस्थितबन्धमेव कुर्वतो यथोक्तं ज्येष्ठान्तरं प्राप्यत इति । देवौघे पुनर्नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टान्तरं देशोनाष्टादशसागरोपमाणि भवति, सहस्रारदेवापेक्षयैव भूयस्कारा-ऽल्पतरपदयोस्तदुत्कृष्टान्तरस्य च भावात् । आनतादिदेवापेक्षया तु भूयस्काराल्पतरबन्धयोरेवाभावेन तदन्तरं नास्ति ॥१०३॥

अन्यासु प्राह--

देसूणपुव्वकोडी तिरिये तिपणिंदितिरियमणुएसु ।
णाहारदुगे देसे भूगारस्स········ ॥

(प्रे०) "देसूणे" त्यादि, तिर्यग्गत्योघपञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्तिरश्चीमनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्यमानुषीमार्गणासप्तके नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टान्तरं देशोनपूर्वकोटीप्रमाणं भवति, एतासु युगलिकं विहायोत्कृष्टभवस्थितिः पूर्वकोटिप्रमाणा, अत्र युगलिकतिर्यग्मनुष्याणां वर्जनं तु तेषां पल्योपमत्रयमितस्थितिकत्वेऽपि भवाद्यान्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमाभवपर्यन्तमेकस्यैव नाम्नो बन्धस्थानस्य भावेन तदनन्तरं मार्गणाया एव विच्छेदेन च युगलिकभवप्रान्तावस्थायां भूयस्काराल्पतरबन्धयोरभावाच्च भवति तदपेक्षया प्रस्तुतान्तरमिति । पूर्वकोट्यायुष्केषु मिथ्यादृशां नानाबन्धस्थानसम्भवेन प्रत्यन्तर्मुहूर्तं भूयस्काराल्पतरबन्धयोरवश्यं भावाद् यथा शीघ्रमुत्पत्त्यनन्तरं सम्यक्त्वं समासाद्य तत्र च देवप्रायोग्यामष्टाविंशतिमेव बध्नन् प्रान्ते मिथ्यात्वं प्राप्य विवक्षितबन्धं यः करोति तमपेक्षयैव निरुक्तान्तरं प्रकृष्टतया प्राप्यत इति । आहारकतन्मिश्रयोगद्वये देशविरतौ च नाम्नो भूयस्कारबन्धस्य सकृदेव भावात्तदन्तरं नास्ति । उक्तमार्गणात्रयेऽल्पतरबन्धाभावाच्च तदन्तरस्य निरूपणमिति ।

अथ कार्मणादिमार्गणासु प्राह–

................अह दुपयाणं ॥१०४॥

कम्मेऽणाहारे णो णपुमे अजएऽयरूणतेत्तीसा ।
थीअ पणवण्णपल्ला ऊणा अहिया व भूअगारस्स ॥१०५॥ (गीतिः)

(प्रे०) "अह" इत्यादि, कार्मणानाहारकमार्गणाद्वये नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तरं नास्ति, एतच्च निरूपणं समयत्रयमितं विग्रहगतिगतानां प्रकृष्टा प्रस्तुतकायस्थितिर्भवति, तदपेक्षया ज्ञेयम् ; मार्गणाप्रथमसमयेऽवस्थितबन्धस्यैव विवक्षितत्वात् । नपुंसकवेदमार्गणायामसंयममार्गणायाञ्च नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टान्तरं सप्तमनरकमारकापेक्षयैव प्राप्यतेऽतो देशोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि पदद्वयस्योत्कृष्टान्तर प्राप्यते । सप्तमनरके सम्यक्त्वज्येष्ठकालस्य तावन्मात्रत्वान्मार्गणाप्रारम्भे प्रान्ते च मिथ्यात्वावस्थायामेतद्बन्धद्वयस्य करणात् । असंयममार्गणायां ह्यनुत्तरसुरभवप्रथमसमयसत्कभूयस्कारबन्धापेक्षया प्रस्तुतान्तरं नैव प्राप्यते, अनुत्तरदेवभवात्प्राक्समये-ऽसंयममार्गणाया एवाभावेन तद्भूयस्कारबन्धस्य प्रस्तुतमार्गणायामेवाविवक्षणात् । स्त्रीवेदमार्गणायां नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तरं देशोनपञ्चपञ्चाशत्पल्योपमप्रमाणं भवति, सामान्यतः सम्यग्दर्शनेन सह गतित्रयेऽपि स्त्रीत्वेनोत्पादाभावात् , मिथ्यात्वावस्थायां च युगलिकं विहाय स्त्रीवेदमार्गणागतानां नानाबन्धस्थानानां परावर्तमानत्वेनान्तर्मुहूर्तमध्ये तयोर्बन्धस्यावश्यं भावाद् । मिथ्यात्वावस्थायां प्रस्तुतप्रकृष्टान्तरं तु युगलिनी ततो देवीषूत्पन्नजीवमपेक्ष्य प्रस्तुते देशोनपल्योपमत्रयं प्राप्यते । अतस्तदत्र न विचार्यते । किन्तु ईशानसत्कोत्कृष्टस्थितिकामपरिगृहीतदेवीमपेक्ष्य तत्प्राप्यते । तद्यथा-यः कश्चिज्जीव उत्कृष्टस्थितिकदेवीतयोत्पद्यान्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं सम्यक्त्वं समासाद्यावसानान्तर्मुहूर्ते मिथ्यात्वं प्राप्नोति, देवीभवसत्कप्रारम्भप्रान्तान्तर्मुहूर्तयोरवश्यं भूयस्काराल्पतरबन्धौ यः करोति तस्य देशोनपञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि तयोर्ज्येष्ठान्तरं प्राप्यते । मानुषीषु क्वचित् सम्यक्त्वेन सहोत्पादेऽप्यल्पतरबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं देशोनपञ्चपञ्चाशत्पल्योपमाण्येव, भूयस्कारबन्धान्तरं तु सातिरेकाणि पञ्चपञ्चाशत् पल्योपमाणि प्राप्यन्ते ॥१०४–१०५॥

अथाऽन्यासु नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्ज्येष्ठान्तरं दर्शयन्नाह–

देसूणा कायठिई गुरू तिणाणोहिसम्मखइएसुं ।
भूगारस्सियरस्स य तेत्तीसा सागराऽब्भहिआ ॥१०६॥

(प्रे०) "देसूणा" इत्यादि, मतिश्रुतावधिज्ञानावधिदर्शनसम्यक्त्वौघक्षायिकसम्यक्त्व-

मार्गणासु षट्सु नाम्नो भूयस्कारबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं मार्गणाया देशोनज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणं षट्‌विंशतितमे भवति, एतासु भूयस्कारबन्धश्चतुर्धा, जिननामबन्धेनाऽऽहारकद्विकबन्धेन यद्वा देवगतिप्रायोग्यामकोनत्रिंशतं वा बध्नतो देवेषूत्पन्नस्य भवप्रथमसमये, श्रेणितोऽवरोहकस्य वा भवति, ततो जिननामाहारकद्विकाबन्धकस्य मार्गणाप्रारम्भे यथासम्भवं किञ्चित् कालं व्यतित्य देवेषु त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकेषूत्पन्नस्य प्रथमसमये भूयस्कारबन्धं कृत्वा पुनः ततश्च्युत्वा मनुष्येष्ववतीर्य तत्रापि भूयस्कारबन्धमकुर्वन् प्रान्ते उपशमश्रेणिमारुह्याबन्धको भूत्वा तत्रैव मरणमासाद्य देवेषूत्पन्नस्तत्प्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धं करोति, न तु भूयस्कारबन्धम् , । ततो देवभवमनुभूय मनुष्यभवं प्राप्य प्रान्ते आहारकद्विकं बध्नाति तदा तमपेक्ष्य भूयस्कारबन्धस्य प्रकृष्टान्तरं साधिकषट्‌षष्टिसागरोपमाणि प्राप्यते । केवलं क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां साधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि प्रस्तुतान्तरं प्राप्यते । नाम्नोऽल्पतरबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं साधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, देवेभ्यश्च्युतानां सर्वेषां मार्गणागतानामवश्यमेवाल्पतरबन्धस्य करणात् समयोनपूर्वकोट्यभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि प्रकृष्टान्तरं विज्ञेयमिति । एतच्चौघवद् भवतीति ओघवदेव तद्भावनीयमिति । केवलं क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां सातिरेकाष्टवर्षोनपूर्वकोटित्वमभ्यधिकतया विज्ञेयमिति । अत्र ग्रन्थे सर्वत्र कायस्थितिच्छद्मस्थजीवानधिकृत्यैव ज्ञेया, अतो न सम्यक्त्वे क्षायिकसम्यक्त्वे चापवादावसर इति ॥१०६॥

अथ सामायिकादिमार्गणासु नाम्नः पदद्वयस्य ज्येष्ठान्तरमाह—

ऊणा गुरुकायठिई समइअछेअपरिहारसुक्कासुं ।
भूओगारस्स भवे अप्पयरस्स य मुहुत्तंतो ॥१०७॥

(प्रे०) "ऊणा" इत्यादि, सामायिकच्छेदोपस्थापनीयमार्गणाद्वये नाम्नो भूयस्कारबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनमार्गणाज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणं देशोनपूर्वकोटिप्रमाणं भवति, तच्चैवम्—मार्गणाप्रारम्भे यो जिननामबन्धमारभ्य यद्वा श्रेणितोऽवरोहन् यशःकीर्तिबन्धतो देवगतिप्रायोग्याष्टाविंशतिबन्धं प्राप्य भूयस्कारबन्धं करोति तदनन्तरमवस्थितिबन्धं कुर्वन् मार्गणाप्रान्ते पुनरप्याहारकद्विकबन्धं करोति, यद्वा प्रागबद्धजिननाम प्रान्ते नूतनजिननामबन्धप्रारब्धे भूयस्कारबन्धं करोति तस्य निर्दिष्टं देशोनकायस्थितिप्रमाणमन्तरं प्राप्यत इति । उक्तमार्गणयोरल्पतरबन्धस्यान्तरमन्तर्मुहूर्तमेव, यतः प्रस्तुतमार्गणाद्वयेऽल्पतरबन्धो द्विधा प्राप्यते, एकः श्रेण्यारम्भतः, अन्यः प्रमत्तसंयतस्याऽऽहारकद्विकबन्धविरामतः । तत्र यः श्रेणावल्पतरबन्धो भवति तदूर्ध्वमुत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तानन्तरमवश्यं सूक्ष्मसम्परायप्राप्त्या मरणेन वा मार्गणाया विच्छेदान्न भवति तमपेक्ष्याऽल्पतरबन्धस्यान्तरम् । उक्तमार्गणाद्वये श्रेणिं विहाय प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानयोरन्तर्मुहूर्तेनावश्यं परावर्तमानत्वादाहारकद्विकबन्धकस्य प्रमत्तगुणस्थानप्राप्तौ तद्वि-

रामाद् भवति नाम्नोऽल्पतरबन्धस्य प्रकृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तमिति ।

परिहारविशुद्धौ नाम्नो भूयस्कारबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं देशोनकायस्थितिप्रमाणं देशोनपूर्वकोटिरूपम्, प्रारम्भे यो जिननामबन्धेन तं कृत्वा प्रान्ते चाहारकद्विकस्य नूतनबन्धं करोति तस्यैव ज्येष्ठान्तरं प्राप्यते, नान्यस्येति । अल्पतरबन्धस्यान्तरमत्र सामायिकसंयममार्गणावद्विज्ञेयमिति ।

शुक्ललेश्यामार्गणायां भूयस्कारबन्धस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तमेव भवति, तद्यथा--शुक्ललेश्यावर्तिमनुष्यो मार्गणाप्रारम्भे आहारकद्विकं बध्नाति, ततो यथासम्भवं दीर्घतरकालं तस्मिन्नेव लेश्यायां व्यतीत्य प्रान्ते प्रमत्तादिगुणप्रत्ययत आहारकद्विकमबध्नन् मरणमासाद्य देवेषूत्पन्नो भवप्रथमसमये भूयस्कारबन्धं करोति, एवं भूयस्कारबन्धस्य प्रकृष्टान्तरं शुक्ललेश्यायामन्तर्मुहूर्तं भवति । यतो नामकर्मबन्धकमनुष्यतिरश्चां शुक्ललेश्याया अवस्थानकालस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वान्नाधिकमन्तरं प्राप्यते । देवानां तु प्रस्तुतलेश्यायां भूयस्कारबन्ध एव नास्ति, देवेभ्यश्च्युतानां मनुष्येषूत्पन्नानां भवाद्यान्तर्मुहूर्ते शुक्ललेश्यायां भावेऽपि सम्यग्दृष्टीनां तत्राल्पतरबन्धस्य लाभात्, मिथ्यादृष्टिजीवानां त्ववस्थितबन्ध एवेति; अन्ये तु तेषां नष्टलेश्याकत्वमेव मन्यन्त इति सर्वप्रकारेण न भूयस्कारबन्धस्याधिकमन्तरं प्राप्यते । शुक्ललेश्यायां नाम्नोऽल्पतरबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनमार्गणाज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणं भवति, तच्च सातिरेकाणि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, मार्गणाप्रारम्भेऽप्रमत्तात् प्रमत्तगुणस्थानकं प्राप्याहारकद्विकबन्धविरामेणाल्पतरबन्धं विधाय यद्वा श्रेणौ देवद्विकादिबन्धविच्छेदेनाल्पतरबन्धं विधाय क्रमेण यथासम्भवं कालं कृत्वाऽनुत्तरसुरेषूत्पद्य ततश्च्युत्वा मनुष्येषूत्पन्नो भवप्रथमसमयेऽल्पतरबन्धं करोति, एवं निरुक्तप्रमाणमुत्कृष्टान्तरं भवतीति ॥१०७॥

अथ शेषमार्गणासु नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टान्तरं निरूपयन्नाह—

दुपयाणिगतीसुदही अहिया दुअणाणअभविमिच्छेसुं ।
अयराऽत्थि वेअगेऽहियतेत्तीसाऽणाह मुहुत्तंतो ॥१०८॥

(प्रे०) "दुपयाणि" मत्यज्ञानश्रुताज्ञानाऽभव्यमिथ्यात्वमार्गणाचतुष्के सामान्यतो भूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तरमन्तर्मुहूर्तम्, गुणप्रत्ययेन तयोरन्तरं नास्ति, भवप्रत्ययेन युगलधार्मिकानानतादिदेवांश्च विहाय शेषभवेषु नानाबन्धस्थानसम्भवेन तयोर्बन्धयोरन्तरमन्तर्मुहूर्तमेव । युगलिकापेक्षया तु देशोनपल्योपमत्रयं युगलिकभवस्याद्यान्तर्मुहूर्ते देवभवाद्यान्तर्मुहूर्ते च तयोर्भावात्, आनतादिदेवेषु पुनर्नवमग्रैवेयकान्तेष्वेव प्रस्तुतमार्गणा, न पुनरनुत्तरदेवेषु । नवमग्रैवेयकदेवानां प्रकृष्टा स्थितिरेकत्रिंशत्सागरोपमाणि; तत्प्रथमसमये च तेषां नाम्नो भूयस्कारबन्धो भवति, तदूर्ध्वं तु भवचरमसमयपर्यन्तमवस्थितबन्ध एव, ततश्च्युत्वा मनुष्येषूत्पन्नस्य यदि

तदेव बन्धस्थानं प्रवर्तते तद्युत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तं यावदेव, तत्पश्चादवश्यमेव भूयस्काराल्पतरबन्धौ प्रवर्तेते, देवेषूत्पत्तेः प्रागपि मनुष्यभवचरमान्तर्मुहूर्तं विहाय तयोर्बन्धयोः परावर्तनं भवत्येव । एवं चोक्तमार्गणाचतुष्के भूयस्काराल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टान्तरं दर्शितप्रमाणं प्राप्यत इति ।

क्षयोपशमसम्यक्त्वे नाम्नो भूयस्काराल्पतरपदयोरुत्कृष्टान्तरं साधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि भवति, अनुत्तरदेवानधिकृत्य प्रागुत्तरमनुष्यभवसत्कं यथासम्भवं कियत्कालं च संगृह्य भावना कार्येति । तत्र साधिकत्वं समयोनपूर्वकोटिप्रमाणमवसेयम् ।

"ऽण्णहे"त्यादि, उक्तशेषासु मार्गणासु भूयस्काराल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तं, मार्गणाज्येष्ठकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्, यद्वा मार्गणासु द्व्याद्यनेकबन्धस्थानानां परावर्तमानेन बन्धप्रायोग्यत्वे सति तदन्तर्गतं भवप्रत्ययेन गुणप्रत्ययेन वा नैकबन्धस्थानसम्भवः, नान्तर्मुहूर्तादधिकतद्बन्धासम्भवश्च, अतो ज्येष्ठान्तरमन्तर्मुहूर्तमेवेति । शेषमार्गणा नामत इमाः-अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्--ऽपर्याप्तमनुष्या-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय--ऽपर्याप्तत्रसकाय-सप्तैकेन्द्रिय नवविकला--क्षैकोनचत्वारिंशत्पपृथव्यादिपञ्चकायभेद--मनोयोगौघ--तदुत्तरभेदचतुष्क--वचनयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क- -काययोगौघौदारिकौ--दारिकमिश्र-वैक्रिय--वैक्रियमिश्र--कषायचतुष्क--विभङ्गज्ञानोपशम-सास्वादनासंज्ञिमार्गणा इति द्व्यशीतिः । तथाऽऽनताद्यष्टादशदेवभेदाऽपगतवेदसूक्ष्मसम्परायसम्यग्मिथ्यात्वमार्गणा एकविंशतिः, एतासु नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धौ एव न स्तः, अतो न तदन्तरस्य प्ररूपणेति ॥१०८॥

तदेवं समाप्तं नाम्नो भूयस्काराल्यतरबन्धयोर्ज्येष्ठान्तरम्, तत्समाप्तौ चाष्टानामपि कर्मणां सम्भवद्भूयस्कारादिचतुर्विधपदानां जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरमिति ।

॥ श्रीप्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे स्वस्थाननिरूपणाया चतुर्थमन्तरद्वार समाप्तमिति ॥

॥ अथ पञ्चमं भङ्गविचयद्वारम् ॥

अथ पञ्चमं भङ्गविचयद्वारं प्ररूपयिषुरोघतः प्राह–

> अट्ठण्हऽवट्ठिओ य अवत्तव्वो आउगस्स णामस्स ।
> भूओगारप्पयरा णियमाऽट्ठण्ह अधुवाऽण्ण पया ॥१०१॥

(प्रे.) "अट्ठण्हे"त्यादि, इतः प्रभृत्यनेकजीवविषयकाणि द्वाराणि निरूपणीयानि भवन्तीत्यवधार्यम् । तत्र भङ्गविचये भूयस्कारादिपदचतुष्केभ्यो येषां कर्मणां यावन्ति पदानि सम्भवन्ति तेषु पदेषु बन्धकानां ध्रुवाध्रुवत्वं विज्ञातव्यम्, तत्र यस्य यस्य पदस्य बन्धका ध्रुवाः, तत्र न तत्तत्पदस्यैकानेकजीवप्रयुक्ता एकद्वयादिपदसंयोगजा वा भङ्गाः कर्तव्याः, किन्तु सर्वदैवानेकजीवप्रयुक्तमेव ध्रुवत्वं तत्पदबन्धकानाम् । तथा च सति शेषाध्रुवपदजन्यैकद्वयादिपदसंयोजा भङ्गाः कर्तव्याः । तत्र यदि एकमनेकं वा ध्रुवपदमस्ति तर्हि तत्सत्क एको भङ्गोऽध्रुवपदरहितः प्रक्षेपणीय इति । भङ्गनिरूपणाया बीजं तु पदानां सत्त्वे सति ध्रुवत्वस्याध्रुवत्वस्य च परिज्ञानम्, अत एव ग्रन्थकारस्तदेव निरूपयिष्यते तथाऽपि भङ्गविचय एव दर्शित इति ज्ञातव्यम् । नाऽत्र भङ्गा भङ्गसंख्या वा निरूपिता इति व्यामोहो न कार्यः ।

अथ सम्भवत्पदानां ध्रुवाध्रुवत्वमेव दर्शयन्नाह–"अट्ठण्हे"त्यादि, अष्टानामपि कर्मणामवस्थितबन्धो ध्रुवो भवति, आयुषोऽवक्तव्यबन्धोऽपि ध्रुवः, नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धौ च ध्रुवौ । शेषपदानि अध्रुवाणि, तद्यथा-वेदनीयायुर्वर्जषट्कर्मणामवक्तव्यबन्धोऽध्रुवः, दर्शनावरणमोहनीययोः प्रत्येकं भूयस्काराल्पतरबन्धौ अध्रुवौ इति । अत्रानन्तनिगोदजीवानां प्रतिसमयमवस्थितादिपदानां निर्वर्तकत्वात्तेषां ध्रुवत्वम्, अवक्तव्यादिपदानामध्रुवत्वं तु श्रेणिगतानां गुणस्थानान्तरप्राप्तिप्रथमसमय एव वा तन्निर्वर्तकत्वेन तेषां सर्वदा अनुपलम्भात् ।

अत्र भङ्गानयनार्थं प्राग् मूलग्रन्थे नानाप्रकाराणि करणानि दर्शितानि, तद्विवरणमपि तत्र तत्र तद्वृत्तिकारैः कृतमेव । अत्र वृत्तौ तत्रोक्ता एका करणगाथा स्मार्यते–'तिगुणी काऊण पया अधुवा कज्ज़ा परोपराब्भत्था । रूवेगूणा अधुवा तावइआ चेव धुवसहिया ।" इति, गाथार्थस्तु सुगमः । भावना पुनरेवं कार्या–यत्र यावन्ति पदानि सम्भवन्ति तेभ्यो यावन्ति पदान्यध्रुवाणि तावन्ति त्रिकाणि संस्थाप्य परस्परं गुणनीयानि, ततो या संख्या प्राप्यते तावन्तो भङ्गा ध्रुवपदसहिताविज्ञेयाः, यदि पुनर्ध्रुवपदमेकमपि नास्ति तहर्थेको तत्संबंधिभङ्गोऽपसारणीय इति । यदि पुनस्तत्राध्रुवपदमेकमपि नास्ति, तर्हि तत्र ध्रुवपदानामेकस्यानेकस्य वा भावेऽपि तस्यैक एव भङ्गः, भङ्गान्तराभावादभङ्गो वा ज्ञेयः । प्रस्तुते भङ्गसंख्या पुनरेवम्-ओघतो ज्ञानावरणगोत्रान्तरायाणाम-

वस्थितपदं ध्रुवमवक्तव्यपदं चाध्रुवमिति त्रयो भङ्गा भवन्ति। तद्यथा–(१)अनेकेऽवस्थितबन्धका: एकोऽवक्तव्यबन्धकः, (२)अनेकेऽवस्थितबन्धका अनेके चावक्तव्यबन्धका: (३) सर्वेऽवस्थितबन्धका:, इति । वेदनीयस्यैकमेव पदमवस्थितबन्धरूप तस्य च ध्रुवत्वादेक एव भङ्गो भवति। आयुष्कस्यावक्तव्यावस्थितबन्धौ, द्वयोरपि पदयोर्ध्रुवत्वादेक एव भङ्गो भवति, अनेकेऽवक्तव्यबन्धका अनेकेऽवस्थितबन्धकाश्च। नाम्नो भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धा ध्रुवा:, अवक्तव्यबन्धश्चाध्रुव:, अत्रैकस्य पदस्याध्रुवत्वात् त्रयो भङ्गा भवन्ति: ते च ज्ञानावरणवद्विज्ञेया:, केवलमवस्थितबन्धस्थाने पदत्रयं वक्तव्यमिति। दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरावक्तव्यपदत्रयमध्रुवम् , एकमवस्थितपदं ध्रुवमित्यत्र सप्तविंशतिर्भङ्गा भवन्ति। भावना तु मूलप्रकृतिबन्धप्रेमप्रभोक्तपद्धत्या मूलस्थितिबन्धवृत्त्यादिदर्शितपद्धत्या वा कार्या सुगमा चेति ॥१०९॥ यद्यपि स्वामित्वद्वारे स्वामित्वादिकस्य भावान्तद्वारसम्बन्धिनी प्ररूपणा मूलकर्मसत्काष्टप्रकृत्यास्थानवदतिदेशेन दर्शिता, तथाच भङ्गविचयद्वार अतिदेशवद् ध्रुवत्वमध्रुवत्वं वाऽऽयुष्कसत्कपदद्वयस्य लाभस्तथाऽपि तत्रोक्तभङ्गप्रकारतः प्रस्तुते प्राप्यमाणभङ्गानां तत्प्रकारस्य च भिन्नत्वेन ग्रन्थकारोऽत्र पुनरायुष्कस्य भङ्गविचये ध्रुवाध्रुवत्वं मार्गणास्वपि प्ररूपयन्नाह—

आउस्स अट्ठमो चिअ भंगो जासुं भवे दुसट्ठीए।
तहि से णियमा दोराह वि पयाण सेसा भयणीआ ॥११०॥

(प्रे०) "आउस्से"त्यादि, मूलप्रकृतिबन्धे यासु तिर्यगोघादिद्वाषष्टिमार्गणास्वायुर्बन्धकानां केवलमष्टम एव भङ्गो दर्शितः, तास्वायुर्बन्धकानां ध्रुवत्वमिवायुर्बन्धप्रारम्भकाणां तत्समापकानां च ध्रुवत्वं भवति । अत एतासु द्वाषष्टिमार्गणास्वायुषोऽवस्थितावक्तव्यपदबन्धकानां ध्रुवत्वादेक एव भङ्गो भवति। ता द्वाषष्टिमार्गणा नामत इमा:—तिर्यग्गत्योघ-सप्तैकेन्द्रिय-बादरपर्याप्तवर्जपृथ्वीकायभेदषट्काऽप्कायभेदषट्क-तेजस्कायभेदषट्क-वायुकायभेदषट्क-साधारणवनस्पतिकायभेदसप्तक--वनस्पतिकायौघ प्रत्येकवनस्पतिकायौघा --ऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाय--काययोगौघौ--दारिकौ-दारिकमिश्र-नपुंसकवेद कषायचतुष्क-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसयमा-ऽचक्षुर्दर्शनाऽशुभलेश्यात्रिक-भव्याभव्य-मिथ्यात्वासंज्ञ्याहारकमार्गणा इति । उक्तशेषास्वायुर्बन्धप्रायोग्यास्वेकोत्तरशतमार्गणास्वायुर्बन्धस्यैव सान्तरत्वेनायुष्कसत्कपदद्वयस्य बन्धे सान्तरत्वादऽध्रुवत्वम् , तेनात्रैतासु प्रत्येकमष्टौ अष्टौ भङ्गा भवन्ति।

मूलप्रकृतावष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य सप्तादिप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानसापेक्षत्वेन तत्र तस्य पृथग्भङ्गा नैव प्राप्यन्ते, प्रस्तुते तु प्रत्येकं मूलकर्मणः पृथक् प्ररूपणाया भावेन स्वस्वकर्मसत्कभूयस्काराद्यवान्तरसत्पदापेक्षयैव भङ्गानां लाभाद् भिन्नत्वमित्यतिदिष्टेऽपि पुनर्निर्देश इति॥११०॥

अथ मार्गणास्वायुर्वर्जशेषकर्मणां सम्भवद्भूयस्काराल्पतरावस्थितावक्तव्यपदानां बन्धे ध्रुवाध्रुवत्वं निरूपयिषुरादौ तावदवस्थितबन्धस्य तत्राह—

असमत्तणरे विक्कियमीसे आहारदुगअवेएसु ।
छेए परिहारसुहमउवसममीसेसु सासाणे ॥१११॥
सप्पाउग्गाणाउगवज्जाण अवट्ठिओऽत्थि भयणीओ ।
णियमा सेसासु परमवेए वेअस्स णियमाऽत्थि ॥११२॥

(प्रे०) "असमत्तणरे"इत्यादि, अपर्याप्तमनुष्यवैक्रियमिश्राहारकतन्मिश्रच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसंपरायोपशमसम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सास्वादनमार्गणाः, एता दश सान्तरा भवन्ति, एतासु प्रत्येकं कदाचिज्जीवानामभावः प्राप्यते, कदाचिच्चैकादयोऽपि जीवा भवेयुः, अत एतास्वायुर्वर्जसप्तकर्मभ्यो यावन्ति कर्माणि बन्धार्हाणि तेषां प्रत्येकमवस्थितपदमध्रुवम्, मार्गणाया एवाध्रुवत्वात् । अपगतवेदमार्गणायां बन्धकजीवेषु सयोगिकेवलिनोऽपेक्ष्यैव मार्गणा-ध्रुवा, शेषनवमादिद्वादशान्तगुणस्थानगतजीवानपेक्ष्य मार्गणा अध्रुवा, अत एतस्यां वेदनीयस्याव-स्थितबन्धपदं ध्रुवं शेषाणां ज्ञानावरणादिषट्कर्मणामवस्थितपदमध्रुवं विज्ञेयमिति । शेषासु त्रिषष्ट्यु-त्तरशतमार्गणासु प्रत्येकमायुर्वर्जबन्धप्रायोग्याणां कर्मणां सप्तानामेकस्य वाऽवस्थितपदस्य ध्रुवत्वं भवति, तत्तन्मार्गणाया ध्रुवत्वेनावस्थितपदबन्धकानां सर्वदैव लाभात् । अत्राऽकषाय-केवल-ज्ञानदर्शन यथाख्यातसंयममार्गणासु चतसृषु केवल वेदनीयस्य, शेषैकोनषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु सप्तानामवस्थितपदस्य ध्रुवत्वं विज्ञेयम् । इति मार्गणास्ववस्थितपदस्य ध्रुवाध्रुवत्वम् ।१११-११२॥

अथ सर्वमार्गणासु यथासम्भवमवक्तव्यभूयस्काराल्पतरबन्धानां ध्रुवत्वमध्रुवत्वं वा निरूपयन्नाह—

आउस्स अट्ठमो च्चिअ भंगो जासुं भवे दुसट्ठीए ।
तासुं बासट्ठीए कम्मम्मि तहा अणाहारे ॥११३॥
भूगारप्पयराणं णियमा णामस्स बंधगा णेया ।
सव्वह सेसपयाणं सप्पाउग्गाण भजणीआ ॥११४॥

(प्रे०)"आउस्से"त्यादि, यासु तिर्यगोघादिद्वाषष्टिमार्गणासु तिर्यगायुषः सदैव "अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धकाश्च" इत्येवंरूपोऽष्टम एव भङ्गः प्राप्यते, तासु कार्मणानाहारकयोश्चेति चतुःषष्टिमार्गणासु प्रत्येकं नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धौ ध्रुवौ भवतः, तयोर्बन्धप्रायोग्य-जीवानामानन्त्यादसंख्यलोकप्रमाणत्वाद्वा । ता मार्गणा नामत इमाः-तिर्यग्गत्योघ-सप्तैकेन्द्रिय-

वस्थितपदं ध्रुवमवक्तव्यपदं चाध्रुवमिति त्रयो भङ्गा भवन्ति । तद्यथा—(१)अनेकेऽवस्थितबन्धकाः एकोऽवक्तव्यबन्धकः, (२)अनेकेऽवस्थितबन्धका अनेके चावक्तव्यबन्धकाः (३) सर्वेऽवस्थितबन्धकाः, इति । वेदनीयस्यैकमेव पदमवस्थितबन्धरूप तस्य च ध्रुवत्वादेक एव भङ्गो भवति । आयुष्कस्यावक्तव्यावस्थितबन्धौ, द्वयोरपि पदयोर्ध्रुवत्वादेक एव भङ्गो भवति, अनेकेऽवक्तव्यबन्धका अनेकेऽवस्थितबन्धकाश्च । नाम्नो भूयस्कारान्पतरावस्थितबन्धा ध्रुवाः, अवक्तव्यबन्धश्चाध्रुवः, अत्रैकस्य पदस्याध्रुवत्वात् त्रयो भङ्गा भवन्तिः ते च ज्ञानावरणवद्विज्ञेयाः, केवलमवस्थितबन्धस्थाने पदत्रयं वक्तव्यमिति । दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्कारात्पतरावक्तव्यपदत्रयमध्रुवम् , एकमवस्थितपदं ध्रुवमित्यत्र सप्तविंशतिर्भङ्गा भवन्ति । भावना तु मूलप्रकृतिबन्धप्रेमप्रभोक्तपद्धत्या मूलस्थितिबन्धवृत्त्यादिदर्शितपद्धत्या वा कार्या सुगमा चेति ।।१०९।। यद्यपि स्वामित्वद्वारे स्वामित्वादिकस्य भावान्तद्वारसम्बन्धिनी प्ररूपणा मूलकर्मसत्काष्टप्रकृत्यास्थानवदतिदेशेन दर्शिता, तथाच भङ्गविचयद्वार अतिदेशवद्‌ ध्रुवत्वमध्रुवत्वं वाऽऽयुष्कसत्कपदद्वयस्य लाभस्तथाऽपि तत्रोक्तभङ्गप्रकारतः प्रस्तुते प्राप्यमाणभङ्गानां तत्प्रकारस्य च भिन्नत्वेन ग्रन्थकारोऽत्र पुनरायुष्कस्य भङ्गविचये ध्रुवाध्रुवत्वं मार्गणास्वपि प्ररूपयन्नाह—

आउस्स अट्ठमो चिअ भंगो जासुं भवे दुसट्ठीए ।
तहिं से णियमा दोराह वि पयाण सेसा भयणीआ ॥११०॥

(प्रे०) "आउस्से"त्यादि, मूलप्रकृतिबन्धे यासु तिर्यगोघादिद्वाषष्टिमार्गणास्वायुर्बन्धकानां केवलमष्टम एव भङ्गो दर्शितः, तास्वायुर्बन्धकानां ध्रुवत्वमिवायुर्बन्धप्रारम्भकाणां तत्समापकानां च ध्रुवत्वं भवति । अत एतासु द्वाषष्टिमार्गणास्वायुषोऽवस्थितावक्तव्यपदबन्धकानां ध्रुवत्वादेक एव भङ्गो भवति । ता द्वाषष्टिमार्गणा नामत इमाः—तिर्यग्गत्योघ-सप्तैकेंद्रिय-बादरपर्याप्तवर्जपृथ्वीकायभेदषट्काऽप्कायभेदषट्क-तेजस्कायभेदषट्क-वायुकायभेदषट्क-साधारणवनस्पतिकायभेदसप्तक--वनस्पतिकायौघ प्रत्येकवनस्पतिकायौघा --ऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाय--काययोगौघौ--दारिकौ-दारिकमिश्र-नपुंसकवेद यचतुष्क-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसयमा-ऽचक्षुर्दर्शनाऽशुभलेश्यात्रिक-भव्याभव्य-मिथ्यात्वासंज्ञ्याहारकमार्गणा इति । उक्तशेषास्वायुर्बन्धप्रायोग्यास्वेकोत्तरशतमार्गणास्वायुर्बन्धस्यैव सान्तरत्वेनायुष्कसत्कपदद्वयस्य बन्धे सान्तरत्वादऽध्रुवत्वम् , तेनात्रैतासु प्रत्येकमष्टौ अष्टौ भङ्गा भवन्ति ।

मूलप्रकृतावष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य सप्तादिप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानसापेक्षत्वेन तत्र तस्य पृथग्भङ्गा नैव प्राप्यन्ते, प्रस्तुते तु प्रत्येकं मूलकर्मणः पृथक् प्ररूपणाया भावेन स्वस्वकर्मसत्कभूयस्काराद्यवान्तरसत्पदापेक्षयैव भङ्गानां लाभाद्‌ भिन्नत्वमित्यतिदिष्टेऽपि पुनर्निर्देश इति॥११०॥

अथ मार्गणास्वायुर्वर्जशेषकर्मणां सम्भवद्भूयस्कारात्पतरावस्थितावक्तव्यपदानां बन्धे ध्रुवाध्रुवत्वं निरूपयिपुरादौ तावदवस्थितबन्धस्य तत्राह—

असमत्तणरे विक्कियमीसे आहारदुगअवेएसु ।
छेए परिहारसुहुमउवसममीसेसु सासाणे ॥१११॥
सप्पाउग्गाणाउगवज्जाण अवट्ठिओऽत्थि भयणीओ ।
णियमा सेसासु परमवेए वेअस्स णियमाऽत्थि ॥११२॥

(प्रे०) "असमत्तणरे" इत्यादि, अपर्याप्तमनुष्यवैक्रियमिश्राहारकतन्मिश्रच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसंपरायोपशमसम्यक्त्व सम्यग्मिथ्यात्व-सास्वादनमार्गणाः, एता दश सान्तरा भवन्ति, एतासु प्रत्येकं कदाचिज्जीवानामभावः प्राप्यते, कदाचिच्चैकादयोऽपि जीवा भवेयुः, अत एतास्वायुर्वर्जसप्तकर्मभ्यो यावन्ति कर्माणि बन्धार्हाणि तेषां प्रत्येकमवस्थितपदमध्रुवम्, मार्गणाया एवाध्रुवत्वात् । अपगतवेदमार्गणायां बन्धकजीवेषु सयोगिकेवलिनोऽपेक्ष्यैव मार्गणा-ध्रुवा, शेषनवमादिद्वादशान्तगुणस्थानगतजीवानपेक्ष्य मार्गणा अध्रुवा, अत एतस्यां वेदनीयस्यावस्थितबन्धपदं ध्रुवं शेषाणां ज्ञानावरणादिषट्कर्मणामवस्थितपदमध्रुवं विज्ञेयमिति । शेषासु त्रिषष्ट्यु-त्तरशतमार्गणासु प्रत्येकमायुर्वर्जबन्धप्रायोग्याणां कर्मणां सप्तानामेकस्य वाऽवस्थितपदस्य ध्रुवत्वं भवति, तत्तन्मार्गणाया ध्रुवत्वेनावस्थितपदबन्धकानां सर्वदैव लाभात् । अत्राऽकषाय-केवलज्ञानदर्शन यथाख्यातसंयममार्गणासु चतसृषु केवल वेदनीयस्य, शेषैकोनषष्ट्यु त्तरशतमार्गणासु सप्तानामवस्थितपदस्य ध्रुवत्वं विज्ञेयम् । इति मार्गणास्ववस्थितपदस्य ध्रु वाध्रुवत्वम् ॥१११-११२॥

अथ सर्वमार्गणासु यथासम्भवमवक्तव्यभूयस्कारात्पतरबन्धानां ध्रुवत्वमध्रुवत्वं वा निरूपयन्नाह—

आउस्स अट्ठमो चिअ भंगो जासुं भवे दुसट्ठीए ।
तासुं बासट्ठीए कम्मम्मि तहा अणाहारे ॥११३॥
भूगारप्पयराणं णियमा णामस्स बंधगा णेया ।
सव्वह सेसपयाणं सप्पाउग्गाण भजणीआ ॥११४॥

(प्रे०) "आउस्से" त्यादि, यासु तिर्यग्गोवादिद्वाषष्टिमार्गणासु तिर्यगायुषः सदैव "अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धकाश्च" इत्येवंरूपोऽष्टम एव भङ्गः प्राप्यते, तासु कार्मणानाहारकयोश्चेति चतुःषष्टिमार्गणासु प्रत्येकं नाम्नो भूयस्कारात्पतरबन्धौ ध्रुवौ भवतः, तयोर्बन्धप्रायोग्य-जीवानामानन्त्यादसंख्यलोकप्रमाणत्वाद्वा । ता मार्गणा नामत इमाः-तिर्यग्गत्योघ-सर्वैकेन्द्रिय-

सप्तसाधारणवनस्पतिकाय-पृथ्व्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायौघ-सूक्ष्मपृथ्व्यादिकायचतुष्कसत्कद्वादश-भेद -बादरपृथ्व्यप्तेजोवायुप्रत्येकवनौघाऽपर्याप्तपृथ्व्यप्तेजोवायुप्रत्येकवनस्पतिकाय -काययोगौ-घौदारिकौदारिकमिश्र-- नपुंसकवेद--कषायचतुष्क---मत्यज्ञान--श्रुताज्ञानाऽसंयमाऽचक्षुर्दर्शन-कृष्णनीलकापोतलेश्या- भव्याभव्य-मिथ्यात्वाऽसंज्ञ्याहारकमार्गणाः कार्मणानाहारके चेति । एतासु यथासम्भवं षण्णामवक्तव्यपदस्य दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धयोस्तथा शेषषड्युत्तरशतमार्गणासु यथार्हं षण्णामवक्तव्यपदस्य दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां भूयस्कारा-ल्पतरपदयोर्भजनीयत्वमध्रुवत्वमित्यर्थः, उक्तपदानां बन्धप्रायोग्यजीवानामसंख्येयलोकतो हीनत्वात् । एवं मूलकृता मार्गणासु सम्भवत्पदानां ध्रुवाध्रुवत्वं दर्शितम् ।

एतदनुसारेण भङ्गानयनप्रकारस्त्वेष-यत्र यस्या एकमेव पदं तस्य च ध्रुवत्व एक एव भङ्गः, यथा नरकगतौ ज्ञानावरणस्य । एकपदस्यैव भावेऽपि तस्याध्रुवत्वे द्वौ भङ्गौ, यथा सास्वादने ज्ञानावरणस्य । यत्र यस्य कर्मण द्वे एव पदे तयोर्ध्रुवत्वे च एक एव भङ्गः, यथा तिर्यगोघ आयुष्कस्य । यत्कर्मणः पदद्वयेऽपि एकस्य ध्रुवत्वेऽन्यस्याध्रुवत्वे त्रयो भङ्गा भवन्ति, यथा मनुष्यगत्योघे गोत्रस्य । द्वयोरपि पदयोरध्रुवत्वेऽष्टौ भङ्गाः, यथोपशमसम्यक्त्वे गोत्रस्य । यत्र यस्य कर्मणः पदत्रयस्य सत्त्वे त्रयाणामपि ध्रुवत्व एक एव भङ्गः प्राप्यते, यथा तिर्यग्गत्योघे नाम्नः । यत्र यत्कर्मणः पदत्रयादेकस्य ध्रुवत्वं द्वयोरध्रुवत्वं तत्र नव भङ्गाः प्राप्यन्ते, यथा नरकगतौ नाम्नः । तथा पदत्रयसत्त्वे द्वे पदे ध्रुवे एकं पदमध्रुवमिति तु विकल्प एव नास्ति । यत्र यस्याः प्रकृतेस्त्रयाणामपि पदानामध्रुवत्वम्, तत्र तस्याः षड्विंशतिर्भङ्गाः, यथा च्छेदोपस्थापनीये नाम्नः । यत्र यस्याः पदचतुष्कस्य सत्त्वं भवति तत्र पदचतुष्कस्य ध्रुवत्वं न कस्या अपि प्रकृतेः कुत्रचिद् भवति । यस्याः पदचतुष्कादेकस्य पदस्याऽध्रुवत्वं शेषपदत्रयस्य ध्रुवत्वं तत्र त्रयो भङ्गा भवन्ति यथा काययोगौघे नाम्नः । पदद्वयस्याध्रुवत्वं पदद्वयस्य ध्रुवत्वं चेत्येवंरूपस्तु विकल्प एव नास्ति । यत्र यस्याः प्रकृतेः पदचतुष्कादेकस्य पदस्य ध्रुवत्वं शेष-पदत्रयस्याध्रुवत्वं स्यात्, तत्र तस्या भङ्गाः सप्तविंशतिर्यथा मनुष्यौघे दर्शनावरणादित्रयाणाम् । यस्याः पदचतुष्कस्याप्यध्रुवत्वं तस्या भङ्गा अशीतिर्विज्ञेयाः, यथा उपशमसम्यक्त्वे दर्शनावरणस्येति ।

अत्र द्वारे यस्याः प्रकृतेर्यावन्ति पदान्यध्रुवाणि, तावन्ति त्रिकाणि स्थापयित्वा परस्परं गुणनियानि, तथाच-न यावती संख्या प्राप्यते तस्यास्तावन्तो भङ्गा भवन्ति, यदि तस्या ध्रुवपदमेकमपि स्यात्, यदि पुनर्ध्रुवपदमेकमपि नास्ति तर्हि रूपोनास्तावन्तो भङ्गाः स्युरिति ।

अथ मार्गणास्वायुर्वर्जानां कर्मणां भूयस्कारादिपदानां ध्रुवाध्रुवत्वं भङ्गाश्च दर्शयामः—अपर्याप्तमनुष्ये नाम्नः पदत्रयम्, तस्य भङ्गाः षड्विंशतिः । ज्ञानावरणादिशेषषट्कर्मणां त्वेक-

भवस्थितपदं तेषां प्रत्येकं द्वौ द्वौ भङ्गौ स्तः। वैक्रियमिश्रे नाम्नः पदत्रयसत्त्वं तेन तस्य षड्विंशतिर्भङ्गाः। मोहनीयस्य पदद्वयसत्त्वं तेन तस्याष्टौ भङ्गाः, शेषाणां ज्ञानावरणादीनां पञ्चानां कर्मणामेकं पदं तेन तेषां प्रत्येकं द्वौ द्वौ भङ्गौ। आहारकाऽऽहारकमिश्रयोर्नाम्नो द्वे पदे तेन तस्याष्टौ भङ्गाः, ज्ञानावरणादिषट्कर्मणां प्रत्येकमेकैकस्यैव पदस्य सत्त्वाद् द्वौ द्वौ भङ्गौ। सूक्ष्मसम्पराये मोहनीयस्य बन्धाभावाच्छेषषट्कर्मणां केवलमवस्थितपदस्य भावात्तेषां प्रत्येकं द्वौ द्वौ भङ्गौ भवतः। उपशमसम्यक्त्वे दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां प्रत्येकं भूयस्कारादिपदचतुष्कस्याध्रुवत्वेन भावादशीतिर्भङ्गा भवन्ति। ज्ञानावरणगोत्रान्तरायाणां पदद्वयं भवति अवस्थितमवक्तव्यं च; द्वे अप्यध्रुवे, भङ्गाः प्रत्येकं कर्मणोऽष्टौ अष्टौ भवन्ति। वेदनीयस्यैकमेवावस्थितपदमध्रुवं च तस्य द्वौ भङ्गौ। सम्यग्मिथ्यात्वे सप्तानामप्येकैकपदस्य भावाद् द्वौ द्वौ भङ्गौ प्रत्येकं भवतः। छेदोपस्थापनीये ज्ञानावरणादिचतुर्णामेकमवस्थितपदं त्रयाणां दर्शनावरणादीनां भूयस्कारादिपदत्रयं मार्गणाया अध्रुवत्वेन सर्वाण्यपि पदान्यध्रुवाणि। परिहारविशुद्धौ नाम्नोऽवक्तव्यं विहाय पदत्रयं ज्ञानावरणादीनां केवलमवस्थितपदं भवति, मार्गणाया अध्रुवत्वेनोक्तपदान्यध्रुवाणि। मार्गणाद्वये सप्तानां प्रत्येकं भङ्गास्तु स्वयं विज्ञेया इति। सास्वादने नाम्नः पदत्रयस्याध्रुवत्वम्, तस्य भङ्गाः षड्विंशतिः, ज्ञानावरणादीनां षण्णां त्वेकमेव पदमध्रुवं च द्वौ द्वौ भङ्गौ भवतः। अपगतवेदे वेदनीयस्यैकमेव पदं तस्य च सयोगिकेवल्यपेक्षया ध्रुवत्वादेक एव भङ्गः। ज्ञानावरणदर्शनावरणनामगोत्रान्तरायाणां पञ्चानां प्रत्येकमवक्तव्यावस्थितपदौ स्तः, तौ चाध्रुवौ भङ्गा अष्टावष्टौ भवन्ति। मोहनीयस्य पदचतुष्कम्, चतुर्णामप्यध्रुवत्वादशीतिर्भङ्गा भवन्ति। एवमध्रुवमार्गणासु सप्तानां भङ्गनिरूपणम्। ध्रुवमार्गणासु भङ्गनिरूपणमेवम्—अकषायकेवलज्ञानदर्शनयथाख्यातसंयममार्गणास्वेकस्य वेदनीयकर्मण एव केवलमवस्थितबन्धः, स च ध्रुव एवातस्तस्य भङ्ग एक एव। मनुष्यौघ पर्याप्तमनुष्यमानुषी-पञ्चेन्द्रियौघ--तत्पर्याप्त--त्रसकायौघ--तत्पर्याप्त-मनोयोगौघ--तदुत्तरभेदचतुष्क--वचनयोगौघ--तदुत्तरभेदचतुष्क—मतिश्रुतावधिमनःपर्यवज्ञान—संयमौघ—चक्षुरचक्षुरवधिदर्शन--शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघ क्षायिकसम्यक्त्व-संज्ञिमार्गणास्वष्टाविंशतौ वेदनीयस्य केवलमवस्थितपदं ध्रुवं च, अतस्तस्यैक एव भङ्गः। ज्ञानावरणगोत्रान्तरायाणां त्रयाणामवक्तव्यावस्थितबन्धौ भवतस्तत्रावक्तव्यस्याध्रुवत्वादितरस्य ध्रुवत्वाच्च त्रयस्त्रयो भङ्गा भवन्ति। दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां प्रत्येकं चत्वारि पदानि तत्रावस्थितस्य ध्रुवत्वादितरपदत्रयस्याऽध्रुवत्वात् सप्तविंशतिः सप्तविंशतिभङ्गा भवन्ति।

सर्वनरकभेदाऽपर्याप्तवर्जपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदत्रयसहस्रारान्तद्वादशदेवभेदवैक्रिययोग- स्त्री-

पुरुषवेद--सामायिकसंयम--तेजः--पद्मलेश्यामार्गणास्वेकोनत्रिंशतौ दर्शनावरणादित्रयाणामव-क्तव्यवर्जपदत्रयं भवति, तत्रावस्थितस्य ध्रुवत्वमितरद्वयस्याध्रुवत्वम् , तेन प्रत्येकं कर्मणो भङ्गा नव नव। ज्ञानावरणादिचतुर्णां कर्मणां केवलमवस्थितपदं तस्य च ध्रुवत्वेनैकैक एव भङ्गः।

अनुत्तरमार्गणापञ्चके सप्तानामेकस्यैवावस्थितबन्धस्य भावादेकैको भङ्गः प्राप्यते। आनतादिनवमग्रैवेयकान्तेषु त्रयोदशसु मार्गणाभेदेषु, दर्शनावरणमोहनीययोः प्रत्येकमवक्त-व्यवर्जपदत्रयं भवति, तत्रावस्थितस्य ध्रुवत्वेनेतरपदद्वयस्याध्रुवत्वेन च नव नव भङ्गा भवन्ति। ज्ञानावरणवेदनीयनामगोत्रान्तरायाणां पञ्चानां केवलमवस्थितपदस्य भावेनैकैको भङ्गः प्राप्यत इति।

अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्- नवविकलाक्षाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय- बादरपर्याप्तपृथ्व्यप्तेजोवायु-प्रत्येकवनस्पतिकायाऽपर्याप्तत्रसकायमार्गणासु सप्तदशसु ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयवेदनीय-गोत्रान्तरायाणां षण्णामवस्थितबन्ध एव, तस्य च ध्रुवत्वाद् भङ्ग एकैको भवति। नाम्नस्तु पदत्रयं भवति, तत्रावस्थितस्य ध्रुवत्वाद् भूयस्काराल्पतरयोरध्रुवत्वाच्च नव नव भङ्गा भवन्ति।

विभङ्गे मोहनीयस्य द्वे पदे तत्रावस्थितस्य ध्रुवत्वमल्पतरस्याध्रुवत्वम् , तेन भङ्गा-स्त्रयो भवन्ति। नाम्नस्त्रीणि पदानि, तत्रावस्थितबन्धो ध्रुवः, भूयस्काराल्पतरावध्रुवौ, भङ्गा नव। ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयगोत्रान्तरायाणां पञ्चानां प्रत्येकं केवलमवस्थितबन्ध एव, तस्य च ध्रुवत्वेनैकैक एव भङ्गः प्राप्यते।

देशविरतौ नाम्नो द्वे पदे भूयस्कारावस्थिताख्ये, तत्रावस्थितस्य ध्रुवत्वेन भूयस्कारस्या-ध्रुवत्वेन त्रीणि भङ्गाः। ज्ञानावरणादिषण्णां केवलमवस्थित एव बन्धोऽस्ति तस्य च ध्रुवत्वा-देकैक एव भङ्गः। क्षायोपशमिकमार्गणायां मोहनीयनाम्नोः प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि पदानि, तत्रैकस्य ध्रुवत्वाद् द्वयोश्चाध्रुवत्वाद् नव नव भङ्गाः। ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयगोत्रान्त-रायाणां पञ्चानां प्रत्येकमेकैकपदमवस्थितरूपं तस्य च ध्रुवत्वेनैकैकभङ्गः प्राप्यते।

काययोगौघौदारिककाययोगाऽचक्षुर्दर्शनभव्याहारिमार्गणासु पञ्चसु वेदनीयस्यैकमव-स्थितपदं तस्य च ध्रुवत्वेनैक एव भङ्गः। ज्ञानावरणगोत्रान्तरायाणां द्वे पदे तत्रावस्थितस्य ध्रुवत्वेनावक्तव्यस्य चाऽध्रुवत्वेन त्रयस्त्रयो भङ्गाः। दर्शनावरणमोहनीययोश्चत्वारि पदानि, तत्रावस्थितस्य ध्रुवत्वेन शेषपदत्रयस्याध्रुवत्वेन च सप्तविंशतिर्भङ्गा भवन्ति। नाम्नोऽपि चत्वारि पदानि सन्ति तत्र त्रयाणां ध्रुवत्वेनावक्तव्यस्य चाध्रुवत्वेन त्रयो भङ्गा भवन्ति।

लोभमार्गणायां ज्ञानावरणगोत्रान्तरायाणामवक्तव्यपदाभावात् तेषां त्रयाणां वेदनीयस्य चावस्थितबन्धस्यैकस्यैव भावेन तस्य च ध्रुवत्वेनैकैक एव भङ्गः। दर्शनावरण-स्यावक्तव्यवर्जानि त्रीणि पदानि तत्रैकस्य ध्रुवत्वं द्वयोरध्रुवत्वं च भङ्गा नव। मोहस्य

चत्वारि पदानि तत्रैकं ध्रुवं शेषपदत्रयमध्रुवं भङ्गाः सप्तविंशतिः । नाम्नोऽवक्तव्यवर्जपदत्रयं त्रयाणामपि ध्रुवत्वादेक एव भङ्ग इति ।

तिर्यग्गत्योघ- नपुंसकवेद-क्रोधमानमायाऽसंयम-कृष्णनीलकापोतलेश्यासु नवमार्गणासु ज्ञानावरणवेदनीयगोत्रान्तरायाणामेकैकपदं तस्य च ध्रुवत्वादेतासु प्रत्येकमुक्तकर्मणामेकैको भङ्गः प्राप्यते । दर्शनावरणमोहनीययोस्त्रीणि त्रीणि पदानि, तत्रैकस्य ध्रुवत्वाद् द्वयोरध्रुवत्वात् प्रत्येकं नव नव भङ्गाः । नाम्नस्त्रीणि पदानि त्रयाणामपि पदानां ध्रुवत्वादेक एव भङ्गः ।

औदारिकमिश्रकार्मणानाहारकमार्गणात्रयेऽज्ञानद्वये चेति पञ्चसु मोहनीयस्य द्वे पदे स्तः, अवस्थितभूयस्कारौ, तत्रैकस्य ध्रुवत्वादेकस्य चाध्रुवत्वात् त्रयो भङ्गा भवन्ति । दर्शनावरणस्य केवलमवस्थितपदस्य भावात् तस्य च ध्रुवत्वादेक एव भङ्गः । शेषज्ञानावरणादीनां तिर्यग्गत्योघवदेकैको भङ्गो विज्ञेयः ।

- सप्तैकेन्द्रिय-सप्तसाधारणवनस्पतिकाय-बादरपर्याप्तवर्जपृथ्वीकायभेदषट्काप्कायभेदषट्क-तेजस्कायभेदषट्क-वायुकायभेदषट्क-वनस्पतिकायौघ--प्रत्येकवनस्पतिकायौघाऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायाभव्यमिथ्यात्वासंज्ञिमार्गणासु चतुश्चत्वारिंशद्मार्गणासु ज्ञानावरणादीनां षण्णां प्रत्येकं केवलमवस्थितबन्ध एव तस्य च ध्रुवत्वादेकैको भङ्गः प्राप्यते । नाम्नोऽवक्तव्यवर्जास्त्रयो बन्धाः, त्रयाणामपि बन्धानां ध्रुवत्वेनैको भङ्ग एव प्राप्यते । इति भङ्गानां निरूपणम् ॥११३-११४॥

॥ श्री प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधान उत्तरप्रकृतिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे स्वस्थाननिरूपणायां पञ्चम भङ्गविचयद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ षष्ठं भागद्वारम् ॥

अथ षष्ठं भागद्वारमवसरप्राप्तमादावोघतो विवृणन्नाह—

आसिज्ज बंधगा इह भागो, वेअस्स णत्थि आउस्स ।
णेयाऽवत्तव्वस्स असंखंसोऽणस्स सेसंसा ॥११५॥

(प्रे०) "आसिज्जे"त्यादि, इह "आसिज्ज बंधगा इह भागो" इत्यनेन प्रस्तुते भागद्वारप्ररूपणाया नियतरूपो विषयविभागो दर्शितः, तद्यथा—इह प्रकरणे भूयरकाराधिकारे बन्धकानाश्रित्य । ये तत्तन्मूलकर्मबन्धकास्तानाश्रित्य तत्तत्कर्मणो भूयस्कारादिपदस्य ये बन्धकास्ते कियद्भागे भवन्ति, संख्येयतमे,असंख्येयतमे,अनन्ततमे वा, इत्यत्र निरूपणीयम्, न पुनर्बन्धकानबन्धकान् समुदितानपेक्ष्येत्यवधार्यम् । यस्य कर्मणो ये बन्धकास्ते तत्कर्मसत्केभ्यो भूयस्कारादिसम्भवत्पदबन्धकेभ्यो नातिरिच्यन्ते, अतो ये तत्तत्कर्मसत्कभूयस्कारादिसर्वपदबन्धकास्ते समुदितास्तत्तत्कर्मणो बन्धका विज्ञेयाः । अतो नात्राबन्धकानप्यधिकृत्य भागप्ररूपणा इति । ये वेदनीयस्य बन्धकास्ते सर्वे वेदनीयावस्थितपदस्यैव बन्धका भवन्ति, तदन्यपदानां वेदनीयेऽभावादत एव सर्वेषामेव बन्धकत्वाद् वेदनीयकर्मणि भागप्ररूपणा एव नास्ति, द्व्यादिविभागसत्त्वे तस्य न्यायत्वात् । आयुष्कस्यावक्तव्यावस्थितबन्धपदद्वयं भवति, तत्र चायुर्बन्धप्रारम्भसमये सर्वेषामवक्तव्यबन्धः, शेषेष्वायुर्बन्धकालेष्वसंख्यसामयिकेष्ववस्थितबन्ध एव भवति । अत्रावक्तव्यबन्धकालेभ्योऽवस्थितबन्धकालस्यासंख्येयगुणत्वात्, आयुर्बन्धकजीवेषु तदवक्तव्यबन्धका असंख्येयतमभागमात्रा भवन्ति, "अणस्स"त्ति उक्तशेषपदस्य प्रस्तुत आयुषोऽवस्थितपदस्य बन्धकाः "सेसंसा" त्ति उक्तशेषभागाः, प्रस्तुत आयुर्बन्धकानामसंख्येयभागोस्यक्तत्वादसंख्येयबहुभागा भवन्ति । 'अणस्स सेसंसा" इत्यनेन, ओघे मार्गणासु वा यत्कर्मणोऽवस्थितातिरिक्तपदसद्भावः, तत्रोक्तशेषपदस्यावस्थितपदस्येत्यर्थः, यथासम्भवं संख्येयबहुभागा असंख्येयबहुभागा अनन्तबहुभागाः, उक्तशेषभागरूपा बन्धका द्रष्टव्या इति दर्शितम् ॥११५॥

अथ प्रसङ्गतो मार्गणास्वप्यायुषः पदयोर्भागान् निरूपयन्नाह—

सव्वह आउस्सोघव्व णवरि जहिं अत्थि बंधगा संखा ।
तत्थ अवत्तव्वस्स उ संखंसोऽणस्स संखंसा ॥११६॥

(प्रे०) "सव्वहे"त्यादि, आयुर्बन्धप्रायोग्यास्त्रिषष्ट्युत्तरशतमार्गणाः, ताभ्यः पर्याप्त-

मनुष्याद्येकोनत्रिंशद्मार्गणाभ्यो नवसु जीवाः संख्येया एव, शेषविंशतौ जीवानामसंख्येय-त्वेऽप्यायुष्कबन्धकाः संख्येया एव, अत एतासु प्रत्येकमायुर्बन्धकानामेकमसंख्येयतमभागप्रमिता आयुषोऽवक्तव्यबन्धकाः, संख्येयबहुभागास्तु तस्यावस्थितपदनिर्वर्तका भवन्ति। शेषासु चतुस्त्रि-शदुत्तरशतमार्गणासु यथासम्भवमनन्ता असंख्येया वा जीवा भवन्ति, एतासु प्रत्येकं यावन्तो जीवा भवन्ति तदसंख्येयभागमिता यथासम्भवमनन्ता असंख्येया वा प्रकृष्टत आयुषो बन्धका भवन्ति। तत्तन्मार्गणायां ज्येष्ठपदेऽऽयुषो बन्धकानामसख्येयभागमिता अवक्तव्यबन्धका भवन्ति, असंख्ये-यबहुभागगतास्त्ववस्थितबन्धकाः, इत्येतदोघवदतिदेशेन प्रदर्श्य संख्यातजीवयुक्तमार्गणास्वपवा-दरूपेण भागप्ररूपणा दर्शिता मूलकृतेति। तदेवं गतं मार्गणास्वप्यायुषः पदद्वयस्य भागनिरूपणम्।

ननु स्वामित्वद्वार एवाऽऽयुषो भावद्वारान्तस्यातिदेशेन निरूपितत्वात्पुनर्निरूपणमसङ्गत-मिति चेत्, न, तत्र मूलप्रकृतौ प्रकृतिबन्धकानपेक्ष्याष्टविधबन्धकाः कियद्भागे भवन्तीति निरूपि-तम्, प्रस्तुते तु ये आयुर्बन्धका भवन्ति तेषां कियद्भागे तत्पदद्वयस्य प्रत्येकं बन्धका भवन्तीति निरूपणीयम्, न चैतदतिदेशेन प्राप्यते, अतोऽत्र नाम्या तन्निरूपणेति। अन्यथा त्वसङ्गतिरेव स्यादिति ॥११६॥

अथ ओघतो वेदनीयाऽऽयुर्वर्जानां ज्ञानावरणादिकर्मणां भूयस्कारादिपदेषु भागान्निरूपयति—

णामस्स असंखंसो दुपयाण अवट्ठिअस्सऽसंखंसा।
पंचण्ह अणंतंसा छण्हऽणपयाणऽणंतंसो ॥११७॥

(प्रे०) "णामस्से"त्यादि, नाम्नो भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धका असंख्येकभागप्रमाणाः अवस्थितबन्धका असंख्येयबहुभागप्रमाणाः। पञ्चानां ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयगोत्रान्त-रायाणामवस्थितपदबन्धका अनन्तबहुभागप्रमाणाः। षण्णामुक्तान्यपदानामर्थात्-ज्ञानावरणगो-त्रान्तरायाणां त्रयाणामवक्तव्यपदस्य, नाम्नोऽप्यवक्तव्यस्यैव, दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्का-राल्पतरावक्तव्यपदानां च बन्धका अनन्ततमे भागे भवन्तीति गाथार्थः। भावार्थः पुनरयम् षण्णा-मपि कर्मणां बन्धका अनन्ताः, तेभ्योऽवक्तव्यबन्धकास्तु श्रेणितः प्रपतन्त एव, ते च संख्येयाः, अतः षण्णामवक्तव्यबन्धका अनन्ततमे भागे भवन्ति। ज्ञानावरणगोत्रान्तरायाणां त्ववक्तव्याव-स्थितपदद्वयस्यैव भावेन तत्रावक्तव्यपदस्यानन्ततमभागमात्रत्वाच्छेषानन्तबहुभागप्रमिता अव-स्थितपदस्यैव बन्धका लभ्यन्ते। दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धद्वयस्यापि बन्धका अनन्ततमे भागे एव भवन्ति, श्रेणिं विनाऽपि गुणान्तरसंक्रान्तौ तद्भावेनोत्कृष्टतः पल्योपमाऽ-संख्येयभागप्रमितास्ते भवन्ति, उक्तप्रकृतिद्वयबन्धकजीवास्त्वनन्ताः, इत्यनन्ततमभागप्रमिता एव दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्कारस्याल्पतरस्य च बन्धकाः, अवक्तव्यपदबन्धका अप्यनन्ततमभाग-

प्रमिता एव दर्शिताः, अतः शेषस्यावस्थितपदस्य बन्धकास्त्वनन्तबहुभागा भवन्ति, निगोद-जीवानामवस्थितबन्धस्यैव निर्वर्तनादिति । नाम्नो भूयस्कारात्पतरयोर्बन्धस्तु गुणविशेषं भवविशेषं वा विहाय सामान्यतः प्रत्यन्तर्मुहूर्तं प्रवर्तते इति न तयोरनन्तभागप्रमितत्वम् । अन्तर्मुहूर्तमध्ये च सङ्ख्येयवारमेव तयोः परावर्तनात् , शेषसमयेष्ववस्थितबन्धस्य भावाच्च भूयस्काराल्पतरबन्धकालादवस्थितबन्धकालस्य बाहुल्यतोऽसंख्येयगुणत्वाद् भूयस्काराल्पतरबन्धका नाम्नः प्रकृतिबन्धकानामसंख्येयतमे भागे भवन्ति, नाम्नोऽवस्थितबन्धकास्त्वसंख्येयबहुभागा विज्ञेया इति ॥११७॥ अथ मार्गणासु भागं प्ररूपयन्नाह—

ओघव्व बंधगा ससपयाण सत्तरह आउवज्जाणं ।
काये उरालिये तह अचक्खुभवियेसु आहारे ॥११८॥

(प्रे०) "ओघव्वे"त्यादि, काययोगादिपञ्चमार्गणास्वायुर्वर्जसप्तानां भूयस्कारादिपदानां भागप्ररूपणा ओघवद् विज्ञेया, अनिगतानां निगोदजीवानामोघवत्सर्वपदबन्धकानां चात्रापि सद्भावात् , भावनाऽप्योघवत्कार्या सुगमा चेति ।॥११८॥ अथ नरकगत्यादिमार्गणासु प्राह—

सव्वणिरयतिपणिंदियतिरिक्खसुरअट्ठमंतदेवेसुं ।
वेउव्वे इत्थीए पुरिसम्मि य तेउपम्हासुं ॥११९॥
दुरिअतुरिअछट्ठाणं असंखभागा अवट्ठिअस्सऽत्थि ।
दुपयाण असंखंसो भागो णत्थि चउसेसाणं ॥१२०॥

(प्रे०) "सव्वणिरये"त्यादि, सर्वनिरयभेदाः, ते चाष्टौ–नरकौघः सप्त तदुत्तरभेदाः, अपर्याप्तवर्जा त्रयः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, देवौघभवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मादिसहस्रारान्ता देवभेदाः समुदिताश्च ते द्वादशदेवभेदा वैक्रियकाययोग स्त्रीवेद-पुरुषवेद-तेजोलेश्या पद्मलेश्या-मार्गणास्तास्वष्टाविंशतौ ज्ञानावरणवेदनीयगोत्रान्तरायाणां केवलमेकमेवावस्थितबन्धो भवति, तेनोक्तकर्मचतुष्के भागप्ररूपणा नास्ति ।

दर्शनावरणमोहनीययोः पदत्रयम् । तत्र तयोर्भागप्ररूपणायामिमे नियमाः–(१) यासु मार्गणासु जीवा अनन्तास्तास्ववस्थितभिन्नपदबन्धका अनन्ततमभागप्रमाणाः, अवस्थित-पदबन्धका अनन्तबहुभागप्रमाणाः । (२) यास्वसंख्येया जीवास्तास्ववस्थितभिन्नपदबन्धका असंख्येयभागप्रमाणाः, अवस्थितपदबन्धका असंख्येयबहुभागाः । (३) यासु मार्गणासु जीवाः संख्येया एव तास्ववस्थितेतरपदानां निर्वर्तकाः संख्येयैकभागप्रमिताः, अवस्थितपदबन्धकाः संख्येयबहुभागप्रमाणाः । (४) यासु मार्गणासु दर्शनावरणमोहयोरवस्थितभिन्नपदानि न सन्ति तास्ववस्थितपदस्यैवैकस्य भावेन भागप्ररूपणा नास्तीति नियमचतुष्कम् ।

अतः प्रस्तुतसर्वमार्गणासु जीवानामसंख्येयत्वाद् दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धका असंख्येयभागप्रमाणाः, अवस्थितपदबन्धका असंख्येयबहुभागप्रमिता भवन्तीति ।

नाम्नो बन्धस्य पदत्रयं भवति। नाम्नो भागप्ररूपणाया अवबोधार्थमिमे नियमा अवगन्तव्याः- (१) यासु मार्गणासु जीवा अनन्तास्तासु नाम्नोऽवक्तव्यपदस्य सत्त्वे तस्य बन्धका अनन्ततमैकभागमिताः, भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धका असंख्यैकभागप्रमाणाः, अवस्थितबन्धका असंख्येयबहुभागप्रमाणाः । (२) यासु मार्गणासु जीवा असंख्येयास्तास्ववस्थितेतरपदानां बन्धका असंख्येयतमभागप्रमाणाः, अवस्थितपदस्य बन्धकास्त्वसंख्येयबहुभागप्रमाणाः । (३) यासु मार्गणासु जीवाः संख्येया एव, तास्ववस्थितेतरपदानां बन्धकाः संख्येयतमभागप्रमिताः, अवस्थितपदस्य बन्धकास्तु संख्येयबहुभागाः । (४) यासु मार्गणासु नाम्नोऽवस्थितभिन्नपदानि न सन्तिः तास्ववस्थितपदस्यैवैकस्य सम्भवाद् भागप्ररूपणा अपि नास्तीति । अत्र प्रथमद्वितीयनियमद्वयेन च भूयस्काराल्पतरबन्धकानां ज्येष्ठकालतोऽवस्थितबन्धज्येष्ठकालस्यासंख्येयगुणत्वादसंख्येयबहुभागप्रमाणत्वमवस्थितबन्धकजीवानां भवति, तृतीयनियमे तु जीवानामेव संख्येयत्वात्संख्येयबहुभागप्रमाणत्वमवस्थितपदबन्धकानां भवति।

प्रस्तुतसर्वमार्गणासु जीवानामसंख्येयत्वादेव नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्बन्धका असंख्येयैकभागप्रमाणाः, अवस्थितबन्धकास्त्वसंख्येयबहुभागमानाश्च भवन्तीति ॥११९-१२०॥

अथ तिर्यगोघादिमार्गणासु आह—

तिरिणपुमकसायचउग अजयकलेसासु होइ ओघव्व ।
दुइअतुरिअछट्ठाण सपयाण णत्थि चउकम्माणं ॥१२१॥

(प्रे०) "तिरि" इत्यादि, अत्र तिर्यगोघादिदशमार्गणाः, एतासु प्रत्येकं जीवा अनन्ताः, तथा ज्ञानावरणादिषण्णामप्यवक्तव्यबन्धाभावः, अतो ज्ञानावरणवेदनीयगोत्रान्तरायाणां केवलमवस्थितबन्धस्यैव भावात्तासां प्रकृतीनां भागप्ररूपणा नास्ति । दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धद्वयस्यानन्तभागप्रमाणा बन्धका भवन्ति, अवस्थितबन्धकास्त्वनन्तबहुभागप्रमाणाः । नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धका असंख्येयैकभागप्रमाणाः, अवस्थितबन्धकास्त्वसंख्येयबहुभागमिताः, भावना त्वोघवत्कार्या सुगमा चेति ॥१२१॥

अथाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु भागं दर्शयति—

असमत्तपणिदितिरियमणुयपणिदियतसेसु सव्वेसुं ।
एगिंदियविगलिंदियपणकायेसुं अभवियम्मि ॥१२२॥

प्रमिता एव दर्शिताः, अतः शेषस्यावस्थितपदस्य बन्धकास्त्वनन्तबहुभागा भवन्ति, निगोद-जीवानामवस्थितबन्धस्यैव निर्वर्तनादिति । नाम्नो भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धस्तु गुणविशेषं भवविशेषं वा विहाय सामान्यतः प्रत्यन्तर्मुहूर्तं प्रवर्तते इति न तयोरनन्तभागप्रमितत्वम् । अन्तर्मुहूर्तमध्ये च सख्येयवारमेव तयोः परावर्तनात्, शेषसमयेष्ववस्थितबन्धस्य भावाच्च भूय-स्काराल्पतरबन्धकालादवस्थितबन्धकालस्य बाहुल्यतोऽसंख्येयगुणत्वाद् भूयस्काराल्पतरबन्धका नाम्नः प्रकृतिबन्धकानामसंख्येयतमे भागे भवन्ति, नाम्नोऽवस्थितबन्धकास्त्वसंख्येयबहुभागा विज्ञेया इति ॥११७॥ अथ मार्गणासु भागं प्ररूपयन्नाह—

ओघव्व बंधगा ससपयाण सत्तण्ह आउवज्जाणं ।
काये उरालिये तह अचक्खुभवियेसु आहारे ॥११८॥

(प्रे०) "ओघव्वे"त्यादि, काययोगादिपञ्चमार्गणास्वायुर्वर्जसप्तानां भूयस्कारादिपदानां भागप्ररूपणा ओघवद् विज्ञेया, श्रेणिगतानां निगोदजीवानामोघवत्सर्वपदबन्धकानां चात्रापि सद्भावात्, भावनाऽप्योघवत्कार्या सुगमा चेति ।११८॥ अथ नरकगत्यादिमार्गणासु प्राह-

सव्वणिरयतिपणिंदियतिरिक्खसुरअट्ठमंतदेवेसु ।
वेउव्वे इत्थीए पुरिसम्मि य तेउपम्हासु ॥११९॥
दुरिअतुरिअछट्ठाणं असंखभागा अवट्ठिअस्सऽत्थि ।
दुपयाण असंखंसो भागो णत्थि चउसेसाणं ॥१२०॥

(प्रे०) "सव्वणिरये"त्यादि, सर्वनिरयभेदाः, ते चाष्टौ-नरकौघः सप्त तदुत्तरभेदाः, अपर्याप्तवर्जा त्रयः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, देवौघभवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मादिसहस्रारान्ता देवभेदाः समुदिताश्च ते द्वादशदेवभेदा वैक्रियकाययोग स्त्रीवेद-पुरुषवेद-तेजोलेश्या पद्मलेश्या-मार्गणास्तास्वष्टाविंशतौ ज्ञानावरणवेदनीयगोत्रान्तरायाणां केवलमेकमेवावस्थितबन्धो भवति, तेनोक्तकर्मचतुष्के भागप्ररूपणा नास्ति ।

दर्शनावरणमोहनीययोः पदत्रयम् । तत्र तयोर्भागप्ररूपणायामिमे नियमाः-(१) यासु मार्गणासु जीवा अनन्तास्तास्ववस्थितभिन्नपदबन्धका अनन्ततमभागप्रमाणाः, अवस्थित-पदबन्धका अनन्तबहुभागप्रमाणाः । (२) यास्वसंख्येया जीवास्तास्ववस्थितभिन्नपदबन्धका असंख्येयभागप्रमाणाः, अवस्थितपदबन्धका असंख्येयबहुभागाः । (३) यासु मार्गणासु जीवाः संख्येया एव तास्ववस्थितेतरपदानां निर्वर्तकाः संख्येयैकभागप्रमिताः, अवस्थितपदबन्धकाः संख्येयबहुभागप्रमाणाः । (४) यासु मार्गणासु दर्शनावरणमोहयोरवस्थितभिन्नपदानि न सन्ति तास्ववस्थितपदस्यैवैकस्य भावेन भागप्ररूपणा नास्तीति नियमचतुष्कम् ।

अतः प्रस्तुतसर्वमार्गणासु जीवानामसंख्येयत्वाद् दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धका असंख्येयभागप्रमाणाः, अवस्थितपदबन्धका असंख्येयबहुभागप्रमिता भवन्तीति ।

नाम्नो बन्धस्य पदत्रयं भवति । नाम्नो भागप्ररूपणाया अवबोधार्थमिमे नियमा अवगन्तव्याः- (१) यासु मार्गणासु जीवा अनन्तास्तासु नाम्नोऽवक्तव्यपदस्य सत्त्वे तस्य बन्धका अनन्ततमैकभागमिताः, भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धका असंख्येयैकभागप्रमाणाः, अवस्थितबन्धका असंख्येयबहुभागप्रमाणाः । (२) यासु मार्गणासु जीवा असंख्येयास्तास्ववस्थितेतरपदानां बन्धका असंख्येयतमभागप्रमाणाः, अवस्थितपदस्य बन्धकास्त्वसंख्येयबहुभागप्रमाणाः । (३) यासु मार्गणासु जीवाः संख्येया एव, तास्ववस्थितेतरपदानां बन्धकाः संख्येयतमभागप्रमिताः, अवस्थितपदस्य बन्धकास्तु संख्येयबहुभागाः । (४) यासु मार्गणासु नाम्नोऽवस्थितभिन्नपदानि न सन्तिः तास्ववस्थितपदस्यैवैकस्य सम्भवाद् भागप्ररूपणा अपि नास्तीति । अत्र प्रथमद्वितीयनियमद्वयेन च भूयस्काराल्पतरबन्धकानां ज्येष्ठकालतोऽवस्थितबन्धज्येष्ठकालस्यासंख्येयगुणत्वादसंख्येयबहुभागप्रमाणत्वमवस्थितबन्धकजीवानां भवति, तृतीयनियमे तु जीवानामेव संख्येयत्वात्संख्येयबहुभागप्रमाणत्वमवस्थितपदबन्धकानां भवति ।

प्रस्तुतसर्वमार्गणासु जीवानामसंख्येयत्वादेव नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्बन्धका असंख्येयैकभागप्रमाणाः, अवस्थितबन्धकास्त्वसंख्येयबहुभागमानाश्च भवन्तीति ॥११९-१२०॥

अथ तिर्यगोघादिमार्गणासु प्राह—

तिरिणपुमकसायचउग अजयकुलेसासु होइ ओघव्व ।
दुइअतुरिअछट्ठाण सपयाण णत्थि चउकम्माणं ॥१२१॥

(प्रे०) "तिरि" इत्यादि, अत्र तिर्यगोघादिदशमार्गणाः, एतासु प्रत्येकं जीवा अनन्ताः, तथा ज्ञानावरणादिषण्णामप्यवक्तव्यबन्धाभावः, अतो ज्ञानावरणवेदनीयगोत्रान्तरायाणां केवलमवस्थितबन्धस्यैव भावाच्चासां प्रकृतीनां भागप्ररूपणा नास्ति । दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धद्वयस्यानन्तभागप्रमाणा बन्धका भवन्ति, अवस्थितबन्धकास्त्वनन्तबहुभागप्रमाणाः । नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धका असंख्येयैकभागप्रमाणाः, अवस्थितबन्धकास्त्वसंख्येयबहुभागमिताः, भावना त्वोघवत्कार्या सुगमा चेति ॥१२१॥

अथाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु भागं दर्शयति—

असमत्तपणिंदितिरियमणुयपणिंदियतसेसु सव्वेसुं ।
एगिंदियविगलिंदियपणकायेसुं अभवियम्मि ॥१२२॥

मिच्छत्ताऽसण्णीसुं णामस्स पयाण तिण्ह ओघव्व ।
भागो ण भवे छण्हं घाइतइअगोअकम्माणं ॥१२३॥

(प्रे०) "असमत्ते"त्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगऽपर्याप्तमनुष्याऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्तत्रसकाय-सप्तैकेन्द्रिय-नवविकलेन्द्रिय-पृथ्व्यादिपञ्चकायसत्कैकोनचत्वारिंशद् भेदाऽभव्य-मिथ्यात्वाऽसंज्ञिमार्गणासु द्वाषष्टौ ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयगोत्रान्तरायाणां षण्णामेकस्यैवावस्थितबन्धस्य भावेन तेषां भागप्ररूपणा एव नास्ति। नाम्नः पुनरत्र पदत्रयं तत्र भूयस्काराल्पतरपदयोर्बन्धका मार्गणागतजीवानामसंख्येयतमभागप्रमाणाः, अवस्थितबन्धकास्त्वसंख्येयबहुभागमिताः, भावना तु प्रथमद्वितीयनियमद्वयेन कार्या। अत्र मतान्तरेण मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धस्य कासुचिन्मार्गणास्वभ्युपगते तासु तस्य बन्धका मार्गणागतजीवानामनन्तत्वेऽनन्ततमैकभागप्रमाणाः, मार्गणागतजीवानामसंख्येयत्वेऽसंख्येयैकभागप्रमाणा विज्ञेया इति ॥१२२-१२३॥ अथ मनुष्यौघादिमार्गणासु भागप्ररूपणां प्रतिपादयन्नाह—

णरदुपणिंदियतसपणमणवयणतिणाणओहिसुक्कासुं ।
चक्खुम्मि य सम्मत्ते उवसमखइएसु सण्णिम्मि ॥१२४॥
वेअस्स णत्थि भागो असंखभागा अवट्ठिअस्सऽत्थि ।
छण्हं असंखभागो संतपयाणऽत्थि सेसाणं ॥१२५॥

(प्रे०) "णरे"त्यादि, मनुष्यौघ-पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्त-त्रसकायौघ तत्पर्याप्त-मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-मतिश्रुतावधिज्ञानावधिदर्शन-शुक्ललेश्या-चक्षुर्दर्शन सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्वोपशमसम्यक्त्व-संज्ञिमार्गणासु पञ्चविंशतौ जीवा असंख्येयाः, केवलं सम्यक्त्वौघे क्षायिकसम्यक्त्वे च जीवानामनन्तानां भावेऽपि बन्धकजीवा असंख्याता भवन्ति। वेदनीयस्य सर्वत्रौघवद् भागप्ररूपणा नास्ति, अतः प्रस्तुतेऽपि तन्नास्ति । उक्तमार्गणासु जीवानामेवासंख्येयत्वाद् ज्ञानावरणादिषट्कर्मणोऽवस्थितबन्धका असंख्येयबहुभागप्रमाणा भवन्ति। ज्ञानावरणगोत्रान्तरायाणामवक्तव्यपदस्य बन्धकाः संख्येयास्ते च मार्गणागतबन्धकजीवानामसंख्येयैकभागप्रमाणाः, दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां भूयस्काराल्पतरावक्तव्यबन्धका असंख्येयैकभागप्रमाणाः, अवस्थितबन्धका असंख्येयबहुभागप्रमिता भवन्ति। १२४—१२५॥ अथ पर्याप्तमनुष्यादिमार्गणासु प्रदर्शयन्नाह—

भागो वेअस्स दुणरअवेअमणणाणसंजमेसुं णो ।
छण्हं अवट्ठिअस्स उ संखंसाऽणणाय संखंसो ॥१२६॥

(प्रे०) "भागो" इत्यादि, पर्याप्तमनुष्यमानुषीमार्गणे अपगतवेदो मनःपर्यवज्ञानं संयमौघः, तासु पञ्चमार्गणासु जीवाः संख्येया भवन्ति, एतासु वेदनीयस्य भागप्ररूपणा नास्ति, भावना तु प्रागवत् । ज्ञानावरणादिषट्कर्मणामवक्तव्यबन्धस्य दर्शनावरणमोहनीय-नाम्नां भूयस्काराल्पतरबन्धयोश्च निर्वर्तकाः संख्येयैकभागप्रमाणा भवन्ति, संख्येयबहुभागप्रमाणास्तु षण्णामपि कर्मणामवस्थितबन्धका विज्ञेया इति । भावना तु नरकगतिमार्गणायां प्ररूपणावसरे सर्वमार्गणासु सम्भवद्भागप्ररूपणाया नियमा दर्शितास्ततः कार्या, सुगमा च । ॥१२६॥ अथाऽऽनतादिमार्गणासु प्राह—

दुइअतुरिआण गोया गेविज्जंतेसु आणताईसु ।
णिरयव्व ण पंचण्ह अणुत्तरमीससुहुमेसु सत्तण्हं ॥१२७॥ (गीतिः)

(प्रे०) "दुइअ" इत्यादि, आनतादिषु नवमग्रैवेयकान्तेषु त्रयोदशदेवभेदेषु जीवा असंख्येयाः, ज्ञानावरणवेदनीयनामगोत्रान्तरायाणां पञ्चानां केवलमवस्थितपदमेवात एतासु पञ्चानां भागप्ररूपणा नास्ति । दर्शनावरणमोहनीययोरत्र नरकवत्पदत्रयं भवति, भागप्ररूपणा अपि तद्वद् विज्ञेया, तद्यथा—द्वयोरपि भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धका असंख्येयैकभागप्रमाणाः, अवस्थितबन्धकास्त्वसंख्येयबहुभागप्रमाणा विज्ञेयाः । अनुत्तरपञ्चके सम्यग्मिथ्यात्वे च सप्तानामपि कर्मणां भागप्ररूपणैव नास्ति, मार्गणागतानां सर्वेषां सप्तानामवस्थितपदस्यैव बन्धकत्वात् । एवं सूक्ष्मसम्पराये षण्णामेव बन्धप्रायोग्यत्वात्तेषां भागप्ररूपणा नास्ति ॥१२७॥

अथौदारिकमिश्रादिमार्गणासु प्राह—

ओघव्व उरलमीसे कम्मणणाहारगेसु मोहस्स ।
दुपयाण य णामस्स तिपयाण भागो ण सेसाणं ॥१२८॥

(प्रे०) "ओघव्वे"त्यादि, औदारिकमिश्र—कार्मणानाहारकमार्गणासु मोहनीयस्य पदद्वयं भवति, भूयस्कारबन्धोऽवस्थितबन्धश्च, तयोर्भागप्ररूपणा ओघवद् भवति, ओघवदत्राप्यनन्तजीवानां भावादनन्ततमभागप्रमिता भूयस्कारबन्धकाः, अनन्तबहुभागा अवस्थितस्य बन्धका भवन्ति । नाम्नः पदत्रयं भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धाः, तत्र भूयस्काराल्पतरबन्धका असंख्येयभागप्रमाणाः, अवस्थितबन्धकास्त्वसंख्येयबहुभागाः, एषा प्ररूपणाऽप्योघवदिति तद्वदतिदिष्टं मूलकृता । शेषाणां ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयगोत्रान्तरायाणामवस्थितबन्धरूपस्यैकस्यैव पदस्य भावाद् भागप्ररूपणा नास्ति ॥१२८॥

अथ वैक्रियमिश्रे भूयस्कारादिपदेषु बन्धकानां भागान्निरूपयति—

णिरयव्व विउवमिस्से मोहस्स पयाण दोण्ह णामस्स ।
तिण्ह पयाणं भागो ण भवे सेसाण पंचण्हं ॥१२९॥

(प्रे०) "णिरयव्वे"त्यादि, वैक्रियमिश्रे मोहनीयस्य द्वयोः पदयोर्भूयस्कारावस्थितरूपयोर्नाम्नस्त्रयाणां पदानां भूयस्काराल्पतरावस्थितरूपाणां सद्भावात्तेषु भागप्ररूपणा नरकगतिमार्गणावद् विज्ञेया, तद्यथा—मोहनीयस्य भूयस्कारस्य बन्धका असंख्येयतमभागप्रमाणाः, अवस्थितबन्धका असंख्येयबहुभागप्रमाणाः । नाम्नोऽप्येवमेव, तद्यथा—भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धका असंख्यैकभागमिताः, अवस्थितबन्धकास्त्वसंख्येयबहुभागाः । ज्ञानावरणादिपञ्चानां ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयगोत्रान्तरायाणामवस्थितपदस्यैकस्यैव भावान्न पञ्चानामपि कर्मणां भागप्ररूपणाऽस्ति ॥१२९॥

अथाऽऽहारकयोगतन्मिश्रयोग—परिहारविशुद्धिमार्गणासु भागं प्राह—

णामस्साहारदुगे पज्जत्तणरव्व अत्थि दुपयाणं ।
परिहारे तिपयाणं ण छण्ह सेसाण भागोऽत्थि ॥१३०॥

(प्रे०) "णामस्से"त्यादि, आहारके तन्मिश्रे च नाम्नो भूयस्कारावस्थितौ भवतः । प्रस्तुते संयतानामेव भावेन मार्गणागतजीवाः संख्येयाः, अत उक्तमार्गणाद्वये पर्याप्तमनुष्यवद् नाम्नो पदद्वयस्याल्पबहुत्वं विज्ञेयम्, तद्यथा—भूयस्कारस्य बन्धकाः संख्येयैकभागाः, अवस्थितस्य तु संख्येयबहुभागमिताः । शेषाणां ज्ञानावरणादिषण्णां भागप्ररूपणैव नास्ति, एकस्यैवावस्थितपदस्य भावेन विभाजकान्तरस्याभावात् । परिहारविशुद्धौ तु नाम्नः पदत्रयं भवति, तस्य भागप्ररूपणा तु पर्याप्तमनुष्यवद् विज्ञेया, तद्यथा—भूयस्काराल्पतरबन्धद्वयस्य प्रत्येकं बन्धकाः संख्येयतमभागप्रमाणाः, अवस्थितस्य बन्धकास्तु संख्येयबहुभागप्रमिता इति । परिहारविशुद्धौ शेषाणां षण्णां ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयगोत्रान्तरायाणां प्रत्येकमेकस्यावस्थितबन्धस्यैव लाभेन भागप्ररूपणा नास्ति ॥१३०॥

अथाऽज्ञानत्रिके प्राह—

सत्तण्ह सगपयाणं अणाणतिगे उरालमीसव्व ।
णवरि विभंगे दोण्हं पयाण मोहस्स णिरयव्व ॥१३१॥

(प्रे०) "सत्तण्हे" त्यादि, मत्यज्ञानश्रुताज्ञानमार्गणाद्वये जीवानामानन्त्याद् मोहनीयस्य भूयस्कारस्य बन्धका अनन्ततमभागमात्राः, अवस्थितबन्धकास्त्वनन्तबहुभागप्रमाणाः ।

नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धका असंख्येयैकभागमिताः, अवस्थितबन्धका असंख्येयबहुभाग-प्रमाणाः। शेषाणां ज्ञानावरणादिपञ्चानां केवलमवस्थितपदस्यैव भावेन भागप्ररूपणैव नास्ति, मार्गणावर्तिसर्वेषामेव तद्बन्धकत्वादिति भावः। विभङ्गज्ञानमार्गणायां मोहनीयस्य भूयस्कार-बन्धका असंख्येयैकभागप्रमाणाः, अवस्थितबन्धकास्त्वसंख्येयबहुभागप्रमाणाः। नाम्नो भूयस्का-राल्पतरबन्धका असंख्येयैकभागमानाः, अवस्थितबन्धकास्त्वसंख्येयबहुभागाः। ज्ञानावरणादि-पञ्चानां तु भागप्ररूपणा नास्ति, एकैकस्यैव पदस्य भावेन भाजकराश्यन्तरस्याभावादिति ॥१३१॥

अथ सामायिकच्छेदोपस्थापनीययोः सप्तानां भूयस्कारादिपदानां भागं प्राह—

सामाइअछेएसुं पज्जत्तणरव्व अत्थि तिपयाणं।
दुइअतुरिअछट्ठाणं भागो णत्थि चउसेसाणं ॥१३२॥

(प्रे०) "सामाइअ" इत्यादि, सामायिकच्छेदोपस्थापनीयमार्गणाद्वये दर्शनावरणमोह-नीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धयोः श्रेणावेव भावात्, नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोः श्रेणौ यद्वा जिननाम्न आहारकद्विकस्य वा बन्धप्रारम्भे आहारकद्विकबन्धविरामे च तयोर्लाभेन विवक्षित-समये तल्लाभात् संख्येयभागप्रमाणत्वम्, यद्वा प्रागुक्तनियमात् संख्येयभागप्रमाणत्वं विभावनी-यम्। त्रयाणामप्यवस्थितपदबन्धकाः संख्येयबहुभागप्रमाणाः। ज्ञानावरणवेदनीयगोत्रान्तरा-याणां चतुर्णां कर्मणां भागप्ररूपणा नास्ति ॥१३२॥

देशविरत्यादिमार्गणासु भागं निदर्शयन्नाह—

णिरयव्व देसवेअगसासाणेसु तिपयाण णामस्स।
तिपयाण वेअगे खलु मोहस्स वि णत्थि सेसाणं ॥१३३॥

(प्रे०) "णिरयव्वे"त्यादि, देशविरतिमार्गणायां नाम्नो भूयस्कारावस्थितबन्धयोरेव सद्भावः, तत्र भूयस्कारबन्धका असंख्येयैकभागमात्राः संख्येयानामेतन्निर्वर्तकत्वात्। अवस्थित-बन्धका असंख्येयबहुभागप्रमाणाः। शेषाणां ज्ञानावरणादिषण्णां भागप्ररूपणा नास्ति। क्षयोप-शमसम्यक्त्वमार्गणायां नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धका असंख्येयैकभागप्रमाणाः, अवस्थित-बन्धका असंख्येयबहुभागाः। मोहनीयस्य भूयस्काराल्पतरबन्धका असंख्येयैकभागमिताः, अवस्थि-तबन्धका असंख्येयबहुभागाः। शेषाणां ज्ञानावरणादिपञ्चानां भागप्ररूपणा नास्ति। सास्वादन-सम्यक्त्वे नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धका असंख्येयैकभागप्रमाणाः, अवस्थितबन्धका असंख्येय-बहुभागाः। शेषाणां ज्ञानावरणादिषण्णां कर्मणां भागप्ररूपणैव नास्तीति ॥१३३॥

॥ श्रीप्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे स्वस्थाननिरूपणाया षष्ठं भागद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ सप्तमं परिमाणद्वारम् ॥

अथ परिमाणद्वारं सप्तमं व्याचिख्यासुरादौ ज्ञानावरणादिसप्तकर्मणामायुर्वर्जानामवस्थितबन्धस्य परिमाणादिपञ्चद्वाराणि ओघत आदेशतश्चातिदेशेन प्ररूपयन्नाह—

परिमाणप्पहुडीसुं पणदारेसु ससमूलकम्मव्व ।
सत्तरह बंधगाणं परूवणाऽवट्ठिअस्स भवे ॥१३४॥
परमाहारगमीसे समयोऽत्थि अवट्ठिअस्स लहु कालो ।
णामस्स बंधगाणं सयं च छेअपरिहारेसुं ॥१३५॥

(प्रे०) "परिमाणे"त्यादि, सप्तानामायुर्वर्जानामवस्थितबन्धस्य परिमाणादिपञ्चद्वाराणामोघत आदेशतश्च प्ररूपणा यथा मूलप्रकृतिबन्धे तत्तज्ज्ञानावरणादिमूलकर्मणस्तत्र तत्रौघे आदेशे वा यावत्परिमाणादि दर्शितं तावत्प्रस्तुतेऽपि प्राप्यतेऽतस्तद्वत्सा प्ररूपणा कार्येति, यतो भूयस्काराल्पतरावक्तव्यबन्धास्तु क्वचित् कदाचिदेव भवन्तिः नाम्नि भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्बाहुल्येनान्तर्मुहूर्तेन प्रवर्तमानत्वेऽपि तत्राप्यवस्थितबन्धकालस्यैवाधिक्याद् मूलप्रकृतिबन्धप्ररूपणातोऽवस्थितबन्धप्ररूपणा नातिरिच्यत इति । सा प्ररूपणा संक्षेपतो विनेयजनानुग्रहार्थं दर्श्यते, तद्यथा—परिमाणद्वारे--ओघे तिर्यग्गत्योघ-सप्तैकेन्द्रिय-वनस्पतिकायौघ--सप्तसाधारणवनस्पतिकायकाययोगौघौदारिकौदारिकमिश्रकार्मणकाययोग--नपुंसकवेद—कषायचतुष्क-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानाऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शनाऽशुभलेश्यात्रिक--भव्याभव्य-मिथ्यात्वाऽसंज्ञ्याहारकानाहारकमार्गणास्वष्टात्रिंशति च सप्तानामवस्थितबन्धकाः सर्वदैवानन्ताः। पर्याप्तमनुष्यमानुषीसर्वार्थसिद्धाहारकाहारकमिश्रापगतवेद-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिमार्गणास्वेकादशसु सप्तानां सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां मोहनीयायुर्वर्जानां षण्णाम्, अकषाययथाख्यातसंयमकेवलज्ञानदर्शनमार्गणासु चतसृषु वेदनीयस्य बन्धकाः संख्येया भवन्ति । अत्र च्छेदोपस्थापनीये परिहारविशुद्धौ च जघन्यपदे बन्धकाः स्वयं विज्ञेयाः । आहारकतन्मिश्रयोगापगतवेदसूक्ष्मसम्परायमार्गणाचतुष्के जघन्यपद एकादिजीवाः सप्तानामवस्थितबन्धका भवन्ति। शेषासु पर्याप्तमनुष्यादिमार्गणासु तु जघन्यपदे-उत्कृष्टपदे च सप्तानामवस्थितबन्धकाः संख्याता एव भवन्तीति । उक्तशेषासु त्रिंशत्युत्तरशतमार्गणासु सप्तानामवस्थितबन्धकजीवा असंख्याता भवन्ति, तत्राऽपर्याप्तमनुष्यवैक्रियमिश्रयोगोपशमसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वसास्वादनमार्गणासूत्कृष्टपदेऽसंख्याता भवन्ति, जघन्यपदे त्वेकोऽपि बन्धको भवति । बादरपर्याप्तवर्जपट्पृथ्वीकायषडप्कायषट्तेजःकायषड्वायुकायप्रत्येकवनस्पतिकायौघाऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायमार्गणासु षड्विंशताववस्थितबन्धका सर्वदैवासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमिता विज्ञेयाः । मनुष्यौघे सप्तानामव-

मार्गणावर्तिसर्वजीवानामवश्यमेव बन्धात् प्रस्तुतस्वामित्वं सुगममेव। केवलं तत्तन्मार्गणासु सम्भवद्गुणस्थानकानि ज्ञातव्यानि येन स्वामित्वावधारणं सुगमं स्यात्। तानि चैवम्—नरकौघे सप्त तदुत्तरभेदेषु पञ्चत्रिंशतिदेवभेदेषु वैक्रियकाययोगेऽसंयममार्गणायां चाद्यानि चत्वारि गुणस्थानकानि। अनुत्तरपञ्चके चतुर्थमेवैकं गुणस्थानकम्। तिर्यग्गत्योघे पञ्चेन्द्रियतिर्यक्-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिरश्चीमार्गणात्रये च प्रथमादीनि पञ्च गुणस्थानकानि। मनुष्यौघपर्याप्तमनुष्यमानुषीद्विपञ्चेन्द्रिय-द्वित्रसकाय-भव्यमार्गणासु (८) मिथ्यादृष्ट्यादीन्ययोगिकेवलिपर्यवसानानि चतुर्दश गुणस्थानकानि। अपर्याप्तमनुष्याऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्सप्तैकेन्द्रियनवविकलाक्षाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियैकोनचत्वारिंशत्पृथ्व्यादिपञ्चस्थावरकायभेदा-ऽपर्याप्तत्रसकायाऽभव्यमिथ्यात्वाऽसंज्ञिमार्गणासु द्वाषष्टौ प्रथममेकं गुणस्थानकं भवति, एष जीवसमासाभिप्रायः, अन्याभिप्रायेण लब्धिपर्याप्तेषु बादरैकेन्द्रियबादरपृथ्व्यप्प्रत्येकवनस्पतिकायद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु करणापर्याप्तावस्थायां सास्वादनभावस्याप्यङ्गीकरणाद् आद्यगुणस्थानकद्वयं भवति। मनोयोगसामान्य-सत्यमनोयोग-असत्यामृषामनोयोगत्रयमेवं वचनयोगत्रयं काययोगौदारिककाययोगशुक्ललेश्या आहारकमार्गणा इति दश मार्गणास्तासु मिथ्यादृष्ट्यादीनि सयोगिकेवलिपर्यवसानानि त्रयोदश गुणस्थानकानि भवन्ति। असत्यमनोयोगसत्यासत्यमनोयोगद्वयमेवं वचनयोगद्वयं चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनं संज्ञी चेति सप्तमार्गणासु प्रथमादीनि द्वादशान्तानि द्वादशगुणस्थानकानि भवन्ति। औदारिकमिश्रकार्मणकाययोगद्वये प्रथमं द्वितीयं चतुर्थं त्रयोदशं चेति चत्वारि गुणस्थानकानि भवन्ति। अनाहारके पुनरेतानि चत्वार्ययोगिकेवलिगुणस्थानकं चेति पञ्च। वैक्रियमिश्रे प्रथमं द्वितीयं चतुर्थं चेति त्रीणि। आहारके तन्मिश्रे च प्रमत्तसंयतगुणस्थानकमेकम्, अन्ये त्वाहारके सप्तमगुणस्थानकमपीच्छन्ति।

वेदत्रये क्रोधमानमायाकषायत्रये च प्रथमादीनि नवमान्तानि नवगुणस्थानकानि। अपगतवेदमार्गणायां नवमगुणस्थानकाद्वायाश्चरममंख्येयमागादारभ्यायोगिकेवलिपर्यवसानानि षड् गुणस्थानकानि। अकषाये यथाख्याते चैकादशादीनि चत्वारि। लोभमार्गणायामाद्यानि दश। मतिश्रुतावधिज्ञानावधिदर्शनेषु चतुर्थादीनि द्वादशान्तानि नव। मनःपर्यवज्ञाने प्रमत्तसंयतादीनि क्षीणमोहछद्मस्थान्तानि सप्त। मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानत्रये आद्यगुणस्थानद्वयम्, अन्ये त्वाद्यगुणस्थानत्रयमिच्छन्ति। केवलज्ञानकेवलदर्शनयोश्च त्रयोदश चतुर्दश चेत्यन्तिमे द्वे।

संयमौघे षष्ठादीनि चतुर्दशान्तानि नव। सामायिके छेदोपस्थापनीयसंयमे च प्रमत्तसंयतादीन्यनिवृत्तिपर्यवसानानि चत्वारि। परिहारविशुद्धौ षष्ठं सप्तमं चेति द्वे। सूक्ष्मसम्पराये दशममेकम्। देशविरतौ पञ्चमम्। कृष्णनीलकापोतेष्वाद्यानि चत्वारि, अन्ये त्वाद्यानि षट्। तेजः-

काय-स्त्रीपुरुषवेदमतिश्रुतावधिज्ञानविभङ्गज्ञानदेशविरतिचक्षुरवधिदर्शनतेजःपद्मलेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षयोपशमसम्यक्त्व-सास्वादन-संज्ञिमार्गणाः। गतं नानाजीवानाश्रित्य कालद्वारम् ।

अथ नानाजीवानाश्रित्यान्तरद्वारम्, तत्रौघत आयुषः पदद्वयस्य बन्धकानामन्तरं नास्ति । मार्गणास्वपि यासु द्वाषष्टिमार्गणासु बन्धकालः सार्वदिकः प्रतिपादितस्तास्वपि तदन्तरं नास्ति । शेषास्वेकोत्तरशतमार्गणास्वायुषः पदद्वयस्य जघन्यान्तरं समयः। पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय पञ्चेन्द्रियौघाऽपर्याप्तद्वीन्द्रियत्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियत्रसकायौघाऽपर्याप्तत्रसकायमार्गणाः, एतासु द्वादशमार्गणास्वायुषः पदद्वयस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, शेषासु नवाशीतिमार्गणास्वायुषः पदद्वयबन्धकानां ज्येष्ठान्तरं स्वयं बहुश्रुतेभ्यो विमर्षणीयमिति । गतमन्तरद्वारम् ।

तदेवं मूलकृता आयुष्कसत्कपदद्वयस्य स्वामित्वादिद्वाराणि यान्यतिदेशेनापवादपूर्वकाणि दर्शितानि, तानि लेशतः स्मारितानि ॥१६-२०-२१॥

अथ शेषसप्तकर्मविषयकभूयस्कारादीनां स्वामित्वं निरुरूपयिषुः प्रथममवस्थितबन्धस्य तदतिदिशन्नाह—

सामित्ते सत्तण्हं अवट्ठिअस्सऽत्थि मूलपयडिव्व ।

(प्रे०) "सामित्ते"इत्यादि, सप्तकर्मणामवस्थितबन्धस्य स्वामिनः सामान्यतो भूयस्काराल्पतरावक्तव्यबन्धव्यतिरिक्तबन्धविधायिनो भवन्ति, भूयस्कारादिबन्धास्तु नामकर्म विहाय क्वचित् कदाचिदेव भवन्ति, यद्यपि नाम्नो भूयस्काराल्पतरौ सामान्यत एकेन्द्रियाद्यवस्थायां परावर्तमानेनाऽपि प्राप्येते तथापि तत्र भूयस्काराल्पतरबन्धोत्तरक्षणे बाहुल्यतोऽवस्थितबन्ध एव प्रवर्तत इति । यस्मिन् गुणस्थानके ओघे मार्गणासु वा ये ये सप्तकर्मबन्धका भवन्ति, तस्मिन् गुणस्थाने ओघे तासु मार्गणासु वा ते ते जीवा तत् तत् कर्मणोऽवस्थितबन्धकतया प्राप्यन्त इति कृत्वा मूलप्रकृतौ सप्तानां बन्धकत्वेन ये तत्तद्गुणस्थानकगता मार्गणागता वा दर्शितास्तेऽत्राप्यवस्थितबन्धकतया प्रायसो द्रष्टव्याः ।

ताश्च संक्षेपतो दर्शयामः, तद्यथा—ओघतो मोहनीयस्य प्रथमादिनवमान्तगुणस्थानकस्थाः, ज्ञानावरणदर्शनावरणनामगोत्राऽन्तरायाणां पञ्चानां प्रथमादिदशमान्तगुणस्थानकस्थाः स्वामिनो भवन्ति, वेदनीयस्य तु सयोग्यन्ताः स्वामितया विज्ञेयाः । मार्गणासु पुनर्यासु यासु मार्गणासु यावन्ति गुणस्थानकानि भवन्ति, तासु मार्गणासु तेषु गुणस्थानकेष्वोघानुसारेणैवावस्थानस्वामिनो विज्ञेयाः। सप्तानामपि कर्मणां ध्रुवबन्धित्वेन नवमं दशमं त्रयोदशं गुणस्थानकं यावत् सर्व-

मार्गणावर्तिसर्वजीवानामवश्यमेव बन्धात् प्रस्तुतस्वामित्वं सुगममेव। केवलं तत्तन्मार्गणासु सम्भव-द्गुणस्थानकानि ज्ञातव्यानि येन स्वामित्वावधारणं सुगमं स्यात् । तानि चैवम्—नरकौघे सप्त तदुत्तरभेदेषु पञ्चविंशतिदेवभेदेषु वैक्रियकाययोगेऽसंयममार्गणायां चाद्यानि चत्वारि गुणस्थानकानि । अनुत्तरपञ्चके चतुर्थमेवैकं गुणस्थानकम् । तिर्यग्गत्योघे पञ्चेन्द्रियतिर्यक्-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिरश्चीमार्गणात्रये च प्रथमादीनि पञ्च गुणस्थानकानि । मनुष्यौघपर्याप्तमनुष्यमानुषी-द्विपञ्चेन्द्रिय-द्वित्रसकाय-भव्यमार्गणासु (८) मिथ्यादृष्ट्यादीन्ययोगिकेवलिपर्यवसानानि चतुर्दश गुणस्थानकानि । अपर्याप्तमनुष्याऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्सप्तैकेन्द्रियनवविकलाक्षाऽपर्याप्त-पञ्चेन्द्रि(?)यैकोनचत्वारिंशत्पृथ्व्यादिपञ्चस्थावरकायभेदा-ऽपर्याप्तत्रसकायाऽभव्यमिथ्यात्वाऽसंज्ञि-मार्गणासु द्वाषष्टौ प्रथममेकं गुणस्थानकं भवति, एष जीवसमासाभिप्रायः, अन्याभिप्रायेण लब्धिपर्याप्तेषु बादरैकेन्द्रियबादरपृथ्व्यप्प्रत्येकवनस्पतिकायद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु करणापर्याप्तावस्थायां सास्वादनभावस्याप्यङ्गीकरणाद् आद्यगुणस्थानकद्वयं भवति । मनोयोगसामान्य-सत्यमनोयोग-असत्यामृषामनोयोगत्रयमेवं वचनयोगत्रयं काययोगौदारिककाययोगशुक्ललेश्या आहारकमार्गणा इति दश मार्गणास्तासु मिथ्यादृष्ट्यादीनि सयोगिकेवलिपर्यवसानानि त्रयोदश गुणस्थानकानि भवन्ति । असत्यमनोयोगसत्यासत्य-मनोयोगद्वयमेवं वचनयोगद्वयं चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनं संज्ञी चेति सप्तमार्गणासु प्रथमादीनि द्वादशान्तानि द्वादशगुणस्थानकानि भवन्ति । औदारिकमिश्रकार्मणकाययोगद्वये प्रथमं द्वितीयं चतुर्थं त्रयोदशं चेति चत्वारि गुणस्थानकानि भवन्ति । अनाहारके पुनरेतानि चत्वार्ययोगिकेवलिगुणस्थानकं चेति पञ्च । वैक्रियमिश्रे प्रथमं द्वितीयं चतुर्थं चेति त्रीणि । आहारके तन्मिश्रे च प्रमत्तसंयतगुणस्थानकमेकम् , अन्ये त्वाहारके सप्तमगुणस्थानकमपीच्छन्ति ।

वेदत्रये क्रोधमानमायाकषायत्रये च प्रथमादीनि नवमान्तानि नवगुणस्थानकानि । अपगतवेदमार्गणायां नवमगुणस्थानकाद्वायाश्चरमसंख्येयभागादारभ्यायोगिकेवलिपर्यवसानानि षड्गुणस्थानकानि । अकषाये यथाख्याते चैकादशादीनि चत्वारि । लोभमार्गणायामाद्यानि दश । मति-श्रुतावधिज्ञानावधिदर्शनेषु चतुर्थादीनि द्वादशान्तानि नव । मनःपर्यवज्ञाने प्रमत्तसंयतादीनि क्षीणमोहछद्मस्थान्तानि सप्त । मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानत्रये आद्यगुणस्थानद्वयम् , अन्ये त्वाद्य-गुणस्थानत्रयमिच्छन्ति । केवलज्ञानकेवलदर्शनयोश्च त्रयोदश चतुर्दश चेत्यन्तिमे द्वे ।

संयमौघे षष्ठादीनि चतुर्दशान्तानि नव । सामायिके छेदोपस्थापनीयसंयमे च प्रमत्तसंयतादीन्यनिवृत्तिपर्यवसानानि चत्वारि । परिहारविशुद्धौ षष्ठं सप्तमं चेति द्वे । सूक्ष्मसम्पराये दशममेकम् । देशविरतौ पञ्चमम् । कृष्णनीलकापोतेष्वाद्यानि चत्वारि, अन्ये त्वाद्यानि षट् । तेजः-

काय-स्त्रीपुरुषवेदमतिश्रुतावधिज्ञानविभङ्गज्ञानदेशविरतिचक्षुरवधिदर्शनतेजःपद्मलेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षयोपशमसम्यक्त्व-सास्वादन-संज्ञिमार्गणाः। गतं नानाजीवानाश्रित्य कालद्वारम् ।

अथ नानाजीवानाश्रित्यान्तरद्वारम् , तत्रौघत आयुषः पदद्वयस्य बन्धकानामन्तरं नास्ति । मार्गणास्वपि यासु द्वाषष्टिमार्गणासु बन्धकालः सार्वदिकः प्रतिपादितस्तास्वपि तदन्तरं नास्ति । शेषास्वेकोत्तरशतमार्गणास्वायुषः पदद्वयस्य जघन्यान्तरं समयः। पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय पञ्चेन्द्रियौघाऽपर्याप्तद्वीन्द्रियत्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियत्रसकायौघाऽपर्याप्तत्रसकायमार्गणाः, एतासु द्वादशमार्गणास्वायुषः पदद्वयस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, शेषासु नवाशीतिमार्गणास्वायुषः पदद्वयबन्धकानां ज्येष्ठान्तरं स्वयं बहुश्रुतेभ्यो विमर्षणीयमिति । गतमन्तरद्वारम् ।

तदेवं मूलकृता आयुष्कसत्कपदद्वयस्य स्वामित्वादिद्वाराणि यान्यतिदेशेनापवादपूर्वकाणि दर्शितानि, तानि लेशतः स्मारितानि ॥१६-२०-२१॥

अथ शेषसप्तकर्मविषयकभूयस्कारादीनां स्वामित्वं निरुरूपयिषुः प्रथममवस्थितबन्धस्य तदतिदिशन्नाह—

सामित्ते सत्तण्हं अवट्ठिअस्सऽत्थि मूलपयडिव्व ।

(प्रे०) "सामित्ते" इत्यादि, सप्तकर्मणामवस्थितबन्धस्य स्वामिनः सामान्यतो भूयस्कारात्पतरावक्तव्यबन्धव्यतिरिक्तबन्धविधायिनो भवन्ति, भूयस्कारादिबन्धास्तु नामकर्म विहाय क्वचित् कदाचिदेव भवन्ति, यद्यपि नाम्नो भूयस्कारात्पतरौ सामान्यत एकेन्द्रियाद्यवस्थायां परावर्तमानेनाऽपि प्राप्येते तथापि तत्र भूयस्कारात्पतरबन्धोत्तरक्षणे बाहुल्यतोऽवस्थितबन्ध एव प्रवर्तत इति । यस्मिन् गुणस्थानके ओघे मार्गणासु वा ये ये सप्तकर्मबन्धका भवन्ति, तस्मिन् गुणस्थाने ओघे तासु मार्गणासु वा ते ते जीवा तत् तत् कर्मणोऽवस्थितबन्धकतया प्राप्यन्त इति कृत्वा मूलप्रकृतौ सप्तानां बन्धकत्वेन ये तत्तद्गुणस्थानकगता मार्गणागता वा दर्शितास्तेऽत्राप्यवस्थितबन्धकतया प्रायसो द्रष्टव्याः ।

ताश्च संक्षेपतो दर्शयामः, तद्यथा—ओघतो मोहनीयस्य प्रथमादिनवमान्तगुणस्थानकस्थाः, ज्ञानावरणदर्शनावरणनामगोत्राऽन्तरायाणां पञ्चानां प्रथमादिदशमान्तगुणस्थानकस्थाः स्वामिनो भवन्ति, वेदनीयस्य तु सयोग्यन्ताः स्वामितया विज्ञेयाः । मार्गणासु पुनर्यासु यासु मार्गणासु यावन्ति गुणस्थानकानि भवन्ति, तासु मार्गणासु तेषु गुणस्थानकेष्वोघानुसारेणैवावस्थानस्वामिनो विज्ञेयाः। सप्तानामपि कर्मणां ध्रुवबन्धित्वेन नवमं दशमं त्रयोदशं गुणस्थानकं यावत् सर्व-

यद्वा पञ्चमगुणस्थानकात् त्रयोदशप्रकृतिबन्धात् परिणामह्रासेन कालकरणेन वा चतुर्थगुणस्थानं प्राप्तास्तत्प्रथमसमये सप्तदश बध्नन्तो मोहस्य भूयस्कारबन्धका ज्ञेयाः, तथा सप्तमाऽष्टमनवमगुणस्थानकेषु यथासम्भवमेकादिकं यावद् नवप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं बध्नन्तः कालं कृत्वा दिवि समुत्पद्यन्ते तदा तत्प्रथमसमये-देवभवप्रथमसमये चतुर्थगुणस्थानकमेव लभन्ते तदैव सप्तदशप्रकृत्यात्मकं बन्धं कुर्वन्तस्ते भूयस्कारबन्धस्वामितया विज्ञेयाः। षष्ठपञ्चमगुणस्थानतो यदा परिणामह्रासेन तृतीयगुणं प्राप्नुवन्ति तदा तत्प्रथमसमये नवभ्यस्त्रयोदशभ्यो वा सप्तदश बध्नन्तस्ते तृतीयगुणस्थानगता भूयस्कारबन्ध कुर्वन्ति । चतुर्थगुणस्थानकतस्तृतीयगुणस्थानकं प्राप्तानां नैव भूयस्कारबन्धः, किन्त्ववस्थित एवोभयत्र सप्तदशबन्धात् । चतुर्थादिगुणस्थानकत्रयादुपशमसम्यक्त्वगतात् परिणामह्रासेन द्वितीयगुणस्थानकं प्राप्तास्तत्प्रथमसमये सप्तदशादिबन्धस्थानत्रयादेकविंशतिबन्धं कुर्वन्ति तदा ते द्वितीयगुणस्था जीवा भूयस्कारबन्धस्वामिनो भवन्ति । द्वितीयादिषष्ठान्तगुणस्थानपञ्चकादनन्तरमेव मिथ्यात्वगुणस्थानकं यदा प्राप्तास्तदा तत्प्रथमसमये ते एकविंशत्यादिबन्धाद् द्वाविंशतिबन्धस्थानं निर्वर्तयन्तो भूयस्कारबन्धस्वामिनो भवन्ति । एवं च षष्ठं सप्तमं च गुणस्थानद्वयं विहाय प्रथमादिनवमान्तगुणस्थानगता उक्तप्रकारेण मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धस्वामिनो भवन्ति ।

नामकर्मणि प्रथमद्वितीयगुणस्थानके परावर्तमानभावेन नानाबन्धस्थानानां प्रायोग्यत्वात् बन्धस्थानानां परावर्तनेन यदि ते न्यूनबन्धस्थानेभ्योऽधिकं बन्धस्थानं प्राप्नोति तदा ते भूयस्कारबन्धस्वामिनो भवन्ति । तृतीयगुणस्थाने बन्धस्थानद्वयस्य भावेऽपि एकजीवस्यैकबन्धस्थानस्यैव भावेन न तयोः परावृत्तिरतो न तृतीयगुणस्थानगता नाम्नो भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो भवन्ति ।

तिर्यग्मनुष्यो वा यथासम्भवं चतुर्थादिदशमान्तगुणस्थानकान्यतमगुणस्थानकस्थितोऽष्टाविंशत्येकोनत्रिंशदेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानत्रयादन्यतमबन्धस्थानं बध्नन् कालं कृत्वा दिवि समुत्पन्नस्तत्र स भवप्रथमसमयेऽष्टाविंशतिबन्धक एकोनत्रिंशतं बध्नाति, एकोनत्रिंशद्बन्धकस्तु त्रिंशतमेकप्रकृतिबन्धकस्त्वेकोनत्रिंशतं त्रिंशतं वा बध्नाति, तत्र च भवति भूयस्कारबन्धः । यः पुनराहारकद्विकस्य बन्धकः स्यात् तस्य तु दिवि समुत्पन्नस्याल्पतरबन्ध एव भवतीति त्रिंशदेकत्रिंशद्बन्धस्थानद्वयस्य वर्जनमिति ।

तथा चतुर्थादिगुणस्थानकत्रये जिननामबन्धप्रारम्भेऽपि भूयस्कारबन्धो भवति । सप्तमगुणस्थाने तु जिननाम्न आहारकद्विकस्य तदुभयस्य वा बन्धे प्रारब्धे भूयस्कारबन्धस्वामी भवति । एवं यावदपूर्वकरणस्य षष्ठभागः । उपशमश्रेणितोऽवरोहन्नेकप्रकृतिबन्धादपूर्वकरणसप्तमभागात् षष्ठभागं प्राप्तोऽष्टाविंशत्यादिचतुर्णामन्यतमं बन्धस्थानं बध्नन् भूयस्कारबन्धं करोति । एवमुक्तप्रकारैरेव

पद्मलेश्याद्वये मिथ्यादृष्ट्यादीनि सप्त । सम्यक्त्वौघे क्षायिकसम्यक्त्वे च चतुर्थादीन्ययोगिपर्यन्तान्येकादश, उपशमसम्यक्त्वे चतुर्थादीन्युपशान्तमोहान्तान्यष्ट । क्षयोपशमे चतुर्थादीनि सप्तमान्तानि चत्वारि । सम्यग्मिथ्यात्वे तृतीयमेकम् । सास्वादने द्वितीयमेकमिति मार्गणासु गुणस्थानकानां निरूपणम् ।

अथ ओघतो दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां भूयस्कारबन्धस्वामिनं दर्शयन्नाह—

मिच्छो सासणसम्मअपुव्वा बीअस्स भूगारं ॥२२॥
मोहस्स य मिच्छाई देसजई जा अपुव्वअणियट्टी ।
णामस्स मिच्छआई मीसूणा जा अपुव्वसंखंसा ॥२३॥ (गीतिः)

(प्रे०) "मिच्छो" इत्यादि, दर्शनावरणस्य भूयस्कारबन्धस्वामिनस्तृतीयादिचतुर्गुणस्थानकेभ्यः प्रथमगुणस्थानकं प्राप्तास्तत्प्रथमसमये षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानाद् नवप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं बध्नन्तो मिथ्यादृष्टयो भवन्ति, एवं तुर्यादिगुणस्थानकत्रयादुपशमसम्यक्त्वगतात् षड्बन्धाद् द्वितीयं गुणस्थानकं प्राप्ता अपि तत्प्रथमसमये नव बध्नन्तः सास्वादनिनो भूयस्कारस्वामिनो भवन्ति । उपशमश्रेणौ चतुष्कबन्धात् काल कृत्वा दिवि समुत्पन्नस्य तत्प्रथमसमये देवभवलाभादष्टमादिगुणस्थानकत्रयाच्चतुर्थगुणस्थानकं प्राप्तास्तत्प्रथमसमये चतुष्कात् षट्प्रकृतीर्बध्नन्तोऽविरतसम्यग्दृष्टयो दर्शनावरणसत्कभूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो भवन्ति । तथोपशमश्रेणितोऽवरोहन्तः पश्चानुपूर्व्या अपूर्वकरणषष्ठभागात् सप्तमभागं प्राप्ता निद्राद्विकबन्धप्रारम्भेन चतुष्कबन्धात् षट्प्रकृतीर्बध्नतः तत्प्रथमसमये भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो विज्ञेयाः, एवं दर्शनावरणे प्रकारचतुष्केण भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो लभ्यन्त इति ।

मोहनीयभूयस्कारबन्धस्वामिन एवम्—मिथ्यादृष्टयः सास्वादनिनो मिश्रदृष्टयोऽविरतसम्यग्दृष्टयो देशविरताश्चेति पञ्च तथाऽष्टमनवमगुणस्थानद्वयगता भूयस्कारबन्धस्वामिनो भवन्ति । तत्र श्रेणितोऽवरोहन्तो नवमगुणस्थानके एकविधबन्धाद् द्विविधबन्धं प्राप्ताः, द्विविधबन्धात् त्रिविधबन्धं प्राप्ताः, त्रिविधबन्धाच्चतुर्विधबन्धं प्राप्ताः, चतुर्विधबन्धात् पञ्चविधबन्धगता अनिवृत्तिकरणस्थितास्तत्तद्बन्धस्थानप्रारम्भप्रथमसमये वर्तमाना भूयस्कारबन्धस्वामिनो भवन्ति । त एव श्रेणितोऽवरोहन्तः पञ्चबन्धस्थानाद् नवमगुणस्थानकाद् यदाऽष्टमगुणस्थानकं प्राप्तास्तदा नवप्रकृत्यात्मकं स्थानं बध्नन्तोऽष्टमगुणस्थानप्रथमसमयगता भूयस्कारं कुर्वन्ति । षष्ठगुणस्थानकाद् नवप्रकृतिबन्धात् पञ्चमगुणस्थानकं प्राप्य तत्प्रथमसमये त्रयोदश बध्नन्तो देशविरता भूयस्कारबन्धस्वामिनो भवन्ति । षष्ठगुणस्थानकाद् नवप्रकृतिबन्धात्

यद्वा पञ्चमगुणस्थानकात् त्रयोदशप्रकृतिबन्धात् परिणामह्रासेन कालकरणेन वा चतुर्थगुणस्थानं प्राप्तास्तत्प्रथमसमये सप्तदश बध्नन्तो मोहस्य भूयस्कारबन्धका ज्ञेयाः, तथा सप्तमाऽष्टमनवमगुणस्थानकेषु यथासम्भवमेकादिकं यावत् नवप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं बध्नन्तः कालं कृत्वा दिवि समुत्पद्यन्ते तदा तत्प्रथमसमये-देवभवप्रथमसमये चतुर्थगुणस्थानकमेव लभन्ते तदैव सप्तदशप्रकृत्यात्मकं बन्धं कुर्वन्तस्ते भूयस्कारबन्धस्वामितया विज्ञेयाः। षष्ठपञ्चमगुणस्थानतो यदा परिणामह्रासेन तृतीयगुणं प्राप्नुवन्ति तदा तत्प्रथमसमये नवभ्यस्त्रयोदशभ्यो वा सप्तदश बध्नन्तस्ते तृतीयगुणस्थानगता भूयस्कारबन्धं कुर्वन्ति । चतुर्थगुणस्थानकतस्तृतीयगुणस्थानकं प्राप्तानां नैव भूयस्कारबन्धः, किन्त्ववस्थित एवोभयत्र सप्तदशबन्धात् । चतुर्थादिगुणस्थानकत्रयादुपशमसम्यक्त्वगतात् परिणामह्रासेन द्वितीयगुणस्थानकं प्राप्तास्तत्प्रथमसमये सप्तदशादिबन्धस्थानत्रयादेकविंशतिबन्धं कुर्वन्ति तदा ते द्वितीयगुणस्था जीवा भूयस्कारबन्धस्वामिनो भवन्ति। द्वितीयादिषष्ठान्तगुणस्थानपञ्चकादनन्तरमेव मिथ्यात्वगुणस्थानकं यदा प्राप्तास्तदा तत्प्रथमसमये ते एकविंशत्यादिबन्धाद् द्वाविंशतिबन्धस्थानं निर्वर्तयन्तो भूयस्कारबन्धस्वामिनो भवन्ति। एवं च षष्ठं सप्तमं च गुणस्थानद्वयं विहाय प्रथमादिनवमान्तगुणस्थानगता उक्तप्रकारेण मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धस्वामिनो भवन्ति ।

नामकर्मणि प्रथमद्वितीयगुणस्थानके परावर्तमानभावेन नानाबन्धस्थानानां प्रायोग्यत्वात् बन्धस्थानानां परावर्तनेन यदि ते न्यूनबन्धस्थानेभ्योऽधिकं बन्धस्थानं प्राप्नोति तदा ते भूयस्कारबन्धस्वामिनो भवन्ति । तृतीयगुणस्थाने बन्धस्थानद्वयस्य भावेऽपि एकजीवस्यैकबन्धस्थानस्यैव भावेन न तयोः परावृत्तिरतो न तृतीयगुणस्थानगता नाम्नो भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो भवन्ति ।

तिर्यग्मनुष्यो वा यथासम्भवं चतुर्थादिदशमान्तगुणस्थानकान्यतमगुणस्थानकस्थितोऽष्टाविंशत्येकोनत्रिंशदेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानत्रयादन्यतमबन्धस्थानं बध्नन् कालं कृत्वा दिवि समुत्पन्नस्तत्र स भवप्रथमसमयेऽष्टाविंशतिबन्धक एकोनत्रिंशतं बध्नाति, एकोनत्रिंशद्बन्धकस्तु त्रिंशतमेकप्रकृतिबन्धकस्त्वेकोनत्रिंशतं त्रिंशतं वा बध्नाति, तत्र च भवति भूयस्कारबन्धः। यः पुनराहारकद्विकस्य बन्धकः स्यात् तस्य तु दिवि समुत्पन्नस्याल्पतरबन्ध एव भवतीति त्रिंशदेकत्रिंशद्बन्धस्थानद्वयस्य वर्जनमिति ।

तथा चतुर्थादिगुणस्थानकत्रये जिननामबन्धप्रारम्भेऽपि भूयस्कारबन्धो भवति । सप्तमगुणस्थाने तु जिननाम्न आहारकद्विकस्य तदुभयस्य वा बन्धे प्रारब्धे भूयस्कारबन्धस्वामी भवति। एवं यावदपूर्वकरणस्य षष्ठभागः। उपशमश्रेणितोऽवरोहन्नेकप्रकृतिबन्धादपूर्वकरणसप्तमभागात् षष्ठभागं प्राप्तोऽष्टाविंशत्यादिचतुर्णामन्यतमं बन्धस्थानं बध्नन् भूयस्कारबन्धं करोति । एवमुक्तप्रकारैरेव

तृतीयं गुणस्थानकं विहायापूर्वकरणषष्ठभागान्तस्था नामकर्मभूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो भवन्तीति । एवमोघतो दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां भूयस्कारबन्धस्वामिनो दर्शिताः । शेषपञ्चकर्मणां तु भूयस्कारपदस्यैवाभावाद् न तत् स्वामित्वप्रदर्शनमिति ॥२२-२३॥

अथ त्रयाणामेवाल्पतरबन्धस्य स्वामित्वं निरूपयन्नाह—

अप्पयरस्स हवेज्जा बीआवरणस्स बंधगो मीसो ।
सम्मो देसपमत्तअपमत्तविरई अपुव्वो य ॥२४॥
मोहस्स मीससम्मा देसपमत्तापमत्तअणियट्टी ।
णामस्स मिच्छसासणसम्मपमत्ता अपुव्वा य ॥२५॥

(प्रे०) "अप्पयरस्से"त्यादि, दर्शनावरणस्याल्पतरबन्धकास्तृतीयादिसप्तमान्तगुणस्थानगता अपूर्वकरणद्वितीयभागप्रथमसमयगताश्च, तत्र मिथ्यात्वगुणस्थानकतस्तृतीयादिसप्तमान्तेष्वन्यतमगुणस्थानप्राप्तौ तत्प्रथमसमये नवविधबन्धात् षड्विधबन्धं प्राप्तस्याल्पतरबन्धो भवति । उक्तगुणस्थानकचतुष्के नान्यप्रकारेण दर्शनावरणस्याल्पतरबन्धः प्राप्यत इति । अत्र केचित् प्रथमगुणस्थानकतः षष्ठं गुणस्थानं नैव गच्छन्तीति मन्यन्ते तन्मते षष्ठगुणस्थानकगतान् विहायोपर्युक्ताः स्वामिनो बोद्धव्या इति । अन्यतरश्रेणिमारोहतोऽष्टमगुणस्थानकप्रथमांशचरमसमयं यावन्निद्राद्विकस्य बन्धं विधाय तदुत्तरसमये तदबन्धकस्याल्पतरबन्धः स्यादिति ।

मोहनीयस्याल्पतरबन्धकास्तृतीयादिसप्तमान्तगुणस्थानगता नवमगुणस्थानगताश्च विज्ञेयाः, तत्र प्रथमगुणस्थानतस्तृतीयं चतुर्थं वा गुणस्थानं प्राप्ता द्वाविंशतिबन्धात् सप्तदशबन्धं गता अल्पतरबन्धं कुर्वन्ति । प्रथमाच्चतुर्थाद् वा गुणस्थानकात् ये पञ्चमगुणस्थानप्राप्ताः प्रथमसमये ते त्रयोदशबन्धं कुर्वन्तोऽल्पतरबन्धस्य स्वामिनो विज्ञेयाः । प्रथमाच्चतुर्थात्पञ्चमाद् वा गुणस्थानकात् षष्ठं सप्तमं वा गुणस्थानकं प्राप्तास्तत्प्रथमसमयेऽन्यतरगुणस्थानगतास्तेऽल्पतरबन्धस्य स्वामिनोऽवसेया इति । अन्यतरश्रेण्यारोहका नवमगुणस्थानप्रथमसमये नवविधबन्धात् पञ्चविधबन्धं प्राप्ताः, एवं क्रमेण नवमगुणस्थानके स्वाधिकबन्धात् चत्वारि त्रीणि द्वे एकं वा बध्नन्तस्तत्तद्बन्धप्रथमसमयेऽल्पतरबन्धं कुर्वन्ति । एवं मोहनीयस्य गुणस्थानकषट्के स्थिता अल्पतरबन्धस्वामिनो भवन्ति ।

नामकर्मणि प्रथमद्वितीयगुणस्थानगतानां परावर्तमानभावेन नानाबन्धस्थानकानां लाभेन स्वस्थान एव ते भूयस्कारवदल्पतरबन्धस्वामिनो भवन्ति । तृतीयगुणस्थानेऽल्पतरबन्धो भूयस्कारबन्धवन्नास्ति । चतुर्थगुणस्थानके देवनैरयिकेभ्यश्च्युत्वा मनुष्येषूत्पन्नस्य तत्प्रथमसमयेऽल्पतरबन्धो भवति, तथाऽऽहारकद्विकबन्धका अप्रमत्तापूर्वकरणगुणस्थानगताः कालं कृत्वा दिवि समुत्पन्ना

देवभवप्रथमसमयेऽल्पतरबन्धका भवन्ति। पञ्चमगुणस्थानके जिननाम्नो बन्धप्रारम्भादस्ति तत्र भूयस्कारबन्धः, जिननामबन्धकानां तद्बन्धविरमाभावादल्पतरबन्धो देशविरतौ नास्ति । सप्तम-गुणस्थानकत आहारकद्विकबन्धका यदा षष्ठं गुणस्थानकमायान्ति तदा तेऽल्पतरबन्धस्वामिनो भवन्ति, नान्यप्रकारेण षष्ठगुणस्थानकेऽल्पतरबन्धोऽस्ति। सप्तमगुणस्थानकेऽष्टमगुणस्थानके तत्-षष्ठभागं यावद् वर्तमानानामल्पतरबन्धो नास्ति, आहारकद्विकस्य जिननाम्नश्च बन्धविरमाभावात्। अष्टमगुणस्थानकषष्ठभागात् सप्तमभागं प्राप्तानां तत्प्रथमसमये देवगतिप्रायोग्याणां बन्धविच्छेदात् केवलाया एकस्या यशःकीर्तेर्बन्धनात् तेऽल्पतरबन्धस्वामिनो भवन्तीति। एवं प्रथमद्वितीयचतुर्थ-षष्ठाष्टमगुणस्थानपञ्चकगता नाम्नोऽल्पतरबन्धस्वामिनो भवन्ति। शेषाणां पञ्चानां कर्मणां त्वल्प-तरबन्ध एव नास्तीति न तत्स्वामित्वनिरूपणाया अवसरः ॥२४-२५॥

अथ ओघतः सप्तानामवक्तव्यबन्धस्य स्वामिनो निरूपयिषुराह—

मोहस्स अवत्तव्वं कुणए उवसामगो पडंतो उ ।
अणियट्टिपढमसमये उअ मरिअ सुरे समुप्पण्णो ॥२६॥
सेसाणं पंचण्हं कुणए उवसामगो पडंतो य ।
सुहुमस्स पढमसमये उअ कालं किच्च जाअसुरो ॥२७॥

(प्रे०) "मोहस्से"त्यादि, मोहनीयस्यावक्तव्यबन्धं य उपशमश्रेणितोऽवरोहन् सूक्ष्मस-म्परायाद् नवमगुणस्थानकं प्राप्तः तत्प्रथमसमये मोहनीयबन्धं प्रारभते स करोति, एवं यो दशमगुणस्थानके एकादशगुणस्थानके वा कालं कृत्वा सुरेषूत्पद्यते तस्य देवभवप्रथमसमये मोहस्या-वक्तव्यबन्धो भवति। तथाच नवमगुणस्थानवर्तिनश्चतुर्थगुणस्थानवर्तिनश्च मोहस्यावक्तव्यबन्ध-स्वामिनो भवन्ति। ज्ञानावरणदर्शनावरणनामगोत्रान्तरायाणां पञ्चानामुपशमश्रेणितोऽवरोहे दशमगुणस्थानकप्रथमसमयस्थस्य तथोपशान्तमोहे कालं कृत्वा दिवि समुत्पन्नस्य देवभवप्रथम-समयेऽवक्तव्यबन्धो भवति, सोऽवक्तव्यबन्धस्य स्वामी भवतीति भावः। वेदनीयस्यावक्तव्यबन्ध एव नास्तीति न तत्स्वामित्वभणनमिति । तदेवमोघतः सप्तानां भूयस्कारादिबन्धपदानां स्वामित्वं दर्शितम् ॥२६-२७॥

अथ आदेशतो मार्गणासु तन्निरूपयिषुर्यासु स्व-स्वसर्वपदानामोघवत् स्वामित्वं भवति तासु तदतिदेशेन दर्शयन्नाह—

सेसमपयाण सत्तण्होघव्वऽत्थि दुपणिंदियतसेसु ।
कायणयजोयरसुइलभविसण्णीसु तह आहारे ॥२८॥

णवरं मिच्छादिट्ठी सासणो णत्थि सुक्कलेसाए ।
अप्पयरस्स पयस्स उ सामी णामस्स कम्मस्स ॥२९॥

(प्रे०) "सेसे"त्यादि, सप्तकर्मसत्कस्यावस्थितपदस्य स्वामिनः सर्वमार्गणास्वभ्यति-देशेनोक्तत्वात् सप्तकर्मणां भूयस्काराल्पतरावक्तव्यपदेभ्यः पञ्चेन्द्रियौघादिषु मार्गणासु येषां कर्मणां यावन्ति पदानि सद्भवन्ति तासु मार्गणासु तेषां कर्मणां तत्तत्पदानां स्वामिन ओघवद् भवन्ति । पञ्चेन्द्रियौघाद्येकादशमार्गणाः पुनरिमाः—पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-काययोगौघ-चक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शन--शुक्ललेश्या-भव्य-संज्ञ्याहारकमार्गणाः, अत्र शुक्ललेश्यां विहाय दशमार्गणासु सप्तानां भूयस्काराल्पतरावक्तव्यपदानां स्वामित्वं सर्वमविशेषेणौ-घवद् भवति । शुक्ललेश्यायामप्योघवदेव, केवलं नामकर्मणोऽल्पतरस्य मिथ्यादृष्टिसास्वादनिनः स्वामिनो न भवन्ति, यतः शुक्लायां तिर्यग्मनुष्याणामाद्यगुणस्थानकद्वये पर्याप्तावस्थायामेवा-ऽष्टाविंशतेर्बन्धस्थानम्, देवानां त्वेकोनत्रिंशत्, अतस्तिर्यग्मनुष्येभ्यो देवेषूत्पद्यमानानामाद्य-गुणस्थानद्वयगतानां भूयस्कारबन्धो भवति, नत्वेवमन्यथा वा अल्पतरबन्धोऽपि ॥२८ २९॥

अथ नरकगत्योघादिमार्गणासु स्वामित्व प्राह—

भूगारं सव्वणिरयसुरगेविज्जंतदेवविउवेसु ।
दुइअतुरिआणा सासणमिच्छोऽणा मीसगो सम्मो ॥३०॥
वज्जाणताइगेसु दुपया णामस्स मिच्छसासणो ।
णिरयपढमाइतिणिरयविउव्वेसु सम्मगो वि भूगारं ॥३१॥(गीतिः)

(प्रे०) "भूगार"मित्यादि, नरकौघः, सप्त तदुत्तरभेदाः, देवौघः, भवनपतिव्यन्तरज्योति-ष्कसौधर्मादिद्वादशकल्पनवग्रैवेयकाणि वैक्रियकाययोगं चेति चतुस्त्रिंशन्मार्गणाः, एतासु दर्शना-वरणस्य मोहनीयस्य च भूयस्कारबन्धस्वामिनो मिथ्यादृष्टयः सास्वादनिनश्च भवन्ति, न पुन-स्तृतीयचतुर्थगुणस्थानस्थाः, यत एतासु देशविरत्यादीनि गुणस्थानकानि न भवन्ति, अतो दर्शनावरणस्य द्वे बन्धस्थाने-षड् नव चेति, तत्र तृतीयचतुर्थगुणस्थानकद्वये षट्प्रकृत्यात्मकबन्ध-स्थानकस्यैव लाभान्न भूयस्कारस्यावकाशः । एवं मोहनीयस्य प्रस्तुतमार्गणासु बन्धस्थान-त्रयस्य सम्भवेऽपि तेषु जघन्यस्य सप्तदशप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य तृतीयतुर्यगुणस्थानकद्वये बन्धसम्भवेन तत्रस्था भूयस्कारबन्धस्वामिनो न भवन्ति । उक्तमार्गणासु दर्शनावरणमोहनीययो-रल्पतरबन्धस्य स्वामिनो मिश्रदृष्टयः सम्यग्दृष्टयश्च भवन्ति, प्रथमगुणस्थानतो द्वितीयगुणस्थाने

गमनाभावान्न प्रथमद्वितीयगुणस्थानेऽल्पतरबन्धः सम्भवति, ओघेऽप्युक्तकर्मद्वयस्याऽल्पतरबन्धे तृतीयादिगुणस्थानगता एव स्वामिन इति ।

नामकर्मण आनतादिदेवमार्गणात्रयोदशके बन्धस्थानद्वयस्य भावेऽपि येषां भवप्रथमसमयाद् यद्बन्धस्थानं प्रवर्तते तदेव भवचरमसमयं यावन्नियमतः स्यात्, तत्र मनुष्येषु निकाचितजिननामवतां देवेषूत्पन्नानां सम्यग्दृष्टीनां त्रिंशद्बन्धस्थानम्, शेषाणामेकोनत्रिंशत् । अतस्तेष्वानतादित्रयोदशमार्गणासु भूयस्काराल्पतरबन्धयोः सत्पदत्वमेव प्राग् निषिद्धम्, अतस्ता विहाय शेषास्वेकविंशतौ नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोः स्वामिनो मिथ्यादृष्टयः सास्वादनसम्यग्दृष्टयश्च भवन्ति, तत्र परावर्तमानभावेन द्व्यादिबन्धस्थानानां भावात् । तथा नरकौघाद्यनरकत्रयवैक्रियकाययोगेषु प्राग्बद्धनरकायुषो निकाचितजिननाम मनुष्यः स्वभवप्रान्ते मिथ्यात्वं प्राप्य नरके उत्पद्य पर्याप्तो भूत्वाऽन्तर्मुहूर्तेन विशुद्ध्या यः सम्यक्त्वमासादयति तस्य मिथ्यात्वचरमसमयं यावन्मनुष्यप्रायोग्यैकोनत्रिंशद्बन्धस्थानं प्रवर्तते, तदनु सम्यक्त्वलाभक्षणाद् भवचरमसमयपर्यन्तं मनुष्यप्रायोग्यं त्रिंशद्बन्धस्थानं भवति, अत उक्तमार्गणापञ्चके उक्तस्वरूपवन्तो जीवाः सम्यक्त्वप्राप्तिप्रथमक्षणे भूयस्कारबन्धस्वामिनो भवन्ति । शेषमार्गणासु तु बद्धजिननाम्न उत्पादाभावात्, सम्यक्त्वेन सहैवोत्पादाद् वा नोक्तरूपेण तत्र सम्यग्दृष्टयो भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो भवन्तीति । अवक्तव्यबन्धस्तु सप्तकर्मणामेतासु न भवति, अतो न तत्स्वामित्वचिन्तनमिति ॥३०-३१॥

अथ तिर्यगोघादिमार्गणासु तद्दर्शयति—

बीअस्स भूअगारं कुणइ तिरियतिपणिदितिरियेसु ।
मिच्छत्ती सासाणो अप्पयरं तिणि मीसाई ॥३२॥
मोहस्स भूअगारं चउमिच्छाई कुणइ अप्पयरं ।
तिणि कुणइ मीसाई दुपया णामस्स मिच्छसासाणो ॥३३॥(गीतिः)

(प्रे०) "बीअस्से"त्यादि, तिर्यगोघे पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्तिरश्चीमार्गणात्रये च दर्शनावरणस्य भूयस्कारबन्धस्वामिनः प्रथमद्वितीयगुणस्थानगता भवन्ति, भावना त्वनन्तरोक्तनरकमार्गणावत्कार्या । दर्शनावरणस्याल्पतरबन्धस्य स्वामिनस्तृतीयचतुर्थपञ्चमगुणस्थानस्था भवन्ति, भावना तु नरकमार्गणावदेवः केवलमेतासु पञ्चमगुणस्थानकस्यापि भावेन तेऽपि प्रस्तुतेऽल्पतरबन्धस्य स्वामिनो भवन्ति । आद्यगुणस्थानचतुष्के वर्तमाना मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धस्वामिनो भवन्ति । पञ्चमगुणस्थानगतानां त्रयोदशबन्धस्थानस्यैव भावेन ततो न्यूनस्य बन्धस्थानस्याभावेन न पञ्चमगुणस्थानस्थास्तत्स्वामिन इति । भावना त्वोघानु-

सारेण कार्या, केवलं चतुर्थगुणस्थानगता मोहस्य भूयस्कारबन्धस्वामिनः पञ्चमगुणस्थानत आगता एव भवन्ति, न पुनरन्यप्रकारेणेति। मोहनीयस्याल्पतरबन्धस्य स्वामिनस्तृतीयादिगुण-स्थानत्रयवर्तिनो भवन्ति, भावना त्वोघवत्कार्येति । नामकर्मणो भूयस्काराल्पतरौ प्रथमद्वितीय-गुणस्थानद्वयगता जीवा एव कुर्वन्ति, प्रस्तुतनाम्नोऽनेकबन्धस्थानानामाद्यगुणस्थानद्वय एव भावात् , तृतीयादिगुणस्थानत्रय एकस्यैवाष्टाविंशतेर्बन्धस्थानस्य भावेन न तृतीयादिगुणस्थान त्रयगतानां भूयस्काराल्पतरबन्धौ भवत इति ॥३२ ३३॥

अथ मनुष्यादिमार्गणासु भूयस्काराल्पतरावक्तव्यबन्धानां स्वामित्वं निरूपयन्नाह--

ओघव्वऽणपयाणं तिण्ह तिमणुयपणमणवयुरलेसुं ।
णवरं छण्ह वि सामी णत्थि अवत्तव्वगस्स सुरो ॥३४॥
णो चेव भूअगारं बीआवरणस्स कुणइ सम्मत्ती ।
सम्मादिट्ठी कुणए ण चेव णामस्स अप्पयरं ॥३५॥

(प्रे०) "ओघव्व" इत्यादि, मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणात्रये मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्कमार्गणासु औदारिकयोगे च सप्तकर्मणां भूयस्कारा-ल्पतरावक्तव्यबन्धानां स्वामिन ओघवद् भवन्ति, केवलं तत्र वेदनीयं विहाय शेषाणां षण्णाम-वक्तव्यबन्धस्य स्वामित्वं श्रेणौ कालं कृत्वा देवेषूत्पन्नस्य भवप्रथमसमये वर्तमानस्यापि दर्शितम् , तदत्र न वक्तव्यम् , भवप्रथमसमयस्थदेवानां प्रस्तुतमार्गणास्वप्रवेशादिति प्रथमोऽपवादः, तथा दर्शनावरणस्य भूयस्कारस्वामिन ओघे चतुर्थगुणस्थानकगता अपि भवन्ति, तेऽत्र न सन्ति यतस्ते श्रेणौ कालं कृत्वा देवतयोत्पद्यमाना भवप्रथमसमयस्था एव भवन्ति, ते च प्रस्तुते न सन्तीति चतुर्थगुणस्थानकस्था दर्शनावरणस्य भूयस्कारबन्धस्वामिनो न भवन्तीति द्वितीयोऽपवादः। तथा चतुर्थगुणस्थानके नाम्नोऽल्पतरबन्धस्तु देवेभ्यश्च्युत्वा मनुष्येषूत्पन्नस्य भवप्रथमसमये भवति । अत्राऽल्पतरबन्धस्य देवभवचरमसमयमनुष्यभवप्रथमसमयोभयसापेक्षत्वम् , प्रस्तुत-मार्गणासूक्तरूपेणोभयसापेक्षत्वं नास्ति, अतः प्रस्तुतमार्गणासु चतुर्थगुणस्थानके नाम्नोऽल्पतर-बन्धो नास्तीति तृतीयोऽपवादः । उक्तापवादत्रयं विहाय शेषं सर्वं स्वामित्वमोघवद्भवतीति ।

अत्र प्रथमगाथागतेन "अणपयाण" मित्यनेन भूयस्काराऽल्पतराऽवक्तव्यपदानां ग्रहणं कार्यम् । तथा "तिण्ह" मित्यनेन दर्शनावरणमोहनीयनाम्नामुपादानम् ।

अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तमनुष्य-सर्वैकेन्द्रिय-नवविकलाक्षा-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-पञ्च-स्थावरकायसत्कैकोनचत्वारिंशद्भेदापर्याप्तत्रसकायमार्गणासु नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धौ शेषपद-

कर्मणामवस्थितबन्धस्य स्वामिनो मार्गणावर्त्यन्यतमजीवा भवन्तीति न तेषां विशेषस्वामित्व-निरूपणम् । एतच्च शेषास्वित्यादिनाऽग्रे वक्ष्यते । पञ्चानुत्तरसुरमार्गणासु सप्तकर्मणां केवलमवस्थितबन्ध एव भवति, तस्य स्वामिनो मार्गणावर्त्तिनः सर्वे जीवा भवन्ति । इन्द्रियमार्गणासत्क-पञ्चेन्द्रियभेदद्वये कायमार्गणासत्कत्रसकायभेदद्वये च प्रागेवौघवत् स्वामित्वं दर्शितम् , शेषेन्द्रिय-कायमार्गणाभेदेषु तु शेषास्वित्यादिना वक्ष्यति । गतं गतीन्द्रियकायमार्गणासु स्वामित्वम् ॥३४ ३५॥

योगमार्गणासत्कमनोयोगवचोयोगसत्कसर्वभेदेभ्यः काययोगौघ औदारिककाययोगे वैक्रिये च स्वामित्वस्य निरूपितत्वेन शेषयोगमार्गणाभेदेषु तं निरूपयन्नाह—

मोहस्स कुणाइ मीसदुजोगेसुं कम्मगो अणाहारे ।
भूणारं मिच्छत्ती णामस्स दुवे वि मिच्छसासाणो ॥३६॥ (गीतिः)

(प्रे०) "मोहस्से"त्यादि, औदारिकमिश्र-वैक्रियमिश्रयोगद्वये कार्मणकाययोगे अनाहारकमार्गणायां चेति मार्गणाचतुष्के मोहनीयभूयस्कारस्य, नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोश्च सद्भावः, न पुनः सप्तकर्मसत्कशेषपदानामवस्थितव्यतिरिक्तानां सद्भावः । अत्र दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धौ न स्तः । मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो मिथ्यादृष्टय एव, प्रस्तुतमार्गणासु सास्वादनत एव मिथ्यात्वगुणस्थानस्य लाभात् , प्रथमचतुर्थ-गुणस्थानकतो गुणस्थानान्तरगमनाभावाच्च न शेषा भूयस्कारबन्धस्वामिनः, अल्पतरबन्धस्त्वत्र न सम्भवत्येवेति । नाम्नः पुनराद्यगुणद्वयवर्तिनो भूयस्काराल्पतरबन्धस्वामिनो भवन्ति, तत्रैकजीवापेक्षया नानाबन्धस्थानसम्भवेन परावृत्त्या तद्बन्धभावात् । चतुर्थ-गुणस्थाने नाम्नो बन्धस्थानद्वयस्य त्रयस्य वा भावेऽप्येकजीवस्यैकैकबन्धस्थानस्यैव भावेन न ते भूयस्काराल्पतरबन्धस्वामिनो भवन्ति । एतास्ववक्तव्यबन्धस्तु सप्तानामपि कर्मणां नास्ति, अवस्थितबन्धस्य स्वामित्वं प्रागेव सर्वमार्गणासु दर्शितमिति । आहारक-तन्मिश्रयोगद्वये आयुर्नामवर्जषण्णां केवलमवस्थितबन्ध एव भवति, तेषां च स्वामिनः प्राग्दर्शिताः, नाम्न्यव-स्थितबन्धस्य स्वामिनः प्राग्वत् , भूयस्कारबन्धस्य स्वामी मार्गणावर्त्यन्यतमो जीवो भवति, एतयोः केवलं षष्ठगुणस्थानस्य सम्भवेन जिननाम्नो बन्धारम्भका भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो भवन्ति । अत्राल्पतरबन्धस्तु नास्ति, सप्तमगुणस्थानस्याभावाद् । येषां मते सप्तमगुणस्थानकं विद्यते तन्मतेऽपि सप्तमगुणस्थानतः षष्ठगुणस्थानकं प्राप्तस्याऽऽहारककाययोगमार्गणा स्यान्न वेति स्वयं ज्ञेयम्, अतस्तन्मतेऽप्यल्पतरबन्धसद्भावोऽपि तथैव बहुश्रुताद्विज्ञेयमिति । गतं योगमार्गणाभेदेषु स्वामित्वम् ॥३६॥

अथ वेदमार्गणासु कषायमार्गणासु च निरूपयन्नाह—

तिराह ससेसपयाणं ओघव्व तिवेअचउकसायेसु ।
परमनियट्टी णो भूगारं मोहस्स वेअतिगे ॥३७॥
बीअस्स णपुमथीसुं भूगारस्स णपुमेऽप्पयरगस्स ।
णामस्स ण सम्मो तह थीरादि पडुच्च बाहुल्लं ॥३८॥

(प्रे०) "तिण्हे"त्यादि, स्त्रीपुरुषनपुंसकवेदमार्गणात्रये क्रोधादिकषायमार्गणाचतुष्के च दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां त्रयाणां 'ससेसपयाणं' ति, भूयस्काराल्पतररूपशेषपदयोर्बन्ध-स्वामिन ओघवदेव भवन्ति । अवस्थितबन्धस्य प्राग्दर्शितत्वादवक्तव्यपदस्य च लोभमार्गणां विहायाभावात्, लोभेऽपि केवलं मोहनीयस्यैवावक्तव्यबन्धस्तस्य स्वामित्वं त्वोघवदेवेति । भूयस्काराल्पतरबन्धस्वामिनस्त्वोघवदेव भवन्ति । अत्रायमपवादः—स्त्रीवेदनपुंसकवेदमार्ग-णयोर्दर्शनावरणस्य भूयस्कारबन्धस्वामिनश्चतुर्थगुणस्थानगता नैव भवन्ति, श्रेणितः कालगता-नामेव तत्स्वामित्वेन तेषां च श्रेणौ कालगतानां देवेषु पुरुषतयैवोत्पादादपवादः । तथा नाम्नो-ऽल्पतरबन्धस्य स्वामिनोऽविरतसम्यग्दृष्टयो न सन्ति, यतः सम्यग्दृष्टीनां देवेषु तिर्यक्षु च पुरुषवेदितयैवोत्पादात्, मनुष्येषु तु बाहुल्यतया पुरुषवेदिषु, क्वचिदाश्चर्यरूपेण स्त्रीवेदितया समुत्पादेऽपि, नपुंसकवेदित्वेन तु कर्हिचिदप्यनुत्पादादपवादः, स्त्रीवेदे क्वचिद् मानुषीतया मल्लीकुमारीवदुत्पादस्य भावेन तदपेक्षया नाम्नोऽल्पतरबन्धस्य स्वामी चतुर्थगुणस्थान-स्थोऽपि भवतीत्यवधेयमिति । किञ्च वेदमार्गणात्रये पञ्चप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानतो न्यूनबन्ध-स्थानस्याभावाद् नवमगुणस्थाने च तस्यैव ज्येष्ठत्वाद् नवमगुणस्थानकगता मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो न भवन्तीति । शेषं सर्वं त्वोघवदेवेति तदोघत एवावधार्यमिति ॥३७-३८॥

अथ अपगतवेदमार्गणायां प्राह—

अत्थि णरव्व अवेए छराह अवत्तव्वगस्स मोहस्स ।
भूगारं अप्पयरं दोवि पया कुणइ अणियट्टी ॥३९॥

(प्रे०) "अत्थि"इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायां वेदनीयायुर्वर्जानां षण्णामवक्तव्यबन्धस्य स्वामिनो मनुष्यमार्गणावद् भवन्ति, देवानां प्रस्तुते प्रवेशाभावाद् नौघवत्तन्निर्देश इति भावः । अवस्थितबन्धं मोहनीयस्य नवमगुणस्थानकस्था ज्ञानावरणादिपञ्चानां नवमदशमगुणस्थानकस्था वेदनीयस्य तु नवमादिसयोगिकेवलिपर्यवसानाः कुर्वन्तीति । दर्शनावरणनाम्नोरत्र भूयस्कारा-

ल्पतरबन्धौ न स्तः, मोहनीयस्य ते द्वे अपि पदे स्तः, तयोः स्वामिनो नवमगुणस्थानगता भवन्ति ।।३९।।

अथ मतिज्ञानादिमार्गणासु स्वामित्वं निरूपयन्नाह—

बीअस्स भूअगारं तिणाणाऽवहिसम्मखइउवसमेसु ।
सम्मअपुव्वो कुणए अपुव्वकरणो च अप्पयरं ।।४०।।
मोहस्स भूअगारं सम्मो देसो अपुव्वअणियट्टी ।
अप्पयरं देसविरइपमत्तअपमत्तअणियट्टी ।।४१।।
णामस्स भूअगारं सम्माईओ अपुव्वकरणंता ।
सम्मपमत्तअपुव्वाऽप्पयरं ओघव्व छणहऽवत्तव्वं ।।४२।। (गीतिः)

(प्रे०) "बीअस्से"त्यादि, मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानावधिदर्शनसम्यक्त्वौघक्षायिकसम्यक्त्वोपशमसम्यक्त्वरूपासु सप्तमार्गणासु वेदनीयस्यावक्तव्यबन्धाभावादायुष्कस्य प्राग्दर्शितत्वाच्च तद्वर्जषण्णामवक्तव्यबन्धस्वामिन ओघवद्भवन्ति, भावनाऽप्योघवदेव कार्येति । दर्शनावरणस्य भूयस्कारबन्धस्वामिनश्चतुर्थाष्टमगुणस्थानद्वयगता भवन्ति; भावना ओघवदेव, केवलं प्रथमद्वितीयगुणस्थानगताः स्वामिनो न भवन्तीत्योघतो विशेषः । अल्पतरबन्धस्य स्वामिनोऽष्टमगुणस्थानद्वितीयभागगता भवन्ति, भावनाऽप्योघवत् कार्या । चतुर्थादिसप्तमान्तगुणस्थानगतास्त्वत्राल्पतरबन्धस्य स्वामिनो न भवन्तीत्योघतो विशेषः । मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धस्वामिनोऽधश्चतुर्थगुणस्थानं यावदोघवद् वक्तव्याः तद्यथा-चतुर्थ-पञ्चम-नवमगुणस्थानकगता भूयस्कारबन्धस्वामिनो ज्ञेया । भावनाऽप्योघवदेव कार्येति । अल्पतरबन्धस्वामिनो देशविरतादिनवमगुणस्थानकान्ता चत्वार ओघवद् विज्ञेयाः, तद्यथा—पञ्चम षष्ठ सप्तम-नवमगुणस्थानकगता अल्पतरबन्धस्वामिनो भवन्ति, भावना त्वोघवद् भाव्या । नाम्नो भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनश्चतुर्थाद्यष्टमान्तगुणस्थानगताः, अल्पतरबन्धस्य चतुर्थषष्ठाष्टमगुणस्थानगताः स्वामिनो भवन्ति, अत्रापि भावना ओघवदेव कार्या, केवलमत्राद्यगुणस्थानद्वयाभावाद् न ते स्वामिनो वाच्याः । तथा चतुर्थगुणस्थानगता मनुष्या अल्पतरबन्धस्य स्वामिन उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां नैव भवन्ति चतुर्थगुणस्थानेऽल्पतरबन्धो मनुष्याणां भवप्रथमसमय एव देवनैरयिकेभ्य आगतानां भवति, न चोपशमसम्यक्त्वस्य देवान् विहायापर्याप्तावस्थायामन्यत्र सद्भाव इति तन्निषेधः ।।४०-४२।।

अथ मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणासु स्वामित्वं प्राह—

मणणाणसंजमेसुं छराह अवत्तव्वगस्स मणुयव्व ।
खुणए अपुव्वकरणो बीयावरणस्स दो वि पया ॥४३॥
मोहस्स अपुव्वो तह अणियट्टी भूअगारमणियट्टी ।
अप्पयरं भूगारं णामस्स अपुव्वकरणंता ॥४४॥
अप्पयरं उ पमत्तो अपुव्वकरणो य एवमेव भवे ।
सामाइअछेएसुं तिणहं कम्माण दुपयाणं ॥४५॥

(प्रे०) "मणणाणे"त्यादि, मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां संयमौघे च वेदनीयायुर्वर्जानां षण्णां कर्मणामवक्तव्यबन्धस्य स्वामिनो मनुष्यमार्गणावद् भवन्ति, तद्यथा-उपशमश्रेणितोऽवरोहन् ज्ञानावरणादिपञ्चानां सूक्ष्मसंपरायप्रथमसमये मोहनीयस्य नवमगुणस्थानकप्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धं करोति, भावना त्वोघवत् कार्या । दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धस्वामिनोऽपूर्वकरणस्था भवन्ति,कालकरणेन प्रस्तुतमार्गणयोर्विच्छेदात् श्रेण्यारोहावरोहापेक्षया एतत्स्वामित्वं भावनीयम् । मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनः श्रेणितोऽवरोहन्तो नवमगुणस्थानगतास्तथा नवमगुणतोऽष्टमगुणं प्राप्तास्तत्प्रथमसमयस्था एवावसातव्याः । अल्पतरबन्धस्य स्वामिनस्त्वनिवृत्तिकरणगुणस्थानगता एव भवन्ति, षष्ठादिगुणस्थानत्रय एकस्यैव बन्धस्थानस्य भावेनाल्पतरबन्धासम्भवात् । नाम्नो भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनः षष्ठे सप्तमेऽष्टमगुणस्थानके तु षष्ठभागं यावच्च वर्तमाना भवन्ति । अल्पतरबन्धस्य स्वामिनस्तु सप्तमगुणत आगताः षष्ठगुणस्थानकप्रथमसमयस्थाः, तथाऽपूर्वकरणे श्रेण्यारोहकास्तत्सप्तमभागप्रथमसमयस्था भवन्ति । भावना त्वेतत्सम्बन्धिन्योघवत् कार्येति । सामायिकच्छेदोपस्थापनीयसंयमद्वये षष्ठादिनवमान्तगुणस्थानचतुष्कस्यैव भावेनाऽत्र षण्णां कर्मणामवक्तव्यबन्धो नास्ति, शेषप्ररूपणा तु मनःपर्यवज्ञानमार्गणावद् विज्ञेयेति । अत्र 'तिण्ह' त्ति दर्शनावरणमोहनीयनाम्नामिति । दुपयाण' मिति भूयस्काराल्पतरबन्धयोरिति ॥४३-४५॥

अथ अज्ञानत्रिके प्राह—

तीसुं अणाणेसुं मिच्छो मोहस्स णइ भूगारं ।
णामस्स भूअगारं अप्पयरं कुणइ अणयरो ॥४६॥

(प्रे०) "तीसु"मित्यादि, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञानमार्गणात्रये आद्यगुणस्थानकद्वयं भवति, तृतीयगुणस्थानके ज्ञानाज्ञानयोर्मिश्रत्वाद् न ज्ञानमार्गणास्वज्ञानमार्गणासु वा

तद्विवक्षा, इत्यतो नात्र दर्शनावरणस्य भूयस्कारात्पतरबन्धयोः सम्भवः। मोहनीयस्य भूयस्कार-बन्धस्य स्वामिनस्तु द्वितीयगुणस्थानकतः प्रथमगुणस्थानकं प्राप्तास्तत्प्रथमसमये वर्तमाना विज्ञेया इति। मोहस्याल्पतरबन्धस्य सत्पदत्वमेव प्रस्तुते नास्ति, अतो न तत्स्वामित्वस्य चिन्त-नमिति। प्रथमद्वितीयगुणस्थानगतानां नाम्नो नानाबन्धस्थानकानां भावेन ते तस्य भूयस्कारा-ल्पतरबन्धयोः परावर्तमानभावेन स्वामिनो भवन्तीति ॥४६॥

अथ संयममार्गणाभेदेषु निजिगदिषुः संयमौघसामायिकच्छेदोपस्थापनीयेषूक्तत्वात् परिहारविशुद्धौ प्राह—

परिहारविसुद्धीए भूओगारस्स णामकम्मस्स ।
अग्णयरो विराणेयो अप्पयरस्स य पमत्तजई ॥४७॥

(प्रे०) "परिहारे"त्यादि, परिहारविशुद्धिमार्गणायां दर्शनावरणमोहनीययोरेकैकस्यैव बन्धस्थानस्य भावेन भूयस्काराल्पतरबन्धाभावान्न तयोः स्वामित्वस्य निरूपणम्। अतो नाम्न एव भूयस्काराल्पतरस्वामित्वस्यैव निरूपणं युक्तमिति तदेवाऽऽह "भूओ" इत्यादिना नामकर्मणो भूयस्कारस्य स्वामिनः षष्ठ-सप्तमगुणस्थानद्वयवर्तिनो भवन्ति, प्रस्तुत उक्तगुणस्थानद्वयस्यैव भावात्। अल्पतरबन्धं तु सप्तमगुणस्थानतः षष्ठगुणस्थानकं प्राप्तः तत्प्रथमसमय एव करोति, भावना त्वोघवत्कार्येति। सूक्ष्मसंपरायमार्गणायां ज्ञानावरणादीनां षण्णामवस्थितबन्धः केवलो भवति, अतस्तदतिरिक्तपदानां स्वामित्वनिरूपणे नावकाशः। देशविरतिमार्गणायां तु "ऽण्णासु अत्थि ससपयाण अण्णयरो" इत्यनेन नाम्नो भूयस्कारबन्धस्य स्वामी मार्गणावर्त्यन्यतमो जीवो भवतीति प्रान्ते दर्शयिष्यते, जिननामबन्धारम्भको देशविरतिमनुष्यो नाम्नो भूयस्कार-बन्धस्य स्वामी भवतीति भावः ॥४७॥

अतः क्रमप्राप्तासंयमादिषु सप्तकर्मसत्कावस्थितवर्जशेषपदत्रयसत्कसम्भवत्पदानां स्वा-मित्वं चिन्तयन्नाह—

अजयअसुहलेसासुं बीअचउत्थाण मिच्छसासाणो ।
भूओगारं कुणए अप्पयरं मीससमत्तो ॥४८॥
णामस्स दोरिण वि पया कुणए मिच्छो य सासणो सम्मो ।
णवरं कुणइ ण सम्मो भूगारं किरहणीलासुं ॥४९॥

(प्रे०) 'अजये'त्यादि, असंयममार्गणायां कृष्णनीलकापोतलेश्यासु' चेति मार्गणाचतुष्के दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां भूयस्काराल्पतरबन्धौ भवतः। अवक्तव्यबन्धस्त्वेकस्याप्यायुर्वर्जमूल-

कर्मणो नास्ति, अतः कर्मत्रयसत्कपदद्वयस्यैव स्वामित्वं दर्शनीयम्। अत्र मार्गणाचतुष्क आद्यानि चत्वार्येव गुणस्थानकानि भवन्तीत्यवधार्यम् । तत्र दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो मिथ्यादृष्टयः सास्वादनिनश्च भवन्ति, तृतीयचतुर्थगुणस्थानतो यथासम्भव प्रथमे द्वितीये वा गुणस्थानक आगतास्तत्प्रथमसमये भूयस्कारबन्धस्य स्वामितया प्राप्यन्ते, मोहनीयस्य तु द्वितीयगुणस्थानकतः प्रथमगुणस्थानकं प्राप्ता अपि तत्प्रथमसमये भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो भवन्ति। दर्शनावरणमोहनीययोरल्पतरबन्धं तु प्रथमगुणस्थानात् तृतीयं चतुर्थं वा गुणस्थानकं प्राप्तास्तत्प्रथमसमये निर्वर्तयन्ति ।

नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धौ प्रथमद्वितीयचतुर्थगुणस्थानगताः कुर्वन्ति, तत्र प्रथमे द्वितीये वा गुणस्थानकेऽनेकबन्धस्थानानां भावेन परावर्तमानबन्धेन तौ कुर्वन्ति । चतुर्थगुणस्थाने तु परावर्तमानबन्धो नास्ति, अतस्तत्र भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्विशेषभावना कार्या, तद्यथा—प्रस्तुतमार्गणाचतुष्के देवनैरयिकेभ्यः सम्यग्दृष्टयो यदा ससम्यक्त्वं मनुष्येषूत्पद्यन्ते तदा मनुष्यभवप्रथमसमयेऽल्पतरबन्धो भवति, एकोनत्रिंशद्बन्धतोऽष्टाविंशतिबन्धस्थानस्य लाभात् , असंयमे देव-नारकेभ्यः कापोतलेश्यायां च नारकेभ्य आगतापेक्षया जिननामबन्धकानां त्रिंशद्बन्धस्थानत एकोनत्रिंशद्बन्धस्थाने गमनाच्च ।

कार्मग्रन्थिकमतेन तिर्यग्मनुष्या देवेषु सम्यक्त्वेन सह वैमानिकेष्वेवोत्पद्यन्ते, तत्र चाशुभलेश्याभावाद् मनुष्यतिर्यग्भ्यो देवेषूत्पन्नसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया नाम्नो भूयस्कारबन्धो न प्राप्यते किन्तु क्षायिकसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया कृतकरणक्षयोपशमसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया च मनुष्येभ्य आद्यनरकत्रय उत्पद्यमानानामष्टाविंशतिबन्धादेकोनत्रिंशद्बन्धं प्राप्तानां यद्वा जिननामसहितमेकोनत्रिंशद्बन्धकात् त्रिंशद्बन्धं प्राप्ताना भूयस्कारबन्धो भवति, ते भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो भवन्ति, किञ्चाद्यनरकत्रये ये प्राग्मनुष्यभवे जिननाम बद्ध्वा क्षयोपशमसम्यक्त्वतः प्राग्बद्धनरकायुर्वशतो मिथ्यात्वं प्राप्य आद्यनरकत्रय उत्पन्नास्तत्र च पर्याप्ति समाप्यान्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमवश्यमेव ते सम्यक्त्वमवाप्नुवन्ति तदा तत्प्रथमसमयेऽपि भूयस्कारबन्धं कुर्वन्ति, एतादृशा नारकाः कापोतलेश्यावन्त एव भवन्ति, न पुनः नीललेश्यावन्तः कृष्णलेश्यावन्तश्चेति कृष्णनीललेश्ययोः कार्मग्रन्थिकाभिप्रायेण सम्यग्दृष्टयो भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो नैव भवन्ति ।

सिद्धान्ताभिप्रायेण तु सम्यक्त्वेन सह भवनपत्यादिषूत्पादादशुभलेश्यात्रयेऽपि सम्यग्दृष्टयो भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो भवन्ति । असंयमे कापोतलेश्यायां चोभयमतेऽपि भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो भवन्ति, अतो मूलकृता नीलकृष्णयोरपवाद उक्त इति ।

अथ तेजःपद्मलेश्याद्वये प्रस्तुतस्वामित्वं दर्शयन्नाह—

सासायणादेसंता कमसो बीअतुरिआणा तेउदुगे ।
भूगारं मीसाई कुणए दोराहं वि अप्पयरं ॥५०॥
णामस्स भूयगारं अणाणयरो कुणइ मीसवज्जो उ ।
अप्पयरं मिच्छत्ती सासणसम्मो पमत्तजई ॥५१॥

(प्रे०) "सासायणे"त्यादि, तेजोलेश्यापद्मलेश्ययोरवस्थितबन्धस्य स्वामिनो निरूपितत्वादवक्तव्यबन्धस्य चायुष्कवर्जानामत्राभावाद् दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां भूयस्कारात्पतरबन्धयोः स्वामिनो वक्तव्याः । प्रस्तुतमार्गणाद्वयं सप्तमगुणस्थानं यावदेव भवति, एतदवधार्य स्वामित्वं वाच्यम् । तद्यथा—दर्शनावरणे भूयस्कारं सास्वादनान्तगुणस्थानद्वयगताः कुर्वन्ति, नेतरे, अल्पतरबन्धं तु तृतीयादिसप्तमान्तगुणस्थानस्थाः कुर्वन्ति, भावना तु सुगमा, ओघानुसारतो नवप्रकृतिरूपं षट्प्रकृत्यात्मकं चेति बन्धस्थानद्वयमवधार्य कार्येति ।

मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धं देशविरतगुणस्थानान्ता आद्यपञ्चगुणस्थानस्थिताः कुर्वन्ति, एतयोर्जघन्यबन्धस्थानं नवप्रकृत्यात्मकमतस्त्रयोदशादिबन्धस्थानेषु मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धो भवति, तानि त्रयोदशान्तानि बन्धस्थानानि देशविरतान्तेष्वेव भवन्ति, अतो देशविरतान्ता एव भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो भवन्ति । भावना त्वोघानुसारेण यथासम्भवं कार्येति । अल्पतरबन्धस्य स्वामिनस्तृतीयादिसप्तमान्तगुणस्थानगता ओघवद्विज्ञेया इति ।

नाम्नो भूयस्कारबन्धं तृतीयगुणस्थानगतान् विहाय प्रथमादिसप्तमान्तषड्गुणस्थानगताः कुर्वन्ति, भावना त्वोघवदेव कार्या, केवलमेकस्य बन्धस्थानात् श्रेणौ कालं कृत्वा देवेषूत्पन्ना एकोनत्रिंशतं त्रिंशतं वा बध्नन्तोऽत्र भूयस्कारबन्धस्य स्वामित्वेन न भवन्तीति हृदयम् । अल्पतरबन्धस्य स्वामिनः प्रथमद्वितीयचतुर्थषष्ठगुणस्थानगता एव भवन्ति, न पुनः तृतीयपञ्चमसप्तमगुणस्थानगताः, भावना तु मार्गणाप्रायोग्यगुणस्थानकान्यवलम्ब्यौघवत् कार्येति । शुक्ललेश्यायां भव्यमार्गणायां च मनुष्यौघादिना सह प्रस्तुतस्वामित्वं सातिदेशं सापवादं च दर्शितम् । अभव्यमार्गणायां "अण्णासु" मित्यादिना शेषमार्गणाभिस्समं प्रस्तुतस्वामित्वं प्रान्ते दर्शयिष्यति ग्रन्थकारः, तच्चैवम्—आयुर्वर्जानामवक्तव्यबन्धाभावादवस्थितबन्धस्य स्वामिनो दर्शितत्वाद् दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्कारात्पतरबन्धद्वयाभावाच्च शेषस्य नाम्नो भूयस्कारात्पतरबन्धयोः स्वामिनोऽन्यतमा मार्गणावर्तिनो बन्धस्थानानां परावर्तमानादिनाऽधिकप्रकृतियुक्तं बध्नन्तो भूयस्कारबन्धं न्यूनप्रकृतियुक्तं बध्नन्तोऽल्पतरबन्धं विदधति, ते तत्तत्पदस्य स्वामिनो भवन्तीतिभावः । सम्यक्त्वौघे उपशमे क्षायिकसम्यक्त्वे च मतिज्ञानादिमार्गणाभिः सह बन्धस्थानसत्कभूयस्कारादिपदानां स्वामित्वं निरूपितम् ॥५०-५१॥

कर्मणो नास्ति, अतः कर्मत्रयसत्कपदद्वयस्यैव स्वामित्वं दर्शनीयम्। अत्र मार्गणाचतुष्क आद्यानि चत्वार्येव गुणस्थानकानि भवन्तीत्यवधार्यम् । तत्र दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो मिथ्यादृष्टयः सास्वादनिनश्च भवन्ति, तृतीयचतुर्थगुणस्थानतो यथासम्भव प्रथमे द्वितीये वा गुणस्थानक आगतास्तत्प्रथमसमये भूयस्कारबन्धस्य स्वामितया प्राप्यन्ते, मोहनीयस्य तु द्वितीयगुणस्थानकतः प्रथमगुणस्थानकं प्राप्ता अपि तत्प्रथमसमये भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो भवन्ति। दर्शनावरणमोहनीययोरल्पतरबन्धं तु प्रथमगुणस्थानात् तृतीयं चतुर्थं वा गुणस्थानकं प्राप्तास्तत्प्रथमसमये निर्वर्तयन्ति ।

नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धौ प्रथमद्वितीयचतुर्थगुणस्थानगताः कुर्वन्ति, तत्र प्रथमे द्वितीये वा गुणस्थानकेऽनेकबन्धस्थानानां भावेन परावर्तमानबन्धेन तौ कुर्वन्ति । चतुर्थगुणस्थाने तु परावर्तमानबन्धो नास्ति, अतस्तत्र भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्विशेषभावना कार्या, तद्यथा—प्रस्तुत-मार्गणाचतुष्के देवनैरयिकेभ्यः सम्यग्दृष्टयो यदा ससम्यक्त्वं मनुष्येषूत्पद्यन्ते तदा मनुष्यभव-प्रथमसमयेऽल्पतरबन्धो भवति, एकोनत्रिंशद्बन्धतोऽष्टाविंशतिबन्धस्थानस्य लाभात्, असंयमे देव-नारकेभ्यः कापोतलेश्यायां च नारकेभ्य आगतापेक्षया जिननामबन्धकानां त्रिंशद्बन्ध-स्थानत एकोनत्रिंशद्बन्धस्थाने गमनाच्च ।

कार्मग्रन्थिकमतेन तिर्यग्मनुष्या देवेषु सम्यक्त्वेन सह वैमानिकेष्वेवोत्पद्यन्ते, तत्र चाशुभ-लेश्याभावाद् मनुष्यतिर्यग्भ्यो देवेषूत्पन्नसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया नाम्नो भूयस्कारबन्धो न प्राप्यते किन्तु क्षायिकसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया कृतकरणक्षयोपशमसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया च मनुष्येभ्य आद्यनरकत्रय उत्पद्यमानानामष्टाविंशतिबन्धादेकोनत्रिंशद्बन्धं प्राप्तानां यद्वा जिननामसहितमेकोनत्रिंशद्बन्ध-कात् त्रिंशद्बन्धं प्राप्तानां भूयस्कारबन्धो भवति, ते भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो भवन्ति, किञ्चा-द्यनरकत्रये ये प्राग्मनुष्यभवे जिननाम बद्ध्वा क्षयोपशमसम्यक्त्वतः प्राग्बद्धनरकायुर्वशतो मिथ्यात्वं प्राप्य आद्यनरकत्रय उत्पन्नास्तत्र च पर्याप्तिं समाप्यान्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमवश्यमेव ते सम्यक्त्वमवाप्नुवन्ति तदा तत्प्रथमसमयेऽपि भूयस्कारबन्धं कुर्वन्ति, एतादृशा नारकाः कापोत-लेश्यावन्त एव भवन्ति, न पुनः नीललेश्यावन्तः कृष्णलेश्यावन्तश्चेति कृष्णनीललेश्ययोः कार्मग्रन्थिकाभिप्रायेण सम्यग्दृष्टयो भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो नैव भवन्ति ।

सिद्धान्ताभिप्रायेण तु सम्यक्त्वेन सह भवनपत्यादिषूत्पादादशुभलेश्यात्रयेऽपि सम्यग्दृ-ष्टयो भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो भवन्ति । असंयमे कापोतलेश्यायां चोभयमतेऽपि सम्यग्दृष्टयो भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो भवन्ति, अतो मूलकृता नीलकृष्णयोरपवाद उक्त इति ॥४८-४९॥

अथ तेजःपद्मलेश्याद्वये प्रस्तुतस्वामित्वं दर्शयन्नाह—

सासायणादेसंता कमसो बीअतुरिआण तेउदुगे ।
भूगारं मीसाई कुणए दोराहं वि अप्पयरं ॥५०॥
णामस्स भूयगारं अणणयरो कुणइ मीसवज्जो उ ।
अप्पयरं मिच्छत्ती सासणसम्मो पमत्तजई ॥५१॥

(प्रे०) "सासायणे"त्यादि, तेजोलेश्यापद्मलेश्ययोरवस्थितबन्धस्य स्वामिनो निरूपितत्वादवक्तव्यबन्धस्य चायुष्कवर्जानामत्राभावाद् दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां भूयस्काराल्पतरबन्धयोः स्वामिनो वक्तव्याः । प्रस्तुतमार्गणाद्वयं सप्तमगुणस्थानं यावदेव भवति, एतदवधार्य स्वामित्वं वाच्यम् । तद्यथा--दर्शनावरणे भूयस्कारं सास्वादनान्तगुणस्थानद्वयगताः कुर्वन्ति, नेतरे, अल्पतरबन्धं तु तृतीयादिसप्तमान्तगुणस्थानस्थाः कुर्वन्ति, भावना तु सुगमा, ओघानुसारतो नवप्रकृतिरूपं षट्प्रकृत्यात्मकं चेति बन्धस्थानद्वयमवधार्य कार्येति ।

मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धं देशविरतगुणस्थानान्ता आद्यपञ्चगुणस्थानस्थिताः कुर्वन्ति, एतयोर्जघन्यबन्धस्थानं नवप्रकृत्यात्मकमतस्त्रयोदशादिबन्धस्थानेषु मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धो भवति, तानि त्रयोदशान्तानि बन्धस्थानानि देशविरतान्तेष्वेव भवन्ति, अतो देशविरतान्ता एव भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो भवन्ति । भावना त्वोघानुसारेण यथासम्भवं कार्येति । अल्पतरबन्धस्य स्वामिनस्तृतीयादिसप्तमान्तगुणस्थानगता ओघवद्विज्ञेया इति ।

नाम्नो भूयस्कारबन्धं तृतीयगुणस्थानगतान् विहाय प्रथमादिसप्तमान्तषड्गुणस्थानगताः कुर्वन्ति, भावना त्वोघवदेव कार्या, केवलमेकस्य बन्धस्थानात् श्रेणौ कालं कृत्वा देवेषूत्पन्ना एकोनत्रिंशतं त्रिंशतं वा बध्नन्तोऽत्र भूयस्कारबन्धस्य स्वामित्वेन न भवन्तीति हृदयम् । अल्पतरबन्धस्य स्वामिनः प्रथमद्वितीयचतुर्थषष्ठगुणस्थानगता एव भवन्ति, न पुनः तृतीयपञ्चमसप्तमगुणस्थानगताः, भावना तु मार्गणाप्रायोग्यगुणस्थानकान्यवलम्ब्यौघवत् कार्येति । शुक्ललेश्यायां भव्यमार्गणायां च मनुष्यौघादिना सह प्रस्तुतस्वामित्वं सातिदेशं सापवादं च दर्शितम् । अभव्यमार्गणायां "अण्णासु" मित्यादिना शेषमार्गणाभिस्समं प्रस्तुतस्वामित्वं प्रान्ते दर्शयिष्यति ग्रन्थकारः, तच्चैवम्--आयुर्वर्जानामवक्तव्यबन्धाभावादवस्थितबन्धस्य स्वामिनो दर्शितत्वाद् दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धद्वयाभावाच्च शेषस्य नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोः स्वामिनोऽन्यतमा मार्गणावर्तिनो बन्धस्थानानां परावर्तमानादिनाऽधिकप्रकृतियुक्तं बध्नन्तो भूयस्कारबन्धं न्यूनप्रकृतियुक्तं बध्नन्तोऽल्पतरबन्धं विदधति, ते तत्तत्पदस्य स्वामिनो भवन्तीतिभावः । सम्यक्त्वौघे उपशमे क्षायिकसम्यक्त्वे च मतिज्ञानादिमार्गणाभिः सह बन्धस्थानसत्कभूयस्कारादिपदानां स्वामित्वं निरूपितम् ॥५०-५१॥

अथ क्रमप्राप्तं क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां मोहनीयनाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोः स्वामित्वं दर्शयन्नाह—

मोहस्स णाइ सम्मो देसजई वेअगम्मि भूगारं ।
अप्पयरस्स हवेज्जा देसपमत्तअपमत्तजई ॥५२॥
णामस्स भूअगारं अरणयरो कुणइ अप्पयरं ।
सम्मपमत्तो................................ ।

(प्रे०) "मोहस्से"त्यादि क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धौ न स्तः; षट्प्रकृत्यात्मकस्यैकस्यैव बन्धस्थानस्य भावात् । मोहनीयस्य चतुर्थपञ्चमगुणस्थानगता भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो भवन्ति, प्रस्तुते चतुर्थादीनि अप्रमत्तसंयतपर्यवसानानि चत्वारि गुणस्थानकानि भवन्ति, तत्र षष्ठसप्तमगुणस्थानके नवप्रकृत्यात्मकमार्गणाप्रायोग्यजघन्यबन्धस्थानस्य भावान्नोक्तगुणस्थानद्वयगता भूयस्कारबन्धस्वामिनः । शेषभावना तु सुगमा । अल्पतरबन्धस्य स्वामिनः पञ्चमादिगुणस्थानत्रयगता भवन्ति, न पुनश्चतुर्थगुणस्थानगताः, तत्र मार्गणाप्रायोग्यज्येष्ठबन्धस्थानस्य सप्तदशप्रकृत्यात्मकस्य भावात् ।

नाम्नो भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनश्चतुर्थादिसप्तमान्तगुणस्थानवर्तिनो भवन्ति, एतच्च मूलकृता 'अण्णयरो कुणइ' इत्यनेन कथितम्, अत्र मार्गणागतगुणस्थानेभ्यो वर्जनीयगुणस्थानाभावेन मार्गणाप्रायोग्यान्यतमगुणस्थानगतः करोतीति भावार्थः । अन्यतमशब्दप्रयोगस्थान अन्यतरशब्दप्रयोगस्तु प्राकृतवशात् । अयम्भावः-यो जिननामबन्धमारभते यो वाऽऽहारकद्विकबन्धम्, अथवा देवप्रायोग्यबन्धाद् भवपरावृत्त्या मनुष्यप्रायोग्यबन्ध विदधाति स प्रस्तुते भूयस्कारबन्धस्वामी भवति । अल्पतरबन्धस्तु चतुर्थषष्ठगुणस्थानद्वयगतानां भवति, तत्र सप्तमगुणस्थानकतः षष्ठगुणस्थानकं प्राप्तो यः तत्प्रथमसमय आहारकद्विकबन्धाद्विरमति स षष्ठगुणस्थानकेऽल्पतरबन्धस्य स्वामी भवति, सप्तमगुणस्थानकतः परिणामह्रासेन पञ्चमादिगुणेष्ववतारो न भवति, अतो न तेऽल्पतरबन्धस्य स्वामिन इति । चतुर्थगुणस्थानगतास्तु ये प्राक्सप्तमगुणस्थानगता आहारकद्विकं बध्नन्तः कालं कृत्वा दिवि समुत्पन्नास्ते मनुष्यप्रायोग्यमेकोनत्रिंशतं त्रिंशतं वा बध्नन्तोऽल्पतरबन्धं विदधति । ये च देवनैरयिकेभ्यो मनुष्येषु प्रस्तुतमार्गणामनुगता उत्पद्यन्ते तेऽपि मनुष्यप्रायोग्यबन्धाद्विरम्य देवप्रायोग्यं बन्धमारभमाणा अल्पतरबन्धं कुर्वन्तीति । सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायां सास्वादने मिथ्यात्वेऽसंज्ञिनि च 'ऽण्णासु' मित्यादिना देशोनगाथार्धेन वक्ष्यति । संज्ञिमार्गणायामाहारकानाहारकमार्गणाद्वये च प्राक् स्वामित्वं निरूपितम् ॥५२॥

अथ मूलकृता यासु मार्गणासु पृथग् स्वामित्वं न दर्शितं तासु तद्दर्श्यते–

......ऽण्णासुं अत्थि सत्तण्हाण अण्णयरो ॥५३॥ [उपगीतिः]

(प्रे०) "अण्णासु" अत्र स्वामित्वद्वारे मूलग्रन्थेनानुक्तासु–अपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियापर्याप्तमनुष्यपञ्चानुत्तर–सप्तैकेन्द्रिय– नवविकलाक्षा–ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय– पृथ्व्यादिपञ्चकायसत्कैकोनचत्वारिंशद्भेदाऽपर्याप्तत्रसकायाऽऽहारकाऽऽहारकमिश्रा–ऽकषाय–केवलद्विक–यथाख्यात –सूक्ष्मसम्पराय– देशविरतिमार्गणाऽभव्यमिश्रसास्वादन–मिथ्यात्वाऽसंज्ञि–मार्गणाः सप्तसप्ततिः, एताभ्योऽकषाय–केवलद्विक–यथाख्यातमार्गणासु केवलं वेदनीयसत्कावस्थितबन्धस्य भावात्, सूक्ष्मसम्पराये ज्ञानावरणादिषण्णां पञ्चानुत्तरे सम्यग्मिथ्यात्वे च सप्तानां केवलमेकस्यैवावस्थितपदस्य सत्त्वात् तत्स्वामिनः प्रागेव "सामित्ते सत्तण्ह अवट्ठिअस्सऽत्थि मूलपयडिव्व" इत्यनेन निरूपिताः । शेषासु षट्षष्टिमार्गणासु सप्तानां ज्ञानावरणादिकर्मणामवस्थितबन्धस्वामित्वं प्रागेव निरूपितम् । एतासु सप्तानामवक्तव्यबन्धो नास्ति । तथा दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धावपि न स्तः । केवलं नाम्न एव भूयस्काराल्पतरबन्धस्वामिनौ वाच्यौ, तत्राऽप्याहारकाहारकमिश्रदेशविरतिमार्गणासु तिसृषु जिननामबन्धप्रारम्भे नाम्नो भूयस्कारबन्धः प्राप्यते, ते भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनो भवन्तीति भावः । अल्पतरबन्धस्तु उक्तमार्गणात्रये नास्ति । शेषासु त्रिषष्टिमार्गणासु नाम्नो नानाबन्धस्थानानामेकजीवापेक्षयाऽपि परावर्तमानेन बन्धप्रायोग्यत्वात् ते न्यूनाधिकं वा बन्धस्थानं बध्नन्तो यथासम्भवमल्पतरबन्धस्य भूयस्कारबन्धस्य च स्वामिनो भवन्ति । नैतासु स्वामित्वनिरूपणे कश्चिद्गुणभेदादिविशिष्टनिरूपणमस्तीति भावः ॥५३॥

॥ श्री प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिबन्धे तृतीये
भूयस्काराधिकारे स्वस्थाननिरूपणायां द्वितीयं
स्वामित्वद्वारं समाप्तम् ॥

प्रकृतिबन्धे स्वस्थाने भूयस्कारादिस्वामिनां यन्त्रम्...

मार्गणाङ्क०	मार्गणानामानि	कर्माणि	भूयस्कारस्वामिनः	अल्पतरस्वामिनः	अवस्थितस्वामिनः	अवक्तव्यस्वामिनः
१०	पञ्चेन्द्रिय-(२)त्रस (१) काययोगौघ-चक्षुरचक्षु-र्भव्यसंज्ञ्याहारकेषु ओघतश्च	ज्ञाना-गोत्र-अन्तराय०	०	०	दशमान्तगुणस्थाः	(१) अवरोहका दशम-गुणप्रथमसमयस्था॰ (२) उपशान्तमोहे कालं प्राप्य देवभवप्रथम-समयस्था
		दर्शना०	१-२-४ ८ गुणस्थाः	३-४-५-६-७-८ गुणस्थाः	,, ,,	उपरोक्त द्विविधस्वामिनः
		मोह०	१-२-३-४-५-८ ९ गुणस्था	३-४-५-६-७-९ गुणस्थाः	नवमान्तगुणस्था॰	(१) अवरोहका नवमे प्रथमसमयस्थाः (२) अबन्धात् कालं प्राप्य देवभवप्रथमसमयस्थाः
		नाम०	१ २-४-५ ६ ७-८ गुणस्थाः	१-२-४-६-८ गुणस्थाः	दशमान्तगुणस्था	ज्ञानावरणवत्
		आयुष॰	०	०	१-२-४-५-६-७ गुणस्था	१-२-४-५-६-गुणस्था. स्वबन्धप्रथमसमये
		वेदनीयस्य	०	०	प्रथमादित्रयोदशगुण स्थानपर्यन्ता जीवाः	०
५	नरकौघा-ऽऽद्यनरकत्रय-वैक्रियकायेषु	ज्ञानावरणीया-ऽन्तराय-गोत्रवेदनीयानाम्	०	०	चतुर्थगुणान्तवर्तिन	०
		दर्शनावरणस्य	द्वितीयान्तगुणस्था॰	तृतीयचतुर्थगुणस्था॰	,,	०
		मोहनीयस्य	,,	,,	,,	०
		नाम्नः	तृतीयवर्जितचतुर्थान्त-गुणस्था.	प्रथमद्वितीयगुणस्था॰	,,	०
		आयुष.	०	०	तृतीयवर्जित चतुर्थान्त-गुणस्था॰	तृतीयवर्जितचतुर्थान्त-गुणस्था

प्रकृतिबन्धे स्वस्थाने भूयस्कारादिस्वामिनां यन्त्रम्

मार्गणाङ्क.	मार्गणानामानि	कर्माणि	भूयस्कारस्वामिनः	अल्पतरस्वामिन.	अवस्थितस्वामिन	अवक्तव्यस्वामिन.
१५	चतुर्थादिषष्ठान्तनरक-देवौघ-सहस्रारान्तदेव-(११) भेदेषु	ज्ञाना० अंत० गो०-वेदनीयानाम्	०	०	चतुर्थान्तगुणस्था	०
		दर्श० मोहनीययो	द्वितीयान्तगुणस्था	तृतीयचतुर्थगुणस्था.	,,	०
		नाम्न	,,	द्वितीयान्तगुणस्था.	,,	०
		आयुष.	०	०	तृतीयवर्जितचतुर्थान्त-गुणस्था.	तृतीयवर्जितचतुर्थान्त-गुणस्था
१	सप्तमनरके	ज्ञाना० अन्त० गो०-वेदनीयानाम्	०	०	चतुर्थान्तगुणस्था	०
		दर्शना० मोहनीययो.	प्रथमद्वितीयगुणस्थाः	तृतीयचतुर्थगुणस्था।	,,	०
		नाम्नः	,,	प्रथमद्वितीयगुणस्थाः	,,	०
		आयुषः	०		प्रथमगुणस्थाः	प्रथमगुणस्थाः
४	तिर्यंगत्योघत्रिपञ्चे-न्द्रियतिर्यक्षु (३)	ज्ञानावरणादिचतुष्कस्य	०	०	पञ्चमान्तगुणस्था	०
		दर्शनावरणीयस्य	आद्यद्वयगुणस्थाः	तृतीयचतुर्थपञ्चम-गुणस्था.	,,	०
		मोहनीयस्य	चतुर्थान्तगुणस्थाः	,,	,,	०
		नाम्नः	आद्यद्वयगुणस्थाः	आद्यद्वयगुणस्था.	,,	०
		आयुषः	०	०	तृतीयवर्जितपञ्चमान्त-गुणस्था	तृतीयवर्जितपञ्चमान्त-गुणस्थाः

प्रकृतिबन्धे स्वस्थाने भूयस्कारादिस्वामिनां यन्त्रम्...

मार्गणाङ्क०	मार्गणानामानि	कर्माणि	भूयस्कारस्वामिनः	अल्पतरस्वामिनः	अवस्थितस्वामिनः	अवक्तव्यस्वामिनः
१०	पञ्चेन्द्रिय०(२)त्रस (२) काययोगौघ-चक्षुरचक्षु-भव्यसंज्ञ्या-हारकेषु ओघवत्त्र	ज्ञाना-गोत्र-अन्तराय०	०	०	दशमान्तगुणस्थाः	(१) अवरोहका दशम-गुणप्रथमसमयस्थाः (२) उपशान्तमोहे कालं प्राप्य देवभवप्रथम-समयस्था.
		दर्शना०	१-२-४ ८ गुणस्थाः	३-४-५-६-७-८ गुणस्था.	,, ,,	उपरोक्त द्विविधस्वामिनः
		मोह०	१-२-३-४-५-८ ९ गुणस्था	३-४-५-६-७-९ गुणस्थाः	नवमान्तगुणस्था'	(१) अवरोहका नवमे प्रथमसमयस्था' (२) अबन्धात् कालं प्राप्य देवभवप्रथमसमयस्थाः
		नाम०	१ २-४-५ ६ ७-८ गुणस्थाः	१-२-४-६-८ गुणस्थाः	दशमान्तगुणस्था	ज्ञानावरणवत्
		आयुष'	०	०	१-२-४-५-६-७ गुणस्था'	१-२-४-५-६ गुणस्था स्वबन्धप्रथमसमये
५	नरकौघा-ऽऽद्यनरकत्रय-वैक्रियकायेषु	वेदनीयस्य	०	०	प्रथमादित्रयोदशगुण-स्थानपर्यन्ता जीवाः	०
		ज्ञानावरणीयाऽन्तराय-गोत्रवेदनीयानाम्	०	०	चतुर्थगुणान्तवर्तिन'	०
		दर्शनावरणस्य	द्वितीयान्तगुणस्थाः	तृतीयचतुर्थगुणस्था'	,,	०
		मोहनीयस्य	,,	,,	,,	०
		नाम्नः	तृतीयवर्जितचतुर्थान्त-गुणस्था.	प्रथमद्वितीयगुणस्था.	,,	०
		आयुष.	०	०	तृतीयवर्जितचतुर्थान्त-गुणस्थाः	तृतीयवर्जितचतुर्थान्त-गुणस्था.

प्रकृतिबन्धे स्वस्थाने भूयस्कारादिस्वामिनां यन्त्रम्

मार्ग-णाङ्क.	मार्गणानामानि	कर्माणि	भूयस्कारस्वामिनः	अल्पतरस्वामिनः	अवस्थितस्वामिन.	अवक्तव्यस्वामिन'
१४	चतुर्थादिषष्ठान्तनरक-देवौघ-सहस्रारान्तदेव-(११) भेदेषु	ज्ञाना० अंत० गो०-वेदनीयानाम्	०	०	चतुर्थान्तगुणस्था	०
		दर्शना० मोहनीययो	द्वितीयान्तगुणस्था	तृतीयचतुर्थगुणस्था' द्वितीयान्तगुणस्थाः	,, ,,	० ०
		नाम्नः	,,	०	तृतीयवर्जितचतुर्थान्त-गुणस्था	तृतीयवर्जितचतुर्थान्त-गुणस्था'
		आयुषः	०			
१	सप्तमनरके	ज्ञाना० अंत० गो०-वेदनीयानाम्	०	०	चतुर्थान्तगुणस्था	०
		दर्शना० मोहनीययो'	प्रथमद्वितीयगुणस्थाः	तृतीयचतुर्थगुणस्था। प्रथमद्वितीयगुणस्थाः	,, ,,	० ०
		नाम्नः	,,		प्रथमगुणस्था'	प्रथमगुणस्थाः
		आयुषः	०			
४	तिर्यंगत्योघत्रिपञ्चे-न्द्रियतिर्यक्षु (३)	ज्ञानावरणादिचतुष्कस्य	०	०	पञ्चमान्तगुणस्था	०
		दर्शनावरणीयस्य	आद्यद्वयगुणस्थाः	तृतीयचतुर्थपञ्चम-गुणस्थाः	,,	०
		मोहनीयस्य	चतुर्थान्तगुणस्थाः	,,	,,	०
		नाम्नः	आद्यद्वयगुणस्थाः	आद्यद्वयगुणस्था.	,,	०
		आयुषः	०	०	तृतीयवर्जितपञ्चमान्त-गुणस्थाः	तृतीयवर्जितपञ्चमान्त-गुणस्था.

मार्गणाङ्क	मार्गणानामानि	कर्माणि	भूयस्कारस्वामिनः	अल्पतरस्वामिनः	अवस्थितस्वामिन	अवक्तव्यस्वामिनः
४	ज्ञानत्रिकेऽवधिदर्शने च	वेदनीयस्य	०	०	चतुर्थादिद्वादशान्त-गुणस्था	०
		ज्ञाना० अन्त० गोत्राणाम्	०	०	चतुर्थादिदशमान्त-गुणस्थाः	चतुर्थदशमगुणस्थाः
		दर्शनावरणीयस्य	अष्टमचतुर्थगुणस्थाः	अष्टमगुणस्थाः	,,	चतुर्थदशमगुणस्था
		मोहनीयस्य	चतुर्थपञ्चमाऽष्टम-नवमगुणस्था॰	अष्टमवर्जितपञ्चमा-दिनवमान्तगुणस्थाः	चतुर्थादिनवमान्त-गुणस्था	चतुर्थनवमगुणस्था
		नाम्नः	चतुर्थाद्यष्टमान्तगुणस्थाः	चतुर्थषष्ठाऽष्टमगुणस्था.	चतुर्थादिदशमान्तगुण०	चतुर्थदशमगुणस्था
		आयुष	०	०	चतुर्थादिसप्तमान्त-गुणस्था॰	चतुर्थादिषष्ठान्तगुण-स्था
२	सम्यक्त्वोप-क्षायिक-सम्यक्त्वयो॰	वेदनीयस्य	०	०	चतुर्थादित्रयोदशान्त-गुणस्था	०
		ज्ञाना० अन्त० गोत्राणाम्	०	०	चतुर्थादिदशमान्त-गुणस्था॰	चतुर्थदशम-गुणस्थानस्थाः
		दर्शनावरणीयस्य	चतुर्थाऽष्टमगुणस्था	अष्टमगुणस्थाः	चतुर्थादिदशमान्त-गुणस्थाः	,,
		नाम्नः	चतुर्थाद्यष्टमान्तगुणस्था.	चतुर्थषष्ठाऽष्टमगुणस्था	,,	,,
		मोहनीयस्य	चतुर्थपञ्चमाऽष्टमनवम-गुणस्थाः	पञ्चमषष्ठसप्तमनवम-गुणस्था॰	चतुर्थादिनवमान्त-गुणस्था॰	चतुर्थनवमगुणस्था
		आयुषः	०	०	चतुर्थादिसप्तमान्त-गुणस्थाः	चतुर्थादिषष्ठान्तगुण-स्था

प्रकृतिबन्धे स्वस्थाने भूयस्कारादिस्वामिनां यन्त्रम्

मार्गणाङ्क	मार्गणानामानि	कर्मनामानि	भूयस्कारस्वामिन	अल्पतरस्वामिन	अवस्थितस्वामिनः	अवक्तव्यस्वामिन
१	उपशमसम्यक्त्वे	वेदनीयस्य	०	०	चतुर्थादेकादशान्त-गुणस्था	०
		ज्ञाना०अन्त०गोत्राणाम्	०	०	चतुर्थादिदशमान्त-गुणस्थाः	चतुर्थदशमगुणस्था
		दर्शनावरणीयस्य	चतुर्थाऽष्टमगुणस्थाः	अष्टमगुणस्थाः	,,	,,
		मोहनीयस्य	चतुर्थपञ्चमाऽष्टम-नवमगुणस्था	पञ्चमषष्ठसप्तमनवम-गुणस्था	चतुर्थादिनवमान्तगुण-स्था.	चतुर्थनवमगुणस्थाः
		नाम्न	चतुर्थाद्यष्टमान्तगुण-स्थाः	चतुर्थषष्ठाऽष्टमगुण-स्था.	चतुर्थादिदशमान्त-गुणस्थाः	चतुर्थदशमगुणस्थाः
२	मनःपर्यवज्ञाने सयमौघे च	वेदनीयस्य	०	०	षष्ठादिद्वादशान्त-गुणस्था.	०
		ज्ञाना० अन्त०गोत्राणाम्	०	०	षष्ठादिदशमान्तगुणस्था.	दशमगुणस्था.
		दर्शनावरणीयस्य	अष्टमगुणस्थाः	अष्टमगुणस्थाः	,,	,,
		मोहनीयस्य	अष्टमनवमगुणस्था	नवमगुणस्थाः	षष्ठादिनवमान्त-गुणस्थाः	नवमगुणस्था
		नाम्न.	षष्ठसप्तमाऽष्टम-गुणस्था.	षष्ठाऽष्टमगुणस्था	षष्ठादिदशमान्त-गुणस्था	दशमगुणस्थाः
		आयुषः	०	०	षष्ठसप्तमगुणस्था	षष्ठगुणस्थाः
२	सामायिकच्छेदोपस्थापनीययो	ज्ञाना०अन्त वेद०गोत्रा०	०	०	षष्ठादिनवमान्तगुणस्थाः	०
		दर्शनावरणीयस्य	अष्टमगुणस्था	अष्टमगुणस्थाः	,,	०
		मोहनीयस्य	अष्टमनवमगुणस्था	नवमगुणस्थाः	,,	०
		नाम्नः	षष्ठसप्तमाऽष्टमगुणस्थाः	षष्ठाऽष्टमगुणस्थाः	,,	०
		आयुषः	०	०	षष्ठसप्तमगुणस्थाः	षष्ठगुणस्था

मार्गणाङ्क.	मार्गणानामानि	कर्माणि	भूयस्कारस्वामिन	अल्पतरस्वामिनः	अवस्थितस्वामिन'	अवक्तव्यस्वामिन
३	अज्ञानत्रिके	ज्ञाना० अन्त० दर्श० वेदनीयगोत्राणाम्	०	०	प्रथमद्वितीयगुणस्था.	०
		मोहनीयस्य	प्रथमगुणस्थानस्थाः	०	,,	०
		नाम्न	प्रथमद्वितीयगुणस्था.	प्रथमद्वितीयगुणस्था	,,	०
		आयुष'	०	०	,,	प्रथमद्वितीयगुणस्था.
१	परिहारविशुद्धौ	ज्ञाना० अन्त० वेदनीय-गोत्र-मोहनीय-दर्शना-वरणीयानाम्	०	०	षष्ठसप्तमगुणस्थानस्था'	०
		नाम्न.	षष्ठसप्तमगुणस्थाः	षष्ठगुणस्थाः	षष्ठसप्तमगुणस्था	०
		आयुष.	०	०	,,	षष्ठगुणस्थाः
२	असयत कापोतलेश्ययो	ज्ञान।०अन्त० वेदनीय-गोत्राणाम्	०	०	चतुर्थान्तगुणस्थानस्था	०
		दर्शनावरणीयस्य	आद्यद्वयगुणस्था	तृतीयचतुर्थगुणस्था	,,	०
		मोहनीयस्य	,,	,,	,,	०
		नाम्न'	प्रथमद्वितीयचतुर्थगुण.	प्रथमद्वितीयचतुर्थगुण	,,	०
		आयुष	०	०	प्रथमद्वितीयचतुर्थगुण	प्रथमद्वितीयचतुर्थगुण
२	नीलकृष्णलेश्ययो	ज्ञाना० अन्त० वेदनीय-गोत्राणाम्	०	०	चतुर्थान्तगुणस्थानस्थाः	०
		दर्शनावरणीयस्य	आद्यद्वयगुणस्था	तृतीयचतुर्थगुणस्थाः	,,	०
		मोहनीयस्य	,,	,,	,,	०
		नाम्न	,,	प्रथमद्वितीयचतुर्थगुण.	,,	०
		आयुष	०	०	प्रथमद्वितीयचतुर्थगुण	प्रथमद्वितीयचतुर्थगुण

प्रकृतिबन्धे स्वस्थाने भूयस्कारादिस्वामिना यन्त्रम्

मार्गणाङ्कु	मार्गणानामानि	कर्माणि	भूयस्कारस्वामिनः	अल्पतरस्वामिन	अवस्थितस्वामिन	अवक्तव्यस्वामिनः
२	तेज पद्मलेश्ययो	ज्ञाना० अत० वेदनीय-गोत्राणाम्	०	०	सप्तमान्तगुणस्थानस्था	०
		दर्शनावरणीयस्य	आद्यद्वयगुणस्थाः	तृतीयादिसप्तमान्तगुण	,,	०
		मोहनीयस्य	पञ्चमान्तगुणस्था	,,	,,	०
		नाम्न	तृतीयवर्जितसप्तमान्त-गुणस्था	तृतीयपञ्चमवर्जितषष्ठा-न्तगुणस्था.	,,	०
		आयुष.	०	०	तृतीयवर्जितसप्तमान्त-गुणस्था	तृतीयवर्जितषष्ठान्त-गुणस्था.
१	शुक्लायाम्	ज्ञाना० अत० गोत्राणाम्	०	०	दशमान्तगुणस्थाः	चतुर्थदशमगुणस्था.
		वेदनीयस्य	०	०	त्रयोदशान्तगुणस्थान.	०
		दर्शनावरणीयस्य	प्रथमद्वितीयचतुर्थाऽष्टम-गुणस्था	तृतीयाद्यष्टमान्त-गुणस्थानस्थाः	दशमान्तगुणस्थान-स्था.	चतुर्थ दशमगुणस्था
		मोहनीयस्यो	पञ्चसप्तमवर्जितनव-मान्तगुणस्था	अष्टमवर्जिततृतीयादि-नवमान्तगुणस्थाः	नवमान्तगुणस्था	चतुर्थनवमगुणस्थानस्थाः
		नाम्न	तृतीयवर्जिताऽष्टमान्त-गुणस्था	चतुर्थ-पष्ठा-ऽष्टमगुण-स्था.	दशमान्तगुणस्थाः	चतुर्थदशमगुणस्था.
		आयुषः	०	०	तृतीयवर्जितसप्तमा-न्तगुणस्था	तृतीयवर्जितषष्ठान्त-गुणस्थाः
१	क्षायोपशमिकसम्यक्त्वे	ज्ञाना०अन्त०वेदनीय-दर्शनावरणीयानाम्	०	०	चतुर्थादिसप्तमान्त-गुणस्था	०
		मोहनीयस्य	चतुर्थपञ्चमगुणस्था	पञ्चमपष्ठसप्तमगुणस्था.	,,	०
		नाम्नः	चतुर्थादिसप्तमान्तगुण.	चतुर्थपष्ठगुणस्था.	,,	०
		आयुप	०	०	,,	चतुर्थपञ्चमपष्ठगुणस्था.

मार्गणाङ्क	मार्गणानामानि	कर्माणि	भूयस्कारस्वामिनः	अल्पतरस्वामिनः	अवस्थितस्वामिनः	अवक्तव्यस्वामिनः
५	अनुत्तरपञ्चके	सप्तकर्मणाम्	०	०	चतुर्थगुणस्थाः	०
		आयुषः	०	०	,,	चतुर्थगुणस्थानस्थाः
१	मिश्रमार्गणायाम्	सप्तकर्मणाम्	०	०	तृतीयगुणस्थानस्थाः	०
२	अकषाययथाख्यात-संयमयोः	वेदनीयस्य	०	०	एकादशादित्रयोदशान्त-गुणस्थानस्थाः	०
२	केवलद्विके	वेदनीयस्य	०	०	त्रयोदशगुणस्थाः	०
२	आहारकद्विके	षट्कर्मणाम्	०	०	षष्ठगुणस्थानस्थाः	०
		नाम्नः	षष्ठगुणस्थानस्थाः	०	,,	०
		आयुषः	०	०	,,	षष्ठगुणस्थानस्थाः
१	देशविरतिमार्गणायाम्	षट्कर्मणाम्	०	०	पञ्चमगुणस्थानस्थाः	०
		आयुषः	०	०	,,	पञ्चमगुणस्थानस्थाः
		नाम्नः	पञ्चमगुणस्थानस्थाः	०	,,	०
२	सास्वादनमार्गणायाम्	षट्कर्मणाम्	०	०	द्वितीयगुणस्थानस्थाः	०
		नाम्नः	द्वितीयगुणस्थानस्थाः	द्वितीयगुणस्थानस्थाः	,,	०
		आयुषः	०	०	,,	द्वितीयगुणस्थाः

प्रकृतिबन्धे स्वस्थाने भूयस्कारादिस्वामिनां यन्त्रम्

मार्गणाङ्क	मार्गणानामानि	कर्माणि	भूयस्कारस्वामिनः	अल्पतरस्वामिन	अवस्थितस्वामिनः	अवक्तव्यस्वामिनः
१३	आनतादिनवग्रैवेय-कान्तेषु	ज्ञाना०अन्त०वेदनीय-गोत्राणाम्	०	०	चतुर्थान्तगुणस्थानस्थाः	०
		दर्शनावरणीयस्य }	आद्यद्वैगुणस्थानस्था	तृतीयचतुर्थगुणस्थान०	”	०
		मोहनीयस्य }	”	”	”	०
		नाम्न	०	०	”	०
		आयुष	०	०	प्रथमद्वितीयचतुर्थ-गुणस्था	प्रथमद्वितीयचतुर्थगुण-स्था
१	सूक्ष्मसम्पराये	कर्मषट्कस्य	०	०	दशमगुणस्थाः	०
६२	शेषमार्गणासु	कर्मषट्कस्य	०	०	प्रथमगुणस्थानस्थाः	०
		नाम्नः	प्रथमगुणस्थानस्थाः	प्रथमगुणस्थानस्थाः	”	०
		आयुषः	०	०	”	प्रथमगुणस्थानस्थाः

॥ अथ तृतीयं कालद्वारम् ॥

अथ कालद्वारस्यावसरः, तत्रादौ सार्धगाथया ओघतो भूयस्कारात्पतरबन्धयोर्जघन्यमुत्कृष्टं च कालं दर्शयन्नाह—

भूगारप्पयराणं समयो कालो लहू तिकम्माणं।
बीअस्स दोराह वि गुरू तह अप्पयरस्स मोहस्स ॥५४॥
भूगारस्स दुसमया दोराह वि णामस्स उ समयपुहुत्तं।

(प्रे०) "भूगारे" त्यादि, उत्तरप्रकृतिषु दर्शनावरणमोहनीयनाम्नामेव भूयस्कारात्पतरबन्धयोर्भावेन तेषां त्रयाणां भूयस्कारात्पतरबन्धयोरेकजीवमाश्रित्य जघन्यकालः समयो भवति, प्रतिपक्षबन्धद्वयान्तराले समयं तयोर्बन्धमङ्गावात् । भूयस्कारात्पतरबन्धयोः प्रागुत्तरत्र च बाहुल्यतोऽवस्थितबन्धस्य भावात् । विशेषचिन्तायां दर्शनावरणमोहनीययोः सामयिकभूयस्कारबन्धस्य प्राक्क्षणेऽवक्तव्यात्पतरावस्थितबन्धा अपि सम्भवन्ति, उत्तरक्षणे त्ववस्थितबन्ध इति, अल्पतरबन्धस्य च प्राक्समयेऽवस्थितबन्ध एव, तदुत्तरसमये तु द्वयोरवस्थितबन्धः, मोहस्य भूयस्कारबन्धो वा प्रवर्तन इति। नामकर्मणः सामयिकभूयस्कारबन्धस्य प्राक्क्षणेऽवक्तव्यात्पतरावस्थितबन्धान्यतमो भवति, उत्तरक्षणे त्वल्पतरोऽवस्थितो वा बन्धो भवतीति। उत्कृष्टकालस्तु दर्शनावरणे भूयस्कारबन्धस्याल्पतरबन्धस्य च समयप्रमित एव, यतः श्रेणितोऽवरोहँश्चतुष्कबन्धात् षड्विधबन्धस्थानं प्राप्नोति तदा भूयस्कारबन्धं करोति, ततोऽष्टमगुणस्थानकतः क्रमेणाऽवरोहन् षष्ठं गुणस्थानकं यावदवस्थितबन्ध एव। यदाऽन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं सास्वादनं मिथ्यात्वं वा गच्छति तदा पुनर्भूयस्कारबन्धः, नान्यथा ततः प्रागिति, इत्थं भूयस्कारबन्धादूर्ध्वमन्तर्मुहूर्तं यावद् भूयस्कारबन्धो नैव भवति, अतो ज्येष्ठकालोऽपि तस्य सामयिकः । दर्शनावरणस्य मोहनीयस्य चाल्पतरबन्धस्य ज्येष्ठकालोऽपि सामयिकः, यतः सास्वादनं विहाय सर्वगुणस्थानकानां मरणं विमुच्य जघन्यकालोऽप्यन्तर्मुहूर्तमेव भवतिः मरणे च नैतयोरल्पतरबन्धः, अल्पतरबन्धं विधाय पुनरप्यूर्ध्वतरगुणस्थानगमन एवाल्पतरबन्धः, अत एवाल्पतरबन्धं विधायान्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमेवाल्प न्धो भवति, तस्मादेतयोः कर्मणोरल्पतरबन्धस्य ज्येष्ठकालोऽपि समय एव लभ्यत इति ।

मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धमत्कोत्कृष्टकालो समयद्वयं भवति, तद्यथा—श्रेणितोऽवरोहन् एकादिपञ्चविधबन्धात् स्वस्थाने द्व्यादिबन्धस्थानं प्राप्य भूयस्कारबन्धं कृत्वा तदनन्तरं मरणेन सप्तदशबन्धस्थानं प्राप्तस्यापि भूयस्कारबन्धो भवति, एवं समयद्वयं यावद् भूयस्कारबन्धो भवति, यदि वा चतुर्थादिगुणस्थानकत्रयात् समयं द्वितीयं गुणस्थानं प्राप्य प्रथमगुणस्थानकं यो गच्छति तस्यापि

समयद्वयं यावद् भूयस्कारबन्धो भवति, एकं द्वितीयगुणस्थानकभवं भूयस्कारम्, द्वितीयं च मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकप्राप्तिसमयभवमिति समयद्वयमेव भूयस्कारबन्धज्येष्ठकालः प्राप्यत, एवं प्रकारद्वयादन्यत्र समयद्वयमितः कालो नैव प्राप्यत इति।

नाम्नो भूयस्कारात्पतरबन्धयोः प्रत्येकं ज्येष्ठकालः 'समयपृथक्त्वं' पृथक्त्वशब्देन द्विप्रभृतिनव पर्यवसानाः संख्या सामान्यतो गृह्यते, तत्र प्रस्तुते तु समयद्वयं सम्भवति, यतो बाहुल्यतः प्रति मयं परावर्तमानशीलानि रसबन्धाध्यवसायानि योगस्थानकादीनि विमुच्य सामान्यतोऽन्तर्मुहूर्तकादिकालावस्थानप्रायोग्या ये भावास्ते कारणविशेषं विहाय समयद्वयमुत्कृष्टतः परावृत्तिं विदधते-यथा अनुयोगद्वारसूत्रे कालत आनुपूर्वीद्रव्याणामेकद्रव्यमाश्रित्य समयद्वयमेवोत्कृष्टान्तरं निरूपितम्--तथा च तदक्षराणि--"णेगमववहाराण आणुपुव्वीदव्वाणमंतर कालओ केवच्चिरं होइ? एगं दव्वं पडुच्च जहण्णेण एग समय उक्कोसेण दो समया" इत्यादि, वृत्तौ भावना एवम् "एग दव्व पडुच्च जहण्णेणं एक्क समय" इति, अत्र भावना--इह त्र्यादिसमयस्थितिकं विवक्षित किञ्चिदेकमानुपूर्वीद्रव्य तं परिणाम परित्यज्य यदा परिणामान्तरेण समयमेकं स्थित्वा पुनस्तेनैव परिणामेन त्र्यादिसमयस्थितिकं जायते तदा जघन्यतया समयोऽन्तरे लभ्यते, 'उक्कोसेणं दो समय' त्ति, तदेव यदा परिणामान्तरेण द्वौ समयौ स्थित्वा पुनस्तमेव त्र्यादिसमयस्थितिकयुक्त प्राक्तनं परिणाममासादयति तदा द्वौ समयावुत्कृष्टतोऽन्तरे भवत, यदि पुन परिणामान्तरेण क्षेत्रादिभेदत समयद्वयात् परतोऽपि तिष्ठेत् तदा तत्राप्यानुपूर्वीत्वमनुभवेत्, ततोऽन्तरमेव न स्यादिति भाव.।"

उक्तपाठत इदमवगम्यते-यदेतादृशाः परावर्तमाना भावाः समये समये परावृत्ताः सन्तः निरन्तरं परावर्तमाना यदि लभ्यन्ते तर्हि समयद्वयम्, न पुनस्तदूर्ध्वम्, अत एव कालत आनुपूर्वीद्रव्यमानुपूर्वीत्वं विहाय यदि कालत अनानुपूर्वीत्वं प्रतिपद्यते तर्हि क्षेत्रादिपरावृत्त्या नानासमयेष्वनानुपूर्वीत्वं नैव प्रतिपद्यते, किन्तु समयमेकमनानुपूर्वीत्वमनुभूयानुपूर्वीत्वं लभते, न पुनरवक्तव्यम्, यतस्तथाभवने समयत्रयादिकमानुपूर्वीत्वस्यान्तरं भवेत्, परमुक्तं तु समयद्वयमेवेति। आनुपूर्वीत्वपरिणामं हित्वाऽनानुपूर्वीत्वावक्तव्यत्वयोरेकतरं वा परिणाममनुभूय पुनरानुपूर्वीत्वपरिणाममेव प्रतिपद्यते, अतोऽनानुपूर्वीत्वाङ्गीकरणापेक्षया समयद्वयमेव निरन्तरा परावृत्तिः, अवक्तव्यपरिणामापेक्षया तु समयमेकं परावृत्य द्वितीयसमये तत्परिणामस्य तादवस्थ्यमिति।

एवं प्रस्तुतेऽपि प्रकृतीनां बन्धेषु परावृत्तिर्निरन्तरं समयद्वयमेव लभ्यते, न पुनस्त्र्यादिसमयात्मिका; अत एव सातासातयोर्बन्धस्यान्तरं जघन्यतः समयमितत्वेऽपि तत्तत्प्रकृतेरवक्तव्यबन्धस्यान्तरमन्तर्मुहूर्तमेव भवति। यत आन्तर्मुहूर्तिकाद्यवस्थानयोग्यभावाः क्वचित् समयद्वयं निरन्तरं परावृत्ता भवन्ति तर्हि तदूर्ध्वं तु जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तमवस्थायिनो भवन्ति।

॥ अथ तृतीयं कालद्वारम् ॥

अथ कालद्वारस्यावसरः, तत्रादौ सार्धगाथया ओघतो भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्जघन्यमुत्कृष्टं च कालं दर्शयन्नाह–

भूगारप्पयराणं समयो कालो लहू तिकम्माणं ।
बीअस्स दोराह वि गुरू तह अप्पयरस्स मोहस्स ॥५४॥
भूगारस्स दुसमया दोराह वि णामस्स उ समयपुहुत्तं ।

(प्रे०) "भूगारे" त्यादि, उत्तरप्रकृतिषु दर्शनावरणमोहनीयनाम्नामेव भूयस्काराल्पतर-बन्धयोर्भावेन तेषां त्रयाणां भूयस्काराल्पतरबन्धयोरेकजीवमाश्रित्य जघन्यकालः समयो भवति, प्रतिपक्षबन्धद्वयान्तराले समयं तयोर्बन्धसद्भावात् । भूयस्काराल्पतरबन्धयोः प्रागुत्तरत्र च बाहुल्यतोऽवस्थितबन्धस्य भावात् । विशेषचिन्तायां दर्शनावरणमोहनीययोः सामयिकभूय-स्कारबन्धस्य प्राक्क्षणेऽवक्तव्याल्पतरावस्थितबन्धा अपि सम्भवन्ति, उत्तरक्षणे त्ववस्थितबन्ध इति, अल्पतरबन्धस्य च प्राक्समयेऽवस्थितबन्ध एव, तदुत्तरसमये तु द्वयोरवस्थितबन्धः, मोहस्य भूयस्कारबन्धो वा प्रवर्तत इति। नामकर्मणः सामयिकभूयस्कारबन्धस्य प्राक्क्षणेऽवक्तव्याल्पतरा-वस्थितबन्धान्यतमो भवति, उत्तरक्षणे त्वल्पतरोऽवस्थितो वा बन्धो भवतीति। उत्कृष्टकालस्तु दर्श-नावरणे भूयस्कारबन्धस्याल्पतरबन्धस्य च समयप्रमित एव, यतः श्रेणितोऽवरोहंश्चतुष्कबन्धात् षड्विधबन्धस्थानं प्राप्नोति तदा भूयस्कारबन्धं करोति, ततोऽष्टमगुणस्थानकतः क्रमेणाऽवरोहन् षष्ठं गुणस्थानकं यावदवस्थितबन्ध एव। यदाऽन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं सास्वादनं मिथ्यात्वं वा गच्छति तदा पुनर्भूयस्कारबन्धः, नान्यथा ततः प्रागिति, इत्थं भूयस्कारबन्धादूर्ध्वमन्तर्मुहूर्तं यावद् भूयस्कार-बन्धो नैव भवति, अतो ज्येष्ठकालोऽपि तस्य सामयिकः । दर्शनावरणस्य मोहनीयस्य चाल्प-तरबन्धस्य ज्येष्ठकालोऽपि सामयिकः, यतः सास्वादनं विहाय सर्वगुणस्थानकानां मरणं विमुच्य जघन्यकालोऽप्यन्तर्मुहूर्तमेव भवतिः मरणे च नैतयोरल्पतरबन्धः, अल्पतरबन्धं विधाय पुनरप्यू-र्ध्वतरगुणस्थानगमन एवाल्पतरबन्धः, अत एवाल्पतरबन्धं विधायान्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमेवाल्पतरबन्धो भवति, तस्मादेतयोः कर्मणोरल्पतरबन्धस्य ज्येष्ठकालोऽपि समय एव लभ्यत इति ।

मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धसत्कोत्कृष्टकालो समयद्वयं भवति, तद्यथा—श्रेणितोऽवरोहन् एकादि-पञ्चविधबन्धात् स्वस्थाने द्व्यादिबन्धस्थानं प्राप्य भूयस्कारबन्धं कृत्वा तदनन्तरं मरणेन सप्तदश-बन्धस्थानं प्राप्तस्यापि भूयस्कारबन्धो भवति, एवं समयद्वयं यावद् भूयस्कारबन्धो भवति, यदि वा चतुर्थादिगुणस्थानकत्रयात् समयं द्वितीयं गुणस्थानं प्राप्य प्रथमगुणस्थानकं यो गच्छति तस्यापि

समयद्वयं यावद् भूयस्कारबन्धो भवति, एकं द्वितीयगुणस्थानकभवं भूयस्कारम्, द्वितीयं च मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकप्राप्तिसमयभवमिति समयद्वयमेव भूयस्कारबन्धज्येष्ठकालः प्राप्यत, एवं प्रकारद्वयादन्यत्र समयद्वयमितः कालो नैव प्राप्यत इति ।

नाम्नो भूयस्कारान्पतरबन्धयोः प्रत्येकं ज्येष्ठकालः 'समयपृथक्त्वं' पृथक्त्वशब्देन द्विप्रभृतिनव पर्यवसानाः संख्या सामान्यतो गृह्यते, तत्र प्रस्तुते तु समयद्वयं सम्भवति, यतो बाहुल्यतः प्रतिसमयं परावर्तमानशीलानि रसबन्धाध्यवसायानि योगस्थानकादीनि विमुच्य सामान्यतोऽन्तर्मुहूर्तकादिकालावस्थानप्रायोग्या ये भावास्ते कारणविशेषं विहाय समयद्वयमुत्कृष्टतः परावृत्तिं विदधते-यथा अनुयोगद्वारसूत्रे कालत आनुपूर्वीद्रव्याणामेकद्रव्यमाश्रित्य समयद्वयमेवोत्कृष्टान्तरं निरूपितम्-तथा च तदक्षराणि-"णेगमववहाराण आणुपुव्वीदव्वाणमंतरं कालओ केवच्चिरं होइ ? एग दव्व पडुच्च जहण्णेण एग समयं उक्कोसेण दो समया" इत्यादि, वृत्तौ भावना एवम् "एग दव्व पडुच्च जहण्णेणं एक्क समय" इति, अत्र भावना-इह त्र्यादिसमयस्थितिकं विवक्षितं किञ्चिदेकमानुपूर्वीद्रव्य स परिणाम परित्यज्य यदा परिणामान्तरेण समयमेकं स्थित्वा पुनस्तेनैव परिणामेन त्र्यादिसमयस्थितिकं जायते तदा जघन्यतया समयोऽन्तरे लभ्यते, 'उक्कोसेणं दो समय' त्ति, तदेव यदा परिणामान्तरेण द्वौ समयौ स्थित्वा पुनस्तमेव त्र्यादिसमयस्थितिकयुक्त प्राक्तनं परिणाममासादयति तदा द्वौ समयावुत्कृष्टतोऽन्तरे भवत, यदि पुन. परिणामान्तरेण क्षेत्रादिभेदत समयद्वयात् परतोऽपि तिष्ठेत् तदा तत्राप्यानुपूर्वीत्वमनुभवेत, ततोऽन्तरमेव न स्यादिति भाव ।"

उक्तपाठत इदमवगम्यते-यदेतादृशाः परावर्तमाना भावाः समये समये परावृत्ताः सन्तः निरन्तरं परावर्तमाना यदि लभ्यन्ते तर्हि समयद्वयम्, न पुनस्तदूर्ध्वम्, अत एव कालत आनुपूर्वीद्रव्यमानुपूर्वीत्वं विहाय यदि कालत अनानुपूर्वीत्वं प्रतिपद्यते तर्हि क्षेत्रादिपरावृत्त्या नानासमयेष्वनानुपूर्वीत्वं नैव प्रतिपद्यते, किन्तु समयमेकमनानुपूर्वीत्वमनुभूयानुपूर्वीत्वं लभते, न पुनरवक्तव्यम्, यतस्तथाभवने समयत्रयादिकमानुपूर्वीत्वस्यान्तरं भवेत्, परमुक्तं तु समयद्वयमेवेति । आनुपूर्वीत्वपरिणामं हित्वाऽनानुपूर्वीत्वावक्तव्यत्वयोरेकतरं वा परिणाममनुभूय पुनरानुपूर्वीत्वपरिणाममेव प्रतिपद्यते, अतोऽनानुपूर्वीत्वाङ्गीकरणापेक्षया समयद्वयमेव निरन्तरा परावृत्तिः, अवक्तव्यपरिणामापेक्षया तु समयमेकं परावृत्य द्वितीयसमये तत्परिणामस्य तादवस्थ्यमिति ।

एवं प्रस्तुतेऽपि प्रकृतीनां बन्धेषु परावृत्तिर्निरन्तरं समयद्वयमेव लभ्यते, न पुनस्त्र्यादिसमयात्मिका; अत एव सातासातयोर्बन्धस्यान्तरं जघन्यतः समयमितत्वेऽपि तत्तत्प्रकृतेरवक्तव्यबन्धस्यान्तरमन्तर्मुहूर्तमेव भवति । यत आन्तर्मुहूर्तिकावस्थानयोग्यभावाः क्वचित् समयद्वयं निरन्तरं परावृत्ता भवन्ति तर्हि तदूर्ध्वं तु जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तमवस्थायिनो भवन्ति ।

एतत्सर्वं परोपकारपरैर्बहुश्रुतैर्विमर्षणीयं यथागमं संशोध्यं च, अस्माभिस्त्वेतत् सम्भावनया उक्तमित्यवधेयमिति ।

अथ प्रस्तुतम्–त्रयोविंशत्यादीनि त्रिंशत्पर्यवसानानि षड् बन्धस्थानानि मिथ्यादृष्टौ परावर्तमानानि लभ्यन्ते, तत्र निरन्तरं भूयस्कारबन्धोऽल्पतरबन्धश्च समयपृथक्त्वं यावद् भवति तदूर्ध्वं तु प्रायोऽवस्थितबन्ध एव प्रवर्तेत इति । एवमोघतो येषां त्रयाणां भूयस्कारात्पतरबन्धौ स्तः, तेषां तयोर्द्विविधबन्धकालो दर्शितः ।।५४।।

अथ ओघतः सप्तानामवस्थितावक्तव्यबन्धयोरेकजीवविषयकं जघन्यमुत्कृष्टं च कालं निरूपयन्नाह—

मूलपयडिव्व दुविहो सत्तरह अवट्टिअस्स भवे ।।५५।।

णवरि दुइअतुरिआणं लहू खणोऽणो य जलहितेत्तीसा ।

णामस्स समयहीणाऽवत्तव्वस्स समयो दुहा छरहं ।।५६।। (गीतिः)

(प्रे०) " पयडिव्वे"त्यादि, सप्तानामायुर्वर्जानामवस्थितबन्धस्य कालो मूलप्रकृतिबन्धसत्को यावान् भवति तावान् विज्ञेयः, तद्यथा–ज्ञानावरणगोत्रान्तरायाणां तु जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम् , ज्येष्ठतस्तु भङ्गत्रयगतः, तद्यथा–अभव्यमाश्रित्यानाद्यनन्तः, श्रेणिमप्राप्तभव्यमाश्रित्य अनादिसान्तः, उपशमश्रेणिमारुह्य पतितस्य तु सादिसान्तः, स च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम् , उत्कृष्टतस्तु देशोनार्धपुद्गलपरावर्तः, वेदनीयस्य त्वाद्यभङ्गद्वयमेव, सादित्वाभावेन न तृतीयो विकल्प इति । दर्शनावरणसत्कावस्थितबन्धस्य जघन्यकालः समयः, अतिदेशानुसारेण तु तदन्तर्मुहूर्तं भवेदतो 'णवरि' इत्यादिनाऽपवादभणनम् । भावना त्वेवम्–उपशमश्रेणिमारोहतः षड्विधबन्धाच्चतुर्बन्धं प्राप्तस्य प्रथमसमयेऽल्पतरबन्धं विधाय द्वितीयसमये तदेव बध्नन्नवस्थितबन्धं कृत्वा तृतीयसमये कालकरणेन दिवि समुत्पन्नस्य पुनर्भूयस्कारबन्धं कुर्वतोऽवस्थितबन्धस्य जघन्यकालः समयः प्राप्यते, अथवोपशमश्रेणितोऽवरोहन् दशमगुणस्थानप्रथमसमये दर्शनावरणचतुष्कं बध्नाति तच्च दर्शनावरणस्यावक्तव्यबन्धरूपं ततो द्वितीयसमये चतुष्कमेव बद्ध्वा कालकरणेन दिवि समुत्पन्नस्य तृतीयसमये षट् प्रकृतीर्बध्नतो भूयस्कारबन्धो भवति । एवमपि मध्यवर्तिसमयमेकमवस्थितबन्धो भवति, ओघे एतत्प्रकारद्वयं विमुच्य नान्यप्रकारेण दर्शनावरणावस्थितबन्धस्य समयः कालः प्राप्यते । मार्गणासु पुनः सास्वादनापेक्षयापि प्राप्यते इति । दर्शनावरणसत्कावस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालस्तु नवप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानमपेक्ष्य ज्ञानावरणसत्कावस्थितबन्धवत् प्रकारत्रयगतो भवतीति ।

मोहनीयेऽवस्थितबन्धस्य जघन्यकालः समयः, स चोपशमश्रेणिमारोहतोऽवरोहतश्चापेक्ष्यैकद्वित्रिचतुःपञ्चनवानां वा बन्धतो मरणेन सप्तदशबन्धं प्राप्तस्य दर्शनावरणवत्प्रकारद्वयेन भाव-

नीयम् , किञ्च सास्वादन एकविंशतिबन्धे समयद्वयं स्थित्वा मिथ्यात्वं गतस्य द्वाविंशतिं प्राप्तस्यै-कविंशतिबन्धस्य द्वितीयसमये समयमेकमवस्थितबन्धः प्राप्यत इति तृतीयप्रकारः। केचित् पुनः द्वाविंशतिसप्तदश-त्रयोदशबन्धत्रयान्यतमस्माद्भव प्राप्य समयद्वयानन्तरं पुनः सप्तदशं प्राप्तस्यापि संयमे समयद्वयमवस्थितस्य तत्र प्रथमसमये तस्याल्पतरबन्धस्य भावेन द्वितीयसमयेऽवस्थितबन्धो भवति, पुनश्च कालकरणेन भूयस्कारबन्धश्चेति समयोऽवस्थितबन्धस्य जघन्यकाल इति प्रतिपादयन्ति। एवं त्रिधा चतुर्धा वा समयप्रमाणः कालः प्राप्यत इति। मोहनीयेऽवस्थितबन्धस्योत्कृष्ट-कालो ज्ञानावरणवद् विकल्पत्रयगतो विज्ञेयः, द्वाविंशतिबन्धस्थानमधिकृत्यैष कालः प्राप्यत इति।

नाम्नोऽवस्थितबन्धस्य जघन्यकाल उत्कृष्टकालश्चापवादविषयको भवति, तत्र जघन्य-कालस्तु समयः, मिथ्यादृशां सास्वादनिनां च बन्धस्थानानां परावर्तमानभावेन बन्धप्रायोग्य-त्वात् समयाद्यन्तरेणापि बन्धस्थानपरावृत्तिर्भवति, अयम्भावः-सामान्यतो बन्धस्थानानामन्त-र्मुहूर्तेन परावृत्तेर्भावेऽपि क्वचित्क्वचित् समयेन समयद्वयादिना च परावृत्तिर्भवति, अतोऽव-स्थितबन्धजघन्यकालस्य समयप्रमाणत्वे न काचित् क्षतिः। अष्टष्वपि बन्धस्थानेष्ववस्थानबन्धस्य जघन्यकालः समयः प्राप्यत इति। अवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालस्तु समयोनानि त्रयस्त्रिंशत्सा-गरोपमाणि भवति, अनुत्तरदेवभवमाश्रित्यैकोनत्रिंशत्त्रिंशद्बन्धस्थानद्वयस्य त्रयस्त्रिंशत्सागरोप-मप्रमाणकालस्य भावेन तत्प्रथमसमये च भूयस्कारबन्धस्याल्पतरबन्धस्य वा लाभात् समयो-नानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि यावदवस्थितबन्धो निरन्तरं प्रवर्तते, तदूर्ध्वं त्वल्पतरबन्धस्या-वश्यं भावेन नाऽधिककाललाभ इति। तदेवमोघतः सप्तानामवस्थितबन्धस्यापवादचतुष्कपूर्वका-तिदेशदर्शितकालो भावितः। अथाऽवक्तव्यबन्धस्य कालो वक्तव्यः, तत्रायुष्कस्य प्राक्स्वामि-त्वद्वारे तच्छेषद्वाराणां भावितत्वाद् वेदनीयस्यावक्तव्यबन्धाभावाच्च शेषाणां षण्णां कर्मणा-मवक्तव्यबन्धस्य जघन्य उत्कृष्टश्च कालः समयो भवति, अवक्तव्यबन्धस्य तु सर्वत्र यत्र यत्र तस्य सद्भावः, तत्र तस्य जघन्य उत्कृष्टश्च कालः समय एव भवतीत्यवधार्यमिति ॥५५-५६॥

अथ मार्गणासु भूयस्कारादित्रयाणां बन्धानामेकजीवमपेक्ष्य जघन्यमुत्कृष्टं च काल-मानं निरूपयन्नाह-

जहि जाण भूअगारो अप्पयरओ अवत्तव्वो ।
सिमवत्तव्वस्स दुहा कालो समयो भवे तत्थ ॥५७॥
भूगाराप्पयराणं लहू भवे तत्थ ताण कम्माणं ।
बीअस्स दोण्ह वि गुरू तह अप्पयरस्स मोहस्स ॥५८॥

यासु मार्गणासु येषां कर्मणां भूयस्कारबन्धोऽल्पतरबन्धोऽवक्तव्यबन्धो वा भवति, त्रयाणां तदन्यतमैकस्य द्वयस्य वा पदस्य सद्भावस्तासु प्रथमगाथाया उत्तरार्धेनावक्तव्यबन्धस्य कालो दर्शितः, तद्यथा–ओघतो वेदनीयायुर्वर्जानामवक्तव्यबन्धस्य जघन्यत उत्कृ श्च कालः यप्रमाण एव भवति, अतः सर्वत्र मार्गणासु तत्सद्भावे तस्य कालः समय ाण एव भवतीति, कासु मार्गणासु कस्य कर्मणोऽवक्तव्यपदस्य सद्भाव इति तु प्राग्दर्शित एवेति न भूयो दर्शयामः।

भूयस्काराल्पतरबन्धद्वयमोघतो दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां त्रयाणामेव भावेन मार्गणासु यथासम्भवमुक्तकर्मत्रयसत्कमेव तद्भवति, न पुनः शेषकर्मचतुष्कसत्कम्। यासु मार्गणासु दर्शनावरणादित्रयाणां तदन् मस्य वा कर्मण उक्तबन्धद्वयाद् यस्य सत्त्वं भवति तस्य जघन्यकालः समयप्रमाणः, प्रागुत्तरत्र च तदन्यबन्धस्य प्रवर्तनात्। उत्कृष्टकालः पुनरेवम्–दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टकालोऽपि समयः, ओघतोऽपि तयोस्तथात्वात्। मोहनीयस्याल्पतरबन्धोत्कृष्टकालः समयः, ओघेऽपि तस्य तथात्वात्, भावना त्वोघानुसारेण यथासम्भवं कार्येति ॥५७–५८॥

अथ मोहनीयस्य भूयस्कारसत्कोत्कृष्टकालं मार्गणासु विभावयन्नाह—

जेट्ठो वि होइ समयो मोहस्स दुमीसजोगकम्मेसु।
गयवेए मणणाणे अणाणतिगसंजमे ं च ॥५९॥
सामइयछेअवेअगऽणाहारगेसुं य भूअगारस्स।
सेसासु मग्गणासुं दोणिण उ समया णेयव्वो ॥६०॥

(प्रे०) "जेट्ठो" इत्यादि, यासु मार्गणासूपशमश्रेणिस्ततः कालकरणान्तरं च देवेषूत्पत्तिर्भवितुमर्हति, यदि वा चतुर्थादिगुणस्थानकत्रयाद् द्वितीयगुणस्थानकं समयं प्राप्य प्रथमगुणस्थानकं यासु मार्गणासु प्राप्नुयात्, एवमुक्तविकल्पद्वयादन्यतरविकल्पसत्त्वे तत्र मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धोत्कृष्टकालः समयद्वयं भवति। तदन्यासु पुनः समयमेकमिति। अतः प्रथमं यास्तूक्तविकल्पद्वयाभावाद् मोहनीयस्य समयप्रमाणमेव भूयस्कारबन्धस्योत्कृष्टकालो भवति, ता मार्गणा नामतो दर्शयति–औदारिकमिश्र वैक्रियमिश्र कार्मणकाययोगा-ऽपगतवेद-मनःपर्यवज्ञान-मत्यज्ञान--श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञान-संयमौघ-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय क्षयोपशमसम्यक्त्वा-नाहारकमार्गणासु त्रयोदशसु मोहनीयसत्कभूयस्कारबन्धस्योत्कृष्टकालः समयो भवति। औदारिकमिश्र-वैक्रियमिश्र-कार्मणानाहार र्गणासु श्रेणेरभावाच्चतुर्थगुणस्थानकगतानां प्रस्तुतमार्गणासु प्रतिपाताभावाच्च नोक्तप्रकारद्वयसद्भाव इति। अज्ञानत्रिके तृतीय-चतुर्थादिगुण-

स्थानाभावादेवोक्तप्रकारद्वयाभावः । क्षयोपशमे तु श्रेणेराद्यगुणस्थानत्रयाणां चाभावादुक्त-प्रकारद्वयाभावः । शेषास्वपगतवेद-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीयमार्गणा-पञ्चके तु श्रेणेः सद्भावेऽपि ततः कालकरणे मार्गणाया एवोच्छेदात् , प्रथमादिगुणस्थाना-नामभावाच्च नोक्तप्रकारद्वयावकाश इति । अत्रौदारिकमिश्रादिमार्गणाचतुष्केऽज्ञानत्रिके च द्वितीयगुणस्थानात्प्रथमगुणस्थानं प्राप्तस्यैव सामयिको भूयस्कारबन्धो भवति । अपगतवेदादि-मार्गणापञ्चके तु श्रेणावेव श्रेणितोऽवरोहन् सामयिकं भूयस्कारबन्धं करोति । क्षयोपशमिक-सम्यक्त्वे तु पञ्चमं चतुर्थं वा गुणस्थानकं प्राप्तः समयमेकं भूयस्कारबन्धं करोति । उक्तत्रयो-दशमार्गणा विहाय सर्वनरकभेद-तिर्यगोघ पञ्चेन्द्रियतिर्यक्त्रिक-मनुष्यत्रिका-ऽनुत्तरवर्जपञ्च-विंशतिदेवभेद-द्विपञ्चेन्द्रिय-द्वित्रसकाय-मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगौघ--तदुत्तरभेद-चतुष्कौ-दारिक-वैक्रिययोग-वेदत्रय- कषायचतुष्क--मत्यादिज्ञानत्रया--ऽसंयम-चक्षुरादिदर्शनत्रय-लेश्याषट्क-भव्य-सम्यक्त्वौघोपशमक्षायिकसंज्ञ्याहारकमार्गणा द्व्यशीतिः, एतासु शेषासु मोहनी-यस्य भूयस्कारबन्धप्रायोग्यासु मार्गणासु तस्य प्रकृष्टकालः समयद्वयं भवति, तत्र कासुचित् पञ्चे-न्द्रियौघादिमार्गणासूक्तविकल्पद्वयेन, कासुचिन्मतिज्ञानादिमार्गणासु प्रथमविकल्पेन कासुचिच्च नरकौघादिषु द्वितीयविकल्पेन मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धस्य प्रकृष्टकालः समयौ प्राप्यत इति ॥

अथ नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टकालं निरूपयन्नाह—

भूगारस्सऽखिलणिरयतइआइगअट्ठमंतदेवेसुं ।
आहारदुगे देसे समयो णामस्स गुरुकालो ॥६१॥
अप्पयरस्सऽखिलणिरयतइआइगअट्ठमंतदेवेसुं ।
चउणाणासंजमेसुं समइअछेअपरिहारेसुं ॥६२॥
ओहिपउमसुक्कासुं सम्मखइअवेअगेसु तदुवसमे ।
भूगारप्पयराणं समयपुहुत्तं च सेसा ॥६३॥

(प्रे०) "भूगार" इत्यादि, यासु मार्गणासु त्र्यादीनि बन्धस्थानान्येव न भवन्ति, तत्र भूयस्काराल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टकालः समय एव भवति । ता मार्गणा ना : पुनरिमाः— अष्टौ नरकमार्गणाः सनत्कुमारादिसहस्रारान्तदेवमार्गणाः । यासु मार्गणासु श्रेणिप्रयुक्ता यद्वा जिननामबन्धप्रयुक्ता यद्वा आहारकद्विकबन्धतद्विरामप्रयुक्ता यद्वा भवपरावृत्तिहेतुकैव भूयस्काराल्पतरबन्धपरावृत्तिर्भवति, तत्र भूयस्कारबन्धस्योत्कृष्टकालः समयद्वयम् , प्रथमसमये जिननामबन्धेन द्वितीय आहारकद्विकप्रारम्भेन यद्वा प्रथमसमयेऽऽहारकद्विकबन्धेन द्वितीय-समये च जिननामबन्धेन, यद्वा श्रेणितोऽवरोहन्नेकस्या बन्धादष्टाविंशतिमेकोनत्रिंशतं वा

बद्ध्वा निधनं प्राप्य दिवि समुत्पन्नस्याष्टाविंशतिबन्धकस्यैकोनत्रिंशतं बध्नत एकोनत्रिंशद्बन्धकस्य त्रिंशद्बन्धं प्राप्तस्य समयद्वयं भूयस्कारबन्धः प्राप्यते। यत्राल्पतरबन्धस्त्वाहारकद्विकबन्धविराम-प्रयुक्तः, यद्वा श्रेणौ देवगत्यादिबन्धविरामप्रयुक्तः, यद्वा देवनैरयिकेभ्यः सम्यक्त्वेन सह च्युतस्य मनुष्येषूत्पन्नस्य भवपरावृत्तिप्रयुक्तः प्राप्यते। एतत्प्रकारत्रयादन्यतमप्रकारेण प्राप्त-स्याल्पतरबन्धस्य समयो ज्येष्ठकालो भवति, ता मार्गणा नामतः पुनरिमाः-मतिश्रुतावधिमनः-ज्ञान-संयमौघ-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय--परिहारविशुद्ध्यवधिदर्शन--पद्मलेश्या शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षयोपशमोपशमसम्यक्त्वेषु पञ्चदशसु भूयस्कारबन्धस्य गुरुकालः समय-द्वयम्, अल्पतरबन्धस्य गुरुकालस्तु समय इति। शेषमार्गणासु नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्ध-द्वयादन्यतरस्यैकस्य द्वयस्य वा सम्भवे तत्काल उत्कृष्टतः समयद्वयादिक इत्येष च "समय-पुहुत्तं य सेसासु" मित्यनेन दर्शितः। आहारकयोगद्वये देशविरतौ च भूयस्कारबन्धस्यैव सद्भावस्तस्योत्कृ[ष्टका]लस्तु समय एव जिननामबन्धप्रारम्भादिति। अत्र शेषसप्तदशोत्तरशतमार्गणा नामतः पुनरिमाः-पञ्चतिर्यग्भेद-मनुष्यभेदचतुष्क-देवौघ-भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क-सौधर्मेशान-देवभेदैकोनविंशतीन्द्रियभेद-सर्वकायमार्गणाभेद-मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगौघ-तदु-त्तरभेदचतुष्क-काययोगौघौदारिक तन्मिश्र--वैक्रिय-तन्मिश्र--कार्मणयोग-वेदत्रय--कषायचतुष्का-ऽज्ञानत्रया-ऽसंयम-चक्षुरचक्षुर्दर्शनाऽशुभलेश्यात्रिक-तेजोलेश्या-भव्याभव्य-सास्वादन-मिथ्यात्व-संज्ञ्यसंज्ञ्याहारकानाहारकमार्गणा इति ॥६१-६३॥

अथ मार्गणासु ज्ञानावरणवेदनीयगोत्रान्तरायाणामवस्थितबन्धस्य जघन्यमुत्कृष्टं च कालं दर्शनावरणमोहनीययोरवस्थानबन्धस्योत्कृष्टकालमानं च प्रदर्शयन्नाह—

मूलपयडिव्व सव्वह दुहा दुइअमोहणामवज्जाणं।
दुइअतुरिआण जेट्ठो अवट्ठिअस्स उ णेयव्वो ॥६४॥
णवरं अवट्ठिअस्स उ तिणाणवहिसम्मवेअगे गुरू।
मोहस्सुदही अहिया तेत्तीसा वा बियाला वा ॥६५॥

(प्रे०) "मूले"त्यादि, ज्ञानावरणादिचतुर्णामवस्थितबन्धस्य जघन्यकाल उत्कृष्टकालश्च यथा मूलप्रकृतिबन्धे तत्तत्कर्मणां यावान् बन्धकालो जघन्यत उत्कृष्टतश्च दर्शितस्तावान् प्रस्तु-तेऽपि विज्ञेयः। यत एतासां चतुष्प्रकृतीनां भूयस्काराल्पतरबन्धयोरभावेन तत्प्रकृतिबन्धे प्रव-र्तमानेऽवस्थितबन्ध एव प्रवर्तते, केवलमबन्धादुत्तरं प्रवर्तमानं बन्धप्रारम्भप्रथमसमयभाव्य-वक्तव्यबन्धसमयं विहायेत्यवधार्यमिति। यासु मार्गणासूपशमश्रेणेरभावस्तासु निरुक्त-प्रकृतिचतुष्कस्यावस्थितबन्धस्य जघन्यकालो जघन्यकायस्थितिप्रमाणः, उत्कृष्टकालस्तूत्कृष्ट-कायस्थितिप्रमाणः, अनादिकालीनासु मार्गणासु पुनरनाद्यनन्तः अनादिसान्तश्चेति।

यासु पुनरुपशमश्रेणेः सद्भावस्तास्ववस्थितबन्धस्य जघन्यकालः समयोऽन्तर्मुहूर्तं वा । अयम्भावः—कासुचिन्मार्गणासु यासूपशमश्रेणौ कालकरणानन्तरं मार्गणाया एव विच्छेदस्तासु समयः, यासु पुनः श्रेणौ कालकरणेऽपि मार्गणाया अवस्थानं तादवस्थ्यम्, तासु श्रेणितोऽवरुह्य शीघ्रं पुनः श्रेणिमारोहन्तमपेक्ष्यान्तर्मुहूर्तमिति ।

एवमतिदेशेन प्राप्तमवस्थानबन्धस्य जघन्यमुत्कृष्टं च कालं दर्शयामः, तद्यथा—

ज्ञानावरणवेदनीयगोत्रान्तरायाणां प्रत्येकमवस्थितबन्धस्य—

	जघन्यकालः	उत्कृष्टकालः
नरकौघेदेवौघे	दश वर्षसहस्राणि	त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि
प्रथमनरके	,,	सागरोपमम्
द्वितीयनरके	सागरोपमम्	सागरोपमत्रयम्
तृतीयनरके	सागरोपमत्रयम्	सप्त सागरोपमाणि
चतुर्थनरके	सप्तसागरोपमाणि	दश सागरोपमाणि
पञ्चमनरके	दश ,,	सप्तदश ,,
षष्ठनरके	सप्तदश ,,	द्वाविंशतिः ,,
सप्तमनरके	द्वाविंशतिः ,,	त्रयस्त्रिंशत् ,,
तिर्यग्गत्यौघे एकेन्द्रियौघे वनस्पतिकायौघे असंज्ञिनि च ४	क्षुल्लकभवः	आवलिकाऽसंख्येयभागगतसमयमिताः पुद्गलपरावर्ताः
पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघे	,,	पूर्वकोटिपृथक्त्वाधिकपल्योपमत्रयम्
पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्तिरश्च्योः		,,
अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्, ,, मनुष्य-, ,, पञ्चेन्द्रिय-, ,, त्रसकायेषु, अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय-अपर्याप्तबादरैकेन्द्रिय-अपर्याप्तद्वीन्द्रिय-अपर्याप्तत्रीन्द्रिय-अपर्याप्तचतुरिन्द्रिय-अपर्याप्तसूक्ष्म-बादरपृथ्वीकायाप्कायतेजस्कायवायुकाय-साधारणवनस्पतिकायभेदेषु-अपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाये च १६	अन्तर्मुहूर्तम् क्षुल्लकभवः	अन्तर्मुहूर्तम्
मनुष्यौघे	वेदस्य क्षुल्लकभवः शेषत्रयस्य समय	पूर्वकोटीपृथक्त्वाधिकपल्योपमत्रयम् ,, ,,
पर्याप्तमनुष्य-मानुष्योः	वेदस्य अन्तर्मुहूर्तम् शेषस्य समय	,, ,,
		,, ,,

भवनपतिषु	दशसहस्रवर्षाणि	सातिरेकसागरोपमम्
व्यन्तरेषु	,, ,,	पल्योपमम्
ज्योतिष्के	पल्याष्टमांश	लक्षवर्षाधिकं पल्योपमम्
सौधर्मे	पल्योपमम्	सागरोपमद्वयम्
ईशाने	सातिरेकपल्योपमम्	सातिरेक ,,
सनत्कुमारे	सागरोपमद्वयम्	सागरसप्तकम्
माहेन्द्रे	सातिरेकसाग० द्वयम्	सातिरेक ,,
ब्रह्मब्रह्मोत्तरे	सप्त-सागरोपमाणि	दश सागरोपमाणि
लान्तवे	दश ,,	चतुर्दश ,,
महाशुक्रे	चतुर्दश ,,	सप्तदश ,,
सहस्रारे	सप्तदश ,,	अष्टादश ,,
आनते	अष्टादश ,,	एकोनविंशति ,,
प्राणते	एकोनविंशतिः ,,	विंशति• ,,
आरणे	विंशतिः ,,	एकविंशतिः ,,
अच्युते	एकविंशति ,,	द्वाविंशति ,,
प्रथम-ग्रैवेयके	द्वाविंशति ,,	त्रयोविंशति ,,
द्वितीय ,,	त्रयोविंशति ,,	चतुर्विंशतिः ,,
तृतीय ,,	चतुर्विंशतिः ,,	पञ्चविंशतिः ,,
चतुर्थ ,,	पञ्चविंशति ,,	षड्विंशति ,,
पञ्चम ,,	षड्विंशति ,,	सप्तविंशति ,,
षष्ठ ,,	सप्तविंशतिः ,,	अष्टाविंशतिः ,,
सप्तम ,,	अष्टाविंशति ,,	एकोनत्रिंशत् ,,
अष्टम ,,	एकोनत्रिंशत् ,,	त्रिंशत् ,,
नवम ,,	त्रिंशत्	एकत्रिंशत् ,,
अनुत्तरचतुष्के	एकत्रिंशत् ,,	त्रयस्त्रिंशत् ,,
सर्वार्थसिद्धे	त्रयस्त्रिंशत् ,,	,, ,,
पृथ्वीकायौघ-अप्कायौघ-तैजस्कायौघ-वायुकायौघ-सूक्ष्मैकेन्द्रियौघ-सूक्ष्मपृथ्वीकायाप्कायतेजस्काय-वायुकाय-सूक्ष्मसाधारणवनस्पति-कायौघेषु १०	क्षुल्लकभवः	असङ्ख्येयलोकाः
पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय-पर्याप्तसूक्ष्म-पृथ्वीकाय-पर्याप्तसूक्ष्माप्काय-पर्याप्तसूक्ष्मतेजस्काय-पर्याप्तसूक्ष्म-वायुकाय-पर्याप्तसूक्ष्मसाधारणवन-स्पतिकाय-पर्याप्तबादरसाधारण-वनस्पतिकायेषु ७	अन्तर्मुहूर्तम्	अन्तर्मुहूर्तम्

बादरपृथ्वीकायौघ-बादराप्कायौघ- बादरतेजस्कायौघ-बादरवायुकायौ- घ प्रत्येकवनस्पतिकायौघबादर- साधारणवनस्पतिकायौघेषु ६	क्षुल्लकभवः	सप्ततिकोटिकोटिः सागरो- पमाणाम्
बादरैकेन्द्रियौघ-बादरवनस्पति- कायौघयोः	क्षुल्लकभवः	अङ्गुलासंख्येयभागगतप्रदेश- प्रमिताः समयाः, असंख्योत्स- र्पिण्यवसर्पिण्य इत्यर्थः।
साधारणवनस्पतिकायौघे	,,	सार्धपुद्गलपरावर्तद्वयम्
बादरपर्याप्तपृथ्वीकाय- ,, ,, ाप्काय- ,, ,, वायुकाय- ,, ,, प्रत्येकवनस्पतिकाय- ,, ,, ैकेन्द्रियेषु	अन्तर्मुहूर्तम्	संख्येयसहस्रवर्षाणि
बादरपर्याप्ततेजस्काये	,,	संख्येयान्यहोरात्राणि मतान्तरे संख्येयवर्षसहस्राणि वा
वैक्रिययोग-आहारकयोगयोः मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क- वचनयोगौघ- ,, ,, ,, केषु	समय	अन्तर्मुहूर्तम्
काययोगौघे	वेदनीयस्य-अन्तर्मुहूर्तम् शेषत्रयस्य समयः	असङ्ख्यपुद्गलपरावर्ताः ,,
औदारिककाययोगे	समय	अन्तर्मुहूर्तोनानि द्वाविंशति- वर्षसहस्राणि
औदारिकमिश्रे	वेदस्य समयः शेषत्रयस्य समयद्वयोनक्षुल्लकभवः	अन्तर्मुहूर्तम् ,,
वैक्रियमिश्राहारकमिश्रयोः	अन्तर्मुहूर्तम्	,,
कार्मणानाहारकयोः	समय	समयद्वयं त्रयं वा, वेदस्य त्रयमेव
पुरुषवेदे	अन्तर्मुहूर्तम्	सातिरेकसागरोपमशतपृथक्त्वम्
स्त्रीवेदे	समय	पल्योपमशतपृथक्त्वम्
नपुंसकवेदे	,,	असंख्येयपुद्गलपरावर्ताः
अवेदे	समयः	वेदस्य देशोनपूर्वकोटिः शेषत्रयस्य अन्तर्मुहूर्तम्।
कषायचतुष्के	समय मतान्तरे-क्रोधमानमायासु अन्तर्मुहूर्तम्	अन्तर्मुहूर्तम् ,,
मतिज्ञानश्रुतज्ञान-सम्यक्त्वौघ- क्षयोपशमसम्यक्त्वेषु	अन्तर्मुहूर्तम्	साधिकषट्षष्टिसागरोपमाणि

अवधिज्ञानदर्शनयोः	समयः, अन्तर्मुहूर्तं वा	साधिकषट्षष्टिसागरोपमाणि
मनःपर्ययज्ञाने	समयः	देशोनपूर्वकोटि
केवलज्ञान-केवलदर्शनयो	वेद्यस्य-अन्तर्मुहूर्तम्,	,,
मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-असंयम-मिथ्यात्वेषु	अन्तर्मुहूर्तम्	अनाद्यनन्तः, अनादिसान्तः, सादिसान्ते देशोनार्धपुद्गलपरावर्तः
विभङ्गे	समयः	सातिरेकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि
संयमौघे	वेद्यस्य समयः, अन्तर्मु वा शेषस्य-समय एव	देशोनपूर्वकोटिः ,,
सामायिकच्छेदोपस्थापनीययोः	समयः	,,
परिहारविशुद्धौ	समयः, अन्तर्मु वा	,,
सूक्ष्मसम्पराये	समयः	अन्तर्मुहूर्तम्
देशविरतौ	अन्तर्मुहूर्तम्	देशोनपूर्वकोटि
चक्षुर्दर्शने	अन्तर्मुहूर्तम्	सातिरेकसागरोपमसहस्रम् सागरोपमसहस्रद्वय वा
अचक्षुर्दर्शने भव्ये	वेद्यस्य-अनाद्यनन्तः, अनादिसान्तः शेषस्य-अन्तर्मुहूर्तम	जघन्यवत् तथा च शेषस्य देशोनार्धपुद्गलपरावर्तश्च.
कृष्णलेश्यायाम्	अन्तर्मुहूर्तम्	साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि
नील ,,	,,	साधिकसप्तदशसागरोपमाणि दश ,, वा
कापोत ,,	,,	साधिकदशसागरोपमाणि सप्त ,, वा
तेजो ,,	,,	सातिरेकसागरोपमद्वयम्
पद्म ,,	,,	सातिरेकाष्टादशसागरोपमाणि ,, दश ,, वा
शुक्ल ,,	,,	सातिरेकाणि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि
अभव्ये	अनाद्यनन्त एव	०
उपशमसम्यक्त्वे	अन्तर्मुहूर्तम्	अन्तर्मुहूर्तम्
क्षायिकसम्यक्त्वे	,,	साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि.
मिश्र ,,	,,	अन्तर्मुहूर्तम्
सास्वादने	समयः	षडावलिका
संज्ञिनि	क्षुल्लकभवः	साधिकसागरोपमशतपृथक्त्वम्
आहारिणि	वेद्यस्य–समयद्वयोनक्षुल्लकभवः शेषत्रयस्य–समयः	अङ्गुलासङ्ख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमितसमया = असङ्ख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः

दर्शनावरणमोहनीययोरवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालोऽनन्तरदर्शितज्ञानावरणसत्कोत्कृष्टावस्थित-कालवद् द्रष्टव्यः । केवलं मतिज्ञान-श्रुतज्ञानावधिज्ञानावधिदर्शनसम्यक्त्वौघ-क्षयोपशमसम्य-क्त्वमार्गणासु षट्सु, मोहनीयस्यावस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालः साधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरो-पमाणि पञ्चसंग्रहाभिप्रायेण । सप्ततिकाभाष्यवृत्त्यभिप्रायेण सातिरेकषट्षष्टिसागरोपमाणि । अन्ये तु द्विचत्वारिंशत् सागरोपमाणि प्रतिपादयन्ति यतश्चतुर्थगुणस्थानकालस्य तत्तन्मते ताव-त्प्रमाणत्वात् ॥६४-६५॥

अथ दर्शनावरणसत्कावस्थानबन्धस्य जघन्यकालं निरूपयति—

असमत्तपणिंदितिरियमणुसपणिंदितसऽणुत्तरेसु तहा ।
सव्वेसुं एगिंदिय-विगलिंदिय-पंचकायेसुं ॥६६॥
मीसतिजोगेसु तहा अणाणातिगपरिहारदेसेसुं ।
अजयअसुहलेसासुं अभवे तह वेअगे मीसे ॥६७॥
मिच्छासणणीसु लहू दुइअस्स अवट्ठिअस्स कायठिई ।
सजहणणांतमुहुत्तं अंतिमणिरयेऽणणाहि समयो ॥६८॥

(प्रे०) "असमत्तपणिंदि" इत्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-अपर्याप्तमनुष्या-ऽपर्याप्त-पञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसकाय-पञ्चानुत्तरसुरमार्गणा-सप्तैकेन्द्रिय-नवविकलाक्षैकोनचत्वारिंशत्पञ्च-कायसत्कभेदौदारिकमिश्र--वैक्रियमिश्राऽऽहारकमिश्र--मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञान -परिहार-विशुद्धि-देशविरत्यसंयम कृष्ण-नील-कापोतलेश्यात्रयाऽभव्य-क्षयोपशमसम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्व-मिथ्यात्वाऽसंज्ञिमार्गणास्वेकाशीतौ दर्शनावरणसत्कावस्थितबन्धस्य जघन्यकालो मार्गणाजघ-न्यकायस्थितिप्रमाणोऽवसेयः । एताभ्यः कासुचिन्मार्गणासु दर्शनावरणस्यैकस्यैव बन्धस्थानस्य सद्भावेन मार्गणाजघन्यकायस्थितिप्रमाणकालस्य लाभात् । औदारिकमिश्रे वैक्रियमिश्रे च बन्धस्थानद्वयस्य सद्भावेऽपि प्रस्तुतमार्गणायां न बन्धस्थानयोर्बन्धे परावृत्तिः, अत एव जघ-न्यकायस्थितिप्रमाणकालस्य लाभ इति । असंयमेऽशुभलेश्यात्रये च जघन्यकायस्थितिरन्त-र्मुहूर्तप्रमाणा, प्रस्तुतमार्गणासु बन्धस्थानद्वयं भवति, तयोः परस्परं संक्रमानन्तरमन्तर्मुहूर्तं यावदवश्यं प्रस्तुतमार्गणानामवस्थानादन्तर्मुहूर्तमवस्थानबन्धस्य जघन्यकालः प्राप्यत इति । भावना तु सुगमा स्वयं च कार्येति । सप्तमनरकमार्गणायां दर्शनावरणस्यावस्थानबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम् , मार्गणाजघन्यकालस्यातिबृहत्तरत्वात् , न तस्यातिदेशः । स च जघन्यकालः सम्यक्त्वद्वयान्तरालस्थितमिथ्यात्वजघन्यकालप्रमाणः, यद्वा मिथ्यात्वद्वयान्त-

राले सम्यक्त्वजघन्यकालप्रमाणः, यदि वा सम्यक्त्वतः पतित्वा मिथ्यात्वं प्राप्य तत्र जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं स्थित्वैव जीवो मार्गणान्तरं व्रजति अतस्तावत्कालप्रमाणः, एवं चोक्तप्रकारत्रयात् यत्र जघन्यकालः प्राप्यते सोऽत्र ग्राह्य इति। उक्तशेषास्वष्टाशीतिमार्गणासु दर्शनावरणस्यावस्थितबन्धस्य जघन्यकालः समयः, (१) काश्चिन्मार्गणा जघन्यतः समयप्रमाणा एव, कासुचिन्मार्गणासु मार्गणाया जघन्यकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तादिप्रमाणत्वेऽपि तास्वनेकबन्धस्थानानां सम्भवेन षड्विधबन्धात् सास्वादनगुणस्थानकं गत्वा नवविधबन्धस्थानं प्राप्य प्रथमसमये भूयस्कारबन्धं निर्वर्त्य द्वितीयसमयेऽवस्थितबन्धं कृत्वा मार्गणान्तरं यः प्राप्नोति तस्यावस्थितबन्धस्य जघन्यकालः समयो भवति।

मनोयोगवचोयोगभेदकाययोगौघौदारिकयोगकषायचतुष्केषु पुनः बन्धस्थानत्रयेऽपि प्रत्येकं तत्तद्बन्धस्थानं प्राप्य द्वितीयसमयेऽवस्थितबन्धं कृत्वा स्वस्थान एव मार्गणायाः परावृत्त्या समयः कालो भवति

सामान्यतो नवविधबन्धात् षड्विधबन्धस्थानं प्राप्य समयान्तरे मरणादिना मार्गणायाः परावृत्तिर्नैव भवतीत्यवधार्यम्। यतश्चतसृष्वपि गतिषु सम्यक्त्वजघन्यकालस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्।

२ चतुष्कबन्धात् षड्बन्धस्थानं प्राप्य द्वितीयसमयेऽवस्थितबन्धं कृत्वा तृतीयसमये मरणेन मार्गणापरावृत्त्याऽपि समयप्रमाणकालो लभ्यते।

३ यद्वा श्रेणितोऽवरोहन् दर्शनावरणचतुष्कबन्धप्रारम्भप्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धं कृत्वा द्वितीयसमयेऽवस्थितबन्धं निर्वर्त्य निधनं प्राप्य दिवि समुत्पन्नस्य षड्बन्धस्थानं प्राप्तस्य तत्र प्रस्तुतमार्गणाया अवस्थानेऽपि चतुर्विधबन्धस्थाने समयमवस्थानबन्धः प्राप्यते।

४ यद्वोपशमश्रेण्यारोहे षड्विधबन्धाच्चतुर्विधबन्धं प्राप्य द्वितीयसमये चावस्थितबन्धं विधाय मरणं समासाद्य पुनः षड्विधबन्धं प्राप्तस्याऽपि समयोऽवस्थानबन्धस्य जघन्यकालः प्राप्यते।

येऽसंज्ञिपर्यन्तेषु सास्वादनभावमेव न मन्यन्ते ये चैकेन्द्रियाद्यसंज्ञिपर्यवसानेषु च सास्वादनभावस्याङ्गीकरणेऽपि सम्यक्त्वतश्च्युत्वा सास्वादनभावं प्राप्तास्तत्रावलिकाऽसङ्ख्येयभागकालमननुभूयामंज्ञ्यादिजीवेषु नोत्पद्यन्ते इत्यभिप्रायवन्तस्तन्मते पञ्चेन्द्रियादिमार्गणास्ववस्थितबन्धस्य जघन्यकालस्तृतीय-चतुर्थविकल्पद्वयेन प्राप्यत इति। नरकौघादिमार्गणास्ववस्थितबन्धस्य जघन्यकालः प्रथमविकल्पेन प्राप्यते। अचक्षुर्दर्शनभव्यमार्गणयोस्तु तृतीय चतुर्थविकल्पद्वयेनैवेति।

शेषाऽष्टाशीतिमार्गणा नामत इमाः—नरकौघाद्यषड्नरक-तिर्यग्गत्योघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यक्त्रिक-मनुष्यत्रिक-देवौघ-भवनपति-व्यन्तर--ज्योतिष्क-द्वादशकल्प--नवग्रैवेयक-द्विपञ्चेन्द्रिय--द्वि-

त्रसकाय-मनोयोग वचोयोगसर्वभेद--काययोगौघौदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारककाययोग-कार्मणयोग-वेदत्रया-ऽपगतवेद-कषायचतुष्क--ज्ञानचतुष्क-संयमौघ-सामायिक--च्छेदोपस्थापनीय -सूक्ष्मसम्पराय-चक्षुरचक्षुरवधिदर्शन-शुभलेश्यात्रय-भव्य सम्यक्त्वौघोपशम-क्षायिक-सास्वादन-संज्ञ्याहारका-नाहारकमार्गणाः । अत्र तेजःपद्मलेश्याद्वये मतद्वयमवसातव्यम्, तद्यथा—येषां मते देवानां या शुभावस्थितलेश्या भवति सा उत्तरभवेऽप्यन्तर्मुहूर्तं यावदवश्यं प्रवर्तते तेषां मते देवेभ्यश्च्युत्वा एकेन्द्रियेषु मिथ्यादृक्तिर्यग्मनुष्येष्वपि शुभलेश्या भवति अतस्तेषां मतेऽवस्थितबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम् एव प्राप्यते, न पुनः समयः । येषां मते तु देवा मिथ्यादृष्टयः शुभलेश्यामधिकृत्य च्यवनानन्तरं नष्टलेश्याका एव भवन्ति तेषां मते देवगतिमार्गणावत् तेजःपद्मलेश्याद्वये नवविधबन्धस्थानस्यावस्थानबन्धस्य जघन्यकालः समयो भवति । अत्र च प्रथम एव मतः प्रधानतयाऽङ्गीकर्तव्यः आगमेन सह संवादात् । न च द्वितीयोऽप्रामाणिकतया विधातव्यः, जीवसमासादिपूर्वधररचितग्रन्थेन सह संवादादिति ॥६६-६७-६८॥

अथ मोहनीयसत्कावस्थितबन्धस्य जघन्यकालं निरूपयन्नाह—

असमत्तपणिंदितिरिअमणुमपणिदितसऽणुत्तरेसु तहा ।
सव्वेसुं एगिंदिय-विगलिंदिय-पंचकायेसुं ॥६९॥
वेअगअमणेसु लहू अवट्ठिअस्सऽत्थि मोहणीयस्स ।
सजहण्णा कायठिई समयो सेसासु विण्णेयो ॥७०॥

(प्रे०) "असमत्ते"त्यादि, यासु मार्गणासूपशमश्रेण्योर्यद्वा सास्वादनगुणस्थानस्य सद्भावस्तासु मार्गणासु मोहनीयस्यावस्थानबन्धस्य जघन्यकालः समयः, तत्रोपशमश्रेणौ मोहस्य नूतनबन्धस्थानं प्रारभ्य द्वितीयसमयेऽवस्थितबन्धं कृत्वा कालकरणेन भूयस्कारबन्धं प्राप्तस्याऽवस्थितबन्धजघन्यकालः प्राप्यते; सास्वादनस्य तु कालस्यैव समयादिषडावलिकाप्रमाणत्वेन तत्रागतानां तत्प्रथमसमयेऽवश्यं भूयस्कारबन्धो सर्वेषां भवति, तदनन्तरसमयेऽवस्थितबन्धं कृत्वा मिथ्यात्वगुणं प्राप्तानां पुनरपि भूयस्कारबन्धस्यावश्यं भावादवस्थितबन्धस्य जघन्यकालः समयः प्राप्यत इति । अत्र केवलमुपशमश्रेणिप्रयुक्तोऽवस्थितबन्धजघन्यकालो यासु भवति ता मार्गणा नामत इमाः-अपगतवेदमत्यादिज्ञानचतुष्कावधिदर्शनसंयमौघसामायिकच्छेदोपस्थापनीय-सम्यक्त्वौघोपशमसम्यक्त्व-क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणा द्वादश । उपशमश्रेणिप्रयुक्ता सास्वादनप्रयुक्ताश्चावस्थितबन्धजघन्यकालिका मार्गणा इमाः—मनुष्यभेदत्रयद्विपञ्चेन्द्रिय-द्वित्रसकाय-मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगौघ तदुत्तरभेदचतुष्क—काययोगौघौदारिककाययोग -वेदत्रय-कषायचतुष्क-चक्षुरचक्षुर्दर्शन-शुक्ललेश्या भव्य-संज्ञ्याहारकमार्गणा द्वात्रिंशत् । केवलं

राले सम्यक्त्वजघन्यकालप्रमाणः, यदि वा सम्यक्त्वतः पतित्वा मिथ्यात्वं प्राप्य तत्र जघन्य-तोऽन्तर्मुहूर्तं स्थित्वैव जीवो मार्गणान्तरं व्रजति अतस्तावत्कालप्रमाणः, एवं चोक्तप्रकार-त्रयात् यत्र जघन्यकालः प्राप्यते सोऽत्र ग्राह्य इति । उक्तशेषास्वष्टाशीतिमार्गणासु दर्शनावरण-स्यावस्थितबन्धस्य जघन्यकालः समयः, (१) काश्चिन्मार्गणा जघन्यतः समयप्रमाणा एव, कासुचिन्मार्गणासु मार्गणाया जघन्यकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तादिप्रमाणत्वेऽपि तास्वनेकबन्धस्थानानां सम्भवेन षड्विधबन्धात् सास्वादनगुणस्थानकं गत्वा नवविधबन्धस्थानं प्राप्य प्रथमसमये भूयस्कारबन्धं निर्वर्त्य द्वितीयसमयेऽवस्थितबन्धं कृत्वा मार्गणान्तरं यः प्राप्नोति तस्यावस्थित-बन्धस्य जघन्यकालः समयो भवति ।

मनोयोगवचोयोगभेदकाययोगौघौदारिकयोगकषायचतुष्केषु पुनः बन्धस्थानत्रयेऽपि प्रत्येकं तत्तद्बन्धस्थानं प्राप्य द्वितीयसमयेऽवस्थितबन्धं कृत्वा स्वस्थान एव मार्गणायाः परा-वृत्त्या समयः कालो भवति

सामान्यतो नवविधबन्धात् षड्विधबन्धस्थानं प्राप्य समयान्तरे मरणादिना मार्गणायाः परावृत्तिर्नैव भवतीत्यवधार्यम् । यतश्चतसृष्वपि गतिषु सम्यक्त्वजघन्यकालस्यान्तर्मुहूर्तप्रमा-णत्वात् ।

२ चतुष्कबन्धात् षड्बन्धस्थानं प्राप्य द्वितीयसमयेऽवस्थितबन्धं कृत्वा तृतीयसमये मरणेन मार्गणापरावृत्त्याऽपि समयप्रमाणकालो लभ्यते ।

३ यद्वा श्रेणितोऽवरोहन् दर्शनावरणचतुष्कबन्धप्रारम्भप्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धं कृत्वा द्वितीयसमयेऽवस्थितबन्धं निर्वर्त्य निधनं प्राप्य दिवि समुत्पन्नस्य षड्बन्धस्थानं प्राप्तस्य तत्र प्रस्तुतमार्गणाया अवस्थानेऽपि चतुर्विधबन्धस्थाने समयमवस्थानबन्धः प्राप्यते ।

४ यद्वोपशमश्रेण्यारोहे षड्विधबन्धाच्चतुर्विधबन्धं प्राप्य द्वितीयसमये चावस्थितबन्धं विधाय मरणं समासाद्य पुनः षड्विधबन्धं प्राप्तस्याऽपि समयोऽवस्थानबन्धस्य जघन्यकालः प्राप्यते ।

येऽसंज्ञिपर्यन्तेषु सास्वादनभावमेव न मन्यन्ते ये चैकेन्द्रियाद्यसंज्ञिपर्यवसानेषु च सास्वादनभावस्याङ्गीकरणेऽपि सम्यक्त्वतश्च्युत्वा सास्वादनभावं प्राप्तास्तत्रावलिकाऽसङ्ख्येय-भागकालमननुभूयासंज्ञ्यादिजीवेषु नोत्पद्यन्ते इत्यभिप्रायवन्तस्तन्मते पञ्चेन्द्रियादिमार्गणास्वव-स्थितबन्धस्य जघन्यकालस्तृतीय-चतुर्थविकल्पद्वयेन प्राप्यत इति । नरकौघादिमार्गणास्ववस्थित-बन्धस्य जघन्यकालः प्रथमविकल्पेन प्राप्यते । अचक्षुर्दर्शनभव्यमार्गणयोस्तु तृतीय चतुर्थवि-कल्पद्वयेनैवेति ।

शेषाऽष्टाशीतिमार्गणा नामत इमाः—नरकौघाद्यषड्नरक-तिर्यग्गत्योघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यक्-त्रिक-मनुष्यत्रिक-देवौघ-भवनपति-व्यन्तर--ज्योतिष्क-द्वादशकल्प--नवग्रैवेयक-द्विपञ्चेन्द्रिय--द्वि-

बन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तं समयं वा भवेदिति स्वयमागमानुसारेण निर्णेयम्; यतो नात्राऽऽहारकद्विकस्य बन्धः, न च सामान्यतो बन्धस्थानयोः परावृत्तिः, केवलं जिननामप्रारम्भादेव तत्परावृत्तिः, यदि मार्गणाद्वितीयसमये मार्गणाद्विचरमसमये वा जिननामबन्धप्रारम्भः स्यात् तर्हि अवस्थानबन्धस्य जघन्यकालः समयः स्यादन्यथा त्वन्तर्मुहूर्तमित्यत्र तत्त्वं बहुश्रुता विदन्ति ॥६९॥

अथ मार्गणासु नाम्नोऽवस्थानबन्धस्योत्कृष्टकालमानं निरूपयन्नाह—

दुपणिंदितसपुमेसुं तिणाणअजएसु दंसणतिगे य ।
सुक्कभवियसम्मखइअ-वेअगसण्णीसु आहारे ॥७०॥
ओघव्व गुरू कालो णामस्स अवट्ठिअस्स विण्णेयो ।
समणिरयभवणतिगपणलेसासुं ऊणजेट्ठकायठिई ॥७१॥ (गीतिः)
जेट्ठा भवट्ठिई खलु हवेज्ज तिरियदुपणिंदितिरियेसुं ।
साऽभहिया दुणरेसुं दुजोणिणीए य देसूणा ॥७२॥
सुरसोहम्माइगसुरकम्मणमणणाणासंजमेसुं च ।
सामाइअछेएसुं परिहारे देममीसेसुं ॥७३॥
सासणऽणाहारेसुं जेट्ठा कायट्ठिई मुणेयव्वो ।
थीअ पणवणपल्ला ऊणा णपुमे च जलहितेत्तीसा ॥७४॥ (गीतिः)
अहियेगतीसजलही अणणाणदुगे अभवियमिच्छेसुं ।
ऊणा इगतीसुदही विब्भंगेऽणाह मुहुत्तंतो ॥७५॥

(प्रे०) "दुपणिंदि" इत्यादिः गाथाषट्कम्, नाम्नोऽवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालो बाहुल्यत एकभवतोऽधिको नैव प्राप्यते, (१) एकस्मिन् भवेऽपि भवप्रत्ययेनैव यदि बन्धस्थानानां परावृत्तिर्न स्यात्तदा, (२) तत्सम्भवे तु यावत्कालं तस्मिन् भवे सम्यक्त्वादिगुणप्रत्ययेन बन्धस्थानपरावृत्तिर्न स्यात्, तावत्कालं बन्धाऽपरावृत्तिर्धारणीया, अतस्तत्र तस्य गुणप्रत्ययेनोत्कृष्टावस्थानकालः प्राप्यते । (३) अन्यथा तु बन्धस्थानानामुत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमवश्यं परावृत्त्याऽवस्थानबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तमेव प्राप्यते, नाधिक इति । एतेन बीजभूतार्थपदेन गाथार्थो भावनीयस्तद्यथा—

द्विपञ्चेन्द्रियाद्यकोनविंशतिमार्गणासु पञ्चानुत्तरदेवभवापेक्षया समयोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणोऽवस्थानबन्धस्योत्कृष्टकालो भावनीयः । नरकौघ प्रथमादिसप्तमान्तनरकभेद-

सास्वादनप्रयुक्ता अवस्थितबन्धस्य जघन्यकालिका मार्गणा इमाः—नरकौघाद्यषड्नरकाऽपर्याप्त-भेदवर्जतिर्यग्भेदचतुष्कदेवौघ--भवनपति--व्यन्तर-ज्योतिष्क--द्वादशकल्प--नवग्रैवेयकौदारिकमिश्र-वैक्रिय-वैक्रियमिश्र-कार्मणा-ऽज्ञानत्रयाऽसंयम--कृष्णनीलकापोततेजः पद्मलेश्याऽनाहारकमार्गणा इति पञ्चाशत् । काश्चिन्मार्गणा एव जघन्यतः समयप्रमाणकायस्थितिका अतस्तत्र जघन्यकाय-स्थितिमपेक्ष्यैव समयोऽवस्थितबन्धस्य जघन्यकालः प्राप्यते, ता मार्गणा नामत इमाः—आहारक-काययोग-परिहारविशुद्धि-सास्वादनमार्गणा इति तिस्रो मार्गणाः । शेषास्वपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्य-गादिद्वासप्ततिमार्गणास्वेकैकस्यैव बन्धस्थानस्य भावेन मार्गणाजघन्यकायस्थितेश्चान्तर्मुहूर्तादि-प्रमाणत्वाद् मोहनीयस्यावस्थितबन्धस्य जघन्यकालः स्वजघन्यकायस्थितिप्रमाणो भवति, स च प्रागनन्तरदर्शितज्ञानावरणसत्कावस्थानजघन्यकालवद् भावनीय इति । सूक्ष्मसम्परायादिमार्गणा-पञ्चके मोहनीयस्य बन्धाभावान्न तासां निर्देश इति ॥६९-७०॥

मोहनीयसत्कावस्थानबन्धस्योत्कृष्टकालं प्राक् "मूलपयडिव्व दुहा" इत्यादिना(५५-५६) दर्शितत्वात् क्रमप्राप्तं नाम्नोऽवस्थितबन्धस्य जघन्यकालं प्ररूपयन्नाह—

आणतआइसुरेसुं मीसे य अवट्ठिअस्स णामस्स ।
सजहण्णा कायठिई देसे समयण्णहऽत्थि खणो ॥७१॥

(प्रे०) "आणते" त्यादि, यासु मार्गणास्वेकजीवापेक्षया द्व्यादीन्यनेकबन्धस्थानानि तत्रा-वस्थानबन्धस्य जघन्यकालः समयः सम्भवेत् । यासां मार्गणानां जघन्या कायस्थितिः समयप्रमाणा तास्वप्यवस्थानबन्धस्य जघन्यकालः समयो भवति । केवलं सम्यग्दृष्टिप्रायोग्यासु मतिज्ञानादि-मार्गणासु सामान्यतो बन्धस्थानानां परावृत्तेरभावेऽपि यद्बन्धस्थानं प्रवर्तते ततो जिननामबन्धं प्रारभ्यान्यद्बन्धं प्राप्य द्वितीयसमये तदेव निर्वर्त्य तृतीयसमय आहारकद्विकस्य बन्धप्रारम्भात् समयप्रमाणोऽवस्थानबन्धस्य जघन्यकालो भवति, यद्वाऽऽहारकद्विकबन्धकः सप्तमगुणस्थानात् षष्ठं गुणस्थानकं प्राप्य तद्विरामाद् बन्धस्थानान्तरमेव व्रजति, ततो द्वितीयसमये तदेव निर्वर्त्य निधनं प्राप्य दिवि समुत्पन्नस्य नियमाद् बन्धस्थानस्य परावर्तनात् समयं प्रमत्तगुणस्थानद्वितीय-समयरूपमवस्थितबन्धस्य जघन्यकालः प्राप्यत इति ।

आनतादिसर्वार्थसिद्धपर्यन्तेष्वष्टादशदेवभेदेषु सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायाञ्चेति एकोन-विंशतिमार्गणासु नानाजीवापेक्षया बन्धस्थानद्वयस्य प्रत्येकं भावेऽप्येकजीवापेक्षयैकस्यैव बन्ध-स्थानस्य मार्गणाप्रारम्भात्तत्पर्यवसानं यावन्निरन्तरं सम्भवेन मार्गणाजघन्यकालस्य चान्त-र्मुहूर्तं ततोऽप्यधिकस्य वा सम्भवेन नाम्नोऽवस्थानबन्धस्य जघन्यकालः समयो न प्राप्यते, किन्तु मार्गणाजघन्यकायस्थितिकालप्रमाण इति । देशविरतिमार्गणायां तु नाम्नोऽवस्थित-

बन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तं समयं वा भवेदिति स्वयमागमानुसारेण निर्णेयम्; यतो नात्राऽऽहारकद्विकस्य बन्धः, न च सामान्यतो बन्धस्थानयोः परावृत्तिः, केवलं जिननामप्रारम्भादेव तत्परावृत्तिः, यदि मार्गणाद्वितीयसमये मार्गणाद्विचरमसमये वा जिननामबन्धप्रारम्भः स्यात् तर्हि अवस्थानबन्धस्य जघन्यकालः समयः स्यादन्यथा त्वन्तर्मुहूर्तमित्यत्र तत्त्वं बहुश्रुता विदन्ति ॥६९॥

अथ मार्गणासु नाम्नोऽवस्थानबन्धस्योत्कृष्टकालमानं निरूपयन्नाह—

दुपणिदितसपुमेसुं तिणाणअजएसु दंसणतिगे य ।
सुक्कभवियसम्मखइअ-वेअगसण्णीसु आहारे ॥७०॥
ओघव्व गुरू कालो णामस्स अवट्ठिअस्स विराणेयो ।
समणिरयभवणनिगपणलेसासुं ऊणजेट्ठकायठिई ॥७१॥ (गीतिः)
जेट्ठा भवट्ठिई खलु हवेज्ज तिरियदुपणिदितिरियेसुं ।
साऽब्भहिया दुणरेसुं दुजोणिणीए य देसूणा ॥७२॥
सुरसोहम्माइगसुरकम्मणमणणाणसंजमेसुं च ।
सामाइअछेएसुं परिहारे देममीसेसुं ॥७३॥
सासणऽणाहारेसुं जेट्ठा कायट्ठिई मुणेयव्वो ।
थीअ पणवण्णपल्ला ऊणा णपुमे च जलहितेत्तीसा ॥७४॥ (गीतिः)
अहियेगतीसजलही अणाणदुगे अभवियमिच्छेसुं ।
ऊणा इगतीसुदही विब्भंगेऽणाह मुहुत्तंतो ॥७५॥

(प्रे०) "दुपणिंदि" इत्यादि गाथाषट्कम्, नाम्नोऽवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालो बाहुल्यत एकभवतोऽधिको नैव प्राप्यते, (१) एकस्मिन्न् भवेऽपि भवप्रत्ययेनैव यदि बन्धस्थानानां परावृत्तिर्न स्यात्तदा,(२) तत्सम्भवे तु यावत्कालं तस्मिन् भवे सम्यक्त्वादिगुणप्रत्ययेन बन्धस्थानपरावृत्तिर्न स्यात्, तावत्कालं बन्धाऽपरावृत्तिर्धारणीया, अतस्तत्र तस्य गुणप्रत्ययेनोत्कृष्टावस्थानकालः प्राप्यते । (३) अन्यथा तु बन्धस्थानानामुत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमवश्यं परावृत्त्याऽवस्थानबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तमेव प्राप्यते, नाधिक इति । एतेन बीजभूतार्थपदेन गाथार्थो भावनीयस्तद्यथा—

द्विपञ्चेन्द्रियाद्येकोनविंशतिमार्गणासु पञ्चानुत्तरदेवभवापेक्षया समयोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणोऽवस्थानबन्धस्योत्कृष्टकालो भावनीयः । नरकौघ प्रथमादिसप्तमान्तनरकभेद-

भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कभेदकृष्णादिपञ्चलेश्यारूपा षोडशमार्गणासु नाम्नोऽवस्थानबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तोनमार्गणोत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणः प्राप्यते । तत्र नरकभेदेष्वष्टसु भवनपत्यादिभेदत्रयेऽशुभलेश्यात्रये च नानाबन्धस्थानसम्भवेन परावृत्तिसम्भवेऽपि तासु प्रत्येकं सम्यक्त्वगुणसत्कोत्कृष्टकालस्यान्तर्मुहूर्तोनकायस्थितिप्रमाणत्वेन तत्प्रयुक्तोऽवस्थानबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तोनमार्गणाकायस्थितिप्रमाणः प्राप्यत इति । देवौघसौधर्मादिसर्वार्थसिद्धदेवान्तसप्तविंशतिमार्गणासु नाम्नोऽवस्थानबन्धस्योत्कृष्टकालो मार्गणाज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणो भवति । भावना त्वोघवदेव, तत्तद्देवभेदमवलम्ब्य सम्यग्दृष्टिदेवापेक्षया कार्येति । अत्र भवप्रथमसमये भूयस्काराल्पतरान्यतरबन्धस्य भावेऽपि तस्य भवप्रथमसमये मार्गणाप्रथमसमयरूपे भूयस्काराल्पतरत्वेनाविवक्षणात् अवस्थितबन्धत्वेन तद्बन्ध उक्तः, भवप्रथमसमयभाविबन्धस्य भूयस्काराल्पतरतया विवक्षणे तु समयोनकायस्थितिरवस्थानबन्धस्य ज्येष्ठकालो वाच्य इति । तेजःपद्मलेश्याद्वये सम्भवद्देवसत्कोत्कृष्टकालो यावान् भवति ततः समयोनोऽवस्थानबन्धस्योत्कृष्टकालो भवति । सोऽप्यन्तर्मुहूर्तोनस्वज्येष्ठकायस्थितिप्रमाण एवेति । तिर्यग्गत्योघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणात्रये ज्येष्ठस्थितिकक्षायिकसम्यग्दृष्टिमधिकृत्यावस्थानबन्धस्योत्कृष्टकालः पल्योपमत्रयप्रमाणः प्राप्यते, तस्य भावना त्वष्टाविंशतिबन्धस्थानमधिकृत्य कार्येति । मनुष्यौघे पर्याप्तमनुष्ये च पूर्वकोट्यायुष्को मनुष्यः स्वभवचरमतृतीयभागप्रारम्भे युगलिकमनुष्यसत्कं पल्योपमत्रयमितमायुर्बद्ध्वाऽन्तर्मुहूर्तेन सम्यक्त्वं समासादयति, तत्र च स सम्यक्त्वाभिमुखावस्थातो देवद्विकाद्यष्टाविंशतिदेवप्रायोग्यबन्धमारभते; ततः स्वभवचरमतृतीयभागमन्तर्मुहूर्तोनं तदेव बन्धस्थानं निर्वर्त्य स्वभवक्षये मृत्वा पल्यत्रयस्थितिकयुगलिकमनुष्येषूत्पन्नस्तदेव बन्धस्थानं भवप्रथमसमयाच्चरमसमयं यावन्निर्वर्तयति ततो देवेष्वेवोत्पादेन मार्गणाया एवोच्छेदादन्तर्मुहूर्तोनं पूर्वकोटीतृतीयभागं पल्योपमत्रयं चावस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालः प्राप्यत इति । मानुषीमार्गणायां तिरश्चीमार्गणायां च देशोनपल्योपमत्रयमवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालो विज्ञेयः, देशोनत्वं चात्राऽन्तर्मुहूर्तोनत्वमिति । सम्यग्दृशां स्त्रीवेदेषूत्पादाभावेन युगलिनीषु तेषामुत्पादाभावाद् भवाद्यान्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं युगलिनीनां देवप्रायोग्यस्यैव बन्धकत्वादवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकाल उक्तरूपः सङ्गच्छते इति । सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायामेकजीवापेक्षया एकस्यैव बन्धस्थानस्य सम्भवेन मार्गणाज्येष्ठकालं यावत्तस्यैव बन्धस्य भावादवस्थानबन्धस्योत्कृष्टकालो मार्गणाज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणो भवति ।

मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीयसंयमेषु श्रेण्यनारोहकानामाहारकद्विकबन्धाभावे मार्गणामध्ये जिननामबन्धप्रारम्भाभावे चैकस्यैव बन्धस्थानस्य मार्गणाज्येष्ठकालं यावद् भावेनैतासु चतसृषु नाम्नोऽवस्थानबन्धस्योत्कृष्टकालो मार्गणोत्कृष्ट-

कायस्थितिप्रमाणो भवति । एवं परिहारविशुद्धौ देशविरतौ च यथासम्भवं भावना कार्येति । कार्मणानाहारकमार्गणाद्वये बन्धस्थानपरावृत्तिसम्भवेऽपि न तत्र सा अवश्यं भाविनी, अतो ये समयत्रयं यावद्बन्धस्थानपरावृत्तिं नैव कुर्वन्ति ते मार्गणाज्येष्ठकालं यावत्समयत्रयमितमवस्थितबन्धं कुर्वन्ति । सास्वादनसम्यक्त्वमार्गणायां बन्धस्थानत्रयं संभवति, ततस्तेषां सामान्यतस्तावत्कालमध्ये परावर्तनसम्भवेऽपि भवप्रत्ययेन ये सास्वादनगुणस्था जीवा एकमेव बन्धस्थानं निर्वर्तयितुं योग्याः, यथाऽऽनतदेवाः सास्वादनगुणेऽपि केवलं मनुष्यप्रायोग्यैकोनत्रिंशतं बध्नन्ति, यथा च पर्याप्तयुगलिकतिर्यग्मनुष्या वा सास्वादनेऽपि देवगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिमेव बध्नन्ति, अतस्ते सास्वादनमार्गणोत्कृष्टकालं यावदवस्थानबन्धमेव कुर्वन्तीति तदपेक्षया मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिरवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकाल इति ।

स्त्रीवेदमार्गणायां ज्येष्ठा भवस्थितिरैशानाऽपरिगृहीतदेवीसत्का पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमाः, तत्र च सम्यग्दृशामुत्पादाभावेन मिथ्यादृशां च बन्धस्थानत्रयस्य परावृत्त्या बन्धसम्भवेन ताः पर्याप्तीभूय शीघ्रं सम्यक्त्वाभिमुखतां भजन्ति ततः प्रारभ्य भवचरमसमयं यावत्तासां मनुष्यप्रायोग्यैकोनत्रिंशतो बन्धस्थानस्यैव प्रवर्तनाद्नाम्नोऽवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तोना देवीसत्का ज्येष्ठा भवस्थितिर्भवति, सा चान्तर्मुहूर्तोनपञ्चपञ्चाशत्पल्योपमप्रमाणेति । नपुंसकवेदमार्गणायां सप्तमनरके भवाद्यचरमान्तर्मुहूर्तद्वयं विहाय शेषा सप्तमनारकसत्का या ज्येष्ठा भवस्थितिरन्तर्मुहूर्तोना त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणा, तत्र तावत्कालं केषाञ्चित्सम्यक्त्वस्य भावेन मनुष्यप्रायोग्यैकोनत्रिंशद्बन्धस्य निरन्तरं प्रवर्तनादवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणः प्राप्यत इति । मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानमार्गणाद्वये ज्येष्ठभवस्थितेस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणभावेऽपि तस्या नारकसत्कत्वात् तत्र च तेषां नारकाणां तिर्यक्प्रायोग्यबन्धस्थानद्वयस्य भावेन परावृत्त्याऽन्तर्मुहूर्तादधिकोऽवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालो न प्राप्यते । तिर्यग्मनुष्याणां तु युगलधार्मिकमपेक्ष्यान्तर्मुहूर्तोनपल्योपमत्रयप्रमित एवावस्थितज्येष्ठबन्धकालः प्राप्यते । सङ्ख्येयवर्षायुष्कापेक्षया त्वन्तर्मुहूर्तम् । सहस्रारान्तदेवापेक्षयाऽपि तस्य तथात्वादानतादिदेवापेक्षया प्रस्तुतमार्गणागतानामेकस्यैव बन्धस्थानस्य लाभेन तत्रावस्थितबन्धो ज्येष्ठभवस्थितिं यावल्लभ्यते । अत्राऽनुत्तरदेवानां प्रस्तुतमार्गणाद्वयस्याभावेन नवमग्रैवेयकसत्कज्येष्ठभवस्थितिप्रमाणोऽवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालः प्राप्यते, स चैकत्रिंशत्सागरोपमप्रमाणः, स च देवोत्तरमनुष्यभवसत्कान्तर्मुहूर्तेनाभ्यधिको द्रष्टव्य इति । विभङ्गज्ञानमार्गणायामप्येवमेव केवलमुत्तरभवसत्कान्तर्मुहूर्तकालं विहाय शेषं सर्वं निरूपणं निरवशेषं बोध्यम् । केवलं परमतमधिकृत्यान्तर्मुहूर्तोनैकत्रिंशत्सागरोपमप्रमाण उत्कृष्टकालो

विज्ञेय इति । एवमेव सातिरेकैकत्रिंशत्सागरोपमप्रमाण उत्कृष्टकालोऽवस्थितबन्धस्य मिथ्यात्वाभव्यमार्गणयोरवधार्यः, भावनाऽपि तद्वदेवेति ।

शेषासु चतुरशीतिमार्गणासु नाम्नोऽवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो भवति, बाहुल्यतो मार्गणासु सर्वावस्थायां नानाबन्धस्थानसम्भवेन परावृत्त्या च तद्बन्धप्रवर्तनेनान्तर्मुहूर्तादधिकं विवक्षितबन्धस्थानं नैव प्रवर्तते । कासाञ्चिदाहारककाययोगादिमार्गणानां ज्येष्ठकायस्थितेरेवान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् तदधिकबन्धकालस्यानवकाश इति ।

शेषमार्गणा नामत इमाः—अपर्याप्ततिर्यगऽपर्याप्तमनुष्याऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्तत्रसकाय-सप्तैकेन्द्रिय-नवविकलाक्ष- पृथ्व्यादिपञ्चकायसत्कैकोनचत्वारिंशत्कायभेदकार्मणवर्जसप्तदशयोगभेदाऽपगतवेद--कषायचतुष्क--सूक्ष्मसम्परायसंयमो--पशमसम्यक्त्वाऽसंज्ञिमार्गणा इति । ॥७०-७५॥

श्रीबन्धविधाने उत्तरप्रकृतिबन्धे तृतीयभूयस्काराधिकारे स्वस्थाने
तृतीय कालद्वार समाप्तम् ।

॥ अथ चतुर्थमन्तरद्वारम् ॥

अथ चतुर्थमन्तरद्वारं निरूपयितुकाम आदौ भूयरकारस्य जघन्यान्तरमोघत आह—

बीआवरणस्स लहुं भूओगारस्स अंतरं णेयं ।
भिन्नमुहुत्तं समयो कम्माणं तुरिअ-छट्ठाणं ॥७६॥

(प्रे०) "बीआवरणस्से"त्यादि, दर्शनावरणस्य भूयस्कारबन्धस्य जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, श्रेणितोऽवरोहंश्चतुर्विधबन्धात् षड् बद्ध्वा क्रमेणाऽधोऽवतीर्य मिथ्यात्वं सास्वादनं वा गच्छति; तत्र च नवविधबन्धं प्रारभते, एवं च सति षड्विधबन्धप्रारम्भकालान्नवविधबन्धस्य प्रारम्भकालं यावदऽन्तर्मुहूर्तमेव कालो जघन्यतो भवति, अतस्तावदन्तरं प्राप्यते । यद्वा सम्यक्त्वगुणतो मिथ्यात्वं प्राप्तस्य तत्प्रथमसमये भूयस्कारबन्धं करोति ततोऽन्तर्मुहूर्ते पुनरपि सम्यक्त्वं प्रतिपद्यान्तर्मुहूर्तं तत्र स्थित्वा मिथ्यात्वं व्रजतो तत्प्रथमसमये पुनर्भूयस्कारबन्धं करोति, एवमन्तर्मुहूर्तद्वयमपि बृहदेकान्तर्मुहूर्तेऽन्तर्भवति । उक्तविकल्पद्वये यत्र जघन्यमन्तरं तदत्र ग्राह्यमिति । जघन्यान्तरं समयं तु नैव प्राप्यते यतः षड्विधबन्धस्य नवविधबन्धस्य च जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तमेव, भूयस्कारबन्धस्तदन्तरं चोक्तबन्धस्थानद्वयप्रयुक्तमेवेति । मोहनीयस्य नाम्नश्च भूयस्कारबन्धस्य जघन्यान्तरं समयो भवति, तच्चावस्थितबन्धप्रयुक्त एव भवति, यतो भूयस्काराल्पतरयोः समुदिताऽपि परावृत्तिः समयत्रयं यावन्नैव स्यादतो भूयस्कारबन्धानन्तरं यदि नामप्रकृतिष्वल्पतरबन्धः प्रवर्तते तदा तृतीयादिसमयेऽवस्थितबन्ध एव प्रवर्तते अतो भूयस्कारबन्धानन्तरं समयमवस्थितबन्धं विधाय पुनर्भूयस्कारबन्धं यदा करोति तदा समयप्रमितमन्तरं प्राप्यत इति । अत्र मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धस्य जघन्यान्तरं यः श्रेणितोऽवरोहन् सकृद् भूयस्कारबन्धं कृत्वा द्वितीयसमयेऽवस्थितबन्धं विधाय तृतीयसमये देवेषूत्पद्य पुनर्भूयस्कारं करोति तमधिकृत्य प्राप्यते, यद्वा सम्यक्त्वतः प्रपततः सास्वादनं समयद्वयमनुभूय मिथ्यात्व प्राप्तस्य भूयस्कारबन्धस्य जघन्यान्तरं प्राप्यते । नाम्नो भूयस्कारबन्धस्य जघन्यान्तरं मिथ्यादृष्टिसास्वादनाऽप्रमत्ताऽपूर्वकरणगुणस्थानगतजीवापेक्षया प्राप्यत इति ॥७६॥

अथ ओघतोऽल्पतरबन्धस्य जघन्यान्तरं निरूपयन्नाह—

अप्पयरस्स जहण्णं बीअचउत्थाण होइ कम्माणं ।
भिन्नमुहुत्तं समयो विण्णेयं णामकम्मस्स ॥७७॥

(प्रे०) "अप्पयरस्से"त्यादि, दर्शनावरणमोहनीयकर्मणोरल्पतरबन्धस्य जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तमुपर्युपरिगुणस्थानकारोह एवाल्पतरबन्धस्य लाभेन तादृशगुणस्थानकान्तरप्राप्ति-

व्यवधानस्य जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्, एवमेव नवमगुणस्थानेऽपि तदवान्तरभागपञ्चकस्य प्राप्त्यन्तरजघन्यकालस्याऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् । अष्टमान्तगुणस्थानेभ्य एकस्मिन् गुणस्थानके, नवमगुणस्थानभागपञ्चकादेकस्मिन् भागे च यथासम्भवं तयोरल्पतरबन्धस्य द्विरलाभाच्चान्तर्मुहूर्तप्रमाणमन्तरं जघन्यतः प्राप्यत इति । अयम्भावः–दर्शनावरणे नवविधबन्धात् षड्विधबन्धं प्राप्य तत्र चान्तर्मुहूर्तं स्थित्वैव चतुर्विधबन्धस्थानं प्राप्नोति, षड्विधबन्धस्थानजघन्यकालस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्, यासु पुनर्मार्गणासु षड्विधबन्धस्थानस्य जघन्यकालः समयः प्राप्यते, तथापि स मरणव्याघातादिना मार्गणापरावृत्त्या, न पुनस्तत्र बन्धस्थानपरावृत्तिर्भवति चतुर्विधबन्धस्थानं वा प्राप्यते । मोहनीयस्याप्यल्पतरबन्धान्तरं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमेव भवति । एकविंशतिप्रकृतिरूपं बन्धस्थानं विहाय शेषबन्धस्थानानां जघन्यकालस्य मरणव्याघात विहायान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्, मरणव्याघाते सति भूयस्कारबन्धस्यावस्थितबन्धस्य वा भावाच्च । न पुनः कुत्रचिदपि मरणव्याघातेन मोहनीयस्याल्पतरबन्धः प्राप्यते, येन तत्प्रयुक्ताल्पतरबन्धान्तरं समयः स्यात् । एकविंशतिबन्धस्थानं पुनः भूयस्कारेणैव प्राप्यते, तदुत्तरमपि भूयस्कारबन्धोऽवस्थितबन्धो वा । नामकर्मसत्काल्पतरबन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, तदप्यवस्थितबन्धप्रयुक्तमेव भूयस्कारबन्धान्तरवत् प्राप्यते, केवलमाद्यगुणस्थानद्वयगता एवाल्पतरबन्धजघन्यान्तरस्य स्वामिन इति ॥७७॥

अथ ओघतोऽवस्थिताऽवक्तव्यबन्धयोर्जघन्यान्तरं निरूपयन्नाह–

हस्सं आइमसत्तमचरमाण अवट्ठिअस्स दो समया ।
समयो तिण्हं छण्हमवत्तव्वस्स य मुहुत्तंतो ॥७८॥

(प्रे०) "हस्स"मित्यादि, ज्ञानावरणगोत्रान्तरायाणां त्रयाणामवक्तव्यावस्थितबन्धौ एव भवतः, तत्रावस्थितबन्धस्य विरामोऽबन्धेनैव भवति, स चोपशान्तमोहे क्षीणमोहे वा, तत्रोपशान्तमोहे प्रथमसमयेऽबन्धं कृत्वा तत्रैव मरणेन द्वितीयसमये योऽवक्तव्यबन्धं करोति तस्य पुनस्तृतीयसमयेऽवस्थितबन्धो भवति, एवं च समयद्वयमबन्धावक्तव्यबन्धद्वयप्रयुक्तमेव त्रयाणामवस्थितबन्धस्य जघन्यान्तरं प्राप्यते ।

दर्शनावरणमोहनीयनाम्नामवस्थितबन्धस्य जघन्यान्तरं समयो भवति, तच्चान्तरं भूयस्कारबन्धप्रयुक्तमल्पतरबन्धप्रयुक्तं वा भवति । अबन्धप्रयुक्तं तु न ग्राह्यम्; यतोऽबन्धोत्तरबन्धभवने तत्प्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धस्यावश्यंभावात्समयद्वयमेवान्तरं स्यात्, न तु समयम्, तथा च न जघन्यमिति ।

आयुषोऽवक्तव्यावस्थितबन्धयोः प्रागेव स्वामित्वद्वारे शेषकालादिद्वाराणां प्ररूपणाया दर्शितत्वान्नात्र तदवकाशः । तथा वेदनीयस्यावस्थितबन्धस्यान्तरमेव नास्ति, तद्बन्धस्याऽनाद्यनन्तभङ्गेऽनादिसान्तभङ्गे चैव लाभादिति ।

आयुष्कवेदनीयवर्जानां षण्णामवक्तव्यबन्धस्य जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तम्, उपशमश्रेणितोऽवरोहमाणः षण्णामवक्तव्यबन्धं विधाय ततः क्रमेण प्रमत्तगुणस्थानकं यावत् प्राप्य पुनः शीघ्रं श्रेणिमारुह्य सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये निधनं प्राप्य देवेषूत्पन्नो मोहनीयस्यावक्तव्यबन्धं करोति, ज्ञानावरणादिपञ्चानां स एवोपशान्तमोहं प्राप्य तत्प्रथमसमये मरणमासाद्य स्वर्गलोकं प्राप्तोऽवक्तव्यबन्धं विदधाति, अतोऽन्तर्मुहूर्तातो न्यूनमन्तरं नैव स्यात्; श्रेण्यारोहणावरोहणकालस्य श्रेणिद्वयान्तरकालस्य च जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् ॥७८॥

अथ नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टान्तरं प्रदर्शयन्नाह—

जलहीणं संखेज्जा भूओगारस्स णामकम्मस्स ।
गुरुमप्पयरस्स भवे तेत्तीसा सागराऽब्भहिया ॥७९॥

(प्रे०) "जलहीण"मित्यादि, नामकर्मणो भूयस्कारबन्धस्योत्कृष्टान्तरं साधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि संख्येयसागरोपमाणि वा भवति, आहारकद्विकबन्धक उपशान्तमोहगतश्च कालं कृत्वा देवगतौ य उत्पद्यते तं विहाय सर्वस्य देवगतावुत्पत्तिप्रथमसमयेऽवश्यं भूयस्कारबन्धः प्रवर्तते, तत्र च सम्यक्त्वेन सह त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि व्यतीत्य मनुष्येषूत्पद्याल्पतरबन्धं विधाय पुनरवस्थितबन्धं कुर्वन्नाहारकद्विकं जिननाम चाबध्नन् स्वभवप्रान्तं यावदवस्थितबन्धं कृत्वा देवेषूत्पद्यते तर्हि तत्प्रथमसमये भूयस्कारबन्धो भवति। एवं च पूर्वकोट्यभ्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि प्रस्तुतान्तरं सामान्यतया प्रकृष्टं लभ्यते। आहारकद्विकस्य जिननाम्नो वा बन्धभावे तु भूयस्कारबन्धस्य भवनाभ प्रकृष्टान्तरलाभः। यदि पुनर्देवभवानन्तरं पूर्वकोट्यायुष्कभवे प्रान्त उपशमश्रेणिमारुह्य नाम्नोऽबन्धको भूत्वोपशान्तमोहगुणस्थानक एव कालं कृत्वा पुनस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकदेवतयोत्पद्यते तर्हि तत्र भूयस्कारबन्धस्थाने भवप्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धस्यैव भावात् पुनरन्यानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि प्रस्तुतान्तरमध्ये सम्भवात् षट्षष्टिसागरोपमाणि पूर्वकोटी अन्य देशोनपूर्वकोटी च प्रस्तुतान्तरं प्राप्यत इति मूले सङ्ख्येयान्येव सागरोपमाणि प्रस्तुतान्तरं दर्शितम्। न पुनस्त्रयस्त्रिंशदिति। अतः सामान्यतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सातिरेकाणि, विशेषत उक्तघटनया सातिरेकाणि षट्षष्टिसागरोपमाणि प्रस्तुतान्तरं प्राप्यत इति।

केचित्तु साधिकानि द्विषट्षष्टिसागरोपमाणि प्रस्तुतान्तरतया कल्पयन्ति, तन्मते श्रेणितः कालं कृत्वाऽनुत्तरभिन्नदेवेषूत्पादस्यानिषेधात्, श्रीउत्तराध्ययनबृहद्वृत्त्यादिषु निर्ग्रन्थस्यैकादशगुणस्थानगतस्य सौधर्मादिष्वपि जघन्यतयोत्पादस्य प्रतिपादनात्। तदत्र तत्त्वं बहुश्रुता विदन्ति।

ओघतो नाम्नोऽल्पतरबन्धस्योत्कृष्टान्तरं साधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि भवति सम्यग्दृष्टयपेक्षया देवेभ्य श्च्युतस्य मनुष्यभवप्रथमसमयेऽवश्यमल्पतरबन्धस्य भावात् , समयोन-पूर्वकोटयभ्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि प्रस्तुतान्तरं मनुष्यानुत्तरदेवभवद्वयापेक्षया प्राप्यते। मिथ्यादृष्टयपेक्षया तु नवमग्रैवेयकदेवमधिकृत्यैकत्रिंशत्सागराण्यन्तर्मुहूर्ताभ्यधिकानि प्रकृष्टतः प्रस्तुतान्तरतया प्राप्यत इति न तस्योपादानम् । सप्तमनारकापेक्षया त्वल्पतरबन्धस्य प्रकृष्टान्तर-मन्तर्मुहूर्तोनानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि प्राप्यते अतो न तस्यापि प्रस्तुते ग्रहणमिति ॥७९॥

अथ षण्णामवस्थितबन्धस्य दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धयोश्च प्रकृष्टान्तरं निरूपयन्नाह—

छण्हं वि य कम्माणं अवट्ठिअस्स हवए मुहुत्तंतो ।
सेससपयाण भवे देसूणो अद्धपरिअट्टो ॥८०॥

(प्रे०) "छण्ह"मित्यादि, वेदनीयायुष्कवर्जषण्णामवस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, तद्यथा—ज्ञानावरणदर्शनावरणगोत्रनामान्तरायाणां पञ्चानां यावति उपशान्तमोहस्य ज्येष्ठाद्धा स्यात् सा समयाधिका ज्ञानावरणगोत्रान्तरायाणाम् , द्विसमयाधिका च दर्शनावरण-नाम्नोरवस्थितबन्धस्य ज्येष्ठान्तरतया प्राप्यते । अत्रोपशान्तमोहे ज्ञानावरणादिप्रकृतीनामेवाबन्ध-कत्वात्तदवस्थितबन्धस्याप्यबन्धकत्वं ततोऽवरोहकस्य बन्धप्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धस्यैव भावाद-वस्थितबन्धाभावः; इति आरोहकसूक्ष्मसम्परायचरमसमयं यावत्प्रवृत्तोऽप्यवस्थितबन्ध उपशान्तमो-हेऽवरोहकसूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये च नैव लभ्यते, सूक्ष्मसम्परायद्वितीयादिसमयेषु पुनरपि तत्प्र-वृत्तेः । दर्शनावरणनाम्नोस्त्ववरोहकसूक्ष्मसम्परायप्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धं विधाय मरणमासाद्य देवेषूत्पन्नस्य तयोर्भूयस्कारबन्धस्यैव भावेन देवभवद्वितीयसमयतोऽवस्थितबन्धः प्रवर्तेत इत्येवं ज्ञानावरणादिभ्यो दर्शनावरणनाम्नोरवस्थितबन्धान्तरं समयाधिकमिति । मोहस्यावस्थितबन्ध-ज्येष्ठान्तरं दर्शनावरणवद्विज्ञेयम् , केवलमुपशान्तमोहाद्धास्थाने तस्या सूक्ष्मसम्परायद्वयाद्धायाश्चा-न्तरमध्ये ग्रहणादन्तर्मुहूर्तत्रयं समयद्वयाधिकमन्तरं बोद्धव्यम् । तदेवं वेदनीयायुर्वर्जानां षण्णामपि कर्मणामवस्थितबन्धस्य ज्येष्ठान्तरमोघेऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणं भवति, यतो विरुद्धबन्धप्रयुक्तान्तरं समयं समयद्वयं वा भवति । अबन्धप्रयुक्तान्तरं तु प्रकृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाण प्राप्यते, षण्णा-मपि कर्मणामबन्धकालस्य प्रकृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वादिति । वेदनीयस्य केवलमवस्थितबन्ध एव भवति, तस्य चान्तरं नास्ति । आयुषः प्रागेव दर्शितत्वादत्रानधिकार एवेति ।

"सेससपयाण" त्ति ज्ञानावरणादिषण्णामवक्तव्यपदस्य दर्शनावरणमोहनीययोर्भू-यस्काराल्पतरबन्धयोश्च ज्येष्ठान्तरं देशोनार्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणं भवति । सकृत् सम्यक्त्वं प्राप्तस्य

तदनुक्षपकश्रेणिप्राप्तेर्ज्येष्ठान्तरस्य तावन्मितत्वेन ततोऽधिकान्तरस्यासम्भवात्, सम्यक्त्वद्वयस्योपशमश्रेणिद्वयस्य च ज्येष्ठान्तरस्य देशोनार्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणत्वादिति। तदेवमोघतो भूयस्कारादिपदानामन्तरं जघन्यत उत्कृष्टतश्च निरूपितम् ॥८०॥

अथ मार्गणासु तद् निरूपयन्नाह षण्णामवक्तव्यबन्धान्तरम्—

जाणऽत्थि अवत्तव्वो जहि तहि दुइअचउवंधठाणव्व।
सिं अंतरमत्थि णवरि अवेअसुक्कुवसमेसुं णो ॥८१॥

(प्रे०) "जाणे"त्यादि, यासु मार्गणास्वायुर्वर्जानां यासां यासां प्रकृतीनामवक्तव्यबन्धो भवति तासु चैव मार्गणासु तासां जघन्यान्तरं ज्येष्ठान्तरं च दर्शनावरणस्य चतुर्विधबन्धस्य यावदन्तरं जघन्यत उत्कृष्टतश्च दर्शितं, तावदत्र प्राप्यते, एतच्च सामान्यत उक्तम्, अर्थात् यत्र तज्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं तत्र प्रस्तुतेऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणं लभ्यते तथाऽपि न तयोरन्तर्मुहूर्तयोस्तुल्यत्वम्, किन्तु चतुर्विधबन्धसत्कजघन्यान्तरतोऽवक्तव्यबन्धजघन्यान्तरस्य सङ्ख्येयगुणत्वमवधेयम्। अतिदिष्टान्तरं संक्षेपतो दर्शयामः, तद्यथा—मनुष्यौघ पर्याप्तमनुष्य-मानुषीषु ज्ञानावरणादिषण्णामवक्तव्यबन्धस्य जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं ज्येष्ठं पूर्वकोटीपृथक्त्वं देशोनम्। पञ्चेन्द्रियौघपर्याप्तपञ्चेन्द्रियद्विके त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकायद्वये मतिज्ञानादिज्ञानत्रिक-चक्षुरवधिदर्शन-क्षायिकसम्यक्त्वसंज्ञ्याहारकमार्गणासु द्वादशसु षण्णामवक्तव्यबन्धस्य जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं ज्येष्ठान्तरं देशोनज्येष्ठकायस्थितिः। मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-काययोगौघौ-दारिककाययोगेषु षण्णां लोभमार्गणायां च मोहनीयस्यावक्तव्यबन्धस्य भावेऽप्येतासु यथा चतुर्विधबन्धस्थानस्यान्तरं नास्ति तथाऽवक्तव्यबन्धस्याप्यन्तरं नास्ति, चतुर्विधबन्धान्तरस्याभावस्तु प्रस्तुते योगानां परावर्तमानत्वेनोपशान्तमोहकालं यावदवस्थितयोगस्याभावात्, लोभमार्गणाया उपशान्तमोहेऽलाभाच्च। अवक्तव्यबन्धान्तराभावस्तु यः सकृद्बन्धं विधाय यावत् षष्ठगुणस्थानमवतीर्य पुनरपि श्रेणिमारुह्य बन्धविच्छेदं करोति तावत्प्रस्तुतमार्गणानामनवस्थानात्। मनःपर्यवज्ञाने संयमौघे च षण्णामवक्तव्यबन्धस्य जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं ज्येष्ठं देशोनपूर्वकोटिः। सम्यक्त्वौघे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं ज्येष्ठं साधिकानि षट्षष्टिसागरोपमाणि।

अचक्षुर्दर्शन-भव्यमार्गणयोस्त्वोघवत् षण्णामवक्तव्यबन्धस्य जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तमुत्कृष्टान्तरं देशोनार्धपुद्गलपरावर्तगतसमयप्रमितं भवति। अपगतवेदशुक्ललेश्योपशमसम्यक्त्वरूपासु तिसृषु मार्गणासु यासु चतुर्विधबन्धस्थानस्यान्तरमुपशान्तमोहापेक्षया एव प्राप्यते, न पुनः श्रेणिमनरुह्य पुनरारोहणमपेक्ष्य तासु चतुर्विधबन्धान्तरस्य भावेऽपि प्रस्तुतेऽवक्तव्यबन्ध-

ओघतो नाम्नोऽल्पतरबन्धस्योत्कृष्टान्तरं साधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि भवति सम्यग्दृष्ट्यपेक्षया देवेभ्य श्च्युतस्य मनुष्यभवप्रथमसमयेऽवश्यमल्पतरबन्धस्य भावात् , समयोनपूर्वकोटयभ्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि प्रस्तुतान्तरं मनुष्यानुत्तरदेवभवद्वयापेक्षया प्राप्यते । मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया तु नवमग्रैवेयकदेवमधिकृत्यैकत्रिंशत्सागराण्यन्तर्मुहूर्ताभ्यधिकानि प्रकृष्टतः प्रस्तुतान्तरतया प्राप्यत इति न तस्योपादानम् । सप्तमनारकापेक्षया त्वल्पतरबन्धस्य प्रकृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तोनानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि प्राप्यते अतो न तस्यापि प्रस्तुते ग्रहणमिति ॥७९॥

अथ षण्णामवस्थितबन्धस्य दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्कारात्पतरबन्धयोश्च प्रकृष्टान्तरं निरूपयन्नाह—

छण्हं वि य कम्माणं अवट्ठिअस्स हवए मुहुत्तंतो ।
सेससपयाण भवे देसूणो अद्धपरिअट्टो ॥८०॥

(प्रे०) "छण्ह"मित्यादि, वेदनीयायुष्कवर्जषण्णामवस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, तद्यथा—ज्ञानावरणदर्शनावरणगोत्रनामान्तरायाणां पञ्चानां यावति उपशान्तमोहस्य ज्येष्ठाद्धा स्यात् सा समयाधिका ज्ञानावरणगोत्रान्तरायाणाम् , द्विसमयाधिका च दर्शनावरणनाम्नोरवस्थितबन्धस्य ज्येष्ठान्तरतया प्राप्यते । अत्रोपशान्तमोहे ज्ञानावरणादिप्रकृतीनामेवाबन्धकत्वात्तदवस्थितबन्धस्याप्यबन्धकत्वं ततोऽवरोहकस्य बन्धप्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धस्यैव भावादवस्थितबन्धाभावः; इति आरोहकसूक्ष्मसम्परायचरमसमयं यावत्प्रवृत्तोऽप्यवस्थितबन्ध उपशान्तमोहेऽवरोहकसूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये च नैव लभ्यते, सूक्ष्मसम्परायद्वितीयादिसमयेषु पुनरपि तत्प्रवृत्तेः । दर्शनावरणनाम्नोस्त्ववरोहकसूक्ष्मसम्परायप्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धं विधाय मरणमासाद्य देवेषूत्पन्नस्य तयोर्भूयस्कारबन्धस्यैव भावेन देवभवद्वितीयसमयतोऽवस्थितबन्धः प्रवर्तत इत्येवं ज्ञानावरणादिभ्यो दर्शनावरणनाम्नोरवस्थितबन्धान्तरं समयाधिकमिति । मोहस्यावस्थितबन्धज्येष्ठान्तरं दर्शनावरणवद्विज्ञेयम् , केवलमुपशान्तमोहाद्धास्थाने तस्या सूक्ष्मसम्परायद्वयाद्धायाश्चान्तरमध्ये ग्रहणादन्तर्मुहूर्तत्रयं समयद्वयाधिकमन्तरं बोद्धव्यम् । तदेवं वेदनीयायुर्वर्जानां षण्णामपि कर्मणामवस्थितबन्धस्य ज्येष्ठान्तरमोघेऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणं भवति, यतो विरुद्धबन्धप्रयुक्तान्तरं समयं समयद्वयं वा भवति। अबन्धप्रयुक्तान्तरं तु प्रकृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाण प्राप्यते, षण्णामपि कर्मणामबन्धकालस्य प्रकृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वादिति । वेदनीयस्य केवलमवस्थितबन्ध एव भवति, तस्य चान्तरं नास्ति । आयुषः प्रागेव दर्शितत्वादत्रानधिकार एवेति ।

"सेससपयाण" त्ति ज्ञानावरणादिषण्णामवक्तव्यपदस्य दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्कारात्पतरबन्धयोश्च ज्येष्ठान्तरं देशोनार्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणं भवति । सकृत् सम्यक्त्वं प्राप्तस्य

तदनुक्षपकश्रेणिप्राप्तेर्ज्येष्ठान्तरस्य तावन्मितत्वेन ततोऽधिकान्तरस्यासम्भवात्, सम्यक्त्वद्वयस्योपशमश्रेणिद्वयस्य च ज्येष्ठान्तरस्य देशोनार्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणत्वादिति । तदेवमोघतो भूयस्कारादिपदानामन्तरं जघन्यत उत्कृष्टतश्च निरूपितम् ॥८०॥

अथ मार्गणासु तद् निरूपयन्नाह षण्णामवक्तव्यबन्धान्तरम्—

जासुऽत्थि अवत्तव्वो जहि तहि दुइअचउबंधठाणव्व ।
सि अंतरमत्थि णवरि अवेअसुक्कुवसमेसु णो ॥८१॥

(प्रे०) "जासु"त्यादि, यासु मार्गणास्वायुर्वर्जानां यासां यासां प्रकृतीनामवक्तव्यबन्धो भवति; तासु चैव मार्गणासु तासां जघन्यान्तरं ज्येष्ठान्तरं च दर्शनावरणस्य चतुर्विधबन्धस्य यावदन्तरं जघन्यत उत्कृष्टतश्च दर्शितं, तावदत्र प्राप्यते, एतच्च सामान्यत उक्तम्, अर्थात् यत्र तज्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं तत्र प्रस्तुतेऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणं लभ्यते तथाऽपि न तयोरन्तर्मुहूर्तयोस्तुल्यत्वम्, किन्तु चतुर्विधबन्धसत्कजघन्यान्तरतोऽवक्तव्यबन्धजघन्यान्तरस्य सङ्ख्येयगुणत्वमवधेयम् । अतिदिष्टान्तरं संक्षेपतो दर्शयामः, तद्यथा—मनुष्यौघ पर्याप्तमनुष्य-मानुषीषु ज्ञानावरणादिषण्णामवक्तव्यबन्धस्य जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं ज्येष्ठं पूर्वकोटीपृथक्त्वं देशोनम् । पञ्चेन्द्रियौघपर्याप्तपञ्चेन्द्रियद्विके त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकायद्वये मतिज्ञानादिज्ञानत्रिक-चक्षुरवधिदर्शन-क्षायिकसम्यक्त्वसंज्ञ्याहारकमार्गणासु द्वादशसु षण्णामवक्तव्यबन्धस्य जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं ज्येष्ठान्तरं देशोनज्येष्ठकायस्थितिः । मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-काययोगौघौ-दारिककाययोगेषु षण्णां लोभमार्गणायां च मोहनीयस्यावक्तव्यबन्धस्य भावेऽप्येतासु यथा चतुर्विधबन्धस्थानस्यान्तरं नास्ति तथाऽवक्तव्यबन्धस्याप्यन्तरं नास्ति, चतुर्विधबन्धान्तरस्याभावस्तु प्रस्तुते योगानां परावर्तमानत्वेनोपशान्तमोहकालं यावदवस्थितयोगस्याभावात्, लोभमार्गणाया उपशान्तमोहेऽलाभाच्च । अवक्तव्यबन्धान्तराभावस्तु यः सकृद्बन्धं विधाय यावत् षष्ठगुणस्थानमवतीर्य पुनरपि श्रेणिमारुह्य बन्धविच्छेदं करोति तावत्प्रस्तुतमार्गणानामनवस्थानात् । मनःपर्यवज्ञाने संयमौघे च षण्णामवक्तव्यबन्धस्य जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं ज्येष्ठं देशोनपूर्वकोटिः । सम्यक्त्वौघे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं ज्येष्ठं साधिकानि षट्षष्टिसागरोपमाणि ।

अचक्षुर्दर्शन-भव्यमार्गणयोस्त्वोघवत् षण्णामवक्तव्यबन्धस्य जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तमुत्कृष्टान्तरं देशोनार्धपुद्गलपरावर्तगतसमयप्रमितं भवति । अपगतवेदशुक्ललेश्योपशमसम्यक्त्वरूपासु तिसृषु मार्गणासु यासु चतुर्विधबन्धस्थानस्यान्तरमुपशान्तमोहापेक्षया एव प्राप्यते, न पुनः श्रेणिमवरुह्य पुनरारोहणमपेक्ष्य तासु चतुर्विधबन्धान्तरस्य भावेऽपि प्रस्तुतेऽवक्तव्यबन्ध-

स्यान्तरं नास्ति, एतासु द्विरवक्तव्यबन्धस्यैवाभावेन तदन्तरस्य निषेध इति । एवमेकगाथया मार्गणास्ववक्तव्यबन्धस्य जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरं दर्शितम् ॥८१॥

अथ सर्वमार्गणासु ज्ञानावरण-गोत्राऽन्तरायाणामवस्थितबन्धस्य जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरं प्ररूपयन्नाह—

सव्वहि अवट्ठिअस्स उ भवे पढमगोअविग्घाणं ।
मूलपयडिव्व णवर लहुं खणो जहि तहि दुसमया ॥८२॥ (उपगीतिः)

(प्रे०) "सव्वहि"त्यादि, ज्ञानावरणगोत्रान्तरायाणां त्रयाणां पदद्वयमेव भवति, तत्रावक्तव्यस्यान्तरं प्राग्गाथया दर्शितम् । प्रस्तुतगाथया चावस्थितपदस्यान्तरम्, तद्यथा—यासु मार्गणासूपशान्तमोहसंज्ञकं गुणस्थानकं तथा तत्र मरणानन्तरमपि या मार्गणा अवतिष्ठते तत्रावस्थितबन्धस्य जघन्यान्तरं समयद्वयं भवति । यासु पुनर्मार्गणासूपशान्तमोहगुणस्थानकस्य भावेऽपि तत्र मरणानन्तरं या मार्गणा विच्छेदं यान्ति तास्ववस्थितबन्धस्य जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, उत्कृष्टान्तरं त्वन्तर्मुहूर्तमेव । मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्कौदारिककाययोगे चाऽवस्थितबन्धस्यान्तरं नास्ति, एतास्वबन्धस्य लाभेऽपि पुनर्बन्धप्रारम्भात् प्रागेव प्रस्तुतमार्गणाया अवश्यमेव परावर्तनाद् मूलप्रकृतिबन्धान्तराभावस्येवावस्थितबन्धान्तरस्याप्यभाव इति । ज्ञानावरणादित्रयाणामवस्थितबन्धस्यान्तरमबन्धप्रयुक्तमवक्तव्यबन्धप्रयुक्तं च भावनीयमिति, नान्यप्रकारेण तत्प्राप्यते अत उक्तम्—'जहि तहि दुसमया' इति ॥८२॥

अथ दर्शनावरणमोहनीयनाम्नामवक्तव्यबन्धान्तरस्योक्तत्वात्तद्वर्जशेषपदत्रयस्य जघन्यान्तरं दर्शयति—

दुइअतुरिअछट्ठाणं जाणऽणाणपयाण अंतरं अत्थि ।
सिं लहुमोघव्व णवरि भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वं ॥८३॥
णामस्स य सव्वणिरयतइआइगअट्ठमंतदेवेसुं ।
भूगारस्स अवेए अवट्ठिअस्स खलु दुइअछट्ठा ॥८४॥
भूगारस्स अवेए मणणाणे संजमे समइए य ।
छेअम्मि वेअगम्मि य मोहस्सऽप्पयरगस्य पुणो ॥८५॥
चउणाणसंजमेसुं समइअछेअपरिहारओहीसुं ।
पम्हसुइलसम्मखइअवेअगुवसमेसु णामस्स ॥८६॥

(प्रे०) "दुइअ" इत्यादि, दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां प्रत्येकं भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धानामन्तरं यथौघे भवति तथा सर्वमार्गणासु सम्भवत्तत्तत्पदेषु विज्ञेयम् । तद्यथा—दर्शना-

वरणस्य भूयस्कारबन्धस्याल्पतरबन्धस्य च जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तम् । अवस्थितबन्धस्य जघन्यान्तरं समयः । मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, अल्पतरबन्धस्य जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तम् । अवस्थितबन्धस्य जघन्यान्तरं समयः । नाम्नो भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धानां जघन्यान्तरं समयः । इयमत्र भावना—दर्शनावरणस्य नवविधं षड्विधं चेति बन्धस्थानद्वयस्य मरणादिना मार्गणापरावृत्तिं विहाय जघन्यकालस्यान्तर्मुहूर्तत्वाद् भूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तरं जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तम् । मार्गणापरावृत्त्या च मार्गणाया एवाभवान्न तद्विचारः, किञ्चौघे यस्य यावज्जघन्यमन्तर्मुहूर्तमन्तरम्, ततो न्यूनान्तरस्य मार्गणास्वसम्भव इत्यप्यन्तर्मुहूर्तमेवान्तरं प्राप्यत इति । मनोयोगादिमार्गणासु तु दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धयोः सम्भवेऽपि मनोयोगवचनयोगसत्कसर्वभेदेष्वौदारिककाययोगे काययोगौघे वैक्रिययोगे कषायचतुष्के उपशमे च दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तरं नास्ति । अवस्थितबन्धस्य जघन्यान्तरं भूयस्काराल्पतरयोः सम्भवे तद्व्यवधानेन समयप्रमाणं प्राप्यते । अपगतवेदमार्गणायां तयोरसम्भवादबन्धप्रयुक्तं प्रस्तुतान्तरं जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तमेवेति ।

मोहनीये यासु मार्गणासूपशमश्रेणिर्भवति, तत्र च कालं कृत्वा देवेषूत्पन्नस्य या मार्गणा अवतिष्ठन्ते, तासु मार्गणासु भूयस्कारबन्धस्य जघन्यान्तरं समयो भवति, तथा च यासु मार्गणासूपरितनगुणस्थानेभ्योऽवरुह्य सास्वादनं प्राप्य मिथ्यात्वं प्राप्तुमर्हति तास्वपि मोहस्य भूयस्कारबन्धस्य जघन्यान्तरं समयो भवति । औदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रकार्मणानाहारकत्र्यज्ञानमार्गणासु सप्तसु मोहस्य भूयस्कारबन्धस्य भावेऽपि न तस्यान्तरं भवति । तथाऽपगतवेद-मनःपर्यवज्ञान संयमौघ-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीयसंयमक्षयोपशमसम्यक्त्वेषु मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धस्य जघन्यान्तरमुक्तविकल्पद्वयाभावेनान्तर्मुहूर्तप्रमाणं भवति । शेषासु सर्वनरकभेद-तिर्यग्भेदचतुष्क-त्रिमनुष्याऽनुत्तरवर्जपञ्चविंशतिदेवभेद--द्विपञ्चेन्द्रिय--द्वित्रसकाय--मनोवचनयोगसर्वभेद-काययोगौघौ- दारिक-वैक्रिय-वेदत्रय-कषायचतुष्क-मत्यादिज्ञानत्रिकाऽसंयमदर्शनत्रिक लेश्याषट्क--भव्य-सम्यक्त्वौपशम-क्षायिक संज्ञ्या-हारकमार्गणासु भूयस्कारबन्धस्य जघन्यान्तरं समयः । ओघतोऽपि मोहनीयस्याल्पतरबन्धसत्कजघन्यान्तरस्यान्तर्मुहूर्तत्वेन यास्वल्पतरबन्धसम्भवस्तासु तस्य जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, भावना त्वोघानुसारेण यथासम्भवं कार्या । केवलं मनोयोगवचनयोगसत्कसर्वभेदौदारिककाययोग-काययोगौघरूपासु द्वादशमार्गणासु श्रेणिसत्काल्पतरबन्धापेक्षयैव प्रस्तुतान्तरं विज्ञेयम्, एवं कषायचतुष्केऽपि श्रेण्यपेक्षयाऽल्पतरबन्धान्तरं प्राप्यते । वैक्रियकाययोगेऽल्पतरबन्धसद्भावेऽपि तदन्तरं नास्ति । आद्यलेश्यापञ्चके तु यथासम्भवं देवान् नारकांश्चापेक्ष्य प्रस्तुतान्तरं विज्ञेयम् । तिर्यग्मनुष्यापेक्षया त्वल्पतरबन्धस्याऽशुभलेश्यात्रयेऽभावः । तेजःपद्मलेश्याद्वये त्वल्पतरबन्धपदस्य भावेऽप्यन्तरस्याभावो मार्गणयोः प्रत्यन्तर्मुहूर्तं परावर्तमानत्वादिति । अवस्थितबन्धा-

न्तरं तु यासु भूयस्कारबन्धस्याल्पतरबन्धस्य वा सम्भवस्तासु सर्वासु तज्जघन्यतः समयो भवति, सामयिकेन भूयस्कारेणाऽल्पतरबन्धेन वा व्यवधानात् । शेषासु तदन्तरमेव नास्तीति ।

नाम्नो भूयस्कारबन्धस्य यासु सद्भावस्तासु तज्जघन्यान्तरं समयो भवति, कासुचिन्मार्गणासु मिथ्यादृष्टि-सास्वादनिनां प्रवेशस्तयोश्च त्रयादिबन्धस्थानानां सम्भवे तत्र जघन्यतमबन्धस्थानं निर्वर्त्य ततोऽधिकप्रकृत्यात्मकं निर्वर्तयति, ततः समयमवस्थाय पुनः ततोऽप्यधिकप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं यो रचयति तस्य प्रस्तुतान्तरं समयप्रमाणं प्राप्यते । सम्यग्दृष्टिषु तु जिननामबन्धेनाऽऽहारकद्विकबन्धेन समयोऽन्तरं प्राप्यते यद्वा श्रेणितोऽवरोहन्नेकबन्धादपूर्वकरणषष्ठभागं प्राप्तो देवगतिप्रायोग्यमष्टाविंशतिमेकोनत्रिंशतं वा बद्ध्वा समयं चावस्थितबन्धं कृत्वा दिवि समुत्पन्नः पुनर्भूयस्कारबन्धं करोति, एवमपि समयोऽन्तरतया प्राप्यते । यासु नाम्नो द्वे एव बन्धस्थाने तासु भूयस्कारबन्धस्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, यथा-सर्वनारकमार्गणा-सनत्कुमारादिसहस्रारान्त-देवभेदेषु । तथा आहारकाऽऽहारकमिश्र-देशविरतिमार्गणासु भूयस्कारबन्धस्य भावेऽपि तस्यान्तराभावः । कार्मणानाहारकमार्गणयोस्तु भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्भावेऽपि यदि मार्गणाप्रथम-समयभाविबन्धो भूयस्कारबन्धतया अल्पतरबन्धतया वा विवक्ष्यते, तर्हि मध्यसमये तदभावे जघन्यतः समयोऽन्तरं भवति । यदि पुनः प्रथमसमयबन्धस्य भूयस्कारबन्धतया अल्पतरबन्धतया वा न विवक्षा स्यात्तदा प्रोक्तमार्गणाद्वये तयोरन्तराभाव एवेति ।

नाम्नोऽल्पतरबन्धस्य जघन्यान्तरं भूयस्कारबन्धवत् सामान्यतः समयो भवति । विशेषतो यासु मार्गणासु केवलानां सम्यग्दृष्टिजीवानामेव सद्भावस्तास्वल्पतरबन्धस्य जघन्यान्तरकालोऽन्तर्मुहूर्तम् । ता मार्गणा नामत इमाः--मतिज्ञानादिज्ञानचतुष्काऽवधिदर्शन-संयमौघ-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय--परिहारविशुद्धि--सम्यक्त्वौघ--क्षायिकसम्यक्त्व--क्षयोपशमसम्यक्त्वोपशमसम्यक्त्वमार्गणास्त्रयोदश पद्मशुक्ललेश्ये च । एतासु पञ्चदशसु अल्पतरबन्धजघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तप्रमाणं भवति, तच्च प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानद्वये परावृत्तिं कुर्वन्तमधिकृत्याहारकद्विक-बन्धविरामेण प्राप्यत इति । लेश्याद्वये मिथ्यादृष्टीनां भावेऽपि न तदपेक्षया अन्तरं प्राप्यत इति ।
अवस्थितबन्धस्य जघन्यान्तरं तु सर्वत्र यथासम्भवं भूयस्कारबन्धेनाल्पतरबन्धेन समयो भवति ।
केवलमपगतवेदमार्गणायां नाम्नोऽवस्थितबन्धस्य जघन्यान्तरमबन्धेनैवान्तर्मुहूर्तप्रमाणं प्राप्यत इति । एवं गाथात्रयेण दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धानां जघन्यान्तं मार्गणासु दर्शितमिति ॥८३-८६॥

अथ एतेषामेव त्रयाणां कर्मणां पदत्रयसत्कोत्कृष्टान्तरं मार्गणासु निरूपयिषुरादावव-स्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरं प्राह—

दुइअतुरिअछट्ठाणं भिन्नमुहुत्तं अवट्ठिअस्स गुरुं ।
तिणरदुपंचिंदियतसअवेअकायचउणाणेसुं　　॥८७॥

संजमतिदंसणोसुं सुक्काभवियेसु सम्मखइएसुं ।
उवसमसरणीसु तहा आहारे अंतरं णेयं ॥८८॥

(प्रे०) "दुइअ" इत्यादि, इहाऽवस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरं प्रकारद्वयेन मार्गणीयम्, तत्र यद्यबन्धप्रयुक्तं तत्प्राप्यते तदोत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति । यदि पुनस्तत्तन्मार्गणासु तेषां कर्मणामबन्ध एव नास्ति, यद्वा यासु मनोयोगादिवत्तेषां कर्मणामबन्धस्य सत्त्वेऽपि पुनर्बन्धात्प्रागेव मार्गणायाः परावर्तनाद् न भवति अबन्धप्रयुक्तमन्तरम्, अतस्तासु भूयस्काराल्पतरबन्धकालप्रयुक्तमन्तरं समयं समयद्वयं वा भवतीत्यवधार्यम् । अत्र मनुष्यौघादित्रयोविंशतिमार्गणासु दर्शनावरणनाम्नोरवस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरमुपशान्तमोहगुणस्थानकज्येष्ठकालः समयाधिको समयद्वयाधिको वा भवति । तथाऽऽरोहकावरोहकसूक्ष्मसम्परायद्वयकाल उपशान्तमोहगुणस्थानकालश्चेति गुणस्थानत्रयज्येष्ठकालः समयाधिको समयद्वयाधिको वा मोहनीयस्यावस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरं प्राप्यते । त्रिमनुष्यमार्गणासु अपगतवेदे मनःपर्यवज्ञाने संयमौघे च श्रेणौ कालकरणेन मार्गणाया विच्छेदादवरोहकस्यावक्तव्यबन्धसत्कसमयाधिक उक्तगुणस्थानकज्येष्ठकालोऽन्तरतया प्राप्यते । द्विपञ्चेन्द्रियादिसप्तदशमार्गणासु तु श्रेणितोऽवरोहकवक्तव्यबन्धं कृत्वा मरणं समासाद्य दिवि समुत्पन्नस्य भूयस्कारबन्धं करोति तदनु अवस्थितबन्धं करोतिः अतः समयद्वयाधिक उक्तगुणस्थानज्येष्ठकालोऽवस्थितबन्धस्य ज्येष्ठान्तरतया प्राप्यत इति । काययोगौघमार्गणायामुपशमश्रेणिमारोहकस्य तत्तत्कर्मणां बन्धचरमसमये योगपरावृत्त्या काययोगस्य प्रारम्भो भवति तस्मिंश्चावस्थितबन्धं विधाय मार्गणाद्वितीयसमयप्रभृति औदारिककाययोगस्य यावान् श्रेणिगतापेक्षया ज्येष्ठकालो भवति तावन्तं कालं व्यतीत्य मरणेन दिवि समुत्पन्नस्य कार्मणस्य वैक्रियमिश्रस्य वा भावेन काययोगस्याऽविच्छिन्नतया विद्यमानत्वात् तत्र देवगतिप्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धं विधाय द्वितीयसमयतोऽवस्थितबन्धस्य प्रारम्भः, इत्येवं काययोगे गुणस्थानकज्येष्ठकालप्रमाणस्यान्तराभावेऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणं ज्येष्ठान्तरं भवतीति, तदन्तरं च पूर्वतः संख्येयगुणहीनं द्रष्टव्यमिति ॥८७-८८॥

असमत्तपणिंदितिरियमणुयपणिंदियतसेसु सव्वेसिं ।
एगिंदियविगलिंदियपणकायेसु तह परिहारे ॥८९॥
तह अभवियसासायणमिच्छअसरणीसु दुइअतुरिआणं ।
णा अवट्ठिअस्स जेट्ठं णामस्सऽत्थि समयपुहुत्तं ॥९०॥

(प्रे०) "असमत्ते" त्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिचतुःषष्टिमार्गणासु दर्शनावरणमोहनीययोरेकैकस्यैव बन्धस्थानस्य भावेन तयोरवस्थितबन्धस्यान्तरं नास्ति । नाम्नोऽवस्थित-

न्तरं तु यासु भूयस्कारबन्धस्याल्पतरबन्धस्य वा सम्भवस्तासु सर्वासु तज्जघन्यतः समयो भवति, सामयिकेन भूयस्कारेणाऽल्पतरबन्धेन वा व्यवधानात् । शेषासु तदन्तरमेव नास्तीति ।

नाम्नो भूयस्कारबन्धस्य यासु सद्भावस्तासु तज्जघन्यान्तरं समयो भवति, कासुचिन्मार्गणासु मिथ्यादृष्टि-सास्वादनिनां प्रवेशस्तयोश्च त्रयादिबन्धस्थानानां सम्भवे तत्र जघन्यतमबन्धस्थानं निर्वर्त्य ततोऽधिकप्रकृत्यात्मकं निर्वर्तयति, ततः समयमवस्थाय पुनः ततोऽप्यधिकप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं यो रचयति तस्य प्रस्तुतान्तरं समयप्रमाणं प्राप्यते । सम्यग्दृष्टिषु तु जिननामबन्धेना-ऽऽहारकद्विकबन्धेन समयोऽन्तरं प्राप्यते यद्वा श्रेणितोऽवरोहन्नेकबन्धादपूर्वकरणषष्ठभागं प्राप्तो देवगतिप्रायोग्यमष्टाविंशतिमेकोनत्रिंशतं वा बद्ध्वा समयं चावस्थितबन्धं कृत्वा दिवि समुत्पन्नः पुनर्भूयस्कारबन्धं करोति, एवमपि समयोऽन्तरतया प्राप्यते । यासु नाम्नो द्वे एव बन्धस्थाने तासु भूयस्कारबन्धस्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, यथा-सर्वनारकमार्गणा-सनत्कुमारादिसहस्रारान्त-देवभेदेषु । तथा आहारकाऽऽहारकमिश्र-देशविरतिमार्गणासु भूयस्कारबन्धस्य भावेऽपि तस्या-न्तराभावः । कार्मणानाहारकमार्गणयोस्तु भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्भावेऽपि यदि मार्गणाप्रथम-समयभाविबन्धो भूयस्कारबन्धतया अल्पतरबन्धतया वा विवक्ष्यते, तर्हि मध्यसमये तदभावे जघ-न्यतः समयोऽन्तरं भवति । यदि पुनः प्रथमसमयबन्धस्य भूयस्कारबन्धतया अल्पतरबन्धतया वा न विवक्षा स्यात्तदा प्रोक्तमार्गणाद्वये तयोरन्तराभाव एवेति ।

नाम्नोऽल्पतरबन्धस्य जघन्यान्तरं भूयस्कारबन्धवत् सामान्यतः समयो भवति । विशे-षतो यासु मार्गणासु केवलानां सम्यग्दृष्टिजीवानामेव सद्भावस्तास्वल्पतरबन्धस्य जघन्या-न्तरकालोऽन्तर्मुहूर्तम् । ता मार्गणा नामत इमाः—मतिज्ञानादिज्ञानचतुष्काऽवधिदर्शन-संयमौघ-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय--परिहारविशुद्धि--सम्यक्त्वौघ--क्षायिकसम्यक्त्व--क्षयोपशमसम्य--क्त्वोपशमसम्यक्त्वमार्गणास्त्रयोदश पद्मशुक्ललेश्ये च । एतासु पञ्चदशसु अल्पतरबन्धजघन्या-न्तरमन्तर्मुहूर्तप्रमाणं भवति, तच्च प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानद्वये परावृत्तिं कुर्वन्तमधिकृत्याहारकद्विक-बन्धविरामेण प्राप्यत इति । लेश्याद्वये मिथ्यादृष्टीनां भावेऽपि न तदपेक्षया अन्तरं प्राप्यत इति । अवस्थितबन्धस्य जघन्यान्तरं तु सर्वत्र यथासम्भवं भूयस्कारबन्धेनाल्पतरबन्धेन समयो भवति । केवलमपगतवेदमार्गणायां नाम्नोऽवस्थितबन्धस्य जघन्यान्तरमबन्धेनैवान्तर्मुहूर्तप्रमाणं प्राप्यत इति । एवं गाथात्रयेण दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धानां जघन्यान्त मार्गणासु दर्शितमिति ॥८३-८६॥

अथ एतेषामेव त्रयाणां कर्मणां पदत्रयसत्कोत्कृष्टान्तरं मार्गणासु निरूपयिषुरादावव-स्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरं प्राह—

दुइअतुरिअछट्ठाणं भिन्नमुहुत्तं अवट्ठिअस्स गुरुं ।
तिणरदुपंचिदियतसअवेअकायचउणाणेसुं　　॥८७॥

संजमतिदंसणेसुं सुक्काभवियेसु सम्मखइएसुं ।
उवसमसगणीसु तहा आहारे अंतरं णेयं ॥८८॥

(प्रे०) "दुइअ" इत्यादि, इहाऽवस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरं प्रकारद्वयेन मार्गणीयम्, तत्र यद्यबन्धप्रयुक्तं तत्प्राप्यते तदोत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति । यदि पुनस्तत्तन्मार्गणासु तेषां कर्मणामबन्ध एव नास्ति, यद्वा यासु मनोयोगादिवत्तेषां कर्मणामबन्धस्य सत्त्वेऽपि पुनर्बन्धात्प्रागेव मार्गणायाः परावर्तनाद् न भवति अबन्धप्रयुक्तमन्तरम्, अतस्तासु भूयस्काराल्पतरबन्धकालप्रयुक्तमन्तरं समयं समयद्वयं वा भवतीत्यवधार्यम् । अत्र मनुष्यौघादित्रयोविंशतिमार्गणासु दर्शनावरणनाम्नोरवस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरमुपशान्तमोहगुणस्थानकज्येष्ठकालः समयाधिको समयद्वयाधिको वा भवति । तथाऽऽरोहकावरोहकसूक्ष्मसम्परायद्वयकाल उपशान्तमोहगुणस्थानकालश्चेति गुणस्थानत्रयज्येष्ठकालः समयाधिको समयद्वयाधिको वा मोहनीयस्यावस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरं प्राप्यते । त्रिमनुष्यमार्गणासु अपगतवेदे मनःपर्यवज्ञाने संयमौघे च श्रेणौ कालकरणेन मार्गणाया विच्छेदादवरोहकस्यावक्तव्यबन्धसत्कसमयाधिक उक्तगुणस्थानकज्येष्ठकालोऽन्तरतया प्राप्यते । द्विपञ्चेन्द्रियादिसप्तदशमार्गणासु तु श्रेणितोऽवरोहअवक्तव्यबन्धं कृत्वा मरणं समासाद्य दिवि समुत्पन्नस्य भूयस्कारबन्धं करोति तदनु अवस्थितबन्धं करोति; अतः समयद्वयाधिक उक्तगुणस्थानज्येष्ठकालोऽवस्थितबन्धस्य ज्येष्ठान्तरतया प्राप्यत इति । काययोगौघमार्गणायामुपशमश्रेणिमारोहकस्य तत्तत्कर्मणां बन्धचरमसमये योगपरावृत्त्या काययोगस्य प्रारम्भो भवति तस्मिंश्चावस्थितबन्धं विधाय मार्गणाद्वितीयसमयप्रभृति औदारिककाययोगस्य यावान् श्रेणिगतापेक्षया ज्येष्ठकालो भवति तावन्तं कालं व्यतीत्य मरणेन दिवि समुत्पन्नस्य कार्मणस्य वैक्रियमिश्रस्य वा भावेन काययोगस्याऽविच्छिन्नतया विद्यमानत्वात् तत्र देवगतिप्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धं विधाय द्वितीयसमयतोऽवस्थितबन्धस्य प्रारम्भः, इत्येवं काययोगे गुणस्थानकज्येष्ठकालप्रमाणस्यान्तराभावेऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणं ज्येष्ठान्तरं भवतीति, तदन्तरं च पूर्वतः संख्येयगुणहीनं द्रष्टव्यमिति ॥८७-८८॥

असमत्तपणिंदितिरियमणुयपणिंदियतसेसु सव्वेसिं ।
एगिंदियविगलिंदियपणकायेसु तह परिहारे ॥८९॥
तह अभवियसासायणमिच्छअसण्णीसु दुइअतुरिआणं ।
ण अवट्ठिअस्स जेट्ठं णामस्सऽत्थि समयपुहुत्तं ॥९०॥

(प्रे०) "असमत्ते" त्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिचतुःषष्टिमार्गणासु दर्शनावरणमोहनीययोरेकैकस्यैव बन्धस्थानस्य भावेन तयोरवस्थितबन्धस्यान्तरं नास्ति । नाम्नोऽवस्थित-

बन्धस्य ज्येष्ठान्तरं समयपृथक्त्वं-समयद्वयं भूयस्कारसत्कोत्कृष्टबन्धकालप्रयुक्तं भावनीयम् । न च भूयस्काराल्पतरबन्धद्वयेनाधिकान्तरं स्यादिति वाच्यम् । स्वभावत एव भूयस्कारबन्धस्य समयतोऽधिकप्रवृत्तौ तदनन्तरमल्पतरबन्धप्रवृत्तेरसम्भवात् । समयद्वयत ऊर्ध्वं बन्धस्थानस्य परावृत्तिर्निरन्तरा प्रायो न स्यादिति भावः ॥८६-९०॥

मार्गणान्तरेषु प्राह—

णामस्स अंतरं णो गेविज्जंतेसु आणताईसुं ।
समयो दुइअस्स भवे दो समया मोहणीयस्स ॥९१॥

(प्रे०) "णामस्से" त्यादि, आनतादिनवमग्रैवेयकपर्यन्तासु त्रयोदशमार्गणासु नाम्नो बन्धस्थानद्वयस्य नानाजीवापेक्षया भावेऽपि एकजीवमधिकृत्यैकैकस्यैव बन्धस्थानस्याऽऽभवं भावेन नाम्नोऽवस्थितबन्धस्यान्तरं नास्ति, नाम्नोऽबन्धभूयस्काराल्पतरबन्धानामभावात्, तत्प्रयुक्तस्यैव प्रस्तुतान्तरस्य लाभात् । दर्शनावरणसत्कावस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरमपि समयः, भूयस्काराल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टकालस्य तथात्वादबन्धस्यालाभाच्च । मोहनीयस्यावस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरं समयद्वयं भवति, मोहनीयभूयस्कारबन्धज्येष्ठकालस्य तथात्वात्, तत्प्रयुक्तमेव प्रस्तुतान्तरं प्राप्यत इति ॥९१॥

अथ पञ्चानुत्तरसुरादिमार्गणादशके प्राह—

दुइअतुरिअछट्ठाणा अणुत्तरमीससुहमेसु णो एवं ।
आहारदुगे देसे परं गुरुं वि समयोऽत्थि णामस्स ॥९२॥ (गीतिः)

(प्रे०) "दुइअ" इत्यादि, पञ्चस्वनुत्तरसुरमार्गणासु सम्यग्मिथ्यात्वे सूक्ष्मसंपराये च दर्शनावरणनाम्नोः, पञ्चसुरेषु सम्यग्मिथ्यात्वे च मोहनीयस्याऽप्येकैकबन्धस्थानस्यैव भावेनाबन्धाभावेन चावस्थितबन्धस्यान्तरं नास्ति । आहारकतन्मिश्रद्वये देशविरतौ चेति मार्गणात्रये दर्शनावरणमोहनीययोरेकैकबन्धस्थानभावेनावस्थितबन्धस्यान्तरं नास्ति । नाम्नो बन्धस्थानद्वयस्य भूयस्कारबन्धस्य च भावेन भूयस्कारबन्धप्रयुक्तमवस्थितबन्धस्य ज्येष्ठान्तरमपि सामयिकं प्राप्यत इति ॥९२॥

अथ मिश्रयोगादिमार्गणासु प्राह—

दुइअस्स णत्थि मीसदुजोगअणाणातिगवेअगेसु भवे ।
समयो मोहस्स भवे णामस्सऽत्थि समयपुहुत्तं ॥९३॥

(प्रे०) "दुइअस्से"त्यादि, औदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रयोगद्वये दर्शनावरणस्य बन्धस्थानद्वयस्य सम्भवेऽप्येकैकजीवमधिकृत्यैकैकस्यैव बन्धस्थानस्य सद्भावात्, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञानक्षयोपशमसम्यक्त्वेषु दर्शनावरणस्यैकैकबन्धस्थानस्य भावाच्चैतासु षट्सु अवस्थितबन्धस्यान्तरं नास्ति। एतासु षट्सु मोहनीयस्यावस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरमपि समयो भवति, तद्यथा-क्षयोपशमसम्यक्त्वं विहाय पञ्चस्वल्पतरबन्धस्याभावो भवति, अत एतासु द्वितीयगुणस्थानकतः प्रथमगुणस्थानं प्राप्तस्य सामयिकं भूयस्कारबन्धप्रयुक्तमवस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरं प्राप्यते, न पुनः प्रकारान्तरेणाऽपि। क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां पुनः भूयस्कारबन्धप्रयुक्तमल्पतरबन्धप्रयुक्तं वा सामयिकं मोहनीयस्यावस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरं प्राप्यते। ये पुनः संयमसामान्यस्य सामयिकीं जघन्यकायस्थितिं मन्यन्ते, तन्मते क्रमेण प्रथमसमयेऽल्पतरबन्धं विधाय कालकरणेन द्वितीयसमये भूयस्कारबन्धस्य भवनाद् मोहनीयस्यावस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरं समयद्वयं भवति। नाम्नोऽवस्थितबन्धस्यान्तरं षट्स्वपि समयपृथक्त्वं समयद्वयरूपं भवति, तच्च भूयस्कारद्वयेनाल्पतरबन्धद्वयेन, यद्वा एकेन भूयस्कारबन्धेनैकेन चाल्पतरबन्धेनावस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरं भवति ॥९३॥

कार्मणानाहारक-सामयिकच्छेदोपस्थापनीयेषु त्रयाणामवस्थितबन्धोत्कृष्टान्तरं निरूपयन्नाह–

कम्माणाहारेसुं दोण्हं णत्थि समयोऽत्थि णामस्स।
समइअछेएसु खलु दोण्ह दुसमयाऽत्थि णामस्स ॥९४॥

(प्रे०) "कम्मे"त्यादि, कार्मणानाहारकमार्गणाद्वये दर्शनावरणस्यावस्थितबन्धस्यान्तराभावो भूयस्काराल्पतराबन्धानामत्राभावाद्, मोहनीयस्य तु प्रस्तुते भूयस्कारस्य भावेऽपि संज्ञिभ्यः संज्ञिषूत्पद्यमानस्य प्रस्तुतमार्गणाया उत्कृष्टतो द्विसमयप्रमाणत्वादन्तरस्य समयत्रयसापेक्षत्वाद् नास्त्यन्तरम्। येषां जीवानामेकेन्द्रियाणां प्रस्तुतमार्गणा यावत् समयत्रयं समयचतुष्कं वा सम्भवति, तेषां जीवानां मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धस्यैवाभावाद् न सम्भवति तदपेक्षयाऽप्यवस्थितबन्धस्यान्तरमिति। नाम्नोऽवस्थितबन्धस्यान्तरमेकेन्द्रियजीवापेक्षयैव सम्भवति, तच्च जघन्यत उत्कृष्टतश्च समयः। एतच्च समयत्रयज्येष्ठकायस्थित्यपेक्षया, समयचतुष्कमितज्येष्ठस्थित्यपेक्षया तु समयद्वयं गुर्वन्तरं प्राप्यत इत्यवधार्यम्। सामायिकच्छेदोपस्थापनीययोर्दर्शनावरणमोहनीयसत्कावस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरं समयस्तच्च भूयस्कारबन्धकालप्रयुक्तमल्पतरबन्धकालप्रयुक्तं वेति, एतयोरुक्तबन्धद्वयज्येष्ठकालस्यापि तथात्वादिति। नाम्नोऽवस्थितबन्धोत्कृष्टान्तरं समयद्वयं भवति, एतयोर्भूयस्कारबन्धज्येष्ठकालस्य तथात्वात्तत्प्रयुक्तं प्रस्तुतान्तरं विज्ञेयमिति ॥९४॥

बीअस्स गुरुं समयो अणाह मोहस्स दुसमया णवरं।
लोहे अंतमुहुत्तं णामस्सऽत्थि समयपुहुत्तं ॥९५॥

(प्रे०) "बीअस्स" इत्यादि, उक्तशेषमार्गणा नामत इमाः—सर्वनरकाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्वर्जतिर्यग्भेदचतुष्कदेवौघभवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशानसनत्कुमारादिसहस्रारान्तदेव-मनोयोगसामान्य- तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगसामान्य-तदुत्तरभेदचतुष्कौदारिकवैक्रियययोग-वेदत्रय-कषायचतुष्क असंयम-पञ्चलेश्यामार्गणा एकोनपञ्चाशत् । एतासु दर्शनावरणसत्कावस्थितबन्धस्य ज्येष्ठान्तरमपि समयः, तच्च भूयस्कारबन्धकालेनाल्पतरबन्धकालेन वा विज्ञेयम् । मोहनीयस्यावस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरं समयद्वयं भवति, एतच्च बहुमार्गणासु सम्यक्त्वतः समयं सास्वादनं प्राप्य मिथ्यात्वं गतस्य भूयस्कारबन्धद्वयेन प्राप्यते । केवलं कषायचतुष्के पुरुषवेदे च श्रेणिसत्कैकेन भूयस्कारबन्धेन मरणव्याघातेन देवेषूत्पन्नस्य द्वितीयभूयस्कारबन्धेनेति भूयस्कारबन्धद्वयेन यद्वा श्रेणिसत्कैकेनाल्पतरबन्धेन तदनन्तरमेव मरणव्याघातेन देवेषूत्पादे भूयस्कारबन्धेन चेति बन्धद्वयेन समयद्वयमन्तरं प्राप्यते । केवलं लोभमार्गणायां मोहनीयस्याबन्धप्रयुक्तं ज्येष्ठान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति । नाम्नोऽवस्थितबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं समयपृथक्त्वं=समयद्वयं भवति, भूयस्कारबन्धकालेन यद्वाऽल्पतरबन्धकालेन यद्वैकेन भूयस्कारबन्धेनैकेनाल्पतरबन्धेन च प्रस्तुतान्तरं भावनीयम् । नरकभेदाष्टके सनत्कुमारादिषट्के च नाम्नोऽवस्थितबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं भूयस्काराल्पतरोभयप्रयुक्तं समयद्वयं विज्ञेयम्, तयोः प्रत्येकं बन्धकालस्य समयप्रमाणत्वात् ॥९५॥

अथ दर्शनावरणमोहनीयकर्मणोर्भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्ज्येष्ठमन्तरं मार्गणासु प्राह—

भूगारप्पयराणं तिरिणपुमाऽजयअचक्खुभवियेसु ।
दुइअतुरिआण जेट्ठं देसूणो अद्धपरिअट्टो ॥९६॥

(प्रे०) "भूआरे"त्यादि, तिर्यगोघ-नपुंवेदा-ऽसंयमा ऽचक्षुर्दर्शनभव्यमार्गणासु दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धौ प्राप्तसम्यक्त्वस्य भवतः, न पुनरनादिमिथ्यादृष्टेः । तथा मिथ्यादृष्टेस्तद्गुणप्राप्तिप्रथमसमयं विहायावश्यमेतयोरवस्थितबन्ध एव । सकृदपि लब्धसम्यक्त्वस्य संसारभ्रमणकालस्य देशोनार्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणत्वेन ततोऽधिकान्तरस्यासम्भवः । एता मार्गणाः पुनरर्धपुद्गलपरावर्ततोऽधिकस्थितिकाः, अतो देशोनकायस्थितिप्रमाणमन्तरमनतिदिश्य स्पष्टमुक्तमिति । उक्तान्यासु देशोनार्धपुद्गलपरावर्तनतोऽधिकस्थितिकासूक्तकर्मद्वयस्यावस्थितबन्धस्य सदैव भावेनान्तरमेव नास्ति एकस्यैव तस्य भावात् । काययोगौघे उक्ताधिककायस्थितिभावेऽपि तद्प्रारम्भे भूयस्कारबन्धस्य सम्भवेऽपि तत्प्रान्ते संज्ञिषूत्पन्नस्यानेकशो

मार्गणापरावर्तनादूर्ध्वमेव सम्यक्त्वप्राप्त्याऽल्पतरबन्धस्य लाभेनान्तरमेव नास्तीति ॥९६॥

अथ मार्गणान्तरेषु प्राह—

पणमणवयकायउरलविउवेसुं ण दुइअस्स दुपयाणं ।
मोहस्सऽप्पयरस्स य इयरस्स भवे मुहुत्तंतो ॥९७॥

(प्रे०) "पणे"त्यादि, मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-काययोगौघौ-दारिक-वैक्रिययोगेषु त्रयोदशसु दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तरं नास्ति। तथा मोहनीयस्याल्पतरबन्धस्यान्तरं नास्ति। ओघे उक्तपदानां यावदन्तरं ततस्तद्विधायकानां योगस्य परावर्तमानत्वेन तद्योगस्य यावान् ज्येष्ठकालः तस्याल्पत्वात् नास्त्यन्तरम् । यद्वा केवलं मोहनीयस्याल्पतरबन्धस्यान्तरं श्रेणिगतजीवापेक्षयाऽन्तर्मुहूर्तं प्राप्यत इति मतान्तरमवसातव्यम्। तच्च गाथार्थोऽन्यथा व्याख्यानेन लभ्यते। मोहनीयभूयस्कारबन्धस्यान्तरमुत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तं तच्च श्रेण्यपेक्षया सास्वादनगुणस्थानापेक्षया वा यथासम्भवं भावनीयमिति ॥९७॥

अथ औदारिकमिश्रादिमार्गणासु दर्शयति—

मीसदुजोगेसु तहा कम्मेऽणाहारगे अणाणतिगे ।
णो चेव अंतरं खलु भूओगारस्स मोहस्स ॥९८॥

(प्रे०) "मीसे"त्यादि, औदारिकमिश्र-वैक्रियमिश्र-कार्मणयोगा-नाहारक-मत्यज्ञान श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञानमार्गणासु सप्तसु दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धावेव न स्तः, अतस्तासु तयोरन्तरस्य चिन्ताया एवानवकाशः। मोहनीयस्य त्वेतास्वल्पतरबन्धाभावेन तदन्तरनिरूपणाया असम्भवेऽपि भूयस्कारबन्धस्य सास्वादनतो मिथ्यात्वगुणस्थानप्राप्तावेव सद्भावेन मिथ्यात्वगुणस्थानतः प्रस्तुतमार्गणाया विच्छेदं विना गुणान्तरगमनस्यासम्भवेन चैतासु द्विर्भूयस्कारबन्धस्यैवासम्भवात् तदन्तरं नास्ति अत्राज्ञानत्रिके आद्यगुणस्थानद्वयापेक्षयैतन्निरूपणम्, गुणस्थानत्रयाङ्गीकरणे तु स्वयं वक्तव्यमिति ॥९८॥

अथाऽन्यासु शेषासु च दर्शनावरणमोहयोः पदद्वयस्योत्कृष्टान्तरं प्राह—

सामाइअछेएसुं बीआवरणस्स अंतरं णत्थि ।
भूगारप्पयराणं मोहस्स भवे मुहुत्तंतो ॥९९॥
देसूणगतीसुदही देवे सुक्काअ दोण्ह दुपयाणं ।
विरणोयं सेसासुं देसूणा जेट्ठकायठिई ॥१००॥

अहवाऽत्थि तिणाणावहिसम्मखइअवेअगेसु मोहस्स।
भूगारप्पयराणं　　तेत्तीसा　　सागराऽब्भहिया　॥१०१॥

(प्रे०) "सामा" इत्यादि, सामायिकच्छेदोपस्थापनीयमार्गणाद्वये दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तर नास्ति, उपशमश्रेणावेव सकृत् तद्भावादारोहकस्य दशमगुणस्थानके मार्गणयोर्विच्छेदाद् मरणव्याघातेनाऽपि मार्गणयोर्विच्छेदादारोहकस्योपशान्तमोहमप्राप्तस्य पुनः प्रत्यावर्तनस्याभावाच्च । अयम्भावः—उक्तमार्गणाद्वये दर्शनावरणस्याल्पतरबन्धोऽष्टमगुणस्थानकद्वितीयभागाद्यसमये आरोहकस्य निद्राद्विकबन्धविच्छेदानन्तरं भवति, तदूर्ध्वं तु क्रमेणारोहतो दशमगुणस्थानप्राप्तौ मार्गणाया विच्छेदो भवति, यदि पुनः कालं करोति, तर्ह्यपि मार्गणाया विच्छेदः, आरोहको मरणव्याघातं विमुच्योपशान्तमोहमप्राप्य नैव निवर्तते, अतो निरन्तरप्रवृत्तोक्तमार्गणाद्वये सकृदेव श्रेणेः प्रारम्भाभावाल्पतरबन्धस्यान्तरम् । एवमुक्तमार्गणाद्वये श्रेणितोऽवरोहकस्य नवमगुणस्थानके मार्गणाप्रारम्भो भवति, तदनु क्रमेणावरोहकाष्टमगुणस्थाने निद्राद्विकस्य बन्धो यदा प्रवर्तते तदैव दर्शनावरणस्य भूयस्कारबन्धो भवति, ततः पुनर्भूयस्कारबन्धे पुनः श्रेणिमारुह्यावतरणीयम्, तथा च करणे श्रेणिमारोहत मार्गणाया विच्छेदान्न भवति प्रस्तुतमार्गणाद्वये दर्शनावरणस्य भूयस्कारबन्धस्याप्यन्तरमिति ।

मोहनीयस्य भूयस्काराल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, श्रेणावेव नानाबन्धस्थानसम्भवेनाऽऽरोहतोऽल्पतरबन्धस्यान्तरं भवति, अवरोहतो भूयस्कारबन्धस्यान्तरं भवति । अत्र द्विविधबन्धत एकस्या बन्धं प्राप्तस्याल्पतरबन्धस्य, एकस्या बन्धतो द्विविधबन्धं प्राप्तस्य भूयस्कारबन्धस्य जघन्यान्तरं प्राप्यते । पञ्चविधबन्धात् चतुष्कबन्ध प्राप्तस्य, पञ्चविधबन्धाच्च नवविधबन्धं प्राप्तस्य, अल्पतरस्य भूयस्कारस्य च ज्येष्ठान्तरं भावनीयम् । तच्चान्तर्मुहूर्तमिति ।

देवौघे शुक्ललेश्यायां च दर्शनावरणमोहनीयसत्कभूयस्काराल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टान्तरं देशोनैकत्रिंशत्सागरोपमाणि, शुक्ललेश्यावत्स्वनुत्तरदेवेषूक्तकर्मद्वयसत्कभूयस्काराल्पतरपदद्वयस्यैवाभावान्नवमग्रैवेयकसुरानपेक्ष्य मार्गणाप्रारम्भे प्रान्ते च यथासम्भवं तद्विधायिनः प्रस्तुतान्तरं प्राप्यते । एवं सार्धगाथाचतुष्केण नवविंशतिमार्गणासु प्रस्तुतान्तरं दर्शितम् । अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तमनुष्याऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्तत्रसकायसप्तैकेन्द्रिय—नवविकलेन्द्रियैकोन — चत्वारिंशत्पृथव्यादिपञ्चकायमार्गणापञ्चानुत्तरसुरा-ऽऽहारकतन्मिश्र-परिहार-देशविरत्यभव्य-सम्यग्मिथ्यात्व सास्वादन -मिथ्यात्वामंज्ञिमार्गणासु त्रिसप्ततौ दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरपदद्वयस्यैवाभावान्न तत्प्ररूपणा । सूक्ष्मसम्पराये मोहनीयस्य बन्धाभावः, दर्शनावरणसत्कोक्तपदद्वयस्याप्यभावः, अतो न तत्रापि प्रस्तुतप्ररूपणेति । अष्टौ नरकमार्गणा अपर्याप्तवर्जपञ्चे-

न्द्रियतिर्यग्गतिभेदत्रयमपर्याप्तवर्जमनुष्यगतिमार्गणात्रयं भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशान-सनत्कुमारादिनवमग्रैवेयकान्तचतुर्विंशतिदेवमार्गणा-द्विपञ्चेन्द्रिय द्वित्रसकाय-स्त्रीपुरुषवेद ज्ञानचतुष्क-संयमौघ-चक्षुरवधिदर्शन-कृष्णादिलेश्यापञ्चकसम्यक्त्वौघ- क्षायिकसम्यक्त्व-संज्याहारकमार्गणासु षष्टौ दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टान्तरं मार्गणाया ज्येष्ठकायस्थिति-र्देशोना विज्ञेया, यथासम्भवं मार्गणाप्रारम्भे प्रान्ते च तत्प्रवर्तनात् । अपगतवेदे दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धयोरभावात् केवलं मोहनीयस्य भूयस्काराल्पतरबन्धयोरेव सद्भावात्तयोर्जघन्यान्तरमुत्कृष्टान्तरं चान्तर्मुहूर्तमपि या च्छद्मस्थजीवविषयकमार्गणाज्येष्ठकायस्थितिरन्तर्मुहूर्तप्रमाणा भवति तस्याः सङ्ख्येयभागप्रमाणं विज्ञेयमिति । कषायचतुष्के दर्शनावरणभूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तरं नास्ति । मोहनीयसत्कभूयस्काराल्पतरयोरुत्कृष्टान्तरं श्रेणिमपेक्ष्यैव प्राप्यते तच्च मार्गणायाः सङ्ख्येयभागप्रमितमन्तर्मुहूर्तप्रमाणमिति । भूयस्कारबन्धस्यान्तरं सास्वादनमपेक्ष्याप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणं विज्ञेयम् । उपशमसम्यक्त्वे दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतर-बन्धयोरन्तरं नास्ति, मोहनीयसत्कभूयस्काराल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तम् । क्षयोपशम-सम्यक्त्वमार्गणायां दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धयोरभावः । मोहनीयस्य भूयस्काराल्पतर-बन्धयोरुत्कृष्टान्तरं साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, साधिकषट्षष्टिसागरोपमप्रमाणानि वा भवति।

अथ मतिज्ञानादिमार्गणासु मोहनीयस्य भूयस्काराल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टान्तरे मतान्तरं दर्शयन्नाह—"अहवा" इत्यादि, मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघ-क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणासु षट्स्वेकेन मतेन चतुर्थगुणस्थानज्येष्ठकालस्य षट्षष्टिसागरोपमप्रमाणत्वान्मार्गणाप्रारम्भे प्रान्ते चान्यगुणस्थानलाभेन ततश्चतुर्थगुणस्थानस्य च लाभात् प्रस्तुतान्तरं देशोनकायस्थितिप्रमाणम्, एतन्मतं नात्र प्रधानम् । प्राधान्यमतापेक्षया तु चतुर्थगुणस्थानज्येष्ठकालस्य साधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणत्वेनोक्तपदद्वयस्य साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि ज्येष्ठान्तरं प्राप्यते । द्वितीयमत सर्वत्राग्रे गृहीतमिति ॥९१-१०१॥

अथ मार्गणासु नाम्नो भूयस्कारबन्धस्याल्पतरबन्धस्य च ज्येष्ठान्तरं दर्शयति—

णामस्सोघव्व गुरुं दुपयाणऽत्थि दुपणिदियतसेसुं ।
पुमचक्खुअचक्खुसुं भविये सण्णिम्मि आहारे ॥१०२॥

(प्रे०) "णामस्से"त्यादि, द्विपञ्चेन्द्रियादिदशमार्गणासु नाम्नो भूयस्काराल्पतर-बन्धयोर्ज्येष्ठान्तरं साधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, अनुत्तरभवे प्रागुत्तरमनुष्यभवे चैतासां मार्गणानां सद्भावात् । भावना चौघवत्कार्या सुगमा च ॥१०२॥

अथ नरकौघादिमार्गणासु प्राह—

ऊणा गुरुकायठिई सव्वणिरयअट्ठमंतदेवेसु ।
मणपज्जवसंजमपणलेसासूणा सुरेऽयराऽट्ठार ॥१०३॥(गीतिः)

(प्रे०) 'ऊणे''त्यादि, नरकौघ-सप्ततदुत्तरभेद-भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मादिसहस्रारान्तदेवभेद मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-कृष्णादिपञ्चलेश्यामार्गणासु षड्विंशतिमार्गणासु नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तरं तत्तन्मार्गणाया देशोनज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणं भवति । अत्र मनःपर्यवज्ञाने संयमौघे च मार्गणाप्रारम्भे तत्प्रान्ते च श्रेण्यपेक्षया प्रस्तुतान्तरं भावनीयम्, यद्वा प्रारम्भे श्रेण्यपेक्षया प्रान्ते नूतनाहारकद्विकबन्धतद्विरामापेक्षया च प्रस्तुतं विज्ञेयम् । शेषचतुर्विंशतिमार्गणासु मिथ्यादृशामेकजीवापेक्षयाऽपि द्व्यादिबन्धस्थानानां सम्भवेन मार्गणाप्रारम्भप्रान्तसत्कमन्तर्मुहूर्तादिकिञ्चित्कालं मिथ्यात्वावस्थायां भूयस्काराल्पतरबन्धौ कुर्वतो मध्ये च सम्यक्त्वप्रभावेन तयोरसम्भवेन नाम्नोरवस्थितबन्धमेव कुर्वतो यथोक्तं ज्येष्ठान्तरं प्राप्यत इति । देवौघे पुनर्नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टान्तरं देशोनाष्टादशसागरोपमाणि भवति, सहस्रारदेवापेक्षयैव भूयस्कारा-ऽल्पतरपदयोस्तदुत्कृष्टान्तरस्य च भावात् । आनतादिदेवापेक्षया तु भूयस्काराल्पतरबन्धयोरेवाभावेन तदन्तरं नास्ति ॥१०३॥

अन्यासु प्राह--

देसूणपुव्वकोडी तिरिये तिपणिंदितिरियमणुएसु ।
णाहारदुगे देसे भूगारस्स········ ॥

(प्रे०) "देसूणे" त्यादि, तिर्यग्गत्योघपञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्तिरश्चीमनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्यमानुषीमार्गणासप्तके नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टान्तरं देशोनपूर्वकोटीप्रमाणं भवति, एतासु युगलिकं विहायोत्कृष्टभवस्थितिः पूर्वकोटिप्रमाणा, अत्र युगलिकतिर्यग्मनुष्याणां वर्जनं तु तेषां पल्योपमत्रयमितस्थितिकत्वेऽपि भवाद्यान्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमाभवपर्यन्तमेकस्यैव नाम्नो बन्धस्थानस्य भावेन तदनन्तरं मार्गणाया एव विच्छेदेन च युगलिकभवप्रान्तावस्थायां भूयस्काराल्पतरबन्धयोरभावाच्च भवति तदपेक्षया प्रस्तुतान्तरमिति । पूर्वकोट्यायुष्केषु मिथ्यादृशां नानाबन्धस्थानसम्भवेन प्रत्यन्तर्मुहूर्तं भूयस्काराल्पतरबन्धयोरवश्यं भावाद् यथा शीघ्रमुत्पत्त्यनन्तरं सम्यक्त्वं समासाद्य तत्र च देवप्रायोग्यामष्टाविंशतिमेव बध्नन् प्रान्ते मिथ्यात्वं प्राप्य विवक्षितबन्धं यः करोति तमपेक्ष्यैव निरुक्तान्तरं प्रकृष्टतया प्राप्यत इति । आहारकतन्मिश्रयोगद्वये देशविरतौ च नाम्नो भूयस्कारबन्धस्य सकृदेव भावात्तदन्तरं नास्ति । उक्तमार्गणात्रयेऽल्पतरबन्धाभावाच्च तदन्तरस्य निरूपणमिति ।

अथ कार्मणादिमार्गणासु प्राह–

................अह दुपयाणं ॥१०४॥

कम्मेऽणाहारे णो णपुमे अजएऽयरूणतेत्तीसा ।
थीअ पणवरणपल्ला ऊणा अहिया व भूअगारस्स ॥१०५॥ (गीतिः)

(प्रे०) "अह" इत्यादि, कार्मणानाहारकमार्गणाद्वये नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तरं नास्ति, एतच्च निरूपणं समयत्रयमितं विग्रहगतिगतानां प्रकृष्टा प्रस्तुतकायस्थितिर्भवति, तदपेक्षया ज्ञेयम् ; मार्गणाप्रथमसमयेऽवस्थितबन्धस्यैव विवक्षितत्वात् । नपुंसकवेदमार्गणायामसंयममार्गणायाश्च नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टान्तरं सप्तमनरकनारकापेक्षयैव प्राप्यतेऽतो देशोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि पदद्वयस्योत्कृष्टान्तर प्राप्यते । सप्तमनरके सम्यक्त्वज्येष्ठकालस्य तावन्मात्रत्वान्मार्गणाप्रारम्भे प्रान्ते च मिथ्यात्वावस्थायामेतद्बन्धद्वयस्य करणात् । असंयममार्गणायां अनुत्तरसुरभवप्रथमसमयसत्कभूयस्कारबन्धापेक्षया प्रस्तुतान्तरं नैव प्राप्यते, अनुत्तरदेवभवात्प्राक्समये-ऽसंयममार्गणाया एवाभावेन तद्भूयस्कारबन्धस्य प्रस्तुतमार्गणायामेवाविवक्षणात् । स्त्रीवेदमार्गणायां नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तरं देशोनपञ्चपञ्चाशत्पल्योपमप्रमाणं भवति, सामान्यतः सम्यग्दर्शनेन सह गतित्रयेऽपि स्त्रीत्वेनोत्पादाभावात् , मिथ्यात्वावस्थायां च युगलिकं विहाय स्त्रीवेदमार्गणागतानां नानाबन्धस्थानानां परावर्तमानत्वेनान्तर्मुहूर्तमध्ये तयोर्बन्धस्यावश्यं भावाद् । मिथ्यात्वावस्थायां प्रस्तुतप्रकृष्टान्तरं तु युगलिनी ततो देवीषूत्पन्नजीवमपेक्ष्य प्रस्तुते देशोनपल्योपमत्रयं प्राप्यते। अतस्तदत्र न विचार्यते। किन्तु ईशानसत्कोत्कृष्टस्थितिकामपरिगृहीतदेवीमपेक्ष्य तत्प्राप्यते। तद्यथा–यः कश्चिज्जीव उत्कृष्टस्थितिकदेवीतयोत्पद्यान्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं सम्यक्त्वं समासाद्यावसानान्तर्मुहूर्ते मिथ्यात्वं प्राप्नोति, देवीभवसत्कप्रारम्भप्रान्तान्तर्मुहूर्तयोरवश्यं भूयस्काराल्पतरबन्धौ यः करोति तस्य देशोनपञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि तयोर्ज्येष्ठान्तरं प्राप्यते । मानुषीषु क्वचित् सम्यक्त्वेन सहोत्पादेऽप्यल्पतरबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं देशोनपञ्चपञ्चाशत्पल्योपमाण्येव, भूयस्कारबन्धान्तरं तु सातिरेकाणि पञ्चपञ्चाशत् पल्योपमाणि प्राप्यन्ते ॥१०४–१०५॥

अथाऽन्यासु नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्ज्येष्ठान्तरं दर्शयन्नाह–

देसूणा कायठिई गुरू तिणाणोहिसम्मखइएसुं ।
भूगारस्सियरस्स य तेत्तीसा सागराऽभहिआ ॥१०६॥

(प्रे०) "देसूणा"इत्यादि, मतिश्रुतावधिज्ञानावधिदर्शनसम्यक्त्वौघक्षायिकसम्यक्त्व-

मार्गणासु षट्सु नाम्नो भूयस्कारबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं मार्गणाया देशोनज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणं षड्विंशतितमे भवति, एतासु भूयस्कारबन्धश्चतुर्धा, जिननामबन्धेनाऽऽहारकद्विकबन्धेन यद्वा देवगतिप्रायोग्यामकोनत्रिंशतं वा बध्नतो देवेषूत्पन्नस्य भवप्रथमसमये, श्रेणितोऽवरोहकस्य वा भवति, ततो जिननामाहारकद्विकाबन्धकस्य मार्गणाप्रारम्भे यथासम्भवं किञ्चित् कालं व्यतित्य देवेषु त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकेषूत्पन्नस्य प्रथमसमये भूयस्कारबन्धं कृत्वा पुनः ततश्च्युत्वा मनुष्येष्ववतीर्य तत्रापि भूयस्कारबन्धमकुर्वन् प्रान्ते उपशमश्रेणिमारुह्याबन्धको भूत्वा तत्रैव मरणमासाद्य देवेषूत्पन्नस्तत्प्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धं करोति, न तु भूयस्कारबन्धम्, । ततो देवभवमनुभूय मनुष्यभवं प्राप्य प्रान्ते आहारकद्विकं बध्नाति तदा तमपेक्ष्य भूयस्कारबन्धस्य प्रकृष्टान्तरं साधिकषट्षष्टिसागरोपमाणि प्राप्यते । केवलं क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां साधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि प्रस्तुतान्तरं प्राप्यते । नाम्नोऽल्पतरबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं साधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, देवेभ्यश्च्युतानां सर्वेषां मार्गणागतानामवश्यमेवाल्पतरबन्धस्य करणात् समयोनपूर्वकोट्यभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि प्रकृष्टान्तरं विज्ञेयमिति । एतच्चौघवद् भवतीति ओघवदेव तद्भावनीयमिति । केवलं क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां सातिरेकाष्टवर्षोनपूर्वकोटित्वमभ्यधिकतया विज्ञेयमिति । अत्र ग्रन्थे सर्वत्र कायस्थितिश्छद्मस्थजीवानधिकृत्यैव ज्ञेया, अतो न सम्यक्त्वे क्षायिकसम्यक्त्वे चापवादावसर इति ।।१०६।।

अथ सामायिकादिमार्गणासु नाम्नः पदद्वयस्य ज्येष्ठान्तरमाह—

ऊणा गुरुकायठिई समइअछेअपरिहारसुक्कासु ।
भूओगारस्स भवे अप्पयरस्स य मुहुत्तंतो ।।१०७।।

(प्रे०) "ऊणा" इत्यादि, सामायिकच्छेदोपस्थापनीयमार्गणाद्वये नाम्नो भूयस्कारबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनमार्गणाज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणं देशोनपूर्वकोटिप्रमाणं भवति, तच्चैवम्—मार्गणाप्रारम्भे यो जिननामबन्धमारभ्य यद्वा श्रेणितोऽवरोहन् यशःकीर्तिबन्धतो देवगतिप्रायोग्याष्टाविंशतिबन्धं प्राप्य भूयस्कारबन्धं करोति तदनन्तरमवस्थितिबन्धं कुर्वन् मार्गणाप्रान्ते पुनरप्याहारकद्विकबन्धं करोति, यद्वा प्रागबद्धजिननाम प्रान्ते नूतनजिननामबन्धप्रारब्धे भूयस्कारबन्धं करोति तस्य निर्दिष्टं देशोनकायस्थितिप्रमाणमन्तरं प्राप्यत इति । उक्तमार्गणयोरल्पतरबन्धस्यान्तरमन्तर्मुहूर्तमेव, यतः प्रस्तुतमार्गणाद्वयेऽल्पतरबन्धो द्विधा प्राप्यते, एकः श्रेण्यारम्भतः, अन्यः प्रमत्तसंयतस्याऽऽहारकद्विकबन्धविरामतः । तत्र यः श्रेणावल्पतरबन्धो भवति तदूर्ध्वमुत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तानन्तरमवश्यं सूक्ष्मसम्परायप्राप्त्या मरणेन वा मार्गणाया विच्छेदान्न भवति तमपेक्ष्याऽल्पतरबन्धस्यान्तरम् । उक्तमार्गणाद्वये श्रेणिं विहाय प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानयोरन्तर्मुहूर्तेनावश्यं परावर्तमानत्वादाहारकद्विकबन्धकस्य प्रमत्तगुणस्थानप्राप्तौ तद्वि-

राभावू भवति नाम्नोऽल्पतरबन्धस्य प्रकृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तमिति ।

परिहारविशुद्धौ नाम्नो भूयस्कारबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं देशोनकायस्थितिप्रमाणं देशोनपूर्वकोटिरूपम्, प्रारम्भे यो जिननामबन्धेन तं कृत्वा प्रान्ते चाहारकद्विकस्य नूतनबन्धं करोति तस्यैव ज्येष्ठान्तरं प्राप्यते, नान्यस्येति । अल्पतरबन्धस्यान्तरमत्र सामायिकसंयममार्गणावद्विज्ञेयमिति ।

शुक्ललेश्यामार्गणायां भूयस्कारबन्धस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तमेव भवति, तद्यथा--शुक्ललेश्यावर्तिमनुष्यो मार्गणाप्रारम्भे आहारकद्विकं बध्नाति, ततो यथासम्भवं दीर्घतरकालं तस्मिन्नेव लेश्यायां व्यतीत्य प्रान्ते प्रमत्तादिगुणप्रत्ययत आहारकद्विकमबध्नन् मरणमासाद्य देवेषूत्पन्नो भवप्रथमसमये भूयस्कारबन्धं करोति, एवं भूयस्कारबन्धस्य प्रकृष्टान्तरं शुक्ललेश्यायामन्तर्मुहूर्तं भवति । यतो नामकर्मबन्धकमनुष्यतिरश्चां शुक्ललेश्याया अवस्थानकालस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वान्नाधिकमन्तरं प्राप्यते । देवानां तु प्रस्तुतलेश्यायां भूयस्कारबन्ध एव नास्ति, देवेभ्यश्च्युतानां मनुष्येषूत्पन्नानां भवाद्यान्तर्मुहूर्ते शुक्ललेश्यायां भावेऽपि सम्यग्दृष्टीनां तत्राल्पतरबन्धस्य लाभात्, मिथ्यादृष्टिजीवानां त्ववस्थितबन्ध एवेति; अन्ये तु तेषां नष्टलेश्याकत्वमेव मन्यन्त इति सर्वप्रकारेण न भूयस्कारबन्धस्याधिकमन्तरं प्राप्यते । शुक्ललेश्यायां नाम्नोऽल्पतरबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनमार्गणाज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणं भवति, तच्च सातिरेकाणि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, मार्गणाप्रारम्भेऽप्रमत्तात् प्रमत्तगुणस्थानकं प्राप्याहारकद्विकबन्धविरामेणाल्पतरबन्धं विधाय यद्वा श्रेणौ देवद्विकादिबन्धविच्छेदेनाल्पतरबन्धं विधाय क्रमेण यथासम्भवं कालं कृत्वाऽनुत्तरसुरेषूत्पद्य ततश्च्युत्वा मनुष्येषूत्पन्नो भवप्रथमसमयेऽल्पतरबन्धं करोति, एवं निरुक्तप्रमाणमुत्कृष्टान्तरं भवतीति ॥१०७॥

अथ शेषमार्गणासु नाम्नो भूयस्कारात्पतरबन्धयोरुत्कृष्टान्तरं निरूपयन्नाह—

दुपयाणिगतीसुदही अहिया दुअणाणअभविमिच्छेसुं ।
अयराऽत्थि वेअगेऽहियतेत्तीसाऽणाइ मुहुत्तंतो ॥१०८॥

(प्रे०) "दुपयाणि" मत्यज्ञानश्रुताज्ञानाऽभव्यमिथ्यात्वमार्गणाचतुष्के सामान्यतो भूयस्कारात्पतरबन्धयोरन्तरमन्तर्मुहूर्तम्, गुणप्रत्ययेन तयोरन्तरं नास्ति, भवप्रत्ययेन युगलधार्मिकानानतादिदेवांश्च विहाय शेषभवेषु नानाबन्धस्थानसम्भवेन तयोर्बन्धयोरन्तरमन्तर्मुहूर्तमेव । युगलिकापेक्षया तु देशोनपल्योपमत्रयं युगलिकभवस्याद्यान्तर्मुहूर्ते देवभवाद्यान्तर्मुहूर्ते च तयोर्भावात्, आनतादिदेवेषु पुनर्नवमग्रैवेयकान्तेष्वेव प्रस्तुतमार्गणा, न पुनरनुत्तरदेवेषु । नवमग्रैवेयकदेवानां प्रकृष्टा स्थितिरेकत्रिंशत्सागरोपमाणि; तत्प्रथमसमये च तेषां नाम्नो भूयस्कारबन्धो भवति, तदूर्ध्वं तु भवचरमसमयपर्यन्तमवस्थितबन्ध एव, ततश्च्युत्वा मनुष्येषूत्पन्नस्य यदि

तदेव बन्धस्थानं प्रवर्तते तद्द्युत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तं यावदेव, तत्पश्चादवश्यमेव भूयस्काराल्पतर-बन्धौ प्रवर्तेते, देवेषूत्पत्तेः प्रागपि मनुष्यभवचरमान्तर्मुहूर्तं विहाय तयोर्बन्धयोः परावर्तनं भवत्येव। एवं चोक्तमार्गणाचतुष्के भूयस्काराल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टान्तरं दर्शितप्रमाणं प्राप्यत इति।

क्षयोपशमसम्यक्त्वे नाम्नो भूयस्काराल्पतरपदयोरुत्कृष्टान्तरं साधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि भवति, अनुत्तरदेवानधिकृत्य प्रागुत्तरमनुष्यभवसत्कं यथासम्भवं कियत्कालं च संगृह्य भावना कार्येति। तत्र साधिकत्वं समयोनपूर्वकोटिप्रमाणमवसेयम्।

"ऽण्णहे"त्यादि, उक्तशेषासु मार्गणासु भूयस्काराल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तं, मार्गणाज्येष्ठकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्, यद्वा मार्गणासु द्व्याद्यनेकबन्धस्थानानां परावर्तमानेन बन्धप्रायोग्यत्वे सति तदन्तर्गतं भवप्रत्ययेन गुणप्रत्ययेन वा नैकबन्धस्थानसम्भवः, नान्तर्मुहूर्तादधिकतद्बन्धासम्भवश्च, अतो ज्येष्ठान्तरमन्तर्मुहूर्तमेवेति। शेषमार्गणा नामत इमाः-अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्--ऽपर्याप्तमनुष्या-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय--ऽपर्याप्तत्रसकाय-सप्तैकेन्द्रिय नवविकला--क्षैकोनचत्वारिंशत्पृथ्व्यादिपञ्चकायभेद--मनोयोगौघ--तदुत्तरभेदचतुष्क--वचनयोगौघ-तदुत्तर-भेदचतुष्क- -काययोगौघौदारिकौ--दारिकमिश्र-वैक्रिय--वैक्रियमिश्र--कषायचतुष्क--विभङ्गज्ञानो-पशम-सास्वादनासंज्ञिमार्गणा इति द्व्यशीतिः। तथाऽऽनताद्यष्टादशदेवभेदाऽपगतवेदसूक्ष्म-सम्परायसम्यग्मिथ्यात्वमार्गणा एकविंशतिः, एतासु नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धौ एव न स्तः, अतो न तदन्तरस्य प्ररूपणेति ॥१०८॥

तदेवं समाप्तं नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्ज्येष्ठान्तरम्, तत्समासौ चाष्टानामपि कर्मणां सम्भवद्भूयस्कारादिचतुर्विधपदानां जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरमिति।

॥ श्रीप्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे स्वस्थाननिरूपणाया चतुर्थमन्तरद्वार समाप्तमिति ॥

॥ अथ पञ्चमं भङ्गविचयद्वारम् ॥

अथ पञ्चमं भङ्गविचयद्वारं प्ररूपयिषुरोघतः प्राह–

अट्ठण्हऽवट्ठिओ य अवत्तव्वो आउगस्स णामस्स ।
भूओगारप्पयरा णियमाऽट्ठण्ह अधुवाऽण्ण पया ॥१०१॥

(प्रे.) "अट्ठण्हे"त्यादि, इतः प्रभृत्यनेकजीवविषयकाणि द्वाराणि निरूपणीयानि भवन्तीत्यवधार्यम् । तत्र भङ्गविचये भूयस्कारादिपदचतुष्केभ्यो येषां कर्मणां यावन्ति पदानि सम्भवन्ति तेषु पदेषु बन्धकानां ध्रुवाध्रुवत्वं विज्ञातव्यम्, तत्र यस्य यस्य पदस्य बन्धका ध्रुवाः, तत्र न तत्तत्पदस्यैकानेकजीवप्रयुक्ता एकद्वयादिपदसंयोगजा वा भङ्गाः कर्तव्याः, किन्तु सर्वदैवानेकजीवप्रयुक्तमेव ध्रुवत्वं तत्पदबन्धकानाम् । तथा च सति शेषाध्रुवपदजन्यैकद्वयादिपदसंयोजा भङ्गाः कर्तव्याः । तत्र यदि एकमनेकं वा ध्रुवपदमस्ति तर्हि तत्सत्क एको भङ्गोऽध्रुवपदरहितः प्रक्षेपणीय इति । भङ्गनिरूपणाया बीजं तु पदानां सत्त्वे सति ध्रुवत्वस्याध्रुवत्वस्य च परिज्ञानम्, अत एव ग्रन्थकारस्तदेव निरूपयिष्यते तथाऽपि भङ्गविचय एव दर्शित इति ज्ञातव्यम् । नाऽत्र भङ्गा भङ्गसंख्या वा निरूपिता इति व्यामोहो न कार्यः ।

अथ सम्भवत्पदानां ध्रुवाध्रुवत्वमेव दर्शयन्नाह–"अट्ठण्हे"त्यादि, अष्टानामपि कर्मणामवस्थितबन्धो ध्रुवो भवति, आयुषोऽवक्तव्यबन्धोऽपि ध्रुवः, नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धौ च ध्रुवौ । शेषपदानि अध्रुवाणि, तद्यथा-वेदनीयायुर्वर्जषट्कर्मणामवक्तव्यबन्धोऽध्रुवः, दर्शनावरणमोहनीययोः प्रत्येकं भूयस्काराल्पतरबन्धौ अध्रुवौ इति । अत्रानन्तनिगोदजीवानां प्रतिसमयमवस्थितादिपदानां निर्वर्तकत्वात्तेषां ध्रुवत्वम्, अवक्तव्यादिपदानामध्रुवत्वं तु श्रेणिगतानां गुणस्थानान्तरप्राप्तिप्रथमसमय एव वा तन्निर्वर्तकत्वेन तेषां सर्वदा अनुपलम्भात् ।

अत्र भङ्गानयनार्थं प्राग् मूलग्रन्थे नानाप्रकाराणि करणानि दर्शितानि, तद्विवरणमपि तत्र तत्र तद्वृत्तिकारैः कृतमेव । अत्र वृत्तौ तत्रोक्ता एका करणगाथा स्मार्यते–' त्रिगुणी काऊण पया अधुवा कज्जा परोपराब्भत्था । रूवेगूणा अधुवा तावइआ चेव धुवसहिया ।" इति, गाथार्थस्तु सुगमः । भावना पुनरेवं कार्या–यत्र यावन्ति पदानि सम्भवन्ति तेभ्यो यावन्ति पदान्यध्रुवाणि तावन्ति त्रिकाणि संस्थाप्य परस्परं गुणनीयानि, ततो या संख्या प्राप्यते तावन्तो भङ्गा ध्रुवपदसहिताविज्ञेयाः, यदि पुनर्ध्रुवपदमेकमपि नास्ति तर्ह्येको तत्संबंधिभङ्गोऽपसारणीय इति । यदि पुनस्तत्राध्रुवपदमेकमपि नास्ति, तर्हि तत्र ध्रुवपदानामेकस्यानेकस्य वा भावेऽपि तस्यैक एव भङ्गः, भङ्गान्तराभावादभङ्गो वा ज्ञेयः । प्रस्तुते भङ्गसंख्या पुनरेवम्-ओघतो ज्ञानावरणगोत्रान्तरायाणाम-

वस्थितपदं ध्रुवमवक्तव्यपदं चाध्रुवमिति त्रयो भङ्गा भवन्ति। तद्यथा-(१)अनेकेऽवस्थितबन्धकाः एकोऽवक्तव्यबन्धकः, (२)अनेकेऽवस्थितबन्धका अनेके चावक्तव्यबन्धकाः (३) सर्वेऽवस्थितबन्धकाः, इति । वेदनीयस्यैकमेव पदमवस्थितबन्धरूप तस्य च ध्रुवत्वादेक एव भङ्गो भवति। आयुष्कस्यावक्तव्यावस्थितबन्धौ, द्वयोरपि पदयोर्ध्रुवत्वादेक एव भङ्गो भवति, अनेकेऽवक्तव्यबन्धका अनेकेऽवस्थितबन्धकाश्च। नाम्नो भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धा ध्रुवाः, अवक्तव्यबन्धश्चाध्रुवः, अत्रैकस्य पदस्याध्रुवत्वात् त्रयो भङ्गा भवन्तिः ते च ज्ञानावरणवद्विज्ञेयाः, केवलमवस्थितबन्धस्थाने पदत्रयं वक्तव्यमिति। दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरावक्तव्यपदत्रयमध्रुवम्, एकमवस्थितपदं ध्रुवमित्यत्र सप्तविंशतिर्भङ्गा भवन्ति। भावना तु मूलप्रकृतिबन्धप्रेमप्रभोक्तपद्धत्या मूलस्थितिबन्धवृत्त्यादिदर्शितपद्धत्या वा कार्या सुगमा चेति ॥१०९॥ यद्यपि स्वामित्वद्वारे स्वामित्वादिकस्य भावान्तद्वारसम्बन्धिनी प्ररूपणा मूलकर्मसत्काष्टप्रकृत्यास्थानवदतिदेशेन दर्शिता, तथाच भङ्गविचयद्वार अतिदेशवद् ध्रुवत्वमध्रुवत्वं वाऽऽयुष्कसत्कपदद्वयस्य लाभस्तथाऽपि तत्रोक्तभङ्गप्रकारतः प्रस्तुते प्राप्यमाणभङ्गानां तत्प्रकारस्य च भिन्नत्वेन ग्रन्थकारोऽत्र पुनरायुष्कस्य भङ्गविचये ध्रुवाध्रुवत्वं मार्गणास्वपि प्ररूपयन्नाह—

आउस्स अट्ठमो चिअ भंगो जासुं भवे दुसट्ठीए ।
तहि से णियमा दोराह वि पयाण सेसा भयणीआ ॥११०॥

(प्रे०) "आउस्से"त्यादि, मूलप्रकृतिबन्धे यासु तिर्यगोघादिद्वाषष्टिमार्गणास्वायुर्बन्धकानां केवलमष्टम एव भङ्गो दर्शितः, तास्वायुर्बन्धकानां ध्रुवत्वमिवायुर्बन्धप्रारम्भकाणां तत्समापकानां च ध्रुवत्वं भवति । अत एतासु द्वाषष्टिमार्गणास्वायुषोऽवस्थितावक्तव्यपदबन्धकानां ध्रुवत्वादेक एव भङ्गो भवति। ता द्वाषष्टिमार्गणा नामत इमाः—तिर्यग्गत्योघ-सप्तैकेन्द्रिय-बादरपर्याप्तवर्जपृथ्वीकायभेदषट्काऽप्कायभेदषट्क-तेजस्कायभेदषट्क-वायुकायभेदषट्क-साधारणवनस्पतिकायभेदसप्तक--वनस्पतिकायौघ प्रत्येकवनस्पतिकायौघा --ऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाय--काययोगौघौ--दारिकौ-दारिकमिश्र-नपुंसकवेद कषायचतुष्क-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसयमा-ऽचक्षुर्दर्शनाऽशुभलेश्यात्रिक-भव्याभव्य-मिथ्यात्वासंज्ञ्याहारकमार्गणा इति । उक्तशेषास्वायुर्बन्धप्रायोग्यास्वेकोत्तरशतमार्गणास्वायुर्बन्धस्यैव सान्तरत्वेनायुष्कसत्कपदद्वयस्य बन्धे सान्तरत्वादऽध्रुवत्वम्, तेनात्रैतासु प्रत्येकमष्टौ अष्टौ भङ्गा भवन्ति ।

मूलप्रकृतावष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य सप्तादिप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानसापेक्षत्वेन तत्र तस्य पृथग्भङ्गा नैव प्राप्यन्ते, प्रस्तुते तु प्रत्येकं मूलकर्मणः पृथक् प्ररूपणाया भावेन स्वस्वकर्मसत्कभूयस्काराद्यवान्तरसत्पदापेक्षयैव भङ्गानां लाभाद् भिन्नत्वमित्यतिदिष्टेऽपि पुनर्निर्देश इति॥११०॥

अथ मार्गणास्वायुर्वर्जशेषकर्मणां सम्भवद्भूयस्काराल्पतरावस्थितावक्तव्यपदानां बन्धे ध्रुवाध्रुवत्वं निरूपयिषुरादौ तावदवस्थितबन्धस्य तत्राह—

असमत्तणरे विव्वियमीसे आहारदुगअवेएसुं ।
छेए परिहारसुहुमउवसममीसेसु सासाणे ॥१११॥
सप्पाउग्गाणाउगवज्जाण अवट्ठिओऽत्थि भयणीओ ।
णियमा सेसासु परमवेए वेअस्स णियमाऽत्थि ॥११२॥

(प्रे०) "असमत्तणरे"इत्यादि, अपर्याप्तमनुष्यवैक्रियमिश्राहारकतन्मिश्रच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसंपरायोपशमसम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सास्वादनमार्गणाः, एता दश सान्तरा भवन्ति, एतासु प्रत्येकं कदाचिज्जीवानामभावः प्राप्यते, कदाचिच्चैकादयोऽपि जीवा भवेयुः, अत एतास्वायुर्वर्जसप्तकर्मभ्यो यावन्ति कर्माणि बन्धार्हाणि तेषां प्रत्येकमवस्थितपदमध्रुवम्, मार्गणाया एवाध्रुवत्वात् । अपगतवेदमार्गणायां बन्धकजीवेषु सयोगिकेवलिनोऽपेक्ष्यैव मार्गणाध्रुवा, शेषनवमादिद्वादशान्तगुणस्थानगतजीवानपेक्ष्य मार्गणा अध्रुवा, अत एतस्यां वेदनीयस्यावस्थितबन्धपदं ध्रुवं शेषाणां ज्ञानावरणादिषट्कर्मणामवस्थितपदमध्रुवं विज्ञेयमिति । शेषासु त्रिषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकमायुर्वर्जबन्धप्रायोग्याणां कर्मणां सप्तानामेकस्य वाऽवस्थितपदस्य ध्रुवत्वं भवति, तत्तन्मार्गणाया ध्रुवत्वेनावस्थितपदबन्धकानां सर्वदैव लाभात् । अत्राऽकषाय-केवलज्ञानदर्शन यथाख्यातसंयममार्गणासु चतसृषु केवल वेदनीयस्य, शेषैकोनषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु सप्तानामवस्थितपदस्य ध्रुवत्वं विज्ञेयम् । इति मार्गणास्ववस्थितपदस्य ध्रुवाध्रुवत्वम् ॥१११-११२॥

अथ सर्वमार्गणासु यथासम्भवमवक्तव्यभूयस्काराल्पतरबन्धानां ध्रुवत्वमध्रुवत्वं वा निरूपयन्नाह—

आउस्स अट्ठमो चिअ भंगो जासुं भवे दुसट्ठीए ।
तासुं बासट्ठीए कम्मम्मि तहा अणाहारे ॥११३॥
भूगारप्पयराणं णियमा णामस्स बंधगा णेया ।
सव्वह सेसपयाणं सप्पाउग्गाण भजणीआ ॥११४॥

(प्रे०)"आउस्से"त्यादि, यासु तिर्यगोघादिद्वाषष्टिमार्गणासु तिर्यगायुषः सदैव "अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धकाश्च" इत्येवंरूपोऽष्टम एव भङ्गः प्राप्यते, तासु कार्मणानाहारकयोश्चेति चतुःषष्टिमार्गणासु प्रत्येकं नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धौ ध्रुवौ भवतः, तयोर्बन्धप्रायोग्यजीवानामानन्त्यादसंख्यलोकप्रमाणत्वाद्वा । ता मार्गणा नामत इमाः-तिर्यग्गत्योघ-सप्तैकेन्द्रिय-

वस्थितपदं ध्रुवमवक्तव्यपदं चाध्रुवमिति त्रयो भङ्गा भवन्ति। तद्यथा-(१)अनेकेऽवस्थितबन्धकाः एकोऽवक्तव्यबन्धकः, (२)अनेकेऽवस्थितबन्धका अनेके चावक्तव्यबन्धकाः (३) सर्वेऽवस्थितबन्धकाः, इति । वेदनीयस्यैकमेव पदमवस्थितबन्धरूप तस्य च ध्रुवत्वादेक एव भङ्गो भवति। आयुष्कस्यावक्तव्यावस्थितबन्धौ, द्वयोरपि पदयोर्ध्रुवत्वादेक एव भङ्गो भवति, अनेकेऽवक्तव्यबन्धका अनेकेऽवस्थितबन्धकाश्च। नाम्नो भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धा ध्रुवाः, अवक्तव्यबन्धश्चाध्रुवः, अत्रैकस्य पदस्याध्रुवत्वात् त्रयो भङ्गा भवन्तिः ते च ज्ञानावरणवद्विज्ञेयाः, केवलमवस्थितबन्धस्थाने पदत्रयं वक्तव्यमिति। दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरावक्तव्यपदत्रयमध्रुवम्, एकमवस्थितपदं ध्रुवमित्यत्र सप्तविंशतिर्भङ्गा भवन्ति। भावना तु मूलप्रकृतिबन्धप्रेमप्रभोक्तपद्धत्या मूलस्थितिबन्धवृत्त्यादिदर्शितपद्धत्या वा कार्या सुगमा चेति ॥१०९॥ यद्यपि स्वामित्वद्वारे स्वामित्वादिकस्य भावान्तद्वारसम्बन्धिनी प्ररूपणा मूलकर्मसत्काष्टप्रकृत्यात्स्थानवदतिदेशेन दर्शिता, तथाच भङ्गविचयद्वार अतिदेशवद् ध्रुवत्वमध्रुवत्वं वाऽऽयुष्कसत्कपदद्वयस्य लाभस्तथाऽपि तत्रोक्तभङ्गप्रकारतः प्रस्तुते प्राप्यमाणभङ्गानां तत्प्रकारस्य च भिन्नत्वेन ग्रन्थकारोऽत्र पुनरायुष्कस्य भङ्गविचये ध्रुवाध्रुवत्वं मार्गणास्वपि प्ररूपयन्नाह—

> आउस्स अट्ठमो चिश्र भंगो जासुं भवे दुसट्ठीए।
> तहिं से णियमा दोराह वि पयाण सेसा भयणीश्रा ॥११०॥

(प्रे०) "आउस्से"त्यादि, मूलप्रकृतिबन्धे यासु तिर्यगोघादिद्वाषष्टिमार्गणास्वायुर्बन्धकानां केवलमष्टम एव भङ्गो दर्शितः, तास्वायुर्बन्धकानां ध्रुवत्वमिवायुर्बन्धप्रारम्भकाणां तत्समापकानां च ध्रुवत्वं भवति । अत एतासु द्वाषष्टिमार्गणास्वायुषोऽवस्थितावक्तव्यपदबन्धकानां ध्रुवत्वादेक एव भङ्गो भवति। ता द्वाषष्टिमार्गणा नामत इमाः—तिर्यग्गत्योघ-सप्तैकेन्द्रिय-बादरपर्याप्तवर्जपृथ्वीकायभेदषट्काऽप्कायभेदषट्क-तेजस्कायभेदषट्क-वायुकायभेदषट्क-साधारणवनस्पतिकायभेदसप्तक--वनस्पतिकायौघ प्रत्येकवनस्पतिकायौघा --ऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाय--काययोगौघौ--दारिकौ-दारिकमिश्र-नपुंसकवेद ायचतुष्क-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसयमा-ऽचक्षुर्दर्शनाऽशुभलेश्यात्रिक-भव्याभव्य-मिथ्यात्वासंज्ञ्याहारकमार्गणा इति । उक्तशेषास्वायुर्बन्धप्रायोग्यास्वेकोत्तरशतमार्गणास्वायुर्बन्धस्यैव सान्तरत्वेनायुष्कसत्कपदद्वयस्य बन्धे सान्तरत्वादऽध्रुवत्वम्, तेनात्रैतासु प्रत्येकमष्टौ अष्टौ भङ्गा भवन्ति।

मूलप्रकृतावष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य सप्तादिप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानसापेक्षत्वेन तत्र तस्य पृथग्भङ्गा नैव प्राप्यन्ते, प्रस्तुते तु प्रत्येकं मूलकर्मणः पृथक् प्ररूपणाया भावेन स्वस्वकर्मसत्कभूयस्काराद्यवान्तरसत्पदापेक्षयैव भङ्गानां लाभाद् भिन्नत्वमित्यतिदिष्टेऽपि पुनर्निर्देश इति॥११०॥

अथ मार्गणास्वायुर्वर्जशेषकर्मणां सम्भवद्भूयस्काराल्पतरावस्थितावक्तव्यपदानां बन्धे ध्रुवाध्रुवत्वं निरूपयिषुरादौ तावदवस्थितबन्धस्य तत्राह—

असमत्तणरे विक्कियमीसे आहारदुगअवेएसुं ।
छेए परिहारसुहुमउवसममीसेसु सासाणे ॥१११॥
सप्पाउग्गाणाउगवज्जाण अवट्ठिओऽत्थि भयणीओ ।
णियमा सेसासु परमवेए वेअस्स णियमाऽत्थि ॥११२॥

(प्रे०) "असमत्तणरे"इत्यादि, अपर्याप्तमनुष्यवैक्रियमिश्राहारकतन्मिश्रच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसंपरायोपशमसम्यक्त्व सम्यग्मिथ्यात्व-सास्वादनमार्गणाः, एता दश सान्तरा भवन्ति, एतासु प्रत्येकं कदाचिज्जीवानामभावः प्राप्यते, कदाचिच्चैकादयोऽपि जीवा भवेयुः, अत एतास्वायुर्वर्जसप्तकर्मभ्यो यावन्ति कर्माणि बन्धार्हाणि तेषां प्रत्येकमवस्थितपदमध्रुवम्, मार्गणाया एवाध्रुवत्वात् । अपगतवेदमार्गणायां बन्धकजीवेषु सयोगिकेवलिनोऽपेक्ष्यैव मार्गणा-ध्रुवा, शेषनवमादिद्वादशान्तगुणस्थानगतजीवानपेक्ष्य मार्गणा अध्रुवा, अत एतस्यां वेदनीयस्याव-स्थितबन्धपदं ध्रुवं शेषाणां ज्ञानावरणादिषट्कर्मणामवस्थितपदमध्रुवं विज्ञेयमिति। शेषासु त्रिषष्ट्यु-त्तरशतमार्गणासु प्रत्येकमायुर्वर्जबन्धप्रायोग्याणां कर्मणां सप्तानामेकस्य वाऽवस्थितपदस्य ध्रुवत्वं भवति, तत्तन्मार्गणाया ध्रुवत्वेनावस्थितपदबन्धकानां सर्वदैव लाभात् । अत्राऽकषाय-केवल-ज्ञानदर्शन यथाख्यातसंयममार्गणासु चतसृषु केवल वेदनीयस्य, शेषैकोनषष्ट्यु त्तरशतमार्गणासु सप्तानामवस्थितपदस्य ध्रुवत्वं विज्ञेयम् । इति मार्गणास्ववस्थितपदस्य ध्रु वाध्रुवत्वम्।१११-११२॥

अथ सर्वमार्गणासु यथासम्भवमवक्तव्यभूयस्काराल्पतरबन्धानां ध्रुवत्वमध्रुवत्वं वा निरू-पयन्नाह—

आउस्स अट्ठमो चिअ भंगो जासुं भवे दुसट्ठीए ।
तासुं बासट्ठीए कम्मम्मि तहा अणाहारे ॥११३॥
भूगारप्पयराणं णियमा णामस्स बंधगा णेया ।
सव्वह सेसपयाणं सप्पाउग्गाण भजणीआ ॥११४॥

(प्रे०)"आउस्से"त्यादि, यासु तिर्यगोघादिद्वाषष्टिमार्गणासु तिर्यगायुषः सदैव "अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धकाश्च" इत्येवंरूपोऽष्टम एव भङ्गः प्राप्यते, तासु कार्मणानाहारकयोश्चेति चतुःषष्टिमार्गणासु प्रत्येकं नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धौ ध्रुवौ भवतः, तयोर्बन्धप्रायोग्य-जीवानामानन्त्यादसंख्यलोकप्रमाणत्वाद्वा । ता मार्गणा नामत इमाः-तिर्यग्गत्योघ-सप्तैकेन्द्रिय-

सप्तसाधारणवनस्पतिकाय-पृथ्व्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायौघ-सूक्ष्मपृथ्व्यादिकायचतुष्कसत्कद्वादश-भेद -बादरपृथ्व्यप्तेजोवायुप्रत्येकवनौघाऽपर्याप्तपृथ्व्यप्तेजोवायुप्रत्येकवनस्पतिकाय -काययोगौ-घौदारिकौदारिकमिश्र-- नपुंसकवेद---कषायचतुष्क---मत्यज्ञान--श्रुताज्ञानाऽसंयमाऽचक्षुर्दर्शन-कृष्णनीलकापोतलेश्या- भव्याभव्य-मिथ्यात्वाऽसंज्ञ्याहारकमार्गणाः कार्मणानाहारके चेति। एतासु यथासम्भवं षण्णामवक्तव्यपदस्य दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धयोस्तथा शेषषद्बुत्तरशतमार्गणासु यथार्हं षण्णामवक्तव्यपदस्य दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां भूयस्कारा-ल्पतरपदयोर्भजनीयत्वसम्भुवत्वमित्यर्थः, उक्तपदानां बन्धप्रायोग्यजीवानामसंख्येयलोकतो हीनत्वात्। एवं मूलकृता मार्गणासु सम्भवत्पदानां ध्रुवाध्रुवत्वं दर्शितम्।

एतदनुसारेण भङ्गानयनप्रकारस्त्वेष-यत्र यस्या एकमेव पदं तस्य च ध्रुवत्व एक एव भङ्गः, यथा नरकगतौ ज्ञानावरणस्य। एकपदस्यैव भावेऽपि तस्याध्रुवत्वे द्वौ भङ्गौ, यथा सास्वादने ज्ञानावरणस्य। यत्र यस्य कर्मण द्वे एव पदे तयोर्ध्रुवत्वे च एक एव भङ्गः, यथा तिर्यगोघ आयुष्कस्य। यत्कर्मणः पदद्वयेऽपि एकस्य ध्रुवत्वेऽन्यस्याध्रुवत्वे त्रयो भङ्गा भवन्ति, यथा मनुष्यगत्योघे गोत्रस्य। द्वयोरपि पदयोरध्रुवत्वेऽष्टौ भङ्गाः, यथोपशमसम्यक्त्वे गोत्रस्य। यत्र यस्य कर्मणः पदत्रयस्य सत्त्वे त्रयाणामपि ध्रुवत्व एक एव भङ्गः प्राप्यते, यथा तिर्यग्गत्योघे नाम्नः। यत्र यत्कर्मणः पदत्रयादेकस्य ध्रुवत्वं द्वयोरध्रुवत्वं तत्र नव भङ्गाः प्राप्यन्ते, यथा नरकगतौ नाम्नः। तथा पदत्रयसत्त्वे द्वे पदे ध्रुवे एकं पदमध्रुवमिति तु विकल्प एव नास्ति। यत्र यस्याः प्रकृतेस्त्रयाणामपि पदानामध्रुवत्वम्, तत्र तस्याः षड्विंशतिर्भङ्गाः, यथा च्छेदोपस्थापनीये नाम्नः। यत्र यस्याः पदचतुष्कस्य सत्त्वं भवति तत्र पदचतुष्कस्य ध्रुवत्वं न कस्या अपि प्रकृतेः कुत्रचिद् भवति। यस्याः पदचतुष्कादेकस्य पदस्याऽध्रुवत्वं शेषपदत्रयस्य ध्रुवत्वं तत्र त्रयो भङ्गा भवन्ति यथा काययोगौघे नाम्नः। पदद्वयस्याध्रुवत्वं पदद्वयस्य ध्रुवत्वं चेत्येवंरूपस्तु विकल्प एव नास्ति। यत्र यस्याः प्रकृतेः पदचतुष्कादेकस्य पदस्य ध्रुवत्वं शेष-पदत्रयस्याध्रुवत्वं स्यात्, तत्र तस्या भङ्गाः सप्तविंशतिर्यथा मनुष्यौघे दर्शनावरणादित्रयाणाम्। यस्याः पदचतुष्कस्याप्यध्रुवत्वं तस्या भङ्गा अशीतिर्विज्ञेयाः, यथा उपशमसम्यक्त्वे दर्शनावरणस्येति।

अत्र द्वारे यस्याः प्रकृतेर्यावन्ति पदान्यध्रुवाणि, तावन्ति त्रिकाणि स्थापयित्वा परस्परं गुणनियानि, तथाच--न यावती संख्या प्राप्यते तस्यास्तावन्तो भङ्गा भवन्ति, यदि तस्या ध्रुवपदमेकमपि स्यात्, यदि पुनर्ध्रुवपदमेकमपि नास्ति तर्हि रूपोनास्तावन्तो भङ्गाः स्युरिति।

अथ मार्गणास्वायुर्वर्जानां कर्मणां भूयस्कारादिपदानां ध्रुवाध्रुवत्वं भङ्गांश्च दर्शयामः--अपर्याप्तमनुष्ये नाम्नः पदत्रयम्, तस्य भङ्गाः षड्विंशतिः। ज्ञानावरणादिशेषषट्कर्मणां त्वेक-

मवस्थितपदं तेषां प्रत्येकं द्वौ द्वौ भङ्गौ स्तः। वैक्रियमिश्रे नाम्नः पदत्रयसत्त्वं तेन तस्य षड्विंशतिर्भङ्गाः। मोहनीयस्य पदद्वयसत्त्वं तेन तस्याष्टौ भङ्गाः, शेषाणां ज्ञानावरणादीनां पञ्चानां कर्मणामेकं पदं तेन तेषां प्रत्येकं द्वौ द्वौ भङ्गौ। आहारकाऽऽहारकमिश्रयोर्नाम्नो द्वे पदे तेन तस्याष्टौ भङ्गाः, ज्ञानावरणादिषट्कर्मणां प्रत्येकमेकैकस्यैव पदस्य सत्त्वाद् द्वौ द्वौ भङ्गौ। सूक्ष्मसम्पराये मोहनीयस्य बन्धाभावाच्छेषषट्कर्मणां केवलमवस्थितपदस्य भावात्तेषां प्रत्येकं द्वौ द्वौ भङ्गौ भवतः। उपशमसम्यक्त्वे दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां प्रत्येकं भूयस्कारादिपदचतुष्कस्याध्रुवत्वेन मावादशीतिर्भङ्गा भवन्ति। ज्ञानावरणगोत्रान्तरायाणां पदद्वयं भवति अवस्थितमवक्तव्यं च; द्वे अप्यध्रुवे, भङ्गाः प्रत्येकं कर्मणोऽष्टौ अष्टौ भवन्ति। वेदनीयस्यैकमेवावस्थितपदमध्रुवं च तस्य द्वौ भङ्गौ। सम्यग्मिथ्यात्वे सप्तानामप्येकैकपदस्य भावाद् द्वौ द्वौ भङ्गौ प्रत्येकं भवतः। छेदोपस्थापनीये ज्ञानावरणादिचतुर्णामेकमवस्थितपदं त्रयाणां दर्शनावरणादीनां भूयस्कारादिपदत्रयं मार्गणाया अध्रुवत्वेन सर्वाण्यपि पदान्यध्रुवाणि। परिहारविशुद्धौ नाम्नोऽवक्तव्यं विहाय पदत्रयं ज्ञानावरणादीनां केवलमवस्थितपदं भवति, मार्गणाया अध्रुवत्वेनोक्तपदान्यध्रुवाणि। मार्गणाद्वये सप्तानां प्रत्येकं भङ्गास्तु स्वयं विज्ञेया इति। सास्वादने नाम्नः पदत्रयस्याध्रुवत्वम्, तस्य भङ्गाः षड्विंशतिः, ज्ञानावरणादीनां षण्णां त्वेकमेव पदमध्रुवं च द्वौ द्वौ भङ्गौ भवतः। अपगतवेदे वेदनीयस्यैकमेव पदं तस्य च सयोगिकेवल्यपेक्षया ध्रुवत्वादेक एव भङ्गः। ज्ञानावरणदर्शनावरणनामगोत्रान्तरायाणां पञ्चानां प्रत्येकमवक्तव्यावस्थितपदौ स्तः, तौ चाध्रुवौ भङ्गा अष्टावष्टौ भवन्ति। मोहनीयस्य पदचतुष्कम्, चतुर्णामप्यध्रुवत्वादशीतिर्भङ्गा भवन्ति। एवमध्रुवमार्गणासु सप्तानां भङ्गनिरूपणम्। ध्रुवमार्गणासु भङ्गनिरूपणमेवम्—अकषायकेवलज्ञानदर्शनयथाख्यातसंयममार्गणास्वेकस्य वेदनीयकर्मण एव केवलमवस्थितबन्धः, स च ध्रुव एवातस्तस्य भङ्ग एक एव। मनुष्यौघ पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-पञ्चेन्द्रियौघ--तत्पर्याप्त--त्रसकायौघ--तत्पर्याप्त-मनोयोगौघ--तदुत्तरभेदचतुष्क---वचनयोगौघ---तदुत्तरभेदचतुष्क---मतिश्रुतावधिमनःपर्यवज्ञान---संयमौघ---चक्षुरवधिदर्शन--शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघ क्षायिकसम्यक्त्व-संज्ञिमार्गणास्वष्टाविंशतौ वेदनीयस्य केवलमवस्थितपदं ध्रुवं च, अतस्तस्यैक एव भङ्गः। ज्ञानावरणगोत्रान्तरायाणां त्रयाणामवक्तव्यावस्थितबन्धौ भवतस्तत्रावक्तव्यस्याध्रुवत्वादितरस्य ध्रुवत्वाच्च त्रयस्त्रयो भङ्गा भवन्ति। दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां प्रत्येकं चत्वारि पदानि तत्रावस्थितस्य ध्रुवत्वादितरपदत्रयस्याऽध्रुवत्वात् सप्तविंशतिः सप्तविंशतिर्भङ्गा भवन्ति। '

सर्वनरकभेदाऽपर्याप्तवर्जपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदत्रयसहस्रारान्तद्वादशदेवभेदवैक्रिययोग- स्त्री-

पुरुषवेद--सामायिकसंयम--तेजः--पद्मलेश्यामार्गणास्वेकोनत्रिंशतौ दर्शनावरणादित्रयाणामवक्तव्यवर्जपदत्रयं भवति, तत्रावस्थितस्य ध्रुवत्वमितरद्वयस्याध्रुवत्वम्, तेन प्रत्येकं कर्मणो भङ्गा नव नव। ज्ञानावरणादिचतुर्णां कर्मणां केवलमवस्थितपदं तस्य च ध्रुवत्वेनैकैक एव भङ्गः।

अनुत्तरमार्गणापञ्चके सप्तानामेकस्यैवावस्थितबन्धस्य भावादेकैको भङ्गः प्राप्यते। आनतादिनवमग्रैवेयकान्तेषु त्रयोदशसु मार्गणाभेदेषु, दर्शनावरणमोहनीययोः प्रत्येकमवक्तव्यवर्जपदत्रयं भवति, तत्रावस्थितस्य ध्रुवत्वेनेतरपदद्वयस्याध्रुवत्वेन च नव नव भङ्गा भवन्ति। ज्ञानावरणवेदनीयनामगोत्रान्तरायाणां पञ्चानां केवलमवस्थितपदस्य भावेनैकैको भङ्गः प्राप्यत इति।

अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्- नवविकलाक्षाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय- बादरपर्याप्तपृथ्व्यप्तेजोवायु-प्रत्येकवनस्पतिकायाऽपर्याप्तत्रसकायमार्गणासु सप्तदशसु ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयवेदनीय-गोत्रान्तरायाणां षण्णामवस्थितबन्ध एव, तस्य च ध्रुवत्वाद् भङ्ग एकैको भवति। नाम्नस्तु पदत्रयं भवति, तत्रावस्थितस्य ध्रुवत्वाद् भूयस्काराल्पतरयोरध्रुवत्वाच्च नव नव भङ्गा भवन्ति।

विभङ्गे मोहनीयस्य द्वे पदे तत्रावस्थितस्य ध्रुवत्वमल्पतरस्याध्रुवत्वम्, तेन भङ्गास्त्रयो भवन्ति। नाम्नस्त्रीणि पदानि, तत्रावस्थितबन्धो ध्रुवः, भूयस्काराल्पतरावध्रुवौ, भङ्गा नव। ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयगोत्रान्तरायाणां पञ्चानां प्रत्येकं केवलमवस्थितबन्ध एव, तस्य च ध्रुवत्वेनैकैक एव भङ्गः प्राप्यते।

देशविरतौ नाम्नो द्वे पदे भूयस्कारावस्थिताख्ये, तत्रावस्थितस्य ध्रुवत्वेन भूयस्कारस्याध्रुवत्वेन त्रीणि भङ्गाः। ज्ञानावरणादिषण्णां केवलमवस्थित एव बन्धोऽस्ति तस्य च ध्रुवत्वादेकैक एव भङ्गः। क्षायोपशमिकमार्गणायां मोहनीयनाम्नोः प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि पदानि, तत्रैकस्य ध्रुवत्वाद् द्वयोश्चाध्रुवत्वाद् नव नव भङ्गाः। ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयगोत्रान्तरायाणां पञ्चानां प्रत्येकमेकैकपदमवस्थितरूपं तस्य च ध्रुवत्वेनैकैकभङ्गः प्राप्यते।

काययोगौघौदारिककाययोगाऽचक्षुर्दर्शनभव्याहारिमार्गणासु पञ्चसु वेदनीयस्यैकमवस्थितपदं तस्य च ध्रुवत्वेनैक एव भङ्गः। ज्ञानावरणगोत्रान्तरायाणां द्वे पदे तत्रावस्थितस्य ध्रुवत्वेनावक्तव्यस्य चाऽध्रुवत्वेन त्रयस्त्रयो भङ्गाः। दर्शनावरणमोहनीययोश्चत्वारि पदानि, तत्रावस्थितस्य ध्रुवत्वेन शेषपदत्रयस्याध्रुवत्वेन च सप्तविंशतिर्भङ्गा भवन्ति। नाम्नोऽपि चत्वारि पदानि सन्ति तत्र त्रयाणां ध्रुवत्वेनावक्तव्यस्य चाध्रुवत्वेन त्रयो भङ्गा भवन्ति।

लोभमार्गणायां ज्ञानावरणगोत्रान्तरायाणामवक्तव्यपदाभावात् तेषां त्रयाणां वेदनीयस्य चावस्थितबन्धस्यैकस्यैव भावेन तस्य च ध्रुवत्वेनैकैक एव भङ्गः। दर्शनावरणस्यावक्तव्यवर्जानि त्रीणि पदानि तत्रैकस्य ध्रुवत्वं द्वयोरध्रुवत्वं च भङ्गा नव। मोहस्य

चत्वारि पदानि तत्रैकं ध्रुवं शेषपदत्रयमध्रुवं भङ्गाः सप्तविंशतिः । नाम्नोऽवक्तव्यवर्जपदत्रयं त्रयाणामपि ध्रुवत्वादेक एव भङ्ग इति ।

तिर्यग्गत्योघ- नपुंसकवेद-क्रोधमानमायाऽसंयम-कृष्णनीलकापोतलेश्यासु नवमार्गणासु ज्ञानावरणवेदनीयगोत्रान्तरायाणामेकैकपदं तस्य च ध्रुवत्वादेतासु प्रत्येकमुक्तकर्मणामेकैको भङ्गः प्राप्यते । दर्शनावरणमोहनीययोस्त्रीणि त्रीणि पदानि, तत्रैकस्य ध्रुवत्वाद् द्वयोरध्रुवत्वात् प्रत्येकं नव नव भङ्गाः । नाम्नस्त्रीणि पदानि त्रयाणामपि पदानां ध्रुवत्वादेक एव भङ्गः ।

औदारिकमिश्रकार्मणानाहारकमार्गणात्रयेऽज्ञानद्वये चेति पञ्चसु मोहनीयस्य द्वे पदे स्तः, अवस्थितभूयस्कारौ, तत्रैकस्य ध्रुवत्वादेकस्य चाध्रुवत्वात् त्रयो भङ्गा भवन्ति । दर्शनावरणस्य केवलमवस्थितपदस्य भावात् तस्य च ध्रुवत्वादेक एव भङ्गः । शेषज्ञानावरणादीनां तिर्यग्गत्योघवदेकैको भङ्गो विज्ञेयः ।

सप्तैकेन्द्रिय-सप्तसाधारणवनस्पतिकाय-बादरपर्याप्तवर्जपृथ्वीकायभेदषट्काप्कायभेदषट्क-तेजस्कायभेदषट्क-वायुकायभेदषट्क-वनस्पतिकायौघ--प्रत्येकवनस्पतिकायौघाऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायाभव्यमिथ्यात्वासंज्ञिमार्गणासु चतुश्चत्वारिंशद्मार्गणासु ज्ञानावरणादीनां षण्णां प्रत्येकं केवलमवस्थितबन्ध एव तस्य च ध्रुवत्वादेकैको भङ्गः प्राप्यते । नाम्नोऽवक्तव्यवर्जास्त्रयो बन्धाः, त्रयाणामपि बन्धानां ध्रुवत्वेनैको भङ्ग एव प्राप्यते । इति भङ्गानां निरूपणम् ॥११३-११४॥

॥ श्री प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधान उत्तरप्रकृतिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे स्वस्थाननिरूपणायां पञ्चमं भङ्गविचयद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ षष्ठं भागद्वारम् ॥

अथ षष्ठं भागद्वारमवसरप्राप्तमादावोघतो विवृणन्नाह—

आसिज्ज बंधगा इह भागो, वेअस्स णत्थि आउस्स ।
णेयाऽवत्तव्वस्स असंखंसोऽणस्स सेसंसा ॥११५॥

(प्रे०) "आसिज्जे"त्यादि, इह "आसिज्ज बंधगा इह भागो" इत्यनेन प्रस्तुते भागद्वारप्ररूपणाया नियतरूपो विषयविभागो दर्शितः, तद्यथा–इह प्रकरणे भूयस्काराधिकारे बन्धकानाश्रित्य । ये तत्तन्मूलकर्मबन्धकास्तानाश्रित्य तत्तत्कर्मणो भूयस्कारादिपदस्य ये बन्धकास्ते कियद्भागे भवन्ति, संख्येयतमे,असंख्येयतमे,अनन्ततमे वा, इत्यत्र निरूपणीयम्, न पुनर्बन्धकानबन्धकान् समुदितानपेक्ष्येत्यवधार्यम् । यस्य कर्मणो ये बन्धकास्ते तत्कर्मसत्केभ्यो भूयस्कारादिसम्भवत्पदबन्धकेभ्यो नातिरिच्यन्ते, अतो ये तत्तत्कर्मसत्कभूयस्कारादिसर्वपदबन्धकास्ते समुदितास्तत्तत्कर्मणो बन्धका विज्ञेयाः । अतो नात्राबन्धकानप्यधिकृत्य भागप्ररूपणा इति । ये वेदनीयस्य बन्धकास्ते सर्वे वेदनीयावस्थितपदस्यैव बन्धका भवन्ति, तदन्यपदानां वेदनीयेऽभावादत एव सर्वेषामेव बन्धकत्वाद् वेदनीयकर्मणि भागप्ररूपणा एव नास्ति, द्व्यादिविभागसत्त्वे तस्य न्याय्यत्वात् । आयुष्कस्यावक्तव्यावस्थितबन्धपदद्वयं भवति, तत्र चायुर्बन्धप्रारम्भसमये सर्वेषामवक्तव्यबन्धः, शेषेष्वायुर्बन्धकालेष्वसंख्यसामयिकेष्ववस्थितबन्ध एव भवति । अत्रावक्तव्यबन्धकालेभ्योऽवस्थितबन्धकालस्यासंख्येयगुणत्वात्, आयुर्बन्धकजीवेषु तदवक्तव्यबन्धका असंख्येयतमभागमात्रा भवन्ति, "अणणस्स"त्ति उक्तशेषपदस्य प्रस्तुत आयुषोऽवस्थितपदस्य बन्धकाः "सेसंसा" त्ति उक्तशेषभागाः, प्रस्तुत आयुर्बन्धकानामसंख्येयभागोस्यक्तत्वादसंख्येयबहुभागा भवन्ति । 'अणणस्स सेसंसा" इत्यनेन, ओघे मार्गणासु वा यत्कर्मणोऽवस्थितातिरिक्तपदसद्भावः, तत्रोक्तशेषपदस्यावस्थितपदस्येत्यर्थः, यथासम्भवं संख्येयबहुभागा असंख्येयबहुभागा अनन्तबहुभागाः, उक्तशेषभागरूपा बन्धका द्रष्टव्या इति दर्शितम् ॥११५॥

अथ प्रसङ्गतो मार्गणास्वप्यायुषः पदयोर्भागान् निरूपयन्नाह—

सव्वह आउस्सोघव्व णवरि जहि अत्थि बंधगा संखा ।
तत्थ अवत्तव्वस्स उ संखंसोऽणस्स संखंस्सा ॥११६॥

(प्रे०) "सव्वहे"त्यादि, आयुर्बन्धप्रायोग्यास्त्रिषष्ट्युत्तरशतमार्गणाः, ताभ्यः पर्याप्त-

मनुष्याद्येकोनत्रिंशन्मार्गणाभ्यो नवसु जीवाः संख्येया एव, शेषविंशतौ जीवानामसंख्येय-त्वेऽप्यायुष्कबन्धकाः संख्येया एव, अत एतासु प्रत्येकमायुर्बन्धकानामेकसंख्येयतमभागप्रमिता आयुषोऽवक्तव्यबन्धकाः, संख्येयबहुभागास्तु तस्यावस्थितपदनिर्वर्तका भवन्ति। शेषासु चतुस्त्रि-शदुत्तरशतमार्गणासु यथासम्भवमनन्ता असंख्येया वा जीवा भवन्ति, एतासु प्रत्येकं यावन्तो जीवा भवन्ति तदसंख्येयभागमिता यथासम्भवमनन्ता असंख्येया वा प्रकृष्टत आयुषो बन्धका भवन्ति। तत्तन्मार्गणायां ज्येष्ठपदेऽऽयुषो बन्धकानामसंख्येयभागमिता अवक्तव्यबन्धका भवन्ति, असंख्ये-यबहुभागगतास्त्ववस्थितबन्धकाः, इत्येतदोघवदतिदेशेन प्रदर्श्य संख्यातजीवयुक्तमार्गणास्वपवा-दरूपेण भागप्ररूपणा दर्शिता मूलकृतेति। तदेवं गतं मार्गणास्वप्यायुषः पदद्वयस्य भागनिरूपणम्।

ननु स्वामित्वद्वार एवाऽऽयुषो भावद्वारान्तस्यातिदेशेन निरूपितत्वात्पुनर्निरूपणमसङ्गत-मिति चेत्, न, तत्र मूलप्रकृतौ प्रकृतिबन्धकानपेक्ष्याष्टविधबन्धकाः कियद्भागे भवन्तीति निरूपि-तम्, प्रस्तुते तु ये आयुर्बन्धका भवन्ति तेषां कियद्भागे तत्पदद्वयस्य प्रत्येकं बन्धका भवन्तीति निरूपणीयम्, न चैतदतिदेशेन प्राप्यते, अतोऽत्र नाम्या तन्निरूपणेति। अन्यथा त्वसङ्गतिरेव स्यादिति ॥११६॥

अथ ओघतो वेदनीयाऽऽयुर्वर्जानां ज्ञानावरणादिकर्मणां भूयस्कारादिपदेषु भागान्निरूपयति—

णामस्स असंखंसो दुपयाण अवट्ठिअस्सऽसंखंसा।
पंचण्ह अणंतंसा छण्हऽणपयाणऽणंतंसो ॥११७॥

(प्रे०) "णामस्से"त्यादि, नाम्नो भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धका असंख्यैकभागप्रमाणाः अवस्थितबन्धका असंख्येयबहुभागप्रमाणाः। पञ्चानां ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयगोत्रान्त-रायाणामवस्थितपदबन्धका अनन्तबहुभागप्रमाणाः। षण्णामुक्तान्यपदानामर्थात् ज्ञानावरणगो-त्रान्तरायाणां त्रयाणामवक्तव्यपदस्य, नाम्नोऽप्यवक्तव्यस्यैव, दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्का-राल्पतरावक्तव्यपदानां च बन्धका अनन्ततमे भागे भवन्तीति गाथार्थः। भावार्थः पुनरयम् षण्णा-मपि कर्मणां बन्धका अनन्ताः, तेभ्योऽवक्तव्यबन्धकास्तु श्रेणितः प्रपतन्त एव, ते च संख्येयाः, अतः षण्णामवक्तव्यबन्धका अनन्ततमे भागे भवन्ति। ज्ञानावरणगोत्रान्तरायाणां त्ववक्तव्याव-स्थितपदद्वयस्यैव भावेन तत्रावक्तव्यपदस्यानन्ततमभागमात्रत्वाच्छेषानन्तबहुभागप्रमिता अव-स्थितपदस्यैव बन्धका लभ्यन्ते। दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धद्वयस्यापि बन्धका अनन्ततमे भागे एव भवन्ति, श्रेणिं विनाऽपि गुणान्तरसंक्रान्तौ तद्भावेनोत्कृष्टतः पल्योपमाऽ-संख्येयभागप्रमितास्ते भवन्ति, उक्तप्रकृतिद्वयबन्धकजीवास्त्वनन्ताः, इत्यनन्ततमभागप्रमिता एव दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्कारस्याल्पतरस्य च बन्धकाः, अवक्तव्यपदबन्धका अप्यनन्ततमभाग-

प्रमिता एव दर्शिताः, अतः शेषस्यावस्थितपदस्य बन्धकास्त्वनन्तबहुभागा भवन्ति, निगोदजीवानामवस्थितबन्धस्यैव निर्वर्तनादिति । नाम्नो भूयस्कारात्पतरयोर्बन्धस्तु गुणविशेषं भवविशेषं वा विहाय सामान्यतः प्रत्यन्तर्मुहूर्तं प्रवर्तते इति न तयोरनन्तभागप्रमितत्वम् । अन्तर्मुहूर्तमध्ये च सख्येयवारमेव तयोः परावर्तनात्, शेषसमयेष्ववस्थितबन्धस्य भावाच्च भूयस्काराल्पतरबन्धकालादवस्थितबन्धकालस्य बाहुल्यतोऽसंख्येयगुणत्वाद् भूयस्काराल्पतरबन्धका नाम्नः प्रकृतिबन्धकानामसंख्येयतमे भागे भवन्ति, नाम्नोऽवस्थितबन्धकास्त्वसंख्येयबहुभागा विज्ञेया इति ॥११७॥ अथ मार्गणासु भागं प्ररूपयन्नाह—

ओघव्व बंधगा ससपयाण सत्तरह आउवज्जाणं ।
काये उरालिये तह अचक्खुभवियेसु आहारे ॥११८॥

(प्रे०) "ओघव्वे"त्यादि, काययोगादिपञ्चमार्गणास्वायुवर्जसप्तानां भूयस्कारादिपदानां भागप्ररूपणा ओघवद् विज्ञेया, श्रेणिगतानां निगोदजीवानामोघवत्सर्वपदबन्धकानां चात्रापि सद्भावात्, भावनाऽप्योघवत्कार्या सुगमा चेति ॥११८॥ अथ नरकगत्यादिमार्गणासु प्राह—

सव्वणिरयतिपणिदियतिरिक्खसुरअट्ठमंतदेवेसुं ।
वेउव्वे इत्थीए पुरिसम्मि य तेउपम्हासुं ॥११९॥
दुरिअतुरिअछट्ठाणं असंखभागा अवट्ठिअस्सऽत्थि ।
दुपयाण असंखंसो भागो णत्थि चउसेसाणं ॥१२०॥

(प्रे०) "सव्वणिरये"त्यादि, सर्वनिरयभेदाः, ते चाष्टौ-नरकौघः सप्त तदुत्तरभेदाः, अपर्याप्तवर्जा त्रयः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, देवौघभवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मादिसहस्रारान्ता देवभेदाः समुदिताश्च ते द्वादशदेवभेदा वैक्रियकाययोग स्त्रीवेद-पुरुषवेद-तेजोलेश्या पद्मलेश्या-मार्गणास्तास्वष्टाविंशतौ ज्ञानावरणवेदनीयगोत्रान्तरायाणां केवलमेकमेवावस्थितबन्धो भवति, तेनोक्तकर्मचतुष्के भागप्ररूपणा नास्ति ।

दर्शनावरणमोहनीययोः पदत्रयम् । तत्र तयोर्भागप्ररूपणायामिमे नियमाः—(१) यासु मार्गणासु जीवा अनन्तास्तास्ववस्थितभिन्नपदबन्धका अनन्ततमभागप्रमाणाः, अवस्थितपदबन्धका अनन्तबहुभागप्रमाणाः । (२) यास्वसंख्येया जीवास्तास्ववस्थितभिन्नपदबन्धका असंख्येयभागप्रमाणाः, अवस्थितपदबन्धका असंख्येयबहुभागाः । (३) यासु मार्गणासु जीवाः संख्येया एव तास्ववस्थितेतरपदानां निर्वर्तकाः संख्येयैकभागप्रमिताः, अवस्थितपदबन्धकाः संख्येयबहुभागप्रमाणाः । (४) यासु मार्गणासु दर्शनावरणमोहयोरवस्थितभिन्नपदानि न सन्ति तास्ववस्थितपदस्यैवैकस्य भावेन भागप्ररूपणा नास्तीति नियमचतुष्कम् ।

अतः प्रस्तुतसर्वमार्गणासु जीवानामसंख्येयत्वाद् दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धका असंख्येयभागप्रमाणाः, अवस्थितपदबन्धका असंख्येयबहुभागप्रमिता भवन्तीति ।

नाम्नो बन्धस्य पदत्रयं भवति। नाम्नो भागप्ररूपणाया अवबोधार्थमिमे नियमा अवगन्तव्याः- (१) यासु मार्गणासु जीवा अनन्तास्तासु नाम्नोऽवक्तव्यपदस्य सत्त्वे तस्य बन्धका अनन्ततमैकभागमिताः, भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धका असंख्यैकभागप्रमाणाः, अवस्थितबन्धका असंख्येयबहुभागप्रमाणाः । (२) यासु मार्गणासु जीवा असंख्येयास्तास्ववस्थितेतरपदानां बन्धका असंख्येयतमभागप्रमाणाः, अवस्थितपदस्य बन्धकास्त्वसंख्येयबहुभागप्रमाणाः । (३) यासु मार्गणासु जीवाः संख्येया एव, तास्ववस्थितेतरपदानां बन्धकाः संख्येयतमभागप्रमिताः, अवस्थितपदस्य बन्धकास्तु संख्येयबहुभागाः । (४) यासु मार्गणासु नाम्नोऽवस्थितभिन्नपदानि न सन्तिः तास्ववस्थितपदस्यैवैकस्य सम्भवाद् भागप्ररूपणा अपि नास्तीति । अत्र प्रथमद्वितीयनियमद्वयेन च भूयस्काराल्पतरबन्धकानां ज्येष्ठकालतोऽवस्थितबन्धज्येष्ठकालस्यासंख्येयगुणत्वादसंख्येयबहुभागप्रमाणत्वमवस्थितबन्धकजीवानां भवति, तृतीयनियमे तु जीवानामेव संख्येयत्वात्संख्येयबहुभागप्रमाणत्वमवस्थितपदबन्धकानां भवति ।

प्रस्तुतसर्वमार्गणासु जीवानामसंख्येयत्वादेव नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्बन्धका असंख्येयैकभागप्रमाणाः, अवस्थितबन्धकास्त्वसंख्येयबहुभागमानाश्च भवन्तीति ॥११९-१२०॥

अथ तिर्यगोघादिमार्गणासु प्राह—

तिरिणपुमकसायचउग अजयकुलेसासु होइ ओघव्व ।
दुइअतुरिअछट्ठाण सपयाण णत्थि चउकम्माणं ॥१२१॥

(प्रे०) "तिरि" इत्यादि, अत्र तिर्यगोघादिदशमार्गणाः, एतासु प्रत्येकं जीवा अनन्ताः, तथा ज्ञानावरणादिषण्णामप्यवक्तव्यबन्धाभावः, अतो ज्ञानावरणवेदनीयगोत्रान्तरायाणां केवलमवस्थितबन्धस्यैव भावात्तासां प्रकृतीनां भागप्ररूपणा नास्ति । दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धद्वयस्यानन्तभागप्रमाणा बन्धका भवन्ति, अवस्थितबन्धकास्त्वनन्तबहुभागप्रमाणाः । नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धका असंख्येयैकभागप्रमाणाः, अवस्थितबन्धकास्त्वसंख्येयबहुभागमिताः, भावना त्वोघवत्कार्या सुगमा चेति ॥१२१॥

अथाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु भागं दर्शयति—

असमत्तपणिदितिरियमणुयपणिदियतसेसु सव्वेसुं ।
एगिदियविगलिदियपणकायेसुं अभवियम्मि ॥१२२॥

प्रमिता एव दर्शिताः, अतः शेषस्यात्रस्थितपदस्य बन्धकास्त्वनन्तबहुभागा भवन्ति, निगोद-जीवानामवस्थितबन्धस्यैव निर्वर्तनादिति । नाम्नो भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धस्तु गुणविशेषं भवविशेषं वा विहाय सामान्यतः प्रत्यन्तर्मुहूर्तं प्रवर्तते इति न तयोरनन्तभागप्रमितत्वम् । अन्तर्मुहूर्तमध्ये च सख्येयवारमेव तयोः परावर्तनात् , शेषसमयेष्ववस्थितबन्धस्य भावाच्च भूय-स्काराल्पतरबन्धकालादवस्थितबन्धकालस्य बाहुल्यतोऽसंख्येयगुणत्वाद् भूयस्काराल्पतरबन्धका नाम्नः प्रकृतिबन्धकानामसंख्येयतमे भागे भवन्ति, नाम्नोऽवस्थितबन्धकास्त्वसंख्येयबहुभागा विज्ञेया इति ॥११७॥ अथ मार्गणासु भागं प्ररूपयन्नाह—

ओघव्व बंधगा ससपयाण सत्तराह आउवज्जाणं ।
काये उरालिये तह अचक्खुभवियेसु आहारे ॥११८॥

(प्रे०) "ओघव्वे"त्यादि, काययोगादिपञ्चमार्गणास्वायुर्वर्जसप्तानां भूयस्कारादिपदानां भागप्ररूपणा ओघवद् विज्ञेया, श्रेणिगतानां निगोदजीवानामोघवत्सर्वपदबन्धकानां चात्रापि सद्भावात् , भावनाऽप्योघवत्कार्या सुगमा चेति ।११८॥ अथ नरकगत्यादिमार्गणासु प्राह-

सव्वणिरयतिपणिदियतिरिक्खसुरअट्ठमंतदेवेसुं ।
वेउव्वे इत्थीए पुरिसम्मि य तेउपम्हासुं ॥११९॥
दुरिअतुरिअछट्ठाणं असंखभागा अवट्ठिअस्सऽत्थि ।
दुपयाण असंखंसो भागो णत्थि चउसेसाणं ॥१२०॥

(प्रे०) "सव्वणिरये"त्यादि, सर्वनिरयभेदाः, ते चाष्टौ-नरकौघः सप्त तदुत्तरभेदाः, अपर्याप्तवर्जा त्रयः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, देवौघभवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मादिसहस्रारान्ता देवभेदाः समुदिताश्च ते द्वादशदेवभेदा वैक्रियकाययोग स्त्रीवेद-पुरुषवेद-तेजोलेश्या पद्मलेश्या-मार्गणास्तास्वष्टाविंशतौ ज्ञानावरणवेदनीयगोत्रान्तरायाणां केवलमेकमेवावस्थितबन्धो भवति, तेनोक्तकर्मचतुष्के भागप्ररूपणा नास्ति ।

दर्शनावरणमोहनीययोः पदत्रयम् । तत्र तयोर्भागप्ररूपणायामिमे नियमाः-(१) यासु मार्गणासु जीवा अनन्तास्तास्ववस्थितभिन्नपदबन्धका अनन्ततमभागप्रमाणाः, अवस्थित-पदबन्धका अनन्तबहुभागप्रमाणाः । (२) यास्वसंख्येया जीवास्तास्ववस्थितभिन्नपदबन्धका असंख्येयभागप्रमाणाः, अवस्थितपदबन्धका असंख्येयबहुभागाः । (३) यासु मार्गणासु जीवाः संख्येया एव तास्ववस्थितेतरपदानां निर्वर्तकाः संख्येयैकभागप्रमिताः, अवस्थितपदबन्धकाः संख्येयबहुभागप्रमाणाः । (४) यासु मार्गणासु दर्शनावरणमोहयोरवस्थितभिन्नपदानि न सन्ति तास्ववस्थितपदस्यैवैकस्य भावेन भागप्ररूपणा नास्तीति नियमचतुष्कम् ।

अतः प्रस्तुतसर्वमार्गणासु जीवानामसंख्येयत्वाद् दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धका असंख्येयभागप्रमाणाः, अवस्थितपदबन्धका असंख्येयबहुभागप्रमिता भवन्तीति ।

नाम्नो बन्धस्य पदत्रयं भवति । नाम्नो भागप्ररूपणाया अवबोधार्थमिमे नियमा अवगन्तव्याः-
(१) यासु मार्गणासु जीवा अनन्तास्तासु नाम्नोऽवक्तव्यपदस्य सत्त्वे तस्य बन्धका अनन्ततमैकभागमिताः, भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धका असंख्यैकभागप्रमाणाः, अवस्थितबन्धका असंख्येयबहुभागप्रमाणाः । (२) यासु मार्गणासु जीवा असंख्येयास्तास्ववस्थितेतरपदानां बन्धका असंख्येयतमभागप्रमाणाः, अवस्थितपदस्य बन्धकास्त्वसंख्येयबहुभागप्रमाणाः । (३) यासु मार्गणासु जीवाः संख्येया एव, तास्ववस्थितेतरपदानां बन्धकाः संख्येयतमभागप्रमिताः, अवस्थितपदस्य बन्धकास्तु संख्येयबहुभागाः । (४) यासु मार्गणासु नाम्नोऽवस्थितभिन्नपदानि न सन्तिः तास्ववस्थितपदस्यैवैकस्य सम्भवाद् भागप्ररूपणा अपि नास्तीति । अत्र प्रथमद्वितीयनियमद्वयेन च भूयस्काराल्पतरबन्धकानां ज्येष्ठकालतोऽवस्थितबन्धज्येष्ठकालस्यासंख्येयगुणत्वादसंख्येयबहुभागप्रमाणत्वमवस्थितबन्धकजीवानां भवति, तृतीयनियमे तु जीवानामेव संख्येयत्वात्संख्येयबहुभागप्रमाणत्वमवस्थितपदबन्धकानां भवति ।

प्रस्तुतसर्वमार्गणासु जीवानामसंख्येयत्वादेव नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्बन्धका असंख्येयैकभागप्रमाणाः, अवस्थितबन्धकास्त्वसंख्येयबहुभागमानाश्च भवन्तीति ॥११६-१२०॥

अथ तिर्यगोघादिमार्गणासु प्राह—

तिरिणपुमकसायचउग अजयकलेसासु होइ ओघव्व ।
दुइअतुरिअछट्ठाण सपयाण णत्थि चउकम्माणं ॥१२१॥

(प्रे०) "तिरि" इत्यादि, अत्र तिर्यगोघादिदशमार्गणाः, एतासु प्रत्येकं जीवा अनन्ताः, तथा ज्ञानावरणादिषण्णामप्यवक्तव्यबन्धाभावः, अतो ज्ञानावरणवेदनीयगोत्रान्तरायाणां केवलमवस्थितबन्धस्यैव भावाचासां प्रकृतीनां भागप्ररूपणा नास्ति । दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धद्वयस्यानन्तभागप्रमाणा बन्धका भवन्ति, अवस्थितबन्धकास्त्वनन्तबहुभागप्रमाणाः । नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धका असंख्येयैकभागप्रमाणाः, अवस्थितबन्धकास्त्वसंख्येयबहुभागमिताः, भावना त्वोघवत्कार्या सुगमा चेति ॥१२१॥

अथाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु भागं दर्शयति—

असमत्तपणिदितिरियमणुयपणिदियतसेसु सव्वेसुं ।
एगिंदियविगलिंदियपणकायेसुं अभवियम्मि ॥१२२॥

मिच्छत्ताऽसरणीसुं णामस्स पयाण तिराह श्रोघव्व ।
भागो ण भवे छराहं घाइतइअगोअकम्माणं ॥१२३॥

(प्रे०) "असमत्ते"त्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगऽपर्याप्तमनुष्याऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसकाय-सप्तैकेन्द्रिय-नवविकलेन्द्रिय-पृथ्व्यादिपञ्चकायसत्कैकोनचत्वारिंशद् भेदाऽभव्य-मिथ्यात्वाऽसञ्ज्ञिमार्गणासु द्वाषष्टौ ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयगोत्रान्तरायाणां षण्णामेकस्यैवावस्थितबन्धस्य भावेन तेषां भागप्ररूपणा एव नास्ति। नाम्नः पुनरत्र पदत्रयं तत्र भूयस्काराल्पतरपदयोर्बन्धका मार्गणागतजीवानामसंख्येयतमभागप्रमाणाः, अवस्थितबन्ध-कास्त्वसंख्येयबहुभागमिताः, भावना तु प्रथमद्वितीयनियमद्वयेन कार्या। अत्र मतान्तरेण मोहनी-यस्य भूयस्कारबन्धस्य कासुचिन्मार्गणास्वभ्युपगते तासु तस्य बन्धका मार्गणागतजीवाना-मनन्तत्वेऽनन्ततमैकभागप्रमाणाः, मार्गणागतजीवानामसंख्येयत्वेऽसंख्येयैकभागप्रमाणा विज्ञेया इति ॥१२२-१२३॥ अथ मनुष्यौघादिमार्गणासु भागप्ररूपणां प्रतिपादयन्नाह—

णरदुपणिंदियतसपणमणवयणतिणाणश्रोहिसुक्कासु ।
चक्खुम्मि य सम्मत्ते उवसमखइएसु सरिणम्मि ॥१२४॥
वेअस्स णत्थि भागो असंखभागा अवट्ठिअस्सऽत्थि ।
छराहं असंखभागो संतपयाणऽत्थि सेसाणं ॥१२५॥

(प्रे०) "णरे"त्यादि, मनुष्यौघ-पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्त-त्रसकायौघ तत्पर्याप्त-मनोयो-गौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-मतिश्रुतावधिज्ञानावधिदर्शन-शुक्ललेश्या-चक्षुर्दर्शन सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्वोपशमसम्यक्त्व-संज्ञिमार्गणासु पञ्चविंशतौ जीवा असं-ख्येयाः, केवलं सम्यक्त्वौघे क्षायिकसम्यक्त्वे च जीवानामनन्तानां भावेऽपि बन्धक-जीवा असंख्याता भवन्ति। वेदनीयस्य सर्वत्रौघवद् भागप्ररूपणा नास्ति, अतः प्रस्तुतेऽपि तन्नास्ति । उक्तमार्गणासु जीवानामेवासंख्येयत्वाद् ज्ञानावरणादिषट्कर्मणोऽवस्थितबन्धका असंख्येयबहुभागप्रमाणा भवन्ति। ज्ञानावरणगोत्रान्तरायाणामवक्तव्यपदस्य बन्धकाः संख्येया-स्ते च मार्गणागतबन्धकजीवानामसंख्येयैकभागप्रमाणाः, दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां भूयस्का-राल्पतरावक्तव्यबन्धका असंख्येयैकभागप्रमाणाः, अवस्थितबन्धका असंख्येयबहुभागप्रमिता भवन्ति । १२४—१२५॥ अथ पर्याप्तमनुष्यादिमार्गणासु प्रदर्शयन्नाह—

भागो वेअस्स दुणरअवेअमणणाणसंजमेसुं णो ।
छराहं अवट्ठिअस्स उ संखंसाऽरणाण संखंसो ॥१२६॥

(प्रे०) "भागो" इत्यादि, पर्याप्तमनुष्यमानुषीमार्गणे अपगतवेदो मनःपर्यवज्ञानं संयमौघः, तासु पञ्चमार्गणासु जीवाः संख्येया भवन्ति, एतासु वेदनीयस्य भागप्ररूपणा नास्ति, भावना तु प्रागवत् । ज्ञानावरणादिषट्कर्मणामवक्तव्यबन्धस्य दर्शनावरणमोहनीय-नाम्नां भूयस्काराल्पतरबन्धयोश्च निर्वर्तकाः संख्येयैकभागप्रमाणा भवन्ति, संख्येयबहुभागप्रमाणा-स्तु षण्णामपि कर्मणामवस्थितबन्धका विज्ञेया इति । भावना तु नरकगतिमार्गणायां प्ररू-पणावसरे सर्वमार्गणासु सम्भवद्भागप्ररूपणाया नियमा दर्शितास्ततः कार्या, सुगमा च । ॥१२६॥ अथाऽऽनतादिमार्गणासु प्राह—

दुइअतुरिआण णेया णेविज्जंतेसु आणताईसुं ।
णिरयव्व ण पंचण्ह अणुत्तरमीससुहमेसु सत्तण्हं ॥१२७॥ (गीतिः)

(प्रे०) "दुइअ" इत्यादि, आनतादिषु नवमग्रैवेयकान्तेषु त्रयोदशदेवभेदेषु जीवा असंख्येयाः, ज्ञानावरणवेदनीयनामगोत्रान्तरायाणां पञ्चानां केवलमवस्थितपदमेवात एतासु पञ्चानां भागप्ररूपणा नास्ति । दर्शनावरणमोहनीययोरत्र नरकवत्पदत्रयं भवति, भागप्ररूपणा अपि तद्वद् विज्ञेया, तद्यथा—द्वयोरपि भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धका असंख्येयैकभागप्रमाणाः, अव-स्थितबन्धकास्त्वसंख्येयबहुभागप्रमाणा विज्ञेयाः । अनुत्तरपञ्चके सम्यग्मिथ्यात्वे च सप्ताना-मपि कर्मणां भागप्ररूपणैव नास्ति, मार्गणागतानां सर्वेषां सप्तानामवस्थितपदस्यैव बन्धकत्वात् । एवं सूक्ष्मसम्पराये षण्णामेव बन्धप्रायोग्यत्वात्तेषां भागप्ररूपणा नास्ति ॥१२७॥

अथौदारिकमिश्रादिमार्गणासु प्राह—

ओघव्व उरलमीसे कम्मणाहारगेसु मोहस्स ।
दुपयाण य णामस्स तिपयाण भागो ण सेसाणं ॥१२८॥

(प्रे०) "ओघव्वे"त्यादि, औदारिकमिश्र—कार्मणानाहारकमार्गणासु मोहनीयस्य पदद्वयं भवति, भूयस्कारबन्धोऽवस्थितबन्धश्च, तयोर्भागप्ररूपणा ओघवद् भवति, ओघवदत्राप्य-नन्तजीवानां भावादनन्ततमभागप्रमिता भूयस्कारबन्धकाः, अनन्तबहुभागा अवस्थितस्य बन्धका भवन्ति । नाम्नः पदत्रयं भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धाः, तत्र भूयस्काराल्पतरबन्धका असंख्येय-भागप्रमाणाः, अवस्थितबन्धकास्त्वसंख्येयबहुभागाः, एषा प्ररूपणाऽप्योघवदिति तद्वदतिदिष्टं मूलकृता । शेषाणां ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयगोत्रान्तरायाणामवस्थितबन्धरूपस्यैकस्यैव पदस्य भावाद् भागप्ररूपणा नास्ति ॥१२८॥

अथ वैक्रियमिश्रे भूयस्कारादिपदेषु बन्धकानां भागान्निरूपयति—

णिरयव्व विउवमिस्से मोहस्स पयाण दोण्ह णामस्स ।
तिण्ह पयाणं भागो ण भवे सेसाण पंचण्हं ॥१२९॥

(प्रे०) "णिरयव्वे"त्यादि, वैक्रियमिश्रे मोहनीयस्य द्वयोः पदयोर्भूयस्कारावस्थितरूपयोर्नाम्नस्त्रयाणां पदानां भूयस्काराल्पतरावस्थितरूपाणां सद्भावात्तेषु भागप्ररूपणा नरकगतिमार्गणावद् विज्ञेया, तद्यथा—मोहनीयस्य भूयस्कारस्य बन्धका असंख्येयतमभागप्रमाणाः, अवस्थितबन्धका असंख्येयबहुभागप्रमाणाः । नाम्नोऽप्येवमेव, तद्यथा—भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धका असंख्यैकभागमिताः, अवस्थितबन्धकास्त्वसंख्येयबहुभागाः । ज्ञानावरणादिपञ्चानां ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयगोत्रान्तरायाणामवस्थितपदस्यैकस्यैव भावान्न पञ्चानामपि कर्मणां भागप्ररूपणाऽस्ति ॥१२९॥

अथाऽऽहारकयोगतन्मिश्रयोग—परिहारविशुद्धिमार्गणासु भागं प्राह—

णामस्साहारदुगे पज्जत्तणरव्व अत्थि दुपयाणं ।
परिहारे तिपयाणं ण छण्ह सेसाण भागोऽत्थि ॥१३०॥

(प्रे०) "णामस्से"त्यादि, आहारके तन्मिश्रे च नाम्नो भूयस्कारावस्थितौ भवतः । प्रस्तुते संयतानामेव भावेन मार्गणागतजीवाः संख्येयाः, अत उक्तमार्गणाद्वये पर्याप्तमनुष्यवद् नाम्नो पदद्वयस्याल्पबहुत्वं विज्ञेयम् , तद्यथा—भूयस्कारस्य बन्धकाः संख्येयैकभागाः, अवस्थितस्य तु संख्येयबहुभागमिताः । शेषाणां ज्ञानावरणादिषण्णां भागप्ररूपणैव नास्ति, एकस्यैवावस्थितपदस्य भावेन विभाजकान्तरस्याभावात् । परिहारविशुद्धौ तु नाम्नः पदत्रयं भवति, तस्य भागप्ररूपणा तु पर्याप्तमनुष्यवद् विज्ञेया, तद्यथा—भूयस्काराल्पतरबन्धद्वयस्य प्रत्येकं बन्धकाः संख्येयतमभागप्रमाणाः, अवस्थितस्य बन्धकास्तु संख्येयबहुभागप्रमिता इति । परिहारविशुद्धौ शेषाणां षण्णां ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयगोत्रान्तरायाणां प्रत्येकमेकस्यावस्थितबन्धस्यैव लाभेन भागप्ररूपणा नास्ति ॥१३०॥

अथाऽज्ञानत्रिके प्राह—

सत्तण्ह सगपयाणं अणाणतिगे उरालमीसव्व ।
णवरि विभंगे दोण्हं पयाण मोहस्स णिरयव्व ॥१३१॥

(प्रे०) "सत्तण्हे" त्यादि, मत्यज्ञानश्रुताज्ञानमार्गणाद्वये जीवानामानन्त्याद् मोहनीयस्य भूयस्कारस्य बन्धका अनन्ततमभागमात्राः, अवस्थितबन्धकास्त्वनन्तबहुभागप्रमाणाः ।

नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धका असंख्येयैकभागमिताः, अवस्थितबन्धका असंख्येयबहुभागप्रमाणाः। शेषाणां ज्ञानावरणादिपञ्चानां केवलमवस्थितपदस्यैव भावेन भागप्ररूपणैव नास्ति, मार्गणावर्तिसर्वेषामेव तद्बन्धकत्वादिति भावः। विभङ्गज्ञानमार्गणायां मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धका असंख्येयैकभागप्रमाणाः, अवस्थितबन्धकास्त्वसंख्येयबहुभागप्रमाणाः। नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धका असंख्येयैकभागमानाः, अवस्थितबन्धकास्त्वसंख्येयबहुभागाः। ज्ञानावरणादिपञ्चानां तु भागप्ररूपणा नास्ति, एकैकस्यैव पदस्य भावेन भाजकराश्यन्तरस्याभावादिति ॥१३१॥

अथ सामायिकच्छेदोपस्थापनीययोः सप्तानां भूयस्कारादिपदानां भागं प्राह—

सामाइअछेएसुं पज्जत्तणरव्व अत्थि तिपयाणं ।
दुइअतुरिअछट्ठाणं भागो णत्थि चउसेसाणं ॥१३२॥

(प्रे०) "सामाइअ" इत्यादि, सामायिकच्छेदोपस्थापनीयमार्गणाद्वये दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धयोः श्रेणावेव भावात्, नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोः श्रेणौ यद्वा जिननाम्न आहारकद्विकस्य वा बन्धप्रारम्भे आहारकद्विकबन्धविरामे च तयोर्लाभेन विवक्षितसमये तल्लाभात् संख्येयभागप्रमाणत्वम्, यद्वा प्रागुक्तनियमात् संख्येयभागप्रमाणत्वं विभावनीयम्। त्रयाणामप्यवस्थितपदबन्धकाः संख्येयबहुभागप्रमाणाः। ज्ञानावरणवेदनीयगोत्रान्तरायाणां चतुर्णां कर्मणां भागप्ररूपणा नास्ति ॥१३२॥

देशविरत्यादिमार्गणासु भागं निदर्शयन्नाह—

णिरयव्व देसवेअगसासाणेसु तिपयाण णामस्स ।
तिपयाण वेअगे खलु मोहस्स वि णत्थि सेसाणं ॥१३३॥

(प्रे०) "णिरयव्वे"त्यादि, देशविरतिमार्गणायां नाम्नो भूयस्कारावस्थितबन्धयोरेव सद्भावः, तत्र भूयस्कारबन्धका असंख्येयैकभागमात्राः संख्येयानामेतन्निर्वर्तकत्वात्। अवस्थितबन्धका असंख्येयबहुभागप्रमाणाः। शेषाणां ज्ञानावरणादिषण्णां भागप्ररूपणा नास्ति। क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धका असंख्येयैकभागप्रमाणाः, अवस्थितबन्धका असंख्येयबहुभागाः। मोहनीयस्य भूयस्काराल्पतरबन्धका असंख्येयैकभागमिताः, अवस्थितबन्धका असंख्येयबहुभागाः। शेषाणां ज्ञानावरणादिपञ्चानां भागप्ररूपणा नास्ति। सास्वादनसम्यक्त्वे नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धका असंख्येयैकभागप्रमाणाः, अवस्थितबन्धका असंख्येयबहुभागाः। शेषाणां ज्ञानावरणादिषण्णां कर्मणां भागप्ररूपणैव नास्तीति ॥१३३॥

॥ श्रीप्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे स्वस्थाननिरूपणाया षष्ठं भागद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ सप्तमं परिमाणद्वारम् ॥

अथ परिमाणद्वारं सप्तमं व्याचिख्यासुरादौ ज्ञानावरणादिसप्तकर्मणामायुर्वर्जानामवस्थित-बन्धस्य परिमाणादिपञ्चद्वाराणि ओघत आदेशतश्चातिदेशेन प्ररूपयन्नाह—

परिमाणप्पहुडीसुं पणादारेसु सत्तमूलकम्मव्व ।
सत्तण्ह बंधगाणं परूवणाऽवट्ठिअस्स भवे ॥१३४॥
परमाहारगमीसे समयोऽत्थि अवट्ठिअस्स लहु कालो ।
णामस्स बंधगाणं सयं च छेअपरिहारेसुं ॥१३५॥

(प्रे०) "परिमाणे"त्यादि, सप्तानामायुर्वर्जानामवस्थितबन्धस्य परिमाणादिपञ्चद्वाराणामोघत आदेशतश्च प्ररूपणा यथा मूलप्रकृतिबन्धे तत्तज्ज्ञानावरणादिमूलकर्मणस्तत्र तत्रौघे आदेशे वा यावत्परिमाणादि दर्शितं तावत्प्रस्तुतेऽपि प्राप्यतेऽतस्तद्वत्सा प्ररूपणा कार्येति, यतो भूयस्काराल्पतरावक्तव्यबन्धास्तु क्वचित् कदाचिदेव भवन्तिः नाम्नि भूयस्काराल्पतरबन्धयो-र्बाहुल्येनान्तर्मुहूर्तेन प्रवर्तमानत्वेऽपि तत्राप्यवस्थितबन्धकालस्यैवाधिक्यात् मूलप्रकृतिबन्धप्ररू-पणातोऽवस्थितबन्धप्ररूपणा नातिरिच्यत इति । सा प्ररूपणा संक्षेपतो विनेयजनानुग्रहार्थं दर्श्यते, तद्यथा—परिमाणद्वारे--ओघे तिर्यग्गत्योघ-सर्वैकेन्द्रिय-वनस्पतिकायौघ--सप्तसाधारणवनस्पति-कायकाययोगौघौदारिकौदारिकमिश्रकार्मणकाययोग--नपुंसकवेद—कषायचतुष्क-मत्यज्ञान-श्रुता-ज्ञानाऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शनाऽशुभलेश्यात्रिक--भव्याभव्य-मिथ्यात्वाऽसंज्ञ्याहारकानाहारकमार्गणा-स्वष्टात्रिंशति च सप्तानामवस्थितबन्धकाः सर्वदैवानन्ताः । पर्याप्तमनुष्यमानुषीसर्वार्थसिद्धाहारका-हारकमिश्रापगतवेद-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिमार्गणा-स्वेकादशसु सप्तानां सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां मोहनीयायुर्वर्जानां षण्णाम्, अकषाययथाख्यात-संयमकेवलज्ञानदर्शनमार्गणासु चतसृषु वेदनीयस्य बन्धकाः संख्येया भवन्ति । अत्र च्छेदोप-स्थापनीये परिहारविशुद्धौ च जघन्यपदे बन्धकाः स्वयं विज्ञेयाः । आहारकतन्मिश्रयोगापगत-वेदसूक्ष्मसम्परायमार्गणाचतुष्के जघन्यपद एकादिजीवाः सप्तानामवस्थितबन्धका भवन्ति । शेषासु पर्याप्तमनुष्यादिमार्गणासु तु जघन्यपदे-उत्कृष्टपदे च सप्तानामवस्थितबन्धकाः संख्याता एव भवन्तीति । उक्तशेषासु विंशत्युत्तरशतमार्गणासु सप्तानामवस्थितबन्धकजीवा असंख्याता भवन्ति, तत्राऽपर्याप्तमनुष्यवैक्रियमिश्रयोगोपशमसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वसास्वादनमार्गणासूत्कृ-ष्टपदेऽसंख्याता भवन्ति, जघन्यपदे त्वेकोऽपि बन्धको भवति । बादरपर्याप्तवर्जपट्पृथ्वी-कायषडप्कायषट्तेजःकायषड्वायुकायप्रत्येकवनस्पतिकायौघाऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायमार्गणासु षड्विंशतावस्थितबन्धका सर्वदैवासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमिता विज्ञेयाः । मनुष्यौघे सप्तानामव-

स्थितपदबन्धका जघन्यपदे संख्याता एव, उत्कृष्टपदे त्वसंख्याता इति । शेषासु नरकगत्योघा-घष्टाशीतिमार्गणासु सर्वदैव समानामवस्थितबन्धका असंख्याता एव भवन्तीति । शेषाष्टाशीति-मार्गणा नामतः पुनरिमाः—सर्वनरकभेद-पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदचतुष्क सर्वार्थसिद्धवर्जैकोनत्रिंशद्देव-भेद- नवविकलाक्ष—त्रिपञ्चेन्द्रिय— बादरपर्याप्तपृथिव्यप्तेजोवायुप्रत्येकवनस्पतिकाय-त्रित्रसकाय-मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क वचनयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क—वैक्रिययोग स्त्रीवेद-पुरुषवेद-मति-श्रुतावधिज्ञान-विभङ्गज्ञान चक्षुरवधिदर्शन-देशविरति-तेजःपद्मशुक्ललेश्या—सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व संज्ञिमार्गणाः । इति समानामवस्थितबन्धकपरिमाणनिरूपणम् ।

अथ क्षेत्रद्वारम्—तत्र ओघे तथा तिर्यग्गत्योघ-सप्तैकेन्द्रियभेद-बादरपर्याप्तवर्जषट्पृथ्वीकाय-षडप्काय-षट्तेजस्काय -षड्वायुकाय--सप्तसाधारणवनस्पतिकाय वनस्पतिकायौघ-प्रत्येकवनस्पति-कायौघा ऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाय-काययोगौ--दारिकद्विक कार्मणयोग--नपुंसकवेद कषायचतु-ष्काऽज्ञानद्विकाऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽशुभलेश्यात्रिक-भव्या-भव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ्या- ऽऽहारका-नाहारकमार्गणासु चतुःषष्टौ समानामवस्थितबन्धकानां क्षेत्रं सर्वलोकप्रमाणं भवति । पर्याप्तबादरवायु-काये देशोनलोकः । मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी—पञ्चेन्द्रियौघ पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाया-ऽपगतवेदा-ऽकषाय-केवलज्ञान-संयमौघ-यथाख्यातसंयम-केवलदर्शन-शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणासु षोडशसु वेदनीयस्यावस्थितबन्धकानां केवलिसमुद्घातम-पेक्ष्य चतुर्थसमये सर्वलोकमितं क्षेत्रं भवति, तृतीयपञ्चमसमयद्वये देशोनलोकप्रमाणम्=लोकस्या-संख्येयबहुभागमितमित्यर्थः, केवलिसमुद्घातस्य शेषपञ्चसमयेषु, तथा केवलिसमुद्घातगतान् विहाय मार्गणावर्तिशेषजीवानां च वेदनीयस्य तथोक्तमार्गणाभ्यो यासु ज्ञानावरणादीनां बन्ध-प्रायोग्यत्वं तासु ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयनामगोत्रान्तरायाणां षण्णामवस्थितबन्धकानां क्षेत्रं लोकस्यासंख्येयभागप्रमाणं भवति ।

शेषमार्गणासु त्रिनवत्यां समानामवस्थितस्य बन्धकानां क्षेत्रं लोकस्यासंख्येयभागप्रमाणं भवति । शेषमार्गणा नामत इमाः-अष्टनरकमार्गणा-पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदचतुष्काऽपर्याप्तमनुष्य-त्रिंशद्देवगतिभेद— नवविकलाक्षापर्याप्तपञ्चेन्द्रियबादरपर्याप्तपृथ्व्यप्तेजःप्रत्येकवनस्पतिकायाऽ -पर्याप्तत्रसकाय—मनोयोगौघ—तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क—वैक्रिय--वैक्रिय-मिश्राहारकाऽऽहारकमिश्र स्त्रीवेद-पुरुषवेद--मतिश्रुतावधिमनःपर्यवज्ञान विभङ्गज्ञान-सामयिकच्छे-दोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धि सूक्ष्मसम्पराय--देशविरति—चक्षुरवधिदर्शन--तेजः-पद्मलेश्या--क्षयो-पशमो पशम-सम्यग्मिथ्यात्व-सास्वादन-संज्ञिमार्गणास्त्रिनवतिः ।

अत्र क्षेत्रप्ररूपणायां सामान्यतो यस्मिन्समये विवक्षितपदस्योत्कृष्टपदे बन्धकजीवा भवन्ति तस्मिन्समये समुद्दितैः तैः स्पृष्टं क्षेत्रं विचार्यते । एवं प्रस्तुतेऽपि । यदा पुनः प्रस्तुतेऽपि ज्येष्ठपदं विहाय सर्वदैव विचार्यते तदा सान्तरमार्गणासु सर्वेषां सम्भवत्कर्मणाम् , तथा यासु यस्य कर्मणः केवलिसमुद्घातापेक्षया प्रकृष्टक्षेत्रं प्राप्यते तासु निरूपितक्षेत्रस्थजीवानां तत्तदवस्थायां सद्भावे दर्शितक्षेत्रं विज्ञेयं नान्यथा । शेषासु तु सप्तानामवस्थितबन्धकानामुक्तप्रमाणं क्षेत्रं सर्वदैव प्राप्यते इत्यवधार्यम् । केवलं यत्र लोकस्यासंख्यभागमितक्षेत्रं निरूपितं तत्र जघन्यपदगतजीवानां क्षेत्रापेक्षया मध्यमपद-ज्येष्ठपदगतजीवानां क्षेत्रस्याधिक्येऽपि लोकाऽसंख्येयभागतः क्षेत्रं नातिरिच्यत इति ।

अथ स्पर्शनाद्वारम् , तत्र ओघतस्तथा तिर्यगोघादिसप्तोत्तरशतमार्गणासु यासु सूक्ष्मैकेन्द्रियाणां प्रवेशो यद्वा तेषां प्रवेशाऽभावेऽपि याभ्यो मार्गणाभ्यो जीवाः सूक्ष्मैकेन्द्रियेषूत्पद्यन्ते तासु सप्तानामवस्थितपदस्य बन्धकानां स्पर्शना सर्वलोकप्रमाणा भवति, तत्रौघे तिर्यगोघाद्यष्टचत्वारिंशन्मार्गणासु सूक्ष्माणामेव प्रवेशात् सर्वलोकः स्पर्शना भवति । पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघादिनवपञ्चाशन्मार्गणासु सूक्ष्माणां प्रवेशाभावेऽपि ताभ्यो जीवाः सूक्ष्मेषूत्पित्सवो मरणसमुद्घातेन सर्वलोकं स्पृशन्ति स्म । अत्र यासु सूक्ष्मैकेन्द्रियाणां सद्भावस्ता मार्गणा नामत इमाः-तिर्यग्गत्योघैकेन्द्रियौघसूक्ष्मैकेन्द्रियत्रिक-पृथ्वीकायौघ-सूक्ष्मपृथ्वीकायभेदत्रयाऽप्कायौघ—सूक्ष्माप्कायभेदत्रय-तेजस्कायौघसूक्ष्मतेजस्कायभेदत्रय-वायुकायौघ—सूक्ष्मवायुकायभेदत्रय—वनस्पतिकायौघ-साधारणवनस्पतिकायौघ-सूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकायभेदत्रय- काययोगौघौ-दारिकौ--दारिकमिश्र--कार्मणयोगनपुंसकवेदकषायचतुष्कमत्यज्ञानश्रुताज्ञानासंयमाचक्षुर्दर्शनकृष्णनीलकापोतलेश्या--भव्याभव्यमिथ्यात्वाऽसंज्ञ्याहारकानाहारकमार्गणाः । सूक्ष्मैकेन्द्रियाणां मार्गणाऽनन्तर्गतत्वेऽपि याभ्यो मार्गणाभ्यः सूक्ष्मेषूत्पद्यन्ते ता मार्गणा नामत इमाः--पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदचतुष्क-मनुष्यभेदचतुष्क-बादरैकेन्द्रियभेदत्रय-नवविकलाक्ष--त्रिपञ्चेन्द्रिय-बादरपृथ्वीकायभेदत्रय-बादराप्कायभेदत्रय-बादरतेजस्कायभेदत्रयबादरवायुकायभेदत्रय--बादरसाधारणवनस्पतिकायभेदत्रय--प्रत्येकवनस्पतिकायभेदत्रय-त्रसकायभेदत्रय-मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क--वचनयोगौघ तदुत्तरभेदचतुष्क-स्त्रीपुरुषवेद-विभङ्गज्ञान-चक्षुर्दर्शनसंज्ञिमार्गणा एकोनषष्टिः ।

उक्तेतरसप्तषष्टिमार्गणासु सूक्ष्मैकेन्द्रियाणां प्रवेशाभावस्तेषूत्पातानर्हत्वं चेति तेषु सर्वलोकप्रमाणा स्पर्शना न प्राप्यत इति । नरकौघ-सप्तमनरकानतादिदेवभेदचतुष्केषु षड् रज्जवः, सप्तानामवस्थितबन्धकैः स्पृष्टा । द्वितीयनरकमार्गणायामेका रज्जुः, तृतीये रज्जुद्वयम्, चतुर्थे रज्जुत्रयम्, पञ्चमे रज्जुचतुष्कम्, षष्ठनरकनैरयिकाणां देशविरतौ च पञ्चरज्जुस्पर्शना प्राप्यते ।

देवौघ-भवनपति-व्यन्तर ज्योतिष्क सौधर्मेशानदेव-तेजोलेश्यासु सप्तसु जीवानां नव रज्जवः स्पर्शना भवति। सनत्कुमारादिमहस्रारान्तषड्देवभेद मतिश्रुतावधिज्ञानावधिदर्शनपद्मलेश्या-क्षयोपशमसम्यक्त्वो-पशमसम्यक्त्व--सम्यग्मिथ्यात्वरूप-चतुर्दशमार्गणासु जीवानां स्पर्शना अष्टौ रज्जवः। वैक्रियकाययोगे त्रयोदश रज्जवः। सास्वादनमार्गणायां द्वादशरज्जवः। प्रथमनरक-नवग्रैवेयकसुर पञ्चानुत्तरदेव-वैक्रियमिश्राहारकाहारकमिश्र मनःपर्यवज्ञान-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय--परिहारविशुद्धिमार्गणासु द्वाविंशतौ सप्तानाम्, सूक्ष्मसम्पराये षण्णामवस्थितपदबन्धकानां स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा भवति। अकषाय-केवलज्ञान-केवलदर्शन-यथाख्यातसंयममार्गणासु केवलं वेदनीयस्यैव बन्धभावेन तस्य अवस्थितबन्धकानां सर्वलोकप्रमाणा स्पर्शना भवति। अपगतवेदमार्गणायां संयमौघे च वेदनीयस्य सर्वलोकप्रमाणा शेषाणां षण्णामवस्थितबन्धकानां लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा स्पर्शना भवति। शुक्ललेश्यायां वेदनीय-बन्धकानां स्पर्शना सर्वलोकः, शेषषण्णामवस्थितबन्धकानां स्पर्शना षड् रज्जवः। सम्यक्त्वौघे क्षायिकसम्यक्त्वे च वेदनीयस्यावस्थितबन्धकानां स्पर्शना सर्वलोकः, शेषाणां षण्णामवस्थितपदबन्धकानां स्पर्शना अष्टौ रज्जवो भवति, इति स्पर्शनाद्वारम्।

अथ नानाजीवाश्रितकालद्वारम्, तत्र सप्तानामवस्थितपदबन्धकानां कालो निरूप्यते-ओघतस्तथा मार्गणासु नरकौघाद्येकोनषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु मार्गणानामेव ध्रुवत्वेन सप्तानामवस्थितपदबन्धकाः सर्वदा प्राप्यन्ते, एवमेवाकषाय-केवलज्ञान -केवलदर्शन--यथाख्यातमार्गणाचतुष्के केवलं वेद्यस्यैव बन्धभावेन मार्गणानां ध्रुवत्वेन च तासु तस्य बन्धकाः सर्वदैव प्राप्यन्ते। अपगतवेदे वेदनीयावस्थितपदस्य बन्धकाः सर्वदैव भवन्ति, शेषाणां षण्णां ज्ञानावरणादीनामवस्थितबन्धका जघन्यतः समयमुत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तं यावद् भवन्ति, तदूर्ध्वमवश्यमन्तरं प्राप्यते।

अपर्याप्तमनुष्ये ज्ञानावरणादिषण्णामवस्थितपदस्य बन्धका जघन्यतः क्षुल्लकभवमुत्कृष्टतः पल्योपमाऽसंख्येयभागं यावत् समुपलभ्यन्ते, नाम्नोऽवस्थितपदबन्धका जघन्यतः समयं भवन्ति एकादिजीवानां भावेन भूयस्कारद्वयान्तराले समयमवस्थितबन्धस्य निर्वर्तनात्, उत्कृष्टकालस्तु ज्ञानावरणवत्पल्योपमाऽसंख्येयभागः।

वैक्रियमिश्रे ज्ञानावरणादिपञ्चानामवस्थितबन्धकानां जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम्, मोहनीय-नाम्नोः प्रकृतिबन्धकालस्याऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वेऽपि प्रस्तुतेऽवस्थितबन्धस्य जघन्यकालः समयो भवति, तत्र नाम्नि बन्धस्थानानां परावर्तमानत्वात्, मोहनीये तु सास्वादने प्रस्तुतमार्गणायां प्रथमसमयेऽवस्थितबन्धं विधाय द्वितीयसमये भूयस्कारबन्धस्य करणात्। उत्कृष्टकालस्तु सप्तानामप्यवस्थितबन्धकानां पल्योपमस्याऽसंख्येयभागः।

अत्र क्षेत्रप्ररूपणायां सामान्यतो यस्मिन्समये विवक्षितपदस्योत्कृष्टपदे बन्धकजीवा भवन्ति तस्मिन्समये समुदितैः तैः स्पृष्टं क्षेत्रं विचार्यते । एवं प्रस्तुतेऽपि । यदा पुनः प्रस्तुतेऽपि ज्येष्ठपद विहाय सर्वदैव विचार्यते तदा सान्तरमार्गणासु सर्वेषां सम्भवत्कर्मणाम् , तथा यासु यस्य कर्मणः केवलिसमुद्घातापेक्षया प्रकृष्टक्षेत्रं प्राप्यते तासु निरूपितक्षेत्रस्थजीवानां तत्तदवस्थायां सद्भावे दर्शितक्षेत्रं विज्ञेयं नान्यथा । शेषासु तु सप्तानामवस्थितबन्धकानामुक्तप्रमाणं क्षेत्रं सर्वदैव प्राप्यते इत्यवधार्यम् । केवलं यत्र लोकस्यासंख्यभागमितक्षेत्रं निरूपितं तत्र जघन्यपदगतजीवानां क्षेत्रापेक्षया मध्यमपद-ज्येष्ठपदगतजीवानां क्षेत्रस्याधिक्येऽपि लोकाऽसंख्येयभागतः क्षेत्रं नातिरिच्यत इति ।

अथ स्पर्शनाद्वारम् , तत्र ओघतस्तथा तिर्यगोघादिसप्तोत्तरशतमार्गणासु यासु सूक्ष्मैकेन्द्रियाणां प्रवेशो यद्वा तेषां प्रवेशाऽभावेऽपि याभ्यो मार्गणाभ्यो जीवाः सूक्ष्मैकेन्द्रियेषूत्पद्यन्ते तासु सप्तानामवस्थितपदस्य बन्धकानां स्पर्शना सर्वलोकप्रमाणा भवति, तत्रौघे तिर्यगोघाद्यष्टचत्वारिंशन्मार्गणासु सूक्ष्माणामेव प्रवेशात् सर्वलोकः स्पर्शना भवति । पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघादिनवपञ्चाशन्मार्गणासु सूक्ष्माणां प्रवेशाभावेऽपि ताभ्यो जीवाः सूक्ष्मेषूत्पित्सवो मरणसमुद्घातेन सर्वलोकं स्पृशन्ति स्म । अत्र यासु सूक्ष्मैकेन्द्रियाणां सद्भावस्ता मार्गणा नामत इमाः-तिर्यग्गत्योघैकेन्द्रियौघसूक्ष्मैकेन्द्रियत्रिक-पृथ्वीकायौघ-सूक्ष्मपृथ्वीकायभेदत्रयाऽप्कायौघ--सूक्ष्माप्कायभेदत्रय-तेजस्कायौघसूक्ष्मतेजस्कायभेदत्रय-वायुकायौघ-सूक्ष्मवायुकायभेदत्रय--वनस्पतिकायौघ-साधारणवनस्पतिकायौघ-सूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकायभेदत्रय- काययोगौघौ-दारिकौ--दारिकमिश्र--कार्मणयोगनपुंसकवेदकषायचतुष्कमत्यज्ञानश्रुताज्ञानासंयमाचक्षुर्दर्शनकृष्णनीलकापोतलेश्या--भव्याभव्यमिथ्यात्वाऽसंज्ञ्याहारकानाहारकमार्गणाः । सूक्ष्मैकेन्द्रियाणां मार्गणाऽनन्तर्गतत्वेऽपि याभ्यो मार्गणाभ्यः सूक्ष्मेषूत्पद्यन्ते ता मार्गणा नामत इमाः--पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदचतुष्क-मनुष्यभेदचतुष्क-बादरैकेन्द्रियभेदत्रय-नवविकलाक्ष--त्रिपञ्चेन्द्रिय-बादरपृथ्वीकायभेदत्रय-बादराप्कायभेदत्रय-बादरतेजस्कायभेदत्रयबादरवायुकायभेदत्रय--बादरसाधारणवनस्पतिकायभेदत्रय--प्रत्येकवनस्पतिकायभेदत्रय-त्रसकायभेदत्रय-मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क--वचनयोगौघ तदुत्तरभेदचतुष्क-स्त्रीपुरुषवेद-विभङ्गज्ञान-चक्षुर्दर्शनसंज्ञिमार्गणा एकोनषष्टिः ।

उक्तेतरसप्तषष्टिमार्गणासु सूक्ष्मैकेन्द्रियाणां प्रवेशाभावस्तेषूत्पातानर्हत्वं चेति तेषु सर्वलोकप्रमाणा स्पर्शना न प्राप्यत इति । नरकौघ-सप्तमनरकानतादिदेवभेदचतुष्केषु षड् रज्जवः, सप्तानामवस्थितबन्धकैः स्पृष्टा । द्वितीयनरकमार्गणायामेका रज्जुः, तृतीये रज्जुद्वयम्, चतुर्थे रज्जुत्रयम् , पञ्चमे रज्जुचतुष्कम् , षष्ठनरकनैरयिकाणां देशविरतौ च पञ्चरज्जुस्पर्शना प्राप्यते ।

देवौघ-भवनपति-व्यन्तर ज्योतिष्क सौधर्मेशानदेव-तेजोलेश्यासु सप्तसु जीवानां नव रज्जवः स्पर्शना भवति। सनत्कुमारादिमहस्रारान्तषड्देवभेद मतिश्रुतावधिज्ञानावधिदर्शनपद्मलेश्या-क्षयोपशमसम्यक्त्वो-पशमसम्यक्त्व--सम्यग्मिथ्यात्वरूप-चतुर्दशमार्गणासु जीवानां स्पर्शना अष्टौ रज्जवः। वैक्रियकाययोगे त्रयोदश रज्जवः। सास्वादनमार्गणायां द्वादशरज्जवः। प्रथमनरक-नवग्रैवेयकसुर पञ्चानुत्तरदेव-वैक्रियमिश्राहारकाहारकमिश्र मनःपर्यवज्ञान-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय--परिहारविशुद्धिमार्गणासु द्वाविंशतौ सप्तानाम्, सूक्ष्मसम्पराये षण्णामवस्थितपदबन्धकानां स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा भवति। अकषाय-केवलज्ञान-केवलदर्शन-यथाख्यातसंयममार्गणासु केवलं वेदनीयस्यैव बन्धभावेन तस्य अवस्थितबन्धकानां सर्वलोकप्रमाणा स्पर्शना भवति। अपगतवेदमार्गणायां संयमौघे च वेदनीयस्य सर्वलोकप्रमाणा शेषाणां षण्णामवस्थितबन्धकानां लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा स्पर्शना भवति। शुक्ललेश्यायां वेदनीयबन्धकानां स्पर्शना सर्वलोकः, शेषषण्णामवस्थितबन्धकानां स्पर्शना षड् रज्जवः। सम्यक्त्वौघे क्षायिकसम्यक्त्वे च वेदनीयस्यावस्थितबन्धकानां स्पर्शना सर्वलोकः, शेषाणां षण्णामवस्थितपदबन्धकानां स्पर्शना अष्टौ रज्जवो भवति, इति स्पर्शनाद्वारम्।

अथ नानाजीवाश्रितकालद्वारम्, तत्र सप्तानामवस्थितपदबन्धकानां कालो निरूप्यते-ओघतस्तथा मार्गणासु नरकौघाद्येकोनषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु मार्गणानामेव ध्रुवत्वेन सप्तानामवस्थितपदबन्धकाः सर्वदा प्राप्यन्ते, एवमेवाकषाय-केवलज्ञान-केवलदर्शन--यथाख्यातमार्गणाचतुष्के केवलं वेद्यस्यैव बन्धभावेन मार्गणानां ध्रुवत्वेन च तासु तस्य बन्धकाः सर्वदैव प्राप्यन्ते। अपगतवेदे वेदनीयावस्थितपदस्य बन्धकाः सर्वदैव भवन्ति, शेषाणां षण्णां ज्ञानावरणादीनामवस्थितबन्धका जघन्यतः समयमुत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तं यावद् भवन्ति, तदूर्ध्वमवश्यमन्तरं प्राप्यते।

अपर्याप्तमनुष्ये ज्ञानावरणादिषण्णामवस्थितपदस्य बन्धका जघन्यतः क्षुल्लकभवमुत्कृष्टतः पल्योपमाऽसंख्येयभागं यावत् समुपलभ्यन्ते, नाम्नोऽवस्थितपदबन्धका जघन्यतः समयं भवन्ति एकादिजीवानां भावेन भूयस्कारद्वयान्तराले समयमवस्थितबन्धस्य निर्वर्तनात्, उत्कृष्टकालस्तु ज्ञानावरणवत्पल्योपमाऽसंख्येयभागः।

वैक्रियमिश्रे ज्ञानावरणादिपञ्चानामवस्थितबन्धकानां जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम्, मोहनीयनाम्नोः प्रकृतिबन्धकालस्याऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वेऽपि प्रस्तुतेऽवस्थितबन्धस्य जघन्यकालः समयो भवति, तत्र नाम्नि बन्धस्थानानां परावर्तमानत्वात्, मोहनीये तु सास्वादने प्रस्तुतमार्गणायां प्रथमसमयेऽवस्थितबन्धं विधाय द्वितीयसमये भूयस्कारबन्धस्य करणात्। उत्कृष्टकालस्तु सप्तानामप्यवस्थितबन्धकानां पल्योपमस्याऽसंख्येयभागः।

उपशमसम्यक्त्वे दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां त्रयाणां प्रकृतिबन्धजघन्यकालस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वेऽपि तासां त्रयाणामवस्थितबन्धस्य जघन्यकालः समयो भवति । शेषाणां ज्ञानावरणादिचतुर्णां तु जघन्यबन्धकालः प्रकृतिबन्धकालवदन्तर्मुहूर्तम् । उत्कृष्टकालस्तु सप्तानामप्यवस्थितबन्धस्य पल्योपमस्यासंख्येयभागः ।

आहारकमिश्रे मार्गणाजघन्यकालस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वेन ज्ञानावरणादिकर्मणां जघन्यबन्धकालो यथान्तर्मुहूर्तप्रमाणो भवति तथा ज्ञानावरणादीनामवस्थितबन्धस्य जघन्यकालोऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणः, केवलं नाम्नोऽवस्थितपदस्य बन्धकालो जघन्यतः समयः, समयान्तरे जिननामबन्धप्रारम्भेण भूयस्कारबन्धस्य करणात्, यद्वा मार्गणाद्विचरमसमये तथैव भूयस्कारबन्धं विधाय चरमसमयेऽवस्थितबन्धं कृत्वा मार्गणान्तरं भवति, एवं समयो जघन्यकालः प्राप्यते, उत्कृष्टकालस्त्वाहारकमिश्रे सप्तानामप्यवस्थितबन्धस्यान्तर्मुहूर्तमेवेति ।

आहारकयोगे तु सप्तानां सूक्ष्मसम्पराये षण्णामवस्थितबन्धकानां जघन्यकालः समयः, उत्कृष्टकालस्त्वन्तर्मुहूर्तमिति । सास्वादनमार्गणायां सप्तानामवस्थितबन्धकानां जघन्यकालः समयः, उत्कृष्टकालस्तु पल्योपमस्यासंख्येयभागः । छेदोपस्थापनीये परिहारविशुद्धौ च ज्ञानावरणादीनां जघन्यकालो यथाक्रमं वर्षाणां सार्धे द्वे शते, विंशतिपृथक्त्वं च, उत्कृष्टकालस्तु पञ्चाशल्लक्षकोटिसागरोपमाणि देशोनपूर्वकोटिद्वयं च, केवलं नाम्नोऽवस्थितपदस्य जघन्यकालस्तु स्वयं परिभावनीय इति । सम्यग्मिथ्यात्वे सप्तानामवस्थितबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तं ज्येष्ठस्तु पल्योपमस्यासंख्येयभागः । इति नानाजीवानाश्रित्यावस्थितबन्धकानां कालः ।

अथ नानाजीवानधिकृत्यान्तरद्वारम्—तत्रौघतः सप्तानामवस्थितबन्धकानामन्तरं नास्ति, एवं नरकौघाद्येकोनषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु सप्तानां तथाऽकषायादिमार्गणाचतुष्के वेदनीयस्यावस्थितबन्धकानामन्तरं नास्ति, मार्गणानां नानाजीवैर्ध्रुवत्वेन तत्तत्कर्मणोऽवस्थितबन्धस्यावश्यं करणात् । सान्तरमार्गणास्वन्तरं पुनरेवम् अपगतवेदे केवलज्ञानिनोऽपेक्षया मार्गणाया ध्रुवत्वेऽपि छद्मस्थापेक्षया तस्या अध्रुवत्वाद् वेदनीयस्यावस्थितबन्धकानामन्तराभावेऽपि शेषाणां ज्ञानावरणादिषण्णामवस्थितबन्धकानां जघन्यान्तरं समयः, उत्कृष्टान्तरं षण्मासाः । सूक्ष्मसम्पराये मोहनीयायुष्कवर्जानां षण्णामवस्थितबन्धकानां जघन्यान्तरं समयः, उत्कृष्टान्तरं षण्मासाः । छेदोपस्थापनीयसंयमे सप्तानामवस्थितबन्धस्य जघन्यान्तरं सातिरेकत्रिषष्टिवर्षसहस्राणि, ज्येष्ठान्तरमष्टादशकोटाकोटिसागरोपमाणि देशोनानि । परिहारविशुद्धौ सप्तानामवस्थितबन्धकानामन्तरं जघन्यतश्चतुरशीतिवर्षसहस्राणि सातिरेकाणि, ज्येष्ठं त्वष्टादशकोटाकोटिसागरोपमाणि देशोनानि । केवलं छेदोपस्थापनीये परिहारविशुद्धौ च जघन्यपदेऽनेकजीवानां भावेन तेषां नाम्नः, छेदोपस्थापनीय-

संयमे पुनर्मोहनीयस्या-ऽप्यऽवस्थितबन्धान्तरं समयः प्रायो न सम्भवति तत्वं तु बहुश्रुतगम्य-मिति। अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां सम्यग्मिथ्यात्वे सास्वादने चेति मार्गणात्रये सप्तानामवस्थितबन्धकानां जघन्यान्तरं समयः, उत्कृष्टान्तरं पल्योपमस्यासंख्येयभागः। वैक्रियमिश्रे सप्तानामवस्थितबन्धकानां जघन्यान्तरं समयः, उत्कृष्टान्तरं द्वादशमुहूर्ताः। आहारकतन्मिश्रयोगद्वये सप्तानामवस्थितबन्धकानां जघन्यान्तरं समयः, उत्कृष्टान्तरं वर्षपृथक्त्वम्। औपशमिकसम्यक्त्वे सप्तानामवस्थितबन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं सप्ताऽहोरात्राणीति अन्तरद्वारं समाप्तम्। एवं सप्तानामवस्थितबन्धस्य परिमाणादिपञ्चद्वाराणि संक्षेपतो दर्शितानि, विशेषजिज्ञासुभिस्तु अतिदिष्टस्थानं निरीक्षणीयम्, तत्र मूलप्रकृतिबन्धे तेषां विस्तरतो भावितत्वादिति ॥१३४-१३५॥

अत्रातिदिष्टेऽपि नानाजीवाश्रितकालद्वारे अपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणात्रयेऽपवादान् दर्शयन्नाह—

णामस्स अपज्जणरे चउत्थ छट्ठाण विउवमीसे ।
दुइअतुरिअछट्ठाणं लहू उवसमे भवे समओ ॥१३६॥

(प्रे०) "णामस्से"त्यादि, सुगमा, स्पष्टार्था, नानाजीवाश्रितावस्थितकालद्वारविवरणेऽनन्तरप्राग् भावितार्था चेति ॥१३६॥

अथ वेदनीयायुर्वर्जषट्कर्मसत्कावस्थितवर्जपदानां सप्तमं परिमाणद्वारं निरूपयन्नादावोघतः प्राह—

छण्ह अवत्तव्वस्स उ संखेज्जा बंधगा असंखेज्जा ।
दुइअतुरिआण दोण्हं पयाण णामस्स उ अ ंता ॥१३७॥

(प्रे०) "छण्हे"त्यादि, वेदनीयायुर्वर्जानां ज्ञानावरणादिषण्णामवक्तव्यपदस्य निर्वर्तका उत्कृष्टपदे संख्याता भवन्ति जघन्य एकोऽपि, उपशमश्रेणितोऽद्धाक्षयतो भवक्षयतो वा प्रपतता-मेव तस्य भावात्, श्रेणेरारोहकाणां श्रेणिगतानां च संख्यातत्वादवक्तव्यपदबन्धकाः संख्येया एवेति। दर्शनावरणमोहनीयसत्कभूयस्काराल्पतरपदयोर्बन्धका उत्कृष्टतोऽसंख्येया भवन्ति, देवनारकसंज्ञितिर्यक्षु प्रत्येकं सम्यक्त्वप्रापकाणां ततः प्रपततां च परिमाणस्यासंख्येयत्वात्, मिथ्यात्वतः सम्यक्त्वलाभ एतयोरल्पतरबन्धस्य तथा सम्यक्त्वतो मिथ्यात्वे सास्वादने वा पततश्च दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्कारबन्धस्यावश्यं भावात्। नाम्नो भूयस्काराल्पतरयोः प्रत्येकं बन्धकाः सर्वदैवानन्ताः प्राप्यन्ते, निगोदजीवानां तद्बन्धकत्वात्तेषां चानन्तत्वात्। आयुष्कस्य स्वामित्वद्वार एव पदद्वयपरिमाणस्य दर्शितत्वान्नात्र दर्श्यत इति ॥१३७॥

अथैकगाथया मार्गणासु षण्णामवक्तव्यबन्धकपरिमाणं दर्शयन्नाह—

जहि अत्थि अवत्तव्वो आउगवज्जाण जाण पयडीणं ।
तहि बंधगा हवेज्जा सिमवत्तव्वस्स संखेज्जा ॥१३८॥

(प्रे०) "जहि" इत्यादि, यासु मनुष्यौघादिमार्गणासु यासां प्रकृतीनां ज्ञानावरणादीनां षण्णाम्; लोभमार्गणायां केवलं मोहनीयस्य चावक्तव्यबन्धका भवन्ति, तासु मार्गणासु तासामवक्तव्यपदस्य बन्धका जघन्यत एकः, उत्कृष्टतश्च संख्येयाः । ओघतोऽपि संख्येयानामेवावक्तव्यबन्धकानां लाभेन मार्गणासु ततोऽधिकानामसम्भवात्, उपशमश्रेणिगतानां संख्येयत्वाच्च । कासु मार्गणासु ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयनामगोत्रान्तरायेभ्यः कासां प्रकृतीनामवक्तव्यपदसद्भावः, स तु सत्पदद्वारतो बोद्धव्य इति ॥१३८॥

अथ दर्शनावरणमोहनीयसत्कभूयस्काराल्पतरबन्धकपरिमाणं निरूपयन्नाह—

तिणरमणुणाणसंजमसमइअछेअखइएसु संखेज्जा ।
दुइअतुरिअकम्माणं दुपयाणं बंधगा णेया ॥१३९॥

(प्रे०) "तिणरे"त्यादि, मनुष्यौघाद्यष्टमार्गणाः, एताभ्यः षड्मार्गणासु जीवा एव संख्येयाः, मनुष्यौघे दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धकाः पर्याप्तमनुष्या एव, अपर्याप्तमनुष्याणां दर्शनावरणमोहनीययोरेकैकबन्धस्थानस्यैव लाभेन भूयस्काराल्पतरबन्धयोरभावात्, अतस्तयोर्बन्धकाः संख्येयाः । क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां चातुर्गतिकजीवानां लाभेऽपि मनुष्यभिन्नगतित्रयगतानामेकमेव चतुर्थगुणस्थानकम्, अतो न तत्रोक्तकर्मद्वयस्य भूयस्काराल्पतरबन्धयोः सद्भावः, केवलं मनुष्येभ्यो यथासम्भवं देशविरतादिगुणस्थितेभ्यः कालं कृत्वा देवेषूत्पन्नानां भवप्रथमसमये भूयस्कारबन्धस्य लाभेऽपि तेषां मनुष्येभ्य उत्पन्नत्वात् संख्येयत्वम् । पर्याप्तमनुष्याणां तु स्वस्थाने गुणपरावृत्त्या उक्तकर्मद्वयस्य भूयस्काराल्पतरबन्धौ भवतः, अतः क्षायिकसम्यक्त्वे दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धकाः संख्येया इति ॥१३९॥ अथ मतिज्ञानादिमार्गणासु प्राह—

णाणतिगावहिसम्मगवेअगुवसमेसु बंधगा संखा ।
दुइअस्स अत्थि दोण्हं पयाण मोहस्स य असंखा ॥१४०॥

(प्रे०) "णाणतिगे"त्यादि, मतिश्रुतावधिज्ञानावधिदर्शनसम्यक्त्वौघ-क्षयोपशमसम्यक्त्वोपशमसम्यक्त्वमार्गणासु सप्तसु मिथ्यात्वादिगुणस्थानत्रयस्याभावेन दर्शनावरणस्याल्पतरबन्धका मनुष्या एव, भूयस्कारबन्धकाः श्रेणितोऽवरोहन्तो मनुष्याः, श्रेणौ कालं कृत्वा

देवेषूत्पन्ना एव भवप्रथमसमयवर्तिनो भवन्ति, तेनोक्तमार्गणासप्तके दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धकाः संख्येया एव । अत्र क्षयोपशमसम्यक्त्वे दर्शनावरणस्योक्तपदद्वयस्यैवाऽभावात् न तयोः परिमाणं वक्तव्यम् । एतासु मोहनीयस्य भूयस्कारल्पतरबन्धौ नारकापेक्षया न स्तः, देवापेक्षया तु तिर्यग्मनुष्येभ्यो यथासम्भवं देशविरतादिगुणस्थितेभ्यः कालं कृत्वा देवेषूत्पन्नानां भवप्रथमसमये भूयस्कारबन्धो लभ्यते, देवेषु मोहनीयस्य तादृशभूयस्कारबन्धका असंख्येया एव; देशविरततिर्यग्भ्यो देवेषूत्पन्नानां तादृशानामसंख्येयानां लाभात् । मोहनीयस्याल्पतरबन्धकास्तु देवा नैव भवन्ति । मनुष्यानधिकृत्य मोहनीयस्य भूयस्काराल्पतरबन्धकाः संख्येया एव । तिरश्च आश्रित्य स्वस्थाने चतुर्थपञ्चमगुणस्थानपरावृत्त्या मोहनीयस्य भूयस्काराल्पतरबन्धका असंख्येया भवन्तीति ॥१४०॥

अथ औदारिकमिश्रादिमार्गणासु प्राह—

उरलविउवमीसेसुं कम्मेऽणाहारगे अणाणतिगे ।
मोहस्स असखेज्जा भूओगारस्स विण्णेया ॥१४१॥

(प्रे०) "उरले"त्यादि, औदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रकर्मणानाहारकमार्गणासु मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानमार्गणासु चेति मार्गणासप्तके मोहनीयस्य भूयस्कारस्य बन्धका असंख्याता भवन्ति, औदारिकमिश्रादिमार्गणाचतुष्के यथासम्भवं तिरश्चो देवान् चापेक्ष्य सास्वादनगुणस्थानतो मिथ्यात्वं गच्छतामुत्कृष्टतोऽसंख्यातानां लाभात् । अज्ञानत्रये नारकानपेक्ष्यापि उक्तप्रकारेण मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धका असंख्याता लभ्यन्त इति । उक्तमार्गणासप्तके मोहनीयस्याल्पतरबन्धः, दर्शनावरणस्य भूयस्कारल्पतरबन्धौ च न सन्ति ॥१४१॥ एवं द्वाविंशतौ मार्गणासु दर्शितत्वात् ता विहाय शेषासु यासु दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धसद्भावः, तासु प्रत्येकं तद्बन्धका असंख्याता भवन्ति, एतदेवाह—

भूगारप्पयराणं संखा मोहस्स अत्थि गयवेए ।
सेसासु असंखा सिं दुपयाणं बीअमोहाणं ॥१४२॥

(प्रे०) "भूगारे"त्यादि, अपगतवेदमार्गणायां दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धयोरभावः, मोहनीयस्य तु भूयस्काराल्पतरयोः प्रत्येकं बन्धकाः संख्येया एव भवन्तीति । उत्तरार्धस्तु स्पष्टः । अत्र कस्यां कस्यां मार्गणायां निर्दिष्टप्रकृत्योर्भूयस्काराल्पतरबन्धका असंख्याता भवन्तीति दर्शयामः--सर्वनरकभेदा--ऽपर्याप्तवर्जतिर्यग्भेदचतुष्कानुत्तरवर्जपञ्चविंशतिदेवभेदाऽपर्याप्तरहित--पञ्चेन्द्रियभेदद्वया-ऽपर्याप्तोनत्रसकायभेदद्वय मनोयोगौघ -तदुत्तरभेदचतु-

ष्क-वचनयोगौघ तदुत्तरभेदचतुष्क काययोगौघौदारिक-वैक्रिय-वेदत्रय -कषायचतुष्का-संयमचक्षु-रचक्षुर्दर्शन-लेश्याषट्क भव्य-संज्ञ्याहारिमार्गणासु त्रिसप्ततौ दर्शनावरणमोहनीयसत्कभूयस्काराल्पतरबन्धका असंख्याता भवन्ति, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगऽपर्याप्तमनुष्य--पञ्चानुत्तर--सप्तैकेन्द्रियनवविकलाक्षाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियैकोनचत्वारिंशत्पञ्चकायभेदाऽपर्याप्तत्रसकायाहारक---तन्मिश्र-परिहारविशुद्धिसंयम-देशसयमा--ऽभव्य--सम्यग्मिथ्यात्व सास्वादन--मिथ्यात्वा -ऽसञ्ज्ञिमार्गणासु त्रिसप्ततौ दर्शनावरणमोहनीयबन्धभावेऽपि तयोर्भूयस्कारान्पतरबन्धयोरेवाभावः । सूक्ष्म-सम्पराये तथा-ऽकषाय केवलज्ञान-केवलदर्शन--यथाख्यातसंयममार्गणाचतुष्केऽपि मोहनीयस्य बन्धाभावः, दर्शनावरणस्य मार्गणाचतुष्के बन्धाभावः, सूक्ष्मसंपराये तस्य बन्धसद्भावेऽपि तस्य भूयस्कारान्पतरबन्धयोरभावः ॥१४२॥

एतर्हि मार्गणासु नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धकपरिमाणं दिदर्शयिषुरादौ तयोर्यास्वनन्ता बन्धकास्तासु तत्परिमाणं व्याहरन्नाह—

तिरिये सव्वेगिंदियणिगोअवणकायुरालियदुगेसुं ।
कम्मे णपुंसगे तह कसायचउगे अणाणदुगे ॥१४३॥
अजयाचक्खुसु असुहलेसाभवियियरमिच्छअमणेसुं ।
तह आहारियरेसु दुपयाण णामस्स बंधगाऽणंता ॥१४४॥ (गीतिः)

(प्रे०) "तिरिये" इत्यादि, तिर्यग्गत्योघ सप्तैकेन्द्रियभेद-सप्तसाधारणवनस्पतिकायभेद-वनस्पतिकायौघ-काययोगौघौ-दारिकौ-दारिकमिश्र कार्मणयोग-नपुंसकवेद-कषायचतुष्क--मत्य-ज्ञान-श्रुताज्ञाना-संयमा-चक्षुर्दर्शना-शुभलेश्यात्रय-भव्याऽभव्य-मिथ्यात्वा--संज्ञ्याहारकानाहारक-मार्गणास्वष्टात्रिंशतौ निगोदजीवानां प्रवेशेन जीवा अनन्ता भवन्ति, निगोदजीवानां च परा-वर्तमानभावेन नाम्नः पञ्चबन्धस्थानानां निर्वर्तनेन प्रत्यन्तर्मुहूर्तं तेषामवश्यं भूयस्काराल्पतर-बन्धयोर्विधानेन एतासु प्रत्येकं सर्वदैव नाम्नो भूयस्काराल्पतरपदयोर्बन्धका अनन्ता भवन्ति, उक्तातिरिक्तमार्गणासु निगोदजीवानामप्रवेशेन बन्धकजीवानामानन्त्यस्यालाभाद् भूयस्कारा-ल्पतरबन्धकानामप्यानन्त्यं न लभ्यत इति ॥१४३–१४४॥

अथ यासु नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धकाः संख्येया भवन्ति तासु प्राह—

दुणरमणणाणसंजमसमइअछेअपरिहारसुक्कासुं ।
तह खइअउवसमेसु दुपयाण णामस्स बंधगा संखा ॥१४५॥ (गीतिः)

(प्रे०) "दुगरे"त्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिमार्गणासु सप्तसु जीवानां संख्येयत्वाद् नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धका अपि संख्येया एवेति । सर्वार्थसिद्धा-ऽपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायमार्गणासु नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धावेव न भवतः । आहारकद्विके देशविरतौ च नाम्नोऽल्पतरबन्धस्याभावाद् भूयस्कारबन्धकानां संख्यातत्वमनन्तरगाथायां दर्शयिष्यति । क्षायिकसम्यक्त्वे शुक्ललेश्यायां च भूयस्कारस्य बन्धकाः पर्याप्तमनुष्याः प्रथमसमयोत्पन्ना देवाश्च, तत्र पर्याप्तमनुष्याणां संख्येयत्वं सुगमम् । क्षायिकसम्यक्त्वे देवेषूत्पद्यमानानां संख्येयत्वं पुनरेवम्—एकेन मतेन तिर्यक्षु क्षायिकसम्यग्दृशां संख्येयत्वात् तेभ्यो देवेषूत्पद्यमाना अपि ते संख्येया एव भवन्ति । अन्यमतेन तु क्षायिकसम्यग्दृष्टितिरश्चामसंख्येयत्वेऽपि यथा तेषां मनुष्येभ्य उत्पादात् तत्रोत्पद्यमानानां संख्येयत्वं भवतिः तथोत्पादानुसारेण व्ययस्यापि भावात् क्षायिकसम्यग्दृष्टितिरश्चां मरणमपि संख्येयानामेव लभ्यते इति देवभवप्रथमसमयवर्तिनां तादृशानां संख्येयत्वं विज्ञेयम् । शुक्ललेश्यायां देवेष्वानतादीनामेवाभ्युपगमेन तेषां च मनुष्येभ्य एवोत्पादाद् भवप्रथमसमयवर्तिनां तेषां संख्येयत्वम् । यद्यपि क्षायिकसम्यक्त्वे मनुष्येभ्यो नैरयिकेषूत्पद्यमाना नाम्नो भूयस्कारबन्धका भवन्ति तथाऽपि ते संख्येया एवेति । एवं चोक्तमार्गणाद्वये नाम्नो भूयस्कारबन्धकाः संख्येयाः । उक्तमार्गणाद्वयेऽल्पतरबन्धकाः पर्याप्तमनुष्यास्तेनाल्पतरबन्धका अपि संख्येया इति । उपशमसम्यक्त्वे नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धका मनुष्याः, मनुष्येभ्यः श्रेणौ कालं कृत्वा उत्पन्ना भवप्रथमसमयवर्तिनो देवाश्चोक्तराशिद्वयस्यापि संख्येयत्वमेवेति तथा निर्देश इति ॥१४५॥

अथाऽऽहारकद्विके देशविरतौ शेषमार्गणासु च नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धकानां परिमाणं प्ररूपयन्नाह—

आहारदुगे देसे भूओगारस्स संखिया णेया ।
णामस्स बंधगाऽत्थि असंखा सेसासु दुपयाणं ॥१४६॥
णवरं अप्पयरस्स उ संखेज्जा बंधगा य णामस्स ।
णाणतिगे ओहिम्मि य सम्मत्ते वेअगे णेया ॥१४७॥

(प्रे०) "आहारदुगे"इत्यादि. आहारक-तन्मिश्रयोगद्वये देशविरतौ च नाम्नोऽल्पतरबन्ध एव नास्ति, तथा नाम्नो भूयस्कारबन्धका उक्तमार्गणात्रयेऽपि संख्येयाः, मार्गणाद्वये संयमिन एव भावेन जीवानां संख्येयत्वात्, देशविरतौ जीवानामसंख्येयत्वेऽपि भूयस्कारबन्धकानां केवलं मनुष्यत्वेन संख्येयत्वात् । एवमेकपञ्चाशन्मार्गणासु नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धकपरिमाणं दर्शितम् । आनतादिमार्गणासु यासु भूयस्काराल्पतरपदयोरभावस्तासु न तत्प्ररूपणाया

अवसरः । यासूक्तशेषासु तयोर्बन्धसम्भवस्तासु तयोः प्रत्येकं बन्धका असंख्येया भवन्ति, जीवानामसंख्येयत्वात्, बाहुल्यतो मिथ्यादृशां परावर्तमानेन तद्बन्धलाभात् । मिथ्यादृशां प्रवेशाभावे मतिज्ञानादिमार्गणासु तु तिर्यग्भ्यो देवेषूत्पद्यमानानामसंख्येयानां भूयस्कारबन्धस्य लाभात् । शेषमार्गणा नामतः पुनरिमाः—अष्टौ नरकमार्गणाः, चत्वारः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, मनुष्यौघाऽपर्याप्तमनुष्य-देवौघ-भवनपत्यादिसहस्रारान्तदेव-नवविकलाक्ष-त्रिपञ्चेन्द्रिय-सप्तपृथ्वीकाय-सप्ताप्काय-सप्ततेजस्काय सप्तवायुकाय-त्रिप्रत्येकवनस्पतिकाय त्रित्रसकाय-मनोयोगौघ-तदुत्तरभेद-चतुष्क-वचनयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वैक्रिय वैक्रियमिश्र-स्त्रीवेद-पुरुषवेद-मतिश्रुतावधिज्ञान-विभङ्गज्ञान-चक्षुरवधिदर्शन-तेजःपद्मलेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षयोपशम-सास्वादन-संज्ञिमार्गणा अष्टानवतिः । अत्र मतिश्रुतावधिज्ञानावधिदर्शनसम्यक्त्वौघ-क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणासु नाम्नोऽल्पतरबन्धकाः संख्येया एव, देवनैरयिकेभ्यो मनुष्येषूत्पद्यमानानां गुणपरावृत्त्या स्वस्थानमनुष्याणां वा तल्लाभादित्येकमपवादपदम् । आनतादिसर्वार्थसिद्धान्ताष्टादशदेवभेदापगतवेदसूक्ष्मसम्परायसम्यग्मिथ्यात्वेष्वेकविंशतौ नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धौ एव न स्त इति ॥१४६-१४७॥

॥ श्री प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे स्वस्थाननिरूपणाया सप्तम परिमाणद्वार समाप्तम् ॥

॥ अथ अष्टमं क्षेत्रद्वारम् ॥

अथ सप्तानां यथासम्भवं भूयस्काराल्पतरावक्तव्यबन्धकानां क्षेत्रमोघत आदेशतश्च सातिदेशं सापवादं निरूपयन्नाह—

सव्वहिं बंधगा जहजुग्गं दुइअतुरिआण दुपयाणं ।
छण्ह अवत्तव्वस्स य लोगासंखेज्जभागम्मि ॥१४८॥
मूलपयडिव्व णामदुपयाण परमत्थि णामदुपयाणं ।
बायरसव्वेगिंदियवाऊसुं ऊणलोगम्मि ॥१४९॥
बायरपुहविदगागणिपत्तेअवणेसु सिं अपज्जेसुं ।
बायरतिणिगोएसुं लोगासंखेज्जभागम्मि ॥१५०॥

(प्रे०) "सव्वहिं" इत्यादि, अत्र क्षेत्रं साम्प्रतकालविषयकम्, स्पर्शना पुनरतीतकालविषया भवति । साम्प्रतकाले चावक्तव्यादिपदानामोघे मार्गणासु वाऽभावोऽपि प्राप्यते, अतो यस्मिन् समये ते बन्धका उत्कृष्टपदगता भवन्ति, तत्समयाऽपेक्षया अत्रोक्तक्षेत्रं प्राप्यते । अयं भावः—अत्र तत्तत्पदानां यदा प्रकृष्टक्षेत्रं प्राप्यते तत्समयापेक्षयैव प्रस्तुते क्षेत्रं निरूपितमिति । क्षेत्रप्ररूपणा स्पर्शनाप्ररूपणा चैकजीवापेक्षया अनेकजीवापेक्षया च यद्यपि वक्तव्या भवति, तथाप्येकजीवापेक्षया क्षेत्रस्य स्पर्शनायाश्च लोकाऽसङ्ख्येयभागादिना सुगमप्रायस्त्वात् तत्प्ररूपणां विहाय ग्रन्थकृता नानाजीवापेक्षयैव सा कृता इत्यवधार्यम् ।

ओघे दर्शनावरणमोहनीयसत्कभूयस्काराल्पतरबन्धयोर्वेदनीयायुर्वर्जानां षण्णामवक्तव्यबन्धस्य, मार्गणास्वपि यासूक्तपदेभ्यो येषां पदानां सद्भावस्तासु तेषां पदानां क्षेत्रं लोकाऽसङ्ख्येयभागप्रमाणं भवति, केवलिसमुद्घातं विहाय पञ्चेन्द्रियाणां चातुर्गतिकानां समुदितं क्षेत्रमपि लोकाऽसङ्ख्येयभागतो नातिरिच्यते, उक्तपदानां निर्वर्तकाः पञ्चेन्द्रिया इति तेषां पदानां क्षेत्रमपि निरुक्तप्रमाणं भवति । यद्यपि बादरपर्याप्तपृथिव्यादिषु सास्वादनभावस्य लाभेन तत्र च तेषां सास्वादनतो मिथ्यात्वे गमनासे मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धका भवन्ति, तथापि तेषां पञ्चेन्द्रियेभ्य एवाऽऽगतत्वात्तेषां तादृशानां चोत्कृष्टतः पल्योपमस्याऽसंख्येयभागतोऽतिरिक्तानां कदाचिदप्यसम्भवेन तेषामपि क्षेत्रं लोकाऽसङ्ख्येयभागप्रमाणमेव भवतीति ।

ओघे तथा यासु सूक्ष्मैकेन्द्रियाणां प्रवेशस्तास्वष्टचत्वारिंशद्मार्गणासु नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्निर्वर्तकाना क्षेत्रं सर्वलोकप्रमाणं भवति, सूक्ष्माणां स्वस्थानक्षेत्रस्यैव सर्वलोकप्रमाणत्वात् तेषाञ्च सदैव नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्निर्वर्तमानत्वात् ।

बादरौघाऽपर्याप्तबादरपृथ्व्यप्तेजःप्रत्येकवनस्पतिकायेष्वष्टसु बादरसाधारणवनस्पतिकाय-भेदत्रिके चेत्येकादशमार्गणासु जीवानां स्वस्थानक्षेत्रं लोकाऽसङ्ख्यातभागप्रमाणं भवति, मरण-समुद्घातेनैतासु सर्वलोकप्रमाणक्षेत्रस्य लाभेऽपि सूक्ष्मैकेन्द्रियेषूत्पित्सूनां तेषां मरणसमुद्घाते वर्तमानानां नाम्नो बन्धस्थानपरावृत्त्यभावान्न नाम्नो भूयस्काराल्पतरौ भवतः, एता-स्वेकादशसु नाम्नो भूयस्कारालपतरबन्धयोः सर्वलोकप्रमाणं क्षेत्रं नैव प्राप्यते। एवं बादरवायु-कायिकेषूत्पित्सूनपेक्ष्याऽपि भावनीयम् ।

यद्यपि तेषां बादरपृथ्व्यादीनामुद्योतनामकर्मोदयप्रायोग्यजीवानां सिद्धशिलादौ उत्पाद-भावेन तत्रोत्पित्सूनां कृतमारणान्तिकसमुद्घातानामुद्योतनाम्नः परावृत्त्या बन्धः सम्भवति, तथापि तादृशजीवानां प्रतराऽसङ्ख्येभागगताकाशप्रदेशतोऽधिकानामभावेन तेषां समुद्घातकृतं क्षेत्रमपि लोकास्याऽसङ्ख्येयभागप्रमाणं भवति । ननु साधारणवनस्पतिकायिकेषूद्योतनाम्न उदयस्य भावेन तेषु समुत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घाते वर्तमानानामनन्तानां लाभात् प्रतराऽ-सङ्ख्येयभागाधिकजीवानां निषेधकथनं विरोधभाग् भवति, इति चेद्, न, बादरपर्याप्तसाधारण-वनस्पतिकायिकेषूद्योतनाम्न उदयस्य भावेऽपि साधारणनाम्ना सह तस्य बन्धानर्हत्वात्, साधा-रणेषूत्पित्सूनां कृतमारणान्तिकसमुद्घातानामुद्योतनाम्न एव बन्धाभावाच्च सप्तादिरज्जुप्रमाण-क्षेत्रावकाश इति सर्वं सुस्थम् ।

एकादशस्वपि मार्गणासु स्वस्थानकृतं क्षेत्रं लोकाऽसङ्ख्येयभागप्रमाणं भवति । यदि पुनरुत्पादक्षेत्रं भूयस्काराल्पतरबन्धकयोर्विचार्यते, तर्हि बादरतेजस्कायभेदद्वये लोकाऽ-सङ्ख्येयभागप्रमाणं क्षेत्रं भवति "दोसु उड्ढकवाडेसु" इत्याद्यागमवचनात्, शेषासु नवमार्गणासु तु सर्वलोकम् । तथापि प्रस्तुतग्रन्थे उत्पादक्षेत्रस्य विवक्षैव नास्ति, अतो लोकाऽसङ्ख्येयभाग-प्रमाणं क्षेत्रमपवादेन दर्शितम् । अतिदेशानुसारेण पुनः सर्वलोकप्रमाणं प्राप्यते इति ।

बादरवायुकायाऽपर्याप्तबादरवायुकायद्वये बादरैकेन्द्रियभेदत्रये देशोनलोकप्रमाणं नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धकयोः क्षेत्र भवति । शेषाभ्यो नरकौघादिपञ्चोत्तरशतमार्गणाभ्यो यासु नाम्नो भूयस्कारस्याल्पतरस्य वा सम्भवः, तासु तयोर्बन्धकानां क्षेत्रं लोकाऽसङ्ख्येयभाग-प्रमाणं भवति । बादरपर्याप्तवायुकायमार्गणायां पुनर्नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धकानां क्षेत्रं देशोनलोकप्रमाणं भवति । सप्तानामवस्थितपदस्याऽऽयुष्कसत्कपदद्वयस्य च क्षेत्रं प्रागेव दर्शित-त्वान्नात्र दर्श्यते । ॥ १४८—१५० ॥

॥ श्री प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधान उत्तरप्रकृतिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे स्वस्थाननिरूपणायामष्टम क्षेत्रद्वार समाप्तम् ॥

॥ अथ नवमं स्पर्शनाद्वारम् ॥

अथ नवमस्पर्शनाद्वारनिरूपणाया अवसरः, तत्रादौ आयुर्वेदनीयवर्जषट्प्रकृतीनामवक्तव्य-बन्धकानां नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धकानामोघतो मार्गणासु च स्पर्शनामेकगाथया निरूपयन्नाह—

छराह जगअसंखंसोऽवत्तव्वस्स फुसणाऽत्थि इह दारे ।
भूगारप्पयराणं णामस्स समूलकम्मव्व ॥१५१॥

(प्रे०) "छण्हे"त्यादि, ज्ञानावरणादीनां षण्णां कर्मणामवक्तव्यबन्धकाः श्रेणिगतमनुष्यास्ततो वा कालं कृत्वा भवप्रथमसमयस्था देवा वा भवन्ति, तेषां स्वस्थानादिना लोकाऽसङ्ख्येयभागप्रमाणा एव स्पर्शना प्राप्यते । एवं मार्गणास्वपि यत्र यत्र ज्ञानावरणादिषड्भ्यः प्रकृतिभ्यो यासां यासामवक्तव्यबन्धस्य सद्भावः, तत्र तत्र तासां तासां तद्बन्धकानां स्पर्शना लोकाऽसङ्ख्येयभागप्रमाणा विज्ञेया । "इह दारे" इत्यनेनौघे मार्गणासु च प्रस्तुतस्पर्शनाद्वारे इति । भावना तु मूलप्रकृतिस्थितिबन्धग्रन्थे यथा भाविता, तथा विज्ञेया इति, सुगमा चेति न भूयो भाव्यते । ओघतो नाम्नो भूयस्काराऽल्पतरबन्धकानां स्पर्शना सर्वलोकप्रमाणा भवति, सूक्ष्मैकेन्द्रियाणां स्वस्थानेऽपि तयोर्निवर्तनात् सूक्ष्माणां सर्वलोकव्यापित्वाच्च । मूलकृता त्वोघे मार्गणासु च यासु नाम्नो भूयस्कारबन्धोऽल्पतरबन्धो वा भवति तत्र तद्बन्धकानां स्पर्शना यथा मूलप्रकृतिबन्धग्रन्थे नाम्नो बन्धकानां यावती स्पर्शना प्रोक्ता तावत्येव प्रस्तुतेऽपि प्राप्यत इति सामान्येन स्पर्शनाऽतिदिष्टा ॥१५१॥ एवमतिदिष्टे सति तत्र मार्गणासु या अतिप्रसक्तयस्ता अपवादगाथाभिर्दर्शयन्नाह—

णवरि सयलणिरयपणिंदितिरिणरविगलपणिंदियतसेसुं ।
सुरईसाणंतसयलबायरपणमणवयेसु तहा ॥१५२॥
विउवणुभयथीविभंगणयणतेजोसासणेसु सणिणम्मि ।
जत्तिअफुसणुज्जोआवत्तव्वस्सऽत्थि तावइआ ॥१५३॥
भूगाराप्पयराणं णिणाणा-ऽवहिसुक्कसम्मखइएसुं ।
वेअगुवसमेसु उरलविउवावत्तव्वफोसणव्व कमा ॥१५४॥ (गीतिः)
णामस्स बंधगाणं भूओगारस्स देसम्मि ।
लोगस्स असंखयमो भागो फुसणा मुणेयव्वा ॥१५४B॥ (उपगीतिः)

(प्रे०) "णवरी"त्यादि, सार्धगाथात्रयाक्षरार्थस्तु सुगमः । भावार्थः पुनरुच्यते—यासु मार्गणासु सूक्ष्मैकेन्द्रियाणां प्रवेशस्तासु स्वस्थानेन नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धकानां

बादरौघाऽपर्याप्तबादरपृथ्व्यप्तेजःप्रत्येकवनस्पतिकायेष्वष्टसु बादरसाधारणवनस्पतिकाय-भेदत्रिके चेत्येकादशमार्गणासु जीवानां स्वस्थानक्षेत्रं लोकाऽसङ्ख्यातभागप्रमाणं भवति, मरण-समुद्घातेनैतासु सर्वलोकप्रमाणक्षेत्रस्य लाभेऽपि सूक्ष्मैकेन्द्रियेषूत्पित्सूनां तेषां मरणसमुद्घाते वर्तमानानां नाम्नो बन्धस्थानपरावृत्त्यभावाच्च नाम्नो भूयस्कारान्यतरौ भवतः, अत एता-स्वेकादशसु नाम्नो भूयस्कारात्पतरबन्धयोः सर्वलोकप्रमाणं क्षेत्रं नैव प्राप्यते । एवं बादरवायु-कायिकेषूत्पित्सूनपेक्ष्याऽपि भावनीयम् ।

यद्यपि तेषां बादरपृथ्व्यादीनामुद्योतनामकर्मोदयप्रायोग्यजीवानां सिद्धशिलादौ उत्पाद-भावेन तत्रोत्पित्सूनां कृतमारणान्तिकसमुद्घातानामुद्योतनाम्नः परावृत्त्या बन्धः सम्भवति, तथापि तादृशजीवानां प्रतराऽसङ्ख्येयभागगताकाशप्रदेशतोऽधिकानामभावेन तेषां समुद्घातकृतं क्षेत्रमपि लोकाम्याऽसङ्ख्येयभागप्रमाणं भवति । ननु साधारणवनस्पतिकायिकेषूद्योतनाम्न उदयस्य भावेन तेषु समुत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घाते वर्तमानानामनन्तानां लाभात् प्रतराऽ-सङ्ख्येयभागाधिकजीवानां निषेधकथनं विरोधभाग् भवति, इति चेद् , न, बादरपर्याप्तसाधारण-वनस्पतिकायिकेषूद्योतनाम्न उदयस्य भावेऽपि साधारणनाम्ना सह तस्य बन्धानर्हत्वात् , साधा-रणेषूत्पित्सूनां कृतमारणान्तिकसमुद्घातानामुद्योतनाम्न एव बन्धाभावाच्च सप्तादिरज्जुप्रमाण-क्षेत्रावकाश इति सर्वं सुस्थम् ।

एकादशस्वपि मार्गणासु स्वस्थानकृतं क्षेत्रं लोकाऽसङ्ख्येयभागप्रमाणं भवति । यदि पुनरुत्पादक्षेत्रं भूयस्कारात्पतरबन्धकयोर्विचार्यते, तर्हि बादरतेजस्कायभेदद्वये लोकाऽ-सङ्ख्येयभागप्रमाणं क्षेत्रं भवति "दोसु उड्ढकवाडेसु" इत्याद्यागमवचनात् , शेषासु नवमार्गणासु तु सर्वलोकम् । तथापि प्रस्तुतग्रन्थे उत्पादक्षेत्रस्य विवक्षैव नास्ति, अतो लोकाऽसङ्ख्येयभाग-प्रमाणं क्षेत्रमपवादेन दर्शितम् । अतिदेशानुसारेण पुनः सर्वलोकप्रमाणं प्राप्यते इति ।

बादरवायुकायाऽपर्याप्तबादरवायुकायद्वये बादरैकेन्द्रियभेदत्रये देशोनलोकप्रमाणं नाम्नो भूयस्कारात्पतरबन्धकयोः क्षेत्रं भवति । शेषाभ्यो नरकौघादिपञ्चोत्तरशतमार्गणाभ्यो यासु नाम्नो भूयस्कारस्याल्पतरस्य वा सम्भवः, तासु तयोर्बन्धकानां क्षेत्रं लोकाऽसङ्ख्येयभाग-प्रमाणं भवति । बादरपर्याप्तवायुकायमार्गणायां पुनर्नाम्नो भूयस्कारात्पतरबन्धकानां क्षेत्रं देशोनलोकप्रमाणं भवति । सप्तानामवस्थितपदस्याऽऽयुष्कसत्कपदद्वयस्य च क्षेत्रं प्रागेव दर्शित-त्वान्नात्र दर्श्यते । ॥ १४८—१५० ॥

॥ श्री प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधान उत्तरप्रकृतिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे स्वस्थाननिरूपणायामष्टमं क्षेत्रद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ नवमं स्पर्शनाद्वारम् ॥

अथ नवमस्पर्शनाद्वारनिरूपणाया अवसरः, तत्रादौ आयुर्वेदनीयवर्जषट्प्रकृतीनामवक्तव्य-बन्धकानां नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धकानामोघतो मार्गणासु च स्पर्शनामेकगाथया निरूपयन्नाह—

छराह जगअसंखंसोऽवत्तव्वस्स फुसणाऽत्थि इह दारे ।
भूगारप्पयराणं णामस्स समूलकम्मव्व ॥१५१॥

(प्रे०) "छण्हे"त्यादि, ज्ञानावरणादीनां षण्णां कर्मणामवक्तव्यबन्धकाः श्रेणिगतमनु-ष्यास्ततो वा कालं कृत्वा भवप्रथमसमयस्था देवा वा भवन्ति, तेषां स्वस्थानादिना लोकाऽसङ्ख्येय-भागप्रमाणा एव स्पर्शना प्राप्यते । एवं मार्गणास्वपि यत्र यत्र ज्ञानावरणादिषड्भ्यः प्रकृतिभ्यो यासां यासामवक्तव्यबन्धस्य सद्भावः, तत्र तत्र तासां तासां तद्बन्धकानां स्पर्शना लोकाऽसङ्ख्येय-भागप्रमाणा विज्ञेया । "इह दारे" इत्यनेनौघे मार्गणासु च प्रस्तुतस्पर्शनाद्वारे इति । भावना तु मूलप्रकृतिस्थितिबन्धग्रन्थे यथा भाविता, तथा विज्ञेया इति, सुगमा चेति न भूयो भाव्यते । ओघतो नाम्नो भूयस्काराऽल्पतरबन्धकानां स्पर्शना सर्वलोकप्रमाणा भवति, सूक्ष्मैकेन्द्रियाणां स्वस्थानेऽपि तयोर्निवर्तनात् सूक्ष्माणां सर्वलोकव्यापित्वाच्च । मूलकृता त्वोघे मार्गणासु च यासु नाम्नो भूयस्कारबन्धोऽल्पतरबन्धो वा भवति तत्र तद्बन्धकानां स्पर्शना यथा मूलप्रकृति-बन्धग्रन्थे नाम्नो बन्धकानां यावती स्पर्शना प्रोक्ता तावत्येव प्रस्तुतेऽपि प्राप्यत इति सामान्येन स्पर्शनाऽतिदिष्टा ॥१५१॥ एवमतिदिष्टे सति तत्र मार्गणासु या अतिप्रसक्तयस्ता अपवाद-गाथाभिर्दर्शयन्नाह—

णवरि सयलणिरयपणिदितिरिणरविगलपणिंदियतसेसु ।
सुरईसाणंतसयलबायरपणमणवयेसु तहा ॥१५२॥
विउवदुमथीविभंगणयणातेजोसासणेसु सण्णिम्मि ।
जत्तिअफुसणुज्जोआवत्तव्वस्सऽत्थि तावइआ ॥१५३॥
भूगाराप्पयराणं णिणाणा-ऽवहिसुक्कसम्मखइएसु ।
वेअगुवसमेसु उरलविउवावत्तव्वफोसणव्व कमा ॥१५४॥ (गीतिः)
णामस्स बंधगाणं भूओगारस्स देसम्मि ।
लोगस्स असंखयमो भागो फुसणा णेयव्वा ॥१५४B॥ (उपगीतिः)

(प्रे०) "णवरी"त्यादि, सार्धगाथात्रयाक्षरार्थस्तु सुगमः । भावार्थः पुनरुच्यते— यासु मार्गणासु सूक्ष्मैकेन्द्रियाणां प्रवेशस्तासु स्वस्थानेन नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धकानां

स्पर्शना सर्वलोकप्रमाणा प्राक्कृतातिदेशानुसारेण प्राप्यते, ता मार्गणा नामत इमाः—तिर्यग्गत्योघै-केन्द्रियौघ पृथ्व्यादिपञ्चकायौघ-साधारणवनस्पतिकायौघ-सूक्ष्मैकेन्द्रियभेदत्रिक-सूक्ष्मपृथ्व्यप्तेजोवायुसाधारणवनस्पतिकायसत्कत्रित्रिभेद-काययोगौघौ—दारिकौ—दारिकमिश्र—कार्मणयोग—नपुंसकवेद—कषायचतुष्क—मत्यज्ञान—श्रुताज्ञाना—ऽसंयमा—ऽचक्षुर्दर्शन-कृष्णनीलकापोतलेश्या-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञया -ऽऽहारकाऽनाहारकमार्गणा अष्टचत्वारिंशत् । अत्र कार्मणा-नाहारकमार्गणाद्वये यद्यपि रत्नस्थानं न विद्यते तथापि विग्रहगतौ उत्पत्तिप्रथमसमये च नाम्नो नानाबन्धस्थानानां सद्भावाद् बन्धस्थानपरावृत्तिभावाच्च नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धकानां स्पर्शना सर्वलोकः प्राप्यत इति ।

सनत्कुमारादिसहस्रारान्तदेवमार्गणाषट्के पद्मलेश्यायां च देवानां गमनागमनेनाष्टौ रज्जवो नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धकानां स्पर्शना भवति । आनताद्यष्टादशदेवभेदेष्वपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसम्यग्मिथ्यात्वेषु च नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धावेव न स्तः । मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिमार्गणासु वैक्रियमिश्रे नाम्नो भूयस्कारा-ल्पतरबन्धयोः स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा भवति । आहारक-तन्मिश्रयोगद्वये नाम्नो-ऽल्पतरबन्धस्याभावः, नाम्नो भूयस्कारबन्धकानां स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा भवति । एताः सनत्कुमारदेवाद्याः षट्त्रिंशद्मार्गणाः, प्रागुक्तास्तिर्यग्गत्योघाद्या अष्टचत्वारिंशद्मार्ग-णाश्चेति समुदिताश्चतुरशीतिमार्गणासु अतिदेशानुसारेण यथा नाम्नो मूलकर्मणां बन्धकानां स्पर्शना भवति; एवं नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोः सम्भवे तद्बन्धकानां तथैव स्पर्शना भवति ।

अथाऽतिदेशतो भिन्नां स्पर्शनां 'णवरि'' इत्यादिना वक्ति, तत्र-मतिश्रुतावधिज्ञानाऽवधि-दर्शन-शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघो -पशम क्षयोपशम क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणासु जीवानां=देवानां गमनागमनापेक्षयाऽष्टरज्जुस्पर्शनाया लाभेऽपि न नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धकानां तावती स्पर्शना स्यात्, उक्तमार्गणासु भवप्रथमसमयं विहाय देवानामल्पतरबन्धस्यैवाभावात्, एवं भूयस्कारबन्धस्यापि । तत उक्तमार्गणासु स्थितिबन्धे यावती औदारिकनाम्नोऽवक्तव्यबन्धकानां स्पर्शना प्राप्यते दर्शयिष्यते च, तावत्येवात्र नाम्नो भूयस्कारबन्धकानां सा प्राप्यते यतः प्रधान-तस्तदपेक्षयैव भूयस्कारबन्धस्य करणात् । सा चैषा—नाम्नो भूयस्कारबन्धस्य स्पर्शना शुक्ल-लेश्यायामुपशमे क्षायिके च लोकाऽसंख्येयभागमात्रम्, शेषासु षड्मार्गणासु पञ्चरज्जुप्रमाणा भवति । अत्रा-ऽऽनतदेवादीनां शुक्ललेश्या भवतीति मतमपेक्ष्य तत्र तिरश्चामुत्पादाभावेन मनुष्यापेक्षया तु लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणस्यैव लाभात्तथा दर्शितम् । लान्तकादिषु शुक्ललेश्या सद्भावापेक्षया तु शुक्लेश्यायां पञ्चरज्जुस्पर्शना वक्तव्या । उपशमसम्यक्त्वे तु प्रथमसम्यक्त्ववर्ती मरणं मरणसमुद्घातं च न भवति । तथा मनुष्यान् विहाय उपशमसम्यक्त्ववर्ती

भूयस्काराल्पतरबन्धावेव न भवतः, द्वितीयोपशमसम्यक्त्वं तूपशमश्रेणिसत्कमिति तस्य मनुष्येष्वेव लाभः, मरणव्याघातेन पुनः श्रेणिमत्कोपशमसम्यक्त्वेन सह देवेषु व्रजन्ति, तत्र च भवप्रथमसमये भूयस्कारबन्धस्य करणेऽपि लोकाऽसंख्येयभागस्पर्शना प्राप्यते । क्षायिकसम्यक्त्वे तु युगलिकतिरश्चां देवेषूत्पादापेक्षया यावती स्पर्शना प्राप्यते तावती प्रस्तुते विज्ञेयेति । मतिज्ञानादिषड्मार्गणासु तु तिरश्चां सहस्रारं यावदुत्पादात् तदपेक्षया पञ्चरज्जु-स्पर्शना प्राप्यत इति ।

उक्तनवमार्गणाभ्यश्शुक्लश्लेयासूपशमसम्यक्त्वं च विमुच्य शेषासु सप्तमार्गणासु नाम्नोऽल्पतरबन्धकानां स्पर्शना वैक्रियनाम्नोऽवक्तव्यबन्धकानां यावती प्राप्यते तावती ज्ञेया; सा चैवम्—देवानां गमनागमनक्षेत्रस्याऽष्टरज्जुप्रमाणत्वेन यदि सर्वत्र तेषां च्यवनं भवितुमर्हति, तदा वैक्रियशरीरनामावक्तव्यबन्धकानां स्पर्शनाऽष्टरज्जुप्रमाणा भवति, यदि पुनर्गमनागमनक्षेत्रे आकाशे एव स्थानद्वयान्तरालरूपे तेषां च्यवनं न स्यात्, किन्तु किञ्चिदपि स्थानमवलम्ब्यैव, तर्हि तद्बन्धकानां स्पर्शना लोकस्याऽसंख्येयभागप्रमाणा स्यात्, सम्यक्त्वेन सह देवेभ्यश्च्युत्वा मनुष्येषूत्पन्नस्यावश्यमल्पतरबन्धो भवति । एवञ्चाऽष्टरज्जुप्रमाणा लोका-ऽसंख्येयभागप्रमाणा वा स्पर्शना मार्गणासप्तके नाम्नोऽल्पतरबन्धकानां प्राप्यते । नारकेभ्य आगतापेक्षया; मनुष्याणां स्वस्थाने च नाम्नोऽल्पतरबन्धकानां स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभाग-प्रमाणा एव भवति । मार्गणासप्तके तु तिरश्चामल्पतरबन्ध एव नास्ति । शुक्ललेश्यायामप्येवमेव केवलं नारकापेक्षया स्पर्शना न वाच्या । तथा शुक्ललेश्याकदेवानां गमनागमनक्षेत्रस्यैव षड्रज्जुप्रमाणत्वादष्टरज्जुस्थाने षड्रज्जुस्पर्शना वाच्या, लोकाऽसंख्यभागस्तु तथैव । उपशम-सम्यक्त्वमार्गणायां संयतमनुष्याणां स्वस्थाने श्रेणौ नाम्नो त्रिंशदेकत्रिंशद्बन्धकानां मरण-व्याघातेन देवेषूत्पन्नानां वाऽल्पतरबन्धो भवति तस्य स्पर्शना तु लोकाऽसंख्येयभाग एव इति ।

देशविरतौ नाम्नो मूलकर्मबन्धकानां स्पर्शना पञ्चरज्जवः, सा च तिर्यगपेक्षया मरणसमुद्-घातेन भवति, तथापि तेषां तिरश्चां भूयस्कारबन्धस्याभावान्मनुष्याणां जिननाम्नो बन्धप्रारम्भेन स्वस्थाने एव भूयस्कारबन्धस्य लाभान्नाम्नो भूयस्कारबन्धकानां स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभाग-प्रमाणा भवति, अत्र नाम्नोऽल्पतरबन्धस्तु नास्ति ।

पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय—त्रसकायौघ—पर्याप्तत्रसकाय-मनोयोगौघ—तदुत्तरभेद-चतुष्क-वचनयोगौघ—तदुत्तरभेदचतुष्क—विभङ्गज्ञान-चक्षुर्दर्शन-संज्ञिमार्गणासु सप्तदशसु नाम्नो मूलप्रकृतिबन्धकानां स्पर्शना सर्वलोकप्रमाणा भवति, तथापि नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धकानां स्पर्शना त्रयोदशरज्जुप्रमाणा भवति । सा चैवम्—सप्तमभूमिनारकास्तिर्यक्षूत्पित्सवो मरणसमुद्घाते यदा वर्तन्ते स्म, तदोद्योतनाम्नो बन्धप्रारम्भस्य तद्विरमणस्य च भावान्नारकापेक्षया षड्रज्जुस्पर्शना

प्राप्यते, तिर्यगपेक्षया देवापेक्षया च तिर्यग्लोके स्थिताः सिद्धशिलादौ समुत्पित्सवो मरणसमुद्घाते वर्तमाना उद्योतनाम्नो बन्धस्य परावृत्त्या बध्नन्तो नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धौ निर्वर्तयन्त सप्तरज्जून् स्पृशन्ति स्म । एवं त्रयोदश रज्जवः स्पर्शना उक्तपदद्वयस्य प्राप्यते ।

अत्रायं नियमः—सम्यक्त्वादिगुणप्रतिबन्धकत्वाभावे मरणसमुद्घाते वर्तमाना यत्रोत्पद्यन्ते तत्प्रायोग्यमेव बध्नन्ति, अतो नाम्नो बन्धस्थानानां सामान्यतो मरणसमुद्घाते परावृत्तिर्नास्ति । केवलमुद्योतनाम्न उदयप्रायोग्येषु बादरपर्याप्तपृथ्व्यप्प्रत्येकवनस्पतिकायिकेषु पर्याप्तविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु चोत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घाते वर्तमानानामुद्योतनाम्नः परावृत्तिर्भवतीति ज्ञायते ।

अत एतासूद्योतनाम्नः परावृत्त्या बन्धस्य भावेनोक्तस्पर्शना प्राप्यते । एषा च परावृत्तिः स्वभावतो वा स्यात्; तदुदयवज्जीवेषूद्योतोदयपरावृत्तिभावेन वा स्यादिति विकल्पयामः । उत्पातक्षेत्रस्याऽत्र ग्रन्थे बाहुल्यतोऽविवक्षणादुक्तस्पर्शनाऽवधेया, तद्विवक्षायां पुनः पञ्चेन्द्रियौघादिषु कासुचिन्मार्गणासु सर्वलोकप्रमाणा स्पर्शना लभ्यत इति ।

नरकमार्गणाऽष्टके, देवौघ—भवनपति—व्यन्तर—ज्योतिष्क—सौधर्मेशानदेवमार्गणाभेदेषु वैक्रियकाययोगे तेजोलेश्यायां सास्वादने चोद्योतनाम्नोऽवक्तव्यबन्धकानां यावती स्पर्शना भवति तावती नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धकानामपि प्राप्यते । ननूक्तनरकौघादिसप्तदशमार्गणासूद्योतनाम्नोऽवक्तव्यबन्धकानां स्पर्शना नाम्नो मूलकर्मसत्कस्पर्शनातो नातिरिच्यते, ततोऽतिदेशेन गतार्थत्वेऽपि कथमपवादेन सा दर्शिता ? कोऽत्र तस्या अपवादः ? उच्यते—सत्यम्, उक्तमार्गणास्वतिदेशेन तस्याः प्ररूपणाया गतार्थत्वेऽपि यासु मरणसमुद्घातेन उद्योतनामप्रयुक्तयोर्नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोः प्रकृष्टस्पर्शनाक्षेत्रं प्राप्यते ता मार्गणा अप्यत्र संगृहीताः । अतो नरकौघादिसप्तदशमार्गणानामपवादाऽविषयत्वेऽपि पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघादिमार्गणाभिः समं तासां ग्रहणं कृतमिति । यद्वा यथा मरणसमुद्घाते शेषबन्धस्थानानां परावृत्तिर्नास्ति तथोद्योतनाम्नोऽपि यदि न स्यात्, तर्हि उक्तसप्तदशमार्गणास्वप्यपवादविषयता स्यादिति तासामत्र नामग्रहणं कृतमिति । प्रस्तुते तूद्योतस्य बन्धे परावृत्तिः समुद्घाते भवतीत्येतदपेक्षयैव स्पर्शना क्षेत्रं दर्शितम् । नरकौघे सप्तमनरके षड्रज्जवः, षष्ठनरके पञ्चरज्जवः, पञ्चम्यां चतस्रः, चतुर्थ्यां तिस्रः, तृतीयायां द्वे, द्वितीयनैरयिकाणामेका रज्जुः स्पर्शना प्राप्यते, प्रथमनरकनैरयिकाणां लोकाऽसंख्येयभागः, देवौघादिषड्मार्गणासु तेजोलेश्यायां च नवरज्जवः, सास्वादन एकादश द्वादश वा रज्जवः, वैक्रियकाययोगे द्वादश रज्जवो नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धकानां स्पर्शना भवति ।

मनुष्यमार्गणाचतुष्के बादरतेजस्कायभेदत्रये नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धकानां स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा भवति, एतासूद्योतनामावक्तव्यबन्धकानां स्पर्शनायास्तथात्वात् । नाम्नो मूलप्रकृतेर्बन्धकानां स्पर्शना तु सर्वलोको भवतीत्यपवादभणनम् ।

पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक् तिरश्च्य--ऽपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रिया--ऽपर्याप्त-पञ्चेन्द्रिय-नवविकलाक्षा ऽपर्याप्तत्रसकायलक्षणासु पञ्चदशमार्गणासु नामकर्ममूलप्रकृतिबन्ध-कानां स्पर्शनायाः सर्वलोकप्रमाणत्वेऽपि नाम्नोभूयस्काराल्पतरबन्धकानां स्पर्शना सप्तरज्जुप्रमाणा भवति, एतासु मार्गणासु जीवाः स्वस्थानेन तिर्यग्लोके तत्प्रत्यासन्ने वा भवन्ति; तत ऊर्ध्वलोके सिद्धशिलादौ समुत्पित्सवो मरणसमुद्घाते वर्तमाना ऊर्ध्वलोकसत्काः सप्तरज्जूः स्पृशन्ति, अधोलोके तु रत्नप्रभापृथिव्यन्तमेव । ततोऽधस्तादुत्पित्सूनां शर्कराप्रभादिलोकान्तस्थि-तानां प्रायश्चुद्योतनाम्न उदयाभावेन प्रस्तुतबन्धकानां नाधोलोकसत्का विशेषस्पर्शनेति ।

स्त्रीपुरुषवेदमार्गणाद्वये देवमार्गणावन्नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धकानां स्पर्शना नव-रज्जुप्रमाणा विज्ञेया, मूलनामकर्मबन्धकानां स्पर्शना तु वेदमार्गणाद्वये सर्वलोकप्रमाणा भवति ।

बादरैकेन्द्रियभेदत्रये बादरवायुकायभेदत्रये च नाम्नो भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धकानां स्पर्शना लोकस्यासंख्येयबहुभागप्रमाणा स्वस्थानकृता भवति, तयोः समुद्घातकृताऽपि तथैवेति । मूलकर्मबन्धकानां स्पर्शना मार्गणाषट्के सर्वलोकप्रमाणा भवति ।

बादरपृथ्व्यप्प्रत्येकसाधारणवनस्पतिभेदेषु द्वादशसु नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धकानां स्पर्शना सप्तरज्जुप्रमाणा ऊर्ध्वलोकसत्का भवति, अधोलोके सप्तमपृथिव्यां बादरपृथिव्यादीनां सत्त्वेऽपि त्रयोदशरज्जुप्रमाणस्पर्शना न प्राप्यते, तथास्वभावत्वादधोलोकत आगमने तेषां प्रतिनियतदेशस्य भावात् कुतश्चित् कारणान्तराद्वा । हेतुस्त्वत्र बहुश्रुतेभ्यो ज्ञातव्यः ॥१५२-१५४॥

अथ दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धकानां स्पर्शनामोघतो निरूपयन्नाह-

भूगारप्पयराणं बीअस्सऽप्पयरगस्स मोहस्स ।
अट्ठ फुसिआऽत्थि भागा बारस उणा भूअगारस्स ॥१५५॥

(प्रे०) "भूगारे"त्यादि, दर्शनावरणस्य भूयस्कारबन्धकानामल्पतरबन्धकानां च स्पर्शना त्रसनाड्या अष्टचतुर्दशभागप्रमाणा भवति, देवानां गमनागमनक्षेत्रस्यैतावत्प्रमाणत्वेना-ऽतीतकालेन समुदितेनोक्तप्रमाणस्पर्शनाक्षेत्रस्य लाभात् । नारकतिर्यग्मनुष्यानपेक्ष्य पुन-र्लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणं स्पर्शनाक्षेत्रमवसेयमिति । मोहनीयस्याल्पतरबन्धकानां स्पर्शनाऽष्ट-चतुर्दशरज्जुप्रमाणा भवति, भावना तु दर्शनावरणवद्भाव्या । श्रेणिगतानां ततो वा कालं कृत्वा दिवि समुत्पद्यमानानां दर्शनावरणसत्कभूयस्काराल्पतरकर्तृणां मरणसमुद्घातस्य भावेऽपि तेषां

लोकाऽसंख्येयभागमात्रस्यैव स्पर्शनाक्षेत्रस्य लाभात्, उक्तप्रकारद्वयगतान् विहाय दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धकानां मोहनीयस्याल्पतरबन्धकानां च मरणं मरणसमुद्घातश्च नैव भवति, अतस्तेषां मरणसमुद्घातक्षेत्रं नैव प्राप्यते। स्वस्थानक्षेत्रं तु तत्तत्पदप्रायोग्याणां संज्ञिपर्याप्तत्वेन लोकाऽसंख्यातभागमात्रमेव, अतो देवानां गमनागमनमपेक्ष्यैतावती स्पर्शना प्राप्यत इति।

मोहनीयकर्मणो भूयस्कारबन्धकानां स्पर्शना पुनर्द्वादश घनरज्जवो भवन्ति। अत्र मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धः सास्वादनतो मिथ्यात्वगुणस्थानकं प्राप्यमाणानपेक्ष्य मरणसमुद्घातावस्थायामपि भवति, अतो यावती सास्वादनगुणस्थानकगतजीवानां स्पर्शना भवतिः तावती मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धकानां स्पर्शना प्राप्यते, सा चाधोलोकसत्का पञ्चरज्जवः, ऊर्ध्वलोकसत्काश्च सप्त। अत्र देवापेक्षया सप्त ऊर्ध्वलोकसत्काः, द्वे अधोलोकसत्के इति नवरज्जुस्पर्शना भवति, तिर्यगपेक्षया तूर्ध्वलोकसत्का एव सप्तरज्जवः, मनुष्यानपेक्ष्य पुनर्लोकाऽसंख्येयभागः। नारकजीवेषु तु षष्ठनरकनारकानपेक्ष्य पञ्चरज्जव इति समुदिता द्वादशरज्जवो मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धकानां स्पर्शना प्राप्यते ॥ १५५ ॥

अथ मार्गणासु दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धयोः स्पर्शनां प्रदर्शयितुकाम आदौ नरकौघादिमार्गणासु प्राह—

> णिरयतिणाणोहीसुं सम्मे मोहस्स भूअगारस्स।
> पणभागाऽत्थि फरिसिआ पंचसु दुइआइणिरयेसुं ॥१५६॥
> कमसो एगं दोण्णि य तिण्णि य चत्तारि पंच भागाऽत्थि।
> भागाऽत्थि सत्त तिरियतिपणिंदितिरियउरलेसुं च ॥१५७॥
> णपुमे बारस भागा सत्तरसमु आसु जगअसंखंसो।
> मोहप्पयरस्स तह दुपयाण बीअस्स छुहिओऽत्थि ॥१५८॥

(प्रे०) "णिरये"त्यादि, नरकौघ-मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना--ऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघमार्गणासु षट्सु मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धकैस्त्रसनाड्याः पञ्चचतुर्दशभागाः स्पृष्टाः, तत्र नरकौघे षष्ठनरकनैरयिकाः सास्वादनभावे मरणसमुद्घाते च वर्तमानाः सास्वादनभावतो मिथ्यात्वं प्राप्ताः षष्ठनरकतस्तिर्यग्लोकं यावत् पञ्च रज्जूस्त्रसनाड्याः स्पृशन्ति स्म। मतिज्ञानादिपञ्चमार्गणासु सम्यग्दृष्टिजीवानामेव भावेन संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्ततिरश्चां देशविरतानां देवेषूत्पत्तिमधिकृत्य या पञ्चरज्जुप्रमाणा स्पर्शना सैव मोहनीयभूयस्कारबन्धकानामपि प्राप्यते, उत्पत्तिप्रथमसमये पञ्चमगुणस्थानतश्चतुर्थगुणस्थानगमनेन भूयस्कारबन्धस्य करणात्। उक्तमार्गणा-

पञ्चके देवनैरयिकाणां मोहनीयस्य भूयस्काराल्पतरबन्धाभावः। मनुष्याणां तयोर्भावेऽपि लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणैव स्पर्शना, अतस्तिरश्च आश्रित्योक्तस्पर्शना भवति। एतासु षड्मार्गणासु मोहनीयाल्पतरबन्धकानां दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धकानां च स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा भवति, नरकौघ उक्तपदत्रयस्य यथासम्भवं प्रथमगुणस्थानस्य चतुर्थगुणस्थानस्य परावृत्तिभावेन लाभात्, तादृशावस्थायां मरणस्येव मारणसमुद्घातस्याभावेनोपपाताभावेन च स्वस्थानकृतैव स्पर्शना प्राप्यते, सा च लोकाऽसंख्येयभागमात्रैव, मतिज्ञानादिमार्गणापञ्चके चातुर्गतिकजीवानां भावेऽपि देवनारकाणामुक्तमार्गणापञ्चके दर्शितपदत्रयस्यैवाभावात् तिरश्चां प्रथमगुणतस्तृतीयादिगुणस्थानत्रये चतुर्थगुणात् पञ्चमगुणे पञ्चमगुणस्थानतश्चतुर्थगुणस्थाने तृतीयादिगुणस्थानत्रयात् प्रथमगुणस्थाने गुणपरावृत्त्या गच्छतां मरणं मरणसमुद्घात उत्पातश्च न भवति; तेन तिरश्चोऽधिकृत्योक्तपदत्रयाणां लोकाऽसङ्ख्यभागप्रमाणैव स्पर्शना स्वस्थानकृता प्राप्यते। मनुष्यापेक्षयाऽपि सामान्यतस्तिर्यग्वदेव लोकाऽसंख्येयभागस्पर्शना स्वस्थानगतानां प्राप्यते, विशेषतः श्रेणावुक्तपदत्रयनिर्वर्तकानां मरणं मरणसमुद्घातश्च भवति, अत एव दर्शनावरणभूयस्कारबन्धनिर्वर्तकानां देवेषूपपातोऽपि भवति, तादृशजीवानां लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणैव स्पर्शना भवति। केवलिसमुद्घातगतान् विहाय द्वितीयादिगुणप्राप्तमनुष्याणां स्पर्शनाया एव लोकाऽसंख्यभागमात्रत्वात्। एवञ्च सत्युक्तपदत्रयबन्धकानां स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभागमिता एवेति तथा मूले दर्शिता।

अथ मार्गणान्तरेषु दर्शयति—"पञ्चसु" इत्यादि, द्वितीयादिषष्ठपर्यवसानासु पञ्चसु नरकमार्गणासु मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धकाः क्रमश एकद्व्यादिरज्जूः स्पृशन्ति, तद्यथा—द्वितीयनरकनैरयिका एकां रज्जुम्, वालुकाप्रभानैरयिका रज्जुद्वयम्, पङ्कप्रभानैरयिकारज्जुत्रयम्, धूमप्रभानैरयिका रज्जुचतुष्कम्, तमःप्रभानैरयिकाः पञ्चरज्जूः स्पृशन्ति। तत्तत्पृथ्वीनां तिर्यग्लोकतस्तावदन्तरेऽवस्थानात्। शेषभावना त्वनन्तरदर्शितनरकौघवत्कार्येति। उक्तनरकमार्गणापञ्चके मोहनीयाल्पतरबन्धकानां दर्शनावरणसत्कभूयस्काराल्पतरयोर्बन्धकानां च लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा स्पर्शना भवति। भावना तु नरकौघवदेव कार्येति।

तिर्यग्गत्योघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिरश्चीमार्गणाचतुष्के औदारिकयोगे चेति पञ्चमार्गणासु मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धकाः सप्त रज्जूः स्पृशन्ति। सास्वादनतो मिथ्यात्वं प्राप्यमाणानां यद्भूयस्कारबन्धो भवति तमपेक्ष्यैव सप्तरज्जुमिता स्पर्शना प्राप्यते। शेषप्रकारेण मोहनीयभूयस्कारबन्धका उक्तमार्गणापञ्चके लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणमेव क्षेत्रं स्पृशन्ति, तन्निर्वर्तकानां श्रेणिगतान् विहाय मरणस्येव मरणसमुद्घातस्याप्यभावात्।

स्वस्थानप्रधानैव स्पर्शना प्राप्यते । उक्तमार्गणापञ्चके दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतर-बन्धप्रायोग्या जीवाः स्वस्थानेन तिर्यग्लोके तत्प्रत्यासन्ने वा क्षेत्रे विद्यन्ते । अतस्तेषां स्पर्शना स्वस्थानकृता लोकाऽसंख्येयभागप्रमिता भवति । मोहनीयस्याल्पतरबन्धकानां दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धकानां च स्पर्शना मार्गणापञ्चकेऽपि लोकाऽसंख्येयभागमात्रैव, श्रेणिगतान् विहाय मरणसमुद्घाते तन्निर्वर्तकाभावेन स्वस्थानकृतस्पर्शनाया एव लाभात् ।

नपुंसकवेदमार्गणायां मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धकानां स्पर्शना द्वादशरज्जुप्रमाणा भवति, षष्ठनरकनारकाणां मरणसमुद्घाते वर्तमानानां सास्वादनगुणस्थानतो मिथ्यात्वगुण-स्थानकं प्राप्तेः सद्भावात्तैः कृता पञ्चरज्जुस्पर्शना भवति, तथा तिर्यग्लोकस्थमार्गणागतान् संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्च ईषत्प्राग्भारायामुत्पित्सूनधिकृत्यैवमेवोर्ध्वलोकसत्काः सप्तभागाः स्पर्शनां प्रस्तुते प्राप्यते, एवं समुदिता द्वादशरज्जवः । सप्तमनारकापेक्षया तु लोकाऽसंख्येयभागप्रमितैव स्पर्शना स्यात् , सास्वादनादिगुणस्थानगतानां तेषां मरणस्येव मरणसमुद्घातस्याप्यभावात् । मनुष्यानधिकृत्य तु लोकाऽसंख्येयभागप्रमितैव स्पर्शना भवति । देवास्तु प्रस्तुतमार्गणाबाह्या इति । मोहनीयस्याल्पतरबन्धकानां दर्शनावरणसत्कभूयस्काराल्पतरबन्धकानाञ्च प्रस्तुते लोकाऽ-संख्येयभागप्रमाणा स्पर्शना भवति, मनुष्यान् विहाय तद्विधायकानां मरणस्य मरणसमुद्घातस्य चाभावात् , स्वस्थानकृतैव सा स्यात् । मनुष्यापेक्षया तु मरणसमुद्घातमधिकृत्यापि सा लोका-ऽसंख्येयभागप्रमिता एवेति ॥ १५६–१५८ ॥

अथ देवौघादिमार्गणासु दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धकानां स्पर्शनां प्रदर्शयन्नाह–

> सुरईसाणंतपुरिसथीतेऊसु दुइअस्स दुपयाणं ।
> मोहस्सऽप्पयरस्स य अडभागाऽत्थि णव भूअगारस्स ॥१५९॥(गीतिः)

(प्रे०) "सुरे"त्यादि, देवौघ-भवनपति व्यन्तर-ज्योतिष्क-सौधर्मे-शानमार्गणासु पुरुषवेदे स्त्रीवेदे तेजोलेश्यायाञ्चेति नवमार्गणासु दर्शनावरणसत्कभूयस्काराल्पतरबन्धका मोहनीय-स्याल्पतरबन्धकाश्चाष्टरज्जूः स्पृशन्ति स्म, देवानां गमनागमनक्षेत्रस्य तावन्मात्रत्वेन गमनागमने वर्तमानानां तेषां सम्यक्त्वगुणस्थानस्य मिथ्यात्वगुणस्थानस्य च पराप्तिभावाद् गमनागमन-क्षेत्रप्रमाणं प्रस्तुतस्पर्शनाक्षेत्रं प्राप्यते । मरणसमुद्घाते वर्तमानानां देवानामुक्तपदत्रयस्यैवा-ऽभावान्न तत्प्रयुक्ता स्पर्शना । यद्यपि स्त्रीवेदादिमार्गणात्रये पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणां भावेऽपि, तैः कृतोक्तपदत्रयस्य स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणैव प्राप्यत इति । मोहनीयस्य भूय-स्कारबन्धकानां स्पर्शना नवरज्जवः, एकेन्द्रियेषु समुत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घाते वर्तमानानां

सास्वादनगुणस्थानतो मिथ्यात्वगुणस्थानस्य लाभात् तत्र च मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धकत्वादूर्ध्वलोकसत्काः सप्तरज्जवः अधोलोकसत्के द्वे रज्जू चेति नवरज्जवः स्पर्शनाविषयतया प्राप्यन्ते, एवं च मरणसमुद्घाते गमनागमनक्षेत्रत एका रज्जुरधिका लभ्यते ॥१५९॥ एतर्हि सनत्कुमारदेवादिमार्गणासु प्राह—

दुइअतुरिआण भागा तइआइगअट्ठमंतदेवेसुं ।
पम्हाए दुपयाणं अट्ठ छ चउआणताइसुक्कासुं ॥१६०॥(गीतिः)

(प्रे०) "दुइअ" इत्यादि, सनत्कुमारादिसहस्रारकल्पपर्यवसानेषु षड्देवमार्गणासु पद्मलेश्यायाश्च दर्शनावरणमोहनीयसत्कभूयस्काराल्पतरबन्धकानां स्पर्शनाऽष्टरज्जुप्रमाणा भवति, देवानां गमनागमनकृतस्पर्शनाया एतावत्प्रमाणत्वात् । अत्र मोहनीयसत्कभूयस्कारबन्धकानां स्पर्शनाया अधिकाया अलाभस्तु तेषां देवानां गमनागमनक्षेत्रमध्ये पारभविकोत्पातक्षेत्रस्य भावात् । यद्यपि पद्मलेश्यायामुक्तपदचतुष्कबन्धकास्तिर्यग्मनुष्या अपि भवन्ति तथापि तत्कृता स्पर्शना तु लोकाऽसंख्येयभागः, यद्वा सः प्रस्तुतक्षेत्रेऽन्तर्गत इति न तमपेक्ष्य भावना कार्येति ।

आनताद्यच्युतान्तदेवभेदचतुष्के शुक्ललेश्यायाञ्चेति मार्गणापञ्चके दर्शनावरणमोहयोर्भूयस्काराल्पतरबन्धकानां स्पर्शना षड्रज्जवः, आनतादिदेवानामल्पस्नेहादिभावेन प्रायो नरकभूमिषु गमनस्याभावान्नाधोलोकसत्करज्जुद्वयस्पर्शना प्राप्यते । शेषभावना तु सनत्कुमारदेववत् कार्येति ॥१६०॥ साम्प्रतं पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणासु वक्ति—

दुपणिंदिय-तस-पणमण-वय-काय-विउव-कसाय-अजएसुं ।
णयणियर-भविय-सण्णाहारेसोघव्व दोण्ह दुपयाण ॥१६१॥(गीतिः)
एवमसुहलेसासु वि विण्णेया णवरि नीलकाऊसुं ।
एगारस णव भागा होइ कमा मोहभूअगारस्स ॥१६२॥(गीतिः)
लोगासंखियभागो अणणमए तीसु वि खलु बीअस्स ।
भूगारप्पयराणं तह अप्पयरस्स मोहस्स ॥१६३॥

(प्रे०) "दुपणिंदी"त्यादि, पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय--त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-मनोयोगौघ--तदुत्तरभेदचतुष्क--वचनयोगौघ--तदुत्तरभेदचतुष्क--काययोगौघ--वैक्रियकाययोग-कषायचतुष्काऽसंयम-चक्षुरचक्षुर्दर्शन-भव्यसंज्ञ्याहारकमार्गणासु षड्विंशतौ दर्शनावरणमोहयोर्भूयस्काराल्पतरबन्धकानां स्पर्शनौघवद् भवति, तद्यथा—दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धयो-

मोहनीयस्याल्पतरबन्धस्य च निर्वर्तकानां स्पर्शनाऽष्टौ रज्जुप्रमाणा भवति । मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धनिर्वर्तकानां तु द्वादशरज्जवः, षष्ठनैरयिकानीशानान्तदेवांश्चाधिकृत्योक्तस्पर्शनालाभात् । प्रस्तुतसर्वमार्गणासु तेषां प्रवेशादोघवत् स्पर्शना प्राप्यत इति भावः । भावनापि तद्वद्विधेयेति ॥१६१॥

कृष्णलेश्यायां स्वमते दर्शनावरणमोहनीयसत्कभूयस्काराल्पतरबन्धकानां स्पर्शनौघवत् प्राप्यते, परमते तु दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धकानां मोहनीयस्याल्पतरबन्धकानां देवानां गमनागमनक्षेत्रस्यालाभाल्लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा स्पर्शना भवति । मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धकानां स्पर्शनौघवद् द्वादशरज्जवः, तत्राप्यूर्ध्वलोकसत्का सप्तरज्जवः पञ्चेन्द्रियतिर्यगपेक्षया प्राप्यत इति ।

नीललेश्यायां स्वमते पदत्रयस्य स्पर्शनाऽष्टरज्जुप्रमाणौघवत्प्राप्यते । मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धकानां स्पर्शनैकादशरज्जुप्रमाणा भवति, अत्राऽधोलोकसत्करज्जुचतुष्कस्य स्पर्शना पञ्चमपृथ्वीनारकापेक्षया प्राप्यते; शेषा स्पर्शना कृष्णलेश्यावद् भावनीया । अन्यमते तु मोहनीयभूयस्कारबन्धकानां स्पर्शना एकादशरज्जुप्रमाणा भवति, तत्राधोलोकसत्काश्चत्वारो भागाः पञ्चमनारकैः स्पृष्टास्तथोर्ध्वलोकसत्काः सप्तभागाः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भिरिति । मोहनीयस्याल्पतरबन्धस्य दर्शनावरणभूयस्काराल्पतरबन्धयोश्चेति शेषाणां त्रयाणां पदानां बन्धकाः कृष्णलेश्यावल्लोकस्यासंख्येयभागं स्पृशन्ति । कापोतलेश्यायां स्वमते त्रयाणां पदानां बन्धका अष्ट रज्जूः स्पृशन्ति; मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धका नवरज्जूः स्पृशन्ति, भावनादिकमोघवत्कार्यम् , केवलमधोलोकसत्कौ द्वे रज्जू नारकापेक्षयाऽपि प्राप्येते; तथोर्ध्वलोकसत्काः सप्तरज्जवः पञ्चेन्द्रियतिर्यगपेक्षयाऽपि स्पर्शनाविषयतया प्राप्यन्त इति । अन्यमते तु त्रयाणां पदानां बन्धकस्पर्शना कृष्णलेश्यावल्लोकाऽसंख्येयभागः, मोहनीयभूयस्कारबन्धकानां स्पर्शना नवरज्जुप्रमाणा नारकान् पञ्चेन्द्रियतिरश्चश्चाधिकृत्य विज्ञेया । न तु देवानाश्रित्येति ॥१६२–१६३॥

अथ कार्मणयोगादिमार्गणासु प्राह–

कम्मे-ऽणाणातिगेऽणाहारे बारऽत्थि भूअगारस्स ।
मोहस्स वेअगे पण भागाऽप्पयरस्स जगअसंखंसो ॥१६४॥ (गीतिः)

(प्रे०) "कम्मे"त्यादि, कार्मणकाययोगेऽनाहारके मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञानमार्गणासु च दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धावेव न स्तः, एवं मोहनीयस्याल्पतरबन्धोऽपि नास्ति । मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धकास्तु द्वादशरज्जूः स्पृशन्ति । भावना त्वोघानुसारेणैव

यथासम्भवं कार्येति । क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां दर्शनावरणसत्कभूयस्काराल्पतरबन्धाभावा-न्मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धकानां स्पर्शना पञ्चरज्जुप्रमाणा भवति, देवनैरयिकाणां प्रस्तुतमार्ग-णायां मोहनीयस्य भूयस्काराल्पतरबन्धयोरभावान्न तदपेक्षया स्पर्शनाक्षेत्रं प्राप्यते, किन्तु तिरश्चां पञ्चमगुणस्थानकगतानां कालं कृत्वा सहस्रारं यावदुत्पादस्य भावेन देवभवप्रथमसमये भूयस्कार-बन्धभावत्तदपेक्षया सा स्पर्शना पञ्चरज्जुप्रमाणा प्राप्यते । तथा तिरश्चामल्पतरबन्धस्य स्वस्थाने एव भावात्, स्वस्थानक्षेत्रस्पर्शनायाश्च लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात्तावत्येव सा प्राप्यते । मनु-ष्यापेक्षया तु सा लोकाऽसंख्येयभागो द्वयोरपि पदयोः स्पर्शना भवति, भावना तु यथासम्भवं कार्येति ॥१६४॥

अधुनोक्तशेषमार्गणासु दर्शनावरणमोहयोर्भूयस्काराल्पतरबन्धकानां स्पर्शनां निरूपयन्नाह—

लोगासंखियभागो छुद्दिश्रो दुइअतुरिआणा सेसासु ।
भूगारप्पयराणं संतपयाणं मुणेयव्वो ॥१६५॥

(प्रे०) "लोगा" इत्यादि, नरकौघ-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पञ्चम षष्ठनरक-तिर्यग्गत्योघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ--पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्--तिरश्ची--देवौघ--भवनपत्याद्यच्युतान्तदेवभेद-पञ्चे-न्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय -त्रसकायौघ---पर्याप्तत्रसकाय- मनोयोगौघ -तदुत्तरभेदचतुष्क--वचन-योगौघ तदुत्तरभेदचतुष्क-काययोगौघौ-दारिकयोग---वैक्रियियोग-कार्मण---वेदत्रय-कषायचतुष्क-मत्यादिज्ञानत्रयाऽज्ञानत्रय-चक्षुरचक्षुर्दर्शनावधिदर्शना-ऽसंयमा ऽशुभलेश्यात्रिक-तेजःपद्मशुक्ल-लेश्यात्रिकभव्यसम्यक्त्वौघ-वेदकसम्यक्त्व-संज्ञ्या-ऽऽहारका ऽनाहारकमार्गणासु त्रिसप्ततौ प्रस्तुत-स्पर्शना दर्शिता । अनुत्तरपञ्चका-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग-ऽपर्याप्तमनुष्या-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसकाय-सप्तैकेन्द्रियनवविकलाक्ष पृथिव्यादिपञ्चकायसत्कैकोनचत्वारिंशद्भेदा ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्र- परिहारविशुद्धि-देशविरत्य-ऽभव्य-सम्यग्मिथ्यात्व- सास्वादन--मिथ्यात्वा -ऽसंज्ञि-मार्गणासु त्रिसप्ततौ दर्शनावरणमोहनीययोर्बन्धभावेऽपि न तयोर्भूयस्काराल्पतरबन्धयोः सत्त्वम्, अतो न तत्स्पर्शनाया विचारणेति। अकषाय-केवलज्ञान-यथाख्यातसंयम-केवलदर्शन मार्गणाचतुष्के दर्शनावरणमोहनीयबन्धाभावान्न तत्स्पर्शनाया अवकाशः। सूक्ष्मसम्पराये मोहनीयस्य बन्धाभावः, दर्शनावरणस्य बन्धभावेऽपि न तस्य भूयस्काराल्पतरबन्धौ । प्रथमनरक-सप्तमनरक मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्यमानुषी-नवग्रैवेयक-मनःपर्यवज्ञान संयमौघ सामायिक-च्छेदोपस्थापनीयो-पशमसम्य-क्त्व क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणासु विंशतौ दर्शनावरणमोहनीययोः प्रत्येकं भूयस्काराल्पतरबन्धकानां स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा भवति, तत्र प्रथमनरक-नवग्रैवेयक-मनःपर्यवज्ञान सामायिक-च्छेदोपस्थापनीयमार्गणासु त्रयोदशसु जीवानां स्पर्शनाक्षेत्रस्यैव लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् प्रस्तुतेऽपि तथैव स्पर्शना प्राप्यते । एवं संयमौघेऽपि, केवलं छद्मस्थमनुष्यापेक्षया भावना

कार्येति । सप्तमनरके स्वस्थनागतान् विहाय गुणपरावृत्तेरभावात्, गुणपरावृत्त्यावेव दर्शनावरणमोहनीयसत्कभूयस्काराल्पतरबन्धाः प्राप्यन्ते, अतः स्पर्शनाप्यत्र लोकाऽसंख्य-भागप्रमिता स्वस्थानकृता एव प्राप्यते । मनुष्यमार्गणात्रये द्वितीयादिद्वादशान्तगुणस्थान-गतानां स्पर्शनाया लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात्, एवं गुणपरावृत्त्या प्राप्तप्रथमसमयमिथ्या-त्वगुणानां स्पर्शनाऽपि लोकाऽसंख्येयभागमात्रैव, अतः प्रस्तुते लोकाऽसंख्येयभाग-प्रमितैव स्पर्शना दर्शिता। क्षायिकसम्यक्त्वे देवानां गमनागमनापेक्षयाऽष्टरज्जुमिता यद्यपि स्पर्शना प्राप्यते तथापि देवानां प्रस्तुतमार्गणायां केवलं चतुर्थगुणस्थानकमेव भवत्यतो न तेषां भूयस्काराल्प-तरबन्धौ भवतः, एवं नारकतिरश्चामपि, मनुष्याणां क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां नानागुणस्थान-भावेन द्वयोर्भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धकानां भावेऽपि द्वितीयादिद्वादशान्तगुणप्राप्तमनुष्याणां लोकाऽसंख्येयभागतोऽधिकस्पर्शनाया अलाभात् प्रस्तुतेऽपि तथैवेति ।

उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां देवनैरयिकाणां दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतर-बन्धयोरेवाभावः, तिरश्चां मोहनीयस्य तद्भावेऽपि उपशमसम्यक्त्वे मरणस्य मरण-समुद्घातस्य चाभावात् स्वस्थानकृतैव स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभागमात्रैव प्राप्यते । मनुष्याणां तु प्रथमोपशमसम्यक्त्वावस्थायां चातुर्गतिकानां मरणस्य मरणसमुद्घातस्य चा-भावेन प्रस्तुतेऽपि तदलाभात् स्वस्थानकृतस्पर्शना लोकाऽसंख्येयभागमात्रा भवति, श्रेणिगतो-पशमसम्यक्त्वे मरणस्य भावेऽपि स्पर्शना सूचिरूपेण सप्तरज्जुप्रमिता भवतिः घनरूपेण तु लोकाऽसंख्येयभागमात्रैव स्पर्शना प्राप्यत इति, यदि वा गुणप्राप्तानां मनुष्याणां स्पर्शनाया एव लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात्प्रस्तुतेऽपि तथैवेति ।

अपगतवेदे दर्शनावरणस्य न स्तः भूयस्काराल्पतरबन्धौ, मोहनीयस्य तयोर्बन्धकानां स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभागमात्रा भवतिः श्रेणिगतमनुष्याणामेव तल्लाभेन तेषां स्पर्शनायास्तथा-त्वात् । औदारिकमिश्रे वैक्रियमिश्रे च दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धौ मोहनीयस्याल्पतर-बन्धश्च न सन्ति । मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धोऽपि सास्वादनतो मिथ्यात्वं गतानामेव प्राप्यते, परभवतो ये सास्वादनसम्यक्त्वं समादायागतास्तेषां भवप्रारम्भे देशोनावलिकाषट्कमध्य एव मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धो भवति, अत औदारिकमिश्रे मरणसमुद्घातकृतस्पर्शनाया सास्वादन-गुणस्थानगतानामलाभः, वैक्रियमिश्रे तु मरणसमुद्घातस्यैवाभावात्तन्निषेधः । मोहनीयभूयस्कार-बन्धप्रायोग्याणां स्वस्थानकृतस्पर्शना मार्गणाद्वयेऽपि लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणेति। उत्पादापेक्षया वैक्रियमिश्रे लोकाऽसंख्येयभागमात्रा भवति, औदारिकमिश्रे तु नरकगतितो देवगतितो वा तिर्यक्षू-त्पद्यमानाः पूर्वं तिर्यग्गत्वा पश्चादूर्ध्वमधश्च दण्डं कुर्वन्ति तर्हि द्वादशरज्जुप्रमाणा स्पर्शना भवति ।

तु लोकाऽसंख्येयभागः । यद्यप्येवं तथाप्यत्र लोकाऽसंख्यभागस्यैव कथनं तु मार्गणाप्रथमसमयभाविबन्धा न भूयस्कारादिबन्धतया विवक्षिताः, द्वितीयसमयभाविभूयस्कारबन्धकास्तु लोकाऽसंख्येयभाग एवेति । तदेवमोघादेशाभ्यां दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धकानां स्पर्शना दर्शिता । आयुर्वर्जसप्तानामवस्थितबन्धकानां नानाजीवाश्रितानि परिमाणादीन्यन्तरद्वारपर्यन्तानि पञ्चद्वाराणि परिमाणद्वार एव निरूपितानि । आयुष्कसत्कद्वाराणां निरूपणा तु स्वामित्वद्वारे कृता । तदेवं समाप्तं नवमं स्पर्शनाद्वारम् ॥१६५॥

॥ श्री प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तरपयडिबंधे तृतीये भूयस्काराधिकारे स्वस्थाननिरूपणायां नवमं स्पर्शनाद्वारं समाप्तम् ॥
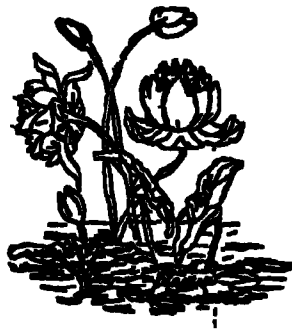
॥ दशमं नानाजीवविषयककालद्वारम् ॥

अथ दशमं नानाजीवाश्रितं कालद्वारमवसरप्राप्तं निरूपयन्नाह—

जहि जाण अवत्तव्वो आउगवज्जाण अत्थि तहि तेसिं।
से बंधगाण कालो लहू खणो संखसमयाऽणो ॥१६६॥
दुइअतुरिआण सव्वह दुपयाण लहू खणो गुरू जेसिं।
संखा सिं संखखणा अणाणावलिअसंखंसो ॥१६७॥
जहि भूगारप्पयरा णियमा णामस्स तत्थ तस्स भवे।
सि बंधगाण कालो सव्वद्धाऽणाइ लहू समयो ॥१६८॥
भूगारप्पयराणं जेसि संखाऽत्थि ताण होइ गुरू।
संखियसमयाऽणोसि आवलिआए असंखंसो ॥१६९॥

(प्रे०) "जहि" इत्यादि, ओघतो नानाजीवानधिकृत्याऽऽयुर्वर्जानां ज्ञानावरणादि-षण्णां कर्मणामवक्तव्यबन्धस्य कालो जघन्यतः समयः, उत्कृष्टस्तु संख्येयाः समयाः, उपशम-श्रेणितोऽद्धाक्षयेण भवक्षयेण वा प्रपततामेव मेन तत्प्रायोग्यजीवानामेव संख्येयत्वात्, एक-जीवापेक्षया तत्कालस्य द्विधाऽपि समयप्रमाणत्वाच्च। वेदनीयस्यावक्तव्यबन्धस्याभावात् तद्वर्जनमिति।

मार्गणास्वपि यासु मार्गणासु ज्ञानावरणादिषड्भ्यः प्रकृतिभ्यो यासामवक्तव्यबन्धो भवति, तासु मार्गणासु तासामवक्तव्यबन्धस्य जघन्यकालः समयः, उत्कृष्टतस्तु संख्येयाः समया विज्ञेयः, ओघतोऽवक्तव्यबन्धप्रायोग्याणां संख्येयत्वेन मार्गणासु ततोऽधिकानामलाभाद्, भावना त्वो-घानुसारेण कार्येति। मनुष्यौघादिपर्ञ्चा न्मार्गणासु षण्णां कर्मणां लोभमार्गणायाञ्च मोह-नीयस्यावक्तव्यबन्धो भवतीत्यवधार्यम्।

ओघतो दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्कारात्पतरबन्धकानां संख्या ज्येष्ठपदे पल्योपमस्या-संख्येयभागप्रमाणा, एकजीवमाश्रित्य जघन्यकाल उत्कृष्ट श्च समयः, केवलं मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धस्य ज्येष्ठकालः समयद्वयं भवति। अत्र नानाजीवविषयककालप्ररूपणायां भूय-स्कारादिबन्धकानामिमे नियमा अवधेयाः।

(१) यासु मार्गणासु यत्पदस्य (i) बन्धप्रायोग्यजीवाः संख्याता एव, तथा (ii) तत्प-दस्यैकजीवमाश्रित्य ज्येष्ठबन्धकालः संख्यातसमयतोऽधिको नास्ति, तासु मार्गणासु तत्पदस्य

नानाजीवानाश्रित्य बन्धकालो जघन्यतः समयः, उत्कृष्टतस्तु संख्येयाः समया भवन्ति । तथा च सति प्रस्तुत ओघतो ज्ञानावरणादीनां षण्णामवक्तव्यबन्धस्य, पर्याप्तमनुष्यादिमार्गणासु दर्शनावरणादीनां भूयस्काराल्पतरबन्धयोश्च कालो जघन्यतः समयः, उत्कृष्टतः सख्यातसमया इति ।

(२) यासु मार्गणासु यत्पदस्य (i) बन्धप्रायोग्या जीवा असंख्यलोकप्रदेशतो न्यूनाः सन्तोऽप्यसंख्येया भवन्ति, तथा (ii) तत्पदस्यैकजीवमाश्रित्य ज्येष्ठबन्धकालः संख्यातसमयतोऽधिको नास्ति, तासु मार्गणासु तत्पदस्य नानाजीवानाश्रित्य बन्धकालो जघन्यतः समयः, उत्कृष्टतस्त्वावलिकाया असंख्येयभागस्तावदसंख्यसमयमितो भवति । यथा प्रस्तुत ओघे दर्शनावरणमोहनीयसत्कभूयस्काराल्पतरबन्धस्य नानाजीवाश्रितो जघन्यकालः समयः, ज्येष्ठस्त्वावलिकाया असंख्येयभागः ।

(३) यासु मार्गणासु यत्पदस्य बन्धप्रायोग्या जीवा असंख्येयलोकाकाशप्रदेशमिता अनन्ता वा तासु तत्पदस्य नानाजीवाश्रितो बन्धकालः सर्वाद्धा भवति, यथा प्रस्तुत ओघे नाम्नो भूयस्कारादिबन्धकानां नानाजीवाश्रितः कालः सर्वाद्धा प्राप्यते । अत्रैकजीवमाश्रित्य तत्पदस्य ज्येष्ठबन्धकालः संख्येयसमयाः, असंख्येयाः समयाः, अन्तर्मुहूर्तादिर्वा भवतु तथापि नानाजीवानाश्रित्य तत्पदस्य बन्धकालः सर्वाद्धा एवेति ।

(४) यासु मार्गणासु यत्पदस्य (i) बन्धका असंख्येयलोकाकाशप्रदेशतो न्यूनाः सन्तोऽप्यसंख्येया भवन्ति, तथा (ii) तत्पदस्यैकजीवमाश्रित्य बन्धकालः सामान्यतोऽन्तर्मुहूर्तादिप्रमाणः, ततोऽप्यधिककालप्रमाणो वा भवति, तथा (iii) तत्पदस्यैकजीवमाश्रित्यान्तरं सामान्यतोऽन्तर्मुहूर्ततोऽधिकं नास्ति, तासु मार्गणासु तत्पदस्य नानाजीवानाश्रित्य बन्धकालो मार्गणाया ध्रुवत्वे सर्वाद्धारूपो भवति, मार्गणाया अध्रुवत्वे पुनर्जघन्यकाल एकजीवमाश्रित्य यावल्लभ्यते तावान् प्रस्तुते नानाजीवानाश्रित्याऽपि प्राप्यते, उत्कृष्टकालस्तु सामान्यतो नानाजीवसत्कमार्गणाज्येष्ठकालप्रमितः । यथा प्रस्तुते नरकादिमार्गणासु नाम्नोऽवस्थितबन्धस्य काल इति ।

एतान्नियमानवधार्य प्रस्तुतकालप्ररूपणा विमर्शणीयेति ।

अथ प्रकृतम्—ओघतो दर्शनावरणमोहनीयसत्कभूयस्काराल्पतरबन्धयोर्नानाजीवानाश्रित्य जघन्यकालः समयः, उत्कृष्टकाल आवलि[काया] असंख्येयभागः, भावना द्वितीयनियमानुसारेण कार्या । एवं नरकौघादिमार्गणासु, यतस्तासु तयोर्निर्वर्तका असंख्येया भवन्ति । ता मार्गणा नामत इमाः—सर्वे नरकभेदास्तिर्यग्गत्योघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यक्-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिरश्ची-देवौघ-भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क-सौधर्मादिनवमग्रैवेयकान्तैकविंशतिवैमानिकदेवभेदाः पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-मनोयोगौघ तदुत्तरभेदचतुष्क-वचन-

योगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-काययोगौघौ-दारिक-वैक्रिययोगाः, वेदत्रयम्, कषायचतुष्कम्, मति-श्रुतावधिज्ञानानि, असंयमः, चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनानि, लेश्याषट्कम्, भव्यः, सम्यक्त्वौघ-क्षयोपशमोपशमसम्यक्त्वानि संज्ञ्याहारकमार्गणा इत्यशीतिः ।

नवरमत्र मतिश्रुतावधिज्ञानावधिदर्शनसम्यक्त्वौघौ पशमसम्यक्त्वेषु दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धयोः कालः प्रकृष्टतः संख्यातसमया एव; तद्बन्धकानां संख्येयत्वात् । क्षायोपशमिके दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धयोरभावश्च विज्ञेयः ।

औदारिकमिश्रे वैक्रियमिश्रे कार्मणानाहारकयोरज्ञानत्रिके च केवलं मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धस्य कालो वाच्यः, तद्यथा—जघन्यतः समयः, उत्कृष्टस्तु आवलिकाया असंख्येयभागः ।

मनुष्यौघ--पर्याप्तमनुष्य--मानुषी--मनःपर्यवज्ञान--संयमौघ-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय-क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणासु दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्नानाजीवाश्रितो जघन्यकालः समयः, उत्कृष्टकालस्तु संख्येयाः समयाः । अपगतवेदे दर्शनावरणसत्कोक्तपदद्वयस्याभावात् केवलं मोहनीयस्य भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्नानाजीवानधिकृत्य जघन्यकालः समयः, ज्येष्ठस्तु संख्याताः समयाः । शेषासु त्रिसप्ततिमार्गणासु दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धावेव न स्तः, तथा सूक्ष्मसम्पराये दर्शनावरणस्य बन्धभावेऽपि तयोरभावः । अतो न तस्य कालप्ररूपणेति ।

ओघतो नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्नानाजीवानधिकृत्य कालः सर्वाद्धा भवति; तृतीयनियमानुसारेण भावना विधेया, अनन्तानां निगोदजीवानामपि तद्बन्धप्रायोग्यत्वात् ।

मार्गणासु पुनरेवम्—यासु चतुःषष्टिमार्गणासु नाम्नो बन्धप्रायोग्यजीवा अनन्ता असंख्यलोकप्रमाणा वा भवन्ति, तासु नाम्नो भूय राल्पतरबन्धौ सर्वाद्धा भवतः, तासु प्रत्येकं तृतीयनियमस्य प्रवेशात् ।

यासु नरकौघादिमार्गणासु नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धप्रायोग्या जीवा असंख्येयलोकतो न्यूनाः सन्तोऽप्यसंख्येया भवन्ति; तासु प्रत्येकं नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्जघन्यकालः समयः, ज्येष्ठकालस्त्वावलिकाया असंख्येयभागः, द्वितीयनियमस्य प्रवेशात् । ता मार्गणा नामत इमाः—सर्वे नरकभेदाः, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदचतुष्कम्, मनुष्यौघाऽपर्याप्तमनुष्यौ, देवौघ-भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मादिसहस्रारान्तदेवभेदाः समुदिताश्च ते द्वादश, नव विकलाक्षाणि, त्रयः पञ्चेन्द्रियाः, बादरपर्याप्तपृथिव्यप्तेजोवायुप्रत्येकवनस्पतिकायाः, त्रयस्त्रसकायाः, मनोयोगौघः, तदुत्तरभेदचतुष्कम्, वचनयोगौघः, तदुत्तरभेदचतुष्कम्,

वैक्रियकाययोग--वैक्रियमिश्र-पुरुषवेद--स्त्रीवेद--विभङ्गज्ञान--चक्षुर्दर्शन--तेजोलेश्या-पद्मलेश्या-सास्वादन-संज्ञिमार्गणा इति सर्वसंख्यया षट्षष्टिः ।

मतिश्रुतावधिज्ञानावधिदर्शन सम्यक्त्वौघ-क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणासु षट्सु नाम्नो भूयस्कारबन्धकानामसंख्येयत्वान्नानाजीवानाश्रित्य तज्जघन्यकालः समयः, उत्कृष्टकालस्त्वावलिकाया असंख्येयभागः, तथैतास्वेव नाम्नोऽल्पतरबन्धकानां संख्येयत्वात् तज्जघन्यकालः समयः, ज्येष्ठस्तु संख्येयाः समयाः, प्रथमनियमस्य विषयत्वात् ।

पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ — सामायिक--च्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धि-शुक्ललेश्यो-पशमसम्यक्त्व--क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणासु नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धप्रायोग्यजीवानां संख्येयत्वात् तयोः प्रत्येकं जघन्यबन्धकालः समयः, ज्येष्ठस्तु संख्येयाः समयाः ।

आहारकद्विके देशविरतौ च नाम्नोऽल्पतरबन्धस्याभावः, नाम्नो भूयस्कारबन्धप्रायोग्यजीवानां संख्येयत्वात्तज्जघन्यकालः समयो ज्येष्ठस्तु संख्येयाः समयाः । भावना तु प्रथमनियमानुसारेण कार्येति ।

आनताद्यष्टादशदेवभेदा--ऽपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयम-सम्यग्मिथ्यात्वसंज्ञकास्वेकविंशतिमार्गणासु नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धावेव न स्तः, अतो नास्ति नानाजीवानाश्रित्य तद्बन्धकालप्ररूपणेति ।

सप्तानामवस्थितबन्धस्यायुषोऽवक्तव्यावस्थितबन्धयोश्च नानाजीवानाश्रित्य कालप्ररूपणा प्रागतिदेशेन कृता विवृता च तत्रैवेति ततोऽवधार्या उक्तनियमचतुष्कानुसारेण च विशेषतो भावनीयेति ॥१६६-१६६॥

॥ श्री प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे स्वस्थाननिरूपणायां दशमं नानाजीवविषयक कालद्वारं समाप्तम् ॥

॥ एकादशं नानाजीवविषयकमन्तरद्वारम् ॥

अथ नानाजीवविषयकान्तरद्वारस्य निरूपणाया अवसरः, तत्रादावोघे मार्गणासु च ज्ञानावरणादीनां षण्णामवक्तव्यबन्धस्यान्तरमेकगाथया प्राह—

जहि जाणा अवत्तव्वोऽत्थि आउवज्जाण तहि लहुं समयो ।
सि तस्स बंधगाणं होइ गुरुं हायणपुहुत्तं ॥१७०॥

(प्रे०) "जहि" इत्यादि, नानाजीवानपेक्ष्यौघे ज्ञानावरणादीनां षण्णां कर्मणामवक्तव्यबन्धस्यान्तरं जघन्यतः समयः, उत्कृष्टतस्तु वर्षपृथक्त्वं भवति, उपशमश्रेणितोऽद्धाक्षयेण भवक्षयेण वा प्रपततोऽवश्यं तद्भावात्, उपशमश्रेण्यन्तरस्य यथोक्तप्रमाणत्वाच्च । मार्गणास्वपि मनुष्यौघादिपञ्चत्रिंशत् संख्याकासु ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयनामगोत्रान्तरायाणां षण्णां लोभमार्गणायां केवलं मोहनीयस्यावक्तव्यबन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, उत्कृष्टान्तरं तु वर्षपृथक्त्वम्, प्रतिमार्गणमुपशमश्रेण्यन्तरस्यैतावन्मात्रत्वात् । अथेह पृथक्त्वशब्दो बहुत्ववाची द्रष्टव्यः, येन मानुष्यादिमार्गणासु क्षपकश्रेण्यन्तरस्यापि संख्येयसहस्रवर्षप्रमाणत्वेनोपशमश्रेण्यन्तरस्य तु ततोऽधिकत्वात् । मनुष्यौघादिपञ्चत्रिंशद्मार्गणा नामत इमाः—मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-काययोगौघौ-दारिककाययोगा-ऽपगतवेद-मति-श्रुतावधि-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-चक्षुरचक्षुरवधिदर्शन-शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकौ-पशमसम्यक्त्वसंज्ञ्याहारकमार्गणाः ॥१७०॥

अथौघतो दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्नानाजीवाश्रितमन्तरं निरूपयन्नाह—

भूगारप्पयराणं ण अंतरं बंधगाण णामस्स ।
दुइअतुरिआण समयो लहुं गुरुं सत्तऽहोरत्ता ॥१७१॥

(प्रे०) "भूगारे"त्यादि, ओघतो नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तरं नास्ति, निगोदजीवानामपि तन्निर्वर्तकत्वेन तद्बन्धकानां सर्वदैव लाभात् । दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्जघन्यान्तरं समयः, उत्कृष्टान्तरं तु सप्ताहोरात्राणि, उक्तकर्मद्वयस्य भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धकानामत्यल्पत्वात् सान्तरत्वम्, सम्यक्त्वप्रतिपत्तेः तत्प्रतिपातस्य चान्तरं सप्ताऽहोरात्रप्रमाणमेव, तयोश्चावश्यं यथार्हं दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धलाभेनोक्तान्तरतोऽधिकान्तरस्यासम्भवात् ॥१७१॥

अथ यासु मार्गणासु नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तरं नास्ति तासु तन्निषेधयन् शेषासु तज्जघन्यतः प्रतिपादयन् प्रसङ्गतो दर्शनावरणमोहनीययोरपि भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्जघन्यान्तरं प्रतिपादयन्नाह—

जहि सव्वद्धा कालो णामस्स उ बंधगाण दुपयाणं ।
तहि णंतरमण्णाहि तह सव्वह दुइअतुरिआण लहु समयो ॥१७२॥ (गीतिः)

(प्रे०) "जही"त्यादि, यासु तिर्यग्गत्योघादिचतुःषष्टिमार्गणासु नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धकानामतिप्रभूतत्वेन तत्कालस्य सर्वाद्धाया भावादेव तास्वन्तराभावः सिद्धस्तथापि स्पष्टतार्थं दर्शितः । उक्तातिरिक्तासु यासु नाम्न उक्तपदद्वयस्य सम्भवस्तासु तद्बन्धकानां जघन्यान्तरं समयः, तद्बन्धकानामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशसंख्यातोऽल्पत्वेन सार्वकालिकत्वाभावात् तदन्तरस्य लाभः, विवक्षितभावं निर्वर्त्य समयमन्तरयित्वा तेनाऽन्येन वा जीवेन पुनस्तन्निर्वर्तनात् ।

दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्यासु सम्भवस्तासु तदन्तरं जघन्यतः समयो भवति । तद्यथा—विवक्षितसमये ओघे विवक्षितमार्गणासु वा कश्चिज्जीवो सम्यक्त्वं प्राप्तस्तस्मिंश्च समये तस्य दर्शनावरणमोहनीययोरल्पतरबन्धो भवति, यदा द्वितीये न कोऽपि सम्यक्त्वादि प्रतिपद्यते, पुनस्तृतीयसमये केनाऽपि तत्प्राप्तौ सत्यां तयोरल्पतरबन्धस्य भावात् समयमन्तरं जघन्यतया प्राप्यत इति । एवं भूयस्कारबन्धस्यान्तरं यथासंभवं भावनीयमिति ॥१७२॥

अथ दर्शनावरणमोहनीयसत्कभूयस्काराल्पतरबन्धयोर्ज्येष्ठान्तरं निरूरूपयिषुरादौ तावद् यासु दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धाभावादेवं मोहनीयस्याल्पतरबन्धाभावाच्च केवलं मोहनीयभूयस्कारबन्धस्यान्तरं भवति तासु तज्ज्येष्ठं दर्शयन्नाह—

पल्लासंखियभागो जेट्ठं मोहस्स भूअगारस्स ।
मीसदुगजोगकम्मणतिअण्णाणेसुं अणाहारे ॥१७३॥

(प्रे०) "पल्लासंखिय"इत्यादि, औदारिकमिश्र–वैक्रियमिश्र–कार्मणयोगा–ऽनाहारकमार्गणास्वज्ञानत्रये च सास्वादनतो मिथ्यात्वगमने एव मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धो भवति, सास्वादनगुणस्थानकान्तरस्यौघवत् एतासु प्रत्येकं च पल्योपमस्यासंख्येयभागमात्रत्वात्, सास्वादनगुणकालस्योत्कृष्टतः षडावलिकाप्रमाणत्वात् ततो मिथ्यात्वगुणस्थाने एव गमनाच्चोक्तान्तरतोऽधिकान्तरस्यानवकाश इति तथा दर्शितम् ॥१७३॥

अथ मतिज्ञानादिमार्गणासु दर्शनावरणमोहनीयसत्कभूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तरं दर्शयन्नाह—

वासपुहत्तमवेए अप्पयरस्स हवए छमासा उ ।
बीअस्सऽप्पयरस्स छ मासाऽत्थि दुणाणासम्मखइएसुं ॥१७४॥ (गीतिः)
ओहिदुगेऽब्दपुहुत्तं अहियसमा वाऽत्थि छसु वि एआसुं ।
भूगारस्स उवसमे दुपयाण वि हायणपुहुत्तं ॥१७५॥
एआसु सत्तसु तहा वेअगसम्मम्मि मोहणीयस्स ।
भूगारप्पयराणं चउदसदिवसा भवे जेट्ठं ॥१७६॥

(प्रे०) "वासे"त्यादि, "'जेट्ठं मोहस्स भूअगारस्स" इति पदत्रयं पूर्वतोऽनुवर्तते, तत्र ज्येष्ठमितिपदं गाथाद्वयं यावदनुवर्तनीयम् , तेनापगतवेदमार्गणायां मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धस्यान्तरं वर्षपृथक्त्वं भवति, उपशमश्रेणितोऽवरोहकस्यैव तद्भावेनोपशमश्रेण्योर्ज्येष्ठान्तरस्य तथात्वात् । मोहनीयसत्काल्पतरबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं षण्मासा भवति, क्षपकश्रेणावपि तद्भावेन क्षपकश्रेण्यन्तरस्य च तथात्वात् । अत्रापगतवेदे दर्शनावरणसत्कभूयस्काराल्पतरबन्धयोरेवाभावाच्च तदन्तरस्यावकाशः ।

मतिज्ञानश्रुतज्ञानसम्यक्त्वौघक्षायिकसम्यक्त्वमार्गणासु दर्शनावरणसत्काल्पतरबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं षण्मासाः, एतासु क्षपकश्रेण्यन्तरस्य तथात्वात् , अवधिज्ञानावधिदर्शनमार्गणाद्वये दर्शनावरणसत्काल्पतरबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं साधिकवर्षम् , मतान्तरे पुनर्वर्षपृथक्त्वम् , क्षपकश्रेण्यन्तरस्य तथात्वात् । श्रेणिद्वयं विहायैतासु सप्तसु दर्शनावरणस्याल्पतरबन्धो न प्राप्यते, उपशमश्रेण्यन्तरस्य तु वर्षपृथक्त्वप्रमाणत्वात् क्षपकश्रेण्यपेक्षयैव प्रस्तुतान्तरस्य लाभात् तथा दर्शितम् ।

उक्तमतिज्ञानादिमार्गणाषट्के दर्शनावरणस्य भूयस्कारबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं वर्षपृथक्त्वमुपशमश्रेणावेव तल्लाभादुपशमश्रेण्यन्तरस्य तथात्वाच्च । उपशमसम्यक्त्वे दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धयोः प्रत्येकं ज्येष्ठान्तरं वर्षपृथक्त्वं भवति, उपशमश्रेणावेव तल्लाभादुपशमश्रेण्यन्तरस्य तथात्वाच्च । एतासु मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानावधिदर्शनसम्यक्त्वौघोपशमसम्यक्त्वक्षायिकसम्यक्त्वमार्गणासु सप्तसु क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां चेत्यष्टसु मोहनीयस्य भूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तरं चतुर्दशाऽहोरात्राणि, एतास्वाद्यगुणस्थानत्रयाभावेन न सम्यक्त्वमिथ्यात्वगुणद्वयपरावृत्त्या मोहनीयस्य भूयस्काराल्पतरबन्धौ लभ्येते, अतश्चतुर्थपञ्चमगुणस्थानपरावर्तनेन पदद्वयस्य ज्येष्ठान्तरं भावनीयम् , देशविरतिप्राप्तेस्तत्प्रतिपातस्य चान्तरं नानाजीवानधिकृत्य चतुर्दशाऽहोरात्राणि भवति, श्रीमदाऽऽवश्यकसूत्रनिर्युक्ति-भाष्यानुसारेण तु

द्वादशाऽहोरात्राणीति । सप्तसु दर्शनावरणसत्कभूयस्काराल्पतरबन्धान्तरं प्रागेव दर्शितम्, क्षयोपशमसम्यक्त्वे च तत्पदद्वयस्यैवाभावान्न तत् प्ररूपणा इति ॥१७४-१७६॥

अथ मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणासु यासु श्रेण्यपेक्षयैव दर्शनावरणमोहनीयसत्कभूयस्काराल्पतरबन्धौ प्राप्येते तासु शेषासु च तयोर्ज्येष्ठान्तरं निगदन्नाह–

मणणाणेऽहपुहुत्तं दुइअचउत्थाण उ दुपयाणेवं ।
विरइसमइएसु परं दोराहऽप्पयरस्स छम्मासा ॥१७७॥
अट्ठारकोडिकोडी अयरा छेअम्मि दुइअतुरिआणं ।
दोराह वि पयाण जेट्ठं हवेज्ज सेसासु सत्तदिणा ॥१७८॥

(प्रे०) "मणणाणे" इत्यादि, मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धकानां वर्षपृथक्त्वमन्तरम्=संख्येयवर्षसहस्राण्यन्तरं विज्ञेयम्, मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां क्षपकश्रेणेरन्तरस्य संख्येयवर्षसहस्रप्रमाणस्य सिद्धप्राभृतादौ दर्शनात्, उपशमश्रेण्यन्तरस्य ततोऽप्यधिकत्वाच्च ।

संयमौघे सामायिकसंयतमार्गणायां च दर्शनावरणमोहनीयसत्काल्पतरबन्धस्यान्तरं षण्मासा भवति, नानाजीवापेक्षया उक्तमार्गणाद्वये क्षपकश्रेण्यन्तरस्य तथात्वात् । उक्तमार्गणाद्वये निरुक्तकर्मणो भूयस्कारबन्धस्यान्तरं वर्षपृथक्त्वं भवति, उपशमश्रेण्यन्तरस्य वर्षपृथक्त्वप्रमाणत्वात्, अत्र उपशमश्रेणेरन्तरं यावदोघतः प्राप्यते तावत् प्रस्तुतमार्गणाद्वयेऽपीत्यवधेयम् ।

छेदोपस्थापनीयसंयमे दर्शनावरणमोहनीयसत्कभूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तरं देशोनाः सागरोपमाणामष्टादशकोटिकोटयो विज्ञेयम्, नानाजीवापेक्षया मार्गणान्तरस्य तावन्मात्रत्वात् । एवं देशोनगाथाषट्केन मार्गणानां विंशतौ यथासम्भवं दर्शनावरणमोहनीयसत्कभूयस्काराल्पतरबन्धकानामन्तरमुक्तम् ।

गाथार्धेन तु शेषमार्गणासु दर्शनावरणमोहनीयसत्कभूयस्काराल्पतरबन्धेभ्यो यासु यासु यद् यत् पदं सम्भवति तासु तस्यान्तरं सप्ताहोरात्राणि भवतीति दर्शितम्, एतासु प्रत्येकं सम्यक्त्वमिथ्यात्वगुणद्वयपरावृत्त्यन्तरस्य तथात्वात् । शेषमार्गणा नामत इमाः–नरकौघः, सप्तनरकभेदाः, तिर्यग्गत्योघः, पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्तिरश्चीमार्गणात्रयम्, मनुष्यमार्गणात्रिकम्, देवौघ-भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क-सौधर्मादिनवमग्रैवेयकान्तपञ्चविंशतिदेवभेदाः, पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियौ, त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकायौ, मनोयोगौघः,

चत्वारस्तदुत्तरभेदाः, वचनयोगौघः, तदुत्तरभेदचतुष्कम्, काययोगौघौदारिक-वैक्रियकाययोगाः, वेदत्रयम्, कषायचतुष्कम्, असंयमः, चक्षुरचक्षुर्दर्शने, लेश्याषट्कम्, भव्यः, संज्ञ्याहारकौ चेति षट्सप्ततिः। विशेषभावना त्वोघानुसारेण स्वयं कार्या सुगमा चेति। शेषासु चतुःसप्ततिमार्गणासु दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धाभावान्न तदन्तरस्यावकाश इति। चतुःसप्ततिमार्गणा नामत इमाः—अनुत्तरसुरपञ्चकाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग-ऽपर्याप्तमनुष्याऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसकाय-सप्तैकेन्द्रिय नवविकलाक्ष पृथिव्यादिपञ्चकायसत्कैकोनचत्वारिंशद्भेदा-ऽऽहारकद्विक-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसम्पराय-देशविरत्य-ऽभव्य-सम्यग्मिथ्यात्व-सास्वादन-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञिमार्गणाः। एकेन्द्रियौघादिकासुचिद्मार्गणासु सास्वादनभावस्याभ्युपगमे तासु मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धान्तरं नानाजीवानाश्रित्यौदारिकमिश्रमार्गणोक्तवद्विज्ञेयमिति। अकषाय-केवलज्ञान-यथाख्यातसंयम--केवलदर्शनमार्गणाचतुष्के पुनर्मूलत एव तयोर्बन्धाभावोऽस्ति॥१७७-१७८॥

अथ नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तरं यासु भवति तासु तदुत्कृष्टतः प्राह—

पल्लासंखंसो गुरुमपज्जणरसासयोसु उ हुत्ता।
बार विउवमीसे सरपुहुत्तमाहारदुगउवसमे॥१७९॥ (गीतिः)
अट्ठारकोडिकोडी अयरा होइ परिहारछेएसुं।
देसे जिणणावबंधगसममणसुं हुत्तंतो॥१८०॥

(प्रे०) "पल्ले"त्यादि, अपर्याप्तमनुष्यसास्वादनमार्गणाद्वये नानाजीवापेक्षया मार्गणान्तरस्य पल्यासंख्येयभागप्रमाणत्वेनोक्तमार्गणाद्वये नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोरपि ज्येष्ठान्तरं पल्योपमाऽसंख्येयभागप्रमाणमेव विज्ञेयमिति। एवं वैक्रियमिश्रे द्वादशमुहूर्ते प्रकृष्टान्तरमुक्तपदद्वयस्य आहारकद्विके नाम्नः केवलं भूयस्कारबन्धस्यैव भावात् तस्य वर्षपृथक्त्वमन्तरं भवति। उपशमसम्यक्त्वे उपशमश्रेणिगतानपेक्ष्य प्रस्तुतान्तरं वर्षपृथक्त्वं भवति, श्रेण्यन्तरस्य तथात्वात्। छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिमार्गणयोरष्टादशसागरोपमकोटिकोटयः। एता अष्ट मार्गणा अध्रुवा अतो मार्गणाज्येष्ठान्तरं प्रस्तुतज्येष्ठान्तरतया विज्ञेयम्। देशविरतिमार्गणाया ध्रुवत्वेऽपि तत्र जिननामनूतनबन्धप्रारम्भकृत एव भूयस्कारबन्धः केवलं मनुष्येषु लभ्यते, अतो न तस्यामन्तर्मुहूर्तप्रमाणमन्तरम्, किन्तु तस्यां नूतनबन्धारम्भकानां यावदन्तरं तावत्प्रस्तुतेऽन्तरं विज्ञेयम्, तच्च वर्षपृथक्त्वमिति। तिर्यग्गत्योघादिचतुःषष्टिमार्गणासु नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तराभावः। आनतायष्टादशदेवभेदेषु अपगतवेदे सूक्ष्मसम्पराये सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायाञ्च नाम्नो भूयस्काराल्प-

तरबन्धयोरेवाभावः । शेषासु षट्सप्ततिमार्गणासु नाम्नो भूयस्काराल्पतरपदाभ्यां सम्भवत्त्वपदस्य बन्धकानामन्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, नानाबन्धस्थानभावेन परावर्तमानेन तद्बन्धनात्, कासुचिन्मतिज्ञानादिमार्गणासु संयतानपेक्ष्य षष्ठसप्तमगुणपरावर्तनेनाऽऽहारकद्विकबन्धस्यापि परावर्तनाद् भूयस्काराल्पतरबन्धावन्तर्मुहूर्तेऽवश्यं लभ्येते इति भावनीयम् । शेषमार्गणा नामतः पुनरिमाः—अष्टौ नरकभेदाः, चत्वारः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, मनुष्यभेदत्रिक-देवौघ-भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क-सौधर्मादिसहस्रारान्तदेवमार्गणा-नवविकलाक्ष-पञ्चेन्द्रियत्रिक-बादरपर्याप्तपृथ्व्यप्तेजोवायुप्रत्येकवनस्पतिकाय-त्रसकायत्रिकमनोयोगौघ तदुत्तरभेदचतुष्क--वचनयोगौघ--तदुत्तरभेदचतुष्क-वैक्रियकाययोग-स्त्रीपुरुषवेद-मतिश्रुतावधिमनःपर्यवज्ञानविभङ्गज्ञान--संयमौघ-सामायिक--चक्षुरवधिदर्शनतेजोलेश्या-पद्मलेश्या-शुक्ललेश्या--सम्यक्त्वौघ-क्षयोपशम- क्षायिकसम्यक्त्व-संज्ञिमार्गणा. । अत्र मतिश्रुतावधिमनःपर्यवज्ञानावधिदर्शनसंयमौघ--सामायिकसंयम-सम्यक्त्वौघ -क्षयोपशम-क्षायिकसम्यक्त्व--शुक्ललेश्यामार्गणासु संयतानधिकृत्याऽऽहारकद्विकबन्धाबन्धप्रयुक्तयोर्नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्ज्येष्ठान्तरमन्तर्मुहूर्तप्रमाणं विज्ञेयम्, तदन्यप्रकारेण तु ततोऽधिकान्तरस्यैव लाभात् । शेषमार्गणासु तु मिथ्यादृशां बन्धस्थानपरावृत्त्या ज्येष्ठान्तरं भावनीयम् । तदेवं नानाजीवानाश्रित्य नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तरं मार्गणास्वपि निरूपितम् ।

सप्तानामवस्थितबन्धस्याऽऽयुष्कस्य [illegible] वक्तव्यावस्थि [illegible] न्धयोः प्रस्तुतान्तरं प्रागेवातिदेशेन निरूपितम्, तत्र च वृत्तौ दर्शितमिति नात्र भूयस्तन्निरूपयामः, [illegible] एव तन्निरूपणा अवधार्या इति ॥१७१-१८०॥

॥ श्रीप्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे स्वस्थाननिरूपणायामेकादशं नानाजीवाश्रितमन्तरद्वारं समाप्तम् ॥

चत्वारस्तदुत्तरभेदाः, वचनयोगौघः, तदुत्तरभेदचतुष्कम्, काययोगौघौदारिक-वैक्रियकाययोगाः, वेदत्रयम्, कषायचतुष्कम्, असंयमः, चक्षुरचक्षुर्दर्शने, लेश्याषट्कम्, भव्यः, संज्ञ्याहारकौ चेति षट्सप्ततिः। विशेषभावना त्वोघानुसारेण स्वयं कार्या सुगमा चेति। शेषासु चतुःसप्ततिमार्गणासु दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धाभावान्न तदन्तरस्यावकाश इति। चतुःसप्ततिमार्गणा नामत इमाः—अनुत्तरसुरपञ्चका-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग-ऽपर्याप्तमनुष्या-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसकाय-सप्तैकेन्द्रिय नवविकलाक्ष पृथिव्यादिपञ्चकायसत्कैकोनचत्वारिंशद्भेदा-ऽऽहारकद्विक-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसम्पराय-देशविरत्य-ऽभव्य-सम्यग्मिथ्यात्व-सास्वादन-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञिमार्गणाः। एकेन्द्रियौघादिकासुचिद्मार्गणासु सास्वादनभावस्याभ्युपगमे तासु मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धान्तरं नानाजीवानाश्रित्यौदारिकमिश्रमार्गणोक्तवद्विज्ञेयमिति। अकषाय-केवलज्ञान-यथाख्यातसंयम-केवलदर्शनमार्गणाचतुष्के पुनर्मूलत एव तयोर्बन्धाभावोऽस्ति ॥१७७-१७८॥

अथ नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तरं यासु भवति तासु तदुत्कृष्टतः प्राह—

पल्लासंखंसो गुरुमपज्जणरसासणेसु उ हुत्ता ।
बार विउवमीसे सरपुहुत्तमाहारदुगउवसमे ॥१७९॥ (गीतिः)
अट्ठारकोडिकोडी अयरा होइ परिहारछेए ।
देसे जिणणवबंधगसममरणासुं हुत्तंतो ॥१८०॥

(प्रे०) "पल्ले"त्यादि, अपर्याप्तमनुष्यसास्वादनमार्गणाद्वये नानाजीवापेक्षया मार्गणान्तरस्य पल्यासंख्येयभागप्रमाणत्वेनोक्तमार्गणाद्वये नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोरपि ज्येष्ठान्तरं पल्योपमाऽसंख्येयभागप्रमाणमेव विज्ञेयमिति। एवं वैक्रियमिश्रे द्वादशमुहूर्तं प्रकृष्टान्तरमुक्तपदद्वयस्य आहारकद्विके नाम्नः केवलं भूयस्कारबन्धस्यैव भावात् तस्य वर्षपृथक्त्वमन्तरं भवति। उपशमसम्यक्त्वे उपशमश्रेणिगतानपेक्ष्य प्रस्तुतान्तरं वर्षपृथक्त्वं भवति, श्रेण्यन्तरस्य तथात्वात्। छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिमार्गणयोरष्टादशसागरोपमकोटिकोटयः। एता अष्ट मार्गणा अध्रुवा अतो मार्गणाज्येष्ठान्तरं प्रस्तुतज्येष्ठान्तरतया विज्ञेयम्। देशविरतिमार्गणाया ध्रुवत्वेऽपि तत्र जिननामनूतनबन्धप्रारम्भकत एव भूयस्कारबन्धः केवलं मनुष्येषु लभ्यते, अतो न तस्यामन्तर्मुहूर्तप्रमाणमन्तरम्, किन्तु तस्यां नूतनबन्धारम्भकानां यावदन्तरं तावत्प्रस्तुतेऽन्तरं विज्ञेयम्, तच्च वर्षपृथक्त्वमिति। तिर्यग्गत्योघादिचतुःषष्टिमार्गणासु नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तराभावः। आनताद्यष्टादशदेवभेदेषु अपगतवेदे सूक्ष्मसम्पराये सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायाञ्च नाम्नो भूयस्काराल्प-

॥ त्रयोदशमल्पबहुत्वद्वारम् ॥

एतर्हि त्रयोदशाल्पबहुत्वद्वारस्य निरूपणाया अवसरः, तत्रादौ तावदोघतः प्राह—

थोअन्ति बंधगाऽव्वाऽवत्तव्वस्सऽज्जगोअविग्घाणं ।
ताओ अवट्ठिअस्स अणंतगुणा णत्थि वेअस्स ॥१८२॥

(प्रे०) "थोअन्ति" इत्यादि, ओघतो ज्ञानावरणगोत्रान्तरायाणां त्रयाणां प्रत्येकमवस्थितावक्तव्यपदद्वयस्य भावात्तयोर्बन्धकानामल्पबहुत्वं वक्तव्यं भवति, तत्रावक्तव्यबन्धकाः स्तोकाः, संख्यातानामेव भावात्ततोऽवस्थितबन्धका अनन्तगुणाः, उपशमश्रेण्यवरोहकेभ्यः प्रथमसमयबन्धकान् विमुच्य शेषाणां निगोदपर्यवसानानां तद्बन्धकानामवस्थितपदबन्धकत्वान्निगोदजीवानामानन्त्याच्च । वेदनीयस्य केवलमेकस्यैव पदस्यावस्थितरूपस्य भावादल्पबहुत्वमेवं न भवति, द्व्यादिपदानां भाव एव तत्सम्भवात् ॥१८२॥

सम्प्रति दर्शनावरणमोहनीययोश्चतुर्णां पदानां भावात्तेषां बन्धकानामल्पबहुत्वमोघतः प्राह—

थोवाऽवत्तव्वस्स उ दुइअचउत्थाण बंधगा तत्तो ।
दुपयाण असंखगुणा तोऽणंतगुणा अवट्ठिअस्सऽत्थि ॥१८३॥ (गीतिः)

(प्रे०) "थोवा" इत्यादि, दर्शनावरणस्यावक्तव्यबन्धकाः स्तोकाः संख्येयानामेव तद्भावात्, ततो भूयस्काराल्पतरबन्धकाः प्रत्येकमसंख्येयगुणाः, मिथ्यात्वतः सम्यक्त्वगुणं प्रपद्यमानानां सम्यक्त्वगुणतः प्रपततां च जीवानां पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणानां भावात्, असंख्येयगुणत्वम् । अत्र सामान्यतो भूयस्काराल्पतरबन्धकयोस्तुल्यत्वम्, विशेषचिन्तायां भूयस्कारबन्धकेभ्योऽल्पतरबन्धका विशेषाधिकाः, क्षपकश्रेण्यारोहकाणामल्पतरबन्धनिर्वर्तकत्वेऽपि भूयस्कारबन्धस्यानर्हत्वात्, शेषस्थाने तूभयोः समानप्रायत्वात् । ततोऽवस्थितबन्धका अनन्तगुणाः, निगोदजीवानामपि तद्भावात् । एवमेव मोहनीयस्याप्यल्पबहुत्वं वाच्यम्, केवलं भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्विशेषो दर्शितानुसारेण स्वयं परिभावनीय इति ॥१८३॥

अथ नाम्नो भूयस्कारादिबन्धकानामल्पबहुत्वं निरूपयति—

णामस्स बंधगाऽव्वाऽवत्तव्वस्सऽत्थि तो अणंतगुणा ।
भूगारप्पयराणं असंखियगुणा अवट्ठिअस्स तओ ॥१८४॥(गीतिः)

(प्रे०) "णामस्से"त्यादि, नाम्नोऽवक्तव्यबन्धकाः स्तोकाः, श्रेण्यवरोहकाणामेव तद्भावेन संख्येयमात्रत्वात्, ततो भूयस्काराल्पतरबन्धका अनन्तगुणाः, निगोदजीवानामपि तयो-

॥ द्वादशं भावद्वारम् ॥

अथ द्वादशं भावद्वारं दर्शयन्नाह–

भावेणोदइएणं अट्ठराह सयलपयाण बंधोऽत्थि ।
सप्पाउग्गपयाणं अट्ठराहेमेव सव्वत्थ ॥१८१॥

(प्रे०) "भावेणे"त्यादि, अत्र त्रिकालाऽबाधिते स्याद्वादगर्भिते सर्वज्ञप्ररूपिते शेषतीर्थिकैरप्राप्तरहस्यार्थेऽनन्तभवभ्रमणनिराकरणैकसमर्थे परमपदप्रापके श्रीजिनशासने सर्वपदार्थानां विशदावबोधार्थं नामादिनिक्षेपैः प्ररूपणा कृता, तत्र निक्षेपाणां नयभेदैः प्ररूपणाऽऽक्षेपपरिहारौ च श्रीमदुत्तराध्ययनबृहद्वृत्तितोऽवधेयाः । प्रस्तुते भूयस्कारादिबन्धानां भावप्ररूपणा कार्या, तत्र भावो द्रव्यस्य भवति, बन्धो नाम द्रव्यद्वयस्य परस्परं सम्बन्धविशेषः, ततो जीवस्य प्राग्बद्धस्य कर्मण उदयेनौदारिकादिपुद्गलद्रव्यैः सह सम्बन्धो भवति, तद्विशेषश्च कार्मणशरीरबन्धः, तद्विशेषश्च भूयस्कारादिचतुष्प्रकारोऽपि बन्धः, अतो बन्धस्यैवौदयिकभावहेतुत्वेन तदवान्तरभेदस्यापि तद्धेतुत्वं सुबोध्यमिति ॥१८१॥

॥ श्रीप्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे स्वस्थाननिरूपणायां द्वादशं भावद्वारं समाप्तम् ॥

(प्रे०) "णत्थि" इत्यादि, सर्वनरकभेद-पञ्चेन्द्रियतिर्यक्त्रिक-देवौघादिसहस्रारान्त-द्वादशदेवभेद-वैक्रियकाययोग-स्त्रीवेद पुरुषवेद-तेजोलेश्या पद्मलेश्यामार्गणास्वष्टाविंशतौ प्रत्येकं ज्ञानावरणवेदनीयगोत्रान्तरायाणां चतुर्णां केवलमवस्थितबन्धस्यैव भावान्न तेषामल्पबहुत्वम् । दर्शणावरणमोहनीयनाम्नामवक्तव्यबन्धाभावस्तेन तेषां त्रयाणां भूयस्काराल्पतरबन्धकाः स्तोकाः, प्रत्येकं जीवानामसंख्यत्वे सति तदसंख्येयभागप्रमाणानामसंख्येयजीवानां तद्बन्धकत्वात् । परस्परं विशेषस्तु स्वयं श्रुतानुसारेण विज्ञेयः । ततोऽवस्थितबन्धका असंख्येयगुणाः, असंख्येयबहुभागानां तन्निर्वर्तनात् । भावना तु सुगमा ओघानुसारेण मार्गणागतजीवानां परिमाणमवधार्य सर्वत्र कार्येति ॥१८७-१८८॥

अथ तिर्यग्गत्योघादिमार्गणासु तत्प्रदर्शयन्नाह—

णत्थि चउगह तिरि-णपुम-तिकसाएसु अजए लेसासु ।
दुपयाउ अणंतगुणा अवट्ठिअस्सऽत्थि दुइअतुरिआणं ॥१८९॥(गीतिः)
भूगारप्पयराणं णेया णामस्स बंधगा थोवा ।
ताउ असंखेज्जगुणा अवट्ठिअस्स य मुणेयव्वा ॥१९०॥

(प्रे०) "णत्थि" इत्यादि, तिर्यगोघनपुंसकवेदक्रोधमानमायाकषायाऽसंयमकृष्णनील-कापोतलेश्यामार्गणासु नवस्वल्पबहुत्वमोघवद् भवति, केवलं ज्ञानावरणादिषण्णामवक्तव्यबन्धा-भावेन दर्शनावरणमोहनाम्नां तत्रोक्तद्वितीयपदस्य बन्धका अत्र स्तोका वक्तव्या इति विशेषः । अत एव ज्ञानावरणवेदनीयगोत्रान्तरायाणां चतुर्णां केवलमवस्थितपदस्यैव भावात्तेषां चतुर्णां कर्मणामल्पबहुत्वं नास्तीत्यवधार्यम् । दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्काराल्पतरबन्धकाः कास्तो-स्ततोऽवस्थितस्य बन्धका अनन्तगुणाः । नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थित-स्य बन्धका असंख्येयगुणाः । भावना तु त्रयाणामपि कर्मणामोघवत् कार्येति ॥१८९ १९०॥

असमत्तपणिंदितिरियमणुयपणिंदियतसेसु सव्वेसु ।
एगिंदियविगलिंदियपणकायेसु अभवियम्मि ॥१९१॥
सासणमिच्छत्तेसुं अमणे छण्ह ण पयाण दोण्हऽप्पा ।
णामस्स बंधगा तो अवट्ठिअस्स य असंखगुणा ॥१९२॥

(प्रे०) "असमत्तपणिंदि" इत्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्दियतिर्यगादित्रिषष्टिमार्गणासु नामकर्म विहाय ज्ञानावरणादिषण्णां केवलमवस्थितबन्धस्यैव भावान्नास्ति तेषामल्पबहुत्वम्, नाम्नो-

निर्वर्तकत्वात्, तयोः परस्परं विशेषस्तु श्रुतानुसारेण युक्त्या च बहुश्रुतेभ्यो विज्ञेय इति। ततोऽवस्थितबन्धका असंख्येयगुणाः, परावर्तमानभावे भूयस्कारान्पतरबन्धकालेभ्य अवस्थितबन्धकालस्यासंख्येयगुणत्वात् ॥१८४॥

अधुनाऽऽयुर्बन्धकानां पदद्वयस्याल्पबहुत्वमोघतो मार्गणासु च वक्ति—

आउस्स असंखगुणाऽवत्तव्वा बंधगाउगस्सेवं ।
सव्वह परमत्थि जहि संखा तहि न्ति संखगुणा ॥१८५॥

(प्रे०)"आउस्से"त्यादि, आयुषोऽवक्तव्यबन्धकाः स्तोकाः, सर्वत्राऽऽयुर्बन्धकालस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणे सति तत्राऽवक्तव्यबन्धकालस्य समयमात्रत्वात्, ततोऽवस्थितबन्धकालस्यासंख्येयगुणत्वेनाऽवक्तव्यबन्धकेभ्योऽवस्थितबन्धका असंख्येयगुणा भवन्ति। एवमायुषः पदद्वयस्याल्पबहुत्वं मार्गणास्वपि यत्राऽसंख्येया अनन्ता वा जीवा आयुर्बन्धका भवन्ति तत्र सर्वत्र विज्ञेयम्। यासु पुनरायुर्बन्धका जीवाः संख्येया एव भवन्ति, तासु पर्याप्तमनुष्याद्येकोनत्रिंशद्मार्गणास्वायुषोऽवक्तव्यबन्धकेभ्य आयुषोऽवस्थितपदबन्धकाः संख्येयगुणा एव विज्ञेया इति। एकोनत्रिंशद्मार्गणा नामतः पुनरिमाः—पर्याप्तमनुष्य–मानुष्यानताद्यष्टादशदेवभेदा–ऽऽहारकद्विक-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिसंयम- शुक्ललेश्या-क्षायिक-सम्यक्त्वमार्गणा इति ॥१८५॥

सम्प्रति यासु सप्तानां भूयस्कारादिपदबन्धकानामल्पबहुत्वमोघवद् भ ति तासु तदतिदेशेनाह-

ओघव्व बंधगाणं संतपयाणऽत्थि आउवज्जाणं ।
कायुरलाचक्खुसुं भवियाहारेसु अप्पबहू ॥१८६॥

(प्रे०)"ओघव्वे"त्यादि, काययोगौघौदारिककाययोगाऽचक्षुर्दर्शन-भव्याहारकमार्गणासु पञ्चस्वायुर्वर्जानां सप्तानां प्रत्येकं भूयस्कारादिबन्धकानामल्पबहुत्वमोघवद् भवति, ओघवत् पदानां ओघवत् तत्तत्पदबन्धकपरिमाणस्य च भावात्, भावनाऽप्योघवत् ति ॥१८६॥

अथाऽन्यमार्गणासु सप्तानां भूयस्कारादिबन्धकानामल्पबहुत्वमाह—

णत्थि चउण्ह खलु सयलणारगतिपणिंदितिरियदेवेसुं ।
अट्ठमकप्पंतविउवइत्थिपुरिसतेउपम्हासुं ॥१८७॥
भूगारप्पयराणं कम्माणं दुइअतुरिअछट्ठाणं ।
थोवाऽत्थि बंधगा तो अवट्ठिअस्स य असंखगुणा ॥१८८॥

स्तोकाः, ततो भूयस्काराल्पतरबन्धकाः प्रत्येकं संख्येयगुणाः, ततोऽवस्थितपदबन्धकाः संख्येय-गुणाः, भावना तु ओघवत्कार्या केवलं मार्गणागतजीवानां संख्येयत्वात् संख्येयगुणत्वमिति ॥१९६-१९७॥ अथाऽऽनतादिमार्गणासु तत्प्रदर्शयन्नाह—

दुइअतुरिआणा थोवा गेविज्जंतेसु आणयाईसुं ।
दुपयाणा तो असंखियगुणिआऽत्थि अवट्ठिअस्स णऽणयोर्सि ॥१९८॥(गीतिः)

(प्रे०) "दुइअ" इत्यादि, आनतादिनवमग्रैवेयकान्तत्रयोदशमार्गणासु दर्शनावरण-मोहनीययोः प्रत्येकं भूयस्काराल्पतरबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितबन्धका असंख्येयगुणाः, मार्गणागतजीवानामसंख्येयत्वे सति तेभ्यः सम्यक्त्वमिथ्यात्वगुणद्वयं परावर्तयन्तो जीवाः तद-संख्येयभागमिता असंख्येया लभ्यन्त इति । शेषाणां पञ्चानां ज्ञानावरणवेदनीयनामगोत्रान्त-रायाणां केवलमवस्थितपदबन्धकानां भावादल्पबहुत्वं नास्ति ॥१९८॥

सम्प्रत्यनुत्तरादिमार्गणास्वल्पबहुत्वं निषेधयन् प्राह—

पणअणुत्तरमीसेसुं सत्तण्हं णत्थि छण्ह सुहमे णो ।
णत्थि अकसायकेवलदुगाहखायेसु वेअस्स ॥१९९॥

(प्रे०) "पणे"त्यादि, अनुत्तरमार्गणापञ्चके सम्यग्मिथ्यात्वे च ज्ञानावरणादिसप्तानां सूक्ष्मसम्पराये च षण्णां कर्मणां केवलमवस्थितबन्धस्यैव भावात्तेषामल्पबहुत्वं नास्ति । अकषाय-केवलज्ञानकेवलदर्शनयथाख्यातसंयममार्गणाचतुष्के केवलं वेदनीयस्यैव बन्धः, अत ओघवत्तस्यैक-स्यावस्थितपदस्यैव भावात्तेषु वेदनीयस्याल्पबहुत्वं नास्ति ॥१९९॥

अथ पञ्चेन्द्रियौघादिषु तत्प्ररूपयति—

मणुयव्वऽप्पाबहुगं भवे पढमवेअगोअविग्घाणं ।
दुपणिंदियतसपणमणवयजोएसुं चक्खुसण्णीसुं ॥ २०० ॥
दुइअतुरिअछट्ठाणऽत्थि अवत्तव्वस्स बंधगा थोवा ।
ताउ असंखेज्जगुणा दुपयाणा अवट्ठिअस्स कमा ॥ २०१ ॥

(प्रे०) "मणुयव्वे"त्यादि, पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ पर्याप्तत्रसकाय-मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगौघ--तदुत्तरभेदचतुष्क-चक्षुर्दर्शन-संज्ञिमार्गणासु षोडशसु ज्ञानावरणगोत्रान्तरायाणामवक्तव्यबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितबन्धका असंख्येयगुणाः ।

ऽवक्तव्यबन्धाभावात् भूयस्काराल्पतरबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितबन्धका असंख्येयगुणाः बन्धकालस्यासंख्येयगुणत्वात्, कासुचिन्मार्गणासु निगोदजीवानां सद्भावेऽपि तेषां नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धद्वयस्य निर्वर्तकत्वात् नानन्तगुणत्वमिति ॥१११-११२॥

अथ मनुष्यौघे प्राह—

मणुयम्मि बंधगाऽणाऽवत्तव्वस्सऽज्जगोअविग्घाणं ।
ताउ असंखगुणाऽवट्ठिअस्स वेअस्स णाऽप्पबहू ॥११३॥
थोवाऽवत्तव्वस्स उ दुइअचउत्थाण बंधगा तत्तो ।
दुपयाणं संखगुणा असंखियगुणा अवट्ठिअस्स तओ ॥११४॥ (गीतिः)
णामस्स बंधगाऽणाऽत्थि अवत्तव्वस्स तो असंखगुणा ।
भूगारप्पयराणं ताउ खलु अवट्ठिअस्सऽत्थि ॥११५॥

(प्रे०) "मणुयम्मि" इत्यादि, मनुष्यौघे ज्ञानावरणगोत्रान्तरायाणामवक्तव्यबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितबन्धका असंख्येयगुणाः, मार्गणास्वसंख्येयजीवानां भावात्। वेदनीयस्याल्पबहुत्वं नास्ति, सर्वमार्गणास्वोघवत् तस्याभावात्। दर्शनावरणस्य मोहनीयस्य चाऽवक्तव्यबन्धकाः स्तोकाः, ततो भूयस्काराल्पतरबन्धकाः प्रत्येकं संख्येयगुणाः, पर्याप्तमनुष्याणामेव तन्निर्वर्तकत्वात्, ततोऽवस्थितबन्धका असंख्येयगुणाः, मार्गणागतानामसंख्येयबहुभागप्रमितानामपर्याप्तकत्वेनोक्तकर्मणोऽवस्थितबन्धस्यैव निर्वर्तनात्। नाम्नोऽवक्तव्यबन्धकाः स्तोकाः, संख्येयत्वात्ततो भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धका असंख्येयगुणाः, लब्ध्यपर्याप्तानामपि तयोर्भावात्, ततोऽवस्थितबन्धका असंख्येयगुणाः, कालस्यासंख्येयगुणत्वात् ॥११३-११५॥

अथ पर्याप्तमनुष्यादिमार्गणासु प्राह—

दुणरेसुं मणणाणे य संजमे पढमगोअविग्घाणं ।
संखगुणा-ऽवत्तव्वा अवट्ठिअस्स ण उ वेअस्स ॥१०६॥
दुइअतुरिअछट्ठाणऽत्थि अवत्तव्वस्स बंधगा थोवा ।
तो संखगुणा कमसो दुपयाण अवट्ठिअस्सऽत्थि ॥११७॥

(प्रे०) "दुणरेसु" मित्यादि, पर्याप्तमनुष्य -मानुषी--मनःपर्यवज्ञान -संयमौघमार्गणासु जीवाः संख्येया भवन्ति, एतासु प्रत्येकं ज्ञानावरणगोत्रान्तरायाणामवक्तव्यबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितबन्धकाः संख्येयगुणाः। वेदनीयस्याल्पबहुत्वं नास्ति। दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां

अथाऽऽहारक-तन्मिश्रयोगद्वये तत्राह—

णामस्साहारदुगे भूत्रोगारस्स बंधगा थोवा ।
तात्रो अवट्ठित्रस्स य संखगुणा छराह णाऽप्पबहू ॥२०६॥

(प्रे०) "णामस्से"त्यादि, आहारकतन्मिश्रयोगद्वये नाम्नो भूयस्कारबन्धकाः स्तोकाः, केषाञ्चिज्जिननामप्रारम्भनिर्वर्तकानामेव तद्भावात् । ततोऽवस्थितबन्धकाः संख्येयगुणाः, शेषाणामवस्थितबन्धकत्वान्मार्गणागतजीवानां संख्येयत्वाच्च । शेषाणां ज्ञानावरणादिषण्णामल्पबहुत्वं नास्ति, केवलमवस्थितपदस्यैव भावात् ॥२०६॥

एतर्हि गतवेदमार्गणायां प्रस्तुतं वदति—

वेअस्स अवेए णत्थि अवत्तव्वस्स बंधगा थोवा ।
मोहस्स हवेज्ज तत्रो भूत्रोगारस्स संखगुणा ॥२०७॥
तो अप्पयरस्स तत्रो अवट्ठित्रस्स य हवेज्ज पंचराहं ।
थोवाऽवत्तव्वस्स उ तो संखगुणा अवट्ठित्रस्सऽत्थि ॥२०८॥ (गीतिः)

(प्रे०) "वेअस्से"त्यादि, अपगतवेदमार्गणायामोघवद् वेदनीयस्याल्पबहुत्वं नास्ति । मोहनीयस्यावक्तव्यबन्धकाः स्तोकाः, मार्गणागतानां सकृदेव तद्भावाच्चतुःपञ्चाशद्मिताश्च ते । ततो भूयस्कारस्य बन्धकाः संख्येयगुणाः, उपशमश्रेणितोऽवरोहकाणां चतुष्कृत्वस्तल्लाभेन तेषां शतपृथक्त्वमितत्वात् । ततोऽल्पतरबन्धकाः संख्येयगुणाः, क्षपकश्रेणावपि तद्भावेन क्षपकश्रेणावुपशामकापेक्षया द्विगुणजीवानां भावात् त्रिगुणप्राया इति । ततोऽप्यवस्थितबन्धकाः संख्येयगुणाः, जीवानां संख्येयत्वे सति प्रभूतकालं यावदवस्थानात् । ज्ञानावरणदर्शनावरणगोत्रनामान्तरायाणां पञ्चानामवक्तव्यबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितबन्धकाः संख्येयगुणाः । भावना तु सुगमा इति ॥२०७–२०८॥

अथ लोभकषायमार्गणायां प्राह—

मोहस्सोघव्व भवे लोहेऽप्पबहू तिरिव्व सेसाणं ।

(प्रे०) "मोहस्से"त्यादि, लोभे तिर्यग्गत्योघवत् षण्णां ज्ञानावरणादीनां प्रस्तुताल्पबहुत्वं विज्ञेयम्, तद्यथा—ज्ञानावरणगोत्रान्तरायाणां वेदनीयस्य चाल्पबहुत्वं नास्ति, एकस्यैवावस्थितपदस्य भावात् । दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितबन्धका अनन्तगुणाः । नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितबन्धका असंख्येयगुणाः ।

वेदनीयस्याल्पबहुत्वं नास्ति। अस्य च कर्मचतुष्कसत्काल्पबहुत्वस्य मनुष्यौघवदिति तथातिदिष्टम्। दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां प्रत्येकमवक्तव्यबन्धकाः स्तोकास्ततो भूयस्काराल्पतरबन्धका असंख्येयगुणास्ततोऽवस्थितबन्धका असंख्येयगुणाः । उक्तमार्गणासु जीवानामसंख्येयत्वाभानन्तगुणत्वम्, शेषभावना त्वोघवत्कार्येति ॥ २००-२०१ ॥

अथौदारिकमिश्रादिमार्गणासु प्राह—

मोहस्स उरलमीसे कम्मेऽणाहारगे अणाणदुगे ।
भूगारस्सऽप्पा तो अवट्ठिअस्स य अणंतगुणा ॥ २०२ ॥
भूगारप्पयराणं णेया णामस्स बंधगा थोवा ।
ताउ असंखेज्जगुणा अवट्ठिअस्स ण उ पंचण्हं ॥ २०३ ॥

(प्रे०) "मोहस्से"त्यादि, औदारिकमिश्र--कार्मणा--ऽनाहारक -मत्यज्ञान--श्रुताज्ञानमार्गणासु पञ्चसु मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धकाः स्तोकाः, असंख्येयत्वात्। ततोऽवस्थितस्य बन्धका अनन्तगुणाः, साधारणवनस्पतिजीवानामपि तद्भावेनानन्त्यात्। नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धकाः स्तोकाः, निगोदजीवानां तद्भावेऽपि तत्कालस्य स्तोकत्वात्। ततोऽवस्थितबन्धका असंख्येयगुणाः, तत्कालस्यासंख्येयगुणत्वात्। ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयगोत्रान्तरायाणां पञ्चानामेकस्यावस्थितबन्धस्य भावादल्पबहुत्वं नास्ति ॥ २०२-२०३ ॥

अधुना वैक्रियमिश्रे विभङ्गज्ञाने च प्राह प्रस्तुताल्पबहुत्वम्—

मोहस्स विउवमीसे तह विब्भंगम्मि भूअगारस्स ।
थोवाऽत्थि बंधगा तो अवट्ठिअस्स य असंखगुणा ॥२०४॥
भूगारप्पयराणं णेया णामस्स बंधगा थोवा ।
ताउ असंखेज्जगुणा अवट्ठिअस्स ण उ पंचण्हं ॥ २०५ ॥

(प्रे०) "मोहस्से"त्यादि, वैक्रियमिश्रे विभङ्गज्ञाने च जीवा असंख्येया भवन्ति । तयोर्मोहनीयस्य भूयस्कारबन्धकाः स्तोकाः, सास्वादनतो मिथ्यात्वं प्राप्नुवतामेव तद्भावेनोत्कृष्टतोऽपि पल्याऽसंख्येयभागमात्रत्वात्, ततोऽवस्थितबन्धका असंख्येयगुणाः, असंख्येयबहुभागप्रमितानामसंख्यसूचिश्रेणिमितानां तस्यैव निर्वर्तनात् । नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धकाः स्तोकाः, कालस्याल्पत्वात्। ततोऽवस्थितबन्धका असंख्येयगुणास्तत्कालस्यासंख्येयगुणत्वात्। ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयगोत्रान्तरायाणां पञ्चानामेकस्यावस्थितबन्धस्य भावेन तेषां कर्मणामल्पबहुत्वं नास्ति ॥२०४--२०५॥

अथाऽऽहारक-तन्मिश्रयोगद्वये तत्राह—

णामस्साहारदुगे भूओगारस्स बंधगा थोवा ।
ताओ अवट्ठिअस्स य संखगुणा छण्ह णऽप्पबहू ॥२०६॥

(प्रे०) "णामस्से"त्यादि, आहारकतन्मिश्रयोगद्वये नाम्नो भूयस्कारबन्धकाः स्तोकाः, केषाञ्चिज्जिननामप्रारम्भनिर्वर्तकानामेव तद्भावात् । ततोऽवस्थितबन्धकाः संख्येयगुणाः, शेषाणामवस्थितबन्धकत्वान्मार्गणागतजीवानां संख्येयत्वाच्च । शेषाणां ज्ञानावरणादिषण्णामल्पबहुत्वं नास्ति, केवलमवस्थितपदस्यैव भावात् ॥२०६॥

एतर्हि गतवेदमार्गणायां प्रस्तुतं वदति—

वेअस्स अवेए णत्थि अवत्तव्वस्स बंधगा थोवा ।
मोहस्स हवेज्ज तओ भूओगारस्स संखगुणा ॥२०७॥
तो अप्पयरस्स तओ अवट्ठिअस्स य हवेज्ज पंचण्हं ।
थोवाऽवत्तव्वस्स उ तो संखगुणा अवट्ठिअस्सऽत्थि ॥२०८॥ (गीतिः)

(प्रे०) "वेअस्से"त्यादि, अपगतवेदमार्गणायामोघवद् वेदनीयस्याल्पबहुत्वं नास्ति । मोहनीयस्यावक्तव्यबन्धकाः स्तोकाः, मार्गणागतानां सकृदेव तद्भावाच्चतुःपञ्चाशद्मिताश्च ते । ततो भूयस्कारस्य बन्धकाः संख्येयगुणाः, उपशमश्रेणितोऽवरोहकाणां चतुष्कृत्वस्तल्लाभेन तेषां शतपृथक्त्वमितत्वात् । ततोऽल्पतरबन्धकाः संख्येयगुणाः, क्षपकश्रेणावपि तद्भावेन क्षपकश्रेणावुपशामकापेक्षया द्विगुणजीवानां भावात् त्रिगुणप्राया इति । ततोऽप्यवस्थितबन्धकाः संख्येयगुणाः, जीवानां संख्येयत्वे सति प्रभूतकालं यावदवस्थानात् । ज्ञानावरणदर्शनावरणगोत्रनामान्तरायाणां पञ्चानामवक्तव्यबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितबन्धकाः संख्येयगुणाः । भावना तु सुगमा इति ॥२०७-२०८॥

अथ लोभकषायमार्गणायां प्राह—

मोहस्सोघव्व भवे लोहेऽप्पबहू तिरिव्व सेसाणं ।

(प्रे०) "मोहस्से"त्यादि, लोभे तिर्यग्गत्योघवत् षण्णां ज्ञानावरणादीनां प्रस्तुताल्पबहुत्वं विज्ञेयम्, तद्यथा—ज्ञानावरणगोत्रान्तरायाणां वेदनीयस्य चाल्पबहुत्वं नास्ति, एकस्यैवावस्थितपदस्य भावात् । दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितबन्धका अनन्तगुणाः । नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितबन्धका असंख्येयगुणाः ।

मोहनीयस्याल्पबहुत्वमोघवद् भवति, तद्यथा–मोहनीयस्याऽवक्तव्यबन्धकाः स्तोकाः, ततो भूयस्काराल्पतरबन्धका असंख्येयगुणाः, ततोऽवस्थितस्य बन्धका अनन्तगुणाः । भावना त्वोघवत्कार्या सुगमा च ।

अथ मतिज्ञानादिमार्गणासु प्राह–

मणुयव्व तिणाणावहिसम्मेसु चउरह कम्माणं ॥२०६॥
बीअस्स बंधगाऽप्पा दुपयाणं अत्थि ताउ संखगुणा ।
अप्पयरस्स-ऽत्थि तओ अवट्ठिअस्स य असंखगुणा ॥२१०॥
मोहस्स बंधगाऽप्पा-ऽवत्तव्वस्सऽत्थि तो असंखगुणा ।
भूगारप्पयराणं ताउ खलु अवट्ठिअस्सऽत्थि ॥२११॥
णामस्सऽप्पयरस्स उ संखगुणा बंधगा अवत्तव्वा ।
ताउ असंखेज्जगुणा भूगारावट्ठिआण कमा ॥२१२॥

(प्रे०) "मणुयव्वे"त्यादि, मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानावधिदर्शनसम्यक्त्वौघेषु पञ्चमार्गणासु ज्ञानावरणवेदनीयगोत्रान्तरायाणां चतुर्णां कर्मणां प्रस्तुताल्पबहुत्वं मनुष्यौघवद् विज्ञेयम्, तद्वज्जीवानामसंख्येयत्वाद् बन्धप्रायोग्यपदानां समानत्वाच्च । अल्पबहुत्वं पुनरेवम्–ज्ञानावरणगोत्रान्तरायाणामवक्तव्यबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितबन्धका असंख्येयगुणाः । वेदनीयस्याल्पबहुत्वं नास्ति ।

दर्शनावरणस्यावक्तव्यबन्धका भूयस्कारबन्धकाश्च स्तोकाः, परस्परं तुल्याः भूयस्कारबन्धका विशेषाधिका वेति तु स्वयं ज्ञातव्यम् । एतासु दर्शनावरणस्य भूयस्कारबन्धका अवक्तव्यबन्धकतुल्याः प्रतिभान्ति । ततोऽल्पतरबन्धकाः संख्येयगुणाः, क्षपकश्रेणिगतानामपि तल्लाभात् । ततोऽवस्थितबन्धका असंख्येयगुणाः, चतुर्थादिसप्तमान्तगुणस्थानगतानां केवलमवस्थितबन्धस्य भावात् ।

मोहनीयस्यावक्तव्यबन्धकाः स्तोकास्ततो भूयस्काराल्पतरबन्धका असंख्येयगुणाः, चतुर्थपञ्चमगुणस्थानपरावर्तयज्जीवेभ्यश्चतुर्थपञ्चमगुणस्थानस्थितजीवानां सर्वदैवाऽसंख्येयगुणत्वेन ततोऽवस्थितस्य बन्धका असंख्येयगुणाः ।

नाम्नोऽवक्तव्यबन्धकाः स्तोकाः, उपशमश्रेणितोऽवरोहकाणां तद्भावात्, ततोऽल्पतरबन्धकाः संख्येयगुणाः, पर्याप्तमनुष्याणां पर्याप्तमनुष्येष्वागच्छतां वा तद्भावात् तेषां च संख्येयत्वात् । ततो भूयस्कारबन्धका असंख्येयगुणाः, देवनैरयिकेषूत्पद्यमानानां तद्भावेन तिर्यग्भ्यो देवेषूत्पद्यमानानां प्रस्तुतमार्गणास्वसंख्येयानां लाभेन तेषां च भूयस्कारबन्धस्यैव

निर्वर्तकत्वात् । ततोऽवस्थितबन्धका असंख्येयगुणाः, मनुष्यान् विहाय स्वस्थानगतानां तस्यैव निर्वर्तकत्वात् प्रस्तुतमार्गणागतानामसंख्येयबहुभागप्रमितजीवनां देवेषु भावाच्च ॥२०९-२१२॥

साम्प्रतं सामायिकच्छेदोपस्थापनीययोस्तन्निगदन्नाह—

दुइअतुरिअछट्ठाणं समइअछेएसु बंधगा णेया ।
दुपया अवट्ठिअस्स उ संखगुणा णत्थि सेसाणं ॥२१३॥

(प्रे०) "दुइअ" इत्यादि, सामायिकच्छेदोपस्थापनीयसंयममार्गणयोर्दर्शनावरणमोहनीयनाम्नामवक्तव्यबन्धाभावाद् भूयस्काराल्पतरबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितबन्धकाः संख्येयगुणाः । शेषाणां ज्ञानावरणवेदनीयगोत्रान्तरायाणामेकस्यैवावस्थितबन्धस्य भावेनाल्पबहुत्वं नास्ति ॥२१३॥

अथ परिहारविशुद्धिमार्गणायां प्राह—

परिहारे दुपयाणं थोवा णामस्स बंधगा णेया ।
तत्तो अवट्ठिअस्स उ संखगुणा छण्ह णऽप्पबहू ॥२१४॥

(प्रे०) "परिहारे"त्यादि, परिहारविशुद्धौ नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धका अल्पाः, ततोऽवस्थितबन्धकाः संख्येयगुणाः, जिननामाहारकद्विकबन्धप्रारम्भकाणामाहारकद्विकबन्धविरामकाणाञ्चात्यल्पत्वात्, तेभ्यस्तदितरेषां संख्येयगुणत्वात् । ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीय-गोत्रा-ऽन्तरायाणां षण्णां केवलमवस्थितबन्धस्यैव भावादल्पबहुत्वं नास्ति ॥२१४॥

एतर्हि देशविरतौ प्राह—

णामस्स अत्थि देसे भूओगारस्स बंधगा थोवा ।
तत्तो अवट्ठिअस्स असंखगुणा छण्ह णऽप्पबहू ॥२१५॥

(प्रे०) "णामस्से"त्यादि, देशविरतमार्गणायां नाम्नो भूयस्कारबन्धकाः स्तोकाः, जिननामबन्धप्रारम्भकाणां मनुष्याणामेव तद्भावात् । ततोऽवस्थितबन्धका असंख्येयगुणाः; मार्गणागतानामसंख्येयानां तिरश्चामपि तद्बन्धकत्वात् । शेषाणां ज्ञानावरणादिषण्णामल्पबहुत्वमेव नास्ति । भावना तु परिहारविशुद्धिवत्कार्येति ॥२१५॥

अथ शुक्ललेश्यायामौपशमिकसम्यक्त्वे च प्राह—

सुक्काए तइउवसमेऽत्थि अवत्तव्वस्स बंधगा थोवा ।
णामस्स तओ भूगारऽप्पयराणं तु संखगुणा ॥२१६॥

मोहनीयस्याल्पबहुत्वमोघवद् भवति, तद्यथा–मोहनीयस्याऽवक्तव्यबन्धकाः स्तोकाः, ततो भूयस्काराल्पतरबन्धका असंख्येयगुणाः, ततोऽवस्थितस्य बन्धका अनन्तगुणाः। भावना त्वोघवत्कार्या सुगमा च।

अथ मतिज्ञानादिमार्गणासु आह–

मणुयव्व तिणाणावहिसम्मेसु चउरह कम्माणं ॥२०९॥
बीअस्स बंधगाऽप्पा दुपयाणं अत्थि ताउ संखगुणा।
अप्पयरस्स-ऽत्थि तओ अवट्ठिअस्स य असंखगुणा ॥२१०॥
मोहस्स बंधगाऽप्पा-ऽवत्तव्वस्सऽत्थि तो असंखगुणा।
भूगारप्पयराणं ताउ खलु अवट्ठिअस्सऽत्थि ॥२११॥
णामस्सऽप्पयरस्स उ संखगुणा बंधगा अवत्तव्वा।
ताउ असंखेज्जगुणा भूगारावट्ठिआण कमा ॥२१२॥

(प्रे०) "मणुयव्वे"त्यादि, मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानावधिदर्शनसम्यक्त्वौघेषु पञ्चमार्गणासु ज्ञानावरणवेदनीयगोत्रान्तरायाणां चतुर्णां कर्मणां प्रस्तुताल्पबहुत्वं मनुष्यौघवद् विज्ञेयम्, तद्वज्जीवानामसंख्येयत्वाद् बन्धप्रायोग्यपदानां समानत्वाच्च। अल्पबहुत्वं पुनरेवम्-ज्ञानावरणगोत्रान्तरायाणामवक्तव्यबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितबन्धका असंख्येयगुणाः। वेदनीयस्याल्पबहुत्वं नास्ति।

दर्शनावरणस्यावक्तव्यबन्धका भूयस्कारबन्धकाश्च स्तोकाः, परस्परं तुल्याः भूयस्कारबन्धका विशेषाधिका वेति तु स्वयं ज्ञातव्यम्। एतासु दर्शनावरणस्य भूयस्कारबन्धका अवक्तव्यबन्धकतुल्याः प्रतिभान्ति। ततोऽल्पतरबन्धकाः संख्येयगुणाः, क्षपकश्रेणिगतानामपि तद्भावात्। ततोऽवस्थितबन्धका असंख्येयगुणाः, चतुर्थादिसप्तमान्तगुणस्थानगतानां केवलमवस्थितबन्धस्य भावात्।

मोहनीयस्यावक्तव्यबन्धकाः स्तोकास्ततो भूयस्काराल्पतरबन्धका असंख्येयगुणाः, चतुर्थपञ्चमगुणस्थानपरावर्तयज्जीवेभ्यश्चतुर्थपञ्चमगुणस्थानस्थितजीवानां सर्वदैवाऽसंख्येयगुणत्वेन ततोऽवस्थितस्य बन्धका असंख्येयगुणाः।

नाम्नोऽवक्तव्यबन्धकाः स्तोकाः, उपशमश्रेणितोऽवरोहकाणां तद्भावात्, ततोऽल्पतरबन्धकाः संख्येयगुणाः, पर्याप्तमनुष्याणां पर्याप्तमनुष्येष्वागच्छतां वा तद्भावात् तेषां च संख्येयत्वात्। ततो भूयस्कारबन्धका असंख्येयगुणाः, देवनैरयिकेषूत्पद्यमानानां तद्भावेन तिर्यग्भ्यो देवेषूत्पद्यमानानां प्रस्तुतमार्गणास्वसंख्येयानां लाभेन तेषां च भूयस्कारबन्धस्यैव

निर्वर्तकत्वात् । ततोऽवस्थितबन्धका असंख्येयगुणाः, मनुष्यान् विहाय स्वस्थानगतानां तस्यैव निर्वर्तकत्वात् प्रस्तुतमार्गणागतानामसंख्येयबहुभागप्रमितजीवनां देवेषु भावाच्च ॥२०९-२१२॥

साम्प्रतं सामायिकच्छेदोपस्थापनीययोस्तन्निगदन्नाह--

दुइअतुरिअछट्ठाणं समइअछेएसु बंधगा णेया ।
दुपया अवट्ठिअस्स उ संखगुणा णत्थि सेसाणं ॥२१३॥

(प्रे०) "दुइअ" इत्यादि, सामायिकच्छेदोपस्थापनीयसंयममार्गणयोर्दर्शनावरणमोहनीयनाम्नामवक्तव्यबन्धाभावाद् भूयस्काराल्पतरबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितबन्धकाः संख्येयगुणाः । शेषाणां ज्ञानावरणवेदनीयगोत्रान्तरायाणामेकस्यैवावस्थितबन्धस्य भावेनाल्पबहुत्वं नास्ति ॥२१३॥

अथ परिहारविशुद्धिमार्गणायां प्राह--

परिहारे दुपयाणं थोवा णामस्स बंधगा णेया ।
तत्तो अवट्ठिअस्स उ संखगुणा छण्ह णऽप्पबहू ॥२१४॥

(प्रे०) "परिहारे"त्यादि, परिहारविशुद्धौ नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धका अल्पाः, ततोऽवस्थितबन्धकाः संख्येयगुणाः, जिननामाहारकद्विकबन्धप्रारम्भकाणामाहारकद्विकबन्धविरामकाणाञ्चात्यल्पत्वात्, तेभ्यस्तदितरेषां संख्येयगुणत्वात् । ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीय-गोत्रा-ऽन्तरायाणां षण्णां केवलमवस्थितबन्धस्यैव भावादल्पबहुत्वं नास्ति ॥२१४॥

एतर्हि देशविरतौ प्राह--

णामस्स अत्थि देसे भूओगारस्स बंधगा थोवा ।
तत्तो अवट्ठिअस्स असंखगुणा छण्ह णऽप्पबहू ॥२१५॥

(प्रे०) "णामस्से"त्यादि, देशविरतमार्गणायां नाम्नो भूयस्कारबन्धकाः स्तोकाः, जिननामबन्धप्रारम्भकाणां मनुष्याणामेव तद्भावात् । ततोऽवस्थितबन्धका असंख्येयगुणाः; मार्गणागतानामसंख्येयानां तिरश्चामपि तद्बन्धकत्वात् । शेषाणां ज्ञानावरणादिषण्णामल्पबहुत्वमेव नास्ति । भावना तु परिहारविशुद्धिवत्कार्येति ॥२१५॥

अथ शुक्ललेश्यायामौपशमिकसम्यक्त्वे च प्राह—

सुक्काए तहुवसमेऽत्थि अवत्तव्वस्स बंधगा थोवा ।
णामस्स तओ भूगारऽप्पयराणं तु संखगुणा ॥२१६॥

ताउ असंखेज्जगुणा होअन्ति अवट्ठिअस्स सुक्काए ।
सेसाण पणिदिव्वुवसमे-ऽवहिव्व दुइअस्स सयं ॥२१७॥

(प्रे०) "क्काए" इत्यादि, शुक्ललेश्यामार्गणायामुपशमसम्यक्त्वमार्गणायां च नाम्नोऽवक्तव्यबन्धकाः स्तोकाः, उपशमश्रेणितोऽवरोहकाणामेव तद्भावात् । ततो नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धकाः संख्येयगुणाः, उक्तमार्गणाद्वये मनुष्याणां मनुष्येभ्यो मृत्वा देवेषूत्पद्यमानानां वा तद्भावात् । लान्तकादिकल्पत्रये शुक्ललेश्याभिप्रायेण तु शुक्लायामसंख्येयगुणा बन्धका ज्ञेयाः, असंख्यातानां तिरश्चां तत्र समयेनोत्पादात्, ततोऽवस्थितबन्धका असंख्येयगुणाः, स्वस्थानस्थतिरश्चां देवानां चासंख्येयगुणत्वात् । तेषां चावस्थितबन्धस्यैव निर्वर्तनात् । शुक्लायां पञ्चेन्द्रियौघमार्गणावत्तथौपशमिके त्ववधिज्ञानमार्गणावच्छेषाणां ज्ञानावरणादिषट्कर्मणामल्पबहुत्वं विज्ञेयम् । तद्यथा—वेदनीयस्याल्पबहुत्व नास्ति, ज्ञानावरणगोत्रान्तरायाणामवक्तव्यबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितबन्धका असंख्येयगुणाः । दर्शनावरणमोहनीययोरवक्तव्यबन्धकाः स्तोकाः, तेभ्यो भूयस्काराल्पतरबन्धकाः शुक्लायामसंख्येयगुणा देवानां तिरश्चाश्च प्रथमचतुर्थगुणस्थानपरावृत्तिभाजामसंख्येयत्वात् । उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां तु दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरावक्तव्यबन्धका अवस्थितबन्धकेभ्यः स्तोकत्वेऽपि परस्परं तु न्यूनाधिकत्वं वा तुल्यत्वं वा बहुश्रुतेभ्यो ज्ञातव्यम् । तुल्यत्वं त्वत्र सम्भवति, श्रेणौ सकृदेव त्रयाणां पदानां लाभादिति । मोहनीयस्य त्ववक्तव्यबन्धकेभ्यो भूयस्काराल्पतरबन्धका असंख्येयगुणाः । मार्गणाद्वयेऽपि द्वयोः कर्मणोरुक्तपदद्वयादवस्थितबन्धका असंख्येयगुणा भवन्ति । भावना तु सुगमत्वात् स्वतः कार्येति ॥२१६–२१७॥

अधुना क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां दर्शयति—

दुइअ-तुरिअ-छट्ठाण अवत्तव्वस्स खइअम्मि थोवा तो ।
दुपयाणं संखगुणा असंखियगुणा अवट्ठिअस्स तओ ॥२१८॥(गीतिः)
सेसाण चउगहोहिव्व········ ।

(प्रे०) "दुइअ" इत्यादि, क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां दर्शनावरणमोहनीयनाम्नामवक्तव्यबन्धकाः स्तोकाः, श्रेणितोऽवरोहकाणामेव तद्भावात् । ततो भूयस्काराल्पतरबन्धकाः संख्येयगुणाः, संख्यातत्वात्, प्रस्तुतमार्गणायां देशविरत्यादिगुणगतानां संख्येयत्वेन तद्गतभावनिर्वर्तकानां ततो वा चतुर्थगुणस्थानकं प्राप्यमाणानां संख्येयत्वात्, युगलिकतिर्यग्भ्यो देवेषूत्पद्यमानानां प्रस्तुतमार्गणागततिरश्चामायव्ययोस्तुल्यप्रायस्त्वं भवतीति न्यायेन संख्येयत्वान्नाम्नो

भूयस्कारबन्धकानां संख्येयत्वमेव, शेषा हेत्वादिभावना तु सुगमेति । ततोऽवस्थितबन्धका असंख्येयगुणाः, मार्गणायां प्रकृतिबन्धका असंख्येयाः, तेभ्य उक्तपदत्रयबन्धकानां संख्येयत्वात् तान् विमुच्य शेषा असंख्येया अवस्थितबन्धका एव भवन्ति । ज्ञानावरणवेदनीयगोत्रान्तरायाणां प्रस्तुताल्पबहुत्वमवधिज्ञानमार्गणावद् विज्ञेयम् , तच्च तत एवावधार्यं सुगमं चेति ॥२१८॥

अथ क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां प्रस्तुताऽल्पबहुत्वं निरूपयन्नाह–

.... वेअगे णत्थि पंचकम्माणं ।
मोहस्स असंखगुणा अवट्ठिअस्सऽत्थि दुपयाओ ॥२१९॥
णामस्स बंधगाऽप्पा अप्पयरस्सऽत्थि तो असंखगुणा ।
भूओगारस्स तओ अवट्ठिअस्स य मुणेयव्वा ॥२२०॥

(प्रे०) "वेअगे" इत्यादि, क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयगोत्रान्तरायाणामवस्थितपदस्यैव भावादल्पबहुत्वं नास्ति । मोहनीयस्य भूयस्काराल्पतरबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितबन्धका असंख्येयगुणाः । नाम्नोऽल्पतरबन्धकाः स्तोकाः, ततो भूयस्कारबन्धका असंख्येयगुणाः, ततोऽवस्थितबन्धका असंख्येयगुणाः, भावना तु ज्ञानत्रिकवदेव कार्या, केवलं तत्रास्या अनतिदेशस्तु अस्यामष्टमादिगुणस्थानाभावेन षण्णामवक्तव्यबन्धाभावाद् दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धयोरभावाच्चेति ॥२१९-२२०॥

॥ श्रीप्रेमप्रभावृत्तिसमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे स्वस्थाननिरूपणायां त्रयोदशमल्पबहुत्वद्वारं समाप्तं तत्समाप्तौ च भूयस्काराधिकारे स्वस्थाननिरूपणा समाप्ता ॥

॥ अथ परस्थानभूयस्काराधिकारः ॥

तदेवमुत्तरप्रकृतिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे त्रयोदशद्वारैः स्वस्थानभूयस्काराधिकारस्य प्ररूपणा कृता । अथ उत्तरप्रकृतिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे एव परस्थानसत्कभूयस्कारादीनां निरूपणा तैरेव प्राक् स्वस्थानोक्तैस्त्रयोदशद्वारैः क्रियते, तत्र प्रतिज्ञातक्रमेण तानि निरूरूपयिषु-रादौ सत्पदद्वारमोघतः आह—

अह खलु परठाणेणं उत्तरपयडीण होअए तिविहो ।
बंधो भूओगारो अप्पयरो तह अवट्ठाणं ॥२२१॥

(प्रे०) "अहे"त्यादि, अष्टमूलप्रकृतिसत्कविंशत्युत्तरशतप्रकृतिसमुदायेभ्यो यावत्यः प्रकृतयो युगपद्बन्धमायान्ति तासां समुदायः परस्थानबन्धस्थानं कथ्यते, तानि परस्थानबन्ध-स्थानानि इमानि—एकम् सप्तदश, अष्टादश, एकोनविंशतिः, विंशतिः, एकविंशतिः द्वाविंशतिः, षड्विंशतिः, त्रिपञ्चाशत् , चतुष्पञ्चाशत् , पञ्चपञ्चाशत् , षट्पञ्चाशत् , सप्तपञ्चाशत् , अष्टपञ्चाशत् एकोनषष्टिः, षष्टिः, एकषष्टिः, त्रिषष्टिः, चतुःषष्टिः, पञ्चषष्टिः, षट्षष्टिः, सप्तषष्टिः, अष्टषष्टिः, एकोनसप्ततिः, सप्ततिः, एकसप्ततिः, द्विसप्ततिः, त्रिसप्ततिः, चतुःसप्ततिश्चेत्येकोनत्रिंशदिति ।

परस्थानप्ररूपणायामवक्तव्यबन्धं विहाय शेषा भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धास्त्रयो भवन्ति, अवक्तव्यबन्धस्तु नैव भवति, यतः सर्वप्रकृतीनां बन्धविच्छेदस्यायोगिकेवलिनि एव लाभेन तत्स्थानात् प्रतिपातस्याभावेन पुनर्बन्धप्रारम्भाभावात् । बन्धस्थानानां परावर्तमान-त्वेन यस्य कस्यापि बन्धस्थानस्य नियतकालं यावदेव प्रवर्तनाद् तदनु यथार्हं भूयस्काराल्पतर-बन्धयोः, उत्कृष्टतोऽनेकसमयान् यावदपि निरन्तरं सर्वेषामुक्तबन्धस्थानानां प्रत्येकं प्रवर्तनादव-स्थितबन्धस्य च सद्भाव इति ।

अत्रैकप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं भूयस्काररूपं न भवति, केवलमल्पतरबन्धरूपं भवति । तथा एकषष्टिः सप्तषष्टिः चतुःसप्ततिश्चेति त्रीणि बन्धस्थानान्यायुर्बन्धसहितान्येव, आयुर्बन्धकाले च षष्ठगुणस्थानकात् सप्तमगुणस्थानकगमनं विहाय गुणपरावृत्तिर्नास्ति, अत उक्तबन्धस्थानान्य-ल्पतरबन्धरूपाणि न भवन्ति, भूयस्काररूपेण तु तत्प्राग्बन्धस्थानादायुर्बन्धप्रारम्भेण भवन्त्येव । शेषाणि पञ्चविंशतिबन्धस्थानानि भूयस्कारत्वेनाल्पतरत्वेन च प्राप्यन्ते, सर्वाण्यप्यवस्थितबन्ध-तया प्राप्यन्ते ।

अथ कस्माद् बन्धस्थानात् किं बन्धस्थानं प्राप्तस्य भूयस्काररूपं तत्स्थानं भवति, कुतो बन्धस्थानात् किं बन्धस्थानं प्राप्तस्य चाल्पतरबन्धरूपं तत्स्यादित्येतद् भावयामः ।

तद्यथा—सप्तदशबन्धादेवैकप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं प्राप्तस्य तदल्पतरबन्धस्थानं भवति । एकस्मात् सप्तदश प्राप्तस्य भूयस्कारबन्धस्थानम्, अष्टादशस्य सप्तदश प्राप्तस्याल्पतरबन्धस्थानं

भवति । एवमष्टादश सप्तदशेभ्यो नवदशेभ्यश्च प्राप्यते, एकोनविंशतिरष्टादशेभ्यो विंशतेश्च प्राप्यते । विंशतिरेकोनविंशतेरेकविंशतितेश्च प्राप्यते । एकविंशतिर्विंशतेर्द्वाविंशतेश्च लभ्यते । द्वाविंशतिरेकविंशत्याः षड्विंशत्याश्च प्राप्यते ।

षड्विंशतिर्द्वाविंशतितो यदि प्राप्यते तर्हि तत्स्थानं भूयस्काररूपं भवति, यदि पुनः त्रिपञ्चाशच्चतुष्पञ्चाशत्-पञ्चपञ्चाशत्-षट्पञ्चाशद्बन्धस्थानानामन्यतमात् षड्विंशतिः प्राप्यते तर्हि तत्स्थानमल्पतररूपं भवति । त्रिपञ्चाशद्रूपं बन्धस्थानं षड्विंशतिबन्धात् प्राप्यते तद्भूयस्कारबन्धस्थानं भवति, पञ्चपञ्चाशत्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानाद् यदि प्राप्यते तर्हि तदल्पतरबन्धस्थानं भवति ।

चतुष्पञ्चाशद्बन्धस्थानं षड्विंशति-त्रिपञ्चाशद्बन्धस्थानद्वयात् प्राप्यते, तदा भूयस्कारबन्धरूपं षट्पञ्चाशद्बन्धस्थानात्तत्र संवरणेऽल्पतरबन्धरूपं तत्स्थानं भवति । पञ्चपञ्चाशद्बन्धस्थानं षड्विंशति-त्रिपञ्चाशद्बन्धस्थानद्वयाद् गम्यते तदा भूयस्काररूपम् , षट्पञ्चाशत्-सप्तपञ्चाशदेकोनषष्टित्रिषष्ट्येकसप्ततिबन्धस्थानानामन्यतमस्थानात् पञ्चपञ्चाशद्बन्धस्थानगमनेऽल्पतरबन्धस्थानं तत्स्थानं भवति । षट्पञ्चाशद्बन्धस्थानं षड्विंशतिस्थानात् तथा त्रिपञ्चाशदादिस्थानत्रयाद् यदा प्राप्यते तदा भूयस्काररूपम् , सप्तपञ्चाशदष्टपञ्चाशत्षष्टिचतुःषष्टिबन्धस्थानतो यदा प्राप्यते तदाऽल्पतररूपं तत्स्थानं भवति । सप्तपञ्चाशद्बन्धस्थानं पञ्चपञ्चाशत्षट्पञ्चाशत्स्थानद्वयाद् यदा प्राप्यते तदा भूयस्काररूपं तत् स्यात् , अष्टपञ्चाशदेकोनषष्टि-त्रिषष्टि-एकसप्ततिबन्धस्थानानामन्यतमबन्धस्थानात् सप्तपञ्चाशद्बन्धस्थानप्राप्तौ अल्पतरबन्धस्थानं तद् भवति । अष्टपञ्चाशद्बन्धस्थानस्य पञ्चपञ्चाशदादिबन्धस्थानत्रयाल्लाभे भूयस्काररूपं तद्बन्धस्थानं भवति, एकोनष ष्टिषष्टिचतुःषष्टिस्थानत्रयात् तल्लाभेऽल्पतरस्थानं भवति ।

एकोनषष्टिबन्धस्थानं पञ्चपञ्चाशतः सप्तपञ्चाशतो वा लाभे भूयस्कारस्थानं भवति, षष्टित्रिषष्टयेकसप्ततिबन्धस्थानानामन्यतमस्थानात् तल्लाभेऽल्पतरबन्धस्थानं भवति । षष्टिबन्धस्थानं षट्पञ्चाशत एकोनषष्टितश्च प्राप्यते तदा भूयस्कारस्थानं भवति, तदेवैकषष्टिचतुःषष्टितः प्राप्यते तदाल्पतरस्थानं ज्ञेयम् । एकषष्टिबन्धस्थानं षष्टिबन्धस्थानत एव प्राप्यते नान्यबन्धस्थानात् , इत्येवं तद्भूयस्कारबन्धस्थानमेव भवति ।

त्रिषष्टिबन्धस्थानं पञ्चपञ्चाशत एकोनषष्टितश्च यदा प्राप्यते तदा तत्स्थानं भूयस्कारबन्धरूपं भवति, चतुःषष्टित एकसप्ततितश्च यदा लभ्यते तदा तत्स्थानमल्पतरबन्धरूपम् । चतुःषष्टिस्थानं एकादित्रिपञ्चाशद्बन्धस्थानेभ्यः पञ्चपञ्चाशतः सप्तपञ्चाशत एकोनषष्टितश्च भवपरावर्तनेन, षट्पञ्चाशतः षष्टितश्च गुणस्थानपरावर्तनेन, त्रिषष्टितश्च आयुर्जिनवर्जप्रमत्ताद्येभ्योऽ-

न्यतमबन्धप्रारम्भेन प्राप्यते तदा भूयस्काररूपं तत्स्थानं भवति, पञ्चषष्टितो द्वासप्ततितस्त्रि-सप्ततितश्च यदा प्राप्यते तदा तत्स्थानमल्पतरबन्धरूपं ज्ञेयम् ।

पञ्चषष्टिस्थानमेकादिषड्विंशतिस्थानेभ्यस्तथा चतुःपञ्चाशत्षट्पञ्चाशदष्टपञ्चाशत्-षष्टिचतुःषष्टिस्थानेभ्य यदा प्राप्यते तदा भूयस्कारबन्धरूपं भवति, षट्षष्टितो द्वासप्ततितश्च प्राप्यते तदा अल्पतरबन्धरूपं तत्स्थान भवति । षट्षष्टिबन्धस्थानं पञ्चषष्टितो भूयस्काररूपं भवति सप्त-षष्ट्यष्टषष्ट्ये कोनसप्तत्येकमप्ततिद्वासप्ततित्रिसप्ततिबन्धस्थानानामन्यतमबन्धस्थानात्तत्स्थानप्राप्ताव-ल्पतररूपं बन्धस्थानं भवति । सप्तषष्टेः षट्षष्टित एवागमनात् तत्स्थानं भूयस्काररूपं ज्ञेयम् । अष्टषष्टेः प्राप्तिः षट्षष्टितो भवति तदा भूयस्काररूपं तत्स्थानम् , एकोनसप्तत्येकसप्ततिद्वा-सप्ततित्रिसप्ततिबन्धस्थानानामन्यतमस्थानादष्टषष्टेः प्राप्तौ तद्बन्धस्थानमल्पतरबन्धस्थान भवति । यदि आयुषा सह उद्योतस्य बन्धोपरमस्तर्हि सप्ततितोऽष्टषष्टेः प्राप्तावप्यल्पतरबन्धस्थानस्य संभवः, किन्तु सामान्यतोऽयं नियमो यत्-आयुषा सह प्राक् पश्चाच्चान्तर्मुहूर्तं यावदेकमेव नाम्नो बन्धस्थानं प्रवर्तते इति ।

नवषष्टिबन्धस्थानस्य षट्षष्टितोऽष्टषष्टितश्च प्राप्तौ भूयस्काररूपं तत्स्थानं भवति । सप्तत्ये-कसप्ततिद्वासप्ततित्रिसप्ततिबन्धस्थानानामन्यतमबन्धस्थानादेकोनसप्ततिबन्धस्थानस्य प्राप्तौ अल्प-तरबन्धरूपं तत्स्थानं भवति । सप्ततिबन्धस्थानं पञ्चपञ्चाशत एकोनषष्टित्रिषष्ट्येकोनसप्ततिस्था-नानामन्यतमस्थानात् प्राप्तौ भूयस्कारबन्धरूपं तत्स्थानं भवति । एकसप्ततिद्वासप्ततिबन्धस्थानतः सप्ततिस्थानप्राप्तावल्पतररूपं बन्धस्थानं भवति ।

एकसप्ततिबन्धस्थानं पञ्चपञ्चाशदेकोनषष्टित्रिषष्टिचतुःषष्टिषट्षष्ट्याष्टषष्ट्येकोनसप्तति-सप्ततिबन्धस्थानानामन्यतमस्थानाद् यदा प्राप्यते तदा भूयस्काररूपं बन्धस्थानं भवति, यदा पुन-र्द्वासप्तति-त्रिसप्ततिबन्धस्थानतः तत्प्राप्यते तदाऽल्पतररूपं तद्भवति । द्वासप्ततिस्थान पुनश्चतुः-षष्टिषट्षष्ट्यष्टषष्ट्येकोनसप्ततिसप्तत्येकसप्ततिबन्धस्थानतः प्राप्यते तदा तत्स्थानं भूयस्कारबन्ध-स्थानरूपं भवति, त्रिसप्ततितः प्राप्तावल्पतररूपं तत्स्थानं ज्ञेयम् । त्रिसप्ततिबन्धस्थानं चतुः-षष्टिषट्षष्ट्यष्टषष्ट्येकोनसप्तत्येकसप्ततिद्वासप्ततिबन्धस्थानाद् यदा प्राप्यते तदा भूयस्कारबन्धस्य स्थानं भवति, यदा पुनश्चतुःसप्ततिस्थानात् प्राप्यते तदाऽल्पतरबन्धस्य स्थानं भवति । चतुः-सप्ततिबन्धस्थानं तु त्रिसप्ततिबन्धस्थानात्प्राप्यत इति तस्य भूयस्कारत्वमेवेति ।

अथोक्तनिरूपणमेव किंचित् सहेतुकं सस्वामिकं च भाव्यते, तद्यथा—श्रेणौ दशमगुणा-देकादशं द्वादशं वा गुणस्थानं प्राप्य तत्प्रथमसमय एकप्रकृतिरूपबन्धस्थानं यो बध्नाति स तदा-ऽल्पतरबन्धं करोति ।

श्रेणिमारोहतो देवगत्यादिप्रकृतीनां बन्धविच्छेदे त्रिपञ्चाशदादिबन्धस्थानचतुष्केभ्यः षड्विंशतेरल्पतरबन्धो भवति ततो हास्यादिचतुष्कविच्छेदे द्वाविंशतेरल्पतरबन्धः, ततः क्रमात् पुरुषवेदक्रोधमानमायालोभानां विच्छेदे सति एकविंशतेर्विंशतेरेकोनविंशतेरष्टादशबन्धस्थानस्य सप्तदशबन्धस्थानस्य च निर्वर्तनेनाऽल्पतरबन्धो जायते, वैपरित्येन श्रेणितोऽवरोहत एकादिबन्धस्थानतो ज्ञानावरणादिबन्धप्रारम्भे क्रमशः सप्तदशानामष्टादशानामेकोनविंशतेर्विंशतेरेकविंशतेर्द्वाविंशतेः षड्विंशतेश्च बन्धाद् भूयस्कारबन्धा भवन्ति, एवं सप्तदशादिषड्विंशत्यन्तानां सप्तानां बन्धस्थानानां भूयस्कारबन्धस्याल्पतरबन्धस्य च प्रायोग्यत्वम् ।

अष्टमगुणस्थाने पञ्चपञ्चाशद्बन्धाद् निद्राद्विकविच्छेदे त्रिपञ्चाशतो बन्धादल्पतरबन्धो भवति, षड्विंशतिबन्धात् श्रेणिमवरोहन् देवगत्यादिसप्तविंशतिबन्धप्रारम्भे त्रिपञ्चाशद्बन्धस्थानं प्राप्तो भूयस्कारबन्धं करोति । एवं षड्विंशतिस्थानाज्जिननामसहिताष्टाविंशतिनामप्रकृतिबन्धारम्भे चतुःपञ्चाशतः प्राप्तौ भूयस्कारबन्धः, षट्पञ्चाशद्बन्धाद् निद्राद्विकविच्छेदेऽल्पतरबन्धस्तथा श्रेण्यारोहक्रमाश्रित्य निद्राद्विकबन्धविच्छेदानन्तरं पञ्चपञ्चाशद्बन्धस्थानात् त्रिपञ्चाशद्बन्धस्थानं प्राप्तस्य नूतनजिननामबन्धप्रारम्भे त्रिपञ्चाशतो बन्धस्थानाच्चतुःपञ्चाशद्बन्धस्थानं प्राप्तस्य तत्स्थानं भूयस्काररूपं भवति ।

षड्विंशतित एकोनत्रिंशन्नामबन्धप्रारम्भे, यद्वा त्रिपञ्चाशतं बध्नतो निद्राद्विकबन्धारम्भे यद्वा श्रेणेरारोहकस्य त्रिपञ्चाशतं बध्नत आहारकद्विकबन्धप्रारम्भेऽष्टमगुणस्थानके पञ्चपञ्चाशद्बन्धस्थानं भूयस्काररूपं भवति, देवायुर्बन्धसहितषट्पञ्चाशद्बन्धतो देवायुर्बन्धविरामे पञ्चपञ्चाशद्बन्धस्थानमल्पतररूपं भवति, यद्वाऽऽहारकद्विकबन्धेन सह सप्तपञ्चाशद्बन्धस्थानं निर्वर्तयन् प्रमत्तगुणं प्राप्य तद्बन्धाद् विरते पञ्चपञ्चाशद्बन्धस्थानमल्पतररूपं भवति; यद्वा मिथ्यात्वतः ससम्यक्त्वं संयमं प्राप्नुवत एकसप्ततितः, अविरतसम्यक्त्वगुणस्थानतः संयमं प्राप्नुवतस्त्रिषष्टितो, देशविरतितः संयमं प्राप्नुवत एकोनषष्टितः पञ्चपञ्चाशद्बन्धस्थानं प्राप्नुवतस्तत्स्थानमल्पतरबन्धरूपं भवति । यद्वाऽऽहारकद्विकबन्धेन सह सप्तपञ्चाशद्बन्धस्थानं निर्वर्तयन् निद्राद्विकस्य बन्धविच्छेदं करोति तदा पञ्चपञ्चाशद्बन्धस्थानं तस्याल्पतररूपं भवति ।

षट्पञ्चाशद्बन्धस्थानं श्रेणितोऽवरोहतः षड्विंशतितो नाम्नस्त्रिंशत्प्रकृतिबन्धारम्भे यद्वा चतुःपञ्चाशतं बध्नतो निद्राद्विकबन्धारम्भे यद्वाऽऽरोहकस्य चतुःपञ्चाशद्बन्धत आहारकद्विकबन्धारम्भे यद्वा त्रिपञ्चाशतं बध्नत आहारकद्विकजिननामबन्धारम्भे यद्वा पञ्चपञ्चाशतमाहारकद्विकेन सह बध्नतो जिननामबन्धप्रारम्भे, यद्वा निद्राद्विकेन सह पञ्चपञ्चाशतं बध्नतो जिननामबन्धप्रारम्भे, यद्वा निद्राद्विकयुतं पञ्चपञ्चाशतं बध्नतो देवायुर्बन्धप्रारम्भे षट्पञ्चाशद्बन्धस्थानं प्राप्तस्य

न्यतमबन्धप्रारम्भेन प्राप्यते तदा भूयस्काररूपं तत्स्थानं भवति, पञ्चषष्टितो द्वासप्ततितस्त्रि-सप्ततितश्च यदा प्राप्यते तदा तत्स्थानमल्पतरबन्धरूपं ज्ञेयम् ।

पञ्चषष्टिस्थानमेकादिषड्विंशतिस्थानेभ्यस्तथा चतुःपञ्चाशत्षट्पञ्चाशदष्टपञ्चाशत्-षष्टिचतुःषष्टिस्थानेभ्य यदा प्राप्यते तदा भूयस्कारबन्धरूपं भवति, षट्षष्टितो द्वासप्ततितश्च प्राप्यते तदा अल्पतरबन्धरूपं तत्स्थान भवति । षट्षष्टिबन्धस्थानं पञ्चषष्टितो भूयस्काररूपं भवति सप्त-षष्ट्यष्टषष्ट्ये कोनसप्तत्येकसप्ततिद्वासप्ततित्रिसप्ततिबन्धस्थानानामन्यतमबन्धस्थानाच्चत्स्थानप्राप्ताव-ल्पतररूपं बन्धस्थानं भवति । सप्तषष्टेः षट्षष्टित एवागमनात् तत्स्थानं भूयस्काररूपं ज्ञेयम् । अष्टषष्टेः प्राप्तिः षट्षष्टितो भवति तदा भूयस्काररूपं तत्स्थानम् , एकोनसप्तत्येकसप्ततिद्वा-सप्ततित्रिसप्ततिबन्धस्थानानामन्यतमस्थानादष्टषष्टेः प्राप्तौ तद्बन्धस्थानमल्पतरबन्धस्थान भवति । यदि आयुषा सह उद्योतस्य बन्धोपरमस्तर्हि सप्ततितोऽष्टषष्टेः प्राप्तावप्यल्पतरबन्धस्थानस्य संभवः, किन्तु सामान्यतोऽयं नियमो यत्-आयुषा सह प्राक् पश्चाच्चान्तर्मुहूर्तं यावदेकमेव नाम्नो बन्धस्थानं प्रवर्तते इति ।

नवषष्टिबन्धस्थानस्य षट्षष्टितोऽष्टषष्टितश्च प्राप्तौ भूयस्काररूपं तत्स्थानं भवति । सप्तत्ये-कसप्ततिद्वासप्ततित्रिसप्ततिबन्धस्थानानामन्यतमबन्धस्थानादेकोनसप्ततिबन्धस्थानस्य प्राप्तौ अल्प-तरबन्धरूपं तत्स्थानं भवति । सप्ततिबन्धस्थानं पञ्चपञ्चाशत एकोनषष्टित्रिषष्ट्येकोनसप्ततिस्था-नानामन्यतमस्थानात् प्राप्तौ भूयस्कारबन्धरूपं तत्स्थानं भवति । एकसप्ततिद्वासप्ततिबन्धस्थानतः सप्ततिस्थानप्राप्तावल्पतररूपं बन्धस्थानं भवति ।

एकसप्ततिबन्धस्थानं पञ्चपञ्चाशदेकोनषष्टित्रिषष्टिचतुःषष्टिषट्षष्ट्याष्टषष्ट्येकोनसप्तति-सप्ततिबन्धस्थानानामन्यतमस्थानाद् यदा प्राप्यते तदा भूयस्काररूपं बन्धस्थानं भवति, यदा पुन-र्द्वासप्तति-त्रिसप्ततिबन्धस्थानतः तत्प्राप्यते तदाऽल्पतररूपं तद्भवति । द्वासप्ततिस्थानं पुनश्चतुः-षष्टिषट्षष्ट्यष्टषष्ट्येकोनसप्ततिसप्तत्येकसप्ततिबन्धस्थानतः प्राप्यते तदा तत्स्थानं भूयस्कारबन्ध-स्थानरूपं भवति, त्रिसप्ततितः प्राप्तावल्पतररूपं तत्स्थानं ज्ञेयम् । त्रिसप्ततिबन्धस्थानं चतुः-षष्टिषट्षष्ट्यष्टषष्ट्येकोनसप्तत्येकसप्ततिद्वासप्ततिबन्धस्थानाद् यदा प्राप्यते तदा भूयस्कारबन्धस्य स्थानं भवति, यदा पुनश्चतुःसप्ततिस्थानात् प्राप्यते तदाऽल्पतरबन्धस्य स्थानं भवति । चतुः-सप्ततिबन्धस्थानं तु त्रिसप्ततिबन्धस्थानात्प्राप्यत इति तस्य भूयस्कारत्वमेवेति ।

अथोक्तनिरूपणमेव किंचित् सहेतुकं सस्वामिकं च भाव्यते, तद्यथा—श्रेणौ दशमगुणा-देकादशं द्वादशं वा गुणस्थानं प्राप्य तत्प्रथमसमय एकप्रकृतिरूपबन्धस्थानं यो बध्नाति स तदा-ऽल्पतरबन्धं करोति ।

श्रेणिमारोहतो देवगत्यादिप्रकृतीनां बन्धविच्छेदे त्रिपञ्चाशदादिबन्धस्थानचतुष्केभ्यः षड्विंशतेरल्पतरबन्धो भवति ततो हास्यादिचतुष्कविच्छेदे द्वाविंशतेरल्पतरबन्धः, ततः क्रमात् पुरुषवेदक्रोधमानमायालोभानां विच्छेदे सति एकविंशतेर्विंशतेरेकोनविंशतेरष्टादशबन्धस्थानस्य सप्तदशबन्धस्थानस्य च निर्वर्तनेनाऽल्पतरबन्धो जायते, वैपरीत्येन श्रेणितोऽवरोहत एकादिबन्धस्थानतो ज्ञानावरणादिबन्धप्रारम्भे क्रमशः सप्तदशानामष्टादशानामेकोनविंशतेर्विंशतेरेकविंशतेर्द्वाविंशतेः षड्विंशतेश्च बन्धाद् भूयस्कारबन्धा भवन्ति, एवं सप्तदशादिषड्विंशत्यन्तानां सप्तानां बन्धस्थानानां भूयस्कारबन्धस्याल्पतरबन्धस्य च प्रायोग्यत्वम् ।

अष्टमगुणस्थाने पञ्चपञ्चाशद्बन्धाद् निद्राद्विकविच्छेदे त्रिपञ्चाशतो बन्धादल्पतरबन्धो भवति, षड्विंशतिबन्धात् श्रेणिमवरोहन् देवगत्यादिसप्तविंशतिबन्धप्रारम्भे त्रिपञ्चाशद्बन्धस्थानं प्राप्तो भूयस्कारबन्धं करोति । एवं षड्विंशतिस्थानाज्जिननामसहिताष्टाविंशतिनामप्रकृतिबन्धारम्भे चतुःपञ्चाशतः प्राप्तौ भूयस्कारबन्धः, षट्पञ्चाशद्बन्धाद् निद्राद्विकविच्छेदेऽल्पतरबन्धस्तथा श्रेण्यारोहकमाश्रित्य निद्राद्विकबन्धविच्छेदानन्तरं पञ्चपञ्चाशद्बन्धस्थानात् त्रिपञ्चाशद्बन्धस्थानं प्राप्तस्य नूतनजिननामबन्धप्रारम्भे त्रिपञ्चाशतो बन्धस्थानाच्चतुःपञ्चाशद्बन्धस्थानं प्राप्तस्य तत्स्थानं भूयस्काररूपं भवति ।

षड्विंशतित एकोनत्रिंशन्नामबन्धप्रारम्भे, यद्वा त्रिपञ्चाशतं बध्नतो निद्राद्विकबन्धारम्भे यद्वा श्रेणेरारोहकस्य त्रिपञ्चाशतं बध्नत आहारकद्विकबन्धप्रारम्भेऽष्टमगुणस्थानके पञ्चपञ्चाशद्बन्धस्थानं भूयस्काररूपं भवति, देवायुर्बन्धसहितषट्पञ्चाशद्बन्धतो देवायुर्बन्धविरामे पञ्चपञ्चाशद्बन्धस्थानमल्पतररूपं भवति, यद्वाऽऽहारकद्विकबन्धेन सह सप्तपञ्चाशद्बन्धस्थानं निर्वर्तयन् प्रमत्तगुणं प्राप्य तद्बन्धाद् विरते पञ्चपञ्चाशद्बन्धस्थानमल्पतररूपं भवति; यद्वा मिथ्यात्वतः ससम्यक्त्वं संयमं प्राप्नुवत एकसप्ततितः, अविरतसम्यक्त्वगुणस्थानतः संयमं प्राप्नुवतस्त्रिषष्टितो, देशविरतितः संयमं प्राप्नुवत एकोनषष्टितः पञ्चपञ्चाशद्बन्धस्थानं प्राप्नुवतस्तत्स्थानमल्पतरबन्धरूपं भवति । यद्वाऽऽहारकद्विकबन्धेन सह सप्तपञ्चाशद्बन्धस्थानं निर्वर्तयन् निद्राद्विकस्य बन्धविच्छेदं करोति तदा पञ्चपञ्चाशद्बन्धस्थानं तस्याल्पतररूपं भवति ।

षट्पञ्चाशद्बन्धस्थानं श्रेणितोऽवरोहतः षड्विंशतितो नाम्नस्त्रिंशत्प्रकृतिबन्धारम्भे यद्वा चतुःपञ्चाशतं बध्नतो निद्राद्विकबन्धारम्भे यद्वाऽऽरोहकस्य चतुःपञ्चाशद्बन्धत आहारकद्विकबन्धारम्भे यद्वा त्रिपञ्चाशतं बध्नत आहारकद्विकजिननामबन्धारम्भे यद्वा पञ्चपञ्चाशतमाहारकद्विकेन सह बध्नतो जिननामबन्धप्रारम्भे, यद्वा निद्राद्विकेन सह पञ्चपञ्चाशतं बध्नतो जिननामबन्धप्रारम्भे, यद्वा निद्राद्विकयुतं पञ्चपञ्चाशतं बध्नतो देवायुर्बन्धप्रारम्भे षट्पञ्चाशद्बन्धस्थानं प्राप्तस्य

तत्स्थानं भूयस्कारबन्धरूपं भवति। देवायुःसहितं सप्तपञ्चाशतं बध्नत आयुर्बन्धविरामे, यद्वाऽऽहारकद्विकजिननामसहितमष्टपञ्चाशतं बध्नत आहारकद्विकबन्धविरामे, यद्वाऽऽहारकद्विकजिननामसहितमष्टपञ्चाशतं बध्नतो निद्राद्विकबन्धविरामे, यद्वा जिननामसहितं चतुःषष्टिं बध्नतोऽविरतसम्यग्दृष्टेः संयमं प्राप्तस्य षट्पञ्चाशतं बध्नतः यद्वा षष्टिं बध्नतो देशविरतस्य संयमप्राप्तस्य षट्पञ्चाशतं बध्नतः षट्पञ्चाशद्बन्धस्थानमल्पतररूपं भवति।

सप्तपञ्चाशद्बन्धस्थानम्—निद्राद्विकेन सह पञ्चपञ्चाशतं बध्नत आहारकद्विकस्य बन्धप्रारम्भे, यद्वा आहारकद्विकसहितं पञ्चपञ्चाशतं बध्नतो निद्राद्विकबन्धारम्भे, यद्वा निद्राद्विकजिननामसहितषट्पञ्चाशतं बध्नतो देवायुर्बन्धप्रारम्भे तत्स्थानं भूयस्काररूपं भवति। देवायुष्कयुताष्टपञ्चाशतं बध्नतो देवायुर्बन्धविरामे, यद्वा एकोनषष्टिं बध्नतो देशविरतस्याऽप्रमत्तसंयमं प्राप्नुवत आहारकद्विकं बध्नत एकोनषष्टितः सप्तपञ्चाशद्बन्धस्थानं प्राप्तस्य तत्स्थानमल्पतरबन्धरूपं भवति। एवं चतुर्थगुणस्थानतोऽप्रमत्तसंयमं प्राप्तस्य त्रिषष्टितो मिथ्यात्वगुणस्थानतोऽप्रमत्तसंयमं प्राप्तस्यैकसप्ततितः सप्तपञ्चाशद्बन्धं कुर्वतोऽल्पतरबन्धरूपं तद् भवति।

अष्टपञ्चाशद्बन्धस्थानम्—निद्राद्विकसहितपञ्चपञ्चाशद्बन्धस्थानत आहारकद्विकजिननामबन्धारम्भे यद्वा निद्राद्विकजिननामसहितषट्पञ्चाशद्बन्धस्थानत आहारकद्विकबन्धारम्भे, यद्वा आहारकद्विकजिननामसहितषट्पञ्चाशतंबध्नतो निद्राद्विकबन्धारम्भे, यद्वा निद्राद्विकाऽऽहारकद्विकसहितसप्तपञ्चाशद्बन्धस्थानतो जिननामबन्धारम्भे भूयस्काररूपं भवति। संयतस्य देवायुष्कसहितैकोनषष्टिं बध्नतो देवायुष्कबन्धविरामेऽष्टपञ्चाशद्बन्धस्थानमल्पतररूपं भवति। षष्टिबन्धस्थानगतो देशविरतोऽप्रमत्तसंयमं प्राप्याऽऽहारकद्विकं बध्नाति, स षष्टिस्थानतोऽष्टपञ्चाशद्बन्धस्थानगतस्तत्स्थानमल्पतरबन्धरूप निर्वर्तयति। एवं जिननामसहितचतुःषष्टिबन्धस्थानतोऽप्यष्टपञ्चाशद्बन्धस्थानस्याल्पतरबन्धत्वं भावनीयम्।

एकोनषष्टिबन्धस्थानम्—प्रमत्तसंयतो जिननामदेवायुर्बन्धसहितं सप्तपञ्चाशतं बध्नन् सप्तमगुणस्थानं प्राप्य आहारकद्विकबन्धप्रारम्भेण नवपञ्चाशद् बध्नन् भूयस्कारं करोति। प्रमत्तसयतस्य पञ्चपञ्चाशद्बन्धस्थानं बध्नतो देशविरतिं प्राप्यैकोनषष्टिबन्धस्थानं निर्वर्तयतस्तत्स्थानं भूयस्काररूपं भवति। देवायुर्बन्धसहितं षष्टिबन्धस्थानं बध्नत आयुर्बन्धविरामे देशविरतस्य तत्स्थानमल्पतरबन्धं भवति, प्रथमगुणतः पञ्चमगुणं प्राप्तस्यैकसप्ततित एकोनषष्टिं बध्नतः, चतुर्थगुणस्थानतः पञ्चमगुणस्थानं प्राप्तस्य त्रिषष्टित एकोनषष्टिं बध्नतस्तत्स्थानमल्पतरबन्धरूपं भवति, एवं स्थानत्रयात् प्रस्तुतस्थानमल्पतररूपं भवति।

- षष्टिबन्धस्थानम्—जिननामसहितं षट्पञ्चाशतं बध्नन् प्रमत्तसंयतो देशविरतिं प्राप्य षष्टिं बध्नाति तदा तत्स्थानं भूयस्काररूपं भवति। देशविरतो जिननाम देवायुष्कं च विमुच्यैकोन-

षष्टिं बध्नन् देवायुर्बन्धप्रारम्भे जिननामबन्धारम्भे वा षष्टिं बध्नाति तदापि तत्स्थानं भूयस्काररूपं भवति । जिननामदेवायुष्कसहितमेकषष्टिं बध्नन् देशविरतो देवायुर्बन्धविरामे षष्टिं बध्नाति तदा तत्स्थानमल्पतररूपं भवति, जिननामसहितं चतुःषष्टिं बन्धस्थानं बध्नन्नविरतसम्यग्दृष्टि-मनुष्यो देशविरतिं प्राप्य षष्टिं बध्नाति तदा स तत्स्थानमल्पतरबन्धरूपं भवति । एवं प्रकार-द्वयेन षष्टिबन्धस्थानमल्पतररूपं भवति ।

एकषष्टिबन्धस्थानम्--जिननामबन्धकदेशविरतस्य षष्टिबन्धस्थानं निर्वर्तकस्य देवायुष्क-बन्धारम्भ एकषष्टिस्थानं भूयस्काररूपं भवति, प्रस्तुतस्थानमन्यथा भूयस्काररूपं न भवति, अल्पतररूपं प्रस्तुतस्थानं नैव भवति ।

त्रिषष्टिस्थानम्--षष्ठगुणस्थानतश्चतुर्थं गुणस्थानं प्राप्तस्य पञ्चपञ्चाशद्बन्धस्थानतस्त्रि-षष्टिबन्धस्थाननिर्वर्तकस्य तत्स्थानं भूयस्काररूपं भवति, पञ्चमगुणस्थानतश्चतुर्थगुणस्थानं प्राप्तस्यै-कोनषष्टितस्त्रिषष्टिं बध्नतस्तत्स्थानं भूयस्काररूपं भवति । यद्वा तदेव स्थानम्--ससम्यक्त्वजीवो देवनैरयिकेभ्यश्च्युत्वा मनुष्येषूत्पद्य मनुष्यप्रायोग्यैकोनत्रिंशद्बन्धस्थानतो विरम्य देवप्रायोग्या-ष्टाविंशतिबन्धस्थानं बध्नाति, तदा चतुःषष्टिबन्धस्थानतस्त्रिषष्टिं प्राप्तस्य तस्य तत्स्थानमल्पतर-बन्धरूपं भवति । यद्वा देवायुष्कबन्धसहितं चतुःषष्टिं बध्नतो देवायुर्बन्धविरामे त्रिषष्टिबन्धस्थानं निर्वर्तयतस्तत्स्थानमल्पतरबन्धरूपं भवति । प्रथमगुणतश्चतुर्थगुणं प्राप्तानां तिर्यग्मनुष्याणामेक-सप्ततितस्त्रिषष्टिं प्राप्तानां तत्स्थानमल्पतरबन्धरूपं भवति ।

चतुःषष्टिबन्धस्थानम्--षष्ठगुणस्थानकाज्जिननामसहितषट्पञ्चाशत्स्थानात्तथा पञ्चमगुण-स्थानाज्जिननामसहितषष्टिबन्धस्थानाच्चतुर्थगुणस्थानं प्राप्नोति तदा तत्स्थानं भूयस्काररूपं भवति । एक-सप्तदशा-ष्टादशै-कोनविंशति-विंशत्ये-कविंशति-द्वाविंशति-षड्विंशति-त्रिपञ्चाशत्-पञ्चपञ्चाशत्-सप्तपञ्चाश-देकोनषष्टिबन्धस्थानगताः कालं कृत्वा दिवि समुत्पन्नाश्चतुर्थगुणं प्राप्ताः सन्तश्चतुःषष्टि-बन्धस्थानमुक्तबन्धस्थानेभ्यो निर्वर्तयन्तस्तत्स्थानं भूयस्कारबन्धरूपं कुर्वन्ति । त्रिषष्टिं गता आयुर्बन्धप्रारम्भेण यद्वा जिननामबन्धप्रारम्भेण यद्वा मरणेन स्वर्गे नरकं वा प्राप्ताश्चतुःषष्टेर्बन्ध-स्थानं निर्वर्तयन्तस्तत्स्थानं भूयस्कारबन्धरूपं कुर्वन्ति । पञ्चषष्टिं जिननामसहितं देवेषु नैर-यिकेषु बध्नन् ततश्च्युत्वा मनुष्येषूत्पन्नः पञ्चषष्टितश्चतुःषष्टिं बध्नाति तदा तस्य तत्स्थानमल्प-तररूपं भवति, एवं मनुष्याणामपि जिननामदेवायुष्काभ्यां सहितं पञ्चषष्टिं बध्नतामायुर्बन्ध-विरामे, एवं देवनैरयिकाणां जिननामाबन्धकानामायुर्बन्धविरामे चतुःषष्टेरल्पतरबन्धो भवति, देवनारकाणां द्वासप्ततिस्थानतः सप्तमनैरयिकाणां त्रिसप्ततितो द्वासप्ततेश्च सम्यक्त्वलाभे चतुः-षष्टिं बध्नतां तत्स्थानमल्पतरबन्धरूपं भवति ।

पञ्चषष्टिबन्धस्थानम्--एकसप्तदशाष्टादशैकोनविंशति-विंशत्येकविंशति--द्वाविंशति-षड्-

तत्स्थानं भूयस्कारबन्धरूपं भवति। देवायुःसहितं सप्तपञ्चाशतं बध्नत आयुर्बन्धविरामे, यद्वाऽऽहारकद्विकजिननामसहितमष्टपञ्चाशतं बध्नत आहारकद्विकबन्धविरामे, यद्वाऽऽहारकद्विकजिननामसहितमष्टपञ्चाशतं बध्नतो निद्राद्विकबन्धविरामे, यद्वा जिननामसहितं चतुःषष्टिं बध्नतोऽविरतसम्यग्दृष्टेः संयमं प्राप्तस्य षट्पञ्चाशतं बध्नतः यद्वा षष्टिं बध्नतो देशविरतस्य संयमप्राप्तस्य षट्पञ्चाशतं बध्नतः षट्पञ्चाशद्बन्धस्थानमल्पतररूपं भवति।

सप्तपञ्चाशद्बन्धस्थानम्—निद्राद्विकेन सह पञ्चपञ्चाशतं बध्नत आहारकद्विकस्य बन्धप्रारम्भे, यद्वा आहारकद्विकसहितं पञ्चपञ्चाशतं बध्नतो निद्राद्विकबन्धारम्भे, यद्वा निद्राद्विकजिननामसहितषट्पञ्चाशतं बध्नतो देवायुर्बन्धप्रारम्भे तत्स्थानं भूयस्काररूपं भवति। देवायुष्कयुताष्टपञ्चाशतं बध्नतो देवायुर्बन्धविरामे, यद्वा एकोनषष्टिं बध्नतो देशविरतस्याऽप्रमत्तसंयमं प्राप्नुवत आहारकद्विकं बध्नत एकोनषष्टितः सप्तपञ्चाशद्बन्धस्थानं प्राप्तस्य तत्स्थानमल्पतरबन्धरूपं भवति। एवं चतुर्थगुणस्थानतोऽप्रमत्तसंयमं प्राप्तस्य त्रिषष्टितो मिथ्यात्वगुणस्थानतोऽप्रमत्तसंयमं प्राप्तस्यैकसप्ततितः सप्तपञ्चाशद्बन्धं कुर्वतोऽल्पतरबन्धरूपं तद्भवति।

अष्टपञ्चाशद्बन्धस्थानम्—निद्राद्विकसहितपञ्चपञ्चाशद्बन्धस्थानत आहारकद्विकजिननामबन्धारम्भे यद्वा निद्राद्विकजिननामसहितषट्पञ्चाशद्बन्धस्थानत आहारकद्विकबन्धारम्भे, यद्वा आहारकद्विकजिननामसहितषट्पञ्चाशतंबध्नतो निद्राद्विकबन्धारम्भे, यद्वा निद्राद्विकाऽऽहारकद्विकसहितसप्तपञ्चाशद्बन्धस्थानतो जिननामबन्धारम्भे भूयस्काररूपं भवति। संयतस्य देवायुष्कसहितैकोनषष्टिं बध्नतो देवायुष्कबन्धविरामेऽष्टपञ्चाशद्बन्धस्थानमल्पतररूपं भवति। षष्टिबन्धस्थानगतो देशविरतोऽप्रमत्तसंयमं प्राप्याऽऽहारकद्विकं बध्नाति, स षष्टिस्थानतोऽष्टपञ्चाशद्बन्धस्थानगतस्तत्स्थानमल्पतरबन्धरूपं निर्वर्तयति। एवं जिननामसहितचतुःषष्टिबन्धस्थानतोऽप्यष्टपञ्चाशद्बन्धस्थानस्याल्पतरबन्धत्वं भावनीयम्।

एकोनषष्टिबन्धस्थानम्—प्रमत्तसंयतो जिननामदेवायुर्बन्धसहितं सप्तपञ्चाशतं बध्नन् सप्तमगुणस्थानं प्राप्य आहारकद्विकबन्धप्रारम्भेण नवपञ्चाशद्बध्नन् भूयस्कारं करोति। प्रमत्तसयतस्य पञ्चपञ्चाशद्बन्धस्थानं बध्नतो देशविरतिं प्राप्यैकोनषष्टिबन्धस्थानं निर्वर्तयतस्तत्स्थानं भूयस्काररूपं भवति। देवायुर्बन्धसहितं षष्टिबन्धस्थानं बध्नत आयुर्बन्धविरामे देशविरतस्य तत्स्थानमल्पतरबन्धं भवति, प्रथमगुणतः पञ्चमगुणं प्राप्तस्यैकसप्त[illegible] एकोनषष्टिं बध्नतः, चतुर्थगुणस्थानतः पञ्चमगुणस्थानं प्राप्तस्य त्रिषष्टित एकोनषष्टिं बध्नतस्तत्स्थानमल्पतरबन्धरूपं भवति, एवं स्थानत्रयात् प्रस्तुतस्थानमल्पतररूपं भवति।

षष्टिबन्धस्थानम्—जिननामसहितं षट्पञ्चाशतं बध्नन् प्रमत्तसंयतो देशविरतिं प्राप्य षष्टिं बध्नाति तदा तत्स्थानं भूयस्काररूपं भवति। देशविरतो जिननाम देवायुष्कं च विमुच्यैकोन-

षष्टिं बध्नन् देवायुर्बन्धप्रारम्भे जिननामबन्धारम्भे वा षष्टिं बध्नाति तदापि तत्स्थानं भूयस्काररूपं भवति। जिननामदेवायुष्कसहितमेकषष्टिं बध्नन् देशविरतो देवायुर्बन्धविरामे षष्टिं बध्नाति तदा तत्स्थानमल्पतररूपं भवति, जिननामसहितं चतुःषष्टिं बन्धस्थानं बध्नन्नविरतसम्यग्दृष्टि-मनुष्यो देशविरतिं प्राप्य षष्टिं बध्नाति तदा स तत्स्थानमल्पतरबन्धरूपं भवति। एवं प्रकार-द्वयेन षष्टिबन्धस्थानमल्पतररूपं भवति।

एकषष्टिबन्धस्थानम्—जिननामबन्धकदेशविरतस्य षष्टिबन्धस्थानं निर्वर्तकस्य देवायुष्क-बन्धारम्भ एकषष्टिस्थानं भूयस्काररूपं भवति, प्रस्तुतस्थानमन्यथा भूयस्काररूपं न भवति, अल्पतररूपं प्रस्तुतस्थानं नैव भवति।

त्रिषष्टिस्थानम्—षष्ठगुणस्थानतश्चतुर्थं गुणस्थानं प्राप्तस्य पञ्चपञ्चाशद्बन्धस्थानतस्त्रि-षष्टिबन्धस्थाननिर्वर्तकस्य तत्स्थानं भूयस्काररूपं भवति, पञ्चमगुणस्थानतश्चतुर्थगुणस्थानं प्राप्तस्यै-कोनषष्टितस्त्रिषष्टिं बध्नतस्तत्स्थानं भूयस्काररूपं भवति। यद्वा तदेव स्थानम्—ससम्यक्त्वजीवो देवनैरयिकेभ्यश्च्युत्वा मनुष्येषूत्पद्य मनुष्यप्रायोग्यैकोनत्रिंशद्बन्धस्थानतो विरम्य देवप्रायोग्या-ष्टाविंशतिबन्धस्थानं बध्नाति, तदा चतुःषष्टिबन्धस्थानतस्त्रिषष्टिं प्राप्तस्य तस्य तत्स्थानमल्पतर-बन्धरूपं भवति। यद्वा देवायुष्कबन्धसहितं चतुःषष्टिं बध्नतो देवायुर्बन्धविरामे त्रिषष्टिबन्धस्थानं निर्वर्तयतस्तत्स्थानमल्पतरबन्धरूपं भवति। प्रथमगुणतश्चतुर्थगुणं प्राप्तानां तिर्यग्मनुष्याणामेक-सप्ततितस्त्रिषष्टिं प्राप्तानां तत्स्थानमल्पतरबन्धरूपं भवति।

चतुःषष्टिबन्धस्थानम्—षष्ठगुणस्थानकाज्जिननामसहितषट्पञ्चाशत्स्थानात्तथा पञ्चमगुण-स्थानाज्जिननामसहितषष्टिबन्धस्थानाच्चतुर्थगुणस्थानं प्राप्नोति तदा तत्स्थानं भूयस्काररूपं भवति। एक-सप्तदशा-ष्टादशै-कोनविंशति-विंशत्ये-कविंशति-द्वाविंशति-षड्विंशति-त्रिपञ्चाशत्-पञ्चपञ्चाशत्-सप्तपञ्चाश-देकोनषष्टिबन्धस्थानगताः कालं कृत्वा दिवि समुत्पन्नाश्चतुर्थगुणं प्राप्ताः सन्तश्चतुःषष्टि-बन्धस्थानमुक्तबन्धस्थानेभ्यो निर्वर्तयन्तस्तत्स्थानं भूयस्कारबन्धरूपं कुर्वन्ति। त्रिषष्टिं गता आयुर्बन्धप्रारम्भेण यद्वा जिननामबन्धप्रारम्भेण यद्वा मरणेन स्वर्गं नरकं वा प्राप्ताश्चतुःषष्टेर्बन्ध-स्थानं निर्वर्तयन्तस्तत्स्थानं भूयस्कारबन्धरूपं कुर्वन्ति। पञ्चषष्टिं जिननामसहितं देवेषु नैर-यिकेषु बध्नन् ततश्च्युत्वा मनुष्येषूत्पन्नः पञ्चषष्टितश्चतुःषष्टिं बध्नाति तदा तस्य तत्स्थानमल्प-तररूपं भवति, एवं मनुष्याणामपि जिननामदेवायुष्काभ्यां सहितं पञ्चषष्टिं बध्नतामायुर्बन्ध-विरामे, एवं देवनैरयिकाणां जिननामाबन्धकानामायुर्बन्धविरामे चतुःषष्टेरल्पतरबन्धो भवति, देवनारकाणां द्वासप्ततिस्थानतः सप्तमनैरयिकाणां त्रिसप्ततितो द्वासप्ततेश्च सम्यक्त्वलाभे चतुः-षष्टिं बध्नतां तत्स्थानमल्पतरबन्धरूपं भवति।

पञ्चषष्टिबन्धस्थानम्—एकसप्तदशाष्टादशैकोनविंशति-विंशत्येकविंशति-द्वाविंशति षड्-

विंशति-चतुःपञ्चाशत्-षट्पञ्चाशदष्टपञ्चाशत्-षष्टिबन्धस्थानानामन्यतमत् स्थानं जिननामसहितं चतुः-षष्टिबन्धस्थानं वा बध्नन् कालं कृत्वा दिवि समुत्पन्नः पञ्चषष्टिं बध्नाति तस्य तत्स्थानं भूयस्काररूपं भवति, मनुष्यो वा चतुर्थगुणस्थाने जिननाम बध्नन् देवायुर्बन्धप्रारम्भे पञ्चषष्टे-र्भूयस्कारबन्धं करोति । देवनैरयिकाणां जिननामबन्धकानां मनुष्यायुर्बन्धविरामे षट्षष्टितः पञ्चषष्टेर्बन्धं प्राप्तानां तद्बन्धस्थानमल्पतरबन्धरूपं भवति । ये जीवाः प्राग्भवे निकाचित-जिननामसत्ताका मिथ्यात्वेन सह नरकेषूत्पद्यान्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं यदा सम्यक्त्वं प्राप्नुवन्ति ते द्वासप्ततितः पञ्चषष्टिं बध्नन्ति तदा तेषामल्पतरबन्धो भवति ।

षट्षष्टेर्बन्धस्थानम्–पञ्चषष्टितो मनुष्यायुर्बन्धप्रारम्भे जिननामबन्धकदेवनारकाणां भूय-स्काररूपं तत्स्थानं भवति । मिथ्यादृशां त्रिसप्तति द्वासप्तत्येकसप्तत्येकोनसप्तत्यष्टषष्टिस्थानानाम-न्यतमस्थानेभ्यः परावर्तमानभावेन षट्षष्टिबन्धस्थानं यदा प्राप्तं भवति तदा तत्स्थानमल्पतररूपं भवति, तिर्यगायुर्बन्धसहितं सप्तषष्टिं बध्नत आयुर्बन्धविरामे षट्षष्टिं बध्नाति तत्रापि तत्स्थान-मल्पतरबन्धरूपं भवति ।

सप्तषष्टेर्बन्धस्थानम्-मिथ्यादृष्टेरपर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यनाम्नस्त्रयोविंशतिं बध्नतः षट्-षष्टेर्बन्धो भवति तत्स्थानत एवायुर्बन्धारम्भे सप्तषष्टेः स्थानं केवलं भूयस्काररूपं भवति ।

नन्वष्टषष्ट्यादिबन्धस्थानतो नाम्नो बन्धस्थानपरावृत्तेरायुर्बन्धप्रारम्भस्य च युगपदारम्भे एवं त्रिसप्तत्यादितः सप्तषष्टेरल्पतरबन्धस्थानं कथं न प्राप्यते ? उच्यते आयुर्बन्धप्रारम्भात् प्रागन्त-र्मुहूर्ततो यद्बन्धस्थानं प्रवर्तते तस्मिन्नेव नाम्नि बन्धस्थाने आयुर्बन्धमारभ्य तदेव बन्धस्थाने तत्समाप्यते, केवलमुद्योतनाम्नो बन्धे परावृत्तिमायुर्बन्धकालमध्येऽपि स्यान्न वा इति स्वयं ज्ञातव्यम् । अतः सप्तषष्टेर्बन्धस्थानमल्पतरबन्धरूपं नास्ति ।

अष्टषष्टेर्बन्धस्थानम्—षट्षष्टितः प्राप्नुवतो मिथ्यादृष्टेर्भूयस्काररूपं भवति । एकोन-सप्तत्येकसप्ततिद्वासप्ततित्रिसप्ततिबन्धस्थानेभ्यः प्राप्नुवतोऽल्पतरबन्धरूपं तत्स्थानं भवति । परा-वर्तमानभावेन षट्षष्ट्यष्टषष्ट्येकोनसप्तत्येकसप्ततिद्विसप्ततित्रिसप्ततिरूपाणां षण्णां स्थानानां लाभात् ।

एकोनसप्ततेर्बन्धस्थानम्—षट्षष्टेरष्टषष्टेश्च परावर्तमानभावेन प्राप्नुवतो मिथ्यादृष्टे-स्तत्स्थानं भूयस्काररूपं भवति, एकोनसप्ततेर्बन्धस्थानमातपोद्योतान्यतरबन्धसहितं पर्याप्तप्रत्येक-बादरैकेन्द्रिययोग्यं बध्नतो मिथ्यादृष्टेरेव यदा तत्प्रायोग्यमायुर्बध्नाति तदा सप्ततिं बध्नाति तत आयुर्बन्धविरामे सप्ततित एकोनसप्ततेरल्पतरबन्धरूपं स्थानं भवति । एकसप्तति-द्वासप्तति-त्रि-सप्ततिस्थानेभ्यः परावर्तमानेनैकोनसप्ततिबन्धस्थानस्य प्राप्तेर्मिथ्यादृष्टेरेव तत्स्थानमल्पतर-बन्धरूपं भवति ।

सप्ततेर्बन्धस्थानम्—संयमात् सास्वादनभावं प्राप्तस्य पञ्चपञ्चाशद्‌बन्धस्थानतस्तत्स्थानं प्राप्यते, देशविरतितः सास्वादनभावं प्राप्तस्यैकोनषष्टितस्तत्स्थानं प्राप्यते, अविरतसम्यग्दृष्टितः सास्वादनभावं प्राप्तस्य तिर्यग्मनुष्याणां त्रिषष्टितस्तत्स्थानं प्राप्यते, अतः पञ्चपञ्चाशदेकोनषष्टि-त्रिषष्टिस्थानेभ्यः सप्ततिस्थानं सास्वादनापेक्षया भूयस्कारबन्धरूपं भवति, तथा मिथ्यादृष्टेरेकोन-सप्ततिबन्धस्थानत आयुर्बन्धप्रारम्भे सप्ततेर्भूयस्कारबन्धो भवति । एकसप्ततिद्वासप्ततिस्थानतः परावर्तमानभावेन सप्ततिं प्राप्तस्य सास्वादनस्य तत्स्थानमल्पतररूपं भवति, मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया तत्स्थानमल्पतररूपं नैव भवति । सास्वादनस्यैवैकसप्ततितो देवायुर्बन्धविरामेणाऽपि सप्ततिबन्ध-स्थानमल्पतररूपं भवति ।

एकसप्ततेर्बन्धस्थानं—संयमाद् देशविरतितोऽविरतसम्यग्दृष्टिगुणाद् वा मिथ्यात्वं प्राप्तस्य तत्प्रथमसमये पञ्चपञ्चाशत्त एकोनषष्टितस्त्रिषष्टितश्च एकसप्ततिं प्राप्तस्य भूयस्काररूपं तत्स्थानं भवति, सम्यक्त्वात् प्रपत्य सास्वादनभावप्राप्तानां देवनारकाणां चतुःषष्टित एकसप्ततेः स्थानं भूयस्काररूपं भवति, मिथ्यादृष्टेः परावर्तमानभावेन षट्षष्ट्यष्टषष्ट्येकोनसप्ततिस्थानेभ्यः एत-त्स्थानं प्राप्नुवतः तत्स्थानं भूयस्काररूपं भवति । सास्वादनस्थितस्य सप्ततित एकसप्ततिं बध्न-तस्तत्स्थानं भूयस्काररूपं भवति । सास्वादनस्थितस्य द्वासप्ततिस्थानतो मिथ्यादृष्टेर्द्वासप्ततित-स्त्रिसप्ततिस्थानतश्चाऽपि परावर्तमानभावेनैकसप्ततेरल्पतरबन्धस्थानं भवति ।

द्वासप्ततिबन्धस्थानम्—देवनारकाणां सम्यक्त्वतः प्रपततां मिथ्यात्वं प्राप्तानां चतुःषष्टितो द्वासप्ततिस्थानं गतानां तत्स्थानं भूयस्कारबन्धरूपं भवति, मिथ्यादृष्टिः परावर्तमानपरिणामेन षट्षष्ट्यष्टषष्ट्येकोनसप्तत्येकसप्ततिस्थानेभ्यो द्वासप्ततिस्थानं भूयस्काररूपं करोति, सास्वादनगतस्य सप्तत्येकसप्ततितश्च भूयस्काररूपं द्वासप्ततिर्भवति, सप्तमनारकः सम्यक्त्वतः सास्वादनं गत-श्चतुःषष्टिस्थानतस्तिर्यक्प्रायोग्यमुद्योतसहितं द्वासप्ततिं बध्नाति तदा तत्स्थानं भूयस्काररूपं भवति, द्वासप्ततिस्थानं त्रिसप्ततिस्थानादायुर्बन्धविरामेणोद्योतनामविरामेण वाऽल्पतरबन्धस्थानं भवति ।

त्रिसप्ततिबन्धस्थानम्—सप्तमनारकाणां सम्यक्त्वतः प्रपततां मिथ्यात्वं प्राप्तानां चतुः-षष्टित उद्योतसहितं त्रिसप्ततिं बध्नतां भूयस्काररूपं तत्स्थानं भवति । सास्वादनस्य द्वासप्ततित आयुर्बन्धसहितं त्रिसप्ततिं बध्नतो भूयस्काररूपं तत्स्थानं भवति । मिथ्यादृष्टेः परावर्तमान-भावेन षट्षष्ट्यष्टषष्ट्येकोनसप्तत्येकसप्ततिद्वासप्ततिस्थानेभ्यस्त्रिसप्ततिं बध्नतो भूयस्काररूपं तत्स्थानं ज्ञेयम् । मिथ्यादृष्टेश्चतुःसप्ततिस्थानं बध्नत आयुर्बन्धविरामे त्रिसप्ततिरूपमल्पतरं स्थानं भवति ।

चतुःसप्ततिबन्धस्थानम्—मिथ्यादृष्टेस्त्रिसप्ततिबन्धस्थानं बध्नत आयुर्बन्धप्रारम्भे

चतुःसप्ततिरूपं स्थानं भूयस्काररूपं भवति, चतुःसप्ततेरूर्ध्वं बन्धप्रायोग्यस्थानानामभावात् तत्स्थानमल्पतररूपं नैव स्यादिति ॥२२१॥

तदेवमोघतः सर्वोत्तरप्रकृतिसत्कपरस्थानविषयकबन्धस्थानेषु भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धानां सत्त्वं प्रतिपादितम् । परस्थानप्ररूपणायामवक्तव्यबन्धस्य चाभाव एवेति ।

अथ मार्गणासु संभवद्बन्धस्थानेषु भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धानां सत्त्वं प्रतिपादयन्नाह—

होअइ अवट्ठिओ चिअ बंधो अकसायकेवलदुगेसुं ।
सुहमाहक्खायेसुं मीसे सेसासु ओघव्व ॥२२२॥

(प्रे०) "होअई"त्यादि, यासु यासु मार्गणासु द्व्याद्यनेकबन्धस्थानानां सम्भवस्तासु भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धाः सत्तया भवन्ति, यासु केवलमेकमेव बन्धस्थानं तासु भूयस्काराल्पतरबन्धाभावात् केवलमवस्थितबन्ध एव । अत्राऽकषाय-केवलज्ञान-केवलदर्शन-यथाख्यातसंयममार्गणाचतुष्क एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्यैव भावाद् भूयस्काराल्पतरबन्धौ न स्तः, सूक्ष्मसम्पराये सप्तदशप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्यैव भावात् पञ्चसु मार्गणासु केवलोऽवस्थितबन्ध एव । सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायां त्रिषष्टिचतुःषष्टिरूपबन्धस्थानद्वयस्य भावेऽप्येकजीवस्यैकस्यैव बन्धस्थानस्य लाभान्न स्तः भूयस्काराल्पतरबन्धौ, केवलोऽवस्थित एव बन्धो भवति । शेषास्वष्टषष्ट्यु त्तरशतमार्गणासु भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धा भवन्ति । कुतः ? एकजीवस्यापि निरन्तरमार्गणाकाले नानाबन्धस्थानानां लाभसद्भावादिति । भावना तु सुगमा ॥२२२॥

॥ श्री प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधान उत्तरप्रकृतिबन्धे तृतीये भू- ाराधिकारे परस्थाननिरूपणाया प्रथमं सत्पदद्वारं समाप्तम् ॥

॥ द्वितीयं स्वामित्वद्वारम् ॥

गतं सत्पदद्वारम् । अथ स्वामित्वद्वारावसरस्तत्राऽऽदावोघतो भूयस्कारादित्रयाणां पदानां स्वामित्वं प्राह–

उत्तरपयडी ँ खलु भूओगारं कुणेइ सुहमंता ।
अप्पयरं खीणंता सजोगिअंता अवट्ठाणं ॥२२३॥

(प्रे०) "उत्तरे"त्यादि, सत्पदनिरूपणानन्तरं स्वामित्वद्वारे प्रथमादिदशमान्तगुणस्थानगतजीवाः सर्वोत्तरप्रकृतीनां समुदितबन्धस्थानान्यपेक्ष्य भूयस्कारमल्पतरमवस्थितं च बध्नन्ति । तत्रोपरितनगुणस्थानेभ्योऽधस्तनगुणस्थानं प्राप्ताः सर्वे भूयस्कारबन्धस्वामिनः, केवलं तृतीयगुणस्थाने पञ्चमषष्ठगुणाभ्यामागता भूयस्कारबन्धस्वामिनो विज्ञेयाः, न पुनश्चतुर्थगुणस्थानत आगता अपि । स्वस्वगुणस्थानस्थिता अपि भूयस्कारबन्धस्वामिनो भवन्ति, विहाय तृतीयदशमगुणस्थानद्वयम् । अधस्तनगुणस्थानेभ्य उपरितनगुणं प्राप्ता अल्पतरबन्धस्वामिनो भवन्ति, विहायाऽष्टमगुणस्थानम्, तथा द्वितीयगुणस्थानत उपर्यारोहणाभावस्तृतीयगुणतश्चतुर्थं प्राप्तास्तस्यैव बन्धस्थानस्य भावेनाल्पतरबन्धाभावात् प्रथमगुणस्थानतश्चतुर्थगुणं तृतीयगुणं च प्राप्ता अल्पतरबन्धस्वामिनो भवन्ति; एवं षष्ठगुणस्थानतः सप्तमगुणस्थानप्राप्तावल्पतरबन्धाभावेऽपि प्रथमचतुर्थपञ्चमान्तगुणेभ्यः सप्तमगुणस्थानप्राप्तावल्पतरबन्धस्वामिनस्ते भवन्ति । स्वस्वगुणस्थानं स्थितास्तृतीयं दशमं च गुणस्थानं विहायाऽल्पतरबन्धस्वामिनः स्युः । तथा दशमगुणादेकादशं द्वादशं वा प्राप्तास्तत्प्रथमसमयेऽल्पतरबन्धस्वामिनः ।

दशमान्तगुणस्थानगता भूयस्काराल्पतरबन्धस्वामिनो विहाय सर्वेऽवस्थानबन्धस्वामिनः । अप्रथमसमयवर्तिनः सर्वे एकादशद्वादशगुणस्थानगताः सर्वे सयोगिकेवलिनश्चावस्थितबन्धस्वामिनो विज्ञेयाः । अत्र क्वचिन्नाम्नो बन्धस्थानपरावृत्त्या कुत्रचिन्मोहनीयबन्धस्थानपरावृत्त्या क्वचिदायुर्बन्धतस्तन्निवृत्त्या वा क्वचिद् ज्ञानावरणादिमूलकर्मबन्धप्रवृत्त्या तन्निवृत्त्या वा भूयस्काराल्पतरबन्धौ, तदभावे चावस्थितबन्धः, एवं सत्पदद्वारदर्शितप्रकारेण त्रयोबन्धाः निर्णेतव्याः, तदनुसारेण च स्वामित्वं द्रष्टव्यमिति । अयोगिनस्तु त्रयाणामपि पदानां स्वामिनो न भवन्ति, प्रकृतिबन्धाभावादिति ॥२२३॥

अथ मार्गणासु भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धस्वामिनो निरूपयन्नाह–

भूओगाराईणं तिमणुसदुपणिदितसअवेएसुं ।
संजमभविएसु तहा सम्मे खइअम्मि ओघव्व ॥२२४॥

चतुःसप्ततिरूपं स्थानं भूयस्काररूपं भवति, चतुःसप्ततेरूर्ध्वं बन्धप्रायोग्यस्थानानामभावात् तत्स्थानमल्पतररूपं नैव स्यादिति ॥२२१॥

तदेवमोघतः सर्वोत्तरप्रकृतिसत्कपरस्थानविषयकबन्धस्थानेषु भूयस्काराल्पतरावस्थित-बन्धानां सत्त्वं प्रतिपादितम् । परस्थानप्ररूपणायामवक्तव्यबन्धस्य चाभाव एवेति ।

अथ मार्गणासु संभवद्बन्धस्थानेषु भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धानां सत्त्वं प्रतिपादय-न्नाह—

होअइ अवट्ठिओ चिअ बंधो अकसायकेवलदुगेसु ।
सुहमाहक्खायेसुं मीसे सेसासु ओघव्व ॥२२२॥

(प्रे०) "होअइ"त्यादि, यासु यासु मार्गणासु द्व्याद्यनेकबन्धस्थानानां सम्भवस्तासु भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धाः सत्तया भवन्ति, यासु केवलमेकमेव बन्धस्थानं तासु भूयस्काराल्पतरबन्धाभावात् केवलमवस्थितबन्ध एव । अत्राऽकषाय-केवलज्ञान-केवलदर्शन-यथाख्यात-संयममार्गणाचतुष्क एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्यैव भावाद् भूयस्काराल्पतरबन्धौ न स्तः, सूक्ष्मसम्पराये सप्तदशप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्यैव भावात् पञ्चसु मार्गणासु केवलोऽवस्थितबन्ध एव । सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायां त्रिषष्टिचतुःषष्टिरूपबन्धस्थानद्वयस्य भावेऽप्येकजीवस्यैकस्यैव बन्धस्थानस्य लाभान्न स्तः भूयस्काराल्पतरबन्धौ, केवलोऽवस्थित एव बन्धो भवति । शेषास्वष्ट-षष्ट्यु्त्तरशतमार्गणासु भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धा भवन्ति । कुतः ? एकजीवस्यापि निरन्तर-मार्गणाकाले नानाबन्धस्थानानां लाभसद्भावादिति । भावना तु सुगमा ॥२२२॥

॥ श्री प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधान उत्तरप्रकृतिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे परस्थानप्ररूपणाया प्रथमं सत्पदद्वारं समाप्तम् ॥

॥ द्वितीयं स्वामित्वद्वारम् ॥

गतं सत्पदद्वारम् । अथ स्वामित्वद्वारावसरस्तत्राऽऽदावोघतो भूयस्कारादित्रयाणां पदानां स्वामित्वं प्राह–

उत्तरपयडी ं खलु भूओगारं कुणेइ सुहमंता ।
अप्पयरं खीणंता सजोगिअंता अवट्ठाणं ॥२२३॥

(प्रे०) "उत्तरे"त्यादि, सत्पदनिरूपणानन्तरं स्वामित्वद्वारे प्रथमादिदशमान्तगुणस्थानगतजीवाः सर्वोत्तरप्रकृतीनां समुदितबन्धस्थानान्यपेक्ष्य भूयस्कारमल्पतरमवस्थितं च बध्नन्ति । तत्रोपरितनगुणस्थानेभ्योऽधस्तनगुणस्थानं प्राप्ताः सर्वे भूयस्कारबन्धस्वामिनः, केवलं तृतीयगुणस्थाने पञ्चमषष्ठगुणाभ्यामागता भूयस्कारबन्धस्वामिनो विज्ञेयाः, न पुनश्चतुर्थगुणस्थानत आगता अपि । स्वस्वगुणस्थानस्थिता अपि भूयस्कारबन्धस्वामिनो भवन्ति, विहाय तृतीयदशमगुणस्थानद्वयम् । अधस्तनगुणस्थानेभ्य उपरितनगुणं प्राप्ता अल्पतरबन्धस्वामिनो भवन्ति, विहायाऽष्टमगुणस्थानम्, तथा द्वितीयगुणस्थानत उपर्यारोहणाभावस्तृतीयगुणतश्चतुर्थं प्राप्तास्तस्यैव बन्धस्थानस्य भावेनाल्पतरबन्धाभावात् प्रथमगुणस्थानतश्चतुर्थगुणं तृतीयगुणं च प्राप्ता अल्पतरबन्धस्वामिनो भवन्तिः एवं षष्ठगुणस्थानतः सप्तमगुणस्थानप्राप्तावल्पतरबन्धाभावेऽपि प्रथमचतुर्थपञ्चमान्तगुणेभ्यः सप्तमगुणस्थानप्राप्तावल्पतरबन्धस्वामिनस्ते भवन्ति । स्वस्वगुणस्थानं स्थितास्तृतीयं दशमं च गुणस्थानं विहायाऽल्पतरबन्धस्वामिनः स्युः । तथा दशमगुणादेकादशं द्वादशं वा प्राप्तास्तत्प्रथमसमयेऽल्पतरबन्धस्वामिनः ।

दशमान्तगुणस्थानगता भूयस्काराल्पतरबन्धस्वामिनो विहाय सर्वेऽवस्थानबन्धस्वामिनः । अप्रथमसमयवर्तिनः सर्वे एकादशद्वादशगुणस्थानगताः सर्वे सयोगिकेवलिनश्चावस्थितबन्धस्वामिनो विज्ञेयाः । अत्र क्वचिन्नाम्नो बन्धस्थानपरावृत्त्या कुत्रचिन्मोहनीयबन्धस्थानपरावृत्त्या क्वचिदायुर्बन्धतस्तन्निवृत्त्या वा क्वचिद् ज्ञानावरणादिमूलकर्मबन्धप्रवृत्त्या तन्निवृत्त्या वा भूयस्काराल्पतरबन्धौ, तदभावे चावस्थितबन्धः, एवं सत्पदद्वारदर्शितप्रकारेण त्रयोबन्धाः निर्णेतव्याः, तदनुसारेण च स्वामित्वं द्रष्टव्यमिति । अयोगिनस्तु त्रयाणामपि पदानां स्वामिनो न भवन्ति, प्रकृतिबन्धाभावादिति ॥२२३॥

अथ मार्गणासु भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धस्वामिनो निरूपयन्नाह–

भूओगाराईणं तिमणुमइपणिंदितसअवेएसुं ।
संजमभवियेसु तहा सम्मे खइअम्मि ओघव्व ॥२२४॥

(प्रे०) "भूओगाराईण"मित्यादि, मनुष्यत्रिकादिद्वादशमार्गणाः, एतासु यथासम्भवं स्वस्वगुणस्थानानि ज्ञात्वा तेषु भूयस्कारादीनां त्रयाणां पदानां स्वामित्वमोघवद्विज्ञेयम् । भावनाऽपि यथार्हा तद्वत्कार्या, यद्यपि संयमौघे सप्तमगुणस्थानकं गुणस्थानकान्तरेभ्योऽऽगता अल्पतरबन्धस्वामिनो न भवन्ति तथापि स्वस्थानगतास्ते आयुर्बन्धविरामेनाल्पतरबन्धका भवन्त्येवेति ॥२२४॥

अथ नरकौघादिमार्गणासु आह–

णिरयपढमाइछणिरयसुरगेविज्जंतदेवभेएसुं ।
वेउव्वियजोगे तह असंजमे असुहलेसासुं ॥२२५॥
बंधइ भूओगारं मिच्छो सासायणो य सम्मत्ती ।
अणगायरो खलु कुणए अप्पयरं तह अवट्ठाणं ॥२२६॥

(प्रे०) "णिरये"त्यादि, नरकौघादिसप्तत्रिंशद्मार्गणासु भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनः प्रथमद्वितीयचतुर्थगुणस्थानगता भवन्ति, तद्यथा–सर्वासु प्रथमद्वितीयगुणस्थानद्वय उपरितनगुणस्थानत आगता भूयस्कारबन्धं कुर्वन्ति, स्वस्थान आयुर्बन्धेन भूयस्कारं विदधति, तथाऽऽनतादिनवमग्रैवेयकपर्यन्तदेवभेदान् त्रयोदश विहायाऽऽद्यगुणस्थानद्वये नाम्नो द्व्यादिबन्धस्थानानां सम्भवेन परावर्त्तमानभावेन तेषां बन्धात् स्वस्थाने ते भूयस्कारबन्धं कुर्वन्ति । आनतादिषु त्वाद्यगुणस्थानद्वयगताः स्वस्थान आयुर्बन्धेनैव भूयस्कारबन्धं कुर्वन्ति । चतुर्थगुणस्थानगतानामुपरितनगुणेभ्यः प्रस्तुत आगमनाभावात् ते स्वस्थानगता एवायुर्बन्धेनैव भूयस्कारबन्धं प्राप्नुवन्ति, सम्यक्त्वसहितमनुष्येभ्य आगता द्वितीयादिनरकपञ्चकं भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कत्रिकं वैक्रिययोगं कृष्ण-नीललेश्ये च विहाय षड्विंशतिमार्गणासु भवप्रथमसमयगता यथासंभवं देवनारका नाम्नो बन्धस्थानपरावृत्त्या भूयस्कारबन्धं कुर्वन्ति, एवमेव मतान्तरेण द्वितीय तृतीयनरकमार्गणाद्वयेऽपि। तृतीयगुणस्थानगतास्तु भूयस्कारबन्धं नैव कुर्वन्ति, आयुर्बन्धाभावात्, तृतीयचतुर्थगुणस्थाने एकजीवमधिकृत्यबन्धस्थानद्वयाभावात् पञ्चमादिगुणस्थानानामभावेन तत आगमनाभावाच्च ।

अल्पतरबन्धं त्वेतासु सर्वासु सर्वगुणस्थानगता आद्यगुणस्थानचतुष्कगताः कुर्वन्ति, अत्र तृतीयचतुर्थगुणस्थानद्वये प्रथमगुणस्थानत आगमनेन, चतुर्थगुणस्थाने स्वस्थान आयुर्बन्धविरामेण, असंयमेऽशुभलेश्यात्रये च सम्यक्त्वयुतदेवनैरयिकेभ्यश्च्युत्वा मनुष्येषूत्पत्त्याऽल्पतरबन्धं विदधति । प्रथमद्वितीयगुणस्थाने स्वस्थाने बन्धस्थानपरावृत्त्याऽऽयुर्बन्धविरामेण वा अल्पतरबन्धं कुर्वन्ति । एतासु सर्वासु चतुर्ष्वपि गुणस्थानेषु ये जीवा भूयस्काराल्पतरबन्धनिर्वर्तकास्तान् विमुच्य शेषा अवस्थितबन्धं कुर्वन्ति, तेऽवस्थितबन्धस्वामिनो भवन्तीत्यर्थः ।

अत्र बन्धस्थानपरिज्ञानाभावे भूयस्काराल्पतरबन्धस्वामिनः स्फुटं नावगम्यन्ते, अतो मार्गणासु गुणस्थानभेदेन बन्धस्थानानि प्रदर्शयाम', तद्यथा—

नरकौघे प्रथमगुणस्थाने द्वासप्ततिः, त्रिसप्ततिः, चतुःसप्ततिः, द्वितीये—एकसप्ततिः, द्वासप्ततिः, त्रिसप्ततिश्च, तृतीये—चतुःषष्टिः, चतुर्थे—चतु षष्टिः पञ्चषष्टिः षट्षष्टिश्च । एवमाद्य-नरकत्रये सनत्कुमारादिसहस्रारान्तदेवमेदेषु । चतुर्थादिनरकत्रये एवमेव, केवलं चतुर्थगुणस्थाने जिननामबन्धाभावेन षट्षष्टेः स्थानं नास्ति । सप्तमनरके प्रथमगुणे द्वासप्तत्यादीनि त्रीणि बन्धस्थानानि, द्वितीय एकसप्ततिर्द्वासप्ततिः, तृतीये चतुर्थे च चतुःषष्टिः ।

तिर्यग्गत्योघे प्रथमगुणे षट्षष्ट्यादिचतुःसप्ततिपर्यन्तानि नवबन्धस्थानानि, द्वितीये सप्तत्यादित्रिसप्तत्यन्तानि चत्वारि, तृतीये त्रिषष्टिः, चतुर्थे त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिश्च पञ्चम एकोनषष्टिः षष्टिश्च । पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघे पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिरश्चि तिरश्च्यां चैवमेव बन्धस्थानान्यवसात-व्यानि । अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिरश्च्येकमेवाद्यगुणस्थानकं तस्मिन् षट्षष्ट्यादिसप्तत्यन्तानि पञ्च द्वासप्तत्यादीनि च त्रीणि, एवमष्टबन्धस्थानानि भवन्ति ।

मनुष्यगत्योघे—ओघवत् गुणस्थानेषु बन्धस्थानानि भवन्ति, केवलं चतुर्थे षट्षष्टिस्तृतीये चतुःषष्टिर्नास्ति । तद्यथा-प्रथमे षट्षष्ट्यादिचतुःसप्तत्यन्तानि नव, द्वितीये सप्तत्यादित्रिसप्तत्यन्तानि चत्वारि, तृतीये त्रिषष्टिः, चतुर्थे त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिः पञ्चषष्टिश्च, पञ्चम एकोनषष्ट्यादीनि त्रीणि । षष्ठे पञ्चपञ्चाशदादीनि त्रीणि, सप्तमे पञ्चपञ्चाशदादीनि पञ्च, अष्टमे षड्विंशतिः त्रिपञ्चाशदा-दीनि षट् चेति सप्त । नवमेऽष्टादशादीनि द्वाविंशत्यन्तानि पञ्च, दशमे सप्तदश, एकादशद्वादश-त्रयोदशगुणस्थानत्रये एकप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं भवति । पर्याप्तमनुष्यमानुषीमार्गणयोरेवमेव बन्धस्थानानि भवन्ति । अपर्याप्तमनुष्य अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणावदष्टबन्धस्थानानि ज्ञातव्यानि ।

देवौघे—प्रथमेऽष्टषष्ट्येकोनसप्ततिसप्ततिद्वासप्ततित्रिसप्ततिचतुःसप्ततिरूपाणि षड् बन्धस्था-नानि, द्वितीय एकसप्ततेस्त्रिसप्ततिपर्यन्तानि त्रीणि, तृतीये चतुःषष्टिः, चतुर्थे चतुःषष्टिः पञ्चषष्टिः षट्षष्टिर्बन्धस्थानानि त्रीणि भवन्ति । भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कमार्गणात्रये प्रथमद्वितीयतृतीय-गुणस्थानेषु देवौघवत् , चतुर्थगुणस्थानके चतुःषष्टिः पञ्चषष्टिर्बन्धस्थाने भवतः । सौधर्मेशानयो-र्देवौघवद् बन्धस्थानानि चतुर्षु गुणस्थानेषु प्रत्येकं ज्ञातव्यानि ।

आनतादिनवमग्रैवेयकपर्यन्तेषु त्रयोदशसु प्रथमगुणस्थाने द्वासप्ततिस्त्रिसप्ततिः, द्वितीय एक-सप्ततिर्द्वासप्ततिः, तृतीये चतुःषष्टिः, चतुर्थे चतुःषष्टिः पञ्चषष्टिः षट्षष्टिर्बन्धस्थानानि ज्ञातव्यानि । अनुत्तरपञ्चके केवलं चतुर्थं गुणस्थानकं तत्र चतुःषष्टिः-पञ्चषष्टिः षट्षष्टिर्बन्धस्थानानि भवन्ति ।

एकेन्द्रियसत्कसप्तभेदेषु नवविकलाक्षभेदेष्वपर्याप्तपञ्चेन्द्रिये पृथ्व्यादिपञ्चकायसत्कैकोनचत्वारिंशद्भेदेष्वपर्याप्तत्रसकाये चाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्वदष्टौ बन्धस्थानानि भवन्ति ।

मतान्तरे पुनर्यासु यासु सास्वादनगुणसम्भवस्तास्वेकसप्ततिर्द्वासप्ततिश्चेति बन्धस्थानद्वयं सास्वादनगुणस्थाने भवतीत्यवधार्यमिति । ता मार्गणा नामत इमाः—एकेन्द्रियौघ-बादरैकेन्द्रियौघ-पर्याप्तबादरैकेन्द्रियभेदत्रयम्, एवं पृथ्वीकायभेदत्रयमप्कायभेदत्रयं वनस्पतिकायौघप्रत्येकवनस्पतिकायौघ—पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाय—द्वीन्द्रियौघ- तत्पर्याप्त- त्रीन्द्रियौघ- तत्पर्याप्त-चतुरिन्द्रियौघ-तत्पर्याप्तमार्गणा अष्टादश । पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-मनोयोगौघ—तदुत्तरभेदचतुष्क -वचनयोगौघ- तदुत्तरभेदचतुष्क- काययोगौघौदारिकयोग—चक्षुरचक्षुर्दर्शन—भव्य-संज्ञ्याहारकमार्गणास्वेकविंशतावोघवद् बन्धस्थानानि द्वादशगुणस्थानं यावद्विज्ञेयानि, यासु त्रयोदशगुणस्थानं तासु तत्रौघवदेकप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं विज्ञेयमिति ।

औदारिकमिश्रे प्रथमगुणस्थानके षट्षष्टिः सप्तषष्टिरष्टषष्टिरेकोनसप्ततिः सप्ततिर्द्वासप्ततिस्त्रिसप्ततिश्चतुःसप्ततिश्चेत्यष्टौ, द्वितीय एकसप्ततिर्द्वासप्ततिश्चेति द्वे, चतुर्थे त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिश्चेति द्वे, त्रयोदश एकमेकप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानमिति । वैक्रिये देवौघवद्बन्धस्थानानि चतुर्ष्वपि गुणस्थानेषु ज्ञातव्यानि, मतान्तरेण पुनरुत्तरवैक्रियापेक्षया विचार्यमाणे प्रथमादिसप्तमान्तगुणस्थानेषु बन्धस्थानानि मनुष्यमार्गणावद् ज्ञातव्यानि ।

वैक्रियमिश्रे प्रथमेऽष्टषष्टिरेकोनसप्ततिर्द्वासप्ततिस्त्रिसप्ततिश्चेति चत्वारि, द्वितीय एकसप्ततिर्द्वासप्ततिश्च, चतुर्थे चतुःषष्टिः पञ्चषष्टिश्चेति । मतान्तरे पुनः षष्ठान्तगुणस्थानकेषु मनुष्यमार्गणावद् बन्धस्थानानि ज्ञातव्यानि । आहारके षष्ठगुणस्थाने पञ्चपञ्चाशदादीनि त्रीणि, मतान्तरे सप्तमगुणस्थानसद्भावे तत्र सप्तपञ्चाशदादीनि त्रीणि बन्धस्थानानि भवन्ति। आहारकमिश्रे केवलं षष्ठं गुणस्थानं तत्र पञ्चपञ्चाशदादीनि त्रीणि बन्धस्थानानि भवन्ति । कार्मणकाययोगेऽनाहारके च प्रथमे षट्षष्टिरष्टषष्टिरेकोनसप्ततिर्द्वासप्ततिस्त्रिसप्ततिश्चेति पञ्च, द्वितीय एकसप्ततिर्द्वासप्ततिश्च, चतुर्थे त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिः पञ्चषष्टिश्च, त्रयोदश एकप्रकृत्यात्मकमेकं बन्धस्थानमिति ।

वेदत्रये प्रथमादिनवमगुणस्थानकप्रथमभागान्तेषु प्रत्येकं बन्धस्थानान्योघवद् भवन्ति,' केवलं स्त्रीवेदे चतुर्थगुणस्थानके षट्षष्टेर्बन्धस्थानं नास्ति । तद्यथा—प्रथमे षट्षष्ट्यादीनि चतुःसप्ततिपर्यन्तानि नव, द्वितीये सप्तत्यादीनि त्रिसप्तत्यन्तानि चत्वारि, तृतीये त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिः, चतुर्थे त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिः पञ्चषष्टिः, स्त्रीवेदं विहाय वेदद्वये षट्षष्टिश्च । पञ्चम एकोनषष्ट्यादीनि त्रीणि, षष्ठे पञ्चपञ्चाशदादीनि त्रीणि, सप्तमे पञ्चपञ्चाशदादीनि पञ्च, अष्टमे त्रिपञ्चाशदादीनि षट् षड्विंशतिश्च, नवमे द्वाविंशतिरिति ।

कषायचतुष्के आद्याऽष्टगुणस्थाने प्रत्येकं बन्धस्थानान्योघवद् भवन्ति, नवमे गुणस्थाने क्रोधे बन्धस्थानद्वयं द्वाविंशतिरेकविंशतिश्च, माने बन्धस्थानत्रयं द्वाविंशतिरेकविंशतिर्विंशतिश्च मायायां बन्धस्थानचतुष्कं द्वाविंशतिरेकविंशतिर्विंशतिरेकोनविंशतिश्च । लोभे नवमदशमगुणस्थानद्वयेऽपि बन्धस्थानान्योघवद्भवन्ति, तद्यथा—नवमे द्वाविंशतिरेकविंशतिर्विंशतिरेकोनविंशतिरष्टादशेति पञ्च, दशमे सप्तदशरूपमेकं भवति ।

अपगतवेदमार्गणायां नवमगुणस्थानद्वितीयभागादिषु त्रयोदशान्तगुणस्थानेषु बन्धस्थानान्योघवद्भवन्ति, तद्यथा—नवमे द्वितीयभाग एकविंशतिः, तृतीयभागे विंशतिः, चतुर्थभाग एकोनविंशतिः, पञ्चमभागेऽष्टादश, दशमगुणस्थाने सप्तदश, एकादशादिगुणस्थानत्रय एकप्रकृत्यात्मकमेकमेव बन्धस्थानं भवति । अकषायमार्गणायामेकादशादिगुणस्थानत्रय एकप्रकृत्यात्मकमेकमेव बन्धस्थानं भवति । मतिश्रुतावधिज्ञानावधिदर्शनसम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणास्वेकप्रकृत्यादीनि षट्षष्टिपर्यवसानान्येकविंशतिबन्धस्थानानि भवन्ति, चतुर्थादिषु द्वादशान्तेषु त्रयोदशगुणस्थानान्तेषु वा प्रतिगुणस्थानकं सम्भवद्बन्धस्थानान्योघवद् भवन्ति, तद्वच्च भावनीयानि । मनःपर्यवज्ञानमार्गणायामेकादीन्येकोनषष्ट्यन्तानि पञ्चदशबन्धस्थानानि । एतस्यां षष्ठादीनि द्वादशान्तानि सप्तगुणस्थानकानि, तेषु प्रत्येकं बन्धस्थानान्योघवद्भवन्ति ।

मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानमार्गणासु षट्षष्ट्यादीनि चतुःसप्तत्यन्तानि नव बन्धस्थानानि भवन्ति, तत्र प्रथमे सर्वाणि, द्वितीये सप्तत्यादीनि त्रिसप्तत्यन्तानि चत्वारि बन्धस्थानानि भवन्ति। उक्तमार्गणात्रये मतान्तरविशेषमवलम्ब्य तृतीयगुणस्थानके त्रिषष्टिश्चतुष्षष्टिश्चेति बन्धस्थानद्वयं भवति। संयमौघमार्गणायां मनःपर्यवज्ञानवद् बन्धस्थानानि ज्ञेयानि, केवलं त्रयोदशगुणस्थानेऽत्रैकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानमवसेयमिति । सामायिकच्छेदोपस्थापनीयसंयमयोरष्टादशादीन्येकोनषष्ट्यन्तानि त्रयोदशबन्धस्थानानि भवन्ति; तत्र षष्ठगुणस्थानके पञ्चपञ्चाशदादीनि त्रीणि, सप्तमे पञ्चपञ्चाशदादीनि पञ्च, अष्टमे त्रिपञ्चाशदादीनि षट् षड्विंशतिश्चेति सप्त, नवमे अष्टादशादीनि द्वाविंशतिपर्यन्तानि पञ्च बन्धस्थानानि भवन्ति। परिहारविशुद्धौ गुणस्थानद्वयं षष्ठं सप्तमं च, तत्र षष्ठे पञ्चपञ्चाशदादीनि त्रीणि, सप्तमे पञ्चपञ्चाशदादीनि पञ्च । सूक्ष्मसम्पराये सप्तदशप्रकृत्यात्मकमेकम् । देशविरतावेकोनषष्ट्यादीनि त्रीणि ।

अविरते त्रिषष्ट्यादिचतुःसप्ततिपर्यन्तानि द्वादशानि बन्धस्थानानि, प्रतिगुणस्थानकं त्वोघवदेव बन्धस्थानानि भवन्ति । तद्यथा—प्रथमे षड्षष्ट्यादीनि नव स्थानानि, द्वितीये सप्तत्यादीनि चत्वारि बन्धस्थानानि, तृतीये त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिश्च । चतुर्थे त्रिषष्ट्यादीनि चत्वारि बन्धस्थानानि भवन्ति ।

एकेन्द्रियसत्कसप्तभेदेषु नवविकलाक्षभेदेष्वपर्याप्तपञ्चेन्द्रिये पृथ्व्यादिपञ्चकायसत्कैकोनचत्वारिंशद्भेदेष्वपर्याप्तत्रसकाये चाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्वदष्टौ बन्धस्थानानि भवन्ति ।

मतान्तरे पुनर्यासु यासु सास्वादनगुणसम्भवस्तास्वेकसप्ततिर्द्वासप्ततिश्चेति बन्धस्थानद्वयं सास्वादनगुणस्थाने भवतीत्यवधार्यमिति । ता मार्गणा नामत इमाः—एकेन्द्रियौघ-बादरैकेन्द्रियौघ-पर्याप्तबादरैकेन्द्रियभेदत्रयम्, एवं पृथ्वीकायभेदत्रयमप्कायभेदत्रयं वनस्पतिकायौघप्रत्येकवनस्पतिकायौघ--पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाय—द्वीन्द्रियौघ- तत्पर्याप्त- त्रीन्द्रियौघ- तत्पर्याप्त-चतुरिन्द्रियौघ-तत्पर्याप्तमार्गणा अष्टादश। पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-मनोयोगौघ--तदुत्तरभेदचतुष्क--वचनयोगौघ- तदुत्तरभेदचतुष्क- काययोगौघौदारिकयोग--चक्षुरचक्षुर्दर्शन—भव्य-संज्ञ्याहारकमार्गणास्वेकविंशतावोघवद् बन्धस्थानानि द्वादशगुणस्थानं यावद्विज्ञेयानि, यासु त्रयोदशगुणस्थानं तासु तत्रौघवदेकप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं विज्ञेयमिति ।

औदारिकमिश्रे प्रथमगुणस्थानके षट्षष्टिः सप्तषष्टिरष्टषष्टिरेकोनसप्ततिः सप्ततिर्द्वासप्ततिस्त्रिसप्ततिश्चतुःसप्ततिश्चेत्यष्टौ, द्वितीय एकसप्ततिर्द्वासप्ततिश्चेति द्वे, चतुर्थे त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिश्चेति द्वे, त्रयोदश एकमेकप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानमिति । वैक्रिये देवौघवद्बन्धस्थानानि चतुर्ष्वपि गुणस्थानेषु ज्ञातव्यानि, मतान्तरेण पुनरुत्तरवैक्रियापेक्षया विचार्यमाणे प्रथमादिसप्तमान्तगुणस्थानेषु बन्धस्थानानि मनुष्यमार्गणावद् ज्ञातव्यानि ।

वैक्रियमिश्रे प्रथमेऽष्टषष्टिरेकोनसप्ततिर्द्वासप्ततिस्त्रिसप्ततिश्चेति चत्वारि, द्वितीय एकसप्ततिर्द्वासप्ततिश्च, चतुर्थे चतुःषष्टिः पञ्चषष्टिश्चेति । मतान्तरे पुनः षष्ठान्तगुणस्थानकेषु मनुष्यमार्गणावद् बन्धस्थानानि ज्ञातव्यानि । आहारके षष्ठगुणस्थाने पञ्चपञ्चाशदादीनि त्रीणि, मतान्तरे सप्तमगुणस्थानसद्भावे तत्र सप्तपञ्चाशदादीनि त्रीणि बन्धस्थानानि भवन्ति। आहारकमिश्रे केवलं षष्ठं गुणस्थानं तत्र पञ्चपञ्चाशदादीनि त्रीणि बन्धस्थानानि भवन्ति । कार्मणकाययोगेऽनाहारके च प्रथमे षट्षष्टिरष्टषष्टिरेकोनसप्ततिर्द्वासप्ततिस्त्रिसप्ततिश्चेति पञ्च, द्वितीय एकसप्ततिर्द्वा तिश्च, चतुर्थे त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिः पञ्चषष्टिश्च, त्रयोदश एकप्रकृत्यात्मकमेकं बन्धस्थानमिति ।

वेदत्रये प्रथमादिनवमगुणस्थानकप्रथमभागान्तेषु प्रत्येकं बन्धस्थानान्योघवद् भवन्ति, केवलं स्त्रीवेदे चतुर्थगुणस्थानके षट्षष्टेर्बन्धस्थानं नास्ति । तद्यथा—प्रथमे षट्षष्ट्यादीनि चतुःसप्ततिपर्यन्तानि नव, द्वितीये सप्तत्यादीनि त्रिसप्तत्यन्तानि चत्वारि, तृतीये त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिः, चतुर्थे त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिः पञ्चषष्टिः, स्त्रीवेदं विहाय वेदद्वये षट्षष्टिश्च । प एकोनषष्ट्यादीनि त्रीणि, षष्ठे पञ्चपञ्चाशदादीनि त्रीणि, सप्तमे पञ्चपञ्चाशदादीनि पञ्च, अष्टमे त्रिपञ्चाशदादीनि षट् षड्विंशतिश्च, नवमे द्वाविंशतिरिति ।

कषायचतुष्के आद्याऽष्टगुणस्थाने प्रत्येकं बन्धस्थानान्योघवद् भवन्ति, नवमे गुणस्थाने क्रोधे बन्धस्थानद्वयं द्वाविंशतिरेकविंशतिश्च, माने बन्धस्थानत्रयं द्वाविंशतिरेकविंशतिर्विंशतिश्च मायायां बन्धस्थानचतुष्कं द्वाविंशतिरेकविंशतिर्विंशतिरेकोनविंशतिश्च । लोभे नवमदशमगुणस्थानद्वयेऽपि बन्धस्थानान्योघवद्भवन्ति, तद्यथा—नवमे द्वाविंशतिरेकविंशतिर्विंशतिरेकोनविंशतिरष्टादशेति पञ्च, दशमे सप्तदशरूपमेकं भवति ।

अपगतवेदमार्गणायां नवमगुणस्थानद्वितीयभागादिषु त्रयोदशान्तगुणस्थानेषु बन्धस्थानान्योघवद्भवन्ति, तद्यथा—नवमे द्वितीयभाग एकविंशतिः, तृतीयभागे विंशतिः, चतुर्थभाग एकोनविंशतिः, पञ्चमभागेऽष्टादश, दशमगुणस्थाने सप्तदश, एकादशादिगुणस्थानत्रय एकप्रकृत्यात्मकमेकमेव बन्धस्थानं भवति । अकषायमार्गणायामेकादशादिगुणस्थानत्रय एकप्रकृत्यात्मकमेकमेव बन्धस्थानं भवति । मतिश्रुतावधिज्ञानावधिदर्शनसम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणास्वेकप्रकृत्यादीनि षट्षष्टिपर्यवसानान्येकविंशतिबन्धस्थानानि भवन्ति, चतुर्थादिषु द्वादशान्तेषु त्रयोदशगुणस्थानान्तेषु वा प्रतिगुणस्थानकं सम्भवद्बन्धस्थानान्योघवद् भवन्ति, तद्वच्च भावनीयानि । मनःपर्यवज्ञानमार्गणायामेकादीन्येकोनषष्ट्यन्तानि पञ्चदशबन्धस्थानानि । एतस्यां षष्ठादीनि द्वादशान्तानि सप्तगुणस्थानकानि, तेषु प्रत्येकं बन्धस्थानान्योघवद्भवन्ति ।

मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानमार्गणासु षट्षष्ट्यादीनि चतुःसप्तत्यन्तानि नव बन्धस्थानानि भवन्ति, तत्र प्रथमे सर्वाणि, द्वितीये सप्तत्यादीनि त्रिसप्तत्यन्तानि चत्वारि बन्धस्थानानि भवन्ति । उक्तमार्गणात्रये मतान्तरविशेषमवलम्ब्य तृतीयगुणस्थानके त्रिषष्टिश्चतुष्षष्टिश्चेति बन्धस्थानद्वयं भवति । संयमौघमार्गणायां मनःपर्यवज्ञानवद् बन्धस्थानानि ज्ञेयानि, केवलं त्रयोदशगुणस्थानेऽत्रैकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानमत्रधेयमिति । सामायिकच्छेदोपस्थापनीयसंयमयोरष्टादशादीन्येकोनषष्ट्यन्तानि त्रयोदशबन्धस्थानानि भवन्तिः तत्र षष्ठगुणस्थानके पञ्चपञ्चाशदादीनि त्रीणि, सप्तमे पञ्चपञ्चाशदादीनि पञ्च, अष्टमे त्रिपञ्चाशदादीनि षट् षड्विंशतिश्चेति सप्त, नवमे अष्टादशादीनि द्वाविंशतिपर्यन्तानि पञ्च बन्धस्थानानि भवन्ति । परिहारविशुद्धौ गुणस्थानद्वयं षष्ठं सप्तमं च, तत्र षष्ठे पञ्चपञ्चाशदादीनि त्रीणि, सप्तमे पञ्चपञ्चाशदादीनि पञ्च । सूक्ष्मसम्पराये सप्तदशप्रकृत्यात्मकमेकम् । देशविरतावेकोनषष्ट्यादीनि त्रीणि ।

अविरते त्रिषष्ट्यादिचतुःसप्ततिपर्यन्तानि द्वादशानि बन्धस्थानानि, प्रतिगुणस्थानकं त्वोघवदेव बन्धस्थानानि भवन्ति । तद्यथा—प्रथमे षड्षष्ट्यादीनि नव स्थानानि, द्वितीये सप्तत्यादीनि चत्वारि बन्धस्थानानि, तृतीये त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिश्च । चतुर्थे त्रिषष्ट्यादीनि चत्वारि बन्धस्थानानि भवन्ति ।

कृष्णनीलकापोतलेश्यात्रये प्रथमे षट्षष्ट्यादीनि नव स्थानानि भवन्ति, द्वितीये सप्तत्यादीनि चत्वारि, तृतीये त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिश्च, चतुर्थे त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिः पञ्चषष्टिः, कापोतलेश्यायां षट्षष्टिश्च । तेजोलेश्यायां पञ्चपञ्चाशदादीनि सप्तषष्टिवर्जानि चतुःसप्तत्यन्तानि समुदितान्यष्टादशबन्धस्थानानि भवन्ति, सप्तषष्टेर्बन्धस्थानस्यापर्याप्तप्रायोग्यत्वम् , तेजोलेश्यायामपर्याप्तप्रायोग्यबन्धाभावेन चात्र तद्बन्धाभावात् । अत्र प्रतिगुणस्थान बन्धस्थानान्योघवद् भवन्ति भावनाऽपि तद्वत्कार्या । केवलं षट्षष्टिबन्धस्थानं चतुर्थगुणस्थान एव भवति । पद्मलेश्यायां द्वाषष्टेर्बन्धस्थानत्वस्याभावेन तद्वर्जानि पञ्चपञ्चाशदादीनि षट्षष्टिपर्यवसानानि एकादश, सप्तत्यादीनि पञ्चचेति षोडश बन्धस्थानानि भवन्ति, प्रथमगुणस्थान एकसप्तत्यादिचतुःसप्तत्यन्तानि चत्वारि, द्वितीये सप्तत्यादिचत्वारि, तृतीयादिसप्तमान्तगुणस्थानकेष्वोघवद् बन्धस्थानानि विज्ञेयानि । शुक्ललेश्यायां सप्तषष्टिरष्टषष्टिरेकोनसप्ततिचतुःसप्ततिबन्धस्थानानि चत्वारि विहाय शेषाण्योघवद्बन्धस्थानानि पञ्चविंशतिर्भवन्ति, तत्र प्रथमगुणस्थानक एकसप्तत्यादीनि त्रीणि, द्वितीये सप्तत्यादीनि त्रीणि, तृतीयादित्रयोदशान्तगुणस्थानकेषु बन्धस्थानान्योघवद् भवन्ति ।

अभव्यमिथ्यात्वासंज्ञिषु षट्षष्ट्यादीनि चतुःसप्तत्यन्तानि नव बन्धस्थानान्योघे प्रथमगुणस्थानके च भवन्ति, अत्र सप्तषष्टिवत् सप्ततिस्थानमल्पतरबन्धरूपं नास्तीति । द्वितीयादिगुणस्थानान्यत्र न सन्ति । उपशमसम्यक्त्वमार्गणायामेकोनविंशतिर्बन्धस्थानानि भवन्ति, एकषष्टिः षट्षष्ट्यादिनव चेति दश बन्धस्थानानामभावात् । चतुर्थगुणस्थानके त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिः पञ्चषष्टिश्चेति बन्धस्थानत्रयम् , त्रिष्वप्यल्पतरबन्धो नास्ति, पञ्चम एकोनषष्टिः षष्टिश्च, षष्ठगुणस्थानके पञ्चपञ्चाशत् षट्पञ्चाशच्चेति द्वे, सप्तमगुणस्थानके पञ्चपञ्चाशदाद्यष्टपञ्चाशदन्तानि चत्वारि, अष्टमनवम दशमैकादशगुणस्थानेष्वोघवद्बन्धस्थानानि ज्ञातव्यानि । क्षयोपशमसम्यक्त्वे पञ्चपञ्चाशदादीनि षट्षष्टिपर्यन्तान्येकादशबन्धस्थानानि भवन्ति, तानि चतुर्थादिसप्तमान्तगुणस्थानेष्वोघवद्भावनीयानि । सम्यग्मिथ्यात्वे त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिश्च । सास्वादने सप्तत्यादीनि चत्वारि बन्धस्थानानि भवन्तीति मार्गणासु बन्धस्थानानां प्राग्दर्शितत्वेऽपि स्मृत्यर्थं स्फुटार्थं च पुनस्तानि दर्शितानि ॥२२५–२२६॥

अथ सप्तमनरकमार्गणायां परस्थानभूयस्कारादिबन्धस्वामिनं प्राह—

सत्तमणिरये कुणए मिच्छो सासायणो य भूगारं ।
अणयरो खलु कुणए अप्पयरं तह अवट्ठाणं ॥२२७॥

(प्रे०) "सत्तमणिरये"त्यादि, सप्तमनरकमार्गणायां मिथ्यादृष्टिः सास्वादनी च भूयस्कारबन्धस्य स्वामी भवति, तत्र मिथ्यादृष्टिरन्यगुणस्थानत आगतः, स्वस्थाने चोद्योतनाम-

बन्धप्रारम्भेनायुर्बन्धप्रवर्तनेन वा अधिकबन्धस्थानलाभाद् भूयस्कारं करोति। सास्वादनी तु चतुर्थ-गुणस्थानत आगतो यद्वा स्वस्थान उद्योतनाम्नो बन्धप्रवर्तनेनाधिकबन्धस्थानप्राप्त्या भूयस्कारबन्धं करोति। मिश्रदृष्टिस्तु नरकौघवद् भूयस्कारं नैव करोति। अविरतसम्यग्दृष्टिरप्यस्यां मार्गणायां भूयस्कारबन्धं नैव करोति, अत्र चतुर्थगुणस्थानगतानामायुर्बन्धाभावात् पञ्चमादिगुणस्थाना-भावाज्जिननामबन्धाभावाच्च। अल्पतरबन्धं तु चतुर्ष्वपि गुणस्थानकेषु वर्तमानः करोति, तत्र तृतीयचतुर्थगुणस्थानद्वये प्रथमगुणस्थानत आगतः तृतीयचतुर्थगुणस्थानप्रथमसमय एवा-ल्पतरबन्धं करोति। प्रथमद्वितीयगुणस्थानगतस्तूद्योतनामबन्धविरामेण बन्धस्थानपरावृत्त्या प्रथमगुणस्थाने स्वायुर्बन्धविरामेणाऽपि बन्धस्थानपरावृत्त्याऽल्पतरबन्धं करोति। अवस्थितबन्धं तु चतुर्ष्वपि गुणस्थानकेषु वर्तमानो यदा भूयस्काराल्पतरबन्धौ न विदधाति तदा सोऽवस्थित-बन्धस्य स्वामी भवति ॥२२७॥ अथ मार्गणान्तरेषु प्रस्तुतं प्राह—

ओघव्वऽत्थि तिमणवयकायोरालसुइलासु आहारे।
भूगारऽप्पयराणं अवट्ठिअं कुणइ अणयरो ॥२२८॥

(प्रे०) "ओघव्वे"त्यादि, मनोयोगौघ-सत्य-व्यवहारसंज्ञकमनोयोगभेदत्रये एवं वचन-योगत्रये काययोगौदारिकयोग-शुक्ललेश्या-ऽऽहारकमार्गणासु दशसु प्रथमादीनि त्रयोदशान्तानि त्रयोदशगुणस्थानकानि भवन्ति। एतासु भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धस्वामिन ओघवद् विज्ञेयाः। एवं यथौघे भावना कृता तथैव यथासम्भवं भावनापि कार्या, केवलं मनोयोगवचनयोगभेदेष्वौ-दारिकयोगे च चतुर्थगुणस्थानके भवान्तरसंक्रान्त्या ये भूयस्काराल्पतरबन्धस्वामिनो निरूपिता-स्तेऽत्र न वक्तव्याः मार्गणाया एवोच्छेदात्, अतो गुणपरावृत्त्या चतुर्थगुणं प्राप्तस्य, एवमायु-र्बन्धप्रारम्भविरामेण वा भूयस्काराल्पतरबन्धयोः, जिननामप्रारम्भेण भूयस्कारबन्धस्य च स्वामि-नश्चतुर्थादिगुणस्थानगता ओघवज्ज्ञातव्या इति। अत्र चतुर्दशगुणस्थानाभावात् त्रिमनुष्यादि-मार्गणात आसां पृथग्निर्देश इति ॥२२८॥ अथ शेषवचनयोगादिषु प्राह—

दुमणवयणाणचउगदरिसणतिगउवसमेसु सण्णिम्मि।
भूगारं सुहमंता बंधइ सेसदुपयाऽणयरो ॥२२९॥

(प्रे०) "दुमणे"त्यादि, असत्य-सत्यासत्यमनोयोगौ, एवं वचनयोगद्वयं मतिश्रुतावधि-मनःपर्यवज्ञानानि चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनान्युपशमसम्यक्त्वं संज्ञी चेति त्रयोदश, एतासु भूय-स्कारबन्धस्वामिनो मार्गणाप्रायोग्यजघन्यतमगुणस्थानादारभ्य दशमान्तगुणस्थानगता भवन्ति, अल्पतराऽवस्थितबन्धस्वामिनो मार्गणाप्रायोग्यजघन्यतमगुणस्थानादारभ्य द्वादशगुणस्थानं

यावत्मार्गणाप्रायोग्यन्त्येष्ठगुणं यावद् वर्तमाना भवन्ति । भावना तु यथासम्भवमोघानुसारेण कार्या । एतासु प्रकृष्टं गुणस्थानं क्षीणमोहरूपं भवति, केवलमुपशमसम्यक्त्वे एकादशगुणस्थानं प्रकृष्टतया ज्ञेयम् । जघन्यगुणस्थानं तु ज्ञानत्रिकावधिदर्शनोपशमेषु चतुर्थगुणस्थानकम्, मनःपर्यवज्ञाने षष्ठं गुणस्थानम्, शेषासु सप्तसु प्रथमगुणस्थानकं ज्ञेयमिति ॥२२९॥

अथौदारिकमिश्रादिमार्गणात्रये प्राह–

ओरालमीसजोगे कम्माणाहारगेसु भूगारं ।
तह अप्पयरं कुणए मिच्छादिट्ठी य सासाणो ॥२३०॥
मिच्छत्ती सासाणो सम्म-सयोगी अवट्ठिअं कुणए ।

(प्रे०) "ओरालमीसे"त्यादि, औदारिकमिश्रे भूयस्कारबन्धमल्पतरबन्धं च मिथ्यादृष्टयः सास्वादनसम्यग्दृष्टयश्च कुर्वन्ति, तत्र द्वितीयगुणतः प्रथमगुणं प्राप्ता भूयस्कारम्, स्वस्थाने नाम्नो बन्धस्थानपरावृत्त्याऽऽयुर्बन्धतद्विरामाभ्यां च भूयस्काराल्पतरबन्धौ कुर्वन्ति, द्वितीयगुणस्थानके प्रस्तुतमार्गणायां गुणान्तरत आगमनाभावादायुर्बन्धाभावाच्च केवलं नाम्नो बन्धस्थानपरावृत्त्या भूयस्काराल्पतरबन्धौ भवतः, चतुर्थगुणस्थानके प्रस्तुते भूयस्काराल्पतरबन्धौ न स्तः, अतस्तत्र न तत्स्वामित्वनिरूपणम् । अवस्थितबन्धं प्रथमद्वितीयचतुर्थत्रयोदशगुणस्थानचतुष्कगताः कुर्वन्ति । कार्मणानाहारकमार्गणाद्वयेऽप्येवमेव केवलमत्रायुर्बन्धाभावात् तत्प्रयुक्तौ भूयस्काराल्पतरबन्धौ न वाच्याविति । ननु देवेभ्यश्च्युत्वा मनुष्येषूत्पन्नसम्यग्दृष्टेर्बन्धस्थानपरावर्तेन भूयस्कारबन्धो भवति, तदा च प्रस्तुतमार्गणाऽपि भवति तत्कथमत्र चतुर्थगुणस्थाने तयोर्निषेधः कृतः, उच्यते? मार्गणाप्रथमसमयभाविभूयस्काराल्पतरबन्धौ नात्राधिक्रियेते, यतस्तौ प्राक्समयबन्धसापेक्षौ, प्राक्समयकृतबन्धश्च न प्रस्तुतमार्गणायामिति कृत्वा नात्र तदधिक्रियेते, एवमन्यत्राप्यभ्यूह्यम् ॥२३०॥

अथ वैक्रियमिश्रे प्राह–

दोण्ह विउव्वियमीसे सासाणंता अवट्ठिअं कोवि ॥२३१॥ (गीतिः)

(प्रे०) "दोण्हे"त्यादि, वैक्रियमिश्रे प्रथमद्वितीयगुणस्थानगता भूयस्काराल्पतरबन्धयोः स्वामिनो भवन्ति । भावना त्वौदारिकमिश्रवत्कार्या केवलमायुर्बन्धमाश्रित्य भावना नैव कार्येति । अवस्थितबन्धस्य प्रथमद्वितीयचतुर्थगुणस्थानगता भूयस्काराल्पतरबन्धकेतरे ये जीवास्तेऽवस्थितबन्धस्वामिनो भवन्ति । भावना त्वनन्तरप्राग्गाथावत्कार्येति ॥२३१॥

अथ लोभमार्गणायां प्राह–

लोहे भूओगारं विणा सुहुमसंपरायमराणयरो ।
अणणयरो खलु कुणए अप्पयरं तह अवट्ठाणं ॥२३२॥

(प्रे०) "लोहे" त्यादि, लोममार्गणायां प्रथमादिनवमान्तगुणस्थानवर्तिनो भूयस्कार-बन्धस्वामिनो भवन्ति, प्रथमादिदशमान्तगुणस्थानकवर्त्तिनोऽल्पतरबन्धमवस्थितबन्धं च कुर्वन्ति । भावना त्वोघवत्कार्येति । अत्र दशमान्तगुणस्थानानामेव भावेनैकादशादिगुणस्थान-स्वामिनः प्रस्तुतेऽभावान्नौघवन्निर्देशः । दशमगुणस्थाने भूयस्कारबन्धस्यौघे भावेऽपि प्रस्तुते तन्निषेधः प्राग्वत्कार्य इति ॥२३२॥

अथाकषायादिमार्गणासु प्राह—

अकसाये अहखाये उवसंताई सजोगिपज्जंता ।
कुणइ खलु अवट्ठाणं केवलजुगलम्मि य सयोगी ॥२३३॥

(प्रे०) "अकसाये"इत्यादि, अकषाये यथाख्याते चैकादशादित्रयोदशान्तगुणस्थानेषु वर्तमाना अवस्थानबन्धस्वामिनो भवन्ति, भावनौघवत्कार्या सुगमा च, केवलमुपशान्तक्षीणमोह-योरल्पतरबन्धस्वामिनोऽत्र नैव वाच्याः, तादृग्विवक्षाभावात् । केवलज्ञानदर्शनमार्गणयो-रवस्थितिबन्धस्य स्वामिनः सयोगिकेवलिनो भवन्तीति ॥२३३॥

अथ सूक्ष्मसम्पराये सम्यग्मिथ्यात्वे शेषमार्गणासु च भूयस्कारादिसम्भवत्पदानां स्वामित्वं निरूपयन्नाह—

अणणयरोऽवट्ठाणं कुणइ सुहमसंपरायमीसेसुं ।
सेसासु मग्गणासुं णए तिरिणा वि पयाऽणणयरो ॥२३४॥

(प्रे०) "अणणयरो" इत्यादि, सूक्ष्मसम्पराये सम्यग्मिथ्यात्वे चावस्थितबन्धस्य स्वामिनो मार्गणावर्त्तिनः सर्वे जीवा भवन्ति । अत्र मार्गणाप्रथमसमये भूयस्काराल्पतरबन्धयो-र्भावेऽपि तयोरविवक्षणं प्राग्वद्विज्ञेयमिति ।

उक्तशेषनवतिमार्गणा नामत इमाः—तिर्यग्मार्गणापञ्चका-ऽपर्याप्तमनुष्या-ऽनुत्तरदेवपञ्चक-सप्तैकेन्द्रिय-नवविकलाक्षा-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-पृथव्यादिपञ्चकायसत्कैकोनचत्वारिंशद्भेदाऽपर्याप्त-त्रसकायाऽऽहारकाऽऽहारकमिश्र-वेदत्रिक-क्रोधमानमाया--ऽज्ञानत्रिक- सामायिक--च्छेदोपस्थाप-नीय-परिहारविशुद्धि-देशविरति-तेजःपद्मलेश्याऽभव्य--क्षयोपशम--सास्वादन-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञि-मार्गणाः । एतासु सर्वासु भूयस्कारान्पतरावस्थितबन्धाः सत्त्वया भवन्ति तेषां प्रत्येकं स्वामिन-स्त्वेताभ्यो यासु यासु मार्गणासु यानि यानि गुणस्थानकानि सम्भवन्ति तासु तासु मार्गण

यावत्मार्गणाप्रायोग्यज्येष्ठगुणं यावद् वर्तमाना भवन्ति । भावना तु यथासम्भवमोघानुसारेण कार्या । एतासु प्रकृष्टं गुणस्थानं क्षीणमोहरूपं भवति, केवलमुपशमसम्यक्त्वे एकादशगुणस्थानं प्रकृष्टतया ज्ञेयम् । जघन्यगुणस्थानं तु ज्ञानत्रिकावधिदर्शनोपशमेषु चतुर्थगुणस्थानकम्, मनः-पर्यवज्ञाने षष्ठं गुणस्थानम्, शेषासु सप्तसु प्रथमगुणस्थानकं ज्ञेयमिति ॥२२६॥

अथौदारिकमिश्रादिमार्गणात्रये प्राह–

ओरालमीसजोगे कम्माणाहारगेसु भूगारं ।
तह अप्पयरं कुणए मिच्छादिट्ठी य सासाणो ॥२३०॥
मिच्छत्ती सासाणो सम्म-सयोगी अवट्ठिअं कुणए ।

(प्रे०) "ओरालमीसे"त्यादि, औदारिकमिश्रे भूयस्कारबन्धमल्पतरबन्धं च मिथ्या-दृष्टयः सास्वादनसम्यग्दृष्टयश्च कुर्वन्ति, तत्र द्वितीयगुणतः प्रथमगुणं प्राप्ता भूयस्कारम्, स्व-स्थाने नाम्नो बन्धस्थानपरावृत्त्याऽऽयुर्बन्धतद्विरामाभ्यां च भूयस्काराल्पतरबन्धौ कुर्वन्ति, द्विती-यगुणस्थानके प्रस्तुतमार्गणायां गुणान्तरत आगमनाभावादायुर्बन्धाभावाच्च केवलं नाम्नो बन्ध-स्थानपरावृत्त्या भूयस्काराल्पतरबन्धौ भवतः, चतुर्थगुणस्थानके प्रस्तुते भूयस्काराल्पतरबन्धौ न स्तः, अतस्तत्र न तत्स्वामित्वनिरूपणम् । अवस्थितबन्धं प्रथमद्वितीयचतुर्थत्रयोदशगुणस्थान-चतुष्कगताः कुर्वन्ति । कार्मणानाहारकमार्गणाद्वयेऽप्येवमेव केवलमत्रायुर्बन्धाभावात् तत्प्रयुक्तौ भूयस्काराल्पतरबन्धौ न वाच्याविति । ननु देवेभ्यश्च्युत्वा मनुष्येषूत्पन्नस्य सम्यग्दृष्टेर्बन्धस्थान-परावर्तेन भूयस्कारबन्धो भवति, तदा च प्रस्तुतमार्गणाऽपि भवति तत्कथमत्र चतुर्थगुणस्थाने तयोर्निषेधः कृतः, उच्यते: मार्गणाप्रथमसमयभाविभूयस्काराल्पतरबन्धौ नात्राधिक्रियेते, यतस्तौ प्राक्समयबन्धसापेक्षौ, प्राक्समयकृतबन्धश्च न प्रस्तुतमार्गणायामिति कृत्वा नात्र तदधिक्रियेते, एवमन्यत्राप्यभ्यूह्यम् ॥२३०॥

अथ वैक्रियमिश्रे प्राह–

दोण्ह विउव्वियमीसे सासाणंता अवट्ठिअं कोवि ॥२३१॥ (गीतिः)

(प्रे०) "दोण्हे"त्यादि, वैक्रियमिश्रे प्रथमद्वितीयगुणस्थानगता भूयस्काराल्पतर-बन्धयोः स्वामिनो भवन्ति । भावना त्वौदारिकमिश्रवत्कार्या केवलमायुर्बन्धमाश्रित्य भावना नैव कार्येति । अवस्थितबन्धस्य प्रथमद्वितीयचतुर्थगुणस्थानगता भूयस्काराल्पतरबन्धकेतरे ये जीवा-स्तेऽवस्थितबन्धस्वामिनो भवन्ति । भावना त्वनन्तरप्राग्गाथावत्कार्येति ॥२३१॥

अथ लोभमार्गणायां प्राह–

लोहे भूओगारं विणा सुहुमसंपरायमणणयरो ।
अणणयरो खलु णए अप्पयरं तह अवट्ठाणं ॥२३२॥

(प्रे०) "लोहे" त्यादि, लोभमार्गणायां प्रथमादिनवमान्तगुणस्थानवर्तिनो भूयस्कार-बन्धस्वामिनो भवन्ति, प्रथमादिदशमान्तगुणस्थानकवर्तिनोऽल्पतरबन्धमवस्थितबन्धं च कुर्वन्ति । भावना त्वोघवत्कार्येति । अत्र दशमान्तगुणस्थानानामेव भावेनैकादशादिगुणस्थान-स्वामिनः प्रस्तुतेऽभावान्नौघवन्निर्देशः । दशमगुणस्थाने भूयस्कारबन्धस्यौघे भावेऽपि प्रस्तुते तन्निषेधः प्राग्वत्कार्य इति ॥२३२॥

अथाकषायादिमार्गणासु प्राह—

अकसाये अहखाये उवसंताई सजोगिपज्जंता ।
कुणइ खलु अवट्ठाणं केवलजुगलम्मि य सयोगी ॥२३३॥

(प्रे०) "अकसाये" इत्यादि, अकषाये यथाख्याते चैकादशादित्रयोदशान्तगुणस्थानेषु वर्तमाना अवस्थानबन्धस्वामिनो भवन्ति, भावनौघवत्कार्या सुगमा च, केवलमुपशान्तक्षीणमोह-योरल्पतरबन्धस्वामिनोऽत्र नैव वाच्याः, तादृग्विवक्षाभावात् । केवलज्ञानदर्शनमार्गणयो-रवस्थितिबन्धस्य स्वामिनः सयोगिकेवलिनो भवन्तीति ॥२३३॥

अथ सूक्ष्मसम्पराये सम्यग्मिथ्यात्वे शेषमार्गणासु च भूयस्कारादिसम्भवत्पदानां स्वामित्वं निरूपयन्नाह—

अणणयरोऽवट्ठाणं कुणइ सुहुमसंपरायमीसेसुं ।
सेसासु मग्गणासुं णए तिण्णि वि पयाऽणणयरो ॥२३४॥

(प्रे०) "अणणयरो" इत्यादि, सूक्ष्मसम्पराये सम्यग्मिथ्यात्वे चावस्थितबन्धस्य स्वामिनो मार्गणावर्तिनः सर्वे जीवा भवन्ति । अत्र मार्गणाप्रथमसमये भूयस्कारात्पतरबन्धयो-र्भावेऽपि तयोरविवक्षणं प्राग्वद्विज्ञेयमिति ।

उक्तशेषनवतिमार्गणा नामत इमाः—तिर्यग्मार्गणापञ्चका-ऽपर्याप्तमनुष्या-ऽनुत्तरदेवपञ्चक-सप्तैकेन्द्रिय-नवविकलाक्षा-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय पृथ्व्यादिपञ्चकायसत्कैकोनचत्वारिंशद्भेदाऽपर्याप्त-त्रसकायाऽऽहारकाऽऽहारकमिश्र-वेदत्रिक-क्रोधमानमाया-ऽज्ञानत्रिक- सामायिक-च्छेदोपस्थाप-नीय-परिहारविशुद्धि-देशविरति-तेजःपद्मलेश्याऽभव्य--क्षयोपशम--सास्वादन मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञि-मार्गणाः । एतासु सर्वासु भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धाः सत्त्वया भवन्ति तेषां प्रत्येकं स्वामिन-स्त्वेताभ्यो यासु यासु मार्गणासु यानि यानि गुणस्थानकानि सम्भवन्ति तासु तासु मार्गणासु

भवदन्‍ मगुण ने प्र स्तत्र वर्तमाना वो त्रयाणां बन्धानां यथार्हं स्वामिनो भवन्ति, भावना त्वोघानुसारेण यथासम्भवं कार्या सुगमा च, प्रतिमार्गणासु तासु सम्भवत् प्रतिगुणस्था ˙ च नानाबन्धस्थानभावात् त्रिविधबन्धस्य लाभ एतासु प्राप्यते, केवलं मिश्रगुणस्थानके मपञ्चमादिगुणेभ्य आगतापेक्षया मिश्रगुणस्थानप्रथमसमये यथाक्रमम-ल्पतरभूयस्कारबन्धस्वामिनो भवन्तीति ॥२३४॥

॥ श्री प्रेमप्रभाटीका कृते बन्धविधान उत्तरप्रकृतिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे परस्थाननिरूपणायां द्वितीयं स्वामित्वद्वारं समाप्तम् ॥

॥ तृतीयं कालद्वारम् ॥

गतं स्वामित्वद्वारम् । अथ एकजीवमाश्रित्य तृतीयकालद्वारस्य निरूपणाया अवसरः, तत्रादौ सर्वोत्तरप्रकृतिविषयकबन्धस्थानसत्क-भूयस्कारादित्रयाणामोघतो जघन्यमुत्कृष्टं च बन्धकालमानमाह—

उत्तरपयडीण लहू समयो तिराह वि अवट्ठिअस्स गुरू ।
देसूणा तेत्तीसा अयरा दोराह समयपुहुत्तं ॥२३५॥

(प्रे०) "उत्तरे"त्यादि, उत्तरप्रकृतीनामिति=सर्वोत्तरप्रकृतिसमुदाये सम्भवद्बन्धस्थानान्यवलम्ब्य भूयस्कारादिप्ररूपणायाम्, त्रयाणां भूयस्कारान्पतरावस्थितबन्धानां जघन्यकालः समयः, विवक्षितबन्धं जघन्यतः समयमेकं विधाय ततो विवक्षितेतरबन्धस्याऽपि प्रवर्तनसम्भवात्, सकृद्भूयस्कारमल्पतरं वा कृत्वाऽवस्थितबन्धं करोति तदा भूयस्कारस्याल्पतरस्य वा कालः समयो भवति, भूयस्कारमल्पतरं वा कृत्वा तदनन्तरं समयमवस्थितबन्धं विधाय पुनर्भूयस्कारबन्धमल्पतरं वा करोति, अतोऽवस्थितबन्धस्य जघन्यकालः समयो भवति ।

यत्र परावर्तमानभावेन द्व्यादिबन्धस्थानानां सम्भवस्तत्र त्रयाणां बन्धानां समयः कालः परावर्तमानभावेन प्राप्यते, अन्यत्र पुनरवस्थितबन्धस्य जघन्यकालस्य समयप्रमाणत्वे स मरणव्याघातादिना भावनीयः ।

अवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालो देशोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, स चाऽनुत्तरदेवापेक्षया भवति, अनुत्तरदेवोत्पत्तिप्रथमसमये भूयस्कारबन्धमल्पतरबन्धं वा कृत्वा द्वितीयादिसमयेष्ववस्थितबन्धं कुर्वन् यावदायुर्बन्धं नाऽऽरभते तावच्चतुर्थगुणस्थानमाहात्म्याद् बन्धस्थानपरावृत्त्यभावादवस्थितबन्धमेव करोति, चतुःषष्टे पञ्चषष्टेर्वा बन्धस्थानमविकृत्यावस्थितबन्धस्योक्तकालो भावनीयः । अत्र देशोनत्वं भवाद्यसमयं भवप्रान्ताऽन्तर्मुहूर्तं चावधार्यम् । भूयस्कारबन्धोऽल्पतरबन्धो वा निरन्तरं समयपृथक्त्वं यावत्प्रवर्तते, पृथक्त्वशब्देन समयद्वयं ज्ञायते, एतच्च स्वस्थानभूयस्कारसत्ककालद्वारे यथा साधितं तथैव भावनीयम् । यतो नाम्नो बन्धस्थानानामपेक्षयैव तयोरधिककालसम्भवः स्यात्, स च कालस्तत्र युक्त्या साक्षिपाठेन यावान् साधितस्तावानत्राऽपि ज्ञातव्यः ॥२३५॥

अथ मार्गणासु भूयस्कारादीनां त्रयाणां जघन्यकालं दर्शयन्नाह—

सव्वासु लहू समयो संतपयाण यावरं मुहुत्तंतो ।
पणऽणुत्तरकेवलदुगमीसेसु अवट्ठिअस्स देसे वा ॥२३६॥ (गीतिः)

(प्रे०) "सव्वासु" इत्यादि, भूयस्काराल्पतरबन्धयोः प्रत्येकं यासु यासु मार्गणासु यस्य यस्य सत्पदमस्ति तासु तासु मार्गणासु तयोरवस्थितस्य चेति त्रयाणामन्यतमपदस्य जघन्यकालः समयः, सर्वत्र भूयस्काराल्पतरबन्धानन्तरमवस्थितबन्धस्य सम्भवान्निरन्तरं समयद्वयादिकालं यावत् तत्प्रवर्तनस्यानावश्यकत्वात्तयोः समयो जघन्यकालः प्राप्यते ।

अवस्थितबन्धस्य जघन्यकालः समयः पुनरेवम्—बन्धस्थानानां परावर्तमानत्वेन सकृद्-बन्धस्थानं परावृत्त्य द्वितीयसमयेऽवस्थितबन्धं कृत्वा पुनस्तृतीयसमये स्वस्थाने मरणादिना वा बन्धस्थानं परावर्तयतोऽवस्थितबन्धस्य जघन्यकालः समयः प्राप्यते ।

केवलमनुत्तरमार्गणापञ्चके आयुर्बन्धतद्विरमाभ्यामेव बन्धस्थानपरावर्तनादायुर्बन्धकालस्य तदन्तरकालस्य चान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्, आयुर्बन्धविरामतोऽन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमेव मरणसम्भवाच्चावस्थितबन्धस्य जघन्यकालोऽप्यत्र मार्गणापञ्चकेऽन्तर्मुहूर्तमेव प्राप्यते ।

केवलद्विके सम्यग्मिथ्यात्वे च बन्धस्थानपरावृत्त्यभावान्मार्गणाजघन्यकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वाच्चावस्थितबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो भवति ।

शेषासु षट्षष्ट्युत्तरशतमार्गणास्ववस्थितबन्धस्य जघन्यकालः समयो भवति, तत्र यासु मार्गणासु प्रथमं द्वितीय वा गुणस्थानकं भवति; तासु नाम्नो बन्धस्थानपरावृत्त्यन्तरस्य समयप्रमाणत्वेनावस्थितबन्धस्य जघन्यकालः समयः प्राप्यते, आनतादिनवमग्रैवेयकान्तत्रयोदशमार्गणासु सम्यक्त्वतः प्रपततः सास्वादनगुणं समयद्वयमनुभूय मिथ्यात्वं प्राप्तस्य सास्वादनस्य द्वितीयसमये समयमात्रमवस्थितबन्धो भवति । यासु प्रथमद्वितीयगुणस्थानयोरभावस्तासु त्रयोदशसु मतिज्ञानादिमार्गणासु जिननामबन्धमारभ्य समयमन्तरयित्वा आहारकद्विकबन्धमारभते तस्य मध्ये समयमात्रमवस्थितबन्धो भवति । ता मार्गणा नामत इमाः—मत्यादिज्ञानचतुष्का-ऽवधिदर्शन-संयमौघ-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धि-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकौपशमिक-क्षायोपशमिकमार्गणाः । आहारकतन्मिश्रमार्गणाद्वये आयुर्बन्धतृतीयसमये मार्गणापरावर्तनादायुर्बन्धद्वितीयसमये मार्गणाचरमसमयरूपे समयमात्रमवस्थितबन्धो भवति, यद्वा मार्गणाप्रारम्भद्वितीयसमय आयुर्बन्धप्रारम्भाद् मार्गणाप्रथमसमये समयमात्रमवस्थितबन्धो भवति । अपगतवेद-सूक्ष्मसम्पराया-ऽकषाय-यथाख्यातमार्गणासु मरणव्याघातेनावस्थितबन्धस्य जघन्यकालः समयप्रमाणो भवति । देशविरतौ अवस्थितबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणः सम्भवति; यतो मार्गणाजघन्यकायस्थितिरन्तर्मुहूर्तप्रमाणा, मार्गणायामायुर्बन्धभाव आयुर्बन्धारम्भात् प्रागन्तर्मुहूर्तकालमायुर्बन्धविरामाच्चोर्ध्वमन्तर्मुहूर्तकालं यावत्प्रस्तुतमार्गणायामेवावस्थानं भवति, तथा आयुर्बन्धकालमध्ये तत्प्रागुत्तरत्रान्तर्मुहूर्तमध्ये जिननामबन्धो न प्रारभ्यते, यतो जिननामबन्धप्रारम्भात् प्रागुत्तरत्र चान्तर्मुहूर्तं यावदायुर्बन्धो नास्ति;—एकान्तप्रवर्धमानपरिणाम एव

जिननामबन्धारम्भसम्भवात् । अत एव जिननामप्रारम्भानन्तरं समयान्तर आयुर्बन्धाभावादायुर्बन्धविरामानन्तरं समयान्तरे जिननामबन्धाभावादायुर्बन्धकाले मार्गणापरावृत्त्यभावादवस्थानबन्धस्य जघन्यकालः समयः सामान्यतो न प्राप्यते । यदि पुनर्देशविरतिप्राप्तिद्वितीयसमये जिननामबन्धप्रारम्भः स्यात्, यद्वा सर्वविरत्यभिमुखस्य देशविरतिद्विचरमसमये जिननामबन्धप्रारम्भः स्यात् तदा देशविरतौ अवस्थितबन्धस्य जघन्यकालः समयः प्राप्यते ।

शेषमार्गणासु प्रथमस्य द्वितीयस्य वा गुणस्थानस्य भावेन नाम्नो बन्धस्थानपरावृत्त्या मार्गणाजघन्यकायस्थितेः समयप्रमाणत्वाद् वा समयप्रमाणोऽवस्थितबन्धस्य जघन्यकालो विज्ञेयः ॥२३६॥

अथ मार्गणासु भूयस्कारबन्धस्योत्कृष्टकालं निरूपयन्नाह—

भूओगारस्स गुरू दो समया अत्थि आणयाईसुं ।
गेविज्जंतसुरेसुं कम्मणजोगे अणाहारे ॥२३७॥
चउणाणसंजमेसुं समइअछेअपरिहारओहीसुं ।
सुक्काए सम्मत्ते खइउवसमवेअगेसुं च ॥२३८॥
पंचसु अणुत्तरेसुं आहारदुगे अवेअदेसे ।
समयो हवेज्ज अणाह समयपुहुत्तं मुणेयव्वं ॥२३९॥

(प्रे०) "भूओगारस्से"त्यादि, आनतादिनवमग्रैवेयकान्तमार्गणासु त्रयोदशसु भूयस्कारबन्धस्योत्कृष्टकालः समयद्वयं भवति, य उपशमसम्यक्त्वतः सास्वादनं प्राप्य द्वितीयसमये मिथ्यात्वं प्राप्तः, स चतुःषष्टेर्बन्धत एकसप्ततेर्बन्धं विधाय द्वासप्ततिं बध्नाति, एवं समयद्वयं भूयस्कारबन्धो भवति । कार्मणानाहारकयोः समयत्रयमितकायस्थितिकयोर्द्वितीयतृतीयसमये नाम्नो बन्धस्थानपरावर्तनेन समयद्वयं यावद् भूयस्कारबन्धो भवति ।

मतिश्रुतावधिमनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिसंयमाऽवधिदर्शन-शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकौपशमिक-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणासु चतुर्दशमार्गणासु भूयस्कारबन्धस्य ज्येष्ठकालः समयद्वयं भवति, यः सप्तमगुणस्थाने जिननामबन्धं प्रारभ्य द्वितीयसमय आहारकद्विकबन्धं प्रारभते, तस्य समयद्वयं भूयस्कारबन्धस्य ज्येष्ठकालो भवति, कासुचिन्मार्गणासु यः श्रेणितोऽवरोहन् सकृद् भूयस्कारबन्धं विधाय कालं कृत्वा दिवि समुत्पन्नस्तत्र प्रथमसमये भूयस्कारबन्धं करोति, तस्यैवंप्रकारेण भूयस्कारबन्धस्य समयद्वयं ज्येष्ठकालः प्राप्यत इति ।

(प्रे०) "सव्वासु" इत्यादि, भूयस्काराल्पतरबन्धयोः प्रत्येकं यासु यासु मार्गणासु यस्य यस्य सत्पदमस्ति तासु तासु मार्गणासु तयोरवस्थितस्य चेति त्रयाणामन्यतमपदस्य जघन्यकालः समयः, सर्वत्र भूयस्काराल्पतरबन्धानन्तरमवस्थितबन्धस्य सम्भवान्निरन्तरं समय-द्वयादिकालं यावत् तत्प्रवर्तनस्यानावश्यकत्वात्तयोः समयो जघन्यकालः प्राप्यते ।

अवस्थितबन्धस्य जघन्यकालः समयः पुनरेवम्—बन्धस्थानानां परावर्तमानत्वेन सकृद्-बन्धस्थानं परावृत्त्य द्वितीयसमयेऽवस्थितबन्धं कृत्वा पुनस्तृतीयसमये स्वस्थाने मरणादिना वा बन्धस्थानं परावर्तयतोऽवस्थितबन्धस्य जघन्यकालः समयः प्राप्यते ।

केवलमनुत्तरमार्गणापञ्चके आयुर्बन्धतद्विरमाभ्यामेव बन्धस्थानपरावर्तनादायुर्बन्ध-कालस्य तदन्तरकालस्य चान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्, आयुर्बन्धविरामतोऽन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमेव मरण-सम्भवाच्चावस्थितबन्धस्य जघन्यकालोऽप्यत्र मार्गणापञ्चकेऽन्तर्मुहूर्तमेव प्राप्यते ।

केवलद्विके सम्यग्मिथ्यात्वे च बन्धस्थानपरावृत्त्यभावान्मार्गणाजघन्यकायस्थितेरन्त-र्मुहूर्तप्रमाणत्वाच्चावस्थितबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो भवति ।

शेषासु षट्पष्ट्युत्तरशतमार्गणास्ववस्थितबन्धस्य जघन्यकालः समयो भवति, तत्र यासु मार्गणासु प्रथमं द्वितीय वा गुणस्थानकं भवतिः तासु नाम्नो बन्धस्थानपरावृत्त्यन्तरस्य समय प्रमाणत्वेनावस्थितबन्धस्य जघन्यकालः समयः प्राप्यते, आनतादिनवमग्रैवेयकान्तत्रयोदशमार्ग-णासु सम्यक्त्वतः प्रपततः सास्वादनगुणं समयद्वयमनुभूय मिथ्यात्वं प्राप्तस्य सास्वादनस्य द्वितीय-समये समयमात्रमवस्थितबन्धो भवति । यासु प्रथमद्वितीयगुणस्थानयोरभावस्तासु त्रयोदशसु मतिज्ञानादिमार्गणासु जिननामबन्धमारभ्य समयमन्तरयित्वा आहारकद्विकबन्धमारभते तस्य मध्ये समयमात्रमवस्थितबन्धो भवति । ता मार्गणा नामत इमाः—मत्यादिज्ञानचतुष्का-ऽवधि-दर्शन-संयमौघ-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धि-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकौपशमिक-क्षायो-पशमिकमार्गणाः । आहारकतन्मिश्रमार्गणाद्वये आयुर्बन्धतृतीयसमये मार्गणापरावर्तनादायु-र्बन्धद्वितीयसमये मार्गणाचरमसमयरूपे समयमात्रमवस्थितबन्धो भवति, यद्वा मार्गणाप्रारम्भ-द्वितीयसमय आयुर्बन्धप्रारम्भाद् मार्गणाप्रथमसमये समयमात्रमवस्थितबन्धो भवति । अपगत-वेद-सूक्ष्मसम्पराया-ऽकषाय यथाख्यातमार्गणासु मरणव्याघातेनावस्थितबन्धस्य जघन्यकालः समयप्रमाणो भवति । देशविरतौ अवस्थितबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणः सम्भवतिः यतो मार्गणाजघन्यकायस्थितिरन्तर्मुहूर्तप्रमाणा, मार्गणायामायुर्बन्धभाव आयुर्बन्धारम्भाद् प्रागन्तर्मुहूर्तकालमायुर्बन्धविरामाच्चोर्ध्वमन्तर्मुहूर्तकालं यावत्प्रस्तुतमार्गणायामेवावस्थानं भवति, तथा आयुर्बन्धकालमध्ये तत्प्रागुत्तरत्रान्तर्मुहूर्तमध्ये जिननामबन्धो न प्रारभ्यते, यतो जिन-नामबन्धप्रारम्भात् प्रागुत्तरत्र चान्तर्मुहूर्तं यावदायुर्बन्धो नास्तिः—एकान्तप्रवर्धमानपरिणाम एव

जिननामबन्धारम्भसम्भवात् । अत एव जिननामप्रारम्भानन्तरं समयान्तर आयुर्बन्धाभावादा-युर्बन्धविरामानन्तरं समयान्तरे जिननामबन्धाभावादायुर्बन्धकाले मार्गणापरावृत्त्यभावादवस्थान-बन्धस्य जघन्यकालः समयः सामान्यतो न प्राप्यते । यदि पुनर्देशविरतिप्राप्तिद्वितीयसमये जिननामबन्धप्रारम्भः स्यात् , यद्वा सर्वविरत्यभिमुखस्य देशविरतिद्विचरमसमये जिननामबन्ध-प्रारम्भः स्यात् तदा देशविरतौ अवस्थितबन्धस्य जघन्यकालः समयः प्राप्यते ।

शेषमार्गणासु प्रथमस्य द्वितीयस्य वा गुणस्थानस्य भावेन नाम्नो बन्धस्थानपरावृत्त्या मार्गणाजघन्यकायस्थितेः समयप्रमाणत्वाद् वा समयप्रमाणोऽवस्थितबन्धस्य जघन्यकालो विज्ञेयः ॥२३६॥

अथ मार्गणासु भूयस्कारबन्धस्योत्कृष्टकालं निरूपयन्नाह—

भूओगारस्स गुरू दो समया अत्थि आणयाईसुं ।
गेविज्जंतसुरेसुं कम्मणजोगे अणाहारे ॥२३७॥
चउणाणसंजमेसुं समइअछेअपरिहारओहीसुं ।
सुक्काए सम्मत्ते खइउवसमवेअगेसुं च ॥२३८॥
पंचसु अणुत्तरेसुं आहारदुगे अवेअदेसेसुं ।
समयो हवेज्ज अगणाह समयपुहुत्तं मुणेयव्वं ॥२३९॥

(प्रे०) "भूओगारस्से"त्यादि, आनतादिनवमग्रैवेयकान्तमार्गणासु त्रयोदशसु भूय-स्कारबन्धस्योत्कृष्टकालः समयद्वयं भवति, य उपशमसम्यक्त्वतः सास्वादनं प्राप्य द्वितीयसमये मिथ्यात्वं प्राप्तः, स चतुःषष्टेर्बन्धत एकसप्ततेर्बन्धं विधाय द्वासप्ततिं बध्नाति, एवं समयद्वयं भूयस्कारबन्धो भवति । कार्मणानाहारकयोः समयत्रयमितकायस्थितिकयोर्द्वितीयतृतीयसमये नाम्नो बन्धस्थानपरावर्तनेन समयद्वयं यावद् भूयस्कारबन्धो भवति ।

मतिश्रुतावधिमनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिसंयमा-ऽवधिदर्शन-शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघ–क्षायिकौपशमिक–क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणासु चतु-र्दशमार्गणासु भूयस्कारबन्धस्य ज्येष्ठकालः समयद्वयं भवति, यः सप्तमगुणस्थाने जिननाम-बन्धं प्रारभ्य द्वितीयसमय आहारकद्विकबन्धं प्रारभते, तस्य समयद्वयं भूयस्कारबन्धस्य ज्येष्ठकालो भवति, कासुचिन्मार्गणासु यः श्रेणितोऽवरोहन् सकृद् भूयस्कारबन्धं विधाय कालं कृत्वा दिवि समुत्पन्नस्तत्र प्रथमसमये भूयस्कारबन्धं करोति, तस्यैवंप्रकारेण भूयस्कारबन्धस्य समयद्वयं ज्येष्ठकालः प्राप्यत इति ।

अनुत्तरमार्गणापञ्चकेऽपगतवेदे देशविरतौ च भूयस्कारबन्धस्य ज्येष्ठकालोऽपि समयः, अनुत्तरपञ्चक आयुर्बन्धप्रयुक्तस्यैव भूयस्कारबन्धस्य लाभात् । अपगतवेदे श्रेणितः क्रमेणावरोहत एव तल्लाभात् , श्रेणौ मरणव्याघातं विहाय प्रतिबन्धस्थानानां जघन्यकालस्याप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वाच्च । देशविरतौ जिननामबन्धप्रारम्भेणायुर्बन्धप्रारम्भेण वा तल्लाभात् प्राग्दर्शितनीत्या तयोर्निरन्तरं समयद्वयं बन्धप्रारम्भाभावाच्च भूयस्कारबन्धस्य निरन्तरो ज्येष्ठकालः समय एव । आहारकद्विकमार्गणायां भूयस्कारबन्धस्योत्कृष्टकालः समयः, भावना तु देशविरतिमार्गणावत् कार्या ।

उक्तशेषासु त्रिंशदुत्तरशतमार्गणासु भूयस्कारबन्धस्य कालः समयपृथक्त्वमवधेयम् ।

अत्र समयपृथक्त्वं समयद्वयप्रमाणं प्रतिभाति, हेतुस्तु स्वस्थानभूयस्काराधिकारवद् विज्ञेयः । भूयस्कारबन्धस्य ज्येष्ठकालः समयद्वयं सामान्यत एवं भावनीयः, तद्यथा-(१) श्रेणौ यो बन्धस्थानस्य परावर्तनेन भूयस्कारबन्धं विधाय कालं कृत्वा दिवि समुत्पन्नः पुनर्भूयस्कारबन्धं करोति, यद्वा (२) उपशमसम्यक्त्वतः समयं सास्वादनमनुभूय मिथ्यात्वं प्राप्त उक्तरूपं समयद्वयं भूयस्कारबन्धं करोति, यद्वा (३) मिथ्यात्वे सास्वादने च नाम्नो नानाबन्धस्थानसम्भवेन समयद्वयं यावद् बन्धस्थानाना परावर्तनेन भूयस्कारबन्धः प्रवर्तते, यद्वा (४) सप्तमाष्टमगुणस्थानकयोर्जिननामाहारकद्विकबन्धप्रारम्भेण समयद्वयं भूयस्कारबन्धः प्रवर्तत इति । अत्र शेषमार्गणासु समयद्वयमनुक्त्वा समयपृथक्त्वं यद् दर्शितं तत्रायं हेतुः-शेषमार्गणासु प्रथमद्वितीयगुणस्थाने नानाबन्धस्थानानि परावर्तमानभावेन बन्धप्रायोग्याणि, अत एतासु कदाचित् त्र्यादिसमयसम्भवः स्यात् , न च तथा सम्यक्त्वादिमार्गणास्विति । तत्त्वं पुनस्तत्त्वविदो विदन्ति ॥२३७-२३९॥

अथाऽल्पतरबन्धस्य ज्येष्ठकालं मार्गणासु निरूपयन्नाह-

> समयो-ऽप्पयरस्साणयसुराइआहारदुगअवेएसु ।
> चउणाणासंजमेसुं समइअछेअपरिहारेसु ॥२४०॥
> देसोहिसुक्कसम्मुवसमखाइअवेअगेसु होइ गुरू ।
> कम्माणाहारेसुं दुखणाऽणाणासु समयपुहुत्तं ॥२४१॥

(प्रे०) "समयो" इत्यादि, आनताद्यष्टादशदेवमार्गणास्वाऽऽहारकतन्मिश्राऽपगतवेदेषु मत्यादिज्ञानचतुष्के संयमौघ-सामायिकच्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धि-देशविरत्य-ऽवधिदर्शन-शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघो-पशमसम्यक्त्व-क्षायिक-क्षायोपशमिकेष्वेतासु षट्त्रिंशद्मार्गणास्वल्पतरबन्धस्योत्कृष्टकालः समयो भवति, यासु मार्गणासु मिथ्यात्वं सास्वादनं च गुणस्थानं नास्ति तासु नाम्नो बन्धस्थानानां समयादिना परावर्तमानेन बन्धाभावादल्पतरबन्धस्य

कालः प्रकृष्टतोऽपि समयप्रमाणोऽऽयुर्बन्धविरामेणाहारकद्विकबन्धविरामादिना वा प्राप्यते । अत एतासु मिथ्यात्वं सास्वादनं वा गुणस्थानकं नास्ति, अत्राल्पतरबन्धस्य सत्पदभावे तस्य कालः प्रकृष्टतया समयो विज्ञेयः । आनतादिनवमग्रैवेयकपर्यन्तमार्गणासु मिथ्यात्वं सास्वादनं च भवति तथापि तत्र नाम्न एकजीवमधिकृत्य नानाबन्धस्थानाभावेन त्रयोदशमार्गणास्वल्पतरबन्धस्य ज्येष्ठकालः समय एव । एवमेव शुक्ललेश्यायामपि ज्ञेयम् । मोहनीयसत्कबन्धस्थानप्रयुक्ताल्पतरबन्धज्येष्ठकालस्य सम्भवत्सर्वमार्गणासु समयप्रमाणत्वान्नाम्नो बन्धस्थानानामेवात्र निर्देशः ।

कार्मणानाहारकमार्गणयोस्त्रिसमयस्थितिकयोः समयद्वयमल्पतरबन्धस्योत्कृष्टकालः प्राप्यते । शेषासु मार्गणास्वल्पतरबन्धसम्भवे तस्य प्रकृष्टकालः समयपृथक्त्वं भवति, समयद्वयं सम्भवतीत्यर्थः, मिथ्यात्वे सास्वादने च नाम्नो बन्धस्थानानां परावर्तमानेन समयद्वयमल्पतरबन्धस्य प्रकृष्टकालः प्राप्यते, अतो भावनापि तदनुसारेण कार्येति । अयं भावः—यासु मार्गणासु मिथ्यात्वे सास्वादने च नाम्नोऽनेकबन्धस्थानानि, तासु नाम्नो बन्धस्थानपरावर्तनेन भूयस्कारबन्धस्याल्पतरबन्धस्य च यावन्तः समया भवन्ति तावन्त एव प्रस्तुतेऽपि तयोः प्रकृष्टबन्धकालो विज्ञेयः । नामेतरप्रकृत्यपेक्षया प्रस्तुतेऽल्पतरबन्धकालः प्रकृष्टतः समय एव, भूयस्कारबन्धकालो मोहनीयापेक्षया समयद्वयं कासुचिन्मार्गणासु तु समय एव । शेषकर्मापेक्षया तु समय एव । अतः शेषमार्गणासु नाम्नो बन्धस्थानापेक्षया भूयस्काराल्पतरबन्धकालः प्रकृष्टतया भावनीय इति ॥२४०-२४१॥

अथाऽवस्थितबन्धस्य प्रकृष्टकालं निरूपयन्नाह —

> सव्वणिरयसुरलेसाअवेअमणणाणसंजमेसु तहा ।
> सामाइअछेएसुं परिहारविसुद्धिदेसेसुं ॥२४२॥
> ऊणा गुरुकायठिई अवट्ठिअस्स हवए गुरू कालो ।
> देसूणगुरुभवठिई निरितिपणिदितिरिमणुसीसुं ॥२४३॥

(प्रे०) "सव्वे"त्यादि, सर्वे नरकभेदास्ते चाष्टौ, सर्वे देवभेदास्ते च त्रिंशत् , सर्वे लेश्याभेदास्ते च षड् , एतासु चतुश्चत्वारिंशन्मार्गणासु मार्गणाप्रान्त आयुर्बन्धस्यावश्यंभावात् यावदायुर्बन्धं नारभते तावदवस्थितबन्धः प्राप्यते, कासुचिन्मार्गणासु मार्गणाप्रारम्भे मिथ्यात्वाद्यवस्थाया अवश्यंभावेन भवाद्यन्तर्मुहूर्तमपि वर्जनीयम् । एवं भवाद्यप्रान्तान्तर्मुहूर्तद्वयेन भवप्रान्तान्तर्मुहूर्तेन वा न्यूनां स्वज्येष्ठकायस्थितिं यावदवस्थितबन्धः प्रवर्तते । अत्राऽष्टनरकभेदभवनपति व्यन्तर-ज्योतिष्काशुभलेश्यात्रिकमार्गणासु भवाद्यन्तर्मुहूर्तमपि वर्जनीयम् । एवं

चैतासु या ज्येष्ठकायस्थितिः सा अन्तर्मुहूर्तोनाऽवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालतया प्राप्यते । मनःपर्यवज्ञानादिषण्मार्गणासु देशोनकायस्थितिर्देशोनपूर्वकोटिप्रमाणा प्रकृष्टा भवति, तत्र मार्गणाप्रान्ते भवप्रान्तरूप आयुर्बन्धस्यावश्यं भावाद् भवप्रान्तान्तर्मुहूर्तोना प्रकृष्टकायस्थितिर्मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणास्ववस्थितबन्धस्य प्रकृष्टकालतया निरन्तरं प्राप्यते ।

अपगतवेदमार्गणायां मार्गणाप्रारम्भसत्कान्तर्मुहूर्तोनज्येष्ठकायस्थितिरवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालः सयोगिकेवल्यपेक्षया प्राप्यते, स च देशोनपूर्वकोटिप्रमाणः ।

तिर्यग्गत्योघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिरश्ची-मानुषीषु पञ्चसु मार्गणासु प्रकृष्टभवस्थितिः पल्योपमत्रयप्रमाणा भवति, तत्राद्यमार्गणात्रये सम्यक्त्वेन सहोत्पन्नस्य भवप्रान्तान्तर्मुहूर्तन्यूनपल्योपमत्रयप्रमाणोऽवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालः प्राप्यते । अन्त्यमार्गणाद्वये तु सम्यक्त्वेन सहोत्पादाभावाद् भवाद्यन्तान्तर्मुहूर्तद्विकरूपान्तर्मुहूर्तन्यूनपल्योपमत्रयप्रमाणोऽवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालः प्राप्यते ॥२४२-२४३॥

अथ मार्गणान्तरेषु प्राह—

असमत्तपणिंदितिरियमणुसपणिंदियतसेसु सव्वेसुं ।
एगिंदियविगलेसुं सव्वेसुं पंचकायेसुं ॥२४४॥
पणमणवयकायउरलविउवाहारदुगचउकसायेसुं ।
उवसमसासाणेसुं अमणे य भवे मुहुत्तंतो ॥२४५॥

(प्रे०) "असमत्ते"त्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तमनुष्या-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसकायाः, सर्वे एकेन्द्रियभेदाः, सर्वे विकलाक्षभेदाः, पृथिव्यादिप ायसत्कैकोनचत्वारिंशद्भेदाः, मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगौघ तदुत्तरभेदचतुष्क-काययोगौघौदारिकयोग-तन्मिश्र-वैक्रिय-तन्मिश्रा-ऽऽहारक-तन्मिश्र-कषायचतुष्को-पशमसम्यक्त्व-सास्वादना-ऽसञ्ज्ञिमार्गणासु त्र्यशीता नवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति, कासुचिन्मार्गणाकायस्थितेरेवान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्, कासुचिन्मार्गणासु दीर्घकायस्थितिकत्वेऽपि नाम्नो बन्धस्थानानां प्रत्यन्तर्मुहूर्तं परावर्तमानत्वेनान्तर्मुहूर्तादधिककालो नैव प्राप्यते । शेषभावना तु सुगमा स्वयं कार्या ॥२४४-२४५॥

अथ मनुष्यौघादिमार्गणास्ववस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालं प्राह—

दुणरेसु गुरुभवठिई अब्भहिया कम्मणो अणाहारे ।
समयतिगं थीअ भवे देसूणा पल्लपणवण्णा ॥२४६॥

(प्रे०) "दुगरे" त्यादि, मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्यमार्गणयोरवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालः पल्योपमानि त्रीणि देशोनपूर्वकोटितृतीयभागश्च भवति। यश्च पूर्वकोट्यायुष्कमनुष्यः स्वायुष्कतृतीयभागे पल्योपमत्रयप्रमाणमायुर्बन्धं कृत्वा सम्यक्त्वं प्राप्य क्षायिकसम्यक्त्वं प्राप्नोति तस्य सम्यक्त्वप्राप्तितः प्रागन्तर्मुहूर्तादारभ्य युगलिकभवे प्रान्ते यावदायुर्बन्धं न करोति तावत् प्रस्तुतबन्धकालो विज्ञेयः। त्रिषष्टिबन्धस्थानापेक्षया चैतद् विभावनीयम्। कार्मणानाहारकयोः समयत्रिकमवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालो भवति, मार्गणाज्येष्ठकायस्थितेस्तावत्प्रमाणत्वात्। स्त्रीवेदमार्गणायां ईशानसत्कज्येष्ठस्थितिकदेवीमपेक्ष्य भवाद्यान्त्यान्तर्मुहूर्तन्यूनपञ्चपञ्चाशत्पल्योपमान्यवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालो भवति। सामान्यतः सम्यक्त्वेन सह स्त्रीषूत्पादाभावेनाधिककालस्यानवकाशः ॥२४६॥

मार्गणान्तरेषु अवस्थितबन्धस्य ज्येष्ठकालं प्राह—

जेट्ठा ससकायठिई णेयो अकसायकेवलदुगेसुं ।
तह सुहमसंपराये अहखायम्मि तह मीसम्मि ॥२४७॥

(प्रे०) "जेट्ठा" इत्यादि, अकषायेत्यादिषण्मार्गणास्ववस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालः स्वज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणो विज्ञेयः, एतासु भूयस्काराल्पतरबन्धयोरभावादेवं निर्देशः। अत्र मार्गणाचतुष्के देशोनपूर्वकोटिकालो ज्ञेयः, स च व्याख्यानाद् देशोनज्येष्ठकायस्थितिरूपो विज्ञेयः, यतश्चतुर्दशगुणस्थान उक्तमार्गणानां भावेऽपि प्रकृतिबन्धाभावादवस्थितबन्धस्याप्यभावः। यद्वा प्रकृतिबन्धकजीवापेक्षया यावती मार्गणाज्येष्ठकायस्थितिस्तावती परिपूर्णाऽत्र प्राप्यते। सूक्ष्मसम्पराययथाख्यातमिश्रसम्यक्त्वरूपमार्गणाद्वये त्वन्तर्मुहूर्तप्रमाणः कालो विज्ञेयः, मार्गणाज्येष्ठकायस्थितेस्तावत्प्रमाणत्वात् ॥२४७॥

अथाऽज्ञानत्रिकादिमार्गणासु शेषमार्गणासु चावस्थितबन्धस्य ज्येष्ठकालं निरूपयन्नाह—

ऊणेगतीसजलही अरणाणतिगे अभवियमिच्छेसुं ।
ऊणा तेत्तीसुदही गुणवीसाएऽत्थि सेसासुं ॥२४८॥

(प्रे०) "ऊणे" इत्यादि, मत्यज्ञानाद्यज्ञानमार्गणात्रिक अभव्ये मिथ्यात्वे चेति पञ्चसु देशोनैकत्रिंशत्सागरोपमाण्यवस्थितबन्धस्य ज्येष्ठकालो भवति, स च नवमग्रैवेयक उत्पत्तिद्वितीयसमयात् प्रारभ्य यावत् प्रान्त आयुर्बन्धं न प्रारभेत तावद्विज्ञेयः। एवं सार्धगाथाषट्केन पञ्चपञ्चाशदुत्तरशतमार्गणास्ववस्थितबन्धस्य ज्येष्ठकालो निरूपितः। शेषास्वेकोनविंशतिमार्गणा-

चैतासु या ज्येष्ठकायस्थितिः सा अन्तर्मुहूर्तोनाऽवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालतया प्राप्यते । मनःपर्यवज्ञानादिषण्मार्गणासु देशोनकायस्थितिर्देशोनपूर्वकोटिप्रमाणा प्रकृष्टा भवति, तत्र मार्गणाप्रान्ते भवप्रान्तरूप आयुर्बन्धस्यावश्यं भावाद् भवप्रान्तान्तर्मुहूर्तोना प्रकृष्टकायस्थितिर्मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणास्ववस्थितबन्धस्य प्रकृष्टकालतया निरन्तरं प्राप्यते ।

अपगतवेदमार्गणायां मार्गणाप्रारम्भसत्कान्तर्मुहूर्तोनज्येष्ठकायस्थितिरवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालः सयोगिकेवल्यपेक्षया प्राप्यते, स च देशोनपूर्वकोटिप्रमाणः ।

तिर्यग्गत्योघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक् तिरश्ची-मानुषीषु पञ्चसु मार्गणासु प्रकृष्टभवस्थितिः पल्योपमत्रयप्रमाणा भवति, तत्राद्यमार्गणात्रये सम्यक्त्वेन सहोत्पन्नस्य भवप्रान्तान्तर्मुहूर्तन्यूनपल्योपमत्रयप्रमाणोऽवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालः प्राप्यते । अन्त्यमार्गणाद्वये तु सम्यक्त्वेन सहोत्पादाभावाद् भवाद्यन्तान्तर्मुहूर्तद्विकरूपान्तर्मुहूर्तन्यूनपल्योपमत्रयप्रमाणोऽवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालः प्राप्यते ॥२४२-२४३॥

अथ मार्गणान्तरेषु प्राह—

असमत्तपणिंदितिरियमणुसपणिंदियतसेसु सव्वेसुं ।
एगिंदियविगलेसुं सव्वेसुं पंचकायेसुं ॥२४४॥
पणमणवयकायउरलविउवाहारदुगचउकसायेसुं ।
उवसमसासाणेसुं अमणे य भवे मुहुत्तंतो ॥२४५॥

(प्रे०) "असमत्ते"त्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तमनुष्या-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसकायाः, सर्वे एकेन्द्रियभेदाः, सर्वे विकलाक्षभेदाः, पृथिव्यादिपञ्चकायसत्कैकोनचत्वारिंशद्भेदाः, मनोयोगौघ--तदुत्तरभेदचतुष्क--वचनयोगौघ तदुत्तरभेदचतुष्क-काययोगौघौदारिकयोग-तन्मिश्र-वैक्रिय-तन्मिश्रा-ऽऽहारक-तन्मिश्र-कषायचतुष्को--पशमसम्यक्त्व-सास्वादनाऽसंज्ञिमार्गणासु च्यशीतावस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति, कासुचिन्मार्गणाकायस्थितेरेवान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्, कासुचिन्मार्गणासु दीर्घकायस्थितिकत्वेऽपि नाम्नो बन्ध--स्थानानां प्रत्यन्तर्मुहूर्तं परावर्तमानत्वेनान्तर्मुहूर्तादधिककालो नैव प्राप्यते । शेषभावना तु सुगमा स्वयं कार्या ॥२४४-२४५॥

अथ मनुष्यौघादिमार्गणास्ववस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालं प्राह—

दुणरेसु गुरुभवठिई अब्भहिया कम्मसो अणाहारे ।
समयतिगं थीअ भवे देसूणा पल्लपणवण्णा ॥२४६॥

(प्रे०) "तुणरे" त्यादि, मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्यमार्गणयोरवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालः पल्योपमानि त्रीणि देशोनपूर्वकोटितृतीयभागश्च भवति । यश्च पूर्वकोट्यायुष्कमनुष्यः स्वायुष्कतृतीयभागे पल्योपमत्रयप्रमाणमायुर्बन्धं कृत्वा सम्यक्त्वं प्राप्य क्षायिकसम्यक्त्वं प्राप्नोति तस्य सम्यक्त्वप्राप्तितः प्रागन्तर्मुहूर्तादारभ्य युगलिकभवे प्रान्ते यावदायुर्बन्धं न करोति तावत्-प्रस्तुतबन्धकालो विज्ञेयः । त्रिषष्टिबन्धस्थानापेक्षया चैतद् विभावनीयम् । कार्मणानाहारकयोः समयत्रिकमवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालो भवति, मार्गणाज्येष्ठकायस्थितेस्तावत्प्रमाणत्वात् । स्त्रीवेद-मार्गणायां ईशानसत्कज्येष्ठस्थितिकदेवीमपेक्ष्य भवाद्यान्त्यान्तर्मुहूर्तन्यूनपञ्चपञ्चाशत्पल्योपमान्यवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालो भवति । सामान्यतः सम्यक्त्वेन सह स्त्रीषूत्पादाभावेनाधिककाल-स्यानवकाशः ॥२४६॥

मार्गणान्तरेषु अवस्थितबन्धस्य ज्येष्ठकालं प्राह–

जेट्ठा ससकायठिई णेयो अकसायकेवलदुगेसुं ।
तह सुहमसंपराये अहखायम्मि तह मीसम्मि ॥२४७॥

(प्रे०) "जेट्ठा" इत्यादि, अकषायेत्यादिषण्मार्गणास्ववस्थितबन्धस्योत्कृष्ट : स्वज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणो विज्ञेयः, एतासु भूयस्काराल्पतरबन्धयोरभावादेवं निर्देशः । अत्र मार्गणाचतुष्के देशोनपूर्वकोटिकालो ज्ञेयः, स च व्याख्यानाद् देशोनज्येष्ठकायस्थितिरूपो विज्ञेयः, यतश्चतुर्दशगुणस्थान उक्तमार्गणानां भावेऽपि प्रकृतिबन्धाभावादवस्थितबन्धस्याप्यभावः । यद्वा प्रकृतिबन्धकजीवापेक्षया यावती मार्गणाज्येष्ठकायस्थितिस्तावती परिपूर्णाऽत्र प्राप्यते । सूक्ष्मसम्परायमिश्रसम्यक्त्वरूपमार्गणाद्वये त्वन्तर्मुहूर्तप्रमाणः कालो विज्ञेयः, मार्गणाज्येष्ठकायस्थितेस्तावत्प्रमाणत्वात् ॥२४७॥

अथाऽज्ञानत्रिकादिमार्गणासु शेषमार्गणासु चावस्थितबन्धस्य ज्येष्ठकालं निरूपयन्नाह–

ऊणोगतीसजलही अणाणतिगे अभवियमिच्छेसुं ।
ऊणा तेत्तीसुदही गुणवीसाएऽत्थि सेसासुं ॥२४८॥

(प्रे०) "ऊणे" इत्यादि, मत्यज्ञानाद्यज्ञानमार्गणात्रिक अभव्ये मिथ्यात्वे चेति पञ्चसु देशोनैकत्रिंशत्सागरोपमाण्यवस्थितबन्धस्य ज्येष्ठकालो भवति, स च नवमग्रैवेयक उत्पत्तिद्वितीय-समयात् आरभ्य यावत् प्रान्त आयुर्बन्धं न प्रारभेत तावद्विज्ञेयः । एवं सार्धगाथाषट्केन पञ्चपञ्चाशदुत्तरशतमार्गणास्ववस्थितबन्धस्य ज्येष्ठकालो निरूपितः । शेषास्वेकोनविंशतिमार्गणा-

खवरि न्वस्योत्कृष्टकालो देशोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि विज्ञेयः, अनुत्तरसुरापेक्षया सप्तमनारकापेक्षया वा यथासम्भवमेष कालः प्राप्यते । शेषमार्गणा नामत इमाः—पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-पुरुषवेद-नपुंसकवेद-मतिश्रुतावधिज्ञानाऽसंयम-चक्षुरचक्षुरवधिदर्शन-भव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक क्षयोपशमिक-संज्ञ्या-हारिमार्गणा एकोनविंशतिः, अत्र नपुंसकवेदे सप्तमनारकापेक्षया भावना कार्या, शेषाऽष्टादशमार्गणास्त्वनुत्तरसुरापेक्षया भावना कर्तव्या इति ॥२४८॥

॥ श्री प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे परस्थाननिरूपणायां तृतीय कालद्वारं समाप्तम् ॥
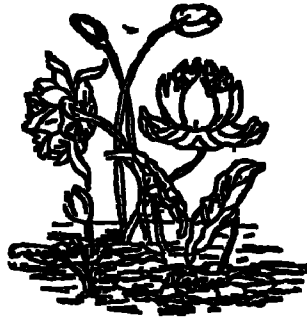
॥ अथ चतुर्थमन्तरद्वारम् ॥

गतं कालद्वारम् । अथैकजीवमाश्रित्यान्तरद्वारस्यावसरः, तत्रादौ तावदोघतो भूयस्कारादित्रयाणां पदानां बन्धस्य जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरं निरूपयन्नाह—

उत्तरपयडीण लहुं तिराह वि समयो अवट्ठिअस्स गुरुं ।
समयपुहुत्तं णेयं दोराहं ऊणुदहितेत्तीसा ॥२४९॥

(प्रे०) "उत्तरे"त्यादि, परस्थानोत्तरप्रकृतिभूयस्कारबन्धे भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धानां त्रयाणां प्रत्येकं जघन्यान्तरं समयः, नाम्नो बन्धस्थानानां परावर्तमानत्वेन समयान्तरे समयद्वयाद्यन्तरेऽपि परावर्तनाद् विवक्षितसमये त्रयाणामन्यतमं विवक्षितबन्धं कृत्वा समयं तदन्यबन्धं विधाय पुनस्तमेव करोति तदा निरुक्तमन्तरं प्राप्यते । एवं त्रयाणामन्तरं जघन्यतः समयो भवति । उत्कृष्टान्तरं तु भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्देशोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, अवरि बन्धज्येष्ठकालेन सातिरेकं तद् भावनीयम् । अवस्थितबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं समयपृथक्त्वम्=यथागमं द्विव्यादिसमयाः, भूयस्काराल्पतरबन्धद्वयेन निरन्तरबन्धलो यावत्स्यात्तावदवस्थितबन्धस्य प्रस्तुतान्तरं भवति, तयोः समुदितबन्धप्रयुक्तान्तरकालस्तु यद्यपि ग्रन्थकृता पृथक्त्वशब्देनोक्तस्तथाऽपि स नियतरूपो भवति, तस्य च स्पष्टरूपतया निर्देशाभावस्तु तत्प्रतिपादकशास्त्रस्य युक्तीनां चानुपलम्भादस्माकम् ॥२४९॥

अथ मार्गणासु भूयस्काराल्पतरबन्धयोः प्रत्येकं जघन्यान्तरमन्तराभावञ्च गाथापञ्चकेन प्रतिपादयन्नाह—

भूगारप्पयराणं कम्मणाणाहारगेसु णेव भवे ।
सेसासु लहुं समयो णेयं णवरं हुत्तंतो ॥२५०॥
भूओगारस्स भवे पंचाणुत्तरअवेअदेसेसुं ।
अप्पयरस्स हवेज्जा आणातआइगयवेएसुं ॥२५१॥
चउणाणासंजमेसुं समइअछेअपरिहारदेसेसुं ।
सुक्कावहिसम्मेसुं खाइअवेअगउवसमे ॥२५२॥
अंतरमंतमुहुत्तं आहाराहारमीसजोगेसुं ।
भूओगारस्स भवे अप्पयरस्संतरं णत्थि ॥२५३॥

अहवा-ऽत्थि सव्वणारगनइआइगअट्टमंतदेवेसु ।
पम्हाए लेसाए अप्पयरस्स य मुहुत्तंतो ॥२५४॥

(प्रे०) "भूगारे"त्यादि, कार्मणानाहारकमार्गणयोर्भूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तरं नास्ति, प्रस्तुतमार्गणे बन्धकजीवमपेक्ष्य प्रकृष्टतः समयत्रयस्थितिके, किञ्चात्र मार्गणाप्रथमसमये भूयस्काराल्पतरबन्धयोरविवक्षणा, शेषसमयद्वये चान्तरस्यासम्भवः, यतो जघन्यतः समयत्रये प्रथमतृतीयसमययोः विवक्षितपदस्य बन्धं द्वितीयसमये तद्बन्धाभावश्च स्यात्तर्ह्यन्तरं लभ्येत, अतः प्रस्तुतमार्गणाद्वये तयोः पदयोरन्तराभावः । मार्गणाप्रथमसमये मूलस्थितिबन्धविधानभूयस्कारान्तरद्वारव्याख्यातनीत्या भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्विवक्षणे तु तयोः प्रत्येकं समयप्रमाणमन्तरमजघन्योत्कृष्टं प्राप्येत इत्यवधार्यमिति ।

उक्तशेषमार्गणासु यासु भूयस्काराल्पतरबन्धौ तदन्यतरबन्धो वा स्यात् तासु तयोः प्रत्येकं वक्ष्यमाणान्यपवादपदानि विहाय जघन्यान्तरं समयो भवति, एतच्चान्तरं भूयस्कारस्याल्पतरावस्थितबन्धाभ्यामन्यतरबन्धेन; अल्पतरबन्धस्य तु भूयस्काराऽवस्थितबन्धाभ्यामन्यतरबन्धेन प्रयुक्तं प्राप्यत इति ।

अथाऽपवादपदान्याह-"णवर" मित्यादि, अनुत्तरदेवपञ्चकापगतवेददेशविरतिमार्गणासु भूयस्काराल्पतरबन्धयोः प्रत्येकं जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, यतोऽपगतवेदे श्रेणिमारोहतोऽवरोहतश्च क्रमशो नियतस्तत्तत्स्थानेऽल्पतरबन्धो भूयस्कारबन्धश्च भवति, सकृत् तद्बन्धभावे पुनस्तद्बन्धयोग्यस्थानमन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमेव प्राप्यत इति भावः । अनुत्तरमार्गणापञ्चके देशविरतौ चाऽऽयुर्बन्धप्रारम्भे तद्विरामे च भूयस्काराल्पतरबन्धौ भवतः, अत्र सकृदेवायुर्बन्धभावे तु तयोरन्तरमेव नास्ति, द्वयाद्याकर्षशोनानेकश आयुर्बन्धभावे त्वायुर्बन्धकालस्य तद्विरामकालस्य तदन्तरालकालरूपस्य च जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् तयोर्बन्धयोरन्तरं जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणं भवति ।

"अप्पयरस्से" त्यादि, आनतादिसर्वार्थसिद्धान्ता अष्टादशदेवमार्गणा अपगतवेदमतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानमनःपर्यवज्ञानसंयमौघसामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिदेशविरत्यवधिदर्शनसम्यक्त्वौघक्षायिकक्षयोपशमौपशमिकसम्यक्त्वरूपासु च त्रयस्त्रिंशन्मार्गणास्वल्पतरबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्तप्रमाणं भवति । अत्राऽऽनतादिनवमग्रैवेयकान्तमार्गणास्वल्पतरबन्धो द्विधा प्राप्यते, गुणपरावृत्त्या प्रथमतस्तृतीयचतुर्थगुणस्थानकयोरन्यतरं प्राप्येत्येकधा, अन्यथा त्वायुर्बन्धविरामतः । प्रथमचतुर्थगुणस्थानयोर्जघन्यकालस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वाद् गुणपरावृत्त्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणमन्तरं भवति । गुणपरावृत्त्यनन्तर मुहूर्तादूर्ध्वमेवायुर्बन्धप्रारम्भात्

तत्प्रयुक्तमन्तरमन्तर्मुहूर्तादल्पतरं न प्राप्यते । द्विरायुर्बन्धस्तद्विरामयोर्जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति तथा च सति तत्प्रयुक्तमल्पतरबन्धस्यान्तरमपि तथैवान्तर्मुहूर्तप्रमाणं भवति । अनुत्तरपञ्चके द्वितीयप्रकारेणैवाल्पतरबन्धान्तरं प्राप्यते ।

अपगतवेदे देशविरतौ च प्राक् प्रस्तुतगाथावृत्तावेव भावितः । क्षयोपशमसम्यक्त्वं विहाय मतिज्ञानादिशेषद्वादशमार्गणासु यथासम्भवं श्रेणौ बन्धस्थानपरावृत्त्या चतुर्थपञ्चमादिगुणस्थान-पर.वृत्त्याऽऽयुर्बन्धविरामेणाहारकद्विकविरामेण वा द्विरल्पतरबन्धलाभात् सकृदल्पतरबन्धं कृत्वा-ऽन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं पुनस्स भवति, तद्यथा–(१) श्रेणौ मरणव्याघातं विहाय प्रत्येकं बन्धा आन्त-र्मौहूर्तिका भवन्ति । (२) कालकरणे तु भूयस्कारबन्ध एव, अतः श्रेण्यपेक्षया सकृदल्पतरबन्धं कृत्वा पुनस्तमन्तर्मुहूर्तेन स करोति, न पुनस्तदर्वाक् । आयुर्बन्ध विरामापेक्षया त्वन्तर्मुहूर्तप्रमाण-मन्तरं सुगमम् । (३)चतुर्थगुणात् पञ्चमं प्राप्य पुनः षष्ठं प्राप्तस्य यो द्विरल्पतरबन्धो भवति तद-न्तरं जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तं भवति । (४) आहारकद्विकबन्धविरामापेक्षयाऽपि तस्य सप्तमगुणतः षष्ठगुणस्थानं प्राप्तस्य तत्प्रथमसमयेऽल्पतरबन्धो भवति, ततः षष्ठगुणस्थानकाद्धां सप्तमगुण-स्थानकाद्धां च व्यतीत्य पुनस्तस्य लाभः स्यादिति । एवं चतुर्धा अपि जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्त-प्रमाणं भवति । क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणायामप्येवमेव परं श्रेणेरभावात् तदपेक्षया भावना न कार्येति ।

आनतादिनवमग्रैवेयकान्तासु त्रयोदशसु देशविरतिवर्जमतिज्ञानादित्रयोदशमार्गणासु चेति षड्विंशतौ भूयस्कारबन्धस्य जघन्यान्तरं शेषमार्गणावत् समयो विज्ञेयम् । तत्राऽऽनतादिदेवेषु सम्यक्त्वतः प्रपततः समयद्वयं सास्वादनमनुभूय मिथ्यात्वं प्राप्तस्य भूयस्कारस्य जघन्यान्तरं विज्ञेयम् । शेषासु त्रयोदशस्वाहारकद्विकजिननामान्यतरबन्धं प्रारभ्य समयमन्तरयित्वा अन्य-स्यापि बन्धं प्रारभतः प्रस्तुतान्तरं प्राप्यते, यद्वा कासुचिद्मार्गणासु श्रेणितोऽवरोहन् भूयस्कार-बन्धं कृत्वा समयमवस्थितबन्धं निर्वर्त्य पुनर्मरणव्याघातेन भूयस्कारबन्धं करोति, एवं प्रस्तुता-न्तरं समयः प्राप्यते ।

शुक्ललेश्यामार्गणायां भूयस्कारबन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, आनतादिदेवमार्गणावत् मतिज्ञानादिवद्वा भावनीयम् । अल्पतरबन्धस्य जघन्यान्तरं मतिज्ञानादिमार्गणावदन्तर्मुहूर्तं प्राप्यते, न तु समय इति ।

आहारकयोगे तन्मिश्रे च भूयस्कारबन्धस्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, जिननाम्नो बन्ध-प्रारम्भेऽन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमेवाऽऽयुर्बन्धप्रारम्भात् , आयुर्बन्धे प्रारब्धे तु तद्विरामानन्तरमन्तर्मुहूर्ते-नैव जिननामबन्धप्रारम्भात् , उक्तमार्गणाद्वय आहारकद्विकस्य बन्धाभावेन तत्प्रयुक्तो भूय-स्कारबन्धो न प्राप्यते; अतो भूयस्कारबन्धस्य प्रस्तुतान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति । अत्र मार्गणाद्वय

आयुर्बन्धविरामेणैवाल्पतरबन्धस्य लाभाद् द्विरायुर्बन्धस्यैवाभावेन तद्विरामस्यापि द्विरभावा-दल्पतरबन्धस्य प्रस्तुतमार्गणाद्वयेऽन्तरं नास्ति । एवं च सपादगाथात्रयेण षट्त्रिंशन्मार्गणा अपवादविषया उक्तास्ताभ्यो नवमार्गणासु भूयस्कारबन्धस्यापवादः,—षट्त्रिंशन्मार्गणास्वल्प-तरबन्धस्यापवादः । कार्मणानाहारकयोः प्रागेव द्वयोरन्तरं निषिद्धम् ।

अकषाय-केवलज्ञान-केवलदर्शन-यथाख्यात-सूक्ष्मसम्पराय सम्यग्मिथ्यात्वेषु षट्सु भूय-स्काराल्पतरबन्धयोरभावाच्छेषासु त्रिंशदुत्तरशतमार्गणास्वल्पतरबन्धस्य तथा सप्तपञ्चाशदुत्तरशत-मार्गणासु भूयस्कारबन्धस्य जघन्यान्तरं समयप्रमाणं भवति । नाम्नो बन्धस्थानपरावर्तनेन सम्यक्त्वतः सास्वादनं समयद्वयं प्राप्य मिथ्यात्वगमनेन वा भूयस्कारबन्धस्य प्रस्तुतान्तरं भाव-नीयम् । अल्पतरबन्धस्य जघन्यान्तरं समयप्रमाणं नाम्नो बन्धस्थानपरावृत्त्यैव ज्ञेयमिति । शेषमार्गणा नामत इमाः—सर्वे नारक-तिर्यग्मनुष्यगतिभेदास्ते च सप्तदश, देवौघ-भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क-सौधर्मादिसहस्रारान्तमार्गणाः सर्वे इन्द्रिय-कायमार्गणाभेदाः, मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क- वचनयोगौघ तदुत्तरभेदचतुष्क--काययोगौघौ-दारिक-तन्मिश्र-वैक्रिय-तन्मिश्र-वेदत्रय कषायचतुष्का--ऽज्ञानत्रयाऽविरति- चक्षुरचक्षुर्दर्शन-लेश्यापञ्चक- भव्याऽभव्य--सास्वादन-मिथ्यात्व-संज्ञ्यसंज्ञ्याहारकमार्गणाः ।

एताभ्यः नरकौघादिपञ्चदशमार्गणा विहाय शेषासु नाम्नो बन्धस्थानपरावृत्त्याऽल्पतर-बन्धस्य समयमन्तरं प्राप्यते । अत्र नरकभेदाष्टके सनत्कुमारादिसहस्रारान्तदेवभेदषट्के चोद्योत-नाम्नो बन्धपरावृत्तिः यद्यायुर्बन्धकालमध्ये तद्विरामानन्तरं समयद्विसमयादिमध्येऽपि स्यात् तदा-ऽऽयुर्बन्धकालप्रान्ते प्रथममुद्योतबन्धनिवृत्त्याऽल्पतरबन्धस्ततः समयमायुर्बन्धं कृत्वा तस्य निवृत्तौ पुनरल्पतरबन्धो यद्वा पूर्वमायुर्बन्धाद्विरम्य पश्चात् समयान्तर उद्योतनाम्नो बन्धविरामे प्रस्तुत-बन्धान्तरं प्राप्यते, यदि पुनरेवमुद्योतनाम्नो बन्धविरामो न स्यात् तदोक्तचतुर्दशमार्गणास्व-ल्पतरबन्धस्यान्तर जघन्यमन्तर्मुहूर्तं भवति । एवं पद्मलेश्यायामपि भावनीयम् ।

एतासु त्रिंशदुत्तरशतमार्गणासु तथाऽऽनतादिनवमग्रैवेयकान्तत्रयोदशदेवमार्गणासु मति-ज्ञानादिचतुष्क--संयमौघ--सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय परिहारविशुद्धिसंयमा-ऽवधिदर्शन--सम्य-क्त्वौघ--क्षायिकसम्यक्त्व-क्षयोपशमसम्यक्त्वौ-पशमि म्यक्त्व-शुक्ललेश्यारूपासु चतुर्दशमार्ग-णासु चैवंसमुदितासु सप्तपञ्चाशदुत्तरशतमार्गणासूक्तप्रकारद्वयाद्यथासम्भवमन्यतरप्रकारेण उक्ता-न्यसम्भवत्प्रकारान्तरेणाऽपि भूयस्कारबन्धस्य जघन्यान्तरं यो भवतीति ॥२५०--२५४॥

अथ मार्गणासु भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्ज्येष्ठान्तरं निरूपयन्नाह—

सव्वणिरयभेएसुं सुरगेविज्जंतदेवभेएसुं ।
मणणाणसंजमेसुं पसत्थअपसत्थलेसासुं ॥२५५॥

भूणारप्पयराणं जे देसूणजेट्ठकायठिई ।
देसूणगुरुभवठिई तिरितिपणिंदितिरिमणुसीसुं ॥२५६॥

(प्रे०) "सव्वे"त्यादि, सर्वे नरकभेदास्ते चाष्ट, अनुत्तरपञ्चकवर्जपञ्चविंशतिसुरभेदाः, मनःपर्यवज्ञानं संयमौघो लेश्याषट्कं चेति समुदिता एकचत्वारिंशन्मार्गणाः, तासु भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्ज्येष्ठान्तरं देशोनज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणं भवति । तत्र देवनरकलेश्यास्वेकोनचत्वारिंशन्मार्गणासु मार्गणाप्रारम्भे यथासम्भवं किञ्चित्कालं व्यतीत्य भूयस्कारबन्धं कृत्वा सम्यक्त्वं प्राप्य प्रान्ते पुनर्मिथ्यात्वगमनेन भूयस्कारबन्धं करोति । एवमल्पतरबन्धेऽपि सम्यक्त्वकालेन ज्येष्ठान्तरं भावनीयम् । कायस्थितिस्तु प्रागनेकशो दर्शितत्वान्नात्र भूयो दर्श्यते । लेश्यामार्गणासु सविशेषभावनया प्रस्तुतान्तरं भावनीयम् । संयमौघ-मनःपर्यवज्ञानमार्गणाद्वये मार्गणाप्रारम्भे श्रेण्यपेक्षयाऽल्पतरबन्धं भूयस्कारबन्धं वा कृत्वा प्रान्ते पुनः श्रेण्यपेक्षया आहारकद्विकादिबन्धाद्यपेक्षया वा तयोर्बन्धयोः प्रस्तुतान्तरं देशोनपूर्वकोटिप्रमाणं भावनीयमिति ।

तिर्यगोघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यक्-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिरश्ची-मानुषीमार्गणासु पञ्चसु भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्ज्येष्ठान्तरं देशोनज्येष्ठभवस्थितिः, पल्योपमत्रयरूपा या ज्येष्ठा भवस्थितिः, सा देशोना प्रस्तुतेऽन्तरतया प्राप्यते । एतदन्तरं देशोनपल्योपमत्रयप्रमाणं भवति । भावना तु युगलधार्मिकानाश्रित्य भवप्रारम्भे मिथ्यात्वावस्थायां तिर्यग्मनुष्यप्रायोग्यबन्धभावेन भूयस्कारमल्पतरं वा कृत्वा पर्याप्तीभूय देवप्रायोग्यैकसप्ततिं बध्नन् कालं व्यतिक्रामति यावत्प्रकृष्टतो भवप्रान्त आयुर्बन्धे भूयस्कारं कृत्वाऽन्तरं समापयति, आयुर्बन्धविरामे चाल्पतरबन्धं कृत्वा तदन्तरं निष्ठापयति, एवमन्तर्मुहूर्तद्वयन्यूनं यद्वा यथासम्भवं किञ्चित्कालन्यूनं पल्योपमत्रयं प्रकृष्टान्तरं भूयस्काराल्पतरबन्धयोः प्राप्यत इति ॥२५५-२५६॥

अथाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिचतुरशीतिमार्गणासु प्राह—

असमत्तपणिंदितिरियमणुसपणिंदियतसेसु सव्वेसुं ।
एगिंदियविगलेसुं सव्वेसुं पंचकायेसुं ॥२५७॥
पणमणवयकायउरलविउव्वाहारदुगचउकसायेसुं ।
गयवेउवसमसासणअमणेसु भवे मुहुत्तंतो ॥२५८॥

(प्रे०) "अ से"त्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तमनुष्या-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसकायसप्तैकेन्द्रियनवविकलाक्षपृथ्व्यादिपञ्चकायसत्कैकोनचत्वारिंशत्कायमार्गणास्व—

संज्ञिनि च पष्ठी नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोः प्रत्यन्तर्मुहूर्तमवश्यं भावात् सर्वोच्चरप्रकृतिसत्कभूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तरमन्तर्मुहूर्तं प्रकृष्टतया भवति ।

मनोयोगौघ- तदुत्तरभेदचतुष्कवचनयोगौघतदुत्तरभेदचतुष्कौदारिकमिश्रवैक्रियकाययोग-तन्मिश्रा--ऽऽहारकयोग--तन्मिश्र--कषायचतुष्कोपशमसम्यक्त्व-सास्वादनमार्गणास्वेकविंशतौ मार्गणायाः प्रकृष्टकायस्थितेरेवान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वाद् भूयस्काराल्पतरबन्धयोः प्रकृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तप्रमाणं भवति । अत्राऽऽहारकतन्मिश्रमार्गणाद्वयेऽल्पतरबन्धस्यान्तराभावस्तज्जघन्यान्तरप्रस्ताव एव निषिद्धत्वादवसेय इति । काययोगौघौदारिकयोगयोर्मार्गणाकायस्थितिरन्तर्मुहूर्ततोऽधिका भवति तथापि यान् जीवभेदानधिकृत्य साऽधिका तानाश्रित्य तेषु जीवभेदेषु नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोः प्रत्यन्तर्मुहूर्तमवश्यं परावर्तनादन्तर्मुहूर्ततोऽधिकमन्तरं नास्ति, यं जीवभेदमाश्रित्य नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धयोः प्रभूतमन्तरं तस्मिन् जीवभेदे तयोर्मार्गणयोः प्रत्यन्तर्मुहूर्तं परावर्तमानत्वादन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं तयोर्मार्गणयोरेव विनाशात् ततोऽधिकान्तरस्यानवकाशः, अत उक्तमार्गणाद्वये संज्ञिपर्याप्तकेषु भूयस्कारद्वयेनाल्पतरद्वयेन वा प्रकृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्तप्रमाणमवसेयमिति । अपगतवेदे सयोगीकेवलिनं विहाय बन्धकजीवानाश्रित्य मार्गणाकायस्थितेरेवान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् ततोऽधिकान्तरस्यालाभः । शेषभावना तु सुगमा स्वयं कार्येति ॥२५७–२५८॥

अथ मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्या-ऽनुत्तरपञ्चक स्त्रीवेदेषु भूयस्काराल्पतरबन्धयोः प्रकृष्टान्तरं प्राह–

दुण्रेसु गुरुभवठिई अ्भहियाणुत्तरेसु छम्मासा ।
देसूणा थीअ भवे देसूणा पल्लपणवण्णा ॥२५९॥

(प्रे०) "दुणरे" इत्यादि, मनुष्यौघपर्याप्तमनुष्यमार्गणाद्वये भूयस्काराल्पतरबन्धयोः प्रकृष्टान्तरं भवस्थितिः सातिरेका, पूर्वकोटेर्देशोनतृतीयभागेनाभ्यधिकपल्योपमत्रयमिता भवति, भावना पुनरेवम्–पूर्वकोट्यायुषो द्वित्रिभागातिक्रम आयुर्बन्धे भूयस्कारबन्धं करोति, ततः क्रमेणायुर्बन्धाद् विरम्य यथा शीघ्रं सम्यक्त्वं प्राप्तस्तत्प्रथमसमयेऽल्पतरबन्धं करोति ततः क्रमेण द्वयोरन्तरं प्रारब्धम्, स च क्रमेण क्षायिकसम्यक्त्वमासाद्य यथाकालमायुः समाप्य पल्योपमत्रयमितजीवितेषु युगलिकेषूत्पद्य तदेव त्रिषष्टेर्बन्धस्थानं निर्वर्तयन् भवप्रान्त आयुर्बन्धस्तद्बन्धाद् विरमंश्च भूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तरस्य क्रमेण निष्ठां करोति, अत प्रमाणमन्तरं प्राप्यते ।

अनुत्तरप　　द्विरायुर्बन्धतद्विरामाभ्यां भूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तरस्य लाभाद्, देवानां

स्वायुषः षण्मासतोऽधिकावशेषे नूतनभवसत्कायुर्बन्धाभावादायुर्बन्धाकर्षप्रयुक्तं देशोनषण्मासा भूयस्काराल्पतरबन्धयोः प्रकृष्टान्तरं प्राप्यत इति ।

स्त्रीवेदे सम्यग्दृशां बाहुल्येनोत्पादाभावादेकभवसत्कं सम्यक्त्वकालप्रयुक्तं भूयस्काराल्पतरयोर्ज्येष्ठान्तरं देशोनपञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि, ईशानसत्कापरिगृहीतदेव्या भवप्रारम्भप्रान्तान्तर्मुहूर्तद्वयं वर्जयित्वा शेषस्वज्येष्ठायुष्कं यावद्भवति तावत् तामधिकृत्य प्रस्तुतान्तरं प्राप्यत इति ॥२५९॥ अथ सामायिकादिमार्गणासु प्राह—

देसूणपुव्वकोडी समइअछेअपरिहारदेसेसुं ।
भूगारस्सियरस्स य पुव्वाणं कोडितंसंतो ॥२६०॥

(प्रे०) "देसूणे"त्यादि, सामायिकादिमार्गणाचतुष्कम्, एतासु प्रत्येकं भूयस्कारबन्धस्य प्रकृष्टान्तरं देशोनपूर्वकोटिर्भवति, तत्र मार्गणाद्वये मार्गणाप्रारम्भे यथाशीघ्रं जिननामबन्धेन यद्वा श्रेणिमारुह्य ततोऽवरोहन् सकृद् भूयस्कारबन्धं कृत्वा स्वायुष्कबन्धकालं यावदाहारकद्विकमबध्नन् प्रान्तेऽन्तर्मुहूर्तावशेषे यदा देवायुर्बध्नाति तदा प्रकृष्टान्तरं प्राप्यते । परिहारविशुद्धौ श्रेणेरभावेन मार्गणाप्रारम्भे जिननामबन्धेन प्रान्ते चायुर्बन्धेन च भूयस्कारबन्धं कुर्वतः प्रस्तुतान्तरं भावनीयम् । एवमेव देशविरतावपि, केवलमत्राहारकद्विकस्य बन्धाभावादबध्नन्निति न वाच्यमिति । एतासु चतसृषु मार्गणास्वल्पतरबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं पूर्वकोटेर्देशोनतृतीयभागो विज्ञेयम्, तच्चायुर्बन्धाकर्षद्वयप्रयुक्तमवसेयम्, श्रेणिसत्काऽल्पतरबन्धस्य श्रेणावारोहकस्यैव लाभेन तत्र च दशमगुणस्थाने मार्गणाद्वयस्य विनाशाच्च तत्प्रयुक्तं देशोनपूर्वकोट्यन्तरं प्राप्यते । आहारकद्विकबन्धविरामप्रयुक्तं प्रस्तुतान्तरं मार्गणात्रयेऽन्तर्मुहूर्तमेव, यतो मार्गणात्रये प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थाने प्रत्यन्तर्मुहूर्तं परावर्तेते, तस्मिं चाहारकद्विकबन्धको यदा यदाऽप्रमत्तं प्रतिपद्यते तदा तदा तदवश्यं बध्नाति, अत आहारकद्विकबन्धविरामप्रयुक्तमन्तर्मुहूर्तादधिकमन्तरं नास्ति । देशविरतौ आहारकद्विकस्य बन्धाभावाच्च तद्भावना कार्येति ॥२६०॥

अथाऽज्ञानत्रिकादिमार्गणापञ्चके शेषास्वेकोनविंशतिमार्गणासु च भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्ज्येष्ठान्तरं प्राह—

ऊणेगतीसजलही दोराहवि तिअणाणअभविमिच्छेसु ।
ऊणा तेत्तीसुदही गुणवीसाएऽत्थि सेसासु ॥२६१॥

(प्रे०) "ऊणे"त्यादि, मत्यज्ञानाद्यज्ञानत्रिकेऽभव्ये मिथ्यात्वे चेति पञ्चमार्गणासु भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्ज्येष्ठान्तरं देशोनैकत्रिंशत्सागरोपमाणि भवति, नवमग्रैवेयकदेवेषूत्पत्तिप्रथमसमये भूयस्कारबन्धं कृत्वा ततो भवप्रान्ते आयुर्बन्धे प्रारब्धे पुनर्भूयस्कारबन्धं करोति,

एवमन्तर्मुहूर्तोनान्येकत्रिंशत्सागरोपमाणि भूयस्कारबन्धस्य प्रकृष्टान्तरं प्राप्यते । अल्पतरबन्धस्य ग्रैवेयकभवतः पूर्वजन्मनि चरमान्तर्मुहूर्ते तस्याऽनिर्वर्तनात् ततः प्रारभ्य देवभवे प्रान्त आयुर्बन्धविरामं यावत्प्रस्तुतान्तरं भावनीयम्, एतदप्येकत्रिंशत्सागरोपमाण्यन्तर्मुहूर्तोनानि भवति । उक्तशेषासु नवदशमार्गणासु भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्ज्येष्ठान्तरं देशोनानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि भवति । शेषमार्गणा नामत इमाः–पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-पुरुषवेद-नपुंसकवेद-मतिश्रुतावधिज्ञाना-ऽसंयम-चक्षुरचक्षुरवधिदर्शन -भव्य सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिक-संज्ञ्या-हारकमार्गणाः । एतास्वनुत्तरदेवापेक्षया भावना कार्या, केवलमसंयमे नपुंसकवेदे च सप्तमनारकसत्कसम्यक्त्वकालापेक्षया भावना कार्या सुगमा चेति॥२६१॥

अथ मार्गणास्ववस्थितबन्धस्य जघन्यान्तरं प्राह–

अकसायकेवलजुगलसुहुमाहक्खायचरणमीसेसुं ।
हवए अवट्ठिअस्स ण सेसासु भवे लहुं समयो ॥२६२॥

(प्रे०) "अकसाये"त्यादि, अकषायादिषण्मार्गणास्ववस्थितभिन्नबन्धाभावेनावस्थितबन्धस्यान्तरं नास्ति, अन्तरं हि प्रतिपक्षबन्धप्रयुक्तमबन्धप्रयुक्तं वा भवति, प्रस्तुतेऽबन्धादुत्तरं पुनर्बन्धाभावात् न तत्प्रयुक्तान्तरम्, विरुद्धबन्धाभावाच्च न तत्प्रयुक्तमप्यन्तरमेवमवस्थितबन्धस्यान्तरस्य निषेधो विज्ञेय इति । शेषास्वष्टषष्ट्युत्तरशतमार्गणास्ववस्थितबन्धस्य जघन्यान्तरं समयो भवति, एतासु प्रतिपक्षबन्धस्य भावेन तज्जघन्यकालस्य तावत्प्रमाणत्वेन च तत्प्रयुक्तं प्रस्तुतेऽन्तरं तावदेव प्राप्यत इति ॥२६२॥

अथाऽवस्थितबन्धस्य प्रकृष्टान्तरं निरूपयन्नाह—

विणयेयं समया दो अवट्ठिअस्स गुरुमाणताईसुं ।
तेरससुरभेएसुं णाणचउगसंजमेसुं च ॥२६३॥
सामाइअछेएसुं परिहारविसुद्धिओहीसुं ।
सुक्काए सम्मत्ते खाइअवेअगउवसमे ॥२६४॥ (उद्गीतिः)
समयो अणुत्तरेसुं कम्मे आहारदुगअवेएसुं ।
देसाणाहारेसुं सेसासु भवे णपुहुत्तं ॥२६५॥

(प्रे०) "विण्णेय"मित्यादि, आनतादिनवमग्रैवेयकान्तमार्गणासु त्रयोदशस्ववस्थितबन्धस्य गुर्वन्तरं भूयस्कारबन्धज्येष्ठकालप्रयुक्तं समयद्वयं भवति, अत्र यदा भूयस्कारं समयद्वयं भवति तदा तत्पूर्वमुत्तरं वाऽल्पतरबन्धाभा विकमन्तरमिति । ज्ञानचतुष्क-संयमौघ-सामायिका-

च्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्ध्य वधिदर्शन--शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्व क्षायोपशमिकसम्यक्त्वौ-पशमिकसम्यक्त्वमार्गणासु चतुर्दशस्ववस्थितबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं समयद्वयं भवति। भावना पुनरेवम्--श्रेणिमारोहन् सकृदल्पतरबन्धं कृत्वा कालकरणेन भूयस्कारबन्धं करोति, एवं समयद्वयं प्रस्तुतान्तरम्, यद्वा श्रेणितोऽवरोहन् भूयस्कारबन्धं कृत्वा मरणमासाद्य पुनर्भूयस्कारबन्धं करोति, एवमपि समयद्वयम्। यद्वा षष्ठगुणस्थानकात्सप्तमगुणस्थानकं प्राप्याऽऽहारकद्विकं बन्धे प्रारभ्य द्वितीयसमयतो जिननाम्नो बन्धं करोति, तदाऽपि प्रस्तुतान्तरं समयद्वयं प्राप्यते। यद्वाऽऽहारकद्विकं बद्ध्वा कालकरणेन द्वितीयसमये देवत्वे पुनर्भूयस्कारबन्धेन प्रस्तुतान्तरं समयद्वयम्। यद्वा सप्तमगुणतः षष्ठगुणस्थानं प्राप्याऽऽहारकद्विकबन्धनिरामादल्पतरबन्धं विरच्य निधनं प्राप्य देवेषु भूयस्कारबन्धं करोति, एवमपि समयद्वयं प्रस्तुतान्तरम्। यद्वा सम्यक्त्वादिगुणात् संयमं प्राप्याल्पतरबन्धं विधाय केषांचिन्मते द्वितीयसमये मरणेन जिननाम्न आहारकद्विकस्य बन्धेन वा भूयस्कारं निर्वर्तयन् प्रस्तुतान्तरं समयद्वयं प्राप्नोति। उक्तमार्गणासु चतुर्दशसु यथासम्भवमुक्तप्रकारैरवस्थितबन्धस्य प्रस्तुतान्तरं भावनीयम्।

अनुत्तरसुरपञ्चक कार्मणयोगा-ऽऽहारकद्विका ऽपगतवेद--देशविरत्यनाहारकमार्गणास्वेकादशस्ववस्थितबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं समयप्रमाणं भवति। कार्मणानाहारकमार्गणाद्वयं विहाय नवमार्गणासु भूयस्काराल्पतरबन्धयोः प्रत्येकं ज्येष्ठकालस्य समयप्रमाणत्वात्, एतासु भूयस्कारबन्धानन्तरमल्पतरबन्धस्याऽल्पतरबन्धानन्तरं भूयस्कारबन्धस्य वा जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तानन्तरमेव प्रवर्तनाच्चावस्थितबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं समयप्रमाणं भवति। कार्मणानाहारकयोर्मार्गणाकालस्य समयत्रयप्रमाणत्वेऽपि एवं भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्ज्येष्ठकालस्य समयद्वयप्रमाणत्वेऽपि प्रथमतृतीयसमयद्वयेऽवस्थितबन्धौ तयोर्मध्ये च द्वितीयसमये समयमेकं भूयस्कारबन्धमल्पतरबन्धं वा कुर्वतः समयमात्रं जघन्यमुत्कृष्टं चाऽन्तरमवस्थितबन्धस्य प्राप्यते।

एवं पादोनगाथात्रयेणाष्टात्रिंशद्मार्गणास्ववस्थितबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं दर्शितम्, षण्मार्गणास्वकषायादिषु तस्यान्तराभावः, तेन ता वर्जित्वा शेषासु त्रिंशदुत्तरशतमार्गणास्ववस्थितबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं समयपृथक्त्वं भवति, भावनौघवद् यथासम्भवं कार्या, तच्चान्तरं भूयस्काराल्पतरबन्धाभ्यां निरन्तरं यावान् प्रकृष्टतो बन्धकालः स्यात् तावदवस्थितबन्धस्य प्रस्तुतान्तरं भवति, तयोः समुदितयोर्बन्धकालस्तु यद्यपि ग्रन्थकृता पृथक्त्वशब्देनोक्तस्तथापि स तत्तन्मार्गणासु भिन्नभिन्नरूपः, कासुचित्समयद्वयरूप एव, कासुचित्समयत्रयरूप इत्यादि, ततस्तत्कालस्य स्पष्टरूपतया निर्देशो बहुश्रुतेभ्योऽवधारणीय इति ॥२६३-२६५॥

॥ श्रीप्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधान उत्तरप्रकृतिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे परस्थाननिरूपणाख्या चतुर्थमन्तरद्वारं समाप्तम् ॥

एवमन्तर्मुहूर्तोनान्येकत्रिंशत्सागरोपमाणि भूयस्कारबन्धस्य प्रकृष्टान्तरं प्राप्यते। अल्पतरबन्धस्य ग्रैवेयकभवतः पूर्वजन्मनि चरमान्तर्मुहूर्ते तस्याऽनिर्वर्तनात् ततः प्रारभ्य देवभवे प्रान्त आयुर्बन्धविरामं यावत्प्रस्तुतान्तरं भावनीयम्, एतदप्येकत्रिंशत्सागरोपमाण्यन्तर्मुहूर्तोनानि भवति। उक्तशेषासु नवदशमार्गणासु भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्ज्येष्ठान्तरं देशोनानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि भवति। शेषमार्गणा नामत इमाः—पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-पुरुषवेद-नपुंसकवेद-मतिश्रुतावधिज्ञाना-ऽसंयम-चक्षुरचक्षुरवधिदर्शन-भव्य सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिक-संज्ञ्या-हारकमार्गणाः। एतास्वनुत्तरदेवापेक्षया भावना कार्या, केवलमसंयमे नपुंसकवेदे च सप्तमनारकसत्कसम्यक्त्वकालापेक्षया भावना कार्या सुगमा चेति॥२६१॥

अथ मार्गणास्ववस्थितबन्धस्य जघन्यान्तरं प्राह—

अकसायकेवलजुगलसुहमाहक्खायचरणमीसेसु ।
हवए अवट्ठिअस्स ण सेसासु भवे लहुं समयो ॥२६२॥

(प्रे०) "अकसाये"त्यादि, अकषायादिषण्मार्गणास्ववस्थितभिन्नबन्धाभावेनावस्थितबन्धस्यान्तरं नास्ति, अन्तरं हि प्रतिपक्षबन्धप्रयुक्तमबन्धप्रयुक्तं वा भवति, प्रस्तुतेऽबन्धादुत्तरं पुनर्बन्धाभावात् न तत्प्रयुक्तान्तरम्, विरुद्धबन्धाभावाच्च न तत्प्रयुक्तमप्यन्तरमेवमवस्थितबन्धस्यान्तरस्य निषेधो विज्ञेय इति। शेषास्वष्टषष्ट्युत्तरशतमार्गणास्ववस्थितबन्धस्य जघन्यान्तरं समयो भवति, एतासु प्रतिपक्षबन्धस्य भावेन तज्जघन्यकालस्य तावत्प्रमाणत्वेन च तत्प्रयुक्तं प्रस्तुतेऽन्तरं तावदेव प्राप्यत इति॥२६२॥

अथाऽवस्थितबन्धस्य प्रकृष्टान्तरं निरूपयन्नाह—

विणयोयं समया दो अवट्ठिअस्स गुरुमाणताईसुं ।
तेरससुरभेएसुं णाणचउगसंजमेसुं च ॥२६३॥
सामाइअछेएसुं परिहारविसुद्धिओहीसुं ।
सुक्काए सम्मत्ते खाइअवेअगउवसमेसुं ॥२६४॥ (वद्गीतिः)
समयो अणुत्तरेसुं कम्मे आहारदुगअवेएसुं ।
देसाणाहारेसुं सेसासु भवे खणपुहुत्तं ॥२६५॥

(प्रे०) "विण्णेय"मित्यादि, आनतादिनवमग्रैवेयकान्तमार्गणासु त्रयोदशस्ववस्थितबन्धस्य गुर्वन्तरं भूयस्कारबन्धज्येष्ठकालप्रयुक्तं समयद्वयं भवति, अत्र यदा भूयस्कारं समयद्वयं भवति तदा तत्पूर्वमुत्तरं वाऽल्पतरबन्धाभा विकमन्तरमिति। ज्ञानचतुष्क-संयमौघ-सामयिका-

च्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्ध्य वधिदर्शन--शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्व क्षायोपशमिकसम्यक्त्वौ-पशमिकसम्यक्त्वमार्गणासु चतुर्दशस्ववस्थितबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं समयद्वयं भवति। भावना पुनरेवम्--श्रेणिमारोहन् सकृदल्पतरबन्धं कृत्वा कालकरणेन भूयस्कारबन्धं करोति, एवं समयद्वयं प्रस्तुतान्तरम्, यद्वा श्रेणितोऽवरोहन् भूयस्कारबन्धं कृत्वा मरणमासाद्य पुनर्भूयस्कारबन्धं करोति, एवमपि समयद्वयम्। यद्वा षष्ठगुणस्थानकात्सप्तमगुणस्थानकं प्राप्याऽऽहारकद्विकं बन्धे प्रारभ्य द्वितीयसमयतो जिननाम्नो बन्धं करोति, तदाऽपि प्रस्तुतान्तरं समयद्वयं प्राप्यते। यद्वाऽऽहारकद्विकं बद्ध्वा कालकरणेन द्वितीयसमये देवत्वे पुनर्भूयस्कारबन्धेन प्रस्तुतान्तरं समयद्वयम्। यद्वा सप्तमगुणतः षष्ठगुणस्थानं प्राप्याऽऽहारकद्विकबन्धविरामादल्पतरबन्धं विरच्य निधनं प्राप्य देवेषु भूयस्कारबन्धं करोति, एवमपि समयद्वयं प्रस्तुतान्तरम्। यद्वा सम्यक्त्वादिगुणात् संयमं प्राप्याल्पतरबन्धं विधाय केषांचिन्मते द्वितीयसमये मरणेन जिननाम्न आहारकद्विकस्य बन्धेन वा भूयस्कारं निर्वर्तयन् प्रस्तुतान्तरं समयद्वयं प्राप्नोति। उक्तमार्गणासु चतुर्दशसु यथासम्भवमुक्तप्रकारैरवस्थितबन्धस्य प्रस्तुतान्तरं भावनीयम्।

अनुत्तरसुरपञ्चक कार्मणयोगा-ऽऽहारकद्विका ऽपगतवेद--देशविरत्यनाहारकमार्गणास्वेकादशस्ववस्थितबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं समयप्रमाणं भवति। कार्मणानाहारकमार्गणाद्वयं विहाय नवमार्गणासु भूयस्काराल्पतरबन्धयोः प्रत्येकं ज्येष्ठकालस्य समयप्रमाणत्वात्, एतासु भूयस्कारबन्धानन्तरमल्पतरबन्धस्याऽल्पतरबन्धानन्तरं भूयस्कारबन्धस्य वा जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तानन्तरमेव प्रवर्तनाच्चावस्थितबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं समयप्रमाणं भवति। कार्मणानाहारकयोर्मार्गणाकालस्य समयत्रयप्रमाणत्वेऽपि एवं भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्ज्येष्ठकालस्य समयद्वयप्रमाणत्वेऽपि प्रथमतृतीयसमयद्वयेऽवस्थितबन्धौ तयोर्मध्ये च द्वितीयसमये समयमेकं भूयस्कारबन्धमल्पतरबन्धं वा कुर्वतः समयमात्रं जघन्यमुत्कृष्टं चाऽन्तरमवस्थितबन्धस्य प्राप्यते।

एवं पादोनगाथात्रयेणाष्टात्रिंशद्मार्गणास्ववस्थितबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं दर्शितम्, षण्मार्गणास्वकषायादिषु तस्यान्तराभावः, तेन ता वर्जित्वा शेषासु त्रिंशदुत्तरशतमार्गणास्ववस्थितबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं समयपृथक्त्वं भवति, भावनौघवद् यथासम्भवं कार्या, तच्चान्तरं भूयस्काराल्पतरबन्धाभ्यां निरन्तरं यावान् प्रकृष्टतो बन्धकालः स्यात् तावदवस्थितबन्धस्य प्रस्तुतान्तरं भवति, तयोः समुदितयोर्बन्धकालस्तु यद्यपि ग्रन्थकृता पृथक्त्वशब्देनोक्तस्तथापि स तत्तन्मार्गणासु भिन्नभिन्नरूपः, कासुचित्समयद्वयरूप एव, कासुचित्समयत्रयरूप इत्यादि, ततस्तत्कालस्य स्पष्टरूपतया निर्देशो बहुश्रुतेभ्योऽवधारणीय इति ॥२६३--२६५॥

॥ श्रीप्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधान उत्तरप्रकृतिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे परस्थाननिरूपणाख्यं चतुर्थमन्तरद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ पञ्चमं भङ्गविचयद्वारम् ॥

गतमन्तरद्वारम् । अथ क्रमप्राप्तस्य भङ्गविचयद्वारस्यावसरः, अत्र पदत्रयम्, भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धा भवन्ति, अत्र सर्वप्रकृतीनां समुदितप्ररूपणाया भावेनौघे तत्तन्मार्गणासु त्रयाणामपि पदानां प्रत्येकं बन्धका ध्रुवा अध्रुवा वेति विमर्शनीयम्—

तत्र त्रयाणां पदानां बन्धका यदि ध्रुवास्तर्ह्येक एव भङ्गो भवति, एकस्याऽपि पदस्य बन्धकानां ध्रुवत्वे सत्येकस्य पदस्य बन्धका यद्यध्रुवास्तर्हि त्रयो भङ्गा भवन्ति, एकपदस्य बन्धकानां ध्रुवत्वे सति पदद्वयसत्कबन्धका यद्यध्रुवास्तर्हि नव भङ्गाः, यदि पुनर्मार्गणाया अध्रुवत्वेन त्रयाणामपि पदानामध्रुवत्वं तर्हि षड्विंशतिभङ्गा भवन्तीत्यवधारणीयम् ।

यद्येकमेव पदं सत् ध्रुवं च स्यात्तर्हि एक एव भङ्गो भवति । यद्येकमेव सत्पदमध्रुवं च स्यात्तर्हि भङ्गद्वयम् । यदि पुनः पदद्वयमेव सत् , तच्चाध्रुवं तर्हि भङ्गा अष्टौ स्युः । एवं च भङ्गानां प्ररूपणायाः सुगमत्वात् तान् विहाय तद्बीजभूतं त्रयाणामपि पदानां प्रत्येकं बन्धका अबन्धकाश्च ध्रुवा अध्रुवा वा, एतदेव मूलकारो दर्शयति, तदनुसारेण भङ्गानां भावना तु स्वयं कार्येति । अत्राबन्धकतया विरुद्धपदबन्धका एवावधारणीयाः, न पुनस्त्रयाणामपि पदानामबन्धका अयोगिनः सिद्धावेति ।

अथौघतः पदत्रयबन्धकानां ध्रुवत्वं प्रदर्शयन् प्रसङ्गतो यास्वोघवत्तासु मार्गणास्वतिदेशेन दर्शयंश्चाह—

उत्तरपयडीणं खलु णियमा होअन्ति बंधगा तिण्हं ।
भूओगाराईणं ओघव्व हवेज्ज तिपयाणं ॥२६६॥
तिरिये सव्वेगिंदियणिगोअवणासेससुहमभेएसुं ।
पुढवाइचउसु तेसिं बायरबायरअपज्जेसुं ॥२६७॥
पत्तेअवणम्मि तहा तदपज्जत्तम्मि कायजोगे य ।
उरलदुगकम्मणो णपुंसगे चउकसायेसुं ॥२६८॥
अणाणदुगे अजए अचक्खुदंसणतिअसुहलेसा ।
भवियेयरमिच्छेसुं असण्णिआहारगियरे ॥२६९॥

(प्रे०) "उत्तरे"त्यादि, उत्तरप्रकृतिमत्कपरस्थानभूयस्कारप्ररूपणायामोघतो भूयस्काराल्पतरावस्थितपदानां त्रयाणां बन्- : सदैव=ध्रुवा लभ्यन्ते, त्रयाणां पदानां प्रत्येकं बन्धकाः

सर्वदैवाऽनेके लभ्यन्ते । अयंभावः-अनन्तानां निगोदजीवानामसंख्येयलोकप्रमाणानां च पृथव्या-दिजीवानां प्रस्तुते बन्धकतया लाभाचेषां च प्रत्यन्तर्मुहूर्तमुक्तबन्धत्रयस्य परावर्तनात् त्रयाणां पदानां प्रत्येकं बन्धका ओघतः सदाऽनन्ताः प्राप्यन्ते, अत ओघतस्तेषां पदानां ध्रुवत्वम् , तेनैक एव भङ्गः प्राप्यत इति । तिर्यगोघादिचतुःषष्टिमार्गणासु यासु जीवा अनन्ता असंख्येयलोकाकाश-प्रदेशप्रमाणा वा भवन्ति, तासु प्रत्येकं भूयस्काराल्पतरावस्थितपदबन्धकाः सर्वदा प्राप्यन्ते; अत ओघवदेतासु प्रत्येकमेक एव भङ्गः प्राप्यते, यद्यूयत्पदस्य बन्धका निगोदजीवा यद्वा पृथ-व्याद्यसंख्यलोकराशिका जीवा भवन्ति, तत्तत्पदस्य बन्धकाः सर्वदैव प्राप्यन्त इति नियमात् प्रस्तुते तिर्यगोघादिचतुःषष्टिमार्गणासु त्रयाणां पदानां बन्धका ध्रुवतया प्राप्यन्त इति । ॥२६६–२६९॥ एतर्हि या मार्गणा नानाजीरपि सान्तरास्तासु भूयस्कारादीनां ध्रुवाध्रुवत्वं निरूपयन्नाह—

असमत्तणरविउव्वियमीसाहारगदुगेसु तह छेए ।
परिहारउवसमेसुं सासाणे तिरह भजणीआ ॥२७०॥

(प्रे०) "असमत्तणरे" इत्यादि, अपर्याप्तमनुष्य-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारक-तन्मिश्रयोग-च्छेदोपस्थापनीय परिहारविशुद्धिसंयमो-पशमसम्यक्त्व-सास्वादनमार्गणास्वष्टसु जीवानां कदा-चित्सर्वथाऽभावोऽपि प्राप्यते, कदाचिदेकादयोऽपि जीवा लभ्यन्ते; तेनैतासु भूयस्कारादित्रयाणां पदानां बन्धकानामध्रुवत्वात् षड्विंशतिर्भङ्गा भवन्ति । छेदोपस्थापनीये परिहारविशुद्धौ च भङ्गा प्राग्वत् स्वयं वक्तव्याः । अत्र बन्धकाऽबन्धकपदाभ्यामेकानेकजीवैर्भङ्गा भावनीया इति ।'२७०॥

अथ यासु केवलमवस्थितबन्धस्तासु तस्य ध्रुवत्वमध्रुवत्वं च प्राह—

णियमा अवट्ठिअस्स अकसायकेवलदुगाहखायेसुं ।
होअन्ति बंधगा खलु भजणीआ सुहममीसेसुं ॥२७१॥

(प्रे०) "णियमा" इत्यादि, अकषाय-केवलज्ञान-केवलदर्शन-यथाख्यातसंयमेषु चत-सृष्ववस्थितस्य बन्धका ध्रुवा भवन्ति; एतासु सयोगिकेवलिनां सदैव भावात्तेषां चावरि - स्यैव बन्धकत्वात् । सूक्ष्मसम्पराये सम्यग्मिथ्यात्वे चैकस्यैवावस्थितपदस्य भावेन मार्गणयो-रध्रुवत्वात् , एतयोरवस्थितपदमध्रुवम् , अत्रैकानेकबन्धकपदाभ्यां द्वौ भङ्गौ भवतः ॥२७१॥

अधुनोक्तशेषासु पण्णवतिमार्गणासु भूयस्कारादिपदबन्धकानां ध्रुवाऽध्रुवत्वं निरूपयन्नाह-

सेसासु छण्णवतीए अवट्ठिअस्सऽत्थि बंधगा णियमा ।
भूगारप्पयराणं भजणीया बंधगा णेया ॥२७२॥

(प्रे०) "सेसा" इत्यादि, उक्तशेषाः पण्णवतिमार्गणा ध्रुवाः, ध्रुवत्वादेव तत्रानेके जीवाः सर्वदैव भवन्ति, अतस्तत्रावस्थितपदबन्धका अपि ध्रुवा एव। एतासु जीवा असंख्य-लोकाकाशप्रदेशतोऽत्यल्पा भवन्ति; भूयस्काराल्पतरबन्धकालस्त्वेकजीवमपेक्ष्य संख्येयसमया एव, अतोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतो न्यूनजीवासु शेषमार्गणासु भूयस्काराल्पतरबन्धौ अध्रुवौ स्तः। शेषमार्गणा नामत इमाः-सर्वे नरकभेदाः, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदचतुष्कम्, अपर्याप्तवर्जमनुष्य-भेदत्रयम्, सर्वे देवभेदाः, नव विकलाक्षमार्गणाः, पञ्चेन्द्रियभेदत्रयम्, बादरपर्याप्तपृथ्व्यप्तेजो-वायुप्रत्येकवनस्पतिकायाः, त्रसकायत्रिकम्, मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क वचनयोगौघ तदु-त्तरभेदचतुष्क-वैक्रिययोग-स्त्रीपुरुषवेदापगतवेद-मतिश्रुतावधिमनःपर्यवज्ञान-विभङ्गज्ञान-संयमौघ-सामायिकसंयम-देशविरति-चक्षुरवधिदर्शन-तेजःपद्मशुक्ललेश्या सम्यक्त्वौघ--क्षायिकसम्यक्त्व-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-संज्ञिमार्गणाः। एतास्वेकस्यावस्थितपदस्य ध्रुवत्वाच्छेषपदद्वयस्याध्रुव-त्वाच्चव भङ्गा भवन्ति ॥२७२॥

॥ श्रीप्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधान उत्तरप्रकृतिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे परस्थाननिरूपणायां पञ्चम भङ्गविचयद्वारम् ॥

॥ अथ षष्ठं भागद्वारम् ॥

अथौघतो भूयस्कारादित्रयाणां प्रत्येकं बन्धकानां भागप्ररूपणां निरूपयन्नाह—

उत्तरपयडीणं खलु विगाणेया बंधगा असंखंसो ।
भूगारप्पयराणं अवट्ठिअस्स य असंखंसा ॥२७३॥

(प्रे०) "उत्तरे"त्यादि, सर्वोत्तरप्रकृतिसत्कभूयस्काराधिकार ओघतो भूयस्काराल्पतर-बन्धका ंख्येयैकभागप्रमाणा भवन्ति, उक्तपदत्रयबन्धकानामानन्त्येऽपि सामान्यतो भूय-स्काराल्पतरबन्धकालः संख्येयसमयाः, अवस्थितबन्धकालस्त्वसंख्येयाः याः, अतो भवन्ति असंख्येयैकभागप्रमाणा भूयस्कारबन्धका अल्पतरबन्धकाश्च, शेषाः प्रकृतिबन्धका असंख्येयबहु-भागप्रमाणा अवस्थितपदबन्धका भवन्ति ॥२७३॥ मार्गणासु यासु जीवाः संख्येयास्तासु भूय-स्काराल्पतरबन्धकाः संख्येयैकभागप्रमाणाः, अवस्थितपदस्य बन्धकाः संख्येयबहुभागमिताः। यासु प्रकृतिबन्धका जीवा अनन्ता असंख्येया वा तासु भूयस्काराल्पतरबन्धका असंख्येयैकभागप्रमाणा भवन्ति, अवस्थि बन्धका असंख्येयबहुभागप्रमाणा भवन्ति। तामेव भाग पणां ग्रन्थकारः प्राह—

पज्जणरमणुस्सीसुं सव्वत्थाहारदुगअवेएसुं ।
मणणाणसंजमेसुं समइअछेअपरिहारेसुं ॥२७४॥
भूओगाराईणं दुपयाणं बंधगा मुणेयव्वा ।
संखेज्जइमो भागो अवट्ठिअस्सऽत्थि संखंसा ॥२७५॥
णत्थि अकसायकेवलदुगेसु सुहमाहखायमीसेसुं ।
जम्हा अवट्ठिओ चिअ हवेज्ज ओघव्व सेसासुं ॥२७६॥

(प्रे०) "पज्जणरे"त्यादि, आद्यगाथाद्वयेन पर्याप्तमनुष्याद्येकादशमार्गणासु संख्येय-जीवयुक्तासु भूयस्कारादिपदत्रयबन्धकानां भागो निरूपितः । पादोनतृतीयगाथयाऽकषायादि-षण्मार्गणासु केवलमवस्थितबन्धस्य भावेन शेषपदाऽभावाच्च भागप्ररूपणाऽस्तीति । शेषासु सप्तपञ्चाशदुत्तरशतमार्गणास्वनन्तजीवास्वसंख्येयजीवासु वा भूयस्काराल्पतरबन्धका असंख्येय-भागप्रमाणाः अवस्थितबन्धका असंख्येयबहुभागमिताः । कासुचिद् बन्धस्थानानां प्रत्यन्तर्मुहूर्तं परावर्तमानत्वात् कासुचिच्च ततोऽपि बृहत्तरकालव्यवधानेन भावादवस्थितबन्धका एवाधिका भवन्ति, अवस्थितबन्धस्य प्रकृष्टकालो भूयस्काराल्पतरबन्धप्रकृष्टकालतोऽसंख्येयगुणो भवति, अतोऽवस्थितबन्धका असंख्येयगुणाः, विशेषभावना तु सुगमा स्वय परिभावनीयेति ॥२७४-२७६॥

॥ श्रीप्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधान उत्तरप्रकृतिबन्धे भूयस्काराधिकारे परस्थाननिरूपणायां षष्ठं भागद्वारं समाप्तम् ॥

(प्रे०) "सेसा " इत्यादि, उक्तशेषाः पणणवतिमार्गणा ध्रुवाः, ध्रुवत्वादेव तत्रानेके जीवाः सर्वदैव भवन्ति, अतस्तत्रावस्थितपदबन्धका अपि ध्रुवा एव। एतासु जीवा असंख्य-लोकाकाशप्रदेशतोऽत्यल्पा भवन्ति भूयस्काराल्पतरबन्धकालस्त्वेकजीवमपेक्ष्य संख्येयसमया एव, अतोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतो न्यूनजीवासु शेषमार्गणासु भूयस्काराल्पतरबन्धौ अध्रुवौ स्तः। शेषमार्गणा नामत इमाः-सर्वे नरकभेदाः, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदचतुष्कम्, अपर्याप्तवर्जमनुष्य-भेदत्रयम्, सर्वे देवभेदाः, नव विकलाक्षमार्गणाः, पञ्चेन्द्रियभेदत्रयम्, बादरपर्याप्तपृथ्व्यप्तेजो-वायुप्रत्येकवनस्पतिकायाः, त्रसकायत्रिकम्, मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क वचनयोगौघ तदु-त्तरभेदचतुष्क-वैक्रिययोग-स्त्रीपुरुषवेदापगतवेद-मतिश्रुतावधिमनःपर्यवज्ञान-विभङ्गज्ञान-संयमौघ-सामायिकसंयम-देशविरति-चक्षुरवधिदर्शन-तेजःपद्मशुक्ललेश्या सम्यक्त्वौघ--क्षायिकसम्यक्त्व-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-संज्ञिमार्गणाः। एतास्वेकस्यावस्थितपदस्य ध्रुवत्वाच्छेषपदद्वयस्याध्रुव-त्वाच्च भङ्गा भवन्ति ॥२७२॥

॥ श्रीप्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधान उत्तरप्रकृतिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे परस्थाननिरूपणायां पञ्चम भङ्गविचयद्वारम् ॥

॥ अथ षष्ठं भागद्वारम् ॥

अथौघतो भूयस्कारादित्रयाणां प्रत्येकं बन्धकानां भागप्ररूपणां निरूपयन्नाह—

उत्तरपयडीणं खलु विणणेया बंधगा असंखंसो।
भूगारप्पयराणं अवट्ठिअस्स य असंखंसा ॥२७३॥

(प्रे०) "उत्तरे"त्यादि, सर्वोत्तरप्रकृतिसत्कभूयस्काराधिकार ओघतो भूयस्काराल्पतर-बन्धका असंख्येयैकभागप्रमाणा भवन्ति, उक्तपदत्रयबन्धकानामानन्त्येऽपि सामान्यतो भूय-स्काराल्पतरबन्धकालः संख्येयसमयाः, अवस्थितबन्धकालस्त्वसंख्येयाः याः, अतो भवन्ति असंख्येयैकभागप्रमाणा भूयस्कारबन्धका अल्पतरबन्धकाश्च, शेषाः प्रकृतिबन्धका असंख्येयबहु-भागप्रमाणा अवस्थितपदबन्धका भवन्ति ॥२७३॥ मार्गणासु यासु जीवाः संख्येयास्तासु भूय-स्काराल्पतरबन्धकाः संख्येयैकभागप्रमाणाः, अवस्थितपदस्य बन्धकाः संख्येयबहुभागमिताः। यासु प्रकृतिबन्धका जीवा अनन्ता असंख्येया वा तासु भूयस्काराल्पतरबन्धका असंख्येयैकभागप्रमाणा भवन्ति, अवस्थित बन्धका असंख्येयबहुभागप्रमाणा भवन्ति। तामेव भागप्ररूपणां ग्रन्थकारः —

चउसुं अणुत्तरेसुं तह खइए बंधगाऽत्थि संखेज्जा ।
भूगारप्पयराणं अवट्ठिअस्स य असंखेज्जा ॥२८१॥

(प्रे०) "चउ "मित्यादि, अनुत्तरमार्गणाचतुष्के मनुष्यायुर्बन्धप्रारम्भतद्विरामाभ्यामेव क्रमशो भूयस्काराल्पतरबन्धौ भवतस्तत्र जीवानामसंख्येयत्वेऽपि मनुष्यायुर्बन्धकानां संख्येयत्वेन तत्प्रारम्भकास्ततो निवर्त्यमानाश्च संख्येया एव भवन्ति; अत एव भूयस्काराल्पतरबन्धकाः संख्येया एव ज्येष्ठपदे, जघन्यपदे चैकद्व्यादयोऽपि भवन्ति, कदाचिच्च भूयस्काराल्पतरबन्धका नैव भवन्तीत्यप्यवधारणीयम् । अवस्थितबन्धकास्तु सर्वदैवाऽसंख्येयाः प्राप्यन्ते, मार्गणानां ध्रुवत्वे सति सर्वदाऽसंख्येयजीवानां लाभात्, अयं भावः—या मार्गणा ध्रुवास्तत्र जीवानां संख्येयत्वेऽवस्थितस्य बन्धकाः संख्येयाः, जीवानामसंख्येयत्वेऽवस्थितबन्धका असंख्येयाः, जीवानामानन्त्येऽवस्थितबन्धका अनन्ताः सर्वदैव प्राप्यन्त इति । यद्यपि क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां प्रकृतिबन्धकजीवा असंख्येया भवन्ति, तथापि प्रस्तुतमार्गणायामायुर्बन्धकजीवानां भवान्तरसंक्रामकजीवानां गुणपरावर्तकानां च संख्येयत्वाद् भूयस्काराल्पतरबन्धका जीवा ज्येष्ठपदेऽपि संख्येया एव; अवस्थितपदबन्धकास्तु सर्वदैवाऽसंख्येया एवेति ॥२८१॥

अथाऽकषायादिषण्मार्गणासु शेषमार्गणासु च प्राह—

अकसायाईसु पणसु अवट्ठिअस्सऽत्थि बंधगा संखा ।
मिस्सम्मि असंखेज्जा तिरहं पि असंखियाऽरणासुं ॥२८२॥

(प्रे०) "अकसायाईसु" इत्यादि, अकषाय-केवलज्ञान-केवलदर्शन-यथाख्यात-सूक्ष्मसम्परायमार्गणासु जीवानां संख्येयत्वादवस्थितभिन्नबन्धस्याभावाच्चावस्थितबन्धस्य निर्वर्तकाः संख्येया भवन्ति । सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायां केवलमवस्थितबन्धस्य भावाज्जीवानां चासंख्येयत्वादवस्थितपदबन्धका असंख्येया भवन्ति ।

उक्तशेषासु चतुर्दशोत्तरशतमार्गणासु जीवा असंख्येया भवन्ति, तथा भूयस्कारादित्रयाणां पदानां सद्भावः, सामान्यत एतासु त्रयाणामपि पदानां बन्धका असंख्येया भवन्ति, यतोऽत्र सामान्यतो बन्धस्थानानां परावर्तमानेन बन्धभावाद् गुणस्थानपरावर्तकजीवानामसंख्येयत्वाद्वा, अत्र शुक्ललेश्यायां भूयस्काराल्पतरबन्धका गुणस्थानपरावृत्त्यैवासंख्येया विज्ञेयाः, स्वस्थाने बन्धस्थानपरावृत्त्या भवपरावृत्त्या वा तादृग्बन्धकाः संख्येया एव । एवं यथासम्भवमानतादिष्वपि भावना कार्या । शेषमार्गणा नामत इमाः—सर्वनरक-सर्वपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यौघाऽपर्याप्तमनुष्या-ऽनुत्तरदेववर्जपञ्चविंशतिदेवभेद—नवविकलाक्ष-पञ्चेन्द्रियत्रिक -सर्वपृथ्व्यप्तेजोवायुप्रत्येकवनस्पतित्रस-

॥ अथ सप्तमं परिमाणद्वारम् ॥

गतं भागद्वारम् । अथ क्रमप्राप्तपरिमाणद्वारस्यावसरः, तत्रौघतो भूयस्कारादित्रयाणां पदानां बन्धकपरिमाणं निरूपयन्नाह—

उत्तरपयडीणं खलु अत्थि अणंता उ बंधगा तिण्हं ।
भूओगाराईणं·································॥

(प्रे०) "उत्तर०" इत्यादि, ओघतः परस्थाने सर्वोत्तरप्रकृतिसत्कभूयस्काराल्पतरावस्थित-पदानां प्रत्येकं बन्धका अनन्ता भवन्ति, निगोदजीवानामपि परावर्तमानत्वेन त्रयाणामपि बन्धान्निगोदजीवानां चानन्त्यात् ।

अथ यास्वोघवत् त्रयाणां पदानां बन्धका अनन्तास्तास्वतिदेशेन प्राह—

··········· ··········· ओघव्व हवेज्ज तिपयाणं ॥२७७॥
तिरिये सव्वेगिंदियणिगोअभेअवणकायजोगेसुं ।
उरलदुगकम्मणेसुं णपुंसगे चउकसायेसुं ॥२७८॥
अणाणदुगे अजए अचक्खुदंसणानिअसुहलेसासुं ।
भवियेयरमिच्छेसुं असण्णिआहारगियरेसुं ॥२७९॥

(प्रे०) "ओघव्वे"त्यादि, तिर्यगोघाद्यष्टात्रिंशद्मार्गणासु निगोदजीवानां प्रवेशाच्चेषां चोक्तभूयस्कारादिपदत्रयबन्धकत्वादेतासु प्रत्येकं भूयस्कारादित्रयाणामपि पदानां बन्धकाः सर्वदैव अनन्ताः प्राप्यन्ते, अत ओघवदतिदेशो विहितः ॥२७७–२७९॥

एतर्हि यासु जीवा एव संख्येयास्तासु भूयस्कारादीनां बन्धकपरिमाणं दर्शयन्नाह—

तिण्हवि संखाऽत्थि दुणरसव्वत्थाहारदुगअवेएसुं ।
मणणाणसंजमेसुं समइअछेअपरिहारेसुं ॥२८०॥

(प्रे०) "तिण्हे" त्यादि, पर्याप्तमनुष्यमानुषीमार्गणाद्वये सर्वार्थसिद्धसुर आहारकतन्मिश्र-योगद्वय अपगतवेदे मनःपर्यवज्ञाने संयमौघे सामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिसंयमेषु समुदितास्वेकादशसु जीवानामेव संख्येयत्वात् त्रयाणां भूयस्कारादीनां बन्धका ज्येष्ठपदेऽपि संख्येया एव भवन्ति ॥२८०॥

अथ यासु जीवानामसंख्येयत्वेऽपि भूयस्काराल्पतरबन्धकाः संख्येयाः, अवस्थितबन्धकाश्चाऽसंख्येयास्तासु मार्गणासु परिमाणं प्राह—

चउसुं अणुत्तरेसुं तह खइगे बंधगाऽत्थि संखेज्जा ।
भूगारप्पयराणं अवट्ठिअस्स य असंखेज्जा ॥२८१॥

(प्रे०) "चउ "मित्यादि, अनुत्तरमार्गणाचतुष्के मनुष्यायुर्बन्धप्रारम्भतद्विरामाभ्यामेव क्रमशो भूयस्काराल्पतरबन्धौ भवतस्तत्र जीवानामसंख्येयत्वेऽपि मनुष्यायुर्बन्धकानां संख्येयत्वेन तत्प्रारम्भकास्ततो निवर्त्यमानाश्च संख्येया एव भवन्ति; अत एव भूयस्काराल्पतरबन्धकाः संख्येया एव ज्येष्ठपदे, जघन्यपदे चैकद्व्यादयोऽपि भवन्ति, कदाचिच्च भूयस्काराल्पतरबन्धका नैव भवन्तीत्यप्यवधारणीयम् । अवस्थितबन्धकास्तु सर्वदैवाऽसंख्येयाः प्राप्यन्ते, मार्गणानां ध्रुवत्वे सति सर्वदाऽसंख्येयजीवानां लाभात्, अयं भावः—या मार्गणा ध्रुवास्तत्र जीवानां संख्येयत्वेऽवस्थितस्य बन्धकाः संख्येयाः, जीवानामसंख्येयत्वेऽवस्थितबन्धका असंख्येयाः, जीवानामानन्त्येऽवस्थितबन्धका अनन्ताः सर्वदैव प्राप्यन्त इति । यद्यपि क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां प्रकृतिबन्धकजीवा असंख्येया भवन्ति, तथापि प्रस्तुतमार्गणायामायुर्बन्धकजीवानां भवान्तरसंक्रामकजीवानां गुणपरावर्तकानां च संख्येयत्वाद् भूयस्काराल्पतरबन्धका जीवा ज्येष्ठपदेऽपि संख्येया एव; अवस्थितपदबन्धकास्तु सर्वदैवाऽसंख्येया एवेति ॥२८१॥

अथाऽकषायादिषण्मार्गणासु शेषमार्गणासु च प्राह—

अकसायाईसु पए अवट्ठिअस्सऽत्थि बंधगा संखा ।
मिस्सम्मि असंखेज्जा तिराहं पि असंखियाऽराणासुं ॥२८२॥

(प्रे०) "अकसायाईसु" इत्यादि, अकषाय-केवलज्ञान-केवलदर्शन-यथाख्यात-सूक्ष्मसम्परायमार्गणासु जीवानां संख्येयत्वादवस्थितभिन्नबन्धस्याभावाच्चावस्थितबन्धस्य निर्वर्तकाः संख्येया भवन्ति । सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायां केवलमवस्थितबन्धस्य भावाज्जीवानां चासंख्येयत्वादवस्थितपदबन्धका असंख्येया भवन्ति ।

उक्तशेषासु चतुर्दशोत्तरशतमार्गणासु जीवा असंख्येया भवन्ति, तथा भूयस्कारादित्रयाणां पदानां सद्भावः, सामान्यत एतासु त्रयाणामपि पदानां बन्धका असंख्येया भवन्ति, यतोऽत्र सामान्यतो बन्धस्थानानां परावर्तमानेन बन्धभावाद् गुणस्थानपरावर्तकजीवानामसंख्येयत्वाद्वा, अत्र शुक्ललेश्यायां भूयस्काराल्पतरबन्धका गुणस्थानपरावृत्त्यैवासंख्येया विज्ञेयाः, स्वस्थाने बन्धस्थानपरावृत्त्या भवपरावृत्त्या वा तादृग्बन्धकाः संख्येया एव । एवं यथासम्भवमानतादिष्वपि भावना कार्या । शेषमार्गणा नामत इमाः—सर्वनरक-सर्वपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यौघाऽपर्याप्तमनुष्या-ऽनुत्तरदेववर्जपञ्चविंशतिदेवभेद--नवविकलाक्ष-पञ्चेन्द्रियत्रिक -सर्वपृथ्व्यप्तेजोवायुप्रत्येकवनस्पतित्रस-

कायभेदसर्वमनोयोग-वचनयोग-वैक्रिय-वैक्रियमिश्र--स्त्रीपुरुषवेद -मतिश्रुतावधिज्ञानविभङ्गज्ञान-देशविरतिचक्षुरवधिदर्शन--तेजःपद्म -शुक्ललेश्या--सम्यक्त्वौघोपशम--क्षयोपशम---सास्वादन--संज्ञिमार्गणाः । गतं परिमाणद्वारम् ॥२८२॥

॥ श्रीप्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिबन्धे भूयस्काराधिकारे परस्थाननिरूपणायां सप्तमं परिमाणद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथाऽष्टमं क्षेत्रद्वारम् ॥

अथ क्रमप्राप्तस्य क्षेत्रद्वारस्यावसरस्तत्रौघतः सर्वोत्तरप्रकृतिसत्कभूयस्कारादित्रयाणां पदानां तदीयनानाबन्धकाश्रितं क्षेत्रं निरूपयन्नाह—

उत्तरपयडीणं खलु सव्वजगे अत्थि बंधगा तिण्हं ।
भूओगाराईणं ओघव्व हवेज्ज तिपयाणं ॥२८३॥
तिरिये एगिंदियपणकायणिगोएसु सव्वसुहमेसुं ।
कायउरलदुगकम्मणणपुमेसुं चउकसायेसुं ॥२८४॥
अणाणदुगे अजए अचक्खुदंसणतिअसुहलेसासुं ।
भवियेयरमिच्छेसुं असण्णिआहारगियरेसुं ॥२८५॥

(प्रे०) "उत्तरे"त्यादि, परस्थानसत्कसर्वोत्तरप्रकृतिविषयकभूयस्काराधिकारे ओघतो भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धकानां क्षेत्रं सर्वलोकप्रमाणं भवति, सूक्ष्माणां सर्वलोकव्यापित्वात् स्वस्थानेनैतावत् क्षेत्रं सूक्ष्मजीवापेक्षया सर्वदा प्राप्यते ।

एवमेव तिर्यगोघाद्यष्टचत्वारिंशन्मार्गणासु सर्वजगत् क्षेत्रं सूक्ष्मजीवापेक्षया स्वस्थानेन भूयस्कारादित्रयाणां पदानां बन्धकैः सर्वदा प्राप्यन्ते । एतासु सर्वासु प्रत्येकं सूक्ष्मजीवानां प्रवेशात् । तिर्यगादिमार्गणा नामत इमाः—तिर्यग्गत्योघैकेन्द्रियौघ-पृथ्व्यप्तेजोवायुवनस्पति-कायसाधारणवनस्पतिकायौघा—ऽष्टादशसूक्ष्मैकेन्द्रियपृथ्व्यप्तेजोवायुनिगोदभेद--काययोगौघौ--दारिकौ-दारिकमिश्र-कार्मण-नपुंसकवेद-कषायचतुष्क-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शन--कृष्णनीलकापोतलेश्या--भव्याऽभव्यमिथ्यात्वाऽसंज्ञ्याहारका-ऽनाहारकमार्गणा अष्टचत्वारिंशद् मार्गणाः ॥२८३–२८५॥

अथ यासु मार्गणासु सूक्ष्मजीवानां प्रवेशाऽभावेऽपि केवलिसमुद्घातापेक्षयाऽवस्थित-बन्धस्य सर्वलोकादिप्रमाणं केवलिक्षेत्रं प्राप्यते, तासु भूयस्कारादित्रयाणां बन्धानां क्षेत्रं प्राह—

तिणरदुपणिंदियतसअवेअविरइसुक्कसम्मखइएसुं ।
भूगारप्पयराणं लोगस्स असंखभागम्मि ॥२८६॥
एआसुं अकसाये केवलजुगले तहा अहक्खाये ।
केवलिआणं खेत्ते अवट्ठिअस्स उ मुणेयव्वा ॥२८७॥

(प्रे०) "तिणरे"त्यादि, मनुष्यौघ--पर्याप्तमनुष्य मानुषीणी--पञ्चेन्द्रियौघ- पर्याप्तपञ्चे-न्द्रिय-त्रसकायौघ--पर्याप्तत्रसकाया -ऽपगतवेद-संयमौघ-शुक्ललेश्या-मम्यक्त्वौघ--क्षायिकसम्य--क्त्वमार्गणासु द्वादशसु भूयस्काराल्पतरबन्धका लोकस्यामंख्येयतमभागे क्षेत्रे प्राप्यन्ते, यत एतासु वर्तमानसर्वजीवानां केवलिसमुद्घातं विहाय सामयिकं क्षेत्रं लोकासंख्येयभागमात्रं भवति भूयस्काराल्पतरबन्धौ तु केवलिनो नैव भवतः, अत एतासु तयोर्बन्धकजीवानां क्षेत्रं लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणं भवति । किञ्च मरणसमुद्घाते उद्योतनाम्नः परावृत्त्या भूय-स्काराल्पतरबन्धयोः सद्भावेऽपि प्रस्तुतक्षेत्र यथोक्तमेव भवति ।

एतासु द्वादशस्वकषाये केवलज्ञानदर्शनमार्गणयोर्यथाख्याते चेति षोडशस्ववस्थितबन्धकानां क्षेत्रं केवलिनो यावत्क्षेत्रं स्यात्तावत्क्षेत्रं भवति, तद्यथा--समुद्घातरहितावस्थागतानां केवलिसमुद्-घातसत्कप्रथमद्वितीयषष्ठसप्तमाऽष्टमसमयगतानां लोकस्यासंख्येयतमभागप्रमाणं क्षेत्रं भवति, तृतीय-पञ्चमसमययोर्देशोनलोकप्रमाणम् , चतुर्थसमये सर्वलोकप्रमाणं क्षेत्रं भवति, एतासु केवलिना-मवस्थितबन्धकतया लाभात् , केवलज्ञानदर्शनवर्जचतुर्दशमार्गणासु केवलिनं विहाय यद्यव-स्थितबन्धस्य क्षेत्रं विचार्यते तदा लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणमेवेति ॥२८६–२८७॥

अथ बादरैकेन्द्रियबादरवायुकायसत्कभेदेषु षट्सु प्राह—

ऊणजगे दुपयाणं तिबायरेगक्खवाउभेएसुं ।
बायरवाउसमत्ते अवट्ठिअस्सावि पणासु सव्वजगे ॥२८८॥ (गीतिः)

(प्रे०) "ऊणजगे"इत्यादि, बादरैकेन्द्रियौघ--पर्याप्तबादरैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रिय-मार्गणास्वेवं बादरवायुकायसत्कमार्गणात्रये समुदितासु षट्सु भूयस्काराल्पतरबन्धकानां क्षेत्रं देशोनलोकप्रमाणं भवति । उक्तमार्गणागतानां स्वस्थानक्षेत्रस्यैतावन्मात्रत्वात् , मरणसमुद्घातेन मार्गणापञ्चके सर्वलोकप्रमाणक्षेत्रस्य लाभेऽपि तत्रोक्तपदयोर्बन्धाभावात् , यद्यपि उद्योतस्य

मरणसमुद्घाते वैकल्पितबन्धस्य भावेन तत्प्रारम्भविरामयोः सम्भवः,–तथापि सूक्ष्मेषू-त्पित्सूनेवाऽधिकृत्य सर्वलोकप्रमाणक्षेत्रस्य लाभेन तत्र सूक्ष्मप्रायोग्यं बध्नतामेव लाभेनो-द्योतनाम्नोरबन्धेन तयोरबन्धात् ।

अवस्थितबन्धकानां क्षेत्र तु बादरपर्याप्तवायुकायान् वर्जयित्वा शेपमार्गणापञ्चके सर्वलोक-प्रमाणं प्राप्यते, यत एतासु मरणसमुद्घातेन सर्वलोकप्रमाणं क्षेत्रं सदैव प्राप्यते । बादरपर्याप्त-वायुकायमार्गणायां तु देशोनलोकप्रमाणमेव मरणसमुद्घातक्षेत्रस्य भावेन प्रस्तुतेऽवस्थित-बन्धकक्षेत्रमपि तथैव प्राप्यते ॥२८८॥

अथ बादरजीवसंबन्धिन्यां यस्यां यस्यां मार्गणायां जीवा स्वस्थानेन लोकाऽसंख्येय-भागगता असंख्येयलोकप्रमिता अनन्ता वा तासु भूयस्कारादिपदत्रयबन्धकानां क्षेत्रं दर्शयन्नाह–

बायरपुहविदगागणिणिगोअपरोअतदमपत्तेसुं ।
बायरपज्जणिगोए दुपयाणं जगअसंखंसे ॥२८९॥
होअन्ति सव्वलोए अवट्ठिअस्सऽत्थि सुहमसीसेसुं ।
से लोगासंखंसे तिरहं पि पयाण सेसासुं ॥२९०॥

(प्रे०) "बायरे"त्यादि, बादरपृथ्वीकायौघ-तदपर्याप्तमार्गणाद्वये, एवमप्कायमार्गणाद्वये तेजस्कायमार्गणाद्वये प्रत्येकवनस्पतिकायमार्गणाद्वये सपर्याप्तापर्याप्तबादरनिगोदमार्गणात्रये चेति समुदितास्वेकादशमार्गणासु भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणं क्षेत्रं भवति । एतासु स्वस्थानक्षेत्रस्य तावन्मात्रत्वान्मरणसमुद्घातक्षेत्रस्य सर्वलोकप्रमाणत्वेऽपि तत्र सूक्ष्मादिषूत्पित्सू-नधिकृत्य बन्धस्थानपरावर्तनाभावात् । एतास्ववस्थितबन्धकानां क्षेत्रं सर्वलोकप्रमाणं भवति, एतासु जीवानामानन्त्यादसंख्यलोकप्रमाणत्वाद्वा स्वस्थानेन लोकाऽसंख्यभागमात्रक्षेत्रत्वेऽपि मरणसमुद्घाततस्तेषां क्षेत्रं सर्वदैव सर्वलोकप्रमाणं भवति, अतोऽवस्थितबन्धकानां क्षेत्रमपि तथैव प्राप्यत इति ।

सूक्ष्मसम्पराये सम्यग्मिथ्यात्वे च भूयस्काराल्पतरबन्धयोरेवाभावात् केवलमवस्थितबन्ध-स्तेषां क्षेत्रं लोकस्यासंख्येयतमं भागं भवति, मार्गणागतजीवानां क्षेत्रस्यैव तावन्मात्रत्वात् ।

उक्तशेषास्वेकनवतिमार्गणासु भूयस्कारादित्रयाणां पदानां बन्धका लोकस्यासंख्येयतम-भागप्रमाणे क्षेत्रे भवन्ति । यतो यत्र समुद्घातगतकेवलिनां बादरपर्याप्तवायुकायिकानां वा प्रवेशाभावे सति असंख्यलोकप्रदेशतोऽतीवन्यूनसंख्याकजीवानां सद्भावस्तत्र सामयिकक्षेत्रं प्रकृष्टतोऽपि स्वस्थानयुक्तं मरणादिसमुद्घातप्रयुक्तं गमनागमनसम्भवत्मार्गणासु गमनागमन-प्रयुक्तं च लोकस्यासंख्येयभागप्रमाणं भवति, अत एवैतासु वर्तमानजीवानां क्षेत्रस्यैव लोकाऽ-

संख्येयभागत्वेन भूयस्काराऽल्पतरावस्थितबन्धकानां क्षेत्रं लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणमेवेति । शेषमार्गणा नामत इमाः-सर्वनरकसर्वपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तमनुष्य-सर्वदेव-नवविकलाक्षा-ऽपर्याप्त-पञ्चेन्द्रिय-बादरपर्याप्तपृथ्व्यप्तेजःप्रत्येकवनस्पतिकाया--ऽपर्याप्तत्रसकाय-मनोयोगौघ-तदुत्तरभेद-चतुष्क वचनयोगौघ--तदुत्तरभेदचतुष्क-वैक्रिय-वैक्रियमिश्रा- ऽऽहारका--ऽऽहारकमिश्र पुरुषवेद--स्त्रीवेद-मति-श्रुता-वधि-मनःपर्यव-विभङ्गज्ञान-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धि-देश-विरति चक्षुरवधिदर्शन तेजःपद्मलेश्योपशम-क्षयोपशम--सास्वादनसम्यक्त्व--संज्ञिमार्गणा एक-नवतिरिति ॥२८९-२९०॥

॥ श्रीप्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधान उत्तरप्रकृतिबन्धे भूयस्काराधिकारे परस्थाननिरूपणायामष्टमं क्षेत्रद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ नवमं स्पर्शनाद्वारम् ॥

गतं क्षेत्रद्वारम् । अथ नवमं स्पर्शनाद्वारम् । अत्र स्पर्शना पुनस्त्रिकालापेक्षया अतीतकाला-पेक्षया वाधिकृता भवतीत्यवसेयम् । ओघतो भूयस्कारादिपदत्रयाणां बन्धकानां तामाह—

उत्तरपयडीणं खलु सव्वजग बंधगेहि परिपुट्ठं ।
भूओगाराईणं तिराहं वि पयाण विराणेयं ॥२९१॥

(प्रे०) "उत्तरे"त्यादि, सर्वोत्तरप्रकृतिविषयकभूयस्काराऽधिकारप्ररूपणायां भूयस्कारादि-त्रयाणां पदानां बन्धकैः सर्वलोकप्रमाणा स्पर्शना कृता भवति, सूक्ष्मजीवानामपि भूयस्कारादि-त्रयाणां पदानां बन्धकत्वेन तेषां क्षेत्रस्याऽपि सर्वलोकप्रमाणत्वात् स्पर्शना तु सुतरां सर्वलोक-प्रमाणा भवत्येवेति ॥२९१॥ अथ नरकादिमार्गणासु प्राह—

णिरयचरमणिरयेसुं तह चउसुं आणयाइदेवेसुं ।
भूओगाराईणं तिराह छ भागा फरिसिआऽत्थि ॥२९२॥

(प्रे०) "णिरये"त्यादि, नरकौघ-सप्तमनरकाऽऽनतादिदेवभेदचतुष्करूपासु षण्मार्गणासु भूयस्कारादित्रयाणां बन्धकैः षड्रज्जवः स्पर्शना कृता भवति, तच्चैवम्—नरकौघसप्तमनरकयोः सप्तमनारकानाश्रित्य मरणसमुद्घाते वर्तमानान् तिर्यक्षूत्पद्यमानानधिकृत्य नाम्नः शेषबन्धस्था-नानां परावृत्त्यभावेऽप्युद्योतनाम्न उत्पत्तिस्थान उदयसम्भवेन तस्य बन्धे परावर्तमानत्वं मरण-समुद्घातावस्थायां भवति, अतस्तदपेक्षया भूयस्काराल्पतरबन्धयोः षड् रज्जुस्पर्शना ज्ञेया । नारकजीवानां स्पर्शनाया एवैतावत्प्रमाणत्वादवस्थितबन्धस्य स्पर्शना तथैव प्राप्यते । आनता-

दिस्वायुर्बन्धेन गुणस्थानपरावृत्त्या वा भूयस्कारात्पतरौ भवतः, उक्तमार्गणाचतुष्कगतदेवानां गमनागमनक्षेत्रस्य षड्रज्जुप्रमाणत्वात् स्पर्शनाऽपि प्रस्तुतपदत्रयबन्धकानां तावद्विज्ञेया, सा च षड्रज्जुप्रमाणेति ॥२१२॥

अथ यासु मार्गणासु जीवानां लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणैव स्पर्शना भवति, तासु भूयस्कारादिपदत्रयबन्धकानां स्पर्शनां प्राह—

आइमणिरये णवसुं गेविज्जेसुं अणुत्तरेसुं च ।
वेउव्वमीसजोगे आहारदुगम्मि मणणाणे ॥२१३॥
सामाइअछेएसुं परिहारे बंधगेहि परिपुट्ठो ।
लोगासंखियभागो भूगाराईण तिण्ह भवे ॥२१४॥

(प्रे०) "आइमे" त्यादि, प्रथमनरक-नवग्रैवेयकदेवभेद-पञ्चानुत्तरसुर-वैक्रियमिश्रयोगाहारक-तन्मिश्र-मनःपर्यवज्ञान--सामायिक--च्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिमार्गणासु द्वाविंशतौ भूयस्कारात्पतरावस्थितपदबन्धकानां लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा एव स्पर्शना प्राप्यते । उक्तमार्गणागतानां स्पर्शनाक्षेत्रस्यैव लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् , एतासु स्वस्थानस्य पारभविकोत्पत्तिस्थानस्य च तिर्यक्प्रतररज्ज्वसंख्येयभागप्रमाणत्वेन तयोरन्तरालक्षेत्रस्यैकादिरज्जुप्रमाणत्वेऽपि लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणैव स्पर्शना घनरज्ज्वपेक्षया प्राप्यते । केवलमाद्यनरके यद्यपि स्वस्थानस्य तिर्यक्प्रतररज्ज्वसंख्येयभागप्रमाणत्वे सति पारभविकोत्पत्तिस्थानं तिर्यक्प्रतररज्जुप्रमाणं भवति तथाऽपि तयोरन्तरालस्य प्रतररज्ज्वसंख्येयभागप्रमाणत्वेन लोकासंख्येयभागप्रमाणैव स्पर्शना भवतीति ॥२१३-२१४॥

अथ द्वितीयादिनरकमार्गणासप्तके भूयस्कारादित्रयाणां बन्धकानां स्पर्शनां प्राह—

बीआइणिरयपणगे विउवे सासायणे कमा छुहिआ ।
इगदुतिचउपणतेरहबारहभागाऽत्थि तिपयाणं ॥२१५॥

(प्रे०) "बीआई" त्यादि, द्वितीयनरके एका रज्जुः, तृतीयनरके द्वे रज्जू , चतुर्थनरके रज्जुत्रयम् , पञ्चमनरके रज्जुचतुष्कम् , षष्ठनरके पञ्च रज्जवः, वैक्रियकाययोगे त्रयोदशरज्जवः सास्वादनमार्गणायां द्वादश रज्जवः भूयस्कारादिपदत्रयाणां बन्धकैः स्पृष्टा भवन्ति । नरकमार्गणापञ्चके सामान्यतस्तत्रस्थानां स्पर्शनाया एव तावन्मात्रत्वेन प्रस्तुते पदत्रयबन्धकानां स्पर्शना तथैव प्राप्यते । अत्र भूयस्कारबन्धकानां या स्पर्शनोक्ता सा समुद्घाते शेषनाम्नो बन्धस्थानानां परावृत्त्यभावेऽप्युद्योतनाम्नः परावृत्त्या यद्वा द्वितीयगुणस्थानतः

प्रथमगुणस्थानप्राप्त्या वा भावनीया, अल्पतरबन्धस्य तूद्योतनाम्नो बन्धनिवृत्त्येति । वैक्रियकाययोगेऽपि प्रस्तुतमार्गणायां जीवानां यावती स्पर्शना सम्भवति तावत्येव भूयस्कारादिबन्धकानामपि, सा चाधोलोकसत्का षड्, ऊर्ध्वलोकसत्का सप्त, रज्जव इति गम्यन्ते। सास्वादने द्वादशरज्जुप्रमाणा स्पर्शना, तत्र पञ्चाधोलोकसत्काः सप्त ऊर्ध्वलोकसत्का रज्जव इति, प्रस्तुतमार्गणागतजीवानां स्पर्शनायास्तावत्प्रमाणत्वात् ॥२६५॥

अथ देवौघादिमार्गणासु भूयस्कारादीनां स्पर्शनां प्राह—

णव फोसिआऽत्थि भागा णिरइ सुरीसाणअंततेऊसु ।
सेससुरतिणाणावहिपउमासु वेअगे अट्ठ ॥२१६॥

(प्रे०) "णवे"त्यादि, देवौघ-भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क सौधर्मे-शानदेव तेजोलेश्यामार्गणासु सप्तसु भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धकानां स्पर्शना नव रज्जुप्रमाणा भवति, मार्गणागतानां प्रकृष्टस्पर्शनायास्तावन्मात्रत्वादत्राधोलोकसत्करज्जुद्वयम्, ऊर्ध्वलोकसत्करज्जुसप्तकमिति। सनत्कुमारादिसहस्रारान्तषट्सुरभेदमतिश्रुतावधिज्ञानावधिदर्शनपद्मलेश्याक्षयोपशमसम्यक्त्वेषु द्वादशसु भूयस्कारादिपदत्रयबन्धकानां स्पर्शनाऽष्टरज्जुप्रमाणा भवति, मार्गणागतजीवानां स्पर्शनायास्तावन्मात्रत्वात्, अत्राधोलोकसत्कं रज्जुद्वयम्, ऊर्ध्वलोकसत्कं रज्जुषट्कमिति । अत्र ज्ञानत्रिकेऽवधिदर्शने क्षयोपशमसम्यक्त्वे च भूयस्काराल्पतरबन्धकयोरष्टरज्जुस्पर्शना देवानां गमनागमन आयुर्बन्धापेक्षयैव भावनीयेति । समुद्घातापेक्षया मार्गणापञ्चकस्य भावेऽपि तत्र बन्धस्थानपरावृत्तिर्न भवतीत्यवधेयम् ॥२६६॥

अथाऽपगतवेदसंयमौघमार्गणयोर्भूयस्कारादिबन्धकानां स्पर्शनां प्राह—

गयवेअसंजमेसु असंखभागो जगस्स परिपुट्ठो ।
भूगारऽप्पयराणं अवट्ठिअस्स उ अखिललोगो ॥२१७॥

(प्रे०) "गयवेअ" इत्यादि, अपगतवेदे संयमौघे च भूयस्काराल्पतरबन्धयोः स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा भवति, उक्तमार्गणाद्वये केवलिनो विहाय शेषमार्गणागतजीवानां स्पर्शनाया लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् प्रस्तुते तयोर्लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा स्पर्शना भवति । उक्तपदद्वयस्य केवलिनोऽभावात् । अवस्थितपदस्य बन्धकाना सर्वलोकप्रमाणा स्पर्शना भवति, केवलिसमुद्घातगताना स्पर्शनायास्तावन्मात्रत्वात्प्रस्तुतमार्गणाद्वये सर्वेषां सयोगिकेवलिनामन्तर्भावाच्च ॥२६७॥

अथाऽकषायादिमार्गणासु प्राह—

दिस्वायुर्बन्धेन गुणस्थानपरावृत्त्या वा भूयस्काराल्पतरौ भवतः, उक्तमार्गणाचतुष्कगतदेवानां गमनागमनक्षेत्रस्य षड्रज्जुप्रमाणत्वात् स्पर्शनाऽपि प्रस्तुतपदत्रयबन्धकानां तावद्विज्ञेया, सा च षड्रज्जुप्रमाणेति ॥२१२॥

अथ यासु मार्गणासु जीवानां लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणैव स्पर्शना भवति, तासु भूयस्कारादिपदत्रयबन्धकानां स्पर्शनां प्राह—

आइमणिरये णवसु गेविज्जेसु अणुत्तरेसु च ।
वेउव्वमीसजोगे आहारदुगम्मि मणणाणे ॥२१३॥
सामाइअछेएसु परिहारे बंधगेहि परिपुट्ठो ।
लोगासंखियभागो भूगाराईण तिण्ह भवे ॥२१४॥

(प्रे०) "आइमे" त्यादि, प्रथमनरक-नवग्रैवेयकदेवभेद-पञ्चानुत्तरसुर-वैक्रियमिश्रयोगाहारक-तन्मिश्र-मनःपर्यवज्ञान--सामायिक--च्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिमार्गणासु द्वाविंशतौ भूयस्काराल्पतरावस्थितपदबन्धकानां लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा एव स्पर्शना प्राप्यते । उक्तमार्गणागतानां स्पर्शनाक्षेत्रस्यैव लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात्, एतासु स्वस्थानस्य पारभविकोत्पत्तिस्थानस्य च तिर्यक्प्रतररज्ज्वसंख्येयभागप्रमाणत्वेन तयोरन्तरालक्षेत्रस्यैकादिरज्जुप्रमाणत्वेऽपि लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणैव स्पर्शना घनरज्ज्वपेक्षया प्राप्यते । केवलमाद्यनरके यद्यपि स्वस्थानस्य तिर्यक्प्रतररज्ज्वसंख्येयभागप्रमाणत्वे सति पारभविकोत्पत्तिस्थानं तिर्यक्प्रतररज्जुप्रमाणं भवति तथाऽपि तयोरन्तरालस्य प्रतररज्ज्वसंख्येयभागप्रमाणत्वेन लोकासंख्येयभागप्रमाणैव स्पर्शना भवतीति ॥२१३-२१४॥

अथ द्वितीयादिनरकमार्गणासप्तके भूयस्कारादित्रयाणां बन्धकानां स्पर्शनां प्राह—

बीआइणिरयपणगे विउवे सासायणे कमा छुहिआ ।
इगदुतिचउपणतेरहबारहभागाऽत्थि तिपयाणं ॥२१५॥

(प्रे०) "बीआई"त्यादि, द्वितीयनरक एका रज्जुः, तृतीयनरके द्वे रज्जू, चतुर्थनरके रज्जुत्रयम्, पञ्चमनरके रज्जुचतुष्कम्, षष्ठनरके पञ्च रज्जवः, वैक्रियकाययोगे त्रयोदशरज्जवः सास्वादनमार्गणायां द्वादश रज्जवः भूयस्कारादिपदत्रयाणां बन्धकैः स्पृष्टा भवन्ति । नरकमार्गणापञ्चके सामान्यतस्तत्रस्थाना स्पर्शनाया एव तावन्मात्रत्वेन प्रस्तुते पदत्रयबन्धकानां स्पर्शना तथैव प्राप्यते । अत्र भूयस्कारबन्धकानां या स्पर्शनोक्ता सा समुद्घाते शेषनाम्नो बन्धस्थानानां परावृत्त्यभावेऽप्युद्योतनाम्नः परावृत्त्या यद्वा द्वितीयगुणस्थानतः

प्रथमगुणस्थानप्राप्त्या वा भावनीया, अल्पतरबन्धस्य तूद्योतनाम्नो बन्धनिवृत्त्येति । वैक्रियकाययोगेऽपि प्रस्तुतमार्गणायां जीवानां यावती स्पर्शना सम्भवति तावत्येव भूयस्कारादिबन्धकानामपि, सा चाधोलोकसत्का षड्, ऊर्ध्वलोकसत्का सप्त, रज्जव इति गम्यन्ते । सास्वादने द्वादशरज्जुप्रमाणा स्पर्शना, तत्र पञ्चाधोलोकसत्काः सप्त ऊर्ध्वलोकसत्का रज्जव इति, प्रस्तुतमार्गणागतजीवानां स्पर्शनायास्तावत्प्रमाणत्वात् ॥२६५॥

अथ देवौघादिमार्गणासु भूयस्कारादीनां स्पर्शनां प्राह—

णव फोसिआऽत्थि भागा तिराह सुरीसाणाअंततेऊसु ।
सेससुरतिणाणावहिपउमासु वेअगे अट्ठ ॥२६६॥

(प्रे०) "णवे"त्यादि, देवौघ-भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क सौधर्मे-शानदेव तेजोलेश्यामार्गणासु सप्तसु भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धकानां स्पर्शना नव रज्जुप्रमाणा भवति, मार्गणागतानां प्रकृष्टस्पर्शनायास्तावन्मात्रत्वादत्राधोलोकसत्करज्जुद्वयम्, ऊर्ध्वलोकसत्करज्जुसप्तकमिति । सनत्कुमारादिसहस्रारान्तषट्सुरभेदमतिश्रुतावधिज्ञानावधिदर्शनपद्मलेश्याक्षयोपशमसम्यक्त्वेषु द्वादशसु भूयस्कारादिपदत्रयबन्धकानां स्पर्शनाऽष्टरज्जुप्रमाणा भवति, मार्गणागतजीवानां स्पर्शनायास्तावन्मात्रत्वात्, अत्राधोलोकसत्कं रज्जुद्वयम्, ऊर्ध्वलोकसत्कं रज्जुषट्कमिति । अत्र ज्ञानत्रिकेऽवधिदर्शने क्षयोपशमसम्यक्त्वे च भूयस्काराल्पतरबन्धकयोरष्टरज्जुस्पर्शना देवानां गमनागमन आयुर्बन्धापेक्षयैव भावनीयेति । समुद्घातापेक्षया मार्गणापञ्चकस्य भावेऽपि तत्र बन्धस्थानपरावृत्तिर्न भवतीत्यवधेयम् ॥२६६॥

अथाऽपगतवेदसंयमौघमार्गणयोर्भूयस्कारादिबन्धकानां स्पर्शनां प्राह—

गयवेअसंजमेसुं असंखभागो जगस्स परिपुट्ठो ।
भूगारऽप्पयराणं अवट्ठिअस्स उ अखिललोगो ॥२६७॥

(प्रे०) "गयवेअ" इत्यादि, अपगतवेदे संयमौघे च भूयस्काराल्पतरबन्धयोः स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा भवति, उक्तमार्गणाद्वये केवलिनो विहाय शेषमार्गणागतजीवानां स्पर्शनाया लोकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् प्रस्तुते तयोर्लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा स्पर्शना भवति । उक्तपदद्वयस्य केवलिनोऽभावात् । अवस्थितपदस्य बन्धकानां सर्वलोकप्रमाणा स्पर्शना भवति, केवलिसमुद्घातगतानां स्पर्शनायास्तावन्मात्रत्वात्प्रस्तुतमार्गणाद्वये सर्वेषां सयोगिकेवलिनामन्तर्भावाच्च ॥२६७॥

अथाऽकषायादिमार्गणासु प्राह—

काययोगौ-दारिकौ-दारिकमिश्र-कार्मणकाययोग-वेदत्रिक-कषायचतुष्का ऽज्ञानत्रिकाऽसंयम-चक्षुरचक्षुर्दर्शन-कृष्णनीलकापोतलेश्या-भव्याऽभव्य-मिथ्यात्व-संज्ञ्यसंज्ञ्याहारकनाहारकामार्गणा इति सप्तोत्तरशतम् ।

स्पर्शना पुनरेवम्--तिर्यगोघै केन्द्रियौघ-सूक्ष्मैकेन्द्रियत्रिक-पृथ्व्यादिपञ्चकायौघ-निगोदौघ-सूक्ष्मपृथिव्यादिपञ्चकायमत्कपञ्चदशमार्गणा काययोगौघौ-दारिका-दारिकमिश्र-कार्मण-नपुंसकवेदकषायचतुष्क मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना ऽसयमा-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽशुभलेश्यात्रिक-भव्याऽभव्य-मिथ्यात्वाऽसंज्ञ्याहारकानाहारकलक्षणास्वष्टचत्वारिंशद्मार्गणासु सूक्ष्माणां प्रवेशात् त्रयाणा पदानां बन्धकाः सर्वलोके सर्वदा भवन्ति । पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणाचतुष्काऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-नवविकलाक्षाऽपर्याप्तत्रसकायेषु पञ्चदशसु भूयस्काराल्पतरबन्धकानां स्पर्शना सप्तरज्जुप्रमाणा तिर्यग्लोकत ऊर्ध्वलोकमपेक्ष्य भावनीया । एतास्वेवावस्थितबन्धकानां स्पर्शना सर्वलोको भवति, मरणसमुद्‌घातेन सूक्ष्मेषूत्पित्सूनपेक्ष्य सर्वलोकस्पर्शना भावनीया । मनुष्यमार्गणाचतुष्के बादरतेजस्कायत्रिके च भूयस्काराल्पतरबन्धकानां स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा भवति, अवस्थितबन्धकानां स्पर्शना तु सर्वलोकप्रमाणेति ।

बादरैकेन्द्रियभेदत्रये बादरवायुकायभेदत्रये च भूयस्काराल्पतरबन्धकानां स्पर्शना देशोनलोकप्रमाणा भवति, अवस्थितबन्धकानां तु स्पर्शना सर्वलोकप्रमाणेति । बादरपृथिव्यप्प्रत्येकवनस्पतिकायेषु त्रिषु त्रिषु, त्रिषु च बादरसाधारणवनस्पतिकायेषु द्वादशमार्गणासु भूयस्काराल्पतरबन्धकाना स्पर्शना सप्तरज्जुप्रमाणा भवति । अवस्थितपदबन्धकानां स्पर्शना सर्वलोकप्रमाणा भवति ।

द्विपञ्चेन्द्रिय-द्वित्रसकाय मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क -वचनयोगौघ--तदुत्तरभेदचतुष्क-विभङ्गज्ञान-चक्षुर्दर्शन-संज्ञिमार्गणासु सप्तदशसु भूयस्काराल्पतरबन्धकानां स्पर्शना त्रयोदशरज्जुप्रमाणा भवति । अवस्थितपदबन्धकानां तु स्पर्शना सर्वलोक इति ।

स्त्रीपुरुषवेदद्वये भूयस्काराल्पतरबन्धकानां स्पर्शना नवरज्जुप्रमाणा भवति । अवस्थितपदबन्धकानां सर्वलोकप्रमाणा स्पर्शना विज्ञेयेति ।

एतासु सर्वास्ववस्थितबन्धकानां तत्तन्मार्गणाभ्यः सूक्ष्मेषूत्पादभावेन समुद्‌घातेनानन्तकालेनानन्तजीवानां लाभेन सूक्ष्माणां सर्वलोकव्यापित्वेन च सर्वलोकप्रमाणस्पर्शना लभ्यते ।

एतासु सप्तोत्तरशतमार्गणासु भूयस्काराल्पतरबन्धकानां स्पर्शना तु यत्र यत्र मरणसमुद्‌घातेनोद्योतोदयप्रायोग्योत्पत्तिस्थानेषूत्पत्तिसम्भवस्तत्र समुद्‌घातावस्थायामुद्योतनाम्नो बन्धारम्भविरामयोर्भावेन भूयस्काराल्पतरबन्धौ सम्भवतः, अत एतावुद्योतनामबन्धकानां यावती स्पर्शना भवति तावत्येव नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धकानां स्पर्शना भवति । यद्यपि परस्थानप्ररूपणायां

समुद्घातावस्थायां सास्वादनतो मिथ्यात्वगमनेन भूयस्कारबन्धकाः स्वस्थाननिरूपणागतप्रस्तुत-बन्धकतोऽतिरिक्ता भवन्ति, तथापि तेषां स्पर्शनायास्तदन्तर्गतत्वेनाधिका न लभ्यत इति नाम्नो भूयस्काराल्पतरबन्धाऽपेक्षया यावती स्पर्शना प्राप्यते तावत्येव प्रस्तुतेऽतिदेशेन दर्शिता। विशेषभावना तु नाम्नः स्वस्थानापेक्षयैवावसातव्येहापीति ॥२०३॥

॥ श्रीप्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधान उत्तरप्रकृतिबन्धे भूयस्काराधिकारे परस्थाननिरूपणाया नवमं स्पर्शनाद्वार समाप्तम् ॥

॥ दशमं कालद्वारम् ॥

अथ दशमद्वारे नानाजीवाश्रितं भूयस्कारादित्रिपदबन्धकानां कालद्वारनिरूपयन्नाह—

उत्तरपयडीणं खलु तिपयाणं बंधगाण सव्वद्धा ।
जहि जे पया धुवा तहि पयाण सि बंधगाण सव्वद्धा ॥२०४॥(गीतिः)
अणाह लहू खणो परमवट्ठिअस्स य लहू भवे मीसे ।
भिन्नमुहुत्तं जेट्ठो तस्साहारदुगसुहमेसुं ॥२०५॥
होइ अपज्जणरविउवमीसुवसममीस-सासणेसु गुरू ।
पल्लासंखंसो परिहारे छेए दुहावि णामव्व ॥२०६॥ (गीतिः)
भूगाराप्पयराणं जहि संखा तत्थ संखसमयाऽत्थि ।
जेट्ठो जत्थ असंखा तहि आवलिआअसंखंसो ॥२०७॥

(प्रे०) "उत्तरे" त्यादि, उत्तरप्रकृतिबन्धस्थानसत्कपरस्थानभूयस्काराऽधिकार ओघतो भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धकाः सर्वदा प्राप्यन्ते, न तद्बन्धकानां कदाचिदपि विरहो भवति, सदैवानन्तानां तद्बन्धकानां लाभात् ।

मार्गणासु पुनरेवम्—यासु मार्गणासु भूयस्काराल्पतरबन्धकजीवा असंख्येयलोकप्रमाणा अनन्ता वा, तासु भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्ध्रुवपदं भवति, अतस्तासु भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धकाः सर्वदैव प्राप्यन्ते ।

ता मार्गणा नामत इमाः—तिर्यग्गत्योघ-सर्वैकेन्द्रिय-सूक्ष्मपृथ्वीकायाप्कायतेजस्कायवायुकायवनस्पतिकायसत्कपञ्चदशभेद—पृथ्व्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायसाधारणवनस्पतिकायौघ-बादर-

पृथिव्यप्तेजोवायुसाधारणवनस्पतिकायौघ-बादराऽपर्याप्तपृथिव्यप्तेजोवायुसाधारणवनस्पतिकाय-पर्याप्तबादरसाधारणवनस्पतिकाय प्रत्येकवनस्पतिकायौघा-ऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाय-काययोगौघौ दारिकौ दारिकमिश्र कार्मण-नपुंसकवेद-कषायचतुष्क मत्यज्ञान श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा ऽचक्षुदर्शन-कृष्णनीलकापोतलेश्या-भव्याऽभव्य-मिथ्यात्व-संज्ञ्यसंज्ञ्याहारकानाहारकमार्गणाश्चतुःषष्टिः।

अकषायकेवलद्विकयथाख्यातेषु सूक्ष्मसम्परायसम्यग्मिथ्यात्वयोश्च भूयस्काराल्पतरबन्धाभावाच्छेषासु चतुरुत्तरशतमार्गणासु भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्बन्धकानामानन्त्याभावादसंख्येयलोकप्रमाणत्वाभावाच्च तद्बन्धयोः सान्तरत्वम् , सान्तरबन्धत्वादेव तयोर्बन्धयोर्जघन्यकालः समयः। उत्कृष्टकालस्तु यासु षोडशमार्गणासु संख्येयजीवा भूयस्काराल्पतरबन्धकास्तासु तयोर्निरन्तरबन्धकालः प्रकृष्टतः संख्येयाः समयाः भवति । ता मार्गणा नामत इमाः-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीपञ्चानुत्तराहारकद्विकापगतवेद--मनःपर्यवज्ञान--संयमौघ--सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय--परिहारविशुद्धि-क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणाः ।

शेषाष्टाशीतिमार्गणासु तयोर्ज्येष्ठकाल आवलिकाया असंख्येयभागः प्राप्यते । एतास्वेतत्पदद्वयबन्धप्रायोग्यजीवानामसंख्येयलोकतो न्यूनासंख्येयत्वादेकजीवमाश्रित्य तद्बन्धसत्कप्रकृष्टकालस्य संख्येयसमयप्रमाणत्वात् । शेषमार्गणा अष्टाशीतिर्नामत इमाः--सर्वनरक-सर्वपञ्चेन्द्रियतिर्यग्-मनुष्यौघाऽपर्याप्तमनुष्या-ऽनुत्तरपञ्चकवर्जपञ्चविंशतिदेवभेद-नवविकलाक्षत्रिपञ्चेन्द्रिय-बादरपर्याप्तपृथ्व्यप्तेजोवायुप्रत्येकवनस्पतिकाय-त्रित्रसकाय मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वैक्रिय-वैक्रियमिश्र-स्त्रीपुरुषवेद-मतिश्रुतावधिज्ञानविभङ्गज्ञान-देशविरति चक्षुरवधिदर्शन--तेजःपद्मशुक्ललेश्या- सम्यक्त्वौघ--क्षयोपशमो-पशमसम्यक्त्वसास्वादन-संज्ञिमार्गणा अष्टाशीतिः।

अवस्थितबन्धकानां कालः पुनरेवम्--या मार्गणा नानाजीवापेक्षया अध्रुवास्ताभ्यश्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिमार्गणाद्वयं विहाय शेषास्ववस्थितबन्धस्य जघन्यकालः समयः, मार्गणास्वेकादिजीवसद्भावे सति नानाबन्धस्थानसद्भावेन समयान्तरे बन्धस्थानपरावर्तनाद् यद्वा समयान्तरे मरणादिना मार्गणापरावर्तनात् । छेदोपस्थापनीये परिहारे च जघन्यकालः स्वयं ज्ञातव्यः, तथा सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायामवस्थितबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम् , यतोऽत्र भूयस्काराल्पतरबन्धयोरभावात् मार्गणा जघन्यकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वाच्च । ता अध्रुवमार्गणा नामत इमाः--अपर्याप्तमनुष्य-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारका ऽऽहारकमिश्र--सूक्ष्मसम्पराय-च्छेदोपस्थापनीय--परिहारविशुद्ध्यु पशमसम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सास्वादनमार्गणाः। एतास्ववस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालस्तु मार्गणाज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणो विज्ञेयः, मार्गणाज्येष्ठकायस्थितिकालस्त्वेवम्--अपर्याप्तमनुष्य-वैक्रियमिश्रोपशमसम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सास्वादनमार्गणासु पञ्चसु पल्योपम-

स्यासंख्येयभागः, आहारकद्विके सूक्ष्मसम्पराये चाऽन्तर्मुहूर्तम्, परिहारविशुद्धौ देशोनपूर्वकोटिद्वयम्, छेदोपस्थापनीये पञ्चाशल्लक्षकोटिसागरोपमाणि ।

उक्तशेषाश्चतुःषष्ट्युत्तरशतमार्गणा ध्रुवास्तास्वनेकजीवानां सदैव भावेनावस्थितबन्धका सदैव प्राप्यन्त इति ॥३०४ ३०७॥

॥ श्री प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिबन्धे भूयस्काराधिकारे परस्थाननिरूपणाया दशमं कालद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथैकादशमन्तरद्वारम् ॥

गतं कालद्वारम् । अथान्तरद्वारे नानाजीवानधिकृत्य भूयस्कारादिबन्धकानामन्तरं प्राह–

उत्तरपयडीणं खलु ण अंतरं बंधगाण तिपयाणं ।
सि बंधगाण णंतरमत्थि पयाण तहि जे जहि धुवुत्ता ॥३०८॥ (गीतिः)
समयो जहण्णमण्णहि अपज्जणरसासणेसु तिपयाणं ।
पल्लासंखंसो गुरुमवट्ठिअस्सऽत्थि उण मीसे ॥ ३०९ ॥
तेरासणयाइगेसुं सत्तदिणाऽत्थि दुपयाण आउव्व ।
पणाऽणुत्तरदेसेसुं बार मुहुत्ता विउव्वमीसे ॥ ३१० ॥
तिपयाणाहारदुगे वासपुहुत्तं हवेज्ज तिपयाणं ।
अट्ठारकोडिकोडी अयरा छेअपरिहारेसुं ॥३११॥
भूगारस्स अवेए वासपुहुत्तं हवेज्ज छम्मासा ।
अप्पयरस्स छमासा अवट्ठिअस्स सुहुमे णेयं ॥३१२॥
सत्त दिवसा उवसमे अवट्ठिअस्सऽत्थि चउदस दिणा उ ।
भूगारप्पयराणं हवेज्ज अण्णहि मुहुत्तंतो ॥३१३॥

(प्रे०) "उत्तरे"त्यादि, ओघतो भूयस्कारान्पतरावस्थितबन्धकानां सदैव लाभात्तेषामन्तरं नास्ति, एवं मार्गणास्वपि यासु चतुःषष्टिमार्गणासु भङ्गविचयद्वारे भूयस्कारान्पतरयोर्बन्धकानां ध्रुवत्वं भणितम्, अतस्तासु तयोर्बन्धकानामन्तरं नास्ति । शेषमार्गणाभ्यः सूक्ष्मसम्पराय-सम्यग्मिथ्यात्वा-ऽकषाय-केवलद्विक-यथाख्यातमार्गणा विहाय शेषासु चतुरुत्तरशत-

मार्गणासु तयोर्बन्धकानां जघन्यान्तरं समयः। उत्कृष्टान्तरं ध्रुवमार्गणास्वेवम्—आनतादि-त्रयोदशमार्गणासु भूयस्काराल्पतरबन्धौ आयुष्कबन्धतद्विरामाभ्यां सम्यक्त्वगुणप्राप्तितत्प्रतिपाताभ्यां वा भवतः, तत्रायुर्बन्धान्तरस्यातीवबृहत्तमत्वात्, त विहाय सम्यक्त्वगुणप्राप्तेस्तत्प्रतिपातस्य चान्तरस्य सप्ताहोरात्रप्रमाणत्वेन तत्प्रयुक्तयोर्भूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तरं त्रयोदशमार्गणासु सप्ताऽहोरात्राणि भवन्ति। पश्चानुत्तरदेवेपु देशविरतिमार्गणायां चायुर्बन्धकापेक्षया भूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तरं प्रधानतः प्राप्यते तच्चोक्तमार्गणाषट्के आयुर्बन्धकानां यावदन्तरं प्राप्यते तावदत्र भूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तरं विज्ञेयम्। अपगतवेदमार्गणायां भूयस्कारबन्धद्वयस्योत्कृष्टान्तरं वर्षपृथक्त्वम्; उपशमश्रेणितोऽवरोहत एव तद्भावेनोपशमश्रेण्यन्तरस्य प्रकृष्टतो वर्षपृथक्त्वप्रमाणत्वात्, तथा अल्पतरबन्धद्वयस्यान्तरं षण्मासाः क्षपकश्रेणावपि तद्भावेन क्षपकश्रेण्यन्तरस्य तावत्प्रमाणत्वात्प्रस्तुतान्तरस्य तथात्वात्। शेषासु षट्सप्ततिध्रुवमार्गणासु भूयस्काराल्पतरबन्धकानां नानाजीवानाश्रित्यान्तरमन्तर्मुहूर्तम्, मार्गणासु असङ्ख्येयलोकतो न्यूनजीवानां सद्भावे सति बहुभागजीवानां प्रत्यन्तर्मुहूर्तं बन्धस्थानानां परावर्तनात्तयोरवश्यप्रवर्तनमिति। मतिज्ञानादिषु कासुचिन्मार्गणासु भूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तरमन्तर्मुहूर्तप्रमाणम्, आहारकद्विकबन्धकान् संयतानपेक्ष्य प्रमत्ताप्रमत्तगुणयोः परावर्तनाद् विज्ञेयमिति।

ताः शेषमार्गणा नामत इमाः—सर्वनरक--पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदचतुष्क--मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य---मानुषी -देवौघ-भवनपति---व्यन्तर ज्योतिष्क--सौधर्मादिसहस्रारान्तदेव---नव--विकलाद्य त्रिपञ्चेन्द्रिय---बादरपर्याप्तपृथ्वीकायाप्कायतेजस्कायवायुकायप्रत्येकवनस्पतिकाय---त्रित्रसकाय-मनोयोगौघ तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वैक्रिययोग स्त्रीपुरुषवेद-मतिश्रुतावधिमनःपर्यव-विभङ्गज्ञान-संयमौघ-सामायिक चक्षुरवधिदर्शन तेजःपद्मशुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक क्षयोपशम-संज्ञिमार्गणाः।

तिर्यगोघादिचतुःषष्टिमार्गणास्वानतदेवादिविंशतिमार्गणासु नरकौघादिषट्सप्ततिमार्गणास्वकषायकेवलद्विकयथाख्यातसंयमेषु च समुदितासु चतुःषष्ट्युत्तरशतमार्गणास्ववस्थितबन्धस्यान्तरं नास्ति, मार्गणाया ध्रुवत्वेनावस्थितबन्धकानां सदैव लाभात्।

अथ सान्तरासु दशमार्गणासु भूयस्कारादित्रयाणां पदानामन्तरं प्रदर्शयामः, तद्यथा--छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धयोर्जघन्यान्तरमवस्थितबन्धस्य स्वयं ज्ञातव्यम्, भूयस्काराल्पतरबन्धयोस्तु समयः। शेषाष्टमार्गणासु त्रयाणामपि पदानां बन्धस्य जघन्यान्तरं समयः। अपर्याप्तमनुष्य-सास्वादनमार्गणयोर्भूयस्कारादित्रयाणां पदानाम्, सम्यग्मिथ्यात्वे भूयस्काराल्पतरबन्धयोरभावात् केवलमवस्थितपदस्य च बन्धकानां ज्येष्टान्तरं पल्योपमस्यासंख्येयभागो भवति, नानाजीवापेक्षया मार्गणान्तरस्य तावत्प्रमाणत्वात्। वैक्रियमिश्रे पदत्रयबन्धकानामन्तरं द्वादशमुहूर्तानि,

आहारक-तन्मिश्रयोः पदत्रयबन्धकानां ज्येष्ठान्तरं वर्षपृथक्त्वम् , छेदोपस्थापनीयपरिहारयोः पद-त्रयबन्धकानां ज्येष्ठान्तरमष्टादशकोटिकोटिसागरोपमाणि सातिरेकाणि । सूक्ष्मसम्पराये केवलमव-स्थितबन्धस्यैव भावात् तस्योत्कृष्टान्तरं षण्मासाः, एतासु वैक्रियमिश्रादिषु नानाजीवापेक्षया मार्गणान्तरस्यैतावत्प्रमाणत्वात् । उपशमसम्यक्त्वेऽवस्थितबन्धान्तरं सप्ताहोरात्राणि, भूयस्कारा-ल्पतरबन्धयोरन्तरं चतुर्दशाऽहोरात्राणि, मार्गणायां देशविरतिप्राप्त्यन्तरस्य तत्प्रतिपातान्तरस्य च तावत्प्रमाणत्वादिति ॥३०८-३१३॥

॥ श्रीप्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधान उत्तरप्रकृतिबन्धे भूयस्काराधिकारे परस्थाननिरूपणायामेकादशमन्तरद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ द्वादशं भावद्वारम् ॥

अथ भावद्वारस्यावसरस्तदोघतो मार्गणासु चैकगाथया निरूपयन्नाह—

उत्तरपयडीणं खलु भूगाराईण तिण्ह वि पयाणं ।
भावेणोदइएणं बंधोऽत्थि तहेव सव्वासुं ॥ ३१४ ॥

(प्रे०) "उत्तरे"त्यादि, उत्तरप्रकृतिसत्कपरस्थानभूयस्काराधिकारे भूयस्कारादित्रयाणां पदानां बन्धकारणमौदयिकभावो भवति, कर्मणां बन्धहेतवो मिथ्यात्वादयो औदयिकभावरूपा भवन्तिः अतस्तदवान्तरभेदा अपि तद्धेतुका एव।

ननु भूयस्कारबन्धस्यावस्थितबन्धस्य चाध्यवसायानां वर्धनात् तावदेव प्रवर्तनाद्वौदयिक-भावो भवतु, किन्तु या प्रकृतिः बन्धतो निवर्तते तदध्यवसायानां निवृत्तत्वात् तदध्यवसाया-पेक्षयौपशमिकः क्षायिको वा भावो वाच्यः, यद्वा शेषप्रकृतिसत्काध्यवसायस्य तत्र सद्भावात् , संपूर्णस्य विध्यापनस्योपशमस्य वाऽभावाद् देशस्य विध्यापनात् क्षायोपशमिकभावोऽल्पतरबन्ध-स्य वक्तुमुचितः, कथं तथानुक्त्वौदयिकभावस्य कथनमिति चेदुच्यते, नहि तत्तत्प्रकृतीनां बन्ध-निवृत्तिमात्रादेवाल्पतरबन्धो भवति, किन्तु पूर्वसमये बध्यमानप्रकृतिभ्यो निवृत्तेतरप्रकृतीनां बन्ध-स्यैव प्राधान्यादल्पतरबन्धोऽभिधीयते, अतो बध्यमानप्रकृतीनां बन्धस्य प्राधान्यादौदयिकभावो भवति । या प्रकृतिर्बन्धतो निवृत्ता, तस्य निवृत्तिरौदयिकभावेनाऽपि भवति, यथा सूक्ष्मनामबन्ध-प्रवृत्तौ आतपोद्योतयोर्निवृत्तिः । यद्यपि कर्मणामुपशमादितो मिथ्यात्वादीनां या बन्धतो निवृत्ति-र्भवति, तथाऽपि सत्तायामपि कर्मणामुपशमः क्षयो वौपशमिकक्षायिकभावयोः कारणम् , उदये

कषायादीनां न्यूनत्वादिकं क्षायोपशमिकस्य, एव बन्धे प्रकृतीनामल्पत्वेऽन्यभावानुविद्धोऽप्यौद-यिकभावो हेतुतया प्रत्येतव्यः, बन्धे प्राधान्येन औदयिकभावस्यैव बन्धहेतुतया ग्रन्थान्तरेषु अङ्गी-कारस्य दर्शनात् । एवमोघत आदेशतश्च भूयस्कारादित्रिविधबन्धकानां बन्धहेतुभूत औदयिक-भावो भवतीति अलं विस्तरेण । गतं भावद्वारम् ॥३१४॥

॥ श्रीप्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधान उत्तरप्रकृतिबन्धे भूयस्काराधिकारे परस्थाननिरूपणाया द्वादश भावद्वार समाप्तम् ॥

॥ अथ त्रयोदशं अल्पबहुत्वद्वारम् ॥

गतं भावद्वारम् । अथाऽल्पबहुत्वद्वारम् , तत्रादावोघतो भूयस्कारादित्रयाणां पदानां प्राह—

उत्तरपयडीणं खलु भूगाराईण बंधगा दोराहं ।
सव्वत्थोवा तत्तो अवट्ठिअस्स उ असंखगुणा ॥३१५॥

(प्रे०) "उत्तरे"त्यादि, उत्तरप्रकृतिसत्कपरस्थानभूयस्काराधिकारे भूयस्काराल्पतरयो-र्बन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितबन्धका असंख्येयगुणाः, बन्धस्थानपरावृत्तिकालतस्तदवस्थान-कालस्यासंख्येयगुणत्वात् । अत्रोक्तपदद्वयात् तृतीयपदस्य बन्धकानामसंख्येयगुणत्व सुगमम् । आद्यपदद्वयस्य परस्पर तारतम्यं तु ग्रन्थकृता न दर्शितम् । यतः सामान्यतो द्वयोरपि तुल्यत्वम्, विशेषतः पुनश्चिन्त्यमाने क्षपकश्रेणिगतजीवानां पदद्वयादल्पतरबन्धस्यैव करणात्तदपेक्षया संख्येय-जीवैस्तस्याल्पतरबन्धस्याधिक्यं सम्भवति, तथापि तस्याविवक्षणादिना द्वयोस्तुल्यत्वं दर्शित-मित्यवधेयम् ॥३१५॥

अथ मार्गणासु त्रयाणां पदानामल्पबहुत्वं प्ररूपयन्नाह—

दुमणुयसव्वत्थेसुं तह आहारजुगलम्मि गयवेए ।
मणणाणसंजमेसुं समइअछेअपरिहारेसुं ॥३१६॥
भूगारप्पयराणं सव्वप्पा बधगा मुणेयव्वा ।
तत्तो संखेज्जगुणा होअन्ति अवट्ठिअस्स खलु ॥३१७॥
णो चेव भवे अप्पाबहुग अकसायकेवलदुगेसुं ।
सुहमाहक्खायेसुं मीसे ओघव्व सेसासुं ॥३१८॥

(प्रे०) "इुमणुये"त्यादि, पर्याप्तमनुष्याद्येकादशमार्गणासु भूयस्काराल्पतरबन्धयोः सद्भावे सति जीवानां संख्येयत्वाद् भूयस्काराल्पतरबन्धकाः स्तोकास्ततोऽवस्थितस्य बन्धकाः संख्येयगुणाः, तृतीयपदस्य संख्येयगुणत्वं सुगमम् । आद्यपदद्वयस्य समुदितकथनं प्रागवत्, केवलमपगतवेदे भूयस्कारबन्धकेभ्योऽल्पतरबन्धकानां संख्येयगुणत्वं ज्ञातव्यम् । उपशामकापेक्षया क्षपकाणां द्विगुणत्वात् ।

अकषायादिषड्मार्गणासु भूयस्काराल्पतरबन्धयोरभावेन केवलमवस्थितबन्धस्यैव भावात् न भवति, एकस्य पदस्याल्पबहुत्वं द्व्यादिपदसद्भाव एव तद्भावात् ।

शेषासु सप्तपञ्चाशदुत्तरशतमार्गणासु भूयस्काराल्पतरबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितपदबन्धका असंख्येयगुणाः । अत्र तृतीयपदस्यासंख्येयगुणत्वं तूक्तसर्वमार्गणासु जीवानामसंख्येयत्वात्, अनन्तत्वाद्वा, भूयस्काराल्पतरबन्धयोः परावर्तमानभावेन प्रवर्तमानेऽपि तयोर्बन्धकानां मार्गणागतजीवानामसंख्येयभागप्रमाणत्वात्, परावर्तमानत्वाभावे तु क्वचित्कदाचिदेव तत्प्रवर्तनेन ततोऽप्यल्पत्वात्, कासुचिन्मार्गणासु जीवानामसंख्येयत्वेऽपि तयोर्बन्धकानां संख्येयत्वाच्च । अत्र भूयस्काराऽल्पतरबन्धयोः परस्परं विशेषस्तु सूक्ष्मेक्षिकया स्वयं विभावनीयः । यतः कासुचित् तिर्यग्गोघादिषु तयोस्तुल्यत्वम् । कासुचिन्मतिज्ञानादिमार्गणास्वल्पतरबन्धतो भूयस्कारबन्धस्य विशेषाधिकत्वमसंख्येयगुणत्वं वा तत्तु बहुश्रुताद् विज्ञेयम् । कासुचित् पञ्चेन्द्रियादिमार्गणासु भूयस्कारबन्धतोऽल्पतरबन्धस्य विशेषाधिकत्वमिति । इत्यल्पबहुत्वद्वारम् । ॥३१६-३१८॥

॥ श्रीप्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिबन्धे भूयस्काराधिकारे परस्थाननिरूपणाया त्रयोदशमल्पबहुत्वद्वार समाप्तम्, तत्समाप्तौ च गत. परस्थाननिरूपणाया भूयस्काराधिकारः ॥

कषायादीनां न्यूनत्वादिकं क्षायोपशमिकस्य, एवं बन्धे प्रकृतीनामल्पत्वेऽन्यभावानुविद्धोऽप्यौदयिकभावो हेतुतया प्रत्येतव्यः, बन्धे प्राधान्येन औदयिकभावस्यैव बन्धहेतुतया ग्रन्थान्तरेषु अङ्गीकारस्य दर्शनात् । एवमोघत आदेशतश्च भूयस्कारादित्रिविधबन्धकानां बन्धहेतुभूत औदयिकभावो भवतीति अलं विस्तरेण । गतं भावद्वारम् ॥३१४॥

॥ श्रीप्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिबन्धे भूयस्काराधिकारे परस्थाननिरूपणाया द्वादशं भावद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ त्रयोदशं अल्पबहुत्वद्वारम् ॥

गतं भावद्वारम् । अथाऽल्पबहुत्वद्वारम्, तत्रादावोघतो भूयस्कारादित्रयाणां पदानां प्राह—

उत्तरपयडीणं खलु भूगाराईण बंधगा दोण्हं ।
सव्वत्थोवा तत्तो अवट्ठिअस्स उ असंखगुणा ॥३१५॥

(प्रे०) "उत्तरे"त्यादि, उत्तरप्रकृतिसत्कपरस्थानभूयस्काराधिकारे भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितबन्धका असंख्येयगुणाः, बन्धस्थानपरावृत्तिकालतस्तदवस्थानकालस्यासंख्येयगुणत्वात् । अत्रोक्तपदद्वयात् तृतीयपदस्य बन्धकानामसंख्येयगुणत्वं सुगमम् । आद्यपदद्वयस्य परस्पर तारतम्यं तु ग्रन्थकृता न दर्शितम् । यतः सामान्यतो द्वयोरपि तुल्यत्वम्, विशेषतः पुनश्चिन्त्यमाने क्षपकश्रेणिगतजीवानां पदद्वयादल्पतरबन्धस्यैव करणात्तदपेक्षया संख्येयजीवैस्तस्याल्पतरबन्धस्याधिक्यं सम्भवति, तथापि तस्याविवक्षणादिना द्वयोस्तुल्यत्वं दर्शितमित्यवधेयम् ॥३१५॥

अथ मार्गणासु त्रयाणां पदानामल्पबहुत्वं प्ररूपयन्नाह—

दुमणुयसव्वत्थेसुं तह आहारजुगलम्मि गयवेए ।
मणणाणसंजमेसुं समइअछेअपरिहारेसुं ॥३१६॥
भूगारप्पयराणं सव्वप्पा बंधगा मुणेयव्वा ।
तत्तो संखेज्जगुणा होअन्ति अवट्ठिअस्स खलु ॥३१७॥
णो चेव भवे अप्पाबहुगं अकसायकेवलदुगेसुं ।
सुहमाहक्खायेसुं मीसे ओघव्व सेसासुं ॥३१८॥

(प्रे०) "दुमणुये"त्यादि, पर्याप्तमनुष्याद्येकादशमार्गणासु भूयस्काराल्पतरबन्धयोः सद्भावे सति जीवानां संख्येयत्वाद् भूयस्काराल्पतरबन्धकाः स्तोकास्ततोऽवस्थितस्य बन्धकाः संख्येयगुणाः, तृतीयपदस्य संख्येयगुणत्वं सुगमम् । आद्यपदद्वयस्य समुदितकथनं प्रागूवत्, केवलमपगतवेदे भूयस्कारबन्धकेभ्योऽल्पतरबन्धकानां संख्येयगुणत्वं ज्ञातव्यम् । उपशामकापेक्षया क्षपकाणां द्विगुणत्वात् ।

अकषायादिषड्मार्गणासु भूयस्काराल्पतरबन्धयोरभावेन केवलमवस्थितबन्धस्यैव भावात् न भवति, एकस्य पदस्याल्पबहुत्वं द्व्यादिपदसद्भाव एव तद्भावात् ।

शेषासु सप्तपञ्चाशदुत्तरशतमार्गणासु भूयस्काराल्पतरबन्धकाः स्तोकाः, ततोऽवस्थितपदबन्धका असंख्येयगुणाः । अत्र तृतीयपदस्यासंख्येयगुणत्व तूक्तमर्वमार्गणासु जीवानामसंख्येयत्वात्, अनन्तत्वाद्वा, भूयस्काराल्पतरबन्धयोः परावर्तमानभावेन प्रवर्तमानेऽपि तयोर्बन्धकानां मार्गणागतजीवानामसंख्येयभागप्रमाणत्वात्, परावर्तमानत्वाभावे तु क्वचित्कदाचिदेव तत्प्रवर्तनेन ततोऽप्यल्पत्वात्, कासुचिन्मार्गणासु जीवानामसंख्येयत्वेऽपि तयोर्बन्धकानां संख्येयत्वाच्च । अत्र भूयस्काराऽल्पतरबन्धयोः परस्परं विशेषस्तु सूक्ष्मेक्षिकया स्वयं विभावनीयः । यतः कासुचित् तिर्यगोघादिषु तयोस्तुल्यत्वम् । कासुचिन्मतिज्ञानादिमार्गणास्वल्पतरबन्धतो भूयस्कारबन्धस्य विशेषाधिकत्वमसंख्येयगुणत्वं वा तत्तु बहुश्रुताद् विज्ञेयम् । कासुचित् पञ्चेन्द्रियादिमार्गणासु भूयस्कारबन्धतोऽल्पतरबन्धस्य विशेषाधिकत्वमिति । इत्यल्पबहुत्वद्वारम् । ॥३१६-३१८॥

॥ श्रीप्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिबन्धे भूयस्काराधिकारे परस्थाननिरूपणाख्यं त्रयोदशमल्पबहुत्वद्वारं समाप्तम्, तत्समाप्तौ च गतः परस्थाननिरूपणाख्यो भूयस्काराधिकारः ॥

॥ अथ पदनिक्षेपाधिकारः ॥

गतो भूयस्काराधिकारः, अथ चतुर्थः पदनिक्षेपाधिकारः, तत्रादौ स्वस्थानतस्तन्निरूपयामः, अस्मिंश्च त्रीणि द्वाराणि-सत्पदम्, स्वामित्वम्, अल्पबहुत्वञ्च ।

ननु कोऽर्थः पदनिक्षेपाधिकारस्य, उच्यते–इह तावद् भूयस्काराधिकारे सामान्यतो भूयस्कारादिचतुर्विधबन्धानां स्वरूपं सत्पदादिद्वारैर्दर्शितम् । अत्र तु भूयस्काराल्पतरयोरनेकभेदभिन्नत्वेऽपि प्रथमचरमभेदयोर्जघन्यज्येष्ठरूपयोः पदविशेषयोः सत्पदादिद्वारैर्निरूपणा करिष्यते । अवस्थितपदस्य पुनर्भूयस्काराधिकारे भूयस्काराल्पतरावक्तव्यपदोत्तरकालभावित्वेन सामान्यतो निरूपणा चक्रे, इह पुनर्ज्येष्ठभूयस्काराल्पतरयोर्मध्ये यस्य ज्येष्ठतरत्वं तदुत्तरकालभाविनोऽवस्थानस्य ज्येष्ठावस्थानतया व्यवहारो, यदा तु ज्येष्ठभूयस्काराल्पतरगतवृद्धिहानिप्रमाणयोः परस्परतुल्यत्वं तदा तु बन्धद्वयोत्तरकालं प्राप्यमाणाऽवस्थितबन्धस्य ज्येष्ठावस्थानबन्धतया व्यवहारः । एवं जघन्यभूयस्काराल्पतरबन्धोत्तरकालभाव्यवस्थितबन्धो जघन्यावस्थितबन्धतया बोद्धव्यः । अवक्तव्यबन्धस्य भूयस्कारादिबन्धोक्तप्ररूपणातो नाऽत्र विशेषः, इति पदनिक्षेपप्ररूपणायां नावक्तव्यबन्धनिरूपणेति । पदनिक्षेपे यद्यपि भूयस्काराधिकारोक्तप्रकारेण त्रयोदश द्वाराणि सम्भवन्ति तथाऽपि ग्रन्थकृता त्रीण्येव द्वाराणि संक्षेपतो निरूपितानि, न पुनः शेषद्वाराणामभावो वाच्यः । तानि पुनर्बहुश्रुतेभ्योऽवधारणीयानीति ।

अथ पदनिक्षेपाधिकारे निरूप्यमाणद्वाराणां संख्या तन्नामानि च निरूपयन्नाह—

तुरिए पयनिक्खेवे अहिगारे तिण्णि हुन्ति दाराइं ।
सतपयं सामित्तं अप्पाबहुग त्ति जहक्कमसो ॥३११॥

(प्रे०) "तुरिए" इत्यादि, प्रस्तुते बन्धविधानग्रन्थे उत्तरप्रकृतिबन्धनिरूपणायां पञ्चाधिकारा भवन्ति, तेभ्यश्चतुर्थोऽधिकारः पदनिक्षेपसंज्ञकः, तस्मिन् त्रीणि द्वाराणि प्रस्तुते निरूपणविषयतया संगृहीतानि, तानि नामत आह–"सते"त्यादि, सत्तायाः पदं सत्पदम्, विवक्षितपदार्थस्य सद्भावस्य निर्देश इति भावः । स्वामित्वं नाम अधिकारत्वम्, प्रस्तुते तत्तत्पदस्य निर्वर्तकत्वमिति भावः । अल्पबहुत्वं नाम न्यूनत्वमधिकत्वं च, एतच्चानेकपदसद्भावे भवति, प्रस्तुते ज्येष्ठवृद्ध्यादित्रयाणां विषयभूतप्रकृतीनां न्यूनत्वमधिकत्वं तुल्यत्वं वा परस्परं यद् भवति तद् वाच्यम् । एवं जघन्यवृद्ध्यादिष्वपि । अल्पबहुत्वं तु द्रव्याणां गुणांशानां वा परस्परं परिमाणस्यैव स्यात् । इत्यधिकारगतद्वाराणां नामानि ॥३११॥

॥ प्रथमं सत्पदद्वारम् ॥

अथ सत्पदद्वारमोघतो निरूपयन्नाह—

बीआवरणस्स तहा चउत्थछट्ठाण अत्थि कम्माणं ।
जेट्ठा वड्ढी जेट्ठा हाणी जेट्ठं अवट्ठाणं ॥३२०॥

(प्रे०) "बीआवरणस्से"त्यादि, ज्ञानावरण-वेदनीया-ऽऽयुष्क-गोत्रा-न्तरायाणां पञ्चानां द्वयादिबन्धस्थानाभावेन भूयस्काराल्पतरबन्धयोरभावाद् ओघत आदेशतश्च पञ्चानां स्वस्थानपदनिक्षेपप्ररूपणा न सम्भवति, अतस्ता विमुच्य दर्शनावरण-मोहनीय-नाम्नां त्रयाणां प्रत्येकं नानाबन्धस्थानसम्भवाज्ज्येष्ठह्रस्ववृद्धिहान्यवस्थानानि सम्भवन्ति। तत्र दर्शनावरणे ज्येष्ठा वृद्धिर्हानिर्वा प्रकृतित्रयरूपा भवति, अतो ज्येष्ठावस्थानं तयोरुत्तरसमये प्राप्यत इति। मोहनीय एकविधबन्धस्थानतः सप्तदशबन्धस्थानं प्राप्तस्य षोडशप्रकृतीनां या वृद्धिर्भवति, सा ज्येष्ठा वृद्धिर्ज्ञेया, द्वाविंशतिबन्धस्थानतो नव बध्नतस्त्रयोदशप्रकृतिरूपा या हानिः सा ज्येष्ठा हानिर्बोद्धव्या, अत्र हानितो वृद्धेराधिक्यात्तदुत्तरकाले ज्येष्ठावस्थानं विज्ञेयम्। नाम्नि एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानत एकत्रिंशतं बन्धस्थानं प्राप्तस्य त्रिंशत्प्रकृतिरूपा ज्येष्ठा वृद्धिर्भवति, एवमेकत्रिंशद्बन्धस्थानत एकां प्रकृतिं बध्नतस्त्रिंशत्प्रकृतिरूपा ज्येष्ठा हानिर्भवति, उभयोरप्युत्तरकालं ज्येष्ठावस्थानं प्राप्यत इति ॥३२०॥

अथ मार्गणासु ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानानां सत्पदं निरूपयन्नाह—

असमत्तपणिंदितिरियमणुसपणिंदियतसेसु सव्वेसुं ।
एगिंदियविगलिंदियपणकायेसु तह परिहारे ॥३२१॥
अभवियसासणमिच्छअसण्णीसुं अत्थि णामकम्मस्स ।
जेट्ठा वड्ढी जेट्ठा हाणी जेट्ठं अवट्ठाणं ॥३२२॥

(प्रे०) "असमत्ते"त्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तमनुष्याऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियापर्याप्तत्रसकायेषु एकेन्द्रियभेदसप्तके नवविकलक्षभेदेषु पृथ्व्यादिपञ्चकायसत्कैकोनचत्वारिंशद्भेदेषु परिहारविशुद्धौ अभव्ये सास्वादने मिथ्यात्वेऽसंज्ञिमार्गणायाञ्चेति चतुःषष्टौ दर्शनावरणमोहनीययोरेकैकबन्धस्थानभावेन तयोर्भूयस्काराल्पतरबन्धाभावान्नोक्तमार्गणासु तयोः पदनिक्षेपप्ररूपणायामधिकारः। एतासु प्रत्येकं नाम्नि नानाबन्धस्थानभावाज्ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानानि भवन्ति। तत्र परिहारविशुद्धौ अष्टाविंशत्या एकत्रिंशतं प्राप्तस्य प्रकृतित्रयवृद्धिरूपा ज्येष्ठा वृद्धिर्भवति, एकत्रिंशत एकोनत्रिंशतं प्राप्तस्य, यद्वा त्रिंशतोऽष्टाविंशतिं प्राप्तस्य ज्येष्ठा

हानिर्भवति ज्येष्ठहानितो ज्येष्ठवृद्धिरधिका, अतस्तदुत्तरं ज्येष्ठावस्थानं प्राप्यत इति । सास्वादनेऽ-ष्टाविंशत्यास्त्रिशतं बध्नतः त्रिंशतोऽष्टाविंशतिं बध्नतो यथाक्रमं ज्येष्ठा वृद्धिर्हानिर्वा भवतः तयोरुत्तरसमये ज्येष्ठावस्थानमिति । शेषासु द्वाषष्टिमार्गणासु त्रयोविंशत्यास्त्रिशतं बध्नतस्त्रिंश-तस्त्रयोविंशति बध्नतो यथाक्रमं ज्येष्ठा वृद्धिर्हानिर्वा भवतः, तयोरुत्तरसमये ज्येष्ठावस्थान-स्य सद्भावश्चेति ।।३२१-३२२।।

अथ यासु दर्शनावरणमोहयोः प्रस्तुतपदानि भवन्ति, न तु नाम्नः, तासु तथा प्राह—

अत्थि दुइअतुरिआणं गेविज्जंतेसु आणयाईसुं ।
जेट्ठा वड्ढी जेट्ठा हाणी जेट्ठं अवट्ठाणं ।।३२३।।

(प्रे०) "अत्थी" त्यादि, आनतादिषु नवमग्रैवेयकान्तासु त्रयोदशमार्गणास्वेकजीवापेक्षया भवप्रारम्भात् प्रान्तं यावद् नाम्न एकैकस्यैव बन्धस्थानस्य भावेन नाम्नो भूयस्काराल्पतर-बन्धयोरभावात्तस्य प्रस्तुतसत्पदानामप्यभावः । दर्शनावरणे प्रकृतित्रयवृद्धिहानिरूपे ज्येष्ठवृद्धि-हानी, तयोरुत्तरकाले च ज्येष्ठावस्थानमिति । मोहे पञ्चप्रकृतिवृद्धिहानिरूपे ज्येष्ठे वृद्धिहानी, तयोरुत्तरकाले च ज्येष्ठावस्थानमिति ।।३२३।। अथौदारिकमिश्रादिषु सत्पदान्याह—

मीसदुगजोगकम्मणतिअणाणेसुं तहा अणाहारे ।
वड्ढिअवट्ठाणाइं मोहस्सोघव्व णामस्स ।।३२४।।

(प्रे०) "मीसे"त्यादि, औदारिकमिश्र-वैक्रियमिश्र-कार्मणकाययोग-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञाना-नाहारकमार्गणासु दर्शनावरणस्य भूयस्काराल्पतरबन्धाभावान्न तस्य प्रस्तुतसत्पदानां सद्भाव इति । मोहनीये केवलमेकविंशत्या द्वाविंशतिं प्राप्तस्य या वृद्धिर्भवति, उक्तमार्गणासु सा एकप्रकृतिरूपा वृद्धिर्ज्येष्ठा जघन्या च ज्ञेया, अन्यवृद्धेः प्रस्तुतेऽभावात् । एतासु मोहस्या-ल्पतराभावेन हानेरेवाभावाद् वृद्धेरुत्तरकाल ज्येष्ठावस्थानं विज्ञेयमिति । एवं च मोहनीयस्य वृद्ध्यवस्थानरूपे द्वे पदे सत्तया प्राप्येते। नाम्नो ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानानि प्राप्यन्त इति तस्यो-घवदतिदेशः, भावना पुनरपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणावत्कार्या, न त्वोघवदिति । वैक्रियमिश्रे भवधारणीयशरीरवतामेवात्र विवक्षितत्वात् तेषां च त्रयोविंशतेर्बन्धस्थानस्याभावात्तत्स्थाने पञ्च-विंशतिबन्धस्थानं विज्ञेयमिति ।।३२४।।

अथाऽनुत्तरादिषु प्रस्तुतं निषेधयन्नाह—

पंचसु अणुत्तरेसु अकसायकेवलदुगाहखायेसुं ।
सुहमे मीसे य दुइअचउत्थछट्ठाण तिण्णि वि णो ।।३२५।।

(प्रे०) "पंचसु" इत्यादि, पञ्चानुत्तरादिसप्तमार्गणासु दर्शनावरणस्यैकमेव बन्धस्थानम्, सूक्ष्मसम्परायमार्गणां विहाय षट्सु मोहनीयस्यैकमेव बन्धस्थानम्, सूक्ष्मे नाम्न एकमेव बन्धस्थानम्, तथाऽनुत्तरादिमार्गणाषट्के नानाजीवापेक्षया नाम्नो बन्धस्थानद्वयस्य भावेऽपि एकजीवमपेक्ष्य नाम्न एकमेव बन्धस्थानं भवति, तथा सूक्ष्मे मोहनीयस्य अकषायाद्यिमार्गणाचतुष्के दर्शनावरण-मोहनीयनाम्नां बन्ध एव नास्ति, अतस्तासां प्रस्तुतमार्गणासु पदनिक्षेपनिरूपणा नास्ति ॥३२५॥ अथाऽऽहारककाययोगादिषु प्राह—

वुड्ढिअवट्ठाणाइं णामस्साहारजुगलदेसेसुं ।
जेट्ठाणि हवेज्ज गुरू तिपया मोहस्स गयवेए ॥३२६॥

(प्रे०) "वुड्ढी"त्यादि, आहारककाययोगे तन्मिश्रे देशविरतौ च दर्शनावरणमोहनीययोरेकैकबन्धस्थानस्य भावेन भूयस्काराल्पतरबन्धयोरभावात्तयोः प्रस्तुतप्ररूपणाया अभावो विज्ञेयः। नाम्नस्तु सामान्यत एकैकबन्धस्थानस्य भावेऽपि नूतनजिननामबन्धप्रारम्भापेक्षया द्वितीयं बन्धस्थानं भवति, अत उक्तमार्गणात्रयेऽष्टाविंशतिबन्धत एकोनत्रिंशतं बध्नतो ज्येष्ठा वृद्धिर्भवति, ज्येष्ठवृद्ध्युत्तरमवस्थानम्, अत्र ज्येष्ठवृद्धिरेकप्रकृतिरूपा भवति, अत एषा एव जघन्यवृद्धितयाऽपि वक्ष्यतीत्यवधार्यम्।

अपगतवेदमार्गणायां दर्शनावरणनाम्नोरेकैकबन्धस्थानस्य भावेन भूयस्काराल्पतरबन्धाभावान्न ज्येष्ठवृद्ध्यादिपदानां सम्भवः। मोहनीयस्य चत्वारि बन्धस्थानानि प्रस्तुतमार्गणायां भवन्ति, यद्यप्यत्र वृद्धिर्हानिर्वा एकप्रकृतिरूपैव भवति न पुनर्द्व्यादिरूपा, अतो ज्येष्ठजघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानां तुल्यत्वं भवति। यद्वा हानिरंशात्मकेन विचार्यते तदा तु यद्राशिभ्यो यद्राशिर्हीयते सो राशिस्तस्य यावत्तमांशस्तदंशोऽत्र ग्राह्यः, एवं च व्याख्याते चतसृभ्य एकस्या प्रकृतेर्हानौ प्रकृतित्रयमवशिष्यते, तत्र हानिचतुर्थांशमिता भवति, सोऽत्र जघन्यहानितयाऽवगन्तव्यः, तदनन्तरं च जघन्यावस्थानम्। प्रकृतिद्वयत एकस्या हानौ एकप्रकृतिरवशिष्टा भवति, तत्र हानिरर्धभागमिता भवति, अस्मिन् व्याख्याने प्रकृतिद्वयस्य बन्धत एकां बध्नतो ज्येष्ठा हानिर्भवति। एवं जघन्या वृद्धिस्तु प्रकृतित्रयात् प्रकृतिचतुष्कं बध्नतो भवति सा तु तृतीयांशमिता, प्रकृष्टा वृद्धिस्तु एकबन्धस्थानात् प्रकृतिद्वयं बध्नतो भवति, सा द्विगुणरूपा, तदनन्तरं च प्रकृष्टावस्थानं भावनीयम्। किन्त्वत्रांशात्मिका हानिर्वृद्धिर्वा नाधिक्रियत इत्यप्यवगन्तव्यमिति ॥३२६॥

अथ क्षायोपशमिकसम्यक्त्वे शेषमार्गणाभेदेषु च त्रयाणां ज्येष्ठवृद्ध्यादिसत्त्वं प्राह—

तिरिणा गुरुपयाऽत्थि तुरिअछट्ठाणं वेअगे उ सेसासुं ।
दुइअतुरिअछट्ठाणं जेट्ठा तिरिणा वि पया अत्थि ॥२२७॥

(प्रे०) "तिण्णी"त्यादि, क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां दर्शनावरणस्यैकस्यैव बन्धस्थानस्य भावेन भूयस्काराल्पतरबन्धयोरभावात्प्रस्तुतज्येष्ठवृद्ध्यादिपदानामप्यभावो विज्ञेयः । मोहनीयस्य सप्तदशबन्धस्थानतो नवबन्धस्थानं प्राप्तस्य ज्येष्ठा हानिर्भवति, वैपरीत्येन ज्येष्ठा वृद्धिः, अन्यतरबन्धोत्तरकाले प्राप्यमाणमवस्थानबन्धं ज्येष्ठावस्थानतया विज्ञेयमिति । नाम्नि अष्टाविंशतिबन्धत एकत्रिंशद्बन्धं प्रारभतो ज्येष्ठा वृद्धिर्भवति, एकत्रिंशद्बन्धादेकोनत्रिंशतं यद्वा त्रिंशद्बन्धादष्टाविंशतिं प्राप्तस्य ज्येष्ठा हानिर्भवति, ज्येष्ठवृद्ध्युत्तरकाले ज्येष्ठावस्थानं प्राप्यत इति ।

"सेसासु"मित्यादि, शेषमार्गणा नामत इमाः—अष्टौ नरकभेदाः, अपर्याप्तवर्जतिर्यग्भेदचतुष्काऽपर्याप्तमनुष्यवर्जत्रिमनुष्यभेद-देवौघ-भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क-सौधर्मादिसहस्रारान्तदेवभेद-पञ्चेन्द्रियद्विक-त्रसकायद्विक-मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-काययोगौघौदारिक वैक्रिययोग-वेदत्रय- कषायचतुष्क ज्ञानचतुष्क-संयमौघ सामायिक-च्छेदोपस्थापनीया-ऽसंयम-चक्षुरचक्षुरवधिदर्शन-लेश्याषट्क--भव्य-सम्यक्त्वौघ--क्षायिकौ- पशमिकसम्यक्त्व-संज्ञ्याहारकमार्गणाश्चेति चतुःसप्ततिः । अपर्याप्ततिर्यगादिशतमार्गणासु सातिरेकगाथाषट्केन यथासंभवं तिसृणां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानानां सत्पदं दर्शितम् , कासुचित्तदभावोऽपि दर्शितः । तत्राकषायादिमार्गणाचतुष्के तिसृणामन्यतमस्या अपि बन्धाभावात्तद्वर्जनं ज्ञेयम् । उक्तशेषासु चतुःसप्ततिमार्गणासु तिसृणामपि कर्मणा द्व्यादिबन्धस्थानसम्भवाद् भूयस्कारादिबन्धानां यथा लाभस्तथा प्रस्तुतज्येष्ठवृद्ध्यादिपदानामपीति अवधार्यम् ।

विशेषभावना पुनरेषा—दर्शनावरणे नरकौघ--सप्तनरकभेद-तिर्यग्भेदचतुष्क-सहस्रारान्तद्वादशदेवभेद-वैक्रियकाययोगाऽसंयम-कृष्णादिपञ्चलेश्यामार्गणासु एकत्रिंशति नव षट् चेति बन्धस्थानद्वयं भवति, तत्र नवभ्यः षड्बन्धस्थानं प्राप्तस्य ज्येष्ठा हानिर्भवति, षड्भ्यो नव प्राप्तस्य ज्येष्ठा वृद्धिर्भवति, अन्यतरबन्धोत्तरक्षणे ज्येष्ठावस्थानं प्राप्यते । मनुष्यौघादित्रिचत्वारिंशन्मार्गणासु बन्धस्थानत्रयस्यौघवद् भावेऽपि ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानान्योघवदेव प्रकृतित्रयवृद्ध्यादिरूपा भवन्तीति ।

मोहनीये-अष्टनरकभेद-द्वादशदेवभेद-वैक्रिययोगाऽसंयम कृष्णनीलकापोतलेश्यामार्गणासु पञ्चविंशतौ सप्तदशबन्धतो द्वाविंशतिं प्राप्तस्य ज्येष्ठा वृद्धिर्भवति, वैपरित्येन ज्येष्ठा हानिः, अन्यतरबन्धोत्तरक्षणे ज्येष्ठावस्थानमिति । तिर्यग्मार्गणाचतुष्के त्रयोदशभ्यो द्वाविंशतिं प्राप्तस्य ज्येष्ठा वृद्धिर्भवति, वैपरीत्येन ज्येष्ठा हानिः, अन्यतरबन्धोत्तरसमये ज्येष्ठावस्थानम् । मनुष्यत्रिक--मनोयोगौघ—तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्कौ-दारिककाययोग—पुरुषवेद-

स्त्रीवेद-नपुंसकवेद तेजःपद्मलेश्यामार्गणासु नवदशसु नवबन्धस्थानाद् द्वाविंशति प्राप्तस्य ज्येष्ठा वृद्धिर्भवति, वैपरीत्येन ज्येष्ठा हानिः, अन्यतरबन्धोत्तरसमये ज्येष्ठाऽवस्थानम् । द्विपञ्चेन्द्रिय-द्वित्रसकाय-काययोगौघ-लोभ-ज्ञानत्रिक-दर्शनत्रिक--शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकौ-पशमिक-सम्यक्त्व भव्य-संज्ञ्याहारकमार्गणासु नवदशसु एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानात्क्र'लं कृत्वा सप्तदशबन्धस्थानं प्राप्तस्य ज्येष्ठा वृद्धिर्भवति, यथासम्भवं द्वाविंशतिबन्धात् सप्तदशबन्धस्थानाद्वा नवबन्धस्थानं प्राप्तस्य ज्येष्ठा हानिर्भवति, एतासु ज्येष्ठवृद्ध्युत्तरं ज्येष्ठावस्थान विज्ञेयम् ।

क्रोधमार्गणायां प्रकृतिचतुष्कबन्धात् सप्तदशबन्धस्थानं प्राप्तस्य यद्वा नवभ्यो द्वाविंशतिबन्धं प्राप्तस्य ज्येष्ठा वृद्धिर्भवति, ज्येष्ठा हानिः पुनर्द्वाविंशतिबन्धस्थानान्नवबन्धस्थानं प्राप्तस्य भवति, अन्यतरबन्धोत्तरसमये ज्येष्ठावस्थानं भवति ।

मानमार्गणायां प्रकृतित्रिकबन्धात्सप्तदशबन्धस्थानं प्राप्तस्य ज्येष्ठा वृद्धिर्भवति । द्वाविंशतिबन्धान्नवबन्धस्थानं प्राप्तस्य ज्येष्ठा हानिः । ज्येष्ठवृद्धेरुत्तरं ज्येष्ठावस्थानं विज्ञेयमिति ।

मायायां प्रकृतिद्विकबन्धात्सप्तदशबन्धस्थानं प्राप्तस्य ज्येष्ठा वृद्धिरवसेया । शेषं मानमार्गणावद्विज्ञेयम् ।

मनःपर्यवज्ञान संयमौघ-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीयमार्गणासु नवविधबन्धात्पञ्चविधबन्धं प्राप्तस्य ज्येष्ठा हानिः, पञ्चविधबन्धान्नवविधबन्धं प्राप्तस्य ज्येष्ठा वृद्धिः, अन्यतरबन्धोत्तरक्षणे ज्येष्ठावस्थानं विज्ञेयमिति ।

नाम्नि पुनर्ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानानि एवं भावनीयानि, तद्यथा—अष्टनरकमार्गणासु सनत्कुमारादिसहस्रारान्तषड्देवमार्गणासु एकोनत्रिंशतस्त्रिंशतं त्रिंशत एकोनत्रिंशतं बध्नतः क्रमशो ज्येष्ठे वृद्धिहानी भवतः; एते एव जघन्यतयाऽपि बोद्धव्ये, तदुत्तरभावि यदवस्थानं तज्जघन्यावस्थानं ज्येष्ठावस्थानं च ज्ञेयम् । देवौघ-भवनपति व्यन्तर-ज्योतिष्क-सौधर्मेशानसुरेषु वैक्रिये तेजोलेश्यायां च पञ्चविंशतितस्त्रिंशतं त्रिंशतः पञ्चविंशतिं च बध्नतः क्रमशो ज्येष्ठे वृद्धिहानी भवतः । अन्यतरबन्धोत्तरक्षणे च ज्येष्ठावस्थानमिति । तिर्यग्मार्गणाचतुष्के असंयमे अशुभलेश्यात्रये च त्रयोविंशतितस्त्रिंशतं त्रिंशतस्त्रयोविंशतिं बध्नतः क्रमाज्ज्येष्ठे वृद्धिहानी, तयोरुत्तरं च ज्येष्ठावस्थानमिति । मनुष्यत्रिक-पञ्चेन्द्रियद्विक-त्रसकायद्विक मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-काययोगौघौ-दारिकयोग-वेदत्रय-कषायचतुष्क--ज्ञानचतुष्क-संयमौघ-सामायिक--च्छेदोपस्थापनीय-दर्शनत्रिक-शुक्ललेश्या—भव्य-सम्यक्त्वौघ क्षायिकौ-पशमिक-सम्यक्त्व-संज्ञ्याहारकलक्षणासु त्रिचत्वारिंशद्मार्गणासु श्रेणाववरोहत एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानादेकत्रिंशद्बन्धस्थानं प्राप्तस्य ज्येष्ठा वृद्धिर्भवति, एकत्रिंशत एकं बध्नतो ज्येष्ठा हानिरन्यतर-

बन्धोत्तरसमये ज्येष्ठावस्थानं प्राप्यते । पद्मलेश्यायामष्टाविंशतित एकत्रिंशतं प्राप्तस्य ज्येष्ठा वृद्धिः, एकत्रिंशत एकोनत्रिंशतं प्राप्तस्य ज्येष्ठा हानिः, ज्येष्ठवृद्ध्युत्तरं ज्येष्ठावस्थानं चेति । तदेवं समाप्तमोघादेशाभ्यां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानानां सत्पदनिरूपणम् ॥३२७॥

अथ ओघतो जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानां सत्पदं निरूपयन्नाह—

अत्थि जहराणा तिपया कम्माणं दुइअतुरिअछट्ठाणं ।
जहि जाण गुरुपया अत्थि तत्थ सि लहुपया अत्थि ॥३२८॥

(प्रे०) "अत्थी"त्यादि, ओघतो दर्शनावरणमोहनीयनाम्नामेव जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानि भवन्ति, ज्ञानावरणादिपञ्चानां मूलकर्मणां त्वोघे सर्वमार्गणासु वा ज्येष्ठवृद्धिहान्यस्थानाभाववज्जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानामप्यभावो विज्ञेयः । मार्गणासु दर्शनावरणादितिसृणां जघन्यवृद्धयादित्रयाणां पदानां सत्पदमन्वेषणे यासु मार्गणास्वासां तिसृणां प्रकृतीनां ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानानि भवन्ति, तासु मार्गणासु तासां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानि सत्तया ज्ञेयानि । एवं संक्षेपेण सत्पदानां निर्दर्शनम् ।

विशेषभावना पुनरेवम्—ओघतो दर्शनावरणे चतुष्कं बध्नतो यदा षड् बध्नाति तदा जघन्या वृद्धिर्भवति, यदा षड्बन्धस्थानतश्चतुष्कं बध्नाति तदा जघन्या हानिः, अन्यतरबन्धोत्तरक्षणे जघन्यावस्थानं विज्ञेयम् । एव मनुष्यत्रिक-पञ्चेन्द्रियद्विक त्रसकायद्विक मनोयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-वचनयोगौघ-तदुत्तरभेदचतुष्क-काययोगौघौ-दारिककाययोग-वेदत्रय-कषायचतुष्क-चक्षुरचक्षुर्दर्शन-शुक्ललेश्या-भव्य-संज्ञ्याहारकमार्गणासु द्वात्रिंशत्सु दर्शनावरणस्य जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानपदानि सत्तया प्राप्यन्ते ।

नरकमार्गणाष्टक--तिर्यग्मार्गणाचतुष्का--ऽनुत्तरवर्जपञ्चविंशतिदेवमार्गणा--वैक्रिययोगाऽसंयम-कृष्णादिपञ्चलेश्यामार्गणासु चतुश्चत्वारिंशतौ ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानान्येव जघन्यविवक्षायां जघन्यतया विज्ञेयानि, नवबन्धतः षट्, षड्बन्धतो नव बध्नतः क्रमशो जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानि भवन्ति । ज्ञानचतुष्का-ऽवधिदर्शन-संयमौघ-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय-सम्यक्त्वौघौ-पशमिक-क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणास्वेकादशसु जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानान्योघवत् सत्तया विज्ञेयानि, तान्येव ज्येष्ठवृद्धिहान्यवस्थानान्यपीति ।

शेषास्त्वपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगऽपर्याप्तमनुष्या ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्तत्रसकाय-पञ्चानुत्तरसुर-सप्तैकेन्द्रिय- नवविकलाक्ष--पृथ्व्यादिपञ्चकायसत्कैकोनचत्वारिंशद्भेदौ-दारिकमिश्र-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्र-कार्मणकाययोगापगतवेदा-ऽज्ञानत्रय-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसम्पराय-

देशविरत्य-ऽभव्य-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सास्वादन-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ्य-नाहारकमार्गणासु ऽयशीतौ दर्शनावरणस्य वृद्धिहान्यवस्थानानामेवाभाव इति ।

मोहनीयस्य-ओघे जघन्या वृद्धिरेकविंशतितो द्वाविंशतिं बध्नतो भवति, जघन्या हानिः पञ्चबन्धस्थानतश्चतुष्कं बध्नतो ज्ञेया, अन्यतरबन्धोत्तरकालं जघन्यावस्थानमिति । एवं त्रिमनुष्यादिद्वात्रिंशद्मार्गणास्वोघवद् मोहनीयस्य जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानि सत्तया विज्ञेयानि ।

अष्टनरकभेद-पञ्चविंशतिदेवमार्गणा-वैक्रिययोगा ऽसंयम-कृष्णनीलकापोतलेश्यामार्गणास्वष्टात्रिंशति मोहस्य जघन्या हानिर्ज्येष्ठहानिवत्पञ्चप्रकृतिरूपा भवति, द्वाविंशतितः सप्तदश प्राप्तस्येति । एकविंशतितो द्वाविंशतिं बध्नतो जघन्या वृद्धिर्भवति, जघन्यवृद्धिबन्धोत्तरं जघन्यावस्थानं भवति ।

तिर्यग्मार्गणाचतुष्के जघन्या हानिः सप्तदशतस्त्रयोदश प्राप्तस्य, तेजःपद्मलेश्ययोः सप्तदशतस्त्रयोदश यद्वा त्रयोदशतो नव बध्नतो जघन्या हानिर्भवति । मार्गणाषट्केऽपि जघन्यवृद्ध्यवस्थाने नरकमार्गणावद् बोद्धव्ये ।

मतिज्ञानाद्येकादशमार्गणासु श्रेणौ पञ्चकादिबन्धस्थानतश्चतुष्कादिकं बध्नतो जघन्यहानिः, एकादितो द्व्यादिकं यावच्चतुष्कतः पञ्च प्राप्तस्य जघन्यवृद्धिः, अन्यतरबन्धोत्तरसमये जघन्यावस्थानं प्राप्यते । औदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रकार्मणयोगाऽज्ञानत्रिका-ऽनाहारकमार्गणासु सप्तसु हानेरभावाज्जघन्यवृद्ध्यवस्थाने नरकमार्गणावद् भवतः ।

अपगतवेदे चतुष्कादितस्त्रयादिकम्, एकादितो द्व्यादिकं यावद् त्रयाच्चतुष्कं बध्नतः क्रमाज्जघन्यहानिर्वृद्धिश्च भवति, अन्यतरबन्धोत्तरं च ह्रस्वावस्थानमिति । क्षयोपशमसम्यक्त्वे सप्तदशभ्यस्त्रयोदश त्रयोदशभ्यो नव बध्नतो जघन्या हानिः, नवभ्यस्त्रयोदश त्रयोदशतः सप्तदश वा बध्नतो जघन्यवृद्धिः, अन्यतरबन्धोत्तरक्षणे च जघन्यावस्थानमिति ।

अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगऽपर्याप्तमनुष्या-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसकाय-सप्तैकेन्द्रिय-नवविकलाक्ष-पृथ्व्यादिपञ्चकायसत्कैकोनचत्वारिंशद्भेद-पञ्चानुत्तरा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्र-परिहारविशुद्धि-देशविरत्यभव्य-सम्यग्मिथ्यात्व सास्वादन मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञिलक्षणासु त्रिसप्ततिमार्गणासु मोहनीयस्य वृद्धिहान्योरभावात् तज्जघन्यपदानामप्यभावः । सूक्ष्मे मोहबन्धाभावादभाव इति ।

नाम्नो-जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानि सत्तया पुनरेवम्-ओघे सामान्यतो नाम्न एकोनत्रिंशद्बन्धस्थानतस्त्रिंशतं बध्नतो जघन्या वृद्धिः, त्रिंशत एकोनत्रिंशतं बध्नतो जघन्या हानिरन्यतरबन्धोत्तरक्षणे च जघन्यावस्थानं प्राप्यते । विशेषत एकत्रिंशद्बन्धतो मरणव्याघातेन त्रिंशतं बध्नतो जघन्या हानिः, त्रिंशद्बन्धाज्जिननामप्रारम्भेणैकत्रिंशतं बध्नतो जघन्या वृद्धिरन्यतर-

बन्धोत्तरक्षणे च जघन्यावस्थानमिति । अयमत्र भावार्थः–ओघे बन्धत एकप्रकृतेर्वृद्धिहानितो जघन्यवृद्धिहानी भवतः ।

अथ मार्गणासु आनताद्यष्टादशदेवमार्गणाऽपगतवेद-सूक्ष्मसम्पराय-सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणास्वेकविंशतौ नाम्नो जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानि न सन्ति, तद्भूयस्काराल्पतरयोरभावात् । आहारकयोगद्वये देशविरतौ च नाम्नो जघन्यवृद्धिरष्टाविंशतिं बध्नतो जिननामबन्धारम्भे एकोनत्रिंशतं प्राप्तस्य भवति, तदुत्तरं च जघन्यावस्थानम्, एते एव ज्येष्ठवृद्ध्यवस्थानरूपे अपि बोध्ये । हानिस्त्वत्र नास्त्यल्पतरबन्धाभावात् । मनःपर्यवज्ञान संयमौघ-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिमार्गणासु पञ्चसु त्रिंशद्बन्धस्थानत एकत्रिंशतं बध्नतो जघन्या वृद्धिर्भवति, एकत्रिंशद्बन्धत आहारकद्विकबन्धविरामे एकोनत्रिंशतं बध्नतो जघन्या हानिर्जायते, जघन्यवृद्ध्युत्तरं जघन्यावस्थानमिति ।

अष्टनरकभेद-पञ्चतिर्यग्भेद मनुष्यभेदचतुष्क देवौघादिसहस्रारान्तद्वादशदेवभेदै-कोनविंशतीन्द्रियभेद-द्वाचत्वारिंशत्कायभेदा-ऽऽहारकद्विकवर्जपोडशयोगभेद-वेदत्रय-कपायचतुष्का-ऽज्ञानत्रिका-ऽसंयम-चक्षुरचक्षुर्दर्शन-कृष्णादिलेश्यापञ्चक-भव्याभव्य-सास्वादन-मिथ्यात्व-संज्ञ्यसंज्ञ्याहारकानाहारकमार्गणासु द्वात्रिंशदुत्तरशते तिर्यक्प्रायोग्यमेकोनत्रिंशतं बद्ध्वा उद्योतसहितं त्रिंशतं बध्नतो जघन्या वृद्धिर्भवति, तद्बन्धविरामे एकोनत्रिंशतं बध्नतो जघन्या हानिर्भवति, अन्यतरबन्धोत्तरक्षणे च जघन्यावस्थानमित्योघवद् भावनीयम् । ज्ञानत्रिका-ऽवधिदर्शन शु - लेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षयोपशम-क्षायिकौ-पशमिकसम्यक्त्वमार्गणासु नवस्वेकत्रिंशद्बन्धतो मरणव्याघातेन त्रिंशतं बध्नतो जघन्या हानिः, त्रिंशद्बन्धाज्जिननामप्रारम्भेणैकत्रिंशतं बध्नतो जघन्या वृद्धिः, अन्यतरबन्धोत्तरक्षणे च जघन्यावस्थानमिति । समासमोघत आदेशतश्च जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानां सत्पदनिरूपणम्, तत्समाप्तौ च गतं पदनिक्षेपे प्रथमं सत्पदद्वारनिरूपणम् ।।३२८।।

।। श्री प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिबन्धे चतुर्थे पदनिक्षेपाधिकारे स्वस्थाननिरूपणाया प्रथम सत्पदद्वार समाप्तम् ।।

नाम न बध्नाति । कुतः ? इति चेदुच्यते—उक्तप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः क्षपकः । चरमभागिकनपुंसकक्षपकस्य जिननाम्नः सत्ताया अभावाज्जिननाम्नो बन्धाभाव इति ॥१६०२-४॥

अथोऽवेदमार्गणायामाह—

एगस्स अवेए लहुबधी तिसुहाउ दोण्ह मद च्च । णियमाऽणतगुणाहिय असुहाणोघव्व असुहाण ॥

(मूलगाथा–१६०५)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, तत्र 'तिसुहाउ' त्ति प्रकरणवशात् सातवेदनीय यशःकीर्त्तिनामोच्चैर्गोत्रेभ्यः । 'मंदं च्च' त्ति जघन्यमेव, न तु षट्स्थानपतितमपि कश्चिद् बध्नाति, बन्धकस्य मार्गणाचरमसमयवर्त्युपशमकत्वादवरोहदनिवृत्तिबादरोपशमकत्वादिति भावः । 'असुहाण' त्ति पञ्चज्ञानावरण-चतुर्दर्शनावरण पञ्चान्तरायरूपाणां चतुर्दशानां तथा सञ्ज्वलनचतुष्कस्य । अनन्तगुणाधिकत्वामां जघन्यरसबन्धकस्य स्वबन्धचरमसमयक्षपकत्वादासामप्रशस्तत्वादिति भावः । 'असुहाण' ति अनन्तरोक्तानां चतुर्दशानां सञ्ज्वलनचतुष्कस्य च प्रस्तुतसन्निकर्ष ओघवद्भवति, कुतः ? इहाऽप्योघोक्त एवैतज्जघन्यरसबन्धक इति कृत्वा ॥१६०५॥

अथ कषायमार्गणासु प्रक्रान्त विमर्णिषुस्तावल्लाघवार्थं सापवादमतिदिशति—

सव्वाणोघव्व भवे लोहे एमेव कोहमाइतिगे । णवर लहु चिय रस णवावरणविग्घलहुबधी ॥
चउतिदुसजलणाण कमसोऽत्थि चउतिदुसजलणबधी । मोहाण सठाणव्व उ लहु णवावरणविग्घाण ॥

(मूलगाथा–१६०६-७)

(प्रे०) 'सव्वाणो' त्यादि, अत्र 'लोहे' त्ति लोभकषायमार्गणायाम् । 'सव्वाण' त्ति चतुर्त्रिंशत्युत्तरशतप्रकृतीनाम्, आयुषामपि सहैव निरूप्यमाणत्वात् । अतिदेशस्तु प्रस्तुतमार्गणायां चातुर्गतिकजीवानां प्रवेशाच्छ्रेणिद्वयसद्भावाच्च । 'एमेव' त्ति लोभमार्गणावत् क्रोधमानमायारूपे मार्गणात्रिकेऽपि ओघवदेव प्रस्तुतसन्निकर्षो भवति, किन्तु नाऽविशेषेण । अत एव विशेषमाह—'णवरी' त्यादिना, गतार्थम् । अय भावः—ओघे तु नवावरणादिजघन्यरसबन्धकस्य संज्वलनकषायाणां बन्धो नाऽसीत्, तस्य सूक्ष्मसम्परायक्षपकत्वात् । क्रोधादिमार्गणासु तु यथाक्रमं चत्वारस्त्रयो द्वौ कषाया बध्यन्ते आवरणादिजघन्यरसबन्धकेन । रसश्च जघन्य एव नियमाच्च बध्यते, तत्तन्मार्गणाचरमसमयक्षपकेण बध्यमानत्वाद् ध्रुवबन्धित्वाच्च ।

तथा क्रोधमार्गणायां संज्वलनचतुष्कस्य मानमार्गणायां संज्वलनक्रोधवर्जसंज्वलनत्रिकस्य तथा मायामार्गणायां संज्वलनमायालोभरूपयोर्द्वयोः कषाययोर्जघन्यरसबन्धको मोहनीयप्रकृतीनां रस स्वस्थानवद् बध्नाति, प्रधानीकृतप्रकृतीनां मोहनीयप्रकृतित्वात् । ज्ञानावरणपञ्चकचतुर्द-